भारत का इतिहास
(1200 ईसवी से 1526 तक)

History of India - C 1200 to 1526 AD

एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)

M.A. History (Final)

Group C :

मध्यकालीन भारत (Medieval India)

प्रश्न पत्र - VII

Paper - VII

Directorate of Distance Education
Maharshi Dayanand University, Rohtak

भारत का इतिहास (C. 1200-1526 A.D.)
History of India (C. 1200-1526 A.D.)

Group - C
Paper VII

M.A. History (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक – 124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK ▮ 124 001

विषय–सूची

यूनिट-I

अध्याय-1	स्त्रोतों का संक्षिप्त सर्वेक्षण	5
अध्याय-2	गौरियों के राज्य से दिल्ली सल्तनत की स्थापना तक	2[illegible]
अध्याय-3	13वीं–14वीं सदी में सल्तनत :	
	(क) विजय एवं विस्तार, (ख) शक्ति की स्थापना व सुदृढ़ीकरण	4[illegible]
	(ग) सुल्तान व अमीर वर्ग	1[illegible]
अध्याय-4	मंगोल समस्या	12

यूनिट-II

अध्याय-5	राज्य :	
	(क) सल्तनत काल में राज्य का स्वरूप	13[illegible]
	(ख) दिल्ली सुल्तानों का राजस्व सिद्धान्त	14[illegible]
	(ग) बरनी का राजत्व सिद्धान्त व वैधता	15[illegible]
अध्याय-6	अफगान राज्य का स्वरूप	17[illegible]
अध्याय-7	प्रशासनिक संस्थाओं का विकास	183
अध्याय-8	केन्द्रीय व प्रान्तीय प्रशासन	196

यूनिट-III

अध्याय-9	दिल्ली सल्तनत का विघटन	23[illegible]
अध्याय-10	क्षेत्रीय राज्य : जौनपुर; मालवा; गुजरात	25[illegible]
अध्याय-11	दक्खन और दक्षिण भारत–एक सर्वेक्षण	286

M.A. History (Final)
History of India (C. 1200 to 1526 A.D.)
Group - C
Paper – VII

Max. Marks : 100
Time : 3 Hours

Note : 10 questions shall be set in the paper spread over the entire syllabus more or less proportionately, out of which the candidates shall be required to attempt five questions, selecting at least one question from each unit. All questions shall carry equal marks.

UNIT – I

1. A brief Survey of Sources
2. From Ghurid State to the Establishment of Delhi Sultanate
3. 13th & 14th Century Sultanate:
   a) Conquests & Expansion
   b) Consolidation & Construction of Power
   c) Sultans and Nobility
4. Mongol Problem

UNIT – II

1. State : Nature; Kingship; Barani's Theory of Kingship; Legitimacy
2. Nature of Afghan State
3. Evolution of Administrative Institution
4. Central and Provincial Administration

UNIT – III

1. Disintegration of the Sultanate.
2. Regional States :
   Jaunpur; Malwa; Gujarat
3. Deccan and South – A Survey

यूनिट-I

अध्याय-1

स्त्रोतों का संक्षिप्त सर्वेक्षण
(A Brief Survey of Sources)

मध्यकालीन भारतीय स्त्रोतों में इस्लाम के आने से बहुत भारी परिवर्तन आया। ऐतिहासिक परम्पराएं और जागृति जो पहल भा त में नहीं थी, वह अचानक देश पर मुसलमानों के आने के साथ उत्पन्न हो गई। इस्लाम व मध्य एशिया को मजबूत ऐतिहासिक परम्परा का प्रभाव पहले ही प्राचीन भारत में **कल्हण** जैसे विद्वानों पर पड़ चुका था। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ ही भारतीय एतिहास लेखन पद्धति में एक नए युग का आरम्भ हुआ जिसने भारतीय कृतियों में नए आयाम स्थापित किए। **डाडवेल** के अनुसार मध्यकालीन भारतीय कृतियां अंग्रेजी कृतियों से उच्चकोटि की थीं।

इतिहास के अलावा कई प्रकार के विचारों में भारत अरब संसार से बहुत आगे था। इस्लाम धर्म एशिया, अफ्रीका व यूरोप म ग की तरह फैला। अरबों ने अब्बासों खलीफाओं के समय संस्कृति में बहुत विकास किया। उनका अपना दर्शन, कला, वेश न साहित्य व इतिहास आदि थे। अरबों की इतिहास लेखन में बहुत रुचि थी। अरबों के यूनान, रोम, ईरान आदि की ऐतिहासिक परम्पराओं के साथ सम्पर्क में आने से उन्हें उन सबमें से अच्छी बातों को ग्रहण कर अपना एक इतिहास लिखने का अलग तरीका बनाने का अवसर मिला। अरब महान यात्री थे और उनके विभिन्न संस्कृतियों व लोगों के साथ सम्पर्क ने उनको हर प्रकार का इतिहास विकसित करने का अवसर प्रदान किया। इसका एक उत्तम उदाहरण है--**इब्नेखलदून** का मुकदमा।

भारत में आने से पहले मुसलमानों पर यूनान व बाइजनटाइन साम्राज्यों का प्रभाव पड़ा और अपने ही धर्म के तुर्की, ईरानी व म य एशिया के साथ भी विचारों का आदान--प्रदान हुआ। मध्ययुगीन मुस्लिम इतिहास लेखन अपने ढंग, सोच व दृष्टिकोण म अ ने समय से बहुत आगे था। प्राचीन भारत की दैवीय, धार्मिक व कहानियों के युग का अन्त हुआ व एक तर्कपूर्ण, प्रमाणित इतिह स लेखन का उदय मुसलमानों के आने के साथ हुआ। प्राचीन भारत में **कल्हण** जैसे विद्वानों ने इतिहास के लिए काव्य शैली का प्र ग किया लेकिन इस्लाम के आने के बाद यह शैली बहुत कम प्रयोग में रह गई यद्यपि अमीर खुसरो व इसामी जैसे कुछ विद्वानों ने भ इस शैली का प्रयोग किया है। मुस्लिम, इतिहासकारों ने भारत में फारसी इतिहास लेखन के आदर्श को अपनाया व मुगलों के ने बाद इसके विषय वस्तु, लेखन ढंग व दृष्टिकोण में बहुत भारी परिवर्तन आया।

मुसलमानों में इतिहास लेखन के प्रति विशेष लगाव था व इस क्षेत्र में उन्होंने बहुत योग्यता भी हासिल की थी। यद्यपि इस क स्थान निश्चित रूप से धर्म व दर्शन के बाद था। सल्तनत काल में इतिहासकारों को धार्मिक वर्ग व कवियों के रूप में भी दर ार में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। हिन्दुस्तान में मुसलमानों ने अरबों की दृढ़ता के साथ तथ्यों को कहने की परम्परा का नहीं अपन या बल्कि फारसी परम्पराओं को ही मान्यता दी। इतिहासकारों ने प्राप्त सूचनाओं व स्त्रोतों का निरीक्षण किए बिना ही उनका अ न लिया जिसके कारण बहुत बार पुनरावृत्ति भी हुई। उस समय के इतिहासकार शोधकर्त्ता नहीं थे बल्कि वे तथ्यों को प्रस्तुत क ने वाले थे। इनकी प्रवृत्ति क्रियात्मक नहीं थी। जिस प्रकार के विचार उनको विभिन्न स्त्रोतों से मिले, उसी प्रकार के विचार उन ने आगे अपने इतिहास में दिए। स्त्रोतों की खोजबीन व आलोचना व नए स्त्रोतों को खोजने का ढंग इस समय मौजूद नहीं था। स काल में विद्वान रह रहे थे, उसे देखते हुए हम इन विद्वानों में इस बात को दोष नहीं मान सकते क्योंकि वे जिस काल में रह रहे थे उन्होंने उसी काल की परम्पराओं को अपनाया।

मध्यकाल के इतिहास लेखन का उद्देश्य घट रही घटनाओं, युद्धों, सैनिक कार्यवाहियों व विजयों एवं दरबार आदि के ि कारणों व परिस्थितियों की खोजबीन किए बिना उनका वर्णन करना था। इस समय जनसाधारण की पूर्ण रूप से अवहेलना की गई। केवल शासक वर्ग, अमीर वर्ग व केन्द्रीय प्रशासन आदि आदि पर प्रकाश डाला गया। इस समय इतिहास को नैतिक शिक्षा ने का एक प्रमुख स्त्रोत माना गया। इतिहास इस समय उद्देश्ययुक्त व निर्देश देने वाला था पर प्रगतिशील नहीं था। इन कमियों के बावजूद मुस्लिम इतिहास लेखन के कुछ अच्छे तत्व भी थे। इस समय ऐतिहासिक कृतियां विशाल मात्रा में लेखी गई इसलिए

डाउसन ने आठ विशाल खण्डों में उन कार्यों का संक्षेप में अंग्रेजी में अनुवाद किया है। परन्तु ये समस्त खण्ड राजनीतिक इतिहास के साथ ही सम्बन्धित हैं। राजनीति उस समय इतिहास में मनुष्य की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र मानी जाती थी इसलिए ऐसा समझा गया कि इस प्रकार के इतिहास को महत्ता दी जानी चाहिए।

मुस्लिम इतिहासकारों ने विश्वसनीय स्त्रोतों जैसे आंखों देखा वर्णन, पूर्वजों से सुने गए विवरण प्राप्त सरकारी वर्णन व अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर इतिहास लिखा। इनमें से अधिकतर दरबारी इतिहासकार थे जिनका उद्देश्य सुल्तानों के संरक्षण में इतिहास लिखना था। यह उनका व्यवसाय बन चुका था। आपसी प्रतिस्पर्धा की भावना ने उनमें इतिहास लेखन के ढंग में बहुत सुधार किया।

इस युग में क्रमबद्धता के सिद्धान्त को मान्यता दी गई। इसकी शुरूआत 622 हि. से मानी जाती है। क्रमबद्धता में जो अवयवस्था थी, उसे समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार एक नए सम्वत् की स्थापना इतिहास लेखन में एक नए युग की शुरूआत थी।

इसके अतिरिक्त सूफी साहित्य भी सामाजिक, धार्मिक आन्दोलनों को समझने के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। इसी प्रकार मध्यकालीन भारत में भक्ति आन्दोलन भी एक महत्वपूर्ण आन्दोलन हुआ जिसने जाति–व्यवस्था, धार्मिक कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, मिथ्या आडम्बर एवं समाज में व्याप्त अनेक बुराईयों का विरोध किया। इस तरह का साहित्य हमें उस समय के आध्यात्मिक व नैतिक स्तरों, सामाजिक व आर्थिक दशा, उस समय में व्याप्त बेचैनी और लोगों के विचारों का ज्ञान करवाता है। हिन्दूवाद पर इस्लाम का प्रभाव व इस्लाम पर हिन्दूवाद का प्रभाव हमें इस साहित्य में बहुत अधिक मात्रा में देखने को मिलता है। सूफी साहित्य से हमें दो प्रकार के साहित्य–1. रहस्यवाद व 2. सूफी–संतों की जीवनी सम्बन्धी साहित्य प्राप्त होता है। इस साहित्य ने समाज में उदारवाद, सद्भावना आदि को बढ़ावा दिया।

सल्तनत काल के स्त्रोत

हसन निज़ामी

सद्र–उद्दीन मुहम्मद बिन हसन निज़ामी का जन्म नीशापुर में हुआ था। खुरासान में मंगोल–विभीषिका के प्रसार के फलस्वरूप वह अपना जन्म–स्थल छोड़ने के लिये विवश हुआ तथा अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए गज़नी के मार्ग से दिल्ली में प्रश्रय प्राप्त करने में सफल हुआ–जहां उसे दिल्ली के प्रमुख काजी शर्फ–उल–मुल्क ने आश्रय प्रदान किया। मोहम्मद गोरी एवं कुतुबुद्दीन ऐबक भी उसके आश्रयदाता हुए।

हसन निज़ामी मात्र एक सर्वश्रेष्ठ बुद्धिजीवी ही नहीं था–वह सामाजिक दृष्टिकोण से भी श्रेष्ठ था अर्थात् उसका सामाजिक स्तर काफी अच्छा एवं उच्च था। लेकिन, वह मात्र कलम का सिपाही ही था और अपने प्रश्रयदाता के सैन्य–अभियानों में वह कोई सक्रिय भाग नहीं लेता था।

डॉ. यू. एन. डे ने अपनी पुस्तक गवर्मेन्ट ऑफ दि सल्तनत की भूमिका में जहां हसन निज़ामी के इतिहास लेखन में तथ्यों की कमी का उल्लेख किया है, वहीं उनकी प्रामाणिकता का भी उल्लेख किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि, हसन निज़ामी की शैली बहुत ही अलंकृत थी। डॉ. सरकार के मतानुसार इस अलंकृत भाषा का कारण यह था कि, हसन निज़ामी लोगों को अपनी विद्वत्ता से प्रभावित करना चाहता था, क्योंकि, अलंकृत होने के साथ–साथ उसकी शैली शब्दबहुल भी है और उपमाओं, रूपकों आदि का भी अत्यधिक प्रयोग किया गया है।

उसकी रचना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह कुण्ठित था। वस्तुतः उसे अपनी मातृ–भूमि से बहुत लगाव था और चूंकि, राजनीतिक विप्लवों एवं विद्वानों के प्रति आदर के अभाव के कारण ही वह खुरासान छोड़ने को बाध्य हुआ था। अतः उसे सदैव ही इस बात का दुख बना ही रहा।

हसन निज़ामी का ग्रन्थ 'ताजुल मआसिर', दिल्ली से सल्तनत–काल का प्रथम ग्रन्थ माना जा सकता है। जैसे–जैसे खुरासान की राजनीतिक स्थिति डगमगा रही थी, वैसे–वैसे दूसरी तरफ, दिल्ली सल्तनत स्थिरता, स्थायित्व एवं राजनीतिक अनुकूलता की ओर अग्रसर हो रहा था, जिसके परिणामस्वरूप, निज़ामी जैसे ही अनेक विद्वान एवं बुद्धिजीवी यहां शरण तथा प्रश्रय प्राप्त करने के लिये बड़ी संख्या में आने लगे और इतिहास–लेखन के क्षेत्र में इस्लामी दृष्टिकोण उभरने लगा–जैसाकि ताजुल मआसिर के लेखन से स्पष्ट होता है।

हसन निज़ामी ने अपने इतिहास ग्रन्थ, 'ताजुल मआसिर' की रचना 1205 ई. में प्रारम्भ की। उसकी अधिकांश प्रतियों में 1281 ई. से लेकर 1217 ई. तक के काल का वर्णन प्राप्त होता है–बस एक ही प्रति (जो कि नवाब ज़ियाउद्दीन देहलवी की प्रति है तथा

जो 1377-78 ई. में नकल की गई थी) में 1228-29 ई. तक का हाल मिलता है—जिसका अनुवाद इलियट के अंग्रेजी अनुवाद दिया गया है।

वस्तुतः हसन निज़ामी अपने इतिहास के बारे में बहुत ही विश्वस्त था, एक जगह वह सुल्तान इल्तुतमिश से प्रार्थना करता है कि सुल्तान यदि अन्य इतिहास–ग्रंथों से ताजुल मआसिर की तुलना करे तो उसे आशा थी कि, उसी की रचना श्रेष्ठ प्रतीत होगी। यह तो सत्य ही है कि, 'ताजुल मआसिर' क्लिष्ट फारसी भाषा में लिखा गया एक ग्रन्थ है और साथ ही साथ कहीं–कहीं पर तथ्यों को शैली की सूली पर बलि चढ़ा दिया। उसका ग्रन्थ साहित्यिक अधिक है, ऐतिहासिक कम; और ऐतिहासिक भी इसलिये क्योंकि वह प्रारम्भिक काल के इतिहास का वर्णन करता है। उसके इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक तथ्य को कल्पना तथा अतिशयोक्ति से पृथक करना एक दुष्कर कार्य हो जाता है।

जैसाकि स्पष्ट हो चुका है कि यह भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना महत्त्वपूर्ण विषय का इतिहास है, किन्तु इसकी शैली उपमाओं, रूपकों, अतिशयोक्तियों के कारण तथा कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं के उल्लेख के अभाव के कारण इसका महत्व काफी घट गया है। कुछ घटनाओं का जहां एक तरफ कोई वर्णन ही नहीं है, वहीं दूसरी तरफ, अनेक घटनाओं का वर्णन बहुत अस्पष्ट है तथा तिथियां सही नहीं दी गई हैं। फिर भी, सल्तनत काल के प्रारम्भिक अथवा स्थापित होने वाले वर्षों के इतिहास से सम्बन्धित होने के कारण, आदि तुर्कों के इतिहास के लिये यह एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मूल स्त्रोत है। अतः ऐबक तथा इल्तुतमिश के समकालीन अध्ययन का आधार यही ग्रन्थ है।

अलबरूनी

अलबरूनी का पूरा नाम **मोहम्मद इब्न अहमद अलबरूनी** था। परन्तु उसे **अबू रेहान** के नाम से जाना जाता है वह मध्य एशिया के ख्वारिज्म (वर्तमान रवीवा) क्षेत्र 973 ई. में जन्मा था। सम्भवतः उसे उच्च शिक्षा प्राप्त हुई थी, एवं अपनी योग्यता एव शिक्षा के आधार पर वह शीघ्र ही प्रतिष्ठा के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचने में सफल हुआ था, वह विज्ञान एवं साहित्य दोनों ही क्षेत्र का विद्वान था, यही नहीं, वह राजनीति में भी सक्रिय था, एवं ख्वारिज्म राज्य की प्रशासनिक परिषद् का सदस्य भी था।

1017 ई. में सुल्तान महमूद गज़नी ने ख्वारिज़्म पर आक्रमण करके उसे विजित किया, तथा वहां के राजवंशी लोगों के साथ–साथ प्रतिष्ठित लोगों को भी युद्ध–बन्दी के रूप में अपने साथ ले गया था। महमूद एवं उसके वजीर, अहमद इब्न हसन को **अलबरूनी** कभी भी नहीं पसन्द आया, अपितु, दूसरी तरफ ख्वारिज़्म के शाह को निरन्तर सलाह देते रहने के कारण, वह उनकी आंख का कांटा बना रहा, अतः उसे सुल्तान महमूद (998-1030 ई.) से कोई विशेष प्रोत्साहन कभी भी प्राप्त नहीं हुआ, न वह गजनी के दरबार और न ही दरबार में नियुक्त हो सका। ख्वारिज़्म के राजकुमारों के साथ, **अलबरूनी** सम्मान प्राप्त युद्ध–बन्दियों के रूप में गजनी के अनेकों अभियानों के दौरान, उसके साथ भारत आया था, और वह सोमनाथ के अभियान के दौरान तो महमूद के साथ भारत आया ही था, अतः उसे अनेक अवसरों पर भारत–यात्रा एवं यहां अनेक स्थानों पर निवास का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

भारत निवास के दौरान, वह यहां के अध्ययन में लग गया था, हालांकि, न उसे कोई विशेष प्रोत्साहन ही मिलता था, और न किसी पुरस्कार की कामना थी। वह पंडितों से निरन्तर वार्तालाप करता, तत्पश्चात् अपने अध्ययन हेतु पुस्तकों का क्रय करता था। वह संस्कृति एवं सभ्यता के मूल आधार, धर्म, साहित्य एवं विज्ञान पर इनसे वाद–विवाद करता, भारत के विषय तथा संस्कृत के अध्ययन–दोनों में ही उसे अनेक अवरोधों, कष्टों का सामना करना पड़ा।

सुल्तान महमूद का उत्तराधिकारी मसूद था। वह 1030 ई. से 1041 ई. तक गजनी का शासक रहा, तथा वह **अलबरूनी** की बौद्धिक उपलब्धियों में पूर्णतः प्रभावित था। उसकी प्रतिष्ठा ज्योतिष शास्त्री एवं खगोल शास्त्री के रूप में अत्यधिक हुई। वह बाद में अफगानिस्तान में बसने को बाध्य हो गया था। अनेक लेखकों के मतानुसार, **अलबरूनी** गजनी के शासक मसूद के दरबार में ज्योतिषी था, एवं उसके सम्बन्ध मसूद एवं राजपरिवार से बहुत ही घनिष्ठ हो गये थे। सम्भवतः उसे सुल्तान मसूद से भी उसके दरबार से कुछ धन–लाभ अवश्य ही होता था, जिसके परिणामस्वरूप ही वह अपने वैज्ञानिक कार्यों में पूर्ण निष्ठा से लगा रहता था, वह प्रतिष्ठा की नयी ऊंचाइयों को शीघ्र ही छूने लगा। जिसका कारण, सुल्तान का नवीन वजीर अबू नस्र अहमद इब्न मोहम्मद इब्न अब्दुर समद था। उसे प्रश्रय प्रदान करवाने, पुरस्कृत एवं प्रोत्साहित करने के लिये उत्तरदायी था **अलबरूनी** इस बात से अत्यधिक आश्वस्त एवं प्रफुल्लित था, कि, उसे दरबार का प्रश्रय प्राप्त हुआ था, एवं उसे अपने अध्ययन के लिये सहायता प्राप्त हो गई थी। इसी समय उसने अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ कृति—'कानून–ए–मसूदी' की रचना की जिसके नाम में उसने अपने प्रश्रयदाता सुल्तान मसूद की भूरि–भूरि प्रशंसा की है।

अलबरूनी एक महान विद्वान था, जिसकी कृतियां प्राकृतिक विज्ञान की अनेक शाखाओं पर मौजूद हैं, जैसे, प्रकाश–विज्ञान, यान्त्रिकी, खनिज–विज्ञान भौतिकी एवं रसायन शास्त्र आदि, साथ ही उसने खगोल–शास्त्र, ज्योतिष–शास्त्र एवं गणित के भी क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

अलबरूनी ने भारतवर्ष पर भी लगभग बीस पुस्तकों की रचना की थी जिनमें अनुवाद एवं मौलिक कृतियां, दोनों सम्मिलित हैं। उसने अनेक किस्सों, कहानियों का भी उल्लेख किया है जिनसे फ़ारस एवं भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। भारतीय पंड़ितों की सहायता से उसने कुछ भारतीय कृतियों का संस्कृत से अरबी में अनुवाद किया, उदाहरणार्थ, '**पुलिसा-सिद्धान्त**' '**बृहत-संहिता**', एवं **बाराहमिहिर की 'लघुजातक'**—उसने अपने मातृ–देश ख्वारिज़्म के भी इतिहास की रचना की है तथा साथ ही, कार्मथियों के पंथ का भी वर्णन किया है—ये दोनों ही कार्य अब हम खो चुके हैं। 1048 ई. में **अलबरूनी** की मृत्यु हो गयी।

जब **अलबरूनी** भारत आया था, उससे पूर्व ही भारतीय वैज्ञानिक एवं खगोल–शास्त्री ब्रह्मगुप्त के अध्ययन के फलस्वरूप, उसे भारतीय गणित, खगोल–शास्त्र वैधिकी अथवा कालक्रम विज्ञान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो चुका था। **अलबरूनी** वस्तुतः भारतीय दर्शन एवं धर्म–शास्त्र से सर्वाधिक प्रभावित रहा। **भगवत्गीता** के उत्कृष्ट आदर्शों ने उसे अत्यधिक आकर्षित किया, तथा **अलबरूनी** पहला विद्वान था, जिसने मुस्लिम विश्व को इस महान् संस्कृत की कृति से परिचित करवाया। **अलबरूनी** प्रथम मुस्लिम थे, जिन्होंने हिन्दू **पुराणों** का अध्ययन भी किया।

भारत की अनेक यात्राओं तथा यहां की कृतियों एवं लोगों के वृहद–अध्ययन के पश्चात् उसने '**इवोल्का**' की रचना की, ताकि वह अपने देश–वासियों को भारतीय खगोल शास्त्र के विषय में ज्ञान–लाभ करवा सके, तथा यहां के दार्शनिक एवं धार्मिक विचारधाराओं से उन्हें परिचित करवा सके, हिन्दू दर्शन का तो वर्णन उसके कार्य में अद्वितीय है, जहां पुराणों से उद्धृत, अंश उसके पाठकों के लिये नवीन थे, वहीं, भारतीय साहित्य, व्यवहार, त्योहारों, भूगोल एवं ऐतिहासिक तिथिक्रम पर भी उसने मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण अध्यायों की रचना की है। उसकी कृतियों का महत्व इससे और अधिक बढ़ जाता है, कि, उसने हिन्दू दर्शन एवं सूफ़ियों से भी उनकी तुलना करके, अपने पाठकों का कार्य और अधिक सरल करने का प्रयास किया है।

तहकीके हिन्द

अलबरूनी की पुस्तक '**तहकीके-हिन्द**', हिन्दुस्तान अथवा हिन्दुओं की वास्तविकता पर प्रकाश डालती है। **अलबरूनी** की रुचि भारतवर्ष, हिन्दुओं एवं उनके दर्शन में अत्यधिक थी, और डॉ. सचाऊ के मतानुसार, इसकी प्रेरणा एवं कारण, 'अनर्थ की समानता थी', यह अतिशयोक्ति पूर्ण विचार हो सकता है, किन्तु यह सत्य है, कि **अलबरूनी** एवं उसके देशवासियों ने भी महमूद गज़नी के हाथों उतना ही सहा था, जितना की भारतीय लोगो को सहना पड़ा था, अतः उनके प्रति उनकी सहानुभूति स्वाभाविक थी, यदि महमूद के दृष्टिकोण से हिन्दू मूर्ति–पूजक थे, जो प्रतिरोध करने के कारण, संहार किये जाने के अधिकारी थे, तो **अलबरूनी** की निगाहों में हिन्दू उत्कृष्ट दार्शनिक, अच्छे गणितज्ञ एवं खगोल शास्त्री थे। सुल्तान महमूद एवं उसके बर्बर सैनिकों द्वारा प्रताडित, हतप्रभ हिन्दुओं के प्रति अमानवीय व्यवहार ने अपनाने की दिशा में भी वह इंगित करता है।

अलबरूनी ने अपनी पुस्तक में भारत एवं भारतवासियों का वर्णन नहीं किया है, अपितु उसने यहां की धार्मिक, साहित्यिक, एवं वैज्ञानिक परम्पराओं का विस्तृत वर्णन किया है, वह भारतीय विचारों एवं विचारधाराओं की वास्तविकता का विश्लेषण एवं परीक्षण करके उसे स्पष्ट करना चाहता था। उसने अपनी पुस्तक में सभी पक्षों का विस्तृत वर्णन किया है, उदाहरणार्थ, यहां की सड़कों, नदियों एवं उनके मार्गों, उपयोग किये जाने वाले नाप–तौल के पैमाने, मुद्रा प्रणाली आदि। इस पुस्तक में अस्सी अध्याय हैं।

अलबरूनी ने खुले मस्तिष्क एवं उदार मानसिक दृष्टिकोण से भारतीय जीवन, धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों, विचारधाराओं का वर्णन किया है। वह भारतीय विद्वानों की मानसिक उपलब्धियों की सराहना करता था एवं उनसे ज्ञानार्जन का प्रयास करता था। उसके वृत्तान्त में सत्यता एवं निष्ठा है। वह एक स्पष्ट वक्ता था अतः कभी–कभी वह कठोर शब्दों के प्रयोग से भी नहीं चूकता है। उसकी कृति में जो सर्वाधिक महत्पूर्ण तथ्य प्रकाश में आता है, वह है, उसका ईश्वर में पूर्ण विश्वास एवं ईश्वर की इच्छा की समझ, उसकी पूर्ण समर्पण की भावना।

अलबरूनी ने भारतवर्ष के वर्णन में विदेशियों के प्रति हिन्दुओं की प्रतिकूल भावना को भी स्पष्ट किया है। वे विदेशियों को म्लेच्छ मानते थे। यही नहीं **अलबरूनी** के मतानुसार वे एक उच्च भावना से ग्रस्त थे, जिसके परिणामस्वरूप एक विचित्र संकीर्णता के घेरे मे वे बंध गये थे। यहां प्रचलित जाति–प्रथा के बारे में लिखते समय, वह पुरानी व्यवस्था के गुणों और वर्तमान दोषों को स्पष्ट

करता है। वह वर्णाश्रम धर्म पर भी विस्तार से लिखता है तथा हिन्दू सामाजिक प्रथाओं एवं परम्पराओं को भी स्पष्ट करने में यहां कि विवाह–प्रथा के साथ ही, दहेज आदि पर प्रकाश डालता है एवं यह स्पष्ट करता है कि तलाक की कोई प्रथा नहीं थी किन्तु सती प्रथा प्रचलित थी। वह हिन्दुओं के विभिन्न आयु पर होने वाले संस्कारों का भी विस्तृत विवरण देता है। वह दानशीलता एवं यज्ञों के साथ ही बलि पर भी प्रकाश डालता है। वह लोगों की तीर्थयात्राओं का भी उल्लेख करता है तथा हिन्दुओं के अन्तिम संस्कारों की भी सूचना देता है। वह यहां के व्रतों, त्योहारों का विवरण देता है। प्रचलित दण्ड एवं न्याय का भी विवरण देता है वह वेश–भूषा का भी चित्रण करता है।

अलबरूनी भारतीय साहित्य एवं विज्ञान का भी वर्णन करते हुए उसके विकास की ओर इंगित करता है। वह वेदों, पुराणों, स्मृतियों, महाभारत आदि का वर्णन करता है और खगोल, ज्योतिष, गणित पर भी लिखी गयी पुस्तकों का सविस्तार वर्णन करता है। यही नहीं, वो यहां की कलाओं के विषय में भी लिखता है। भारत की धार्मिक परिस्थितियों का भी पूर्ण वर्णन है। वह बौद्ध धर्म एवं वैष्णव धर्म का तो वर्णन करता है, किन्तु शैव मत के विषय में वह मौन है, वह हिन्दुओं की एक ईश्वर में आस्था, आत्मा एवं पुनर्जन्म में विश्वास की पुष्टि करता है। वह मोक्ष के विषय में भी लिखता है। वह त्रिमूर्ति का भी उल्लेख करता है और यहां के मूर्ति–पूजन पर विशेष बल देता है।

वह भारत की राजनीतिक दशा का वर्णन करते समय, देश का छोटी–छोटी इकाईयों में विभाजन का उल्लेख करता है जिसके फलस्वरूप देश की राजनीतिक एकता समाप्त हो गई थी। वह यहां के वर्तमान राजवंशों एवं राज्यों का पूर्ण विवरण देता है राजनीतिक दशा के वर्णन के बाद, **अलबरूनी**, भारत की आर्थिक दशा को भी चित्रित करता है। वह यहां के धन–धान्य एवं समृद्धि का उल्लेख करता है। वो यहां के नाप तौल, मुद्रा आदि के विषय में भी विस्तृत जानकारी देता है। राजा द्वारा लगाये गये करों के भी वर्णन करता है एवं जनहित के लिये किये गये कार्यों के विषय में बताता है।

अलबरूनी की पुस्तक घोषित इतिहास नहीं, अपितु, यह एक समाजशास्त्रीय अध्ययन है। वह स्वयं कहता है कि उसकी पुस्तक तथ्यों का एक सामान्य ऐतिहासिक ब्योरा मात्र है। **मैक्समूलर** ने उसके विषय में कहा है कि भारतीय साहित्य एव धर्म से विश्व को सर्वप्रथम परिचित करवाने का श्रेय उसी को है। **अलबरूनी** के इतिहास लेखन में जहां तटस्थता और वैज्ञानिक विश्लेषण की भरमार है वहीं वह पूर्ण वस्तुपरक दृष्टिकोण का भी परिचायक है चूंकि, उसने अनेक स्रोतों का एक वैज्ञानिक अध्ययन किया, इससे उसका वैज्ञानिक मस्तिष्क स्पष्ट होता है। वह अपने आधार अथवा स्रोत ग्रंथों का सदैव उल्लेख करता है चूंकि उसकी आलोचनाएं भी उच्च–स्तर की थीं अतः पूर्व के लेखकों में उसको शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है। जैरेट लिखते हैं, वस्तुतः **अलबरूनी** की कृति एक शान्त एवं तटस्थ शोध के एक चमत्कारी विश्व के समान थी, जबकि, विश्व में चारों तरफ सिर्फ तलवारों की टकराहट शहरों में जलना एवं मन्दिरों की लूटपाट व्याप्त थी—यह महमूद के अत्याचार एवं दमन के विरुद्ध एक आध्यात्मिक प्रतिक्रिया थी।

मिनहाज-उस-सिराज

कल्हण के बाद हमें इतिहासकारों की उस एक पूरी श्रृंखला पर विचार करना है जिसने दिल्ली सल्तनत की स्थापना, उत्थान पतन के इतिहास को लिपिबद्ध किया है। इस श्रृंखला में पहली पुस्तक है मिनहाज–उस–सिराज़ जुजानी कृत **तबकात-ए-नासिरी** तुर्कों की आरंभिक भारत–विजय का यह एकमात्र वृत्तांत उपलब्ध है। कुछ अन्य पुस्तकों, जैसे **फख्र-ए-मुद्दबिर** में भी इस पर विचार किया गया है किंतु यह पुस्तक कुतुबुद्दीन ऐबक के वृत्तांत तक ही सीमित है। मिनहाज की पुस्तक में पहले–पहल दिल्ली सल्तनत का कालक्रमिक, क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत किया गया है। बरनी ने दिल्ली सल्तनत के इतिहास को ठीक वहां से शुरू किया जहां मिनहाज ने अपना इतिहास समाप्त किया था और अफ़ीफ ने यह दावा किया है उसने बरनी के काम को फ़ेरोजशाह तुगलुक तक ले जाकर उसे अंतिम रूप दिया।

इन तीनों में मिनहाज सत्ता–केन्द्र के सबसे ज्यादा नजदीक थे और उन्होंने सत्ता के साथ इस संबंध को सबसे ज्यादा लंबे समय तक कायम रखा। मिनहाज एक आलिम था। सभी उलेमा विद्या तथा धर्म से ही संबंधित नहीं थे। इनमें से कइयों का शासक द्वारा ऐसे क्षेत्रों में नियुक्त किया गया था जहां उनकी विद्या–बुद्धि से देश को लाभ पहुंचे और वह मजबूत बने। प्रचार–प्रसार, शिक्षा और न्याय–प्रशासन आदि ऐसे ही क्षेत्र थे। मिनहाज समय–समय पर इन सभी तरह की सेवाओं में रहे थे। विभिन्न उच्च पदों पर रहने की वजह से उनके कृतित्व का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है क्योंकि इसमें एक ऐसे व्यक्ति का चिंतन प्रतिबिंबित होता है जो स्वयं भारत में तुर्कों को शासन स्थापित करने में योग दे रहा था। चूंकि वे सत्ताधारियों के काफी नजदीक थे और उन के हित एक ही थे, ऐसी स्थिति में ये दोनों बातें उनके इतिहास के स्वरूप को निर्धारित करती हैं।

मिनहाज का जन्म संभवतः 1193 ई. में हुआ था। वे एक अच्छे खाते–पीते तथा विद्याव्यसनी परिवार में पैदा हुए थे। उन्होंने ग़ज़नवी के शाही परिवार तक अपनी वंशावली प्रस्तुत की है। उनके पिता सुल्तान मुइज़ुद्दीन मुहम्मद बिन साम की सेवा में थे। मिनहाज काफी सुशिक्षित और महत्वाकांक्षी थे। उन्हें मध्य एशिया में अपना कोई भविष्य दिखाई नहीं दिया क्योंकि मंगोलों की गतिविधियों से वहां अस्थिरता आ गई थी। अन्य अनेक लोगों की तरह वे भी भारत चले आए जो एशिया का एकमात्र ऐसा क्षेत्र था जहां मुसलमानों का शासन था और जो अब तक मंगोलों के आक्रमण से बचा हुआ था। वे 1227 ई. में उच्छ पहुंचे जहां नासिरुद्दीन कुबाचा ने उन्हें फ़िरोजी मदरसा में शिक्षक नियुक्त किया। जब इल्तुतमिश ने कुबाचा को युद्ध के लिए ललकारा और उसे पराजित किया तो मिनहाज इल्तुतमिश के साथ हो लिए और उनके साथ दिल्ली लौट आए। 1231 ई. में जब इल्तुतमिश ने ग्वालियर पर लगभग ग्याहर महीने का घेरा डाला तब मिनहाज वहां सेना के मनोबल को बढ़ाने वाले उपदेश (तजकीर) दिया करते थे। आगे चलकर वे ग्वालियर के क़ाज़ी तथा इमाम नियुक्त किए गए। सुल्तान रज़िया के शासनकाल में वे दिल्ली स्थिति **नासिरिया** मदरसा के मुख्य शिक्षक बनाए गए। वे राजधानी के काज़ी नियुक्त किए गए और आगे चलकर रज़िया के उत्तराधिकारी बहरामशाह ने पदोन्नति करके उन्हें पूरे राज्य का क़ाज़ी बना दिया। अलाउद्दीन मसूद शाह के शासनकाल में उन पर राजकीय कृपादृष्टि नहीं रही और उन्होंने कुछ समय लखनौती तथा जाज़नगर में बिताया।

किंतु नासिरुद्दीन महमूद के शासनकाल में उन्हें अपनी खोई पद–प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त हो गई। वे उलूग खां (भविष्य के सुल्तान बल्बन) के काफ़ी नजदीक थे। एक बार वे फिर क़ाज़ी–उल–कुज़ात नियुक्त किए गए और 1254 ई. में उन्हें सद्र–ए–जहाँ भी बनाया गया। कुछ समय तक वे सत्ता में रहे किंतु संभवतः बल्बन के शासनकाल में ही उनकी मृत्यु हो गई।

तबक़ात-ए-नासिरी मिनहाज की महत्वाकांक्षी उपलब्धि थी। मिनहाज ने इस्लामी शासकों एवं सुल्तानों का इतिहास लिखने की योजना बनाई और आदम से प्रारम्भ करके नासिरुद्दीन महमूद (जिसे उन्होंने अपनी रचना समर्पित की थी) के शासनकाल के चौदहवें वर्ष तक ले आए। उनकी रचना 23 तबक़ों (अध्यायों) में विभक्त है जिसमें वे विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न राजवंशों का अलग–अलग विवेचन करते हैं। इसलिए प्रायः एक ही घटना की गई बार आवृत्ति करनी पड़ी है। अपनी रचना में उन्होंने अपने ही समय के पच्चीस अमीरों की जीवनी शामिल की हैं। हालांकि आरंभिक इस्लामी राजवंशों पर मिनहाज ने सर्वेक्षण के रूप में विचार किया है किन्तु सुल्तान इल्तुतमिश के काल से उनका इतिहास अधिक विस्तृत होता जाता है। उन्होंने इल्तुतमिश के पुत्रों, अमीर वर्ग, क़ाजियों तथा वज़ीरों का नाम शामिल किया है। अमीरों का उल्लेख करते समय उन्होंने सबसे ज्यादा ध्यान उलूग खां पर दिया है।

एक इतिहासकार के रूप में मिनहाज को समझने के लिए यह समझना बहुत जरूरी है कि इस इतिहास लेखन के पीछे कौन–से प्रेरक तत्व रहे होंगे। इसके मूल में एक कारण तो निश्चय ही आर्थिक लाभ रहा होगा क्योंकि हमें यह पता है कि नसीरूद्दीन महमूद तथा उलूग खां दोनों ने ही उनके काम से खुश होकर काफी उदारतापूर्वक इनाम दिया था। किंतु यह इनाम चापलूसी के प्रतिफल के रूप में अधिक था, एक इतिहासकार के रूप में उनकी प्रतिभा को मान्यता देने के रूप में उतना नहीं। चूंकि वे लेखन के द्वारा अपनी जीविका नहीं चलाते थे, ऐसी स्थिति में उनकी दृष्टि में संभव है इतिहास लिखने का कोई बौद्धिक कारण रहा हो। इतिहास इस्लाम के साथ–साथ उस राज्य के प्रति निष्ठा एवं उत्साह जगाने का तरीका था, जिसके वे एक सदस्य थे और जिसको उन्होंने इस्लामी राज्य के रूप में चित्रित किया था। एक ऐसे युग में जब इस्लामी जगत मंगोलों के आक्रमणों से हिल गया था, इस्लाम धर्म के गौरव तथा मुसलमानों के महान कार्यों के बारे में लिखना वस्तुतः इस्लाम में फिर से विश्वास जागृत करने का एक तरीका था। साथ ही इतिहास एक मध्यकालीन मुसलमान की शिक्षा का अभिन्न अंग था और इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि मिनहाज जैसा शिक्षित तथा विख्यात व्यक्ति इस दिशा में अपना योग देने की कोशिश करता रहा हो।

यदि हम मिनहाज के इतिहास को समझना चाहते हैं तो हमें उनके राजनीतिक आग्रहों को समझने की कोशिश करनी होगी। वे हिंदुस्तान में तुर्की राज्य के चित्रण के लिए प्रतिबद्ध थे। राजनीतिक सत्ता को बचाना उनकी दृष्टि में एकमात्र कारण था, अतः इस तर्क से राज्य पर चाहे किसी का नियंत्रण हो यह उचित ही माना जाएगा। इसलिए सभी शासकों की प्रशंसा करने तथा उन्हें महिमा–मंडित करने से उन्हें किसी तरह के अंतर्विरोधी का अनुभव नहीं हुआ, यद्यपि उन शासकों में से अधिकतर ने हिंसात्मक ढंग से अपने पूर्वगामियों को अपदस्थ करके ही क्यों न सत्ता हथियाई हो। उनकी प्रमुख चिंता थी किसी भी तरीके से सत्ता को प्राप्त करना और उसे कायम रखना। यही कारण है कि उनकी रचना राजनीतिक घटनाओं का सीधा–सादा विवरण है। अपने इतिहास में सामान्यतः इस्लाम के इतिहास को शामिल करके वे अपेक्षित मात्रा में उस युग के इस्लामी इतिहास–लेखन की प्रवृत्ति का अनुसरण नहीं कर रहे थे जो एक प्रकार का सार्वभौम इतिहास लिखने की ओर थी। यदि समझा जाए तो वे ऐतिहासिक प्रक्रिया में जिसमें पैराबर भी शामिल थे—अपने समय के शासकों को शामिल करके उन्हें वैधता प्रदान कर रहे थे।

चूंकि वे अपने इतिहास में बहुत लंबी अवधि को ले रहे थे, इसलिए उनके लिए यह जरूरी हो गया था कि वे उस समय तक उपलब्ध अनेक इतिहासों पर निर्भर करें। उन्होंने उनमें जो कुछ पढ़ा उस पर वे सामान्यत: तो विश्वास करते हुए दिखाई दे हैं किन्तु यदि उन्हें किसी राजनीतिक घटना के दो परस्पर विरोधी रूप दिखाई दिए तो वे जिस रूप को मान्यता देते हैं उसके कारण भी बताते हैं। स्वयं अपने युग के संदर्भ में वे अपनी ही जानकारी पर या फिर प्रत्यक्षदर्शियो से सुनी बातों पर विश्वास करते है

मिनहाज अपनी रचना में बराबर धार्मिक शब्दावली का प्रयोग करते है। युद्धों को 'इस्लामी सेनाओं' तथा शैतानी शक्तियों के बीच लड़ाइयों के रूप में निरूपित किया गया है। यह धर्म के आधार पर किसी की पक्ष लेने की बात नहीं है। मुसलमानो तथा मुसलमानों के बीच संघर्ष को भी इसी रूप में चित्रित किया गया है। वे इस शब्दावली का प्रयोग यह दिखाने के लिए करते हैं कि वस्तुत: उनकी सहानुभूति किस की तरफ है। चूंकि वे एक ऐसी शिक्षा–पद्धति की उपज थे जिसके स्वरूप का निर्माण पूरी तौर पर धर्म के इर्द–गिर्द हुआ था इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वे केवल धार्मिक शब्दावली से ही परिचित हों। हिंदुओं के खिलाफ उनका पूर्वग्रह केवल संघर्ष के दौरान ही व्यक्त होता है। यदि इन संघर्षों से तत्कालीन राजनीतिक सत्ता को कोई खतरा नहीं होता है तो वे उनकी उपेक्षा कर देते हैं।

मिनहाज के अनुसार किसी कार्य का प्रावधान (causation) ईश्वर के हाथ में है किंतु ईश्वर कार्य का संपादन मनुष्य के माध्यम से ही करता है। मिनहाज को किसी भी समस्या के संदर्भ में अपना आधार बदलने में कोई दिक्कत पेश नहीं आती। इस विषय में भी वे अपने युग को ही प्रतिबिंबित कर रहे थे। वे जिस वर्ग के थे वह वर्ग कदम–कदम पर समझौते कर रहा था ताकि सत्ता उसके नियंत्रण से न निकलने पाए। यदि आवश्यकता हुई तो अपने बचाव के लिए धार्मिक प्रश्नों की भी उपेक्षा कर दी जाती थी और मिनहाज भी इसके अपवाद नहीं थे।

मिनहाज के इतिहास की यह कहकर निंदा की गई है वह राजनीतिक गतिविधियों का बड़ा ही रसहीन चित्रण तथा निर्जीव विवरण है। किंतु इस विषय पर हमारे एकमात्र सूचना–स्त्रोत वे ही हैं। उसकी आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि वह राजाओं और अमीरों के मामलों में जरूरत से ज्यादा उलझे रहे और आम आदमी की हालत पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। किंतु यहां भी यह ध्यान रखना होगा कि मिनहाज केवल वही कुछ लिख सकते थे जिसकी उन्हें जानकारी थी। वे सत्तारूढ विशिष्ट वर्ग के एक अंग थे और इसी वर्ग के बारे में उन्होंने अपना इतिहास लिखा था। गहराई से देखा जाए तो मिनहाज की दिलचस्पी केवल राजनीतिक सत्ता को कायम रखने में थी और इसीलिए जो विवरण इससे ताल्लुक नहीं रखते थे, उनको वे अपने इतिहास में लिपिबद्ध नहीं करते थे।

यह बहुत जरूरी है कि मिनहाज की कृति को उसके युग तथा परिस्थिति द्वारा निर्धारित रचना के रूप में देखा जाए। एक तो विद्वान (आलिम) के रूप में, जो राजनीतिक दृष्टि से अस्थिर युग में रह रहा था और जो अपने भविष्य को राज्य के भविष्य के साथ एकाकार करके देखता था, उसके लिए यह जरूरी हो गया था कि वह यथार्थ के साथ समझौता करके चले। धर्म का काम था हित में काम करना था और मिनहाज इस कार्य में सहायता करने के लिए तैयार था। उससे किसी राजनीतिक अभिमत या राजनीतिक विचारधारा की आशा नहीं की जा सकती थी। स्थिति तेजी से बदल रही थी और विभिन्न सस्थाओं की रूपरेखा भी ठीक से उभर नहीं पाई थी। लगभग एक शताब्दी बाद ये संस्थाएं केवल उभरी ही नहीं वरन् उनमें तनाव भी प्रकट होने शुरू हो गए। इतिहासकार बरनी में इस परिवर्तन के संकेत सुलभ हैं। जियाउद्दीन बरनी दिल्ली सल्तनत के इतिहास को गयासुद्दीन बल्बन से आरंभ करके उसे फ़िरोज़शाह तुगलुक के शासनकाल के छठे वर्ष तक ले आते हैं। उत्तरी भारत के इतिहास के कालक्रम तथा संकटग्रस्त समय के संदर्भ में वे हमारी सूचना के प्रमुख स्त्रोत हैं। इस युग में संदर्भ में बरनी ऐसे विद्वान के रूप में हमारे सामने आते हैं जिनसे परवर्ती इतिहासकार, जैसे फ़रिश्ता, याह्या सरहिंदी, अब्दुल हक़ दिहलवी बदायूंनी और निजामुद्दीन अहमद प्राय: अपनी सूचनाएं ग्रहण करते हैं।

जियाउद्दीन बरनी

यदि बरनी हमारी सूचना के प्रमुख स्त्रोत हैं, तो उनकी तारीख़–ए–फ़िरोज़शाही तथा **फ़तवा-ए-जहांदारी** शीर्षक कृतियां उन विवादों की जड़ भी हैं जो उस युग से संबंधित आधुनिक इतिहास–लेखन में परेशानी का कारण बनी हुई है। इन विवादों के मूल में केवल वे तथ्य ही नहीं हैं जो उन्होंने दिए हैं वरन् वे सामाजिक–राजनीतिक रुझान भी हैं जिन पर उनकी रचनाएं आधारित हैं। समाज के प्रति उनका दृष्टिकोण केवल उनके सामाजिक उद्गम तथा सामाजिक पृष्ठभूमि को ही प्रतिबिंबित नहीं करता उनके विवरण पर उनकी व्यक्तिगत निराशा का भी गहरा प्रभाव हैं। एक आलिम (विद्वान) के रूप में उन्हें जो प्रशिक्षण मिला था वह

उनके धार्मिक–राजनीतिक दृष्टिकोण को निर्धारित करता है। इस दृष्टिकोण को उलेमाओं के खास वर्ग की रुचियों का सूचक माना जा सकता है। यह वर्ग मुसलिम शासक वर्ग के उन समझौतों को सांस्थानिक (institutional) रूप दिए जाने से भयभीत हो उठा था जो उन्हें शुरू–शुरू में भारत में अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए करने पड़े थे।

बरनी का जन्म बल्बन के शासनकाल में (1285-86 ई.) को हुआ था। उसके माता एवं पिता, दोनों ही प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित, कुलीन एवं विद्वान वंश के थे। बरनी के बाबा उच्च राज्याधिकारी थे और उसके नाना सिपहसालार हुसामुद्दीन, बल्बन के विश्वासपात्र राज्याधिकारी थे। जलालुद्दीन खलजी के शासनकाल में बरनी का पिता अरकली खां का नायब था। बरनी का चाचा अलाउल–मुक, सुल्तान अलाउद्दीन खलजी का बड़ा विश्वासपात्र अधिकारी था, जिसे अन्ततः दिल्ली का कोतवाल नियुक्त कर दिया गया था और वह सुल्तान का विशिष्ट सलाहाकार था।

अलाउद्दीन एवं उसके उत्तराधिकारियों के राज्य में बरनी ने बड़े सुख–सुविधा से जीवन–यापन किया। उसकी मित्रता प्रसिद्ध साहित्यकारों एवं बुद्धिजीवियों से थी, उदाहरणार्थ अमीर खुसरो एवं अमीर हसन उसके व्यक्तिगत मित्र थे। वह प्रसिद्ध सूफी संत शेख निज़ामुद्दीन औलिया का शिष्य था। वह सुल्तान मोहम्मद तुगलक का बड़ा विश्वासपात्र था तथा उसके शासनकाल में उसे अत्यधिक आदर सम्मान प्राप्त हुआ, किन्तु बाद में सुल्तांन फ़िरोज़ के शासन–काल के दौरान उसकी पूर्ववत् मान प्रतिष्ठा नहीं रह गई थी, अतः उसकी स्थिति दयनीय हो गई थी, जैसा कि उसके अपने विवरण से स्पष्ट है। अतः दुख रोष तथा असन्तोष उसके लेखन में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हैं। यदि उसे फ़िरोज़ ने आश्रय न प्रदान किया होता, तो वह 'मातृ–भूमि' की गोद में सो गया होता। चूंकि वह अन्तर्मुखी था, अतः उसे अपनी स्थिति पर आत्मग्लानि हुई और उसने अपनी दयनीय अवस्था के लिये नैतिक पराजय को आधार मान लिया। अतः उसकी पुस्तक का एक व्यवहारिक उद्देश्य था—वह एकसाथ दो को समर्पित थी—एक तो ईश्वर या अल्लाह को, जिससे वह अपने पापों के प्रायश्चित के लिये क्षमा–याचना करना चाहता था और दूसरे सुल्तान को जिससे वह आश्रय–प्राप्त करके अपने भौतिक कष्टों को समाप्त करना चाहता था—और चूंकि, जैसा कि स्पष्ट है, सुल्तान ने उसे प्रश्रय दिया भी, अतः उसने अपनी पुस्तक का नाम उसी के नाम पर रखा–तारीखे–फ़िरोज़शाही।

ईश्वर को समर्पित करने और निजामुद्दीन औलिया द्वारा धर्म एवं रहस्यवाद से प्रभावित होने के कारण, उसका ऐतिहासिक दृष्टिकोण बहुत भिन्न था। उसके लिये इतिहास एवं इतिहास लेखन धर्मविज्ञान अथवा ईश्वर, उसके गुणों, प्रतिभा, निर्देशों आदि का अध्ययन है—न कि मनुष्य अथवा उसकी गतिविधियों का, अपितु यह ईश्वर के गुणों एवं उद्देश्यों को प्रकरण एवं रहस्योद्घाटन का एक सशक्त माध्यम है।

बरनी ने अपनी रचना **तारीखे-फ़िरोज़शाही** (1357 ई.) में पूर्ण कर ली। इसमें बल्बन के सिंहासनरोहण (1265 ई.) से लेकर फ़िराजशाह तुगलक के छठे वर्ष तक अर्थात् (1357 ई.) तक का वर्णन है। बरनी की पहले प्रारम्भिक काल से लेकर समकालीन इतिहास की रचना करने की आकांक्षा थी, किन्तु तबकाते–नासिरी की प्रशंसा एवं उसकी उपस्थिति के कारण उसने वह विचार त्याग दिया तथा उस स्थान एवं घटना से अपना क्रम प्रारम्भ किया, जहां मिनहाज़ ने अपने इतिहास–ग्रंथ की समाप्ति की थी।

बरनी ने अपने इतिहास–ग्रंथ में मात्र उन घटनाओं का उल्लेख किया है, जिनकी सत्यता पर उसे विश्वास था—क्योंकि वे सूचनाएं पवित्र, धार्मिक एवं गणमान्य व्यक्तियों से ही उसे प्राप्त होती थीं—वह 'इस्नाद' की तकनीकी का प्रयोग नहीं करता था। वह स्वयं कहता है, "मैंने जो कुछ इतिहास में लिखा है, वह सच–सच लिखा है और उस पर विश्वास किया जा सकता है।"

बरनी ने अपने इतिहास की रचना मूलतः अपनी व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर की हैं बल्बन के काल में उसके नाना–बाबा आदि उच्च राज्याधिकारी थे। अतः उस काल का इतिहास, उनके ज्ञान, सूचना एवं जानकारी पर आधारित हैं। इसी प्रकार उसके उत्तराधिकारियों के काल के इतिहास का भी यही आधार हैं। जलालुद्दीन खल्जी के राज्य–काल से लेकर फ़िरोज़शाह तुगलक तक के काल का पूर्ण विवरण उससे अपने व्यक्तिगत ज्ञान, सूचना, सम्पर्क एवं जानकारी के आधार पर दिया है। साथ ही अमीर खुसरो एवं अमीर हसन की साहित्यिक रचनाओं एवं सूचनाओं का भी लाभ उसे प्राप्त था।

जैसा कि स्पष्ट हो चुका है, बरनी के इतिहास–लेखन की सर्वप्रमुख विशेषता—उसका विशिष्ट धार्मिक दृष्टिकोण है, तो उसका दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व उसका वृहद् परिप्रेक्ष्य अथवा व्यापक परिवेश है, जिसमें वह इतिहास की कल्पना करता है तथा इतिहास लेखन को साकार रूप प्रदान करता है। उसका इतिहास शासकों, युद्धों, संघर्षों एवं राजनीति तक ही सीमित नहीं है—अपितु उसके विचारानुसार उसमें प्रतिष्ठित व्यक्तियों, उच्चराज्याधिकारियों, कलाकारों, सूफी सन्तों आदि सभी का उल्लेख रहना चाहिए, साथ ही साथ, उसने अमीरों का भी सविस्तार उल्लेख किया है। उसने इतिहास के अध्ययन से सात प्रमुख लाभों में उच्च अथवा

कुलीन वर्ग के हित को भी सम्मिलित किया है। किन्तु उसकी सीमा यहीं तक ही है, क्योंकि, वह भी समाज के निम्न वर्ग को महत्त्व नहीं देता है और न ही उनका इतिहास के साथ कोई सम्बन्ध ही मानता है। उसके मतानुसार उच्च घरानों तक ही इतिहास एवं उसके अध्ययन को सीमित रहना चाहिए।

बरनी अपने इतिहास का मुख्य उद्देश्य शासकों, अमीरों आदि को निर्देशित करना समझता था, किन्तु उसने कभी-कभी ही स्त्रोतों से भी घटनाओं को एकत्र करके जांचने अथवा उनका विश्लेषण करने का कोई प्रयास नहीं किया। बरनी को घटनाओं वर्णन के समय उनके तुल्यकालन अथवा संक्रमण की समस्या का सामना ही करना पड़ा, जैसा कि मिनहाज को करना पड़ा क्योंकि वह एक ही देश के वंशों एवं शासकों का इतिहास लिख रहा था। उसे दो या अधिक वंशों अथवा शासकों के मध्य भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुए संघर्षों का वर्णन नहीं करना था। अतः उसकी तारीख की लेखन तकनीक तबकात से पूर्णतः भिन्न हो गई तथा वह मिनहाज के पुनरावृत्ति वाले दोष से भी उपरोक्त कारण से बच गया, जो उसके लेखन की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

बरनी के इतिहास-लेखन का मुख्य दोष यह है, कि उसने महत्वपूर्ण एवं प्रमुख घटनाओं का अधिकांशतः बड़े संक्षिप्त रूप में वर्णन किया है—जो कहीं-कहीं इतना संक्षिप्त है कि उसके द्वारा उस समय का इतिहास समझने में बड़ी कठिनाई होती है। बरनी का एक अन्य दोष घटनाओं का क्रमबद्ध न होना है। साथ ही, चूंकि वह उल्मा (वर्ग) का सदस्य था, अतः एक विशिष्ट धार्मिक दृष्टिकोण से ही वह प्रत्येक कार्य एवं व्यक्ति को देख पाता था। अतः राजनीति का मूल्यांकन भी बरनी धार्मिक दृष्टिकोण से करता है, जो पूर्णतः अनुचित है—जबकि उसे एक तटस्थता से एवं वस्तुपरक दृष्टिकोण से प्रेरित होना चाहिए था—एक इतिहासकार के रूप में।

वस्तुतः ज़ियाउद्दीन बरनी ने बल्बन, अलाउद्दीन खलजी एवं मोहम्मद तुगलक द्वारा जिन सिद्धान्तों का प्रचार कराया है, वे मुख्यतः उसके अपने विचार एवं सिद्धान्त हैं, जैसा कि उसकी दूसरी प्रमुख रचना—'फ़तवाए-जहांदारी' से स्पष्ट होता है, अतः ज़ियाउद्दीन बरनी के दृष्टिकोण को एक वृहद् परिप्रेक्ष्य में उस समय के उन मुसलमानों का दृष्टिकोण समझाना चाहिए जो एक तरफ़ तो धर्माधिकारी वर्ग के प्रतिनिधि थे तथा, दूसरी ओर, जिनकी आर्थिक दशा काफी बिगड़ चुकी थी। इस प्रकार बरनी की तारीख़ फ़िरोज़शाही द्वारा हमें केवल उस समय की राज्य सम्बन्धी घटनाओं का ही ज्ञान नहीं प्राप्त होता, अपितु बल्बन से लेकर फ़िरोज़ तुगलक तक के राज्य-काल की सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का भी सही ज्ञान होता है और इसी कारण, 'तारीख़ फ़िरोज़शाही' को मध्यकालीन इतिहास के ग्रन्थों में एक बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है।

जहां तक इतिहासकारों में बरनी के स्थान का प्रश्न है—वह भी महत्त्वपूर्ण है। डॉ. जगदीश नारायण सरकार के मतानुसार बरनी की तारीखे-फ़िरोज़शाही वस्तुतः 'इतिहास के सचेतन दर्शन की एक प्रबल एवं तीक्ष्ण अभिव्यक्ति है, जिसके फलस्वरूप मात्र आख्यान कर्ता तथा कथाकारों की श्रेणी से, बरनी ऊपर उठने में सक्षम एवं सफल होता है।' यह भी सत्य है कि वह मनोभाव इतिहास में लीन रहता था तथा वह उसे विज्ञान की ही मान्यता प्रदान करता था, बल्कि 'विज्ञानों की रानी' का सम्मान इतिहास को विभूषित करता था तथा इसके अध्ययन के अनेक लाभों की ओर भी इंगित करता था। सम्भवतः इसी परिणामस्वरूप मध्यकालीन इतिहासकारों में बरनी तथा इतिहास-लेखन में उसकी 'तारीख' दोनों को ही एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

जहां तक बरनी के धार्मिक दृष्टिकोण का प्रश्न है—वह सीमित ही था यह सत्य प्रतीत होता है कि उसने साहित्यिक परम्परा के अनुरूप ही धार्मिक शब्दावली का प्रयोग किया है। वह इतिहास एवं इल्म-ए-हदीज़ को ज्ञान की जुड़वां सन्तानों के रूप में देखता एवं मानता था। अतः इन्हीं सब तत्वों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि, तारीख़े फ़िरोज़शाही, इन्हीं कारणों से एक अत्यन्त जटिल ग्रंथ के रूप में स्थापित हो गया है, जिसके वस्तुपरक परीक्षण एवं विश्लेषण के लिए बरनी के विचारों के मनोवैज्ञानिक आधारों एवं अस्थिर तथा विचलित मनोभावों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। उसके विचलित मनोभावों एवं इसके प्रभावों का सर्वुपयुक्त उदाहरण मोहमद तुगलक का है, जिसे वह 'अस्थिरता का बंडल' तथा विपरीत तत्त्वों का मिश्रण मानता है। वस्तुतः ये विशेषण सुल्तान के नहीं अपितु बरनी के अधिक हैं, जो एक विकृत, विभाजित व्यक्तित्व का स्वामी था। उस सुल्तान के प्रति स्नेह एवं घृणा के भाव—वास्तव में, इस इतिहासकार के अस्थायी मनोभावों को दर्शाते हैं।

उपरोक्त अध्ययन से यह भी स्थापित हो जाता है, कि पीटर हार्डी का कथन तथ्यों द्वारा स्थापित एवं प्रमाणित नहीं है। हार्डी के मतानुसार बरनी इतिहास को धर्म-विज्ञान का ही एक अविभाज्य अंग मानता था। बरनी जब-जब भी परिस्थितियों का विश्लेषण करता है—उसका आधार मूलतः एवं पूर्णतः राजनीतिक होता है।

अंततः यह मान्य है कि बरनी एक सीमा तक वस्तुपरक अथवा विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाए हुए था, वह एक हद तक वैज्ञानिक था—जैसा कि ऊपर स्पष्ट है वह इतिहास को विज्ञान ही मानता था। प्रोफेसर हबीब के मतानुसार तो बरनी के लि

इतिहास निश्चित रूप से विज्ञान ही था—सामाजिक संरचना का विज्ञान तथा उसका आधार धर्म और परम्परा नहीं, अपितु प्रेक्षण एवं अनुभव था। यही कारण हो सकता है कि उसमें स्थिरता नहीं है, क्योंकि वह तथ्यों का एवं घटनाओं का वास्तविक वर्णन करता चलता है, बिना किसी द्वेष अथवा पूर्वाग्रह के, अतः वह कोई निश्चित, निर्धारित उद्देश्य से नहीं लिखता है और इसी के फलस्परूप भावों के आधार पर अस्थिर हो जाना उसके लिये स्वाभाविक ही नहीं अपरिहार्य है।

बरनी की तारीखे–फिरोज़शाही का एक अन्य अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व है—उसमें निहित प्रशासनिक संस्थाओं का अध्ययन और यदि प्रशासनिक संस्थाओं एवं पूर्ण प्रशासनिक संरचना के अध्ययन के सन्दर्भ में इस ग्रन्थ का मूल्यांकन किया जाये, तो तिथियों का महत्त्व घट जाता है और तिथियां ही बरनी का सबसे बड़ा दोष हैं।

फ़तवा-ए-जहांदारी

बरनी का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'फतवा–ए–जहांदारी' है। यहां राजतन्त्रीय प्रणाली एवं सरकार के विधि पक्ष से सम्बन्धित एक ग्रन्थ है; वस्तुतः इस ग्रंथ में बरनी ने एक आदर्श स्थापित करने का प्रयास किया है, जो कि प्रत्येक मुस्लिम शासक के निर्देश की भांति हो तथा, वे उसी को आधार मानकर कार्य करें।

यह एक सिद्धान्तों का ग्रन्थ माना जाता है, जिसमें एक न्यायशास्त्री के दृष्टिकोण हमारे समक्ष रखे जाते हैं और साथ ही प्रशासनिक सिद्धान्तों और व्यावहारिक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन का भी अवसर हमें प्राप्त होता है।

डॉ. हरबंस मुखिया के मतानुसार 'फ़तवा–ए–जहांदारी' के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि बरनी ऐतिहासिक परिवर्तन से अवगत था। वह संप्रभुता की अथवा राजतन्त्रीय संस्था एवं इस्लाम के सिद्धान्तों के विरोधों को कष्ट के रूप से अनावृत करता है, किन्तु राजतन्त्रीय व्यवस्था को बढ़ती भ्रष्टता के वातावरण में उचित एवं तर्कसंगत भी सिद्ध करता है। और तो और, वह परिवर्तन को मान्यता प्रदान करता था, क्योंकि वह सुल्तानों को बदलते परिवेश के अनुकूल ही पुराने नियम पुनर्स्थापित एवं नये नियम प्रचलित करने की सलाह भी देता है। चूंकि फ़तवा–ए–जहांदारी इन नये तत्वों को उद्घोषित करती है, अतः संस्थाओं, प्रणाली एवं व्यवस्था के अध्ययन के लिये उसका महत्त्व कई गुना बढ़ जाता है उसकी फ़तवा–ए–जहांदारी से उसकी जातीय नीति अथवा शुद्ध रक्त नीति और स्पष्ट हो जाती है—वह शासक को एक सलाहकार समिति भी नियुक्त करने की सलाह देता है, जिसे उच्च जातीय व्यक्ति ही सम्मिलित हों।

इस प्रकार से बरनी ने अपनी 'फ़तवा–ए–जहांदारी' में एक आदर्श राजनीतिक व्यवस्था को चित्रित करने का एक सफल प्रयास किया है, जो उसके अनुसार प्रत्येक मुस्लिम शासक के पालन करने के लिये आवश्यक थी। यह ग्रन्थ सृष्टि की रचना तथा खलीफ़ाओं एवं उनकी क्रियाओं से प्रारम्भ होता है। यह शासकोपयुक्त सभी गुणों, भावों आदि का विश्लेषण करता है। शासकों के व्यवहार, दृष्टिकोण, स्वभाव, गरिमा एवं प्रतिष्ठा की ओर भी इंगित करता है। प्रशासनिक संरचना एवं व्यवस्था के क्षेत्र में वह प्रशासनिक नियमों एवं सिद्धान्तों, न्याय–शास्त्र, अपराध तथा उनके उपयुक्त दण्ड–विधान, राज्य–कोष, सेना एवं उसके संगठन, सैन्य अभियान, विद्रोह एवं उसके दमन, मुद्रा नीति, व्यापार, व्यवसाय तथा वाणिज्य सम्बन्धित नियमों इत्यादि सभी विषयों को सम्मिलित ही नहीं करता है, अपितु उनका वृहद एवं विस्तृत विवरण कर, उनको स्पष्ट करता है।

अमीर खुसरो

अमीर खुसरो का जन्म (1253 ई.) में पटियाली (जिला एटा–उत्तर प्रदेश) में हुआ था। उसका पिता अमीर सैफुद्दीन महमूद उर्फ सैफ़े शम्सी, सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश और उसके उत्तराधिकारियों के काल में उच्च पदों पर नियुक्त था। उसकी माता के पिता एमादुलमुल्क–बल्बन के राज्य–काल में उच्च पद पर कार्यरत थे। जहां तक अमीर खुसरो का प्रश्न है, उसकी मौलिक, प्रारम्भिक एवं वास्तविक रुचि कविता ही रही। उसने आठ वर्ष की अल्पायु में ही कविता–रचना प्रारम्भ कर दी और बाहर वर्ष की आयु तक तो वह काफी प्रतिष्ठित एवं स्थापित हो चुका था। वह एक विद्वान, बुद्धिजीवी था—जिसने अन्य विषयों के अतिरिक्त फ़ारसी, तुर्की, अरबी तथा हिन्दी का भी अध्ययन किया था।

बल्बन के शासन–काल में अमीर खुसरो, अलाउद्दीन किशली खां के दरबार में नोकर हो गया, तत्पश्चात् बल्बन के कनिष्ठ पुत्र नासिरूद्दीन बुगरा खां के यहां भी वह नियुक्त रहा और उसके बाद, वह बल्बन के ज्येष्ठ पुत्र नुसरतुद्दीन सुल्तान मुहम्मद का 'मुसाहिब' नियुक्त हो गया। 1284-85 ई. के मंगोल अभियान के दौरान—जिसमें मुहम्मद की मृत्यु हुई—उसे भी बन्दी बनाकर उनके द्वारा ले जाया गया था। किसी प्रकार मुक्त होकर, वह मुल्तान होता हुआ सुल्तान बल्बन के समक्ष दिल्ली में उपस्थित हुआ तथा मुहम्मद की मृत्यु की मर्सिया की रचना करके सुल्तान को सुनाया और इसका काफी गहरा प्रभाव भी पड़ा।

स्त्रोतों का संक्षिप्त सर्वेक्षण

मुईज़्ज़ुद्दीन कैकुबाद के काल में अमीर खुसरो मलिक अमीर अली सरजानदार के यहां नियुक्त रहा। इस कैकुबाद [illegible] किया, किन्तु अमीर खुसरो अपने स्वामी को छोड़ हर बार जाने के लिये तत्पर न था। अमीर खुसरो ने कैकुबाद [illegible] बुगरा खां– जो बंगाल का गवर्नर था- -की भेंट का बड़ा ही मार्मिक वर्णन अपनी एक कविता में किया है।

जलालुद्दीन फीरोज़शाह खलजी (1290-95 ई.) के काल में वह पुस्कालाध्यक्ष के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। सुल्तान अलाउद्दीन [illegible] के काल में उसे पूर्ववत् सम्मान प्राप्त रहा तथा मुबारकशाह के शासन–काल में भी उसकी प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आई और इसी सुल्तान के काल में उसने 'नुह सिपेहर' कविता की रचना की थी।

गयासुद्दीन तुगलक (1320-25 ई.) के काल में उसने 'तुगलकनामा' की रचना की थी। वह जब (1324 ई.) में सुल्तान के साथ [illegible] अभियान पर गया था, तभी उसके गुरु निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु हो गई और वह स्वय भी शोकाकुल हो, अधिक दिन तक जीवित न रह सका और 1325 ई. में स्वर्गवासी हो गया—उसे उसके गुरु निज़ामुद्दीन औलिया के निकट ही दफन कर दिया गया।

इस्लाम के नियमों का पूर्णरूपेण पालन करने के साथ ही, खुसरो पूर्णतः उदारवादी एवं धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु व्यक्ति था। उसका अधिकांश समय सूफियों एवं संतों की गोष्ठियों में व्यतीत होता था। वह हिन्दू धर्म को भी समझने का प्रयास करता था। यद्यपि वह अपने समकालीन प्रमुख इतिहासकार, बुद्धिजीवी बरनी का मित्र था, किन्तु, फिर भी, दोनों के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर था। दुतु स्वभाव से ही खुसरो को अपने देश से तथा पूर्ण मानव–जाति से ही प्रेम था। वह इतना सहज, सहृदय एवं सज्जन था कि सभी समकालीन उससे प्रसन्न एवं प्रभावित रहते थे तथा सदैव ही उसे सम्मानित किया जाता था। वह स्वभाव से दयालु [illegible] भी था, अतः उसमें वे सभी गुण विद्यमान थे, जो मनुष्य के व्यक्तित्व को उन्नति के शिखर पर पहुंचाते हैं। अमीर खुसरो की रचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि, गद्य–पद्य दोनों ही के लेखन में वह अत्यधिक निपुण एवं योग्य था। शब्दों के चयन तथा उनके प्रयोग में भी उसे पूर्ण दक्षता प्राप्त थी। फ़ारसी कविता के क्षेत्र में भारतीय उपमहाद्वीप में वह अद्वितीय था। इसकी विश्लेषणात्मक क्षमता एवं योग्यता उसकी ऐतिहासिक कविताओं द्वारा स्पष्ट हो जाती है। घटना को समझने एवं तत्पश्चात् उसका सही उल्लेख की अभूतपूर्व क्षमता भी उसमें थी; यही नहीं, उसकी निरीक्षण शक्ति भी बड़ी तीव्र थी तथा उसमें छोटी–छोटी [illegible] एवं साधारण से साधारण घटनाओं को मार्मिक रूप प्रदान करने की भी अद्भुत क्षमता थी।

इसके अतिरिक्त खुसरो का संगीत–प्रेम भी अत्यधिक प्रसिद्ध है। उसने इस कला का भी विस्तृत अध्ययन किया था। यहां [illegible] उसने हिन्दुस्तानी और ईरानी रागों के स्वाभाविक सम्मिश्रण एवं समन्वय द्वारा नवीन रागों का आविष्कार भी किया। सम्भवतः [illegible] कि अनेक विद्वानों का मत है, सितार एवं तबले का भी जनक खुसरो ही था। स्वयं बरनी उसके विषय में अपनी कृति तारीख़ फ़िरोज़शाही में लिखता है : वह संगीत तथा संगीत की रचना में बड़ा दक्ष था, अनेक कलाओं में, जिनमें मधुर तथा उत्तम स्वर की आवश्यकता होती है, भगवान ने उसे दक्ष बनाया था। जो भी परिवर्तन खुसरों ने संगीत के क्षेत्र में किये, वे सांस्कृतिक समन्वय के नये प्रवाह के अनुकूल थे। तथा इनके दूरगामी सामाजिक परिणाम थे, इसी समन्वय के फलस्वरूप [illegible] विरोधी धर्मावलम्बी लगभग एक साथ आ गये तथा सामाजिक एकता तथा समानता की प्रक्रिया और सशक्त हो गई।

वास्तव में उर्दू साहित्य का इतिहास भी उसी से प्रारम्भ हो जाता है, न ही उसे अपने हिन्दुस्तानी होने की कोई हीन भावना थी और न ही यहां की भाषा के विषय में। वह इस मिश्रित भाषा को 'देहलवी' अथवा 'हिन्दवी' कहता था। वह फ़ारसी और हिन्दी का बहुत ही अच्छा मिश्रण अथवा समन्वयकर्ता था—वह अपनी फ़ारसी कविताओं में हिन्दी के शब्दों का इतना सुन्दर प्रयोग करता था कि उनका प्रभाव, शृंगार तथा बौद्धिक स्तर और अधिक बढ़ जाता था।

अतः प्रत्येक दृष्टिकोण एवं पहलू चाहे इतिहासकार, साहित्यकार, कवि, लेखक, संगीतज्ञ और यहां तक की व्यक्तिगत रूप से भी खुसरो वस्तुतः मध्यकालीन सांस्कृतिक समन्वय का प्रतिनिधि ही नहीं, प्रतीक भी था।

अमीर खुसरो की रचनाएं

अमीर खुसरो की रचनाओं एवं उनकी संख्या के विषय में, इतिहासकारों के मध्य मतैक्य का अभाव है। तारीख़ फ़रिश्ता में [illegible] संख्या 12 बताई गई है, जामी (नफहातुलउन्सा) ने 11 बताई है, जबकि बरनी अस्पष्ट रूप से लेखता है कि खुसरो ने [illegible] में एक पूरा पुस्तकालय लिख डाला था। फिर भी, इतना स्पष्ट है कि, उसने गद्य और पद्य दोनों ही क्षत्रों में अनेक रचनाएं [illegible] उसकी वस्तुतः अनेक रचनाएं नष्ट भी हो गईं और हमलोग उनसे वंचित रह गये। उसकी रचनाओं को दो समूहों में वर्गीकृत [illegible] जा सकता है– साहित्यिक तथा ऐतिहासिक।

राजनीतिक क्षेत्र में अमीर खुसरो के काफी गहरे संबंध थे तथा उसे अनेक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं को स्वयं देखने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ था तथा उसे महत्त्वपूर्ण जानकारियां भी प्राप्त हो जाया करतीं थीं—जिन सबकी ऐतिहासिक उपयोगिता एवं महत्त्व था। वह इन्हें विश्लेषणात्मक एवं क्रमबद्ध तरीके से प्रस्तुत करने में भी दक्ष था, किन्तु वह उसे इतिहास का स्वरूप न दे पाया, क्योंकि वह अपनी साहित्यिक अभिरुचियों के घेरे में अधिक था। जहां तक भूतकाल अथवा अतीत का सम्बन्ध उससे था—उसमें पुरस्कृत होने की अभिलाषा अथवा साहित्यिक ऊंचाइयों को छू लेने की महत्त्वाकांक्षा अधिक थी। उसकी छहों ऐतिहासिक रचनायें एकरूपता के अभाव को दर्शाती हैं। हालांकि वे सब की सब अलंकृत, काल्पनिक, अतिशयोक्तिपूर्ण शैली की परिचायक हैं और इस दक्षता के परिणामस्वरूप ऐतिहासिक, क्रम, तिथि सभी का बलिदान कर दिया गया। अतः उसकी ऐतिहासिक रचनाये भी उसकी साहित्यिक रुचि एवं दक्षता का ही प्रतीक तथा प्रमाण हैं—वह अपना साहित्यिक मोह तथा उस क्षेत्र में अपनी महत्त्वाकांक्षा से कभी भी नहीं उबर सका।

ऐतिहासिक रचनाएं

1. **केरानुस्सादैन**—केरानुस्सादैन का वास्तविक अर्थ दो ग्रहों का मिलन होता है। अमीर खुसरो ने इस रचना में बंगाल के गवर्नर बुगरा खां तथा उसके पुत्र, दिल्ली के सुल्तान मुइज़्जुद्दीन कैकुबाद के मध्य हुई एक ऐतिहासिक भेंट का बड़ा ही मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। इस रचना को पूर्ण करने में अमीर खुसरो को 6 वर्ष लगे तथा 38 वर्ष की आयु में सितम्बर–अक्तूबर 1289 ई. में यह पूर्ण हुई।

   इस महत्त्वपूर्ण कृति में जहां उसने बुगरा खां तथा कैकुबाद के चरित्रों का सजीव चित्रण किया है, वहीं उसने मंगोलों के स्वभाव तथा प्रमुख विशेषताओं का वर्णन भी किया है जिनके द्वारा वह एक बार बन्दी बनाया गया था। यही नहीं, साथ ही साथ, इस कृति में समकालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का वर्णन भी विस्तृत है। अतः इसका महत्त्व और बढ़ जाता है। इस रचना में, दिल्ली उसके महलों, राजदरबार एवं उसकी गरिमा, कुलीनों एवं अधिकारियों के जीवन एवं व्यवहार इत्यादि के विषयों में भी जानकारी प्राप्त होती है।

2. **मिफ़्ताहुलफ़ुतूह**—1291 ई. में रचित यह कृति वस्तुतः खुसरो के 'दीवान–ए–घुरात्तुल कमाल' का एक भाग है। इस रचना में सुल्तान फ़िरोज़ खलजी की प्रथम वर्ष की सैनिक विजयों का वर्णन है। यह अधिक लम्बी नहीं है तथा साधारण शैली में ही लिखी गई है।

   ऐतिहासिक आधार एवं दृष्टिकोण में लिखी गई इस रचना में मलिक छज्जू के विद्रोह के दमन एवं सामन की विजय का विस्तृत उल्लेख है।

3. **देवल रानी तथा खिज़्र खां अथवा आशिका**—इसकी रचना जनवरी 1316 ई. में की गई। यह अलाउद्दीन के पुत्र खिज़्र खां एवं गुजरात के राजा करण की पुत्री देवल देवी की प्रेम–कथा है। प्रारम्भ में, अमीर खुसरो ने इसे देवल देवी तथा खिज़्र खां के विवाह पर समाप्त कर दिया था, किन्तु बाद में मुबारकशाह द्वारा खिज़्र खां के वध का वर्णन करके उसे एक मार्मिक रूप प्रदान कर दिया।

4. **नूह सिपेहर**—अमीर खुसरो ने इस कृति की रचना 67 वर्ष की आयु में (1318 ई.) में की थी। यह कविता, चूंकि नौ भागों में विभक्त है, अतः इसका नाम 'नूह सिपेहर' है। इसमें कुल 4,509 छन्द हैं।

   प्रथम सिपेहर में सुल्तान मुबारकशाह की प्रशंसा की गई है एवं उसका देवगिरि पर आक्रमण का भी वर्णन है। द्वितीय में, उक्त सुल्तान द्वारा निर्मित भवनों का उल्लेख है। तृतीय में, खुसरो ने अपनी मातृ–भूमि भारतवर्ष की प्रशंसा की है—जिसमें उसने यहां की जलवायु, वनस्पति, फल, फूल, निवासियों की चरित्र एवं भारत के रीति–रिवाजों के सुन्दर वर्णन हैं। चतुर्थ में, बादशाह, मलिकों एवं लश्कर के लिये शिक्षा है। पंचम में, भारत की शीत ऋतु का वर्णन है तथा एक आखेट का भी उल्लेख किया है। छठे में, मुबारक के पुत्र मुहम्मद के जन्म का बयान है। सप्तम सिपेहर में, नौरोज़, तथा बसंत का उल्लेख है। अष्टम में, चौगान अथवा आधुनिक सन्दर्भ में पोलो के नाम से खेले जाने वाले खेल का वर्णन है तथा नवम् एवं अन्तिम में, स्वयं खुसरो ने अपनी कविताओं के विषय में लिखा है।

5. **तुगलकनामा**—इस अन्तिम ऐतिहासिक कविता में अमीर खुसरो ने गयासुद्दीन तुगलक की खुसरो खां पर विजय का उल्लेख है—जो (1320 ई.) में हुई थी। वस्तुतः इस कृति का धार्मिक एवं नैतिक महत्व तथा प्रभाव था। सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक सद्गुणों का प्रतीक था, जो अंधकारमयी शक्तियां जिनका प्रतीक खुसरो खां था—के विरुद्ध लड़ रहा था और वह भी इस्लाम के लिये।

यही नहीं, अस्करी के मतानुसार, अमीर खुसरो के तुगलकनामा का, अन्य कृतियों की भाति ही, सामाजिक एवं [illegible] महत्त्व है।

6. **खज़ायन-उल-फुतह अथवा तारीख-ए-अलाई**—यह रचना गद्य में है तथा इसका शाब्दिक अर्थ विजय का [illegible] अत्यधिक अलंकृत एवं अतिशयोक्ति पूर्ण भाषा में लिखी गई रचना है, जो 1311 ई. में पूर्ण हुई थी।

इस रचना में अलाउद्दीन खलजी के शासन के प्रथम 16 वर्षों की घटनाओं का वर्णन है, विशेषतः मलिक काफूर के दक्षिण अभियान के विवरण हैं और चूंकि, अमीर खुसरो की इसकी रचना शासक सुल्तान अलाउद्दीन के लिये की थी, यह एक तरह से मलिक काफूर के अभियानों एवं विजयों का शासकीय लेखा है। खुसरो के भौगोलिक वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि वह स्वयं अनेक अवसरों पर दक्षिण में इन घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी रह होगा। इतिहासकार बदायूंनी के विचारानुसार अमीर खुसरो मलिक काफूर के साथ दक्षिण अभियान पर गया था।

दक्षिण–अभियानों में विस्तृत वर्णन के अतिरिक्त, खुसरो अलाउद्दीन खलजी द्वारा निर्मित अनेक भवनों, इमारतों का भी [illegible] है। वह अलाउद्दीन के प्रशासकीय तथा राजनीतिक सुधारों का भी वर्णन करता है और साथ ही साथ गुजरात चित्तौड़ एवं मालवा पर उसके अभियानों एवं विजयों का भी विवरण, वह हमें इसी कृति में देता है।

इन्हीं सब तथ्यों एवं कारणों से इस ग्रंथ खज़ायन–उल–फुतूह का अत्यधिक ऐतिहासिक महत्व है। वस्तुतः यह सुल्तान अलाउद्दीन खलजी के शासन का एकमात्र समकालीन इतिहास–स्त्रोत एवं ग्रन्थ है। हालांकि, बरनी का इतिहास भी समकालीन है, किन्तु वह सुल्तान अलाउद्दीन की मृत्यु के चूंकि, काफी समय बाद लिखा गया था, अतः कुछ घटनाओं का उतना विस्तृत वर्णन नहीं है जितना कि खुसरो की कृति में हमें मिलता है।

इस रचना में अनेक ऐसे गद्यांश हैं, जो किसी निश्बत पर आधारित हैं, अनेक स्थानों पर कुरान के पदों का उल्लेख है और [illegible] शब्दों का बाहुल्य है। वह घटनाओं को सुरुचिपूर्ण दृष्टिकोण से देखता है, किन्तु घटना से अधिक श्रेष्ठता प्रभाव को दिया गया है।

इसामी

इसामी का पूरा नाम सम्भवतः **ख्वाजा अब्दमलिक इसामी** था। उसके पूर्वजों में से एक अब्बासी खलीफाओं के अन्तर्गत वजीर रहा था,और यही फख़्र मलिक इसामी बगदाद से भारतवर्ष, सुल्तान इल्तुतमिश के शासन–काल में आया था और तबसे इस परिवार के अनेक सदस्य, अनेक सुल्तानों के अधीन राज्याधिकारियों के रूप में कार्य करते रहे।

इसामी का जन्म (1311-12 ई.) के लगभग हुआ था—जब मोहम्मद तुगलक ने अपनी राजधानी परिवर्तित की थी, तब इसामी अपने दादा इज्जुद्दीन के साथ दौलताबाद गया था—उसके दादा की तो राह में मृत्यु हो गई थी—वह बल्बन एवं खलजी के सिपहसालार नियुक्त रहा था। **इसामी** 1350-51 ई. तक दौलताबाद में ही रहा और इसी समय उसने अपनी रचना भी पूर्ण की। वह अविवाहित एवं निस्सन्तान था, अतः उसका सारा झुकाव ऐतिहासिक स्वभाव की कविताओं को लिखने की ओर ही था। चूंकि वह सुल्तान से दूर था, अतः वह तुगलक वंश के सुल्तानों के भय एवं पुरस्कार से परे होकर इतिहास की रचना कर सका, जिसके फलस्वरूप वह तटस्थ एवं वस्तुपरक इतिहासकार माना जाता है।

इसामी फ़िरदौसी के '**शाहनामे**' से सर्वाधिक प्रभावित था और उसने उसी की भांति फुतुहुस्सलातीन को कविता में लिखा है। चूंकि, शाहनामे में आदम से प्रारम्भ करके महमूद गज़नवी तक का हाल लिखा गया है। अतः उसने अपने इतिहास–ग्रथ का प्रारम्भ महमूद गज़नवी से किया है और 751 हि. तक के काल का वर्णन किया है। अतः यह पुस्तक इतने विस्तृत काल के इतिहास के लिये काफी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। उसने अनेक घटनाओं के वर्णन में अपने बाबा के व्यक्तिगत अनुभवों तथा स्मरण शक्ति का भरपूर लाभ उठाया था। सुल्तान मोहम्मद तुगलक के विषय में तो उसने जो कुछ भी लिखा है, वह उसके व्यक्तिगत जानकारी पर आधारित है। देहली से दौलताबाद की राजधानी–परिवर्तन यात्रा में भी यह स्वयं सम्मिलित था और अनेक वर्ष, वह दौलताबाद में रहा, जिसके फलस्वरूप दक्षिण के बारे में भी उसे व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त थी।

उसके इतिहास का महत्त्व इसलिए और अधिक है, क्योंकि उसके द्वारा वर्णित कई घटनाओं का वर्णन और कहां भी प्राप्त नहीं। संभवतः उसका यही कारण है कि उसने बड़े निष्पक्ष ढंग से इतिहास–लेखन किया था—न तो वह दरबारी इतिहासकार था, न ही उसे किसी पुरस्कार का मोह था।

मेंहदी हसन के मतानुसार, इसामी वस्तुतः समकालीन पौराणिक कथा लेखकों में सर्वश्रेष्ठ था इसामी ने अपनी इतिहास–[illegible] लिये जो सामग्री प्रयोग की वह सौन्दर्य बोध से प्रेरित थी और न कि विश्लेषणात्मक तथ्य वास्तविक आधार पर।

ऐतिहासिक तथ्यों का अनावरण करता है न कि विश्लेषणात्मक इतिहास का। वह सदैव कार्यों के लिये ईश्वर को ही उत्तरदायी मानता है। हालांकि, अनेक स्थानों पर वह घटनाओं के लिये मनुष्य के कार्यों को उत्तरदायी मानता है, जैसे कि, कैकुबाद द्वारा खुसरो को अपदस्थ किये जाने को कुलीनों के निर्णय के परिणामस्वरूप मानता है।

सुल्तान अलाउद्दीन खलजी के शासनकाल का इतिहास विश्वसनीय है। हालांकि, उसके इस काल के इतिहास का स्त्रोत पुराने अनुभवी लोगों की चश्मदीद गवाही थी। वह मंगोल अभियानों के विषय में अनेक नवीन तथ्यों का अनावरण करता है, साथ ही सुल्तान अलाउद्दीन खलजी के 1296 ई. के दक्षिण अभियान उसके रणथम्भौर की घेरेबन्दियों आदि का विस्तृत वर्णन करता है। वह युद्धों एवं घेरेबन्दियों का वर्णन विस्तृत एवं स्पष्ट करता है, किन्तु, सुल्तान अलाउद्दीन के प्रशासनिक एवं आर्थिक सुधारों के विषय में विस्तृत जानकारी नहीं देता है।

जहां तक सुल्तान मोहम्मद तुगलक के काल का प्रश्न है, उसका वर्णन एकपक्षीय हैं चूंकि, व्यक्तिगत एवं पारिवारिक रूप से वह राजधानी–परिवर्तन से हताश हुआ था। अतः वह उक्त सुल्तान की कटु आलोचना करता है। इसामी उन अनेक कहानियों का उल्लेख करता है, जो सुल्तान के विरूद्ध थीं और काफी प्रचलित भी थीं। वह बहाउद्दीन गुर्शास्प जो, कि सागर का गवर्नर था–– के विद्रोह एवं उसके दमन का भी उल्लेख करता है, जो कि सुल्तान ने बड़े अमानवीय प्रकार से किया। इसामी, मोहम्मद तुगलक को इस्लाम के विरुद्ध विद्रोही मानता था। वस्तुतः सत्य यह था कि, अपने व्यक्तिगत एवं पारिवारिक क्षति के कारण—जिसके लिये मोहम्मद तुगलक काफी सीमा तक उत्तरदायी था—वह उसके विरुद्ध हो गया था। जहां वह सुल्तान, अलाउद्दीन खलजी की भूरि–भूरि प्रशंसा करता है वहीं वह दूसरी ओर मोहम्मद की कटु, आलोचना एवं निंदा करता है।

इस ग्रन्थ का महत्व इसलिए और अधिक हो जाता है, क्योंकि, बाद के मुस्लिम इतिहासकारों ने इसके सन्दर्भ दिये हैं तथा उसको अपना आधार बनाया है। इतिहासकार **निजामुद्दीन अहमद** तो **फुतूह-उस-सलातीन** को अपना आधार स्पष्टतः मानता है और, साथ ही साथ फ़रिश्ता एवं बदायूंनी दोनों ने ही इसामी की **फुतूहुस्सलातीन** का उपयोग किया है।

इसामी की शैली की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्पष्टवादिता एवं साधारणता और सहजता है। किन्तु फिर भी वह स्वयं अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा के प्रयोग से भी नहीं चूकता। वह अपने आधारों (स्त्रोतों) का भी उल्लेख नहीं करता है। यह भी एक सत्य है कि वह सुल्तान मोहम्मद का कटु आलोचक एवं निंदक था। अतः उसका उल्लेख निष्पक्ष नहीं रहा है। किन्तु, अनेक त्रुटियों के बावजूद भी, **इसामी** ने क्रमबद्धता को बनाये रखा है और उसका ग्रंथ मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्ययन अथवा लेखन के लिए महत्त्वपूर्ण ही नहीं आवश्यक भी है। और यही इसका ऐतिहासिक महत्त्व एवं मूल्य है।

अफ़ीफ़

अफ़ीफ़ का पूर्ण नाम **शम्स-ए-सीराज़ 'अफ़ीफ़'** था, जिसका जन्म अबुहार में 1342 ई. में हुआ था। उसने जिस ग्रंथ की रचना की उसका नाम भी तारीखे फ़िरोज़शाही रखा—वह बरनी की कथा को पूर्ण करने का इच्छुक था। यह ग्रंथ भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अफ़ीफ़ एवं उसके पूर्वज के पास न केवल प्रशासनिक अनुभव एवं जानकारी थी, बल्कि वे तुगलक वंश से सम्बन्धित एवं संलग्न भी थे—दोनों परिवारों के बहुत गहरे सम्बन्ध थे।

इतिहासकार अफ़ीफ़ का पितामह गयासुद्दीन के काफ़ी निकट था तथा वह दीवालपुर में—अबुहर का राजस्व अधिकारी था। यही नहीं, वो ही फ़िरोज़शाह के पिता राजव और दीपालपुर के राणा मलभट्टी की पुत्री बीबी नैमला के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कराने के लिये भी उत्तरदायी था। अफ़ीफ़ का दादा शम्स–ए–साहाब अफ़ीफ़ एवं फ़िरोज़शाह का जन्म भी एक ही दिन हुआ था तथा दोनों बालसखा थे, अतः यह सत्य है कि, **शम्स-ए-सीराज़ अफ़ीफ़** को फ़िरोज़शाह के शासन–काल का प्राथमिक ज्ञान एवं जानकारी थी और उसकी कृति में इसी सुल्तान के काल का इतिहास वर्णित है।

शम्स–ए–सीराज़ अफ़ीफ़ ने सुल्तान फ़िरोज़शाह के शासन–काल में अनेक पदों पर कार्य किया था और चूंकि, दोनों परिवारों के अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध थे और साथ ही साथ वह एक उच्च राज्याधिकारी का पुत्र था, अतः वह सुल्तान फ़िरोज़शाह के दरबार में निरन्तर जाता था और वहीं वह बड़ा भी हुआ था—अर्थात यहीं उसके विवेक, ज्ञान एवं बुद्धि का विकास सम्भव हो सका था। वह सुल्तान फ़िरोज़शाह का बड़ा कृपापात्र था। वह अनेक अवसरों पर सुल्तान के साथ शिकार अभियानों पर भी जाता था।

बाद के जीवन में, **शम्स-ए-सीराज़ अफ़ीफ़** प्रसिद्ध सूफी संत, शेष कुतुबुद्दीन मुन्नवर का शिष्य हो गया था। यह सूफी चिश्ती मत का सूफी सन्त था तथा सुल्तान मोहम्मद बिन तुगलक का समकालीन था। उसने जो सुल्तानों की जीवनियों की शैली अपनाई है

वह 'मनाकिब' की भांति है, जो वस्तुतः धार्मिक लोगों की जीवनियों का आधार होती है और न कि सुल्तानों की आत्म [illegible] अतः उसमें एक निश्चित सूफी एवं सुफी मत से प्रेरित धारा प्रवाहित हो रही है।

उसने **बरनी** तथा **इसामी** की तरह यह कहीं पर भी स्पष्ट नहीं किया है कि उसके इतिहास—लेखन की प्रेरणा क्या थी [illegible] वह असन्तुष्ट आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति कर रहा था और न ही उसकी यह मान्यता थी कि उसे योग्यतानुसार प्रसिद्धि [illegible] प्रतिष्ठा नहीं मिली। वह अपने पाठकों को सुशिक्षित करने उनके समक्ष सदुदाहरण प्रस्तुत करने एवं उनकी नैतिक उन्नति के [illegible] लिख रहा था।

उसकी '**तारीखे फ़िरोज़शाही**' जो उसने पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में पूर्ण की थी—एक वृहद एव विस्तृत इतिहास [illegible] के अंश है। इस वृहद–ग्रंथ में तीनों तुगलक शासकों—गयासुद्दीन, मोहम्मद एवं फ़िरोज़ के सदगुणों को आधार बनाया गया है और साथ ही साथ, मंगोल नेता तैमूर द्वारा दिल्ली के विनष्टीकरण का भी वर्णन हैं। किन्तु, दुर्भाग्यवश, **तारीखे फ़िरोज़शाही** वाले भाग को छोड़कर अन्य से हम वंचित ही रह गये हैं।

अफ़ीफ़ ने **बरनी** के आलेख को आगे बढ़ाते हुए 1388 ई. पर समाप्त किया है– वह 1351 ई. से 1388 ई. तक के काल [illegible] में विस्तृत रूप में लिखता है **अफ़ीफ़** यहां के सांस्कृतिक जीवन पर भी प्रकाश डालता है तथा यह कृति चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के काल जीवन के विषय में अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

तैमूर के विनाशकारी आक्रमण के बाद लिखे गये इस ग्रन्थ में, हालांकि फ़िरोज़शाह के ही काल का वर्णन है, परन्तु अनेक स्थान पर सुल्तान अलाउद्दीन खलजी तथा मोहम्मद तुगलक के भी सन्दर्भ आये हैं। वैसे तो पूर्ण कृति में ही फ़िरोज़शाह का स्तुति–गान है। उसने किसी न किसी प्रकार से फ़िरोज़शाह के दोषों को ढंका है। यह फ़िरोज़ के प्रारम्भिक जीवन से सिंहासनारोहण तक के वर्णन भी करता है और उसके सिंहासनारोहण को भी तार्किक बताता है।

अफ़ीफ़ ने फ़िरोज़शाह के काल की राजनीति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया हैं वह उसके सामान्य प्रशासन, सैन्य–संगठन [illegible] कारखानों, दासों के रख–रखाव एवं उनके रोजगार, फ़िरोज़शाह के स्थापत्य–निर्माणों के साथ–साथ उसक [illegible] भ्रष्टाचार का भी विस्तृत वर्णन करता है। यही नहीं, अपनी पुस्तक के अंतिम भागों में वह सुल्तान के अधीन कुलीन वर्ग का [illegible] जन–साधारण के जीवन और परिस्थितियों का स्पष्ट वर्णन करता है। वह कुलीन वर्गों की फिजूल खर्ची, भोग विलासिता आदि के विषय में भी निष्पक्ष होकर लिखता है। साथ ही वह जन–साधारण की तुलना में, उनकी श्रेष्ठ आर्थिक स्थिति का भी विवरण [illegible] है। उसके अनुसार लोगों की सामान्य स्थिति संतोषजनक नहीं थी।

यही नहीं, कि, **अफ़ीफ़** फ़िरोज़शाह के काल की राजनीतिक घटनाओं के ही वर्णन तक अपन आप को सीमित रख, वह समाज के आर्थिक एवं धार्मिक पहलुओं पर भी प्रकाश डालता है। विशेषकर वह प्रचलित सभी सामाजिक दोषों का चित्रण करता [illegible] दहेज–प्रथा, समाज में स्त्री का निम्न–स्तर तथा उसकी अवहेलना आदि।

अफ़ीफ़ का इतिहास–लेखन, हालांकि असंतोष तथा कुण्ठाओं से प्रभावित नहीं है, फिर भी ऐतिहासिक तथा वस्तुपरक इतिहास–लेखन के दृष्टिकोण से उसमें भी कुछ दोष स्पष्टतः उभर आते हैं। चूंकि, वह धार्मिक था, अतः उसके विवरण में धार्मिक प्रभाव स्पष्ट है। वह सुल्तान फ़िरोज़ तुगलक एवं उसकी असहिष्णुता को धार्मिक दृष्टिकोण से देखते हुए उचित एवं तार्किक ठहराता है, और उसे एक आदर्श मुस्लिम सुल्तान के रूप में प्रस्तुत करता है। हालांकि उसका लेखन अभिरुचिपूर्ण एवं सहज [illegible] विस्तृत भी है, किन्तु उसका सबसे बड़ा दोष उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा है। साथ ही फ़िरोज़ को इतना अधिक स्थापित [illegible] तथा उसकी अत्यधिक प्रशंसा करने के कारण—वह तथ्यों एवं सत्यों को छुपाता है—जैसे उसकी कट्टरता एव अयाशियत [illegible]

बरनी की ही भांति, **शम्स-ए-शीराज़ अफ़ीफ़** का ऐतिहासिक सत्यता का आधार अन्ततः धर्म है। वह भी ईश्वर को अनेक कार्यों एवं क्रियाओं के लिये उत्तरदायी मानता है। उसके लिये अतीत–गुणों का दर्शन कराने वाला था—वह सत्य–धर्म का विद्यालय [illegible] स्रोत नहीं था। वह अतीत का विश्लेषण नैतिक सिद्धान्तों की शिक्षा अथवा कार्यों के कारण ज्ञात करने के उद्देश्य से भी नहीं [illegible] है चूंकि उसने राजनीतिक के अतिरिक्त भी उनके परिवेशों पर प्रकाश डाला है तथा फ़िरोज आदि के कार्यों पर टिप्पणियां [illegible] हैं। अतः उसे प्रसिद्ध इतिहासकार अबुलफ़जल का पूर्वगामी भी माना जाता है। और इसी कारणवश उसकी कृति **तारीख़ फ़िरोज़शाही** मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में गिनी जाती है

याहिया

'तारीखे-मुबारकशाही' का रचयिता **याहिया बिन अहमद बिन अब्दुल्ला सर हिन्दी**, दिल्ली के सैय्यद सुलतानों मुबारक शाह (1421-34 ई.) एवं मुहम्मद शाह (1434-45 ई.) का समकालीन था। उसे सैय्यद सुल्तानों का प्रश्रय भी प्राप्त था तथा वह समकालीन कुलीनों, दरबारियों, उच्चराज्याधिकारियों के काफी निकट सम्पर्क में आया तथा अपने काल की प्रमुख घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी होने का उसे पर्याप्त अवसर मिला। वह व्यक्तिगत ज्ञान के आधार पर इस इतिहास की रचना करता है। सर जदुनाथ सरकार के मतानुसार वह एकमात्र शिया इतिहासकार था, जबकि दिल्ली सल्तनत के समस्त इतिहासकार सुन्नी थे।

याहिया ने अपने ग्रंथ की रचना सैय्यद सुल्तान मुबारक शाह की मृत्यु के बाद ही की थी। इस कृति का प्रारम्भ उसने मइज़्ज़उद्दीन मोहम्मद गोरी के शासनकाल से किया है तथा वह अपना वृत्तान्त तृतीय सैय्यद शासक, मुहम्मद शाह के सिंहासनारोहण (1434 ई.) पर समाप्त करता है। इस प्रकार बरनी के इतिहास को आगे बढ़ाने एवं अफ़ीफ़ के इतिहास की पूर्ति करने में उसने काफी सहायता की है।

हालांकि **याहिया** ने खलजी काल के विषय में बहुत संक्षेप में लिखा है, किन्तु उस काल की सही तिथियों का वह विश्वसनीय स्रोत है। उसकी पुस्तक फ़िरोज़शाह तुगलक के अंतिम दिनों से विस्तृत वर्णन प्रारम्भ करती है यहां तक कि फ़िरोज़शाह के अंतिम दिनों में हुए विद्रोहों के विषय में बड़े विस्तार से लिखा गया है। तत्पश्चात् वह सैय्यद सुल्तानों के विषय में भी सविस्तार लिखता है।

क्योंकि मुबारक शाह उसका प्रश्रयदाता था, अतः इसके परिणामस्वरूप स्रोतों आदि तक उसकी पहुंच काफी सुगम थी, अतः उसके इतिहास को 1400 ई. से 1434 ई. तक के काल के लिये तो आधिकारिक इतिहास माना जा सकता है।

जहां तक तैमूर के आक्रमण तथा उसके प्रभाव एवं परिणाम का प्रश्न है, यह पुस्तक–एकमात्र स्रोत एवं आधार है, तथा बाद के इतिहासकारों, उदाहरणार्थ, **निज़ामुद्दीन अहमद, फ़रिश्ता** एवं **अब्दुल कादिर बदायूंनी** इत्यादि ने इस काल के इतिहास–लेखन के लिए, उसी को अपना सूचना–स्रोत माना है।

याहिया के इतिहास–लेखन की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी प्रत्येक घटना के व्यक्तिगत वर्णन की विधि थी। वह शायद ही कभी इतिहास अथवा ऐतिहासिक घटना का विश्लेषण करके अर्थ खोजने का प्रयास करता है। जो कुछ भी अभिप्राय उसके ऐतिहासिक दृष्टिकोण का स्पष्ट होता है, वह उसकी कृति में सम्मिलित एवं छोड़े गए वृत्तान्तों से ही हो सकता है। उदाहरणार्थ, उसने अलाउद्दीन खलजी के आर्थिक नियमों को अपनी विषय–सूची में सम्मिलित नहीं किया है, किन्तु, इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि, प्रशासनिक तत्त्वों का महत्त्व या उनका भी इतिहास विषय का अविभाज्य अंग होना उसे स्वीकार नहीं था। यह तथ्य इस वर्णन से स्पष्ट है कि वह मोहम्मद तुगलक के साम्राज्य के विभाजन के लिए करों की वृद्धि एवं राजधानी स्थानान्तरण को ही उत्तरदायी मानता है।

वह किसी भी घटना के लिए पर मानव शक्ति को उत्तरदायी नहीं मानता था। जब कभी भी वह ईश्वर को इसका उत्तरदायी मानता था, तब भी वह राजनैतिक कारणों से ऐसा कहने को प्रेरित होता था। जब वह वस्तुतः किसी घटना का कारण जानने का प्रयास करता है तब वह निश्चित ही मानव के कर्म अथवा उसकी इच्छा–शक्ति की ओर इंगित करता है तथा इन्हीं दोनों –कर्म एवं इच्छा–शक्ति को घटनाओं का कारण तथा आधार मानता है। उदाहरणार्थ फ़िरोज़ तुगलक के पौत्र के विषय में वह लिखता है: "तुगलक शाह (फ़िरोज़ के पौत्र) के काल में शासकीय कार्यों का अनदेखा सुल्तान के यौवन एवं अनुभवहीनता के कारण था।"

वस्तुतः केवल एक ही स्थान पर तर्क आदि के आधार पर, उसने एक प्रमुख ऐतिहासिक घटना के कारणों के विश्लेषण का प्रयास किया है और वह है—सुल्तान मोहम्मद बिन तुगलक का पतन ! जिन सात प्रमुख उत्तरदायी कारणों का वह वर्णन करता है, उसमें से एक में भी ईश्वरीय शक्ति अथवा इच्छा का उल्लेख मात्र नहीं है। सल्तनत के विभाजन एवं पतन के कारण निम्नलिखित थे, तमश्रिन का आक्रमण दो आब में करवृद्धि एवं वहां व्याप्त अकाल; दिल्ली से राजधानी का स्थानान्तरण, कराचिल में अभियान में भेजी गई 80,000 की प्रशस्त्र सेना का विनाश; विद्रोहों की अनेकानेक घटनाएं; तथा सुल्तान द्वारा जन–संहार।

याहिया ने अपनी कृति की रचना सरल किन्तु अभिरुचिपूर्ण भाषा में की है। वह तिथिक्रम भी बनाये रहता है। जब उसकी तुलना उसके पूर्ववर्ती इतिहासकारों से की जाती है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि विषय–वस्तु के एक सामान्य प्रयोग में, याहिया बिन अहमद सरहिंदी ने वस्तुतः उनसे अधिक सावधानी बरती है। **डाऊसन** तो उसकी गणना एक सावधान तथा ईमानदार इतिहास–वेत्ता के रूप में करता है। **याहिया** ने वस्तुतः एक तटस्थ दृष्टिकोण से मोहम्मद गोरी से लेकर फ़िरोज़ तुगलक तक के

काल के इतिहास का वर्णन किया है और उतनी ही तटस्थरता एवं अचूक सतर्कता से उसने सैय्यद सुल्तानों के काल के इतिहास का भी वर्णन किया है। वह समकालीन घटनाओं का एक सतर्क, कर्मनिष्ठ एवं वास्तविक विवरण देने वाला लेखक है। हालांकि, उसने अपना इतिहास अपने प्रश्रयदाता सुल्तान को समर्पित किया है, फिर भी उसने उसका प्रशस्ति-गान नहीं किया है न ही दरबारी इतिहासकारों वाला दृष्टिकोण ही अपनाया है।

फुतुहाते फ़िरोज़शाही

सुल्तान फ़िरोज़ शाह तुगलक ने स्वयं 32 पृष्ठों की एक कृति तैयार की थी, जिसे **फुतुहाते-फ़िरोज़शाही** कहते हैं। **फुतुहात फ़िरोज़शाही** का अर्थ—'फ़िरोज़शाह की विजयें' है। इस छोटी सी आत्मकथा में सुल्तान के सैनिक अभियानों का वर्णन है जिनमें से कुछ में उसकी पराजय भी हुई। शासक ने स्वयं अपनी पराजयों तथा असफलताओं को छिपाने का कोई प्रयास नहीं किया है।

चूंकि, सुल्तान स्वयं इस कृति का रचयिता था, अतः वह इसमें अपने शासन काल का एक संक्षिप्त वर्णन देता है, साथ ही वह उन सार्वजनिक हित के उद्देश्य से किये गये कार्यों एवं प्रमुख राजाज्ञाओं तथा नियमों का भी विवरण देता है और चूंकि, यह सम्राट के व्यक्तिगत कृति थी अतः प्रशासन की दिशा में सुल्तान के मस्तिष्क का कार्य अथवा विचार पर, इसके द्वारा सर्वाधिक प्रकाश पड़ता है।

इस पूर्ण रचना का अंग्रेजी अनुवाद हमें सर **हेनरी ईलियट** द्वारा ही प्राप्त होता है। **फुतुहाते** में फ़िरोज़ की प्रशासनिक एवं सार्वजनिक सुधार के क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियों का विवरण है और साथ ही साथ, इसमें इस तथ्य पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, कि किस प्रकार से सुल्तान के मस्तिष्क पर उल्मा (वर्ग) का प्रभाव निरन्तर बढ़ता रहा एवं पिछले शासन की विरासत की भावना को भी वह किस प्रकार से समाप्त कर देने का इच्छुक था। **फुतुहाते** में इस बात का उल्लेख प्राप्त होता है कि किस प्रकार, सुल्तान प्रत्येक कार्य में कुरान की ओर देखने लगा था तथा प्रत्येक कार्य मुस्लिम विधि के अनुसार ही करने का इच्छुक रहता था। यह पुस्तक फ़िरोज़ तुगलक कालीन भारतीय इतिहास के लिये तो महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही, सुल्तान मोहम्मद के काल के इतिहास के लिए भी महत्त्वपूर्ण स्रोत है और अप्रत्यक्ष रूप से, उसके व्यापक दृष्टिकोण, सहिष्णुता एवं प्रगतिशील मानसिकता के अनेक प्रमाण प्रस्तुत करती है।

इस पुस्तक में यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि फ़िरोज़शाह कितना मानवीय एवं सहृदय तथा दयालु था और इस संदर्भ में के साथ, वह किस प्रकार से अपने शासकीय दायित्वों का निर्वाह करता था। वह अपने कट्टर तथा असहिष्णु कार्यों के लिये अपने धार्मिक जोश को उत्तरदायी मानता है। वह अपनी कृति के उपसंहार में लिखता है: इस पुस्तक के लेखन में मेरा उद्देश्य प्रथम तो ईश्वर की अनेकानेक कृपाओं के लिये उसके प्रति आभार प्रकट करना है, जो उसने मेरे ऊपर की है द्वितीय लाभ, जो अन्य एवं समृद्ध बनना चाहें, वे इसे पढ़े और वह सही मार्ग अपनायें, जिस पर मैं चला।

इस पुस्तक का महत्व इसमें है, कि वह इस कट्टर मुस्लिम सुल्तान के विषय में एक विश्वसनीय तस्वीर प्रस्तुत करती है। यह होता है कि वह फ़िरोज़ द्वारा लिखित एक राजनीतिक दस्तावेज था, जिसके द्वारा, वह अपने सहधर्मियों के समर्थन एवं सहायता का इच्छुक था। इस पुस्तक से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि फ़िरोज़ किस प्रकार से एक कट्टर सुन्नी मुसलमान की तरह जीवन-यापन कर रहा था और उसी के अनुसार, वहप्रशासनिक परिवर्तन भी करना चाहता था। उसे न तो इस्लाम में अन्य मतों के साथ और न ही हिन्दू धर्म के प्रति कोई सहानुभूति थी।

यही नहीं, इस संक्षिप्त सी पुस्तक में समकालीन सामाजिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, जिससे यह विदित होता है कि हिन्दुओं के प्रभाव में किस प्रकार से मुसलमान लोग भी नवीन प्रकार से जीवन-यापन एवं व्यवहार करने लग थे, और इस प्रकार अनेक नयी परम्पराओं का जन्म हो रहा था, जिनका आधार समन्वय, एवं समिश्रण था।

इब्नबतूता

इब्नबतूता तानजीर निवासी था और उसका जन्म वहीं 24 जनवरी, 1304 ई. को हुआ था। उसके परिवार का सम्बन्ध, कानून के न्याय से था। वह चौदहवीं शताब्दी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यात्री था। उसने 14 जून, 1325 ई. को मक्का यात्रा हेतु प्रस्थान किया तथा सिकंदरिया, कोहरा, दामिश्क एवं मदीना होता हुआ वहां पहुंचा। वह 12 सितम्बर, 1333 ई. को सिंध पहुंचा तथा वहां से चलकर 20 मार्च 1334 ई. को दिल्ली पहुंचा। उसके दिल्ली पहुंचने पर, वहां के समकालीन शासक, सुल्तान मोहम्मद तुगलक ने उसे सम्मानित किया तथा 22 जुलाई 1342 ई. को अपना दूत नियुक्त करके चीन को रवाना कर दिया, जिसके मार्ग में उसने अनेक कष्टों का सामना किया। 6 नवम्बर, 1349 ई. को वह अंततः फेज पहुंचा, तत्पश्चात वह तानजीर गया। वहां से बतूता ने स्पेन की यात्रा की। मोरक्को के सुल्तान अबू इनआन मरीनी से उसे विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ तथा उसी के आदेशानुसार उसने

देशों का वर्णन प्रारम्भ किया, जहां–जहां वह गया था इस यात्रा–वृत्तान्त का संकलन 1355-56 ई. में पूर्ण हुआ। एक हस्तलिखित प्रति के अनुसार, इसका वास्तविक नाम, 'तुहफ़तुन्नुज़्ज़ार फ़ी राराइबिल अमसार व अजाइबुल असफ़ार रखा गया था।

सुल्तान मोहम्मद तुगलक ने उसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर के, उसे दिल्ली का काज़ी जून, 1334 ई. को नियुक्त किया। वह लगभग आठ वर्षों तक इसी पद पर बना रहा। तक मोहम्मद तुगलक से मतभेद के कारण, उसे बन्दी बना लिया गया, किन्तु उसकी निरन्तर प्रार्थनाओं के फलस्वरूप, उसे रिहा कर दिया गया और तब उसे, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, चीन का दूत नियुक्त कर दिया गया। उसने काफी भाग लिखा और फिर यह कार्य इब्न जुज़्ज़ी नामक व्यक्ति ने किया, जिसको बतूता अपने विवरण सुनाता रहता था। और जुज़्ज़ी ने ही उसका सम्पादन किया तथा उसका नामकरण '**रेहला**' कर दिया।

इब्नबतूता बहुत बड़ा विद्वान एवं धार्मिक व्यक्ति था, जो अन्वेषक था और यात्राओं का शौकीन भी। वह इस्लाम का अनुयायी एवं धार्मिक मत का व्यक्ति था। वह अनेक अवसरों पर हज भी कर चुका था और समकालीन विश्व के अनेक प्रमुख, प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों से भी मिला।

इब्नबतूता लगभग 14 वर्षों (1334-47 ई.) तक भारत में रहा था, जिनमें से 8 वर्ष उसने दिल्ली में व्यतीत किये थे। वह प्रत्येक चीज ध्यान एवं दिलचस्पी से देखता था। वह अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध था तथा उसे विधि एवं धर्म का विस्तृत तथा पूर्ण ज्ञान था। चूंकि, वह सुल्तान मोहम्मद तुगलक का कृपा पात्र था, एवं उच्च राज्याधिकारी भी था, अतः वह तमाम घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी था। बरनी की तुलना में ऐतिहासिक तथ्यों के स्रोत के लिये, बतूता को अधिक विश्वसनीय एवं नवीन तथ्य प्राप्त होते थे। अतः उसकी '**रेहला**' मोहम्मद तुगलक के काल के इतिहास के लिये सर्वाधिक विश्वसनीय एवं महत्त्वपूर्ण है।

चूंकि वह एक विदेशी था, वह दरबारी इतिहासकारों की कठिनाइयों एवं बाधाओं से परे था और काफी सीमा तक एक वस्तुपरक दृष्टि से इतिहास लेखन में सफल रहा। वह चूंकि एक स्वतंत्र लेखक था अतः अन्य इतिहासकारों से अधिक विश्वसनीय था क्योंकि उसे न पुरस्कार का मोह था न ही दण्ड का भय।

इब्नबतूता अपनी कृति में मोहम्मद तुगलक से पूर्व के दिल्ली सुल्तानों के विषय में भी संक्षेप में लिखता है। उसने सुल्तान इल्तुतमिश की न्याय व्यवस्था के विषय में लिखा है। वह सुल्तान गयासुद्दीन बल्बन द्वारा सुल्तान नासिरूद्दीन महमूद की हत्या का भी उल्लेख करता है, जिसकी पुष्टि इतिहासकार इसामी भी करता है। सुल्तान गयासुद्दीन बल्बन के निधन के बाद कैखुसरो के विरुद्ध उमरा के षड्यंत्र का हाल भी इसमें सुस्पष्ट है। उसने प्रारम्भिक तुर्कों का इतिहास प्रत्यक्षदर्शियों से सुनकर ही लिखा है। काफी सूचनायें उसे कमालुद्दीन मुहम्मद बिन बुहीन गज़नवी से ज्ञात हुई थीं, जो सद्रे–जहां एवं काज़ीउल–कुज़्ज़त के पद पर आसीन रहा था।

इब्नबतूता, सुल्तान अलाउद्दीन खलजी की मृत्यु के 17 वर्ष बाद भारत आया था और चूंकि उस समय अलाउद्दीन के काल के अधिकारी जीवित थे, अतः उसे प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा समस्त सूचनायें प्राप्त होती थीं और ये उसके इतिहास का स्रोत थीं अतः अन्य समकालीन इतिहासकारों की तुलना में उसका विवरण अधिक सत्य एवं विश्वसनीय प्रतीत होता है।

इब्नबतूता लिखित '**रेहला**' में न केवल उस काल की प्रमुख घटनाओं का ही विवरण है, अपितु समकालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का भी वर्णन एवं मध्यकालीन भारत के न्यायिक, सैन्य एवं राजनीतिक संस्थाओं का भी विस्तृत वर्णन है। '**रेहला**' का शाब्दिक अर्थ 'इतिहास की खान' होता है और **डॉ. मेंहदी हुसैन** के मतानुसार, **इब्नबतूता** की '**रेहला**' मध्यकालीन इतिहास के प्रत्येक अंग के स्रोत के रूप में स्थापित है।

इब्नबतूता ने भारतवर्ष में पदार्पण ही यात्रा की रूप में किया था, अतः उसका वर्णन व्यक्तिगत अनुभव पर आधरित है। वह यहां के स्थानों, नदियों, पहाड़ों, मार्गों, जन–जीवन, उत्पादन इत्यादि सभी के विषय में विस्तृत रूप से लिखता है। यहीं नहीं, वह भारत की समकालीन सामाजिक परिस्थितियों एवं प्रतिदिन के जीवन का विस्तृत वर्णन करता है। वहां प्रचलित जाति–व्यवस्था का भी विवरण देता है। साथ ही साथ वह हिंदुओं एवं मुस्लिमों के मध्य अन्तर एवं भेदों को भी स्पष्ट करता है, यह भेद उसके मतानुसार दक्षिण भारत में अधिक था। किन्तु सूफी सन्तों के प्रति हिन्दुओं के मन में श्रद्धा का भी उल्लेख करता है और हिन्दुओं के चरित्र एवं नैतिकता की भी प्रशंसा करता है। वह यहां के लोगों के खान–पान, रहन–सहन एवं वस्त्रादि का भी वर्णन करता है। आभूषणों के प्रयोग का भी उल्लेख उसने किया है। वह भारत के वृक्षों, फलों एवं अनाज से भी प्रभावित था। वह शहरों एवं उनके निवासियों की समृद्धि का भी वर्णन करता है।

वह भारतीय लोगों के मनोरंजन के साधनों का भी विस्तार से वर्णन करता हैं जिनमें संगीत, नृत्य, जुआ, शिकार इत्यादि सभी सम्मिलित थे। यही नहीं वह दिल्ली एवं दौलताबाद के संगीतज्ञों एवं नगरवधुओं के निवास स्थलों के विषय में लिखता है। उस

काल में संगीत पर अधिक बल दिया जाता था और **'रेहला'** में अनेक प्रकार के संगीत का उल्लेख है जैसे सूफियों का आध्यात्मिक संगीत, सैन्य संगीत (जो लश्कर अथवा कूच के समय प्रयोग होता था), दरबारी संगीत, मनोरंजन–संगीत इत्यादि के वक्त का संगीत एवं हिन्दुओं का संगीत, जो घर एवं बाहर दोनों के लिये अलग–अलग था।

यही नहीं, **इब्नबतूता** ने अपनी **'रेहला'** में 14 वीं (चौदहवीं) शताब्दी में भारतीय नारी का सजीव चित्रण भी किया है। वह नारी भौतिक वर्णन के साथ समाज में उनके स्तर का भी वर्णन करता है। उत्तरी भारत में पर्दा प्रथा थी तथा यह एक प्रकार का विशेषाधिकार था। साथ ही वह 'सती–प्रथा' एवं बहु–विवाह का भी वर्णन करता है। वह दास–प्रथा के विषय में भी लिखता है तथा दास–प्रथा कन्याओं का विशेष वर्णन विशेषतः करता है।

चूंकि **इब्नबतूता** का सम्बन्ध दरबार से था एवं काजी के पद पर नियुक्त हो जाने के फलस्वरूप वह कुलीन वर्ग का सदस्य हो गया था अतः उसका सम्बन्ध समकालीन राजदरबार एवं शासन–तन्त्र से हो गया था। अतः उसने दरबार एवं उच्च वर्ग में सम्बन्धित सभी कार्यों, त्यौहारों, प्रयोजनों, जुलूसों, जलसों इत्यादि में सक्रिय भाग लिया तथा उनका विस्तृत वर्णन भी किया।

भारतवर्ष के सामाजिक जीवन एवं संस्थाओं का वर्णन करते समय **इब्नबतूता** ने मुस्लिम विवाह एवं उससे सम्बधित सभी अनुष्ठानों का भी वर्णन किया है। वह उनकी दफ़नाने एवं शोक क्रियाओं का भी वर्णन करता हैं ऐसे ही, वह हिन्दू विवाह इत्यादि का भी वर्णन करता है। वह हिन्दुओं में विशेषकर राजपूतों में प्रचलित 'जौहर' प्रथा का भी उल्लेख करता है।

चूंकि **इब्नबतूता** स्वयं धार्मिक एवं विद्वान व्यक्ति था, अतः वह समकालीन संतों, दरवेशों, साहित्यकारों, कवियों विद्वानों आदि से सदैव मिलता रहता था। वह अपनी **'रेहला'** में समकालीन सूफी सन्तों के विषय में भी लिखना नहीं भूलता। वह उनके साथ अपना वार्तालाप, उनके सिद्धान्तों, उनके गुणों तथा उनके प्रभाव के विषय में भी लिखता है। वह अजोधन के शेख अलाउद्दीन मांजा रयी को अपना आध्यात्मिक गुरु अथवा पीर मानता था तथा उन्हीं से प्रेरित था। वह संतों के साथ–साथ जोगियों एवं लोगों की आस्था के विषय में भी लिखता है।

यही नहीं, **इब्नबतूता** ने अपने ग्रंथ में भारतीय व्यापार, उद्योग, कृषि–उत्पादन, मार्गों, यातायात, संचार, शहर, बन्दरगाह, समुद्री जहाजरानी के साथ–साथ नाप–तौल एवं मुद्रा का विस्तृत वर्णन देकर के समकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। साथ ही साथ, उस समय की समृद्धि का भी पूर्ण आभास हमें **रेहला** द्वारा प्राप्त हो सकता है।

चूंकि **इब्नबतूता**, सुल्तान के भी निकटस्थ था, तथा अमीरों, दरबारियों एवं उच्च राज्याधिकारियों के भी काफी सम्पर्क में था अतः उसे जो प्रशासन को देखने का अवसर प्राप्त हुआ, उसका उसने पूर्ण विवरण अपनी **'रेहला'** में दिया है। वह सुल्तान के दायित्वों के साथ–साथ वज़ीर एवं अन्य राज्याधिकारियों के भी कार्यों, कर्त्तव्यों, दायित्वों का वर्णन करना नहीं भूलता है। उल्मा (वर्ग) के संगठन, स्वभाव, प्रभाव, रहन–सहन एवं उनके योगदान के विषय में भी लिखता है। सैन्य–सगठन एवं अधिकारियों का भी चित्रण उसने किया है। वह न्याय एवं न्यायिक शाखा का भी वर्णन करता है तथा अन्य विभागों तथा अधिकारियों के विषय में उसने लिखा है।

अपने समय की प्रमुख घटनाओं का वर्णन करते समय, वह उस काल के प्रमुख विद्रोहों का वर्णन करना नहीं भूलता है जैसे बहाउद्दीन का, किशलू खां का, दक्कन एवं माबार का। इसके साथ उस काल के अकाल एवं उनके प्रभाव के विषय में भी लिखता है।

इन तमाम कारणों से उसका यह वृत्तान्त मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिये एक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण ग्रंथ सिद्ध होता है। जहां तक मोहम्मद तुगलक के शासन–काल का प्रश्न है, यह स्रोत आधिकारिक है। **इब्नबतूता** अनेक स्थानों पर बरनी की पुष्टि करता है तथा अन्य स्थानों पर उसकी पूर्ति भी करता है।

किन्तु, इन सब लाभ, महत्त्व एवं गुणों के साथ ही, **इब्नबतूता** के वृत्तान्त में अनेक दोष तथा त्रुटियां भी हैं, जैसे कि उसके लिखे हुए वृत्तान्त खो गये थे तथा जुज़्ज़ी को निर्देश देकर के ही इसकी रचना सम्भव हो सकी थी अतः वह एक साधारण व्यक्ति रह गया और इसका भी आधार उसकी स्मरण शक्ति थी। **इब्नबतूता** को फ़ारसी तथा यहां की बोल चाल वाली हिन्दुस्तानी का भी उचित ज्ञान नहीं था। साथ में, वह विदेशी भी था अतः यहां के लोगों से वह अधिक न मिल सका। भाषा के अज्ञान कारण उसे अफवाहों पर विश्वास करना पड़ा और वह सत्य एवं मिथ्या में अधिक भेद करने में असफल रहा। साथ ही उसके वृत्तान्त में तिथियों के क्रम का सही पालन किया गया है और न ही भौगोलिक तथ्यों का। किन्तु, फिर भी इसका महत्त्व एक आधारभूत स्रोत के रूप में तनिक भी कम नहीं होता है।

ऐनुल-मुल्क-मुल्तानी

ऐनुल-मुल्क-मुल्तानी या **ऐनुद्दीन अब्दुल्ला ऐनए-मेहरु** का जन्म एवं पालन पोषण मुल्तान प्रान्त में हुआ था। उसने खलजियों के अन्तर्गत दिल्ली सल्तनत की सेवाओं में प्रविष्ट किया था। उसे सुल्तान अलाउद्दीन मोहम्मद शाह खलजी (1295-1315 ई.) ने मालवा में धार एवं उज्जैन का गवर्नर नियुक्त किया था। उलुग खां के अधीन भी वह उच्च पद पर बना रहा। कुतुबुद्दीन मुबारक शाह के अधीन, वह देवगिरि का वजीर नियुक्त रहा। सुल्तान खुसरो शाह ने उसे आलम खां की पदवी से विभूषित किया। जब खुसरो शाह को गाज़ी मलिक ने पराजित किया, तब वह पराजित पक्ष का साथ छोड़कर, मालवा चला गया। दिल्ली में व्यवस्था पुनः स्थापित होने पर उसने अपनी निष्ठा नवीन सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक को स्थानांतरित कर दी, जिसने उसे 'उमरा' के पद पर नियुक्त कर दिया। इस प्रकार से वह वंश परिवर्तन से अप्रभावित ही रहा तथा उसकी प्रतिष्ठा तुगलक वंश के अधीन भी पूर्ववत ही रही।

चूंकि, उसके व्यक्तित्व में विद्वत्ता एवं प्रशासनिक गुण विद्यमान थे, अतः मोहम्मद तुगलक ने प्रभावित होकर उसे अनेक प्रकार से लाभान्वित किया एवं अपनी कृपा का पात्र बनाया। यही नहीं, सुल्तान मोहम्मद तुगलक ने उसे मुल्तान की इक्ता का इक्तादार भी नियुक्त कर दिया। लेकिन उसके अधिक दिनों तक सुल्तान के साथ मधुर सम्बन्ध नहीं बने रहे नीतियों एवं अन्य कारणों से दोनों में मतभेद बढ़ गया और अंततः ऐनुल–मुल्कमुल्तानी ने सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। किन्तु उसके विद्रोह का शीघ्रता से दमन कर दिया गया और चूंकि उसने सुल्तान से क्षमा–याचना कर ली, अतः सुल्तान ने न केवल उसे क्षमा–दान दिया, अपितु उससे पहले जैसा ही व्यवहार बनाये रखा था उसे पूर्ववत पद पर पुनः प्रतिष्ठित भी कर दिया।

मोहम्मद तुगलक की मृत्यु के उपरान्त, सुल्तान फ़िरोज़ तुगलक के शासन काल में भी वह उच्च पद पर आसीन रहा एवं सुल्तान का कृपा–पात्र बना रहा। **दीवान-ए-वजारत** में '**अशरफ़-ए-मुमालिक**' के पद पर उसे नियुक्त किया गया। किन्तु शीघ्र ही उसका वजीर खां जहां से भी मतभेद हो गया—विशेषतः नीतियों के विषय पर। स्वयं सुल्तान फ़िरोज़ को ही, दोनों के मध्य मध्यस्थता करनी पड़ती थी। **ऐनुल-मुल्क-मुल्तानी** का प्रभाव सुल्तान एवं उसके दरबारियों पर काफी था तथा वह तुगलक कालीन भारत का एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था।

समकालीन इतिहासकार बरनी के मतानुसार, **ऐनुल-मुल्क**, सर्वोच्च चरित्र एवं उदार प्रकृति का एक प्रतिष्ठित विद्वान था। इतिहासकार **अफ़ीफ़** के विचारानुसार, 'वह एक चतुर, सम्पन्न, असाधारण सतर्क व्यक्ति था, जो उचित निर्णय एवं बुद्धिमानी से परिपूर्ण था, **डॉ. ईश्वरी प्रसाद** उसे विस्तृत ज्ञान वाले व्यक्ति के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं , जो इस्लामी धर्मशास्त्र एवं न्यायशास्त्र का भी ज्ञाता था एवं उसे राज्य के भी कार्य आदि का पूर्ण ज्ञान था।

इंशा-ए-मेहरू

ऐनुल-मुल्क-मुल्तानी की **इंशा-ए-मेहरू** अथवा **मुन्शत-ए-मेहरू** की रचना चौदहवीं शताब्दी के अन्त में हुई थी। इस रचना में समकालीन महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली व्यक्तियों को विभिन्न विषयों पर लिखे गये एक सौ तैंतीस (133) पत्र हैं। साथ ही, इसमें अनेक सरकारी दस्तावेज इत्यादि भी सम्मिलित हैं, जैसे मशूर, मिसाल, निशान, याचना पत्र, मांग पत्र आदि। इनमें से अधिकांश ऐनुल मुल्क ने शासन एवं सुल्तान की ओर से अथवा अधिकारियों की तरफ से लिखे थे। इनमें से कुछ पत्र तो व्यक्तिगत हैं, जो समकालीन अधिकारियों, अमीरों, विद्वानों अपने पुत्रों एवं भाइयों आदि को लिखे गये हैं। प्रथम बारह दस्तावेज सुल्तान फ़िरोज़शाह तुगलक की ओर से लिखे गये सरकारी आदेश हैं।

इसमें सम्मिलित पत्रों की भूमिका मुख्यतः दार्शनिक है और चूंकि ये पत्र अधिकारियों आदि को लिखे गये थे, इनमें समकालीन प्रमुख आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं प्रशासनिक समस्याओं का निदान भी स्पष्ट होता है और कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं के भी विषय में विस्तृत जानकारी हमें इन्हीं पत्रों से प्राप्त होती है।

यह पुस्तक तुगलक वंश के इतिहास के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आधार पुस्तक अथवा स्रोत–ग्रन्थ के रूप में मान्य है। इस पुस्तक का वृत्तान्त अफगानपुर दुर्घटना एवं उसमें सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक के पितृ–हन्ता विषयक विवाद को हल करने में काफी सफल रहा है। यही नहीं, फ़िरोज़ तुगलक के काल के तो कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्यों एवं सूचनाओं पर प्रकाश डाला है, जो किसी अन्य समकालीन ऐतिहासिक ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है, उदाहरणार्थ फ़िरोज़ के सैन्य–अभियानों के विषय में सूचना के लिये एकमात्र

स्रोत यही है, जैसे लखनौती एव थट्टा अभियान, मंगोल आक्रमण, जाजनगर अभियान, यही नहीं, वह इन अभियानो के [illegible] उन मार्गों का भी वर्णन करता है, जिनसे सेनाओं ने कूच किया था।

इंशा-ए-मेहरू, सैन्य अभियानों के साथ–साथ, तुगलक शासकों के प्रशासनिक तत्रों के विषय में भी विस्तार से वर्णन करता है उसके द्वारा राज्याधिकारियों के प्रशासनिक एवं राजनीतिक संबंधों पर भी प्रकाश डाला गया है। फिरोज के राजनीतिक आदर्श एव उसके राजत्व सिद्धान्त को भी इसमें स्पष्ट किया गया है। इसमें सुल्तान फिरोज़ शाह तुगलक द्वारा शिक्षा के प्रसार एवं शिक्षण–संस्थाओं को व्यवस्थित रखने के लिये उठाये गये कदमो का भी सविस्तार वर्णन है। इशा–ए–महरू के कुछ पत्रों में तुगलक कालीन भारतीय राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी वर्णन है। इन पत्रों में मुल्तान के प्रान्त के विषय में भी अनेक उल्लेख है, जिनमें मुल्तान के प्रति ऐनुल–मुल्क की सहानुभूतिपूर्ण एवं आत्मीय भावनाये स्पष्ट हो जाती है।

इतिहासकार **अफीफ** ने अपनी पुस्तक में **इंशा-ए-मेहरू** के विषय में काफी प्रशंसात्मक भाषा में लिखा है। वस्तुत यह पुस्तक ऐतिहासिक से अधिक साहित्यिक है। अनेक स्थानों पर ऐनुल–मुल्क अपने प्रश्रयदाता, सुल्तान फिरोजशाह तुगलक की प्रशंसा अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा में करता है। फिर भी, यह पुस्तक तुगलक वंश के इतिहास के लिये अत्यधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है और विशेषकर फिरोज़ तुगलक के काल के इतिहास के लिये। **डॉ. ईश्वरी प्रसाद** के मतानुसार, 'अपनी तमाम त्रुटियों के बावजूद भी, ऐनुल–मुल्क की जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह यह है कि वह बरनी से कहीं अधिक समझदार, सतुलित लिखने वाला था अधिक सुशिष्ट एवं परिष्कृत लिखने वाला है।

शिहाबुद्दीन (अहमद) अब्बास

शिहाबुद्दीन (अहमद) अब्बास, जिसको **शिहाबुद्दीन-अल-उम्री** भी कहते हैं, का जन्म 12 जून, 1301 ई. को हुआ था। वह दमिश्क एवं कैरों में शिक्षित था, तथा उसकी गणना समकालीन विद्वानों में होती थी। वह मिश्र एवं साम में उच्च पदो पर नियुक्त रहा था। वह अपने अन्तिम वर्षों में दमिश्क आ गया था, जहां उसकी मृत्यु 1348 ई. में हो गई।

शिहाबुद्दीन स्वयं कभी भी भारत नहीं आया था, किन्तु भारत भ्रमण किये हुए अनेक यात्रियों से उसके काफी निकट एव गहरे सम्बन्ध थे, जिनसे उसे भारत के विषय में विस्तृत जानकारी एकत्रित करने का अवसर प्राप्त हुआ। उसने भारतवर्ष से सम्बन्धित अन्य सूचनाएं एकत्रित करने के लिये, अनेक पुस्तकों एवं ग्रन्थों की भी सहायता ली थी। पूरी जानकारी प्राप्त करने के पश्चात, तथ्यों के निरीक्षण एवं विश्लेषण कर लेने के बाद ही उसने अपनी पुस्तक '**मसालिकुल अबसार**' की रचना की थी। **शिहाबुद्दीन**, मोहम्मद तुगलक का समकालीन था। उसकी पुस्तक का कुछ अंश ईलियट ने अपने ग्रन्थ के तृतीय भाग मे उद्धृत किया है

शिहाबुद्दीन के विषय में यह मान्यता है, कि उसे सात अलग–अलग विषयों पर सात कृतियों की रचना की है। किन्तु दुर्भाग्यवश हमें सिर्फ '**मसालिक**' के विषय में ही जानकारी है तथा इस '**मसालिक**' में मात्र चौहद अध्याय हैं। यह कृति वस्तुत बहुत ही महत्त्वपूर्ण है तथा बाद के इतिहासकारों एवं विद्वानों ने इस कृति की अत्यधिक प्रशंसा की है। और तो और, अनेकों लेखकों ने इसको आधार अथवा स्रोत मानकर अपनी कृतियों की रचना की है।

शिहाबुद्दीन ने मोहम्मद तुगलक के शासन काल पर काफी प्रकाश डाला है। किन्तु वह **बरनी** एवं **इब्नबतूता** की भांति सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक की हत्या के विषय में नहीं लिखता है। फिर भी, वह मुहम्मद तुगलक के प्रशासन के विषय में विस्तार से लिखता है, जैसा कि उसके अमीरों, दरबारियों, पदों, इक्ताओं, सैन्य संगठन डाक–व्यवस्था, गुप्तचर–व्यवस्था इत्यादि के विषय में सुल्तान के दरबार एवं उसके नियमों, परम्पराओं तथा उसकी बैठकों का भी सविस्तार वर्णन किया है। यही नही वह सुल्तान के प्रगतिशील एवं उदारवादी दृष्टिकोण के विषय में भी लिखता है तथा कवियों, विद्वानों, कलाकारों आदि को प्रदत्त प्रश्रय को भी यह सूचना देता एवं प्रशंसा करता है।

यही नहीं, '**मसालिकुल अबसार**' में भारतवर्ष के धन–वैभव एवं समृद्धि के साथ–साथ यहां की जलवायु, कृषि, उत्पादन, खान–पान, रहन–सहन के विषय में विस्तार से लिखा है। सुल्तान मोहम्मद तुगलक की विभिन्न विजयों के विषय में भी इसने उसने मोहम्मद तुगलक के राज्य एवं उसके विभिन्न प्रान्तों के उल्लेख के साथ–साथ कुछ प्रान्तों में स्थित गावों की सख्या भी दी है।

चूंकि उसे अपनी सूचनाएं मुख्यतः यात्रियों एव व्यापारियों से प्राप्त हुई थीं, अतः वह भारतवर्ष के आर्थिक मामलों पर विस्तृत ढंग से लिखने में सफल हुआ। यही नहीं, इस पुस्तक में समकालीन मुस्लिम संस्कृति पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। समकालीन समाज, प्रशासनिक व्यवस्था एव सस्कृति पर भी एक आधिकारिक पुस्तक है।

यूसुफ हुसैन ने '**मसालिकुल अबसार**' के लेखक का नाम '**इब्न फज़्जुल्लाह**' दिया है तथा यह भी स्पष्ट किया है कि इस स्रोत के अनुसार मोहम्मद तुगलक के शासन–काल में दिल्ली में एक हजार (1000) मदरसे एवं मक्तब थे, जहां लोगों को शिक्षा प्रदान की जाती थी।

हालांकि इस ग्रन्थ में सुल्तान मोहम्मद तुगलक के शासन–काल का पूर्ण इतिहास हमें प्राप्त नहीं होता है। फिर भी वह अनेक क्षेत्रों के विषय में हमें महत्त्वपूर्ण सूचना देता है और चूंकि ये विस्तृत सूचनाएं अन्य इतिहासकारों द्वारा भी प्रमाणित हैं अतः इसका अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता है।

मार्कोपोलो

एक अन्य महत्त्वपूर्ण वेनिस का यात्री **मोर्कोपोलो** है, जिनमें तेरहवीं शती के अन्त में दक्षिणी भारत का भ्रमण किया। वह वास्तव में दुर्भाग्य की बात है कि **मार्कोपोलो** ने उत्तरी भारत का भ्रमण नहीं किया और उसका वर्णन केवल दक्कन से सम्बन्धित है। वह वारंगल की रानी रुद्रम्बा की बहुत प्रशंसा करता है और मालाबार के राजाओं के सम्बन्ध में मनोरंजक विवरण देता है। दक्षिण भारत में घोड़ों के व्यापार का उसका वर्णन वस्साफ के वर्णन से बहुत मेल खाता है। **मार्कोपोलो** ने भारत के तत्कालीन प्रायः सभी बंदरगाहों का भ्रमण किया और वह दक्षिण के त्वरित सामुद्रिक कार्यकलापों के सम्बन्ध में लिखता है। वह विस्तार से दक्कन के लोगों के शिष्टाचार और आदतों का वर्णन करता है और इस प्रकार वह सामाजिक इतिहास का बहुत मूल्यवान स्त्रोत है। **कर्नल यूल** ने '**ट्रेवल्स ऑफ मार्कोपोलो**' का सम्पादन किया और उसमें उन्होंने अपनी विद्वत्तापूर्ण पाद–टिप्पणियां भी दी हैं।

वस्साफ

समकालीन अभारतीय स्त्रोतों में सबसे महत्त्वपूर्ण '**तारीख-ए-वस्साफ**' है। इसे **अब्दुल्ला बिन फजलुल्ला वस्साफ** ने 1312 ई. में पूरा किया और बाद में पुनः लिखना प्रारंभ करके उसे 1328 ई. तक बढ़ाया। **वस्साफ** की 'तारीख' फारसी में लिखी है और इसमें बीच–बीच में अरबी का प्रयोग भी किया गया है। उनकी शैली अत्यंत अलंकृत और शब्दाडम्बरयुक्त है। यह कृति फारस के मंगोलों का इतिहास है, किन्तु लेखक भारत की घटनाओं का उल्लेख करता है जैसा कि उसने उनके बारे में यात्रियों और अन्य सूचना प्राप्त लोगों से सुना। वह गुजरात की जलवायु और दक्कन की राजनैतिक तथा वाणिज्यीय स्थिति के संबंध में लिखता है। वह अलाउद्दीन के समय भारत पर हुए मंगोलों के आक्रमणों का उल्लेख करता है और उस शासक के अंतिम वर्षों का चित्रमय वर्णन देता है। वस्साफ के अतिरिक्त अन्य कोई इतिहासकार अलाउद्दीन के दरबार में फारसी दूतमंडल के संबंध में नहीं कहता। यहां मूल प्रति के बम्बई संस्करण का उपयोग किया गया है।

इस प्रकार मध्यकालीन भारतीय इतिहासकारों ने गद्य व पद्य दोनों शैलियों में लिखा। बहुत से विद्वानों को सुल्तानों का संरक्षण प्राप्त था। उन्होंने फारसी इतिहास लेखन को अपनाया जिसमें साहित्यिक गतिविधियां, शैक्षणिक दृष्टिकोण व आत्मपरक तत्व मिलते हैं। सुल्तानों द्वारा इतिहासकारों को संरक्षण दिया जाना इस समय के इतिहास लेखन की एक प्रमुख कमी थी क्योंकि निर्णय की स्वतन्त्रता, घटनाओं व परिस्थितियों का स्वतन्त्र व स्पष्ट रूप से मूल्यांकन, व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन, तथ्यों की पूर्ण खोजबीन उनकी कृतियों में बहुत कम मिलते हैं। बिना किसी परिवर्तन के यह एक प्रकार का राजनीतिक विवरण है।

परन्तु अन्त में इन समस्त कमियों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि इससे मध्यकालीन इतिहास का महत्व कम नहीं हो जाता। यदि यह इतिहास हमारे समक्ष न होता तो मध्यकालीन भारत के इतिहास की दशा बहुत बुरी होती। इसी से इसकी महत्ता को आंका जा सकता है।

अध्याय-2

गौरियों के राज्य से दिल्ली सल्तनत की स्थापना तक
(From Ghurio State to the Establishment of Delhi Sultanate)

गौर प्रदेश जहां से हिन्दुस्तान पर आक्रामक आए, पश्चिम दिशा में है। इसका मध्य भाग आधुनिक अफगानिस्तान में है। यह प्रदेश पांच विशाल पर्वतमालाओं द्वारा विभाजित है और जैसा कि **मिनहाज** कहता है कि गौर निवासियों का ऐसा विचार कि वे संसार में सर्वश्रेष्ठ हैं। इन पर्वतमालाओं ने, जिनकी अधिकतम ऊंचाई 10,000 फुट तक है और जो जैसे–जैसे पूर्व : हिन्दूकुश की ओर बढ़ती है वैसे–वैसे उनकी ऊंचाई और अधिक होती जाती है, ने गौर को दुर्गम बना दिया और बाह्य जगत से उसके सांस्कृतिक तथा व्यापारिक संपर्क के मार्ग बिल्कुल बंद कर दिए। पड़ौसी क्षेत्रों में सांस्कृतिक अलगाव की इस सीमा का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि जब गज़नी के शासक सुल्तान मसूद ने गौर पर 1020 में आक्रमण किया तो उसे स्थानीय दुभाषिए रखने पड़े क्योंकि वहां के निवासियों द्वारा बोली जाने वाली भाषा बोली से भिन्नता के कारण समझ में नहीं आती थी। इस प्रकार गौर गजनवी साम्राज्य और सल्जूक साम्राज्य के बीच की पर्वतीय श्रृंखलाओं से अवस्थित एक छोटा सा वियुक्त क्षेत्र था।

गौर मुख्यतः एक कृषि प्रधान क्षेत्र था। उसकी घाटियों के दोनों किनारों पर आज भी पतझड़ वाले जंगल है जो शहतूत, अखरोट, खूबानी तथा अंगूरों के पेड़ों और बेलों से ढके हैं। वहां कोई प्रमुख नगर नहीं था। केवल किसानों की बस्तियां थीं और मैदानी प्रदेशों के विशिष्ट लक्षण थे अर्थात् दुर्ग तथा मीनारें थीं। वहां के लोग अश्वपालन में कुछ प्रसिद्ध थे। इसके अतिरिक्त हिरात तथा सीस्तान के बाजारों में दासों की आपूर्ति के लिए गौर प्रसिद्ध था।

इस प्रदेश की पर्वतमालाएं धातु उत्पादक थीं और ऐसा प्रतीत होता है कि गौर में लोहा प्रचुर मात्रा में पाया जाता था। गौर निवासी हथियारों और युद्धीय उपकरणों के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध थे और पड़ौसी देशों में उनका निर्यात करते थे। इस प्रांत से दास, कवच, युद्ध के समय पहनने के वस्त्र और उत्तम हथियार आते हैं। गौर और काबुल से कर्लूक तथा समस्त प्रदेश में धातु सम्बन्धी व्यवसाय होता था।

इस प्रकार हालांकि गौर ने कुछ ही समय पूर्व मुस्लिम संस्कृति के प्रभावों के लिए अपने द्वार खोले थे, फिर भी उसके पास मध्ययुगीन सामरिक प्रणाली के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यकताएं अर्थात् घोड़े और हथियार उपलब्ध थे।

शंसबानी राजवंश का प्रारम्भिक इतिहास जिसका मुईजुद्दीन सदस्य था, रहस्य में लिपटा है, **मिनहाज** ने जुहाक नामक एक पौराणिक नायक को मुईजुद्दीन के राजवंश का प्रथम पूर्वज बतलाया है ईरानी प्रदेशों की परम्पराओं में जुहाक अत्यन्त घृणित व्यक्ति था किन्तु गज़नी के क्षेत्र में वह बहुत लोकप्रिय था। शंसब जिसके नाम से यह राजवंश स्थापित हुआ, जुहाक का वंशज था।

शंसबानियों ने, जो मूलतः गौर के कई छोटे–छोटे सरदारों में से एक थे, उस क्षेत्र में इस्लाम को सुदृढ आधार प्रदान करने में प्रमुख भूमिका निभाई एवं इस क्षेत्र में सर्वोच्च स्थिति प्राप्त की।

ग्यारहवीं सदी तक गौर छोटे–छोटे मुस्लिम राज्यों से घिरा हुआ एक गौर मुस्लिम प्रदेश बना रहा। ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में महमूद गजनवी ने गौर पर आक्रमण किया एवं गौर के निवासियों को इस्लाम धर्म में दीक्षित किया व इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों का उपदेश देने के लिए वहां मुस्लिम उपदेशक नियुक्त किए। उसी समय से गौर का इस्लामीकरण हो गया। सुल्तान महमूद ने करामियों को संरक्षण प्रदान किया था। करामी सम्प्रदाय का नाम मुहम्मद बिन कराम (लगभग 869) के नाम पर है जो सिजिस्तान का निवासी था यह सम्भवतः उसी के प्रयत्नों का परिणाम था कि यह सम्प्रदाय गौर में फैला और इसने महायान बौद्ध धर्म तथा इस्लाम के बीच पुल का कार्य किया।

बारहवीं सदी के मध्य तक वे इतने शक्तिशाली हो गए कि हिरात के हाकिम द्वारा सल्जूक शासक सञ्जर के विरुद्ध किए

करने पर वे हिरात में हस्तक्षेप कर सकें। उनकी बढ़ती हुई शक्ति के कारण गजनवियों को खतरा महसूस हुआ और बहरामशाह ने गौर शासक अलाउद्दीन हुसैनशाह के भाई को पकड़ लिया और उसे जहर देकर मरवा दिया। प्रतिशोध में अलाउद्दीन ने बहरामशाह को पराजित किया तथा गजनी पर कब्जा कर लिया। सात दिन तक गजनी नगर में लूटपाट व विध्वंस की स्थिति रही। इसके कारण अलउद्दीन हुसैनशाह को 'जहां सोज़' (विश्वदाहक) की उपाधि प्राप्त हुई। साथ ही, इसने गजनवियो के अंतिम पतन तथा इस्लामी जगत की सीमा पर सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य के रूप में गौर के अभ्युदय की भी घोषणा कर दी। गौरियों को अब सल्जूकों के कस्द राज्य के रूप में अपनी स्थिति से संतोष नहीं रह गया, बल्कि उन्होंने सल्जूकों की तरह ही 'अल–सुल्तान अल–मुअज्जम' की उपाधि धारण की। अपने पूर्ववर्तियों की तरह गौरियों ने भी खुरासान एवं मर्व के खुशहाल क्षेत्रों पर नियंत्रण हेतु सल्जूकों के साथ निरन्तर युद्ध किया। गजनवियों की तरह गौरी शासक भी अपनी अत्यधिक वित्तीय मांगों के कारण खुरासान में अलोकप्रिय हुए और वहां अपनी सत्ता बनाए रखने में कठिनाई महसूस करने लगे। यह सल्जूकों व तुर्क जनजातियों के साथ अनवरत युद्ध की स्थिति के वे मुख्य कारण थे जिनसे गौरियों के भारत की ओर कदम बढ़ाने को विवश होना पड़ा।

1163 ई. में ग्यासुद्दीन मुहम्मद को गौर की राजगद्दी प्राप्त हुई। तुर्क जनजातीय परम्परा का पालन करते हुए उसने अपने छोटे भाई मुईज्जुद्दीन मुहम्मद को गज़नी का शासक नियुक्त किया। इस अनोखी हिस्सेदारी के कारण दोनों में से एक भाई मुईज्जुद्दीन ने अपनी सारी शक्ति भारत की विजय पर लगा दी, जबकि बड़े भाई ग्यासुद्दीन ने अपना ध्यान मध्य व पश्चिम एशियाई समस्याओं पर केन्द्रित किया। **मिनहाज** के अनुसार ग्यासुद्दीन और मुईज्जुद्दीन दोनों भाई पहले करामी थे (जो मुसलमानों का सबसे पिछड़ा सम्प्रदाय था)। जब मुइज्जुद्दीन गज़नी के सिंहासन पर बैठा तो उसने देखा कि उस क्षेत्र के लोग इमाम अबू हनीफा में विश्वास करते थे इसलिए उसने भी हनफी सम्प्रदाय स्वीकार कर लिया और उनके धर्मानुकूल बन गया।

इसी बीच उत्तर भारत में चौहान राजवंश गुजरात की ओर एवं दिल्ली और मथुरा की ओर अपने राज्य का विस्तार करने का प्रयास कर रहा था। सम्भवतः चौहान शासकों में महानतम विग्रहराज था जिसने चितौड़ पर कब्जा कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने 1151 ई. में तोमर शासकों से दिल्ली छीन ली और अपने शासन का विस्तार शिवालिक अर्थात् दिल्ली तक फैली पहाड़ी श्रृंखलाओं तथा हांसी तक कर लिया। यह वह क्षेत्र था जिसको लेकर तोमरों व गजनवियों में संघर्ष चलता रहता था किन्तु तोमरों को अधीनस्थ शासकों के रूप में शासन करते रहने दिया गया। विग्रहराज कवियों और विद्वानों का संरक्षक था।

प्रसिद्ध चौहान शासक पृथ्वीराज तृतीय था जो 1177 ई. के लगभग 11 वर्ष की आयु में अजमेर के राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उसने शीघ्र ही राजस्थान के छोटे–छोटे राज्यों को विजय करके विस्तारवाद की एक–एक प्रबल नीति प्रारम्भ कर दी। पृथ्वीराज को चंदेलों पर महत्वपूर्ण विजय प्राप्त हुई। यद्यपि इस युद्ध में उसके राजक्षेत्र में कोई वृद्धि नहीं हुई, किन्तु उसे भारी मात्रा में लूट का माल प्राप्त हुआ। सन् 1182 व 1187 के बीच पृथ्वीराज ने अपना ध्यान अपने पुराने प्रतिद्वंद्वी गुजरात के चालुक्यों की ओर मोड़ा। दोनों के बीच लम्बे अर्से तक संघर्ष चला और ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात नरेश भीम द्वितीय ने, जिसने पहले मुईज्जुद्दीन मुहम्मद गौरी के आक्रमण का सफल प्रतिरोध किया था, पृथ्वीराज को भी पराजित किया। इसके कारण पृथ्वीराज को अपना ध्यान गंगा घाटी और पंजाब की ओर केन्द्रित करना पड़ा। पृथ्वीराज और कन्नौज के गहड़वालों के बीच भी लम्बा संघर्ष चला। इस प्रकार अपने सभी पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण कर पृथ्वीराज ने स्वयं को राजनीतिक दृष्टि से अलग–थलग कर लिया था।

सुल्तान मुईज्जुद्दीन मुहम्मद गौरी के भारतीय अभियान (1175-92 ई.)

मुल्तान–सुल्तान मुइज्जुद्दीन की भारतवर्ष की ओर प्रथम सैनिक गतिविधि 1175 ई. में हुई जब उसने मुल्तान के करामाथियों पर आक्रमण किया। लगभग एक सौ पचास वर्ष पूर्व सुल्तान महमूद गजनवी ने करामाथी शासकों को भयंकर हानि पहुंचाई थी और उन्हें मुल्तान से मार भगाया था किन्तु उसकी मृत्यु के तुरन्त पश्चात् उन्होंने पुनः अपनी स्थिति प्राप्त कर ली थी। मुईज्जुद्दीन पुनः उनकी सत्ता उखाड़ फेंकने में सफल हुआ। यह ज्ञात नहीं कि मुईज्जुद्दीन ने मुल्तान में क्या शासन प्रबंध स्थापित किया किंतु उस क्षेत्र में करामाथियों की सत्ता फिर कभी स्थापित न हो पाई। किंतु इस घटना से करामाथियों—जिनका गुप्त संगठन बड़ा प्रभावशाली था–के मन में जो कटुता उत्पन्न हुई उसने अंत में उनके हाथों मुईज्जुद्दीन की हत्या करवा दी।

उच्छ

मुल्तान पर अपनी सत्ता स्थापित करने के पश्चात् मुईज्जुद्दीन अपना ध्यान उच्छ की ओर मोड़ा। **मिनहाज** के उच्छ के अभियान का अलग से वर्णन नहीं किया है किंतु उसने बाद में उस समय इसका उल्लेख किया है जब सुल्तान ने गोरी साम्राज्य के अधिकृत नगर नहरवाला (अन्हिल्वाड़ा) की ओर कूच किया। **फरिश्ता** के अनुसार उच्छ पर 1176 ई में अधिकार किया गया। सुल्तान ने अली किर्माज को उच्छ प्रदान किया। 'तबकाते नासिरी' से ऐसा प्रतीत होता है कि जब अंदखुद का युद्ध हुआ उस समय मलिक नासिरूद्दीन ऐतम उच्छ का अधिकारी था। कुछ समय पश्चात् मुईजुद्दीन ने उच्छ कुबाचा को प्रदान कर दिया।

नहरवाला

1178-79 ई. में मुईजुद्दीन ने उच्छ और मुल्तान के मार्ग से नहरवाला की ओर कूच किया अभिलेखों में उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि पश्चिम राजस्थान में तुर्कों का दबाव पिछले दशकों में ही होने लगा था। इस प्रकार पश्चिमी राजपूताना मुसलमान सैनिकों के लिए गंगा के दोआब से अधिक परिचित क्षेत्र था। मुईजुद्दीन ने महमूद के कारनामे दूहराने का विचार किया और इस प्रकार राजपूताना और गुजरात के मार्ग से दक्षिण भारत पहुंच कर वहां के मंदिरों की संपत्ति लूटने की योजना बनाई। जब मुईजुद्दीन की सेना आबू पर्वत की तलहटी में पहुंची होगी उस समय वह निश्चय ही बहुत थक चुकी होगी। भारतीय शासक से उसका यह पहला सामना था। नहरवाला के राय के पास अत्यंत सुसज्जित मजबूत सेना थी तथा बड़ी संख्या में हाथी थे। आबू पर्वत के निकट स्थित कायाद्रा नामक ग्राम के पास युद्ध हुआ। युद्ध में मुईजुद्दीन की सेना पूर्वरूपेण पराजित हुई किंतु वह किसी प्रकार गुजरात में अपनी पराजित सेना सहित भाग निकला।

पेशावर

नहरवाला की पराजय मुईजुद्दीन के लिए सामरिक नीति में शिक्षा थी। यदि वह महमूद का अनुसरण करना चाहता था तो यह उसकी भूल थी। साधनों, नेतृत्व और परिस्थितियों ने स्थिति में महान परिवर्तन कर दिया था। अनुभव को देखते हुए उसने अपनी सामरिक गतिविधियां बिलकुल बदल दीं। 1179-80 में उसने पेशावर पर आक्रमण किया जो उस समय संभवतः गजनवी साम्राज्य के अधीन था और उस पर विजय प्राप्त की।

लाहौर

तरायन की ओर पेशावर पहला पग था। दो वर्षों (1181-82) में ही वह लाहौर की ओर बढ़ा। खुसरो मलिक उसका सामना करने के लिए बहुत दुर्बल था। उसने मुईजुद्दीन से संधिवार्ता करने का निश्चय किया। मुईजुद्दीन के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध रखने की अपनी इच्छा के प्रतीकस्वरूप उसने अपना एक पुत्र एक हाथी सहित उसके पास भेजा। किंतु यह एक अस्थाई समझौता ही हो सकता था क्योंकि मुईजुद्दीन का इस देश में अपनी शक्ति का प्रसार करने के लिए लाहौर पर अधिकार होना आवश्यक था और शंसबानियों तथा महमूद के घराने के बीच संबंधों की पृष्ठभूमि में यह व्यवस्था बहुत समय तक चल भी नहीं सकती थी

1182 में मुईजुद्दीन ने देवल के विरुद्ध कूच किया और समुद्रतट तक समस्त प्रदेश पर विजय प्राप्त कर ली। सूमरा शासक ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

अगले तीन वर्षों तक शांति बनी रही। 1184-85 में मुईजुद्दीन की सेनाओं ने लाहौर की ओर कूच किया और समस्त प्रदेश नष्ट भ्रष्ट कर दिया। एक बार फिर खुसरो मलिक नगर की चारदीवारी के भीतर छिप कर बैठने पर विवश हुआ। गजनी वापस जाते समय मुईजुद्दीन ने सियालकोट के दुर्ग पर अधिकार करने और उसमें रक्षक सेना की व्यवस्था किए जाने के कारण आदेश दिए। हुसैन बिन खर्मेल दुर्ग का अधिकारी नियुक्त किया गया। सुल्तान की बदली हुई सामरिक नीति में सियालकोट का स्थान बहुत महत्वपूर्ण था और मुईजुद्दीन उसे इस कारणवश सुदृढ़ बनाना चाहता था क्योंकि यह उसे इस देश में आगे प्रसार के लिए अपनी सैनिक गतिविधि का केन्द्र बनाना चाहता था। किंतु खुसरो मलिक ने अपनी राजधानी के इतने निकट गोरियों के सत्ता संगठन का स्थापित होना अपने राज्य के लिए बड़ा खतरा समझा। उसने अपने उपलब्ध साधन एकत्रित किए और खोखर जनजातियों की सहायता से सियालकोट के दुर्ग को घेर लिया। किंतु यह घेरा उसके लिए कठिन सिद्ध हुआ और उसे बड़े अपयश सहित लाहार वापस आना पड़ा। उसने बिना कुछ प्राप्त किए मुईजुद्दीन को ललकारा था। 1186 में मुईजुद्दीन भारतवर्ष में गजनवी सत्ता के अंतिम अवशेष को नष्ट करने के लिए लाहौर आ पहुंचा। खुसरो मलिक ने जिसके पास अपने दायित्व की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन नहीं थे संधिवार्ता आरंभ की और मुईजुद्दीन से भेंट करने के लिए दुर्ग से बाहर निकल कर आया। बिना किसी नैतिक संकोच के मुईजुद्दीन ने उसे बंदी बना लिया और 1192 में उसकी हत्या कर दी गई।

इस प्रकार लाहौर गोरियों के अधिकार में आ गया। अब देवल से सियालकोट और पेशावर से लाहौर तक मुईजुद्दीन की सैनिक चौकियां थीं। उसकी विजय का महत्वपूर्ण पक्ष जिसकी ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता, यह है कि राजपूत राज्यों से युद्ध आरंभ होने के पूर्व सिंधु और पंजाब में उसकी शक्ति का संगठन हुआ। यह तथ्य कि यह संपूर्ण प्रदेश एक इकाई की भांति उसके काम आया इससे स्पष्ट हो जाता है कि अली कर्मख जो सुल्तान का सिपहसालार (सैनिक अधिकारी) और वली था, लाहौर में नियुक्त किया गया। अली कर्मख इस प्रदेश का सैनिक तथा प्रशासनिक अधिकारी था और न्याय प्रबंध का कार्य **'तबकाते नासिरी'** के लेखक के पिता मौलाना सिराजुद्दीन को सौंपा गया और उसे इतने कर्मचारी दिए गए जिनकी यात्रा के लिए बारह ऊंटों की आवश्यकता हुई।

ताबरहिंदा

मुईजुद्दीन का अगला लक्ष्य तावरहिंदा (भटिंडा) की गढ़ी थी। उस पर अधिकार कर लिया गया और मलिक जियाउद्दीन तूलकी वहां नियुक्त किया गया। गज़नी तथा भारतवर्ष में स्थित सेना से 12,000 चुने हुए अश्वारोही उसके नेतृत्व में रखे गए। उसे ताबरहिंदा की गढ़ी पर आठ मास तक कब्जा किए रहने का दायित्व सौंपा गया। इसी बीच मुईजुद्दीन ने पुनः भारतवर्ष आने तथा अधिक प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने और ताबरहिंदा में अपनी स्थिति दृढ़ बनाने की योजना बनाई थी। राय पिथौरा (पृथ्वीराज तृतीय) को मुईजुद्दीन द्वारा अपनी स्थिति दृढ़ बनाने का अवसर देने का भयंकर खतरा महसूस हुआ। उसकी राजनीतिक अंतर्दृष्टि ने उसे तुरंत युद्ध करने का संकेत दिया और उसने गोरियों को उनकी सामरिक महत्व की स्थिति से मार भागने का दृढ़ संकल्प कर ताबरहिंदा की ओर कूच किया। मुईजुद्दीन तुरंत लौट पड़ा और राय पिथौरा से युद्ध का निश्चय किया। संभवतः मुईजुद्दीन ने इस युद्ध का अनुमान नहीं लगाया था और वह किसी राजपूत शासक के बड़े पैमाने पर युद्ध के लिए तैयार न था। इसके अतिरिक्त अकेला राय पिथौरा ही उस युद्ध में नहीं आया था। 'भारतवर्ष के समस्त राणा कोला राय के साथ थे।' **फरिश्ता** के अनुसार उसकी सेना में 'दो लाख अश्वारोही और तीस हजार हाथी थे।' ये आंकड़े असंभव हैं।

तरायन

तरायन में युद्ध हुआ। **फरिश्ता** ने सभी फ़ारसी प्रमाणों को इकट्ठा कर युद्ध का वर्णन इस प्रकार किया है:

> मुईजुद्दीन की दाईं तथा बाईं कतार टूट गई और बीच की कतार में बहुत सैनिक नहीं रह गए। उस समय सुल्तान के अधिकारियों में से एक ने निवेदन किया : 'दाएं और बाएं दस्ते के अमीर जिनका पालन पोषण आपके शाही कुटुंब में हुआ है, पराजित होकर भाग गए हैं। अफगान तथा खज्जी अमीर जो अग्रिम दस्ते में थे और जो सदैव अपने पुरुषार्थ और साहस की डींग मारते थे, युद्धस्थल में नहीं हैं। ऐसी हालत में सबसे अच्छा यह होगा कि आप तुरंत अपनी लगाम लाहौर की ओर मोड़ें।' इस सलाह से सुल्तान नाखुश हुआ। उसने अपनी तलवार खींच ली और केंद्रीय दस्ते को दुश्मन पर हमला करने के लिए ललकारा। दुश्मन और दोस्त सभी ने उसके साहस और दक्षता की प्रशंसा की। खांडेराय की दृष्टि सुल्तान पर पड़ी और उसने अपना विशालकाय हाथी उसकी ओर मोड़ा। सुल्तान भी हाथ में भाला लेकर खांड़ेराय पर झपटा और उसके मुख पर ऐसा कठोर प्रहार किया कि उसके अनेक दांत उसके मुंह के भीतर गिर पड़े। किंतु राय ने बड़े साहस और धैर्य का परिचय दिया और सुल्तान के पखौरे पर ऐसा वार किया कि वह लगभग अपने घोड़े से गिर पड़ा। उसी समय एक खल्जी पैदल सैनिक सुल्तान की विषम परिस्थिति देखकर उसके घोड़े पर उछल कर उसके पीछे बैठ गया और उसे संभाल लिया। एड़ लगा कर वह घोड़ा मैदान से बाहर निकाल लाया और उसे भागते हुए अमीरों के पास ले चला जो तब तक बीस कोस दूर तक पहुंच चुके थे। सुल्तान की मौजूदगी से उसकी बची खुची सेना फिर से व्यवस्थित हो गई।

तत्पश्चात् **फरिश्ता** ने '**जैनुलमआसिर**' में दिए गए एक भिन्न विवरण का उल्लेख किया है जिसमें यह लिखा है कि सुल्तान घोड़े से गिर पड़ा किंतु कोई उसे पहचान न सका और वह युद्ध स्थल पर अज्ञात पड़ा रहा। जब कुछ रात बीत गई तो उसके अनेक तुर्क दास उसे मरे हुए सैनिकों के बीच खोजने युद्धस्थल में आए। सुल्तान ने अपने दास पहचान लिए और उन्हें पुकारा। वे उसे जीवित देख बड़े प्रसन्न हुए। रात में वे बारी–बारी उसे अपने कंधे पर बिठाकर ले चले। दूसरे दिन प्रातःकाल वे अपने शिविर में पहुंच गए और उसे एक पालकी में बिठाया।

मिनहाजुस्सिराज के अनुसार : 'अनेक अमीरों, गोरी युवकों तथा अन्य विशिष्ट व्यक्तियों ने सुल्तान को सिंह के सामन साहसी खल्जी के साथ देखा, उसे पहचाना, उसके पास एकत्रित हुए, उसके लिए पालकी बनाने के लिए अपने भाले तोड़ डाले और फिर उसे उठाकर अपने विश्रामस्थल ले गए।' '**जैनुलमआसिर**' का विवरण **मिनहाज** से नहीं मिलता जिसमें दी गई सूचना अधिक विश्वसनीय है। सुल्तान के युद्धस्थल में बहुत समय तक अज्ञात पड़े रहने की कहानी की पुष्टि समकालीन आधारों से नहीं होती। जिन परिस्थितियों में सुल्तान घायल हुआ उसका वर्णन **मिनहाज** ने इस प्रकार किया है:

> सुल्तान ने उस हाथी पर आक्रमण किया जिस पर दिल्ली का शासक गोविंद राय सवार था और अपनी सेना के आगे घूम रहा था....। उसने अपना भाला राय के मुंह पर इतने जोर से मारा कि उसके दो दांत मुंह में गिर पड़े। राय ने उस पर बर्छा फेंका और उसकी बांह बुरी तरह घायल कर दी। सुल्तान ने अपने घोड़े की लगाम मोड़ी और पीछे भागा। उस घाव के दर्द से वह घोड़े पर बैठा न रह सका और भूमि पर गिरने ही वाला था कि सिंह के समान साहसी एक सैनिक ने जो खल्जी पैदल सेना का था, उसे पहचान लिया। वह उछल कर घोड़े की पीठ पर सुल्तान के पीछे बैठ गया और उसे अपने हाथों का

सहारा देकर घोड़े को अपनी पुकार से ललकारता हुआ ले चला और उसे युद्धस्थल से बाहर निकाल लाया।

मुईजुद्दीन को पराजित करने के पश्चात् राय पिथौरा की सेना ताबरहिंदा (भटिंडा) की ओर बढ़ी। मलिक जियाउद्दीन के तरह मास तक दुर्ग की रक्षा की किंतु बाद में आत्मसमर्पण कर दिया। इसी अवधि में मुईजुद्दीन ने राय पिथौरा से पुनः युद्ध करने की तैयारियां कीं।

मुईजुद्दीन ने अपनी पराजय का बदला लेने के लिए जो तैयारियां कीं उस बारे में **मिनहाज** का वर्णन बहुत संक्षिप्त है। किन्तु **फरिश्ता** ने कुछ विवरण दिए हैं जो संभवतः उन ग्रंथों के आधार पर हैं जो अब अप्राप्य हैं या मौखिक लोकोक्तियों पर आधारित हैं। किंतु ये विवरण मुईजुद्दीन के चरित्र और स्वभाव के साथ–साथ आगे चल कर उसके द्वारा प्राप्त उपलब्धियों को देखते हुए बिल्कुल उचित प्रतीत होते हैं। गोर से वापस होने के पश्चात् जहां वह अपने भाई से भेंट करने गया था, मुईजुद्दीन ने अपने गोरी खल्जी तथा खुरासानी अमीरों को कठोर दंड दिए। उसने अफगानों से कुछ नहीं कहा। इसका कारण संभवतः यह था कि इन क्षेत्रों में ये लोग रहा करते थे वे मुईजुद्दीन के अधिकार में बाद में आए और यही उचित भी था कि उनके अपराध के प्रति उदारता की नीति अपनाई जाए। अनाज से भरे हुए झोले गोरी, खल्जी और खुरासानी अमीरों की गर्दनों में बांधे गए उन्हे नगर में घुमाया गया। यदि किसी ने वह अन्न खाना अस्वीकार किया तो उसका सर काट डाला गया। जब मुईजुद्दीन अपनी राजधानी गज़नी लौटा तो वह दुख और ग्लानि से इतना पीड़ित था कि उसने खाना पीना छोड़ दिया। वह अपनी पत्नी के पास नहीं गया और बदन पर जो कपड़े वह नीचे पहने था उन्हें नहीं बदला। दिन रात वह राय पिथौरा से भीषण युद्ध की तैयारी मे लगा रहा। एक वर्ष तैयारी करने के बाद अचानक उसने हिंदुस्तान की ओर कूच किया। जब वह पेशावर पहुंचा तो गोर के एक वृद्ध अधिकारी ने उसके गंतव्य के विषय में पूछने का साहस किया। सुल्तान ने उसे अपना उद्देश्य बताया और कहा कि उसने गोरी, खल्जी तथा खुरासानी अमीरों को अपने समक्ष आने की अनुमति नहीं दी है और वह अल्लाह पर भरोसा कर उनके बिना भारतवर्ष की ओर जा रहा है। उस वृद्ध अधिकारी ने उन अपमानित अधिकारियों की सिफारिश की और सुल्तान से क्षमा प्राप्त की। मुल्तान में उसने सभी अमीरों को इनाम दिया और उन्हें तरक्की दी जो उसकी अनुपस्थितियों में निष्ठावान रहे थे। इसामी का कथन है कि सिंध की सीमा पर चालीस तुर्क अश्वारोही—साहसी और लड़ाकू—उसकी सेना में सम्मिलित हो गए।

'**ताजुलमआसिर**' के अनुसार मुईजुद्दीन ने लाहौर से रुबनुद्दीन हमजा को राय पिथौरा के पास इस उद्देश्य से भेजा कि वह अधीनता स्वीकार करे। राय ने कटु उत्तर भेजा और भारतवर्ष के समस्त रायों से सहायता की अपील की। **फरिश्ता** के अनुसार राय पिथौरा की सेना में 'तीन लाख राजपूत और अफगान अश्वरोही थे।' किंतु यह संख्या स्वीकार करना असंभव है क्योंकि स्पष्टतः यह अतिशयोक्ति है। **मिनहाज** को एक विश्वसनीय व्यक्ति ने—जिसे वह मुईजुद्दीन उशी बताता है—बताया कि उस समय मुईजुद्दीन की सेना में एक लाख बीस हजार सुसज्जित सैनिक थे। मुईजुद्दीन की सेना में गज़नी के चार प्रसिद्ध सेनानायक थे जो अनुभवी, दृढ़संकल्प और दक्ष थे। प्रत्येक के अधीन विशाल सेना थी। इनके अतिरिक्त ताजुद्दीन यल्दौज, कुबाचा और एबक।

सुल्तान ने 1191 में गज़नी से प्रस्थान किया। 1191-92 में तरायन पहुंचा और उसी स्थान पर अपने शिविर लगाए जहा एक वर्ष पूर्व उसकी भयंकर पराजय हुई थी। **फरिश्ता** के अनुसार राय पिथौरा के साथ एक सौ पचास राय शत्रु का दमन करने का संकल्प लेकर आए थे।

तरायन का युद्ध

इस बार मुईजुद्दीन ने बड़ी सावधानी से अपनी रणनीति नियोजित की थी। उसने शत्रु को अपनी सैनिक शक्ति के विषय में भ्रम डालने के उद्देश्य से अपनी केंद्रीय सेना, साज सज्जा, पताकाएं, हाथी इत्यादि को मीलों पीछे छोड़ दिया था। यह सैनिक दल उसकी आरक्षित सेना के रूप में रखा गया था और उसका प्रयोग केवल उसी समय किया जाना था जबकि शेष सेना राजपूत की सेना से लड़ते हुए अंतिम निर्णय के निकट पहुंचने वाली हो। यह सेना पीछे छोड़ कर मुईजुद्दीन की शेष सेना धीरे–धीरे आगे बढ़ी। सेना के इस भाग को जिसमें हल्के हथियारों से सुसज्जित और भारमुक्त अश्वारोही थे, उसने चार भागों में विभाजित किया ताकि भारतीय सेना पर चारों दिशाओं से आक्रमण किया जा सके। इस प्रकार, अपनी सेना का विभाजन करने के पश्चात् मुईजुद्दीन ने 10,000 अश्वारोही बाण चलाने वालों को आदेश दिए कि वे शत्रु से दाएं, बाएं, आगे, पीछे युद्ध करते रहें। उसने उन्हें आदेश दिया कि 'जब उनके अश्वारोही, पैदल सैनिक और हाथी आक्रमण करने के लिए बढ़ें तो तुम्हें पीछे भाग आना चाहिए और स्वयं तथा शत्रु के बीच एक घोड़े की दौड़ के बराबर दूरी रखनी चाहिए। उसका उद्देश्य यह था कि इस भांति शत्रु की सेना को भ्रम में डाल और उन्हें इस धोखे में बनाए रखे कि समस्त दल शत्रु दल युद्धस्थल में उपस्थित है। मुईजुद्दीन की व्यूह रचना का यह **मिनहाज** द्वारा दिया गया विवरण है। **फरिश्ता** ने युद्ध के पूर्व की घटनाओं के रोचक तथ्य दिए हैं।

अपनी प्रथम विजय से उत्पन्न गर्व और हठधर्मी से प्रेरित होकर उन्होंने (रायों ने) सुल्तान को एक अहंकारपूर्ण पत्र लिखा : 'हमारी सेना की संख्या और शक्ति तुम्हें शीघ्र ज्ञात हो जाएगी और हमारी सहायता के लिए भारतवर्ष के प्रत्येक भाग से सेना आ रही है। अपने प्रति नहीं तो जिन पथभ्रष्ट अभागे सैनिकों को तुम अपने साथ लाए हो उन पर दया करो। यदि तुम अपने इस जोखिम भरे कार्य के लिए पश्चात्ताप कर वापस चले जाओ तो हम अपने देवताओं की सौंगध खा कर कहते हैं कि हम तुम्हें वापस होते हुए तंग नहीं करेंगे अन्यथा कल हम अपने तीन लाख से भी अधिक अश्वारोहियों, असंख्य बाण चलाने वालों और इतनी सेना जिसका अनुमान असंभव है, सहित आक्रमण कर तुम्हें कुचल देंगे।' मुईजुद्दीन ने उत्तर दिया, 'तुम्हारा संदेश अत्यंत दयालु और स्नेहपर्ण है किंतु इस विषय में मैं स्वतंत्र नहीं हूं। मैं यहां अपने भाई की आज्ञा से आया हूं और अभियान की इतनी कठिनाइयां सहन की हैं। यदि तुम मुझे यथेष्ठ समय दो तो किसी समाचारवाहक द्वारा तुम्हारी सैनिक शक्ति की सूचना अपने भाई के पास भेज दूं और उससे इस शर्त पर संधि करने की अनुमति ले लूं कि सिंध, मुल्तान और सरहिंद मेरे अधिकार में रहें और शेष भारतवर्ष पर तुम्हारा अधिकार रहे।'

फरिश्ता की इस कथा पर विश्वास करना अनुचित होगा। राजपूत शासक इतने मूर्ख नहीं थे कि वे ऐसे समय, जबकि दोनों सेनाएं लगभग एक दूसरे के आमने सामने खड़ी थीं, ऐसा प्रस्ताव स्वीकार करते। **फरिश्ता** ने आगे अपना विवरण इस प्रकार लिखा है:

राजपूत सरदारों ने सोचा कि सुल्तान के जवाब में नम्रता का कारण मुस्लिम सेना की दुर्बलता है और वे सोने चले गए। किंतु मुईजुद्दीन सारी रात युद्ध की तैयारी करता रहा और जब प्रातःकाल राजपूत अपनी नित्य क्रिया संपन्न करने तथा हाथ मुंह धोने के लिए अपने सुरक्षित स्थान से बाहर निकल कर आए तो वह अपनी सुसज्जित सेना सहित उन पर टूट पड़ा। इस आकस्मिक आक्रमण से हिंदू आश्चर्यचकित हो गए पर किसी न किसी भांति अपने अस्त्र धारण किए और युद्धस्थल में लड़ने के लिए आए। सुल्तान हिंदुओं का निर्भीक साहस जानता था और उसने अपनी सेना चार दलों में विभाजित कर दी थी जो शत्रु से बारी–बारी से युद्ध करने आए। जब हिंदुओं के हाथियों और घोड़ों ने मुईजुद्दीन की सेना पर आक्रमण किया तो वह भाग गई किंतु जब शत्रु ने इस चाल से धोखा खाकर उनका पीछा किया तो वह वापस लौटी और अपनी कुल्हाड़ियों की मार से शत्रुओं के शरीर से उनके सर का बोझ उतार दिया। जब इस प्रकार प्रातःकाल से मध्याह्न समय तक युद्ध होता रहा तो मुईजुद्दीन ने अपने जिरह–बक्तर और लोहे की टोपी पहनी और नंगी तलवार तथा भालों से सुसज्जित बारह हजार सैनिकों सहित शत्रु पर आक्रमण कर दिया। साहसी वीरों का रक्त मिट्टी में मिल गया और पलक झपकते ही हिंदुओं की दल–बंदी टूटने लगी। उसी समय खर्मेल तथा अन्य अमीरों ने राजपूतों पर चारों ओर से आक्रमण किया और युद्धस्थल से उन्हें मार भगाया।

दोनों पक्षों की सेनाओं की स्थिति के विषय में इसामी द्वारा दिए गए तथ्य अधिक रोचक हैं। उसके अनुसार गोविंद राय राजपूत सेना का मुकद्दम (सेनापति) था। वह पिथौरा के अग्रिम दल का नेतृत्व कर रहा था। पिथौरा केंद्रीय सेना सहित युद्ध कर रहा था। पिथौरा की सेना का बायां दस्ता भोला के अधीन था जो उसका प्रधान मंत्री था। दाहिनी ओर की कमान पद्मशाह रावल संभाले था। मुईजुद्दीन की सेना की स्थिति इस प्रकार थी : मुईजुद्दीन स्वयं केंद्रीय सेना का नेतृत्व कर रहा था। खारबक मुकद्दम अर्थात अग्रिम दल का सरदार था। दाहिनी ओर इलाह सेना का अधिकारी था और मुकल्बा बाएं दस्ते का नेतृत्व कर रहा था। खर्मेल केंद्रीय सेना के पीछे था। कुतुबुद्दीन ऐबक सेना की साधारण व्यवस्था की देखरख कर रहा था और सदैव मुईजुद्दीन के निकट रहता था। मुईजुद्दीन की सेना में जिसमें इसामी के अनुसार एक लाख तीस हजार अश्वारोही थे, प्रत्येक सैनिक जिरह–बक्तर और हथियारों से सुसज्जित था। गोविंद राय हस्ति सेना सहित आगे बड़ा और खारबक पर आक्रमण किया। खारबक ने अपने मुंह पर ढाल रखकर अपनी रक्षा की और अपने बाण चलाने वालों को यह आदेश दिए कि वे हाथियों के महावतों पर निशाना लगायें। जैसे ही तीन या चार महावत घायल हुए हाथियों की समस्त पंक्ति अस्तव्यस्त हो गई और वे युद्धस्थल से भागने लगे। जब हाथियों की पंक्ति अस्तव्यस्त हो गई तो खारबक ने शत्रु पर अपना दबाव बढ़ा दिया। जब मुईजुद्दीन ने देखा कि शत्रु की सेना अस्तव्यस्त हो गई तो उसने दाहिनी और बाईं ओर से एक साथ आक्रमण करने के आदेश दिए और स्वयं केंद्रीय सेना लेकर बढ़ा। हिंदुओं के सैनिक दलों के पैर उखड़ गए और वे भाग खड़े हुए।

मुईजुद्दीन की सामरिक चालें सफल हुईं और राय पिथौरा की भयंकर पराजय हुई। वह अपने हाथी से उतर पड़ा और घोड़े पर सवार होकर युद्धस्थल से भाग निकला। किंतु सरसुती (आधुनिक सिरसा, हरियाणा प्रांत में) के निकट बंदी बनाया गया। **मिनहाज** का कथन है कि उसे तुरंत मार डाला गया, किंतु **हसन निजामी** के अनुसार उसे अजमेर ले जाया गया और कुछ समय तक उसे

राज्य करने दिया। किंतु उसे विश्वासघात का अपराधी पाने पर मार डाला गया। यह तथ्य कि उसे शासन करने दिया गया सिक्कों में उपलब्ध प्रमाणों से सिद्ध होता है और एक अर्ध समकालीन संस्कृत विवरण 'विरुद्धविधि- विध्वंस' से भी स्पष्ट है। पिथौरा के कुछ सिक्कों में उलटी ओर यह शब्द लिखे हैं : श्री मुहम्मद साम। यह इस बात का प्रमाण है कि हसन गुई ने सत्ता स्वीकर कर ली थी। राय पिथौरा की मृत्यु के पश्चात् भी अजमेर के शासन प्रबंध का तुरत हाथ में नहीं लिया गया था। पिथौरा के पुत्र का कुछ समय तक एक अधीनस्थ शासक की भांति शासन करने दिया गया।

दिल्ली का शासक गोविंद राय युद्धस्थल में मारा गया। जो नीति अजमेर के विषय में अपनाई गई वही दिल्ली में भी कार्यान्वित की गई। गोविंद राय के उत्तराधिकारी ने मुईजुद्दीन की सत्ता स्वीकार कर ली। हसन निजामी का कथन है कि उस क्षेत्र के सभी मुकद्दमों ने जब मालगुजारी देना और स्वामिभक्ति के समस्त कर्त्तव्य (मरासिमे खिदमती) स्वीकार कर लिए तो उन्हें शासक बना रहने दिया गया। किंतु इदपत में एक 'लश्करगाह' अर्थात सैनिक केंद्र स्थापित किया गया।

उत्तर भारत की विजय (1192-1206 ई.)

तरायन राजपूतों के लिए एक महान दुर्घटना थी। सामान्य रूप से राजपूतों की और विशेष रूप से चौहानों की राजनीतिक प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का पहुंचा। समस्त चौहान राज्य अब आक्रामक के चरणों में था। चूंकि तरायन का युद्ध राजपूत शासकों पर बड़े पैमाने पर सामूहित् प्रयास था इसलिए उसकी प्रतिक्रिया भी बड़ी विस्तृत हुई और व्यापक स्तर पर नैतिक पतन भी हुआ। तरायन में विजय प्राप्त करने के तुरंत पश्चात् मुईजुद्दीन ने हांसी और सरसुती सहित समस्त शिवालिक प्रदेश पर अधिकार कर लिया। ऐबक को कोहराम में नियुक्त करने के पश्चात् मुईजुद्दीन गज़नी लौट आया।

अजमेर में तुर्क सत्ता का संगठन

जैसा कि पहले बताया जा चुका है अजमेर के शासक राय पिथौरा की तरायन की पराजय के पश्चात् तुरत हत्या नहीं की गई उसे अजमेर में पुनः प्रतिष्ठित किया गया। किंतु वह अपनी निष्ठा पर स्थिर नहीं रहा और जब उसे विश्वासघाती पाया गया तो उसकी हत्या कर दी गई। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके बाद भी ऐबक पृथ्वीराय (राय पिथौरा) के वंश को देश के राजनीतिक जीवन से अलग नहीं करना चाहता था। उसके पुत्र को इस शर्त पर अजमेर प्रदान किया गया कि वह अधीनस्थ शासक रहेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि चौहानों ने यह व्यवस्था स्वीकार नहीं की। उन्होंने पृथ्वीराय के पुत्र को मार भगाया और अजमेर पर अधिकार कर लिया।

वह प्रमुख व्यक्ति जिसने अजमेर में तुर्कों के विरुद्ध विरोध का संगठन किया, हरिराय था। हरिराय पृथ्वीराय का भाई था। उसने रणथंभोर को घेर लिया। ऐबक उसका सामना करने के लिए बढ़ा और हरिराय प्रतिकूल परिस्थितियां देख रणथभोर से हट गया। उसने अजमेर पर भी अपना अधिकार त्याग दिया और ऐबक ने पुनः पृथ्वीराय के पुत्र को वहां प्रतिष्ठित किया।

ऐबक ने हरिराय के विरुद्ध बड़ा सैनिक दबाव डाला था और उसे इन स्थानों पर अधिकार छोड़ने पर विवश कर दिया था किंतु उसे पूर्ण रूप से कुचला नहीं जा सका था। अभी स्थिति पूर्ण रूप से नियंत्रण में नहीं आई थी कि मुईजुद्दीन ने अकस्मात ऐबक को 1193 में गज़नी बुलवा भेजा। अब हरिराय इस क्षेत्र में स्वतंत्रतापूर्वक अपने साधन एकत्रित कर सकता था और तुर्कों के साथ फैसला कर सकता था। अब ऐबक दिल्ली लौट कर आया तो उसे अजमेर में पनप रही नई मुसीबतों का समाचार मिला। हरिराय ने पुनः पृथ्वीराय के पुत्र का मार भगाया था और दिल्ली पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। इस नियोजित आक्रमण का नेतृत्व झतराय कर रहा था। ऐबक तुरंत उसकी प्रगति रोकने के लिए बढ़ा। दिल्ली में इस अकस्मात सैनिक गतिविधि से हरिराय और उसका साहसी सेनापति झतराय भयभीत हो गए। झतराय ने अजमेर में शरण ली और हरिराय ने जौहर कर आत्महत्या कर ली।

अब ऐबक ने राजपूताना में तुर्क साम्राज्य के प्रशासकीय पुनर्संगठन का निश्चय किया। अजमेर में मुसलमान अधिकारी नियुक्त किया गया और पृथ्वीराय का पुत्र रणथंभोर भेज दिया गया और उस दुर्ग का अधिकारी बनाया गया।

अभी कुछ ही मास व्यतीत हुए थे कि अजमेर में तुर्क सत्ता के उन्मूलन का राजपूतों ने दूसरा प्रयास किया। मेढ राजपूत जो अजमेर के निकट रहते थे, विद्रोह कर दिया और अजमेर में घिरी हुई तुर्क सेना को बडी कठिनाई का सामना करना पड़ा। राजपूतों ने चालुक्य सेना की भी मित्रता और सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। ऐबक तुरंत मोर्चे की ओर सीधा गया किंतु बहुत कठिन स्थिति देख वह अजमेर लौट आया। अजमेर पर राजपूतों का दबाव बढने लगा और ऐबक की स्थिति शोचनीय हो गई। इस अवसर पर गजनी से प्राप्त सामयिक सहायता से स्थिति काबू में आ गई और राजपूत पीछे हटने पर विवश हो

तरायनोत्तर विस्तार और समस्याएं

तरायन के युद्ध के तुरंत बाद सितबर 1192 ई. में जटवान ने हांसी घेर लिया। उससे निबटने के लिए ऐबक तीव्रगति से वहां पहुंचा और बागर (पश्चिमी राजस्थान) तक उसका पीछा किया जहां उसने (जटवान) युद्ध किया किंतु पराजित हुआ और मारा गया। हांसी में फिर से सैन्य व्यवस्था की गई।

तत्पश्चात् ऐबक कुहराम वापस चला आया जो उसका मुख्यालय था। ऊपरी दोआब में एक सैनिक चौकी स्थापित करने के लिए वह यमुना नदी पार करने के लिए तैयारी करने लगा। मेरठ, कोयल (अलीगढ़) और बरन सहित लगभग समस्त प्रमुख स्थान डोर राजपूतों के अधिकार में थे जिन्होंने तुर्कों के आक्रमण के विरुद्ध दृढ़ सुरक्षा का प्रबंध किया। ऐबक ने कोहराम से मेरठ की ओर प्रस्थान किया और 1192 ई. में उस पर अधिकार कर लिया। उसी समय बरन (आधुनिक बुलंदशहर) पर भी विजय प्राप्त कर ली गई। मेरठ और बरन की विजय का बड़ा सामरिक और भूराजनीतिक महत्व था क्योंकि इन दोनों अनुकूल स्थानों से वह गहदवाल राज्य पर आक्रमण कर सकता था। बाद में 1192 ई. में ऐबक ने दिल्ली की ओर कूच किया और उस पर अधिकार कर लिया। इस समय तक ऐबक ने अपनी सैनिक शक्ति तथा जिन शक्तियों का उसे सामना करना था उनके साधनों और संगठन का पर्याप्त सही अनुमान लगा लिया था। उसकी दृष्टि में दिल्ली ऐसी सामरिक स्थिति में थी जो सुरक्षा और आक्रमण दोनों के लिए उसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती थी। वह दिल्ली से गोरी दुर्गों के साथ भली भांति संपर्क बनाए रख सकता था और यहां से राजपूत शक्तियों के विरुद्ध सैनिक अभियानों का संचालन भी प्रभावशाली ढंग से कर सकता था। आरंभ में तोमर शासक सिंहासन पर बनाए रखा गया किंतु 1193 ई. में जब ऐबक ने यह देखा कि वह कुछ षड्यंत्रकारी गतिविधियों में भाग ले रहा है तो उसने उसे सिंहासन से हटा कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

1193 ई. में ऐबक अपने स्वामी द्वारा गजनी बुलाया गया। ऐसे समय जबकि वह अपने सैनिक कार्यों में व्यस्त था उसे क्यों बुलाया गया? इस विषय पर **मिनहाज** मौन है किंतु इसामी का कथन है कि कुछ लोगों ने ऐबक के विरुद्ध सुल्तान के कान भरना आरंभ कर दिया था और उसकी स्वामिभक्ति और निष्ठा पर संदेह उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे थे। सुल्तान ने उसे गज़नी बुलवाकर उनकी बातों का खोखलापन सिद्ध कर दिया। यह बिल्कुल असंभव प्रतीत होता है। संभवतः वह सुल्तान द्वारा देश में आगे प्रसार की योजनाओं में सहायता देने के लिए बुलवाया गया। ऐबक गज़नी में लगभग छः मास तक रहा।

1194 ई. में गज़नी से लौटने के पश्चात् ऐबक ने यमुना नदी पार की और कोयल (अलीगढ़) पर विजय प्राप्त कर ली।

मुईजुद्दीन का बनारस अभियान

अभी ऐबक ने कोयल में अपना कार्य पूर्ण ही किया था कि मुईजुद्दीन गहदवाल सत्ता का उन्मूलन करने के उद्देश्य से भारतवर्ष आया। उसने दिल्ली में भी सैनिकों की भर्ती की और फिर पचास हजार अश्वारोहियों सहित कन्नौज और बनारस की ओर कूच किया। ऐबक तथा सिपहसालार ईजुद्दीन सेना के अग्रिम दल के सरदार नियुक्त किए गए। चंदवार के निकट युद्ध हुआ। भीषण युद्ध हुआ किंतु अंत में मुईजुद्दीन की विजय हुई। **मिनहाज** ने इस विजय में चाहे अन्य लो लाभ देखे हों किंतु वह बड़े उल्लास से लिखता है कि, 'तीन सौ और कुछ हाथी मुईजुद्दीन के अधिकार में आए।' किंतु वास्तव में विजय का इससे कहीं अधिक महत्व था। यद्यपि समस्त गहदवाल राज्य पर अधिकार नहीं किया जा सका किंतु उसने अनेक स्थानों पर सैनिक चौकियां, स्थापित करना सुलभ कर दिया जैसे बनारस और अरनी। गहदवालों के अनेक महत्वपूर्ण केंद्र अब भी स्वतंत्र बने रहे। उदाहरण के लिए कन्नौज 1198-99 ई. तक साम्राज्य में नहीं मिलाया जा सका और ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी स्थायी विजय नहीं थी क्योंकि हम इल्तुतमिश को भी कन्नौज पर आक्रमण करता हुआ पाते हैं।

संभवतः ऐबक कोयल में पूर्णतः अपनी स्थिति संगठित नहीं कर सका था जब उसे जयचंद के विरुद्ध मुईजुद्दीन के अभियान में भाग लेने के लिए बुलवाया गया। अस्तु मुईजुद्दीन के गज़नी लौटने के पश्चात् ऐबक अपनी स्थिति सुदृढ़ करने कोयल वापस आया।

1195-96 ई. का मुईजुद्दीन का अभियान

1195-96 ई. में मुईजुद्दीन पुनः भारतवर्ष आया। इस बार उसन बयाना पर आक्रमण किया जो यादव भट्टी राजपूत कुमारपाल के अधिकार में था। बयाना के शासक ने अपनी राजधानी के निकट युद्ध करना उचित नहीं समझा और थनकर (थानागिरि) जाकर वहां दुर्ग में सुरक्षित हो गया। किंतु उसे आत्मसपर्मण करने पर विवश कर दिया गया। थनकर तथा विजयमंदिरगढ़ पर अधिकार कर लिया गया और उन्हें बहाउद्दीन तुगरिल के अधिकार में दे दिया गया।

तदुपरांत मुईजुद्दीन ने ग्वालियर की ओर कूच किया। परिहारवंशीय सललखनपाल ने मुईजुद्दीन का आधिपत्य स्वीका[illegible] किया। ऐबक को अजमेर के मेढ़ा के विद्रोह का सामना करना पड़ा था जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस समस्या [illegible] करने के पश्चात् उसने अन्हिलवाड़ा की ओर कूच किया। उसने आबू के धारावर्ष तथा नाडोल के किल्हण को सन्[illegible] स्थान पर सामना किया जहां कुछ वर्ष पूर्व मुईजुद्दीन को पराजय का मुख देखना पड़ा था। उसने चालुक्या का यह [illegible] कि वह खुल्लमखुल्ला युद्ध से कतरा रहा है यद्यपि उससे विजय की अच्छी संभावना थी। चालुक्य बाहर निकल कर [illegible] युद्ध हुआ उसमें 'उत्कृष्ट गतिशीलता और आकस्मिक आक्रमणों ने परिणाम निश्चित कर दिया।' राजा भोम द्वितीय अन्हिलवा[illegible] भाग गया। नगर लूटा गया और **फरिश्ता** के अनुसार उस क्षेत्र में तुर्क सत्ता का संगठन करने और उसे सुदृढ बनाने के लिए [illegible] मुसलमान अधिकारी नियुक्त किया गया। किंतु अन्हिलवाड़ा सरलता से कई कारणवश सगठित न किया जा सका। [illegible] राजपूताना, जो सुरक्षा कपाट का काम दे सकता था, अब भी तुर्कों के प्रभावशाली नियंत्रण से बाहर था। इब्न असीर [illegible] कि ऐबक ने वह प्रदेश हिंदू शासकों के अधीन रखने का निश्चय किया। यह तुर्कों की इस सामान्य नीति के अनुकूल था कि [illegible] राजवंश पूर्णरूपेण, नष्ट न किए जाएं। किंतु अभिलेखीय प्रमाणों से सिद्ध होता है कि चालुक्यों ने तुर्कों को अन्हिलवाड़ा से मा[illegible] भगाया जो 1240 तक उनके अधिकार में रहा।

1197-98 ई. में ऐबक ने बदायूं पर विजय प्राप्त की। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी बीच बनारस पर तुर्कों का अधिकार शिथिल [illegible] गया था और ऐबक को उस पर पुनः अधिकार करना पड़ा। 1198-99 ई. में चंदवार और कन्नौज पर विजय प्राप्त हुई।

इन सामरिक गतिविधियों के पश्चात् ऐबक ने अपना ध्यान राजपूताना की ओर मोड़ा। उसने सिरोह (सिरोही) पर अधिकार क[illegible] लिया और बाद में **फखरेमुदब्बिर** के अनुसार 1199-1200 ई. में मालवा पर विजय प्राप्त की। अन्य किसी इतिहासकार ने ऐबक की मालवा विजय का उल्लेख नहीं किया। वह एक धावा मात्र रहा होगा।

तत्पश्चात् ऐबक ने अपना ध्यान बुंदेलखंड के चंदेलों की ओर मोड़ा। 1202 ई. में कालिंजर पर आक्रमण किया गया जो परमार्दिदेव का एक दृढ़ सैनिक केंद्र था। कुछ समय तक घेरा चलता रहा और फिर परमार्दिदेव ने ऐबक से संधिवार्ता आरंभ की किंतु इस[illegible] पूर्व कि कुछ निश्चय हो, राजा की मृत्यु हो गई। परमार्दिदेव के प्रधानमंत्री अजयदेव ने पुनः विरोध आरंभ कर दिया। उसने [illegible] पहाड़ी सोते से पानी की व्यवस्था कर ली थी और उसे विश्वास था कि यह व्यवस्था कभी असफल न होगी। जब तुर्कों को इस [illegible] सूचना मिली तो उन्होंने सोते का पानी दूसरी ओर मोड़ दिया और जलपूर्ति का स्रोत बंद कर दिया। अजयदेव के लिए संधि के अतिरिक्त कोई चारा न रहा। चंदेलों को दुर्ग खाली करने की अनुमति दे दी गई और वे अजयगढ़ के निकटवर्ती दुर्ग में चले [illegible]। तत्पश्चात् कालिंजर, महोबा और खजुराहो पर 'अधिकार कर लिया गया और हसन अर्नल के अधीन सैनिक डिवीजन स[illegible] गया।'

मुहम्मद बख्तियार खल्जी

पूर्वी क्षेत्रों की विजय मुहम्मद बख्तियार खल्जी का कार्य था, जिसके व्यक्तित्व और उपलब्धियों को मध्यकालीन भारतीय इतिहास में लगभग पौराणिक रंग मिल गया है।

मलिक ईजुद्दीन मुहम्मद बख्तियार खल्जी मूलतः गर्मसीर का रहने वाला था। वह नौकरी ढूंढने के लिए गज़नी आया। दीवान अ[illegible] के अध्यक्ष को वह 'साधारण और अनाकर्षक' लगा और उसने उसके लिए बहुत थोड़ा वेतन निश्चित किया। बख्तियार ने [illegible] नियुक्ति अस्वीकार कर दी और भारतवर्ष की ओर चल पड़ा जहां युवा प्रतिभा के लिए बेहतर संभावनाएं थीं। किंतु दिल्ली म[illegible] उसकी कुरुप आकृति के कारण सैन्य विभाग के अध्यक्ष ने उसको दुकरा दिया। गज़नी तथा दिल्ली में इस प्रकार अस्वीकृ[illegible] के पश्चात् एक सम्मानित नौकरी पाने की इच्छा और समकालीन इतिहास में उत्तम स्थान प्राप्त करने का दृढ़संकल्प [illegible] बदायूं पहुंचा। बदायूं के 'मुक्ता' सिपहसालार हिजब्रुद्दीन हसन अदीब ने उसे अपनी सेवा में ले लिया। **मिनहाज सिराज** के इतिह[illegible] से यह बख्तियार खल्जी की पहली नौकरी प्रतीत होती है। इसामी के अनुसार बख्तियार की पहली नौकरी चितौड़ के जागीरदा[illegible] यहां आरम्भ हुई।

बख्तियार किसी अज्ञात परिवार का व्यक्ति नहीं था। उसका चाचा मुहम्मद बिन महमूद तरायन के दूसरे युद्ध में पृथ्वीरा[illegible] विरुद्ध लड़ा था। संभवतः इस युद्ध में उसकी कुशलता ने अली नागौरी का जो बाद में नागौर का **मुक्ता** बना ध्यान [illegible] आकर्षित किया। उसने उसे अपनी सेवा में ले लिया और जब नागौर की **इक्ता** उसे प्राप्त हुई तो उसने मुहम्मद बन [illegible] भी सम्मानित किया और उसे हिसमुद्दीन की 'इक्ता' प्रदान की। इसके अतिरिक्त उसकी श्रेष्ठता की सराहना करते हुए [illegible]

और ध्वजा देकर भी सम्मानित किया। जब मुहम्मद की मृत्यु हो गई तो यह 'इक्ता' बख्तियार को दे दी गई। कशमंडी के '**मुक्ता**' के रूप में उसके कार्यों का कोई ज्ञान नहीं है जहां संभवतः वह बहुत दिन नहीं रहा। तत्पश्चात् वह अवध चला गया और वहां बनारस और अवध डिविजन के सेनाध्यक्ष मसिक हुसामुद्दीन अगूलबक से मिला। उसकी वीरता से प्रभावित होकर अगूल ने उसे भागवत और भीवली की '**इक्ताएं**' प्रदान कीं। यह निकटवर्ती प्रदेश में छापा मारने के लिए उसका सैनिक अड्डा बन गया।

बख्तियार ने इस क्षेत्र के साधारण गहदवाल मार भगाए और मनेर तथा बिहार के क्षेत्रों में छापे मारने लगा। इन छापों से उसे लूट में जो अस्त्र-शस्त्र, घोड़े तथा सामान प्राप्त हुए उनसे उसके पास साधन एकत्रित हो गए जिनसे इस क्षेत्र में उसके आक्रमणों का क्षेत्र और संख्या बढ गई। शीघ्र ही उसका यश दूर-दूर तक फैल गया और बड़ी संख्या में खल्जी उसकी सेवा में आने लगे। ऐबक ने भी उसकी योग्यता और उपलब्धियों के विषय में सुना और उसे सम्मनित किया। इस प्रकार अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के पश्चात् वह बिहार की ओर अपनी सेना ले गया और उस क्षेत्र को लूटा। 'उसके पास दृढ़ हिंदू दुर्गों पर अधिकार करने के लिए कोई सामरिक उपकरण नहीं थे न उसकी यह नीति थी कि उस प्रदेश में अपने विरुद्ध कोई व्यापक विद्रोह उत्पन्न करे। उसका उद्देश्य रह था कि कम से कम रक्तपात और खतरा और अधिक से अधिक लूट का माल प्राप्त किया जाए। इसलिए वह ऐसे खुले प्रदेशों पर लूटमार करने तक सीमित रहा जो किसी संगठित राज्य की सेना से सुरक्षित नहीं थे।

1243 ई. में मिनहाज लखनौती में शम्सुद्दीन नामक एक व्यक्ति से मिला जो बख्तियार की सेवा में रह चुका था और उसी से उसने बख्तियार के बिहार तथा बंगाल के कारनामों की और उसकी दुखद मृत्यु की सूचना प्राप्त की। **मिनहाज** को यह बताया गया कि बख्तियार ने बिहार पर अकस्मात 'आक्रमण' किया था और वह भी केवल दो सौ घुड़सवारों के साथ जो जिरह-बक्तर पहने थे। उसने वहां के पिछले द्वार से आक्रमण कर दुर्ग पर विजय प्राप्त की। **मिनहाज** लिखता है कि :

> उस स्थान के अधिकांश लोग ब्राह्मण थे और सबके सर मुंड़े थे। उन सबकी हत्या कर दी गई। उस स्थान पर पुस्तकों का बहुत बड़ा भंडार था। जब मुसलमानों ने वे किताबें देखीं तो उन्होंने अनेक हिंदू बुलवाए जो उन पुस्तकों की विषय सामग्री के बारे में सूचना दे सकते थे। किंतु सभी (शिक्षित) हिंदुओं की हत्या की जा चुकी थी। (उन पुस्तकों की विषय सामग्री का) जब उन्हें पता चला तो उन लोगों ने जाना कि वह समस्त दुर्ग तथा नगर एक विश्वविद्यालय था। हिंदी भाषा में वे लोग विश्वविद्यालय को बिहार कहते हैं।

मिनहाज और संभवतः स्वयं आक्रमणकारियों ने बौद्ध भिक्षुओं को ब्राह्मण समझने की भूल की। पंद्रहवीं शताब्दी के एक तिब्बती इतिहासकार **तारानाथ** के अनुसार बख्तियार ने इस समय भिक्षुओं के नगर विक्रमशिला और नालंदा पर भी अधिकार कर लिया और उद्दंडपुर नामक स्थान पर दुर्ग बनवाया। बौद्धों की एक परंपरानुसार 1200 ई. में काश्मीर का प्रसिद्ध विद्वान **संत शाक्य श्री भद्र उद्दंडपुर** और **विक्रमशिला** के **बौद्ध विहारों** में आया किंतु उसने उन्हें नष्ट पाया।

इस विजय के पश्चात् बख्तियार अतुलित लूट की संपत्ति और उपहार लेकर ऐबक के पास आया। **हसन निजामी** का कथन है कि बदायूं में ऐबक की कालिंजर विजय के तुरंत पश्चात् 23 मार्च 1203 ई. को उसने बदायूं में ऐबक की प्रतीक्षा की और उसे, 'बीस पर्वताकार, रक्तपिपासु दानवों के समान हाथी तथा भांति-भांति के रत्न और नकद धन भेंट किया।' ऐबक ने बख्तियार की उपलब्धियों के लिए उसे सम्मानित किया। इससे अन्य तुर्क सेनाधिकारियों की ईर्ष्या बढ़ गई। एक अवसर पर उसके शत्रुओं ने उसे एक हाथी से युद्ध करने के लिए विवश किया। बख्तियार ने उसकी सूंड पर अपने वज्र के एक ही आघात से हाथी को रंगभूमि से मार भगाया। ऐबक उसकी वीरता और साहस से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने न केवल उसे सम्मानित किया बल्कि अमीरों को भी आज्ञा दी कि वे उसे उपहार दें। तत्पश्चात् बख्तियार बिहार चला गया।

बख्तियार अब सेन साम्राज्य की सीमा तक पहुंच चुका था। उसकी वीरता और साहस की कीर्ति नदिया के शासक राय लखमनिया (लक्ष्मण सेन) के कानों तक पहुंची। **मिनहाज** के अनुसार राय अस्सी वर्ष से राज्य कर रहा था और अपने न्याय और उदारता से जनता का मन मोह लिया था। कहते हैं कि कुछ ज्योतिषियों ने राय से यह कहा कि उनकी प्राचीन पुस्तकों में यह भविष्यवाणी लिखी है कि देश तुर्कों के अधिकार में चला जाएगा। ज्योतिषियों ने राय को यह परामर्श दिया कि 'तुर्कों के उपद्रव' से बचने के लिए उसे देश छोड़कर चला जाना चाहिए। जब राय ने उस व्यक्ति के जो उसके राज्य पर अधिकार करने वाला था, लक्षण पूछे तो उन्होंने उत्तर दिया 'उसकी यह पहचान है कि जब वह अपने पैरों पर सीधा खड़ा होता है और अपने हाथ नीचे गिराता है तो वे उसके घुटनों के नीचे तक पहुंचते हैं और उसके पैरों की पिंडलियां छूते हैं।' राय ने विश्वसनीय व्यक्ति भेज कर इस विषय की जांच करवाई और उन्होंने बख्तियार में यह विशेषताएं पाईं। इस पर वहां रहने वाले अनेक ब्राह्मण और निवासियों ने वह स्थान

छोड़ दिया और सकनात (शखनाद) तथा बंगाल के नगरों में और कामरूप की ओर चले गए। किंतु राय लखमनिया [illegible] राजधानी छोड़ने के पक्ष में न था और नहीं रहा। किन्तु वह भी अंधविश्वासों के विनाशकारी प्रभाव में था [illegible] प्रमाणों से सिद्ध होता है कि 1203 ई. में उसने भावी विपत्ति दूर करने हेतु देवताओं का प्रसन्न करने के लिए एक महान [illegible] अनुष्ठान किया जिसे 'ऐन्द्री महाशांति कहते हैं।'

दूसरे वर्ष बख्तियार बिहार से आगे बढ़ा और अकस्मात नदिया नगर के सामने प्रकट हुआ। **मिनहाज** के अनुसार बख्तियार [illegible] अठारह से अधिक अश्वारोही नहीं थे। उसकी मुख्य सेना धीरे–धीरे उसके पीछे चली। नदिया नगर के द्वार पर पहुंचने बख्तियार ने किसी को कोई कष्ट नहीं पहुंचाया और 'इस भांति आगे बढ़ा कि नगर के लोगों ने समझा कि वह और उसके साथ व्यापारियों का दल हैं और घोड़े बेचने के लिए आए हैं।' जब वह राय के महल के द्वार पर पहुंचा तो उसने अपनी तलवार खींच ली और मार काट शुरू कर दी। उस समय राय खाना खा रहा था। जब तक उसे इस विषय की सूचना प्राप्त हो, बख्तियार द्वार पार कर आगे बढ़ चुका था। राय पिछले द्वार से नंगे पैर भाग निकला और 'उसके समस्त कोष' रानियों तथा (अन्य) महिलाओं महल के सेवकों तथा उसके विशेष अंगरक्षकों पर उसने अधिकार कर लिया। मुसलमानों ने बहुत से हाथी पकडे और इतनी अपार संपत्ति उनके अधिकार में आई जिसका उल्लेख असंभव है। इसके तुरंत पश्चात् बख्तियार की मुख्य सेना उससे आकर मिल गई और तभी नदिया नगर और उसके निकटवर्ती प्रदेशों पर अधिकार किया गया। महल पर एक युक्ति से अधिकार किया गया और नगर पर जो नैतिक पतन तथा भगदड़ से ग्रस्त हो गया था, शक्ति प्रदर्शन से नियंत्रण किया गया। राय लखमनिया 'सकनात तथा बंग और कामरूप के नगरों' की ओर भाग गया। अपने विशाल साम्राज्य के शेष भागों पर वह कुछ वर्षों तक सुनारगाव से शासन करता रहा।

बख्तियार नदिया पर स्थाई रूप से शासन नहीं करना चाहता था क्योंकि वह उसे अपने मुख्यालय के योग्य नहीं समझता था। उसने लखनौती की चुना जो बिहार स्थित उसके मुख्यालय के निकट था। राजनीतिक तथा भूराजनीतिक कारणों ने लखनौती के चयन निश्चित किया। उसने शीघ्र ही यह समझ लिया कि नदिया पर जो दक्षिण बंगाल में था, अधिकार और नियंत्रण बनाए रखना कठिन होगा और उससे उसके सीमित सैनिक साधनों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। बख्तियार ने स्थिति का सही अनुमान लगाया था। इसकी पुष्टि इसी बात से होती है कि नदिया अनेक दशकों तक हिंदुओं के अधिकार में रहा। बख्तियार ने उत्तरी बंगाल के अधिकृत प्रदेशों में सांस्कृतिक और सैनिक दृष्टि से अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। उन क्षेत्रों में अनेक मस्जिदें, मदरसे और खानकाहें बनवाए गए और लखनोर (बीरभूम जिले में एक नगर) और देवकोट में सैनिक चौकियां स्थापित की गईं तथा मुईजुद्दीन के नाम का खुत्बा पढ़वाया गया।

इसके बाद से बख्तियार ने अपना समय और शक्ति लखनौती के पूर्व में स्थित तुर्किस्तान और तिब्बत के पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के जीवन और परिस्थितियों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने में लगाया। उसका तिब्बत की ओर अभियान ले जाने का उद्देश्य एक पहेली है। यह आश्चर्य की बात है कि उसने उन हिंदू राज्यों की ओर ध्यान न दिया जो उसकी सेनाओं की पहुंच के भीतर थे। सभी तथ्यों को अर्थात् उस खल्जी के साहसी व्यक्तित्व और उसकी गतिविधियों इत्यादि को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः वह तुर्किस्तान के लिए एक नया मार्ग खोजने के लिए उत्सुक था जो छोटा मार्ग हो। इस प्रकार तुर्क प्रदेश से संपर्क स्थापित कर वह सैनिकों तथा सामग्री की निरंतर पूर्ति कर बंगाल में आगे अभियानों की व्यवस्था और क्षेत्रीय विस्तार कर सकता था। इसके अतिरिक्त बख्तियार की तरह का महत्वाकांक्षी और साहसी व्यक्ति दिल्ली के नियंत्रण के बाहर एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना के विषय में भी सोच सकता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि बख्तियार ने इस अभियान के लिए पूरी तैयार कर ली थी। उसने कुछ जनजातियों से भी संपर्क स्थापित कर लिया था जो उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकती थीं। **मिनहाज** लिखता है :

> तिब्बत और लखनौती के मध्य स्थित उन पर्वत मालाओं के विभिन्न भागों में तीन जनजातियों के लोग रहते थे जिनमें [illegible] कूंच, दूसरी मेज (मेंग) और तीसरी तिहारू कहलाती है और उन सब की मुखाकृति तुर्कों जैसी है। वे भारतीय तथा [illegible] भाषाओं के बीच की बोली बोलते हैं। कूंच तथा मेज जाति के सरदारों में एक को जिसे वे अली मेज कहते थे, बख्तियार खल्जी ने बंदी बनाया और उसी के हाथों वह मुसलमान बना लिया गया।

वह यही व्यक्ति था जिसने बख्तियार का उन पहाड़ियों में मार्गदर्शन करना स्वीकार किया और उसका पथप्रदर्शक बना। [illegible] 'बुर्घान (कोट) ले गया। 'उस स्थान के सामने बागमती नदी बहती थी और जब वह भारतवर्ष में प्रवेश करती थी तो [illegible]

में समुद (समुद्र) कहते थे। इस नदी के ऊपर की ओर अली मेज बख्तियार की सेना दस दिन में ले गया यहां तक कि वे एक ऐसे स्थान पर पहुंचे जहां तराशे हुए पत्थरों का एक पुल बना था जिसमें बीस से अधिक मेहराबें थीं।' जब सेना ने पुल पार किया तो बख्तियार ने पुल के सिरे पर अपनी सेना के दो अमीरों को जिनमें एक तुर्क गुलाम अधिकारी और दूसरा खल्जी था, सैनिक दस्तों सहित वापस होने तक पुल की रक्षा करने के लिए नियुक्त किया। जब कामरूप के राय को इस अभियान की सूचना मिली तो उसने बख्तियार के पास यह संदेश भेजा कि वह अभियान अगले वर्ष तक के लिए स्थगित कर दे और वचन दिया कि तब वह उस प्रदेश पर विजय में उसकी सहायता करेगा। बख्तियार ने यह परामर्श स्वीकार नहीं किया और तिब्बत के पहाड़ों की ओर आगे बढ़ा।

पंद्रह दिन तक बख्तियार की सेना हिमालय पर्वत के दुर्गम मार्गों और दर्रों से यात्रा करती रही। सोलहवें दिन सेना तिब्बत के खुले मैदान में पहुंची। वह क्षेत्र भलीभांति बसा था और वहां उत्तम खेती होती थी। अंत में सेना एक सुदृढ़ दुर्ग के निकट पहुंची और उस क्षेत्र में लूटमार आरंभ कर दी। दुर्ग तथा निकटवर्ती प्रदेशों के लोग युद्ध करने के लिए एकत्रित हुए जो प्रातःकाल आरंभ हुआ और संध्या तक चलता रहा। बहुतेरे मुसलमान सैनिक युद्ध में मारे गए। **मिनहाज** लिखता है : 'वहां की सेना के समस्त सुरक्षात्मक हथियार थे बांस के टुकड़ों से बने भाले। उनके अस्त्र–शस्त्र, जोशन, ढाल और खोद कच्चे रेशम के टुकड़े सिलकर बनाए गए थे। वे सब तुर्क थे और उनके पास बड़े धनुष थे।'

रात में मुसलमान सैनिकों ने बंदियों से पूछताछ की जिन्होंने उन्हें बताया कि पांच लीग की दूरी पर एक नगर है जिसे करबत्तन कहते हैं। वहां लगभग पचास हजार वीर तुर्क अश्वारोही और धुनर्धारी हैं जिनकी अगले दिन प्रातःकाल यहां पहुंचने की आशा है। जब बख्तियार को उस देश के विषय में सूचना मिली और उसने देखा कि उसके सैनिक यात्रा से दुर्बल और शिथिल हो गए हैं तो उसने अपने अमीरों से परामर्श किया। उन्होंने वापस लौटने की सलाह दी और अगले वर्ष बेहतर तैयारी कर आक्रमण करने का प्रस्ताव रखा। लौटते समय बख्तियार की सेना की दुर्दशा का **मिनहाज** ने इस प्रकार वर्णन किया हैं :

> जब वे वापस हुए तो समस्त मार्ग में उन्हें घास का एक तिनका तथा लकड़ी की एक टहनी तक दिखाई न दी। निवासियों ने उन सबको जला दिया था। मार्गों तथा दर्रों के निवासी अपना स्थान छोड़कर वहां से चले गए थे। इन पद्रंह दिन तक पशुओं और घोड़ों को एक सेर अनाज और घास का एक तिनका भी न मिला। सिपाहियों को अपने घोड़े मारकर खाने पड़े जब तक कि वे पर्वतीय प्रदेश पार कर कामरूप में उस पुल के सिरे तक नहीं पहुंच गए। उन्होंने देखा कि पुल की दो मेहराबें नष्ट हो गई थीं। कारण यहा था कि दोनों अमीर (जिन्हें पुल की सुरक्षा का दायत्वि सौंपा गया था) एक दूसरे के विरोधी हो गए थे और पारस्परिक विरोध के फलस्वरूप पुल और सड़क की सुरक्षा का दायित्व त्यागकर चले गए थे। कामरूप के हिंदुओं ने वहां पहुंचकर पुल नष्ट कर दिया।

जब बख्तियार पुल के निकट पहुंचा तो दुर्भाग्यवश उसने देखा कि नदी पार करने के कोई साधन नहीं हैं और कोई नौकाएं उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में उसे एक स्थान ठहरकर कुछ नौकाएं बनानी थीं। पास ही एक मंदिर मिल गया जिसमें उसने शरण ली। उसने नदी पार करने के लिए बेड़ा बनाने हेतु लकड़ी और रस्सी जुटाने का यत्न किया। जब कामरूप के राय ने उसकी दुर्दशा की सूचना पाई तो 'अपने देश के हिंदुओं को बुलवाया और वे बड़ी संख्या में चारों ओर से एकत्रित हुए। मंदिर के चारों ओर भूमि पर वे नोकीले बांस गाड़ने लगे और उन्हें इस प्रकार जाली से बांध दिया की वे दीवार की भांति दिखाई देते थे।'

बख्तियार ने तुरंत तय कर लिया कि उसे क्या करना चाहिए। उसने शीघ्रता से वह घेरा तोड़ डाला और खुले मैदान में निकल आया। नदी के किनारे पहुंच कर वह अपनी सेना सहित ठहर गया। अकस्मात कुछ सैनिकों ने अपने घोड़े नदी में डाल दिए। कुछ ही दूर तक पानी पार किया जा सकता था। जैस ही सैनिक घोड़े की पीठ पर सवार होकर आगे बढ़े उनके लिए तैरना असंभव हो गया और अनेक सैनिक डूबकर मर गए। हिंदुओं ने उनका पीछा किया और नदी के किनारे पर अधिकार कर लिया। जब बख्तियार के सैनिक बीच धारा में पहुंचे तो वे सब नष्ट हो गए। बख्तियार और उसके लगभग सौ सवार बड़ी कठिनता से नदी पार कर सके।

बख्तियार की सेना के साथ जो हादसा हुआ था उसकी सूचना कूंच और मेज जाति को मिली। उन्होंने उसकी सहायता करने का निश्चय किया। विशेषरूप से अली मेज के व्यक्तियों ने बख्तियार को शरण दी और उसे देवकोट तक पहुंचाने में हर संभव सहायता की। किंतु इस महान विपत्ति ने बख्तियार की कीर्ति और उसकी जीवनचर्या नष्ट कर दी। जब वह घोड़े पर सवार होकर बाहर निकलता था तो स्त्री–पुरुष हाहाकार करते थे और उसे गालियां देते थे। बख्तियार दुख से इतना पीड़ित हो गया था कि उसने घोड़े पर सवार होना छोड दिया था। इस दुर्भाग्य के समय वह कहा करता था कि संभवतः सुल्ताने गाजी (मुईजुद्दीन) पर कोई आफत आ गई है जिससे सौभाग्य ने उसका साथ छोड़ दिया है। यह सच था क्योंकि लगभग उसी समय दमयक के निकट

मुईजुद्दीन की हत्या हुई। इस दुर्घटना ने उसका साहस खत्म कर दिया और वह बहुत बीमार हो गया। इस दुर्घटना की [illegible] पाकर अली मर्दान नामक उसका एक अमीर दवकोट आया। उस समय बाख्तियार अपनी शय्या पर रुग्ण पड़ा था और [illegible] दिनों से उसे किसी ने नहीं देखा था। अली मर्दान उसकी शय्या के निकट पहुंचा, उसके मुख से चादर हटाई और [illegible] ने छुरा भोंक दिया।

मुईजुद्दीन का अंतिम भारतीय अभियान और उसकी हत्या

मुईजुद्दीन की अंदखुद की पराजय ने उसकी प्रतिष्ठा को भयंकर हानि पहुचाई। विरोधी तत्व उसके संपूर्ण साम्राज्य में सक्रिय हो गए और उसके राज्य में गडबडी उत्पन्न करने के लिए उसकी मृत्यु के झूठे समाचार फैलाए जाने लगे। **हसन निजामी** के अनुसार उसकी सेना का एक अधिकारी ऐबक वेग अंदखुद के युद्धस्थल में उसे छोड़ कर शीघ्रतापूर्वक मुल्तान पहुचा और वहां के राज्यपाल का वध कर दिया। उसने वहां अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित की। मुईजुद्दीन के एक अधिकारी इलादगिज ने इस समय गज़नी पर भी अधिकार कर लिया था।

इस दुर्घटना की अफवाहों की प्रतिक्रिया भारतवर्ष में भी हुई। खोखरों के दो सरदारों बकन और सर्फा ने जो उस प्रदेश में रहते थे जहां से लाहौर–गज़नी का मार्ग जाता था, समस्त प्रदेश में विप्लव आरंभ कर दिए और लाहौर पर अधिकार करने की योजना बनाई। उनकी गतिविधियों ने लाहौर और गज़नी के बीच संचार काट दिया। समस्या की गंभीरता का अनुभव कर मुईजुद्दीन ने खोखरों का दमन करने के लिए स्वयं भारतवर्ष की ओर कूच किया। खोखर बड़ी वीरता से लड़े किंतु पराजित हुए और उनका दमन हुआ। मुईजुद्दीन ने लाहौर की व्यवस्था की और तत्पश्चात् ऐबक को दिल्ली जाने की अनुमति देकर गजनी के लिए प्रस्थान किया। गज़नी जाते हुए मार्ग में मुईजुद्दीन सिंध नदी के किनारे दमयक नामक स्थान पर रुका और नदी के किनारे एक हरे भरे शीतल स्थान अपना शिविर लगाया। जिस समय वह संध्याकालीन नमाज पढ़ रहा था कुछ हत्यारे छिप कर शिविर में घुस आए और 15 मार्च, 1206 ई. को उसकी हत्या कर दी।

तुर्क विजय का महत्व

मुईजुद्दीन का चरित्र और उपलब्धियां

सुल्तान मुईजुद्दीन मुहम्मद बिन साम के चरित्र और उपलब्धियों के विभिन्न मूल्यांकन किए गए हैं। वास्तव में उसकी सैनिक क्षमता की तुलना प्रायः अनजाने में ही सुल्तान महमूद से की जाती है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि एक सेनाध्यक्ष के रूप में वह महान गजनवी विजेता के समान कदापि नहीं था। मध्यएशिया की विस्तृत ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उसकी उपलब्धियां कम प्रभावशाली प्रतीत होती है। किंतु जैसा **प्रोफेसर हबीब** कहते हैं : तीन भयंकर पराजयों अर्थात अंदखुद, तरायन और अन्हिलवाड़ा का यह सेनानी अवश्य ही मध्य युग में एक महान साम्राज्य का संस्थापक था और इस दृष्टि से वह महमूद गजनवी से भी ऊंचा उठ गया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था की दुर्बलताओं ने जो जनसाधारण के आर्थिक और राजनीतिक जीवन में प्रतिबिंबित थीं, उत्तरी भारत की विजय सरल बना दी थी किंतु भारतवर्ष में तुर्क साम्राज्य की स्थापना में मुईजुद्दीन के योगदान के महत्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। एक महान दूरदृष्टि और योग्यता वाला सेनाध्यक्ष ही आक्सस से यमुना नदी तक के विस्तृत क्षेत्र पर सैनिक अभियानों का संगठन कर सकता था और एक सावधान, सतर्क, निर्भीक नियोजन ही यह संतुलन बनाए रख सकता था। उत्तरी भारतवर्ष की विजय कोई साधारण कार्य नहीं था। राजपूत शासकवर्ग ने उसका भीषण विरोध किया। मुईजुद्दीन ने परिस्थिति की समस्त चुनौतियों का बड़े अध्यवनाय और साहस से सामना किया और यद्यपि अधिकांश समय वह स्वदेश में रहा किंतु उसकी दृष्टि भारतवर्ष में अपनी सेनाओं की गतिविधियों पर जमी रहती थी।

हमारे विद्वान हमें मुईजुद्दीन की शासक के रूप में कोई सूचना नहीं देते। किंतु उस युग का सामान्य राजनीतिक और सांस्कृतिक वातावरण ध्यान में रखते हुए तथा जो साधन उसके पास उपलब्ध थे, उनके आधार पर अवश्य हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं। मुईजुद्दीन के पास विजित प्रदेशों पर सीधा शासन स्थापित करने के कोई साधन नहीं थे। अन्य समस्याओं के अतिरिक्त भाषा की अपार कठिनाईयां की होंगी। सुल्तान महमूद गज़नवी ने रावी नदी के इस पार साम्राज्य प्रसार का कोई प्रयत्न नहीं किया था। इसीलिए मुईजुद्दीन द्वार विजित क्षेत्र में मुस्लिम शासन की कोई परंपराएं नहीं थीं। किंतु एक बहुत महत्वपूर्ण परिस्थिति ने उसकी बड़ी सहायता की। महमूद के भारत में सैनिक कारनामों के उपरांत एक सौ पचास वर्षों में उत्तरी भारतवर्ष मे कुछ मुस्लिम राज्य स्थापित हो गई थीं। इन द्विभाषा–भाषी अल्पसंख्यक मुसलमानों की कुछ संख्या शासन व्यवस्था का प्रबध करने समर्थ [illegible] को अवश्य उपलब्ध रही होगी। पजाब से बंगाल तक विशाल प्रदेश के लिए किस प्रकार प्रशासकीय अधिकारियों [illegible] किया जाए? मुईजुद्दीन को गौर से उपयुक्त योग्यता वाले व्यक्ति नहीं मिल सकते थे और इसलिए उसे उच्च पदों [illegible] शासन में सावधानी से प्रशिक्षित गुलामों पर निर्भर होना पड़ा। उसमें यह समझने की क्षमता थी कि भारतवर्ष में विजित [illegible]

सीधा शासन करना असंभव है किंतु यदि वह प्रमुख रायों को नष्ट कर दे और ग्रामीण क्षेत्रों तथा नगरों को राणाओं और रावतों के अधिकार में छोड दे ताकि जनसाधारण को शासक के परिवर्तन का आभास न हो तो उसका शासन स्थाई हो सकता है। ऐसी परिस्थिति का एक परिणाम यह भी था कि गोरी केवल सामरिक महत्व के विशाल नगर तथा मुख्य व्यापारिक मार्ग ही नियंत्रण में रख सकते थे। इसके अतिरिक्त मुईजुद्दीन ने यह भी देखा कि प्रतिभाशाली रायों के बीच मैत्री उसके लिए असहनीय होगी। इसलिए उसने इस तरह युद्ध किया जिनसे उसमें एकता न हो सके। वह अनेक क्षेत्रों की अधूरी विजय से ही संतुष्ट हो गया और परिस्थिति को अंतिम रूप देने का प्रयास नहीं किया।

मुईजुद्दीन के चरित्र की दो उल्लेखनीय विशेषताएं यह थी कि वह अपने उद्देश्य में दृढ़ संकल्प था और उसे राजनीतिक परिस्थितियों की वास्तविकता का आभास रहता था। भारतवर्ष में वह दो बार अर्थात अन्हिलवाड़ा और तरायन में पराजित हुआ। किंतु कोई पराजय उसके उत्साह को समाप्त नहीं कर सकी। उससे निम्नतर तथा कम साहस का कोई भी सेनानी इन पराजयों से नष्ट हो गया होता। किंतु मुईजुद्दीन ने कोई पराजय नहीं समझी। उसने अपनी सेना का पुनर्संगठन किया और अपने समक्ष जो लक्ष्य रखा था उसे प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प कर पुनः वापस आया। वह अपनी पराजय के कारणों का निष्पक्ष भाव से विश्लेषण करता था और समय और परिस्थितियों की मांग के अनुसार अपनी नीतियों में परिवर्तन करता था। जब राजपूताना में उसका आक्रमण विफल हुआ तो वह अपनी योजना बदलने में बिल्कुल नहीं हिचकिचाया। वह कभी राजनीतिक अस्थिरताओं में छलांग नहीं लगाता था बल्कि बड़ी सावधानी और सतर्कता से अपनी स्थिति दृढ़ बनाते हुए, सभी परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए आगे बढ़ता था। ऐसे समय जब उसे स्वदेश में अनेक विरोधी शक्तियों का सामना करना था उसने अपने भारतीय साम्राज्य की समस्याओं की उपेक्षा नहीं की। जब वह भारतवर्ष में खोखरों का दमन कर रहा था उसी समय गज़नी में ट्रांगाक्सिपाना के अभियान की तैयारियां हो रही थीं और आक्सस नदी पर पुल बनाया जा रहा था। इस नदी के तट पर एक दुर्ग, जिसका आधा भाग पानी में था, बनाया ज चुका था। वास्तव में उसकी सामरिक नीति और नियोजन का विस्तार गंगा नदी से हरी रूद के विशाल क्षेत्र तक फैला था।

गोर के सांस्कृतिक विकास में भी मुईजुद्दीन का योगदान कम नहीं था। वास्तव में उसने और उसके भाई गयासुद्दीन ने ही गोर की सांस्कृतिक रूपरेखा में मौलिक परिवर्तन किया। उसने मौलाना फखरुद्दीन राजी के समान विद्वानों को उन पिछड़े क्षेत्रों में धार्मिक शेक्षा का प्रसार करने के लिए सुविधाएं प्रदान कीं और गोर को एक सांस्कृतिक और शैक्षणिक केंद्र बनाने में सहायता दी। वास्तुकला की परंपराओं के क्षेत्र में भी उसका कुछ महत्वपूर्ण योगदान है। यू. स्क्रेटो ने गज़नी में प्राप्त एक विशेष प्रकार के चमकीले खपरे मुईजुद्दीन के युग के ही बताए हैं।

मुईजुद्दीन की उत्तरी भारतीय विजय की जड़ें बहुत गहरी थीं। स्वाभाविक है कि उसे यह आभास नहीं हो पाया कि उसकी मृत्यु के चौहद वर्षों के भीतर ही उसके स्वदेशीय निवासियों का मंगोलों द्वारा नरसंहार होगा, एशिया की स्वंतत्र मुस्लिम शक्तियां लुप्त हो जाएंगी और दिल्ली मुगलों को चुनौती देने वाली एकमात्र सत्ता होगी। इन सबके साथ ही साथ एक प्रभावशाली विशाल आंदोलन अर्थात रहस्यवादी संप्रदायों का संगठन ('सिलसिला') विकसित हो रहा था, मंगोलों की विध्वंसात्मक क्रियाओं के तुरंत पश्चात् समस्त मुस्लिम संसार पर छा जाने वाला था। फ़ारसी भाषा में रहस्यवादी कविता का जन्म हिरात और गज़नी में उत्तरकालीन गजनवियों के युग में हुआ था। हरी रूद घाटी में फीरोजकोह से थोड़ी ही दूर चिश्त नामक नगर था जो एक ऐसे रहस्यवादी 'सिलसिला' का जन्मस्थान था जो उसी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिस समय मुईजुद्दीन भारतवर्ष की विजय की योजनाएं बना रहा था उसी समय उसके स्वदेश के सबसे प्रमुख नगरों गज़नी, हिरात, जाम, चिश्त और औश में रहस्यवादी विचारों का मनन किया जा रहा था और वहां मुस्लिम समाज के चारित्रिक और आध्यात्मिक विकास की तैयारियां हो रही थीं।

अभियानों के उद्देश्य

प्रायः गोरियों के अभियानों का उद्देश्य धार्मिक बताया जाता है। उपलब्ध विवरणों के सावधान विश्लेषण से यह धारणा निर्मूल सिद्ध होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सैनिक मुसलमान थे किंतु वे इस्लाम के प्रतिनिधि नहीं थे। संभव है कि कभी-कभी उनके कार्य धार्मिक प्रवृत्तियों से प्रेरित होते होंगे किंतु अधिकतर वे राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित होते थे। गोरियों ने भारतवर्ष में अपनी सत्ता का प्रसार उसी प्रकार किया जिस प्रकार फ़ारस या मध्येशिया में उन्होंने साम्राज्य प्रसार का प्रयत्न किया। वे हिंदुओं और मुसलमानों दोनों से समान रूप से लडे। इसकी अधिक संभावना है कि ख्वारज्मियों की भांति गोरियों की सेना का संगठन भी किराए के सैनिकों से हुआ था। विख्यात कवि सादी ने यह स्पष्ट किया है कि 'लश्करी' (व्यावसायिक सैनिक) अपने वेतन के लिए लड़ता है ने कि किसी राजा, देश या धर्म के लिए। मुईजुद्दीन तथा दिल्ली के प्रारंभिक तुर्क शासकों के व्यवहार से यह बात भलीभांति स्पष्ट हो जाती है। कुतुबुद्दीन ऐबक ने हिंदू अश्वारोही नौकर रखे और हिंदू अफसर नियुक्त किए थे। 1193 ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा अस्नी की विजय और उसकी व्यवस्था का उल्लेख करते हुए हसन निजामी ने उसके द्वार प्रत्येक दिशा में प्रदेशों और जनता पर शासन करने के लिए हिंदू राजाओं की नियुक्ति का उल्लेख किया है। दिल्ली और अजमेर के शासन प्रबंध में तत्काल कोई

परिवर्तन नहीं किया गया। धार्मिक कट्टरता और जोश के विपरीत राजनीतिक दूरदर्शिता ने उनका पथ प्रदर्शन किया। इब्नेअसीर के अनुसार अन्हिलवाड़ा भी हिंदू शासकों को वापस कर दिया गया था।

गोरियों की सफलता के फलस्वरूप धार्मिक जोश या कट्टरता से प्रेरित होकर प्रतिशोधात्मक कार्य नहीं किए गए। अजमेर विजय के उपरांत मुईजुद्दीन ने शासन प्रबंध करने हाथ में नहीं लिया अपितु उसे पृथ्वी राय के पुत्र के अधिकार में इस शर्त पर रहने दिया कि वह उसकी सत्ता स्वीकार करे। जब दिल्ली पर विजय प्राप्त हुई तो खांडे राय के उत्तराधिकारी को वहां शासन करने दिया गया। जब चौहानों ने पृथ्वी राय के पुत्र को आतंकित किया तो ऐबक ने उस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया किंतु उस राजकुमार को रणथंभोर का शासक बना कर संतुष्ट किया।

अता मलिक जुवैनी ने मुईजुद्दीन के अंतिम भारतीय अभियान का उल्लेख करते हुए सुल्तान के भारतीय अभियानों के उद्देश्यों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है:

> यद्यपि दोनों सुल्तानों (अर्थात ख्वराज्म शाह और शहाबुद्दीन) में संधि हो गई थी किंतु सुल्तान शहाबुद्दीन अपनी पिछली हार का बदला लेने के लिए सेना तथा हथियार एकत्रित कर रहा था और यह बहाना कर रहा था कि वह 'गजवा (धार्मिक युद्ध) करना चाहता है। यहां तक कि 602 हि./में उसने भारतवर्ष पर आक्रमण किया ताकि वह भलीभांति अपनी सेना सुसज्जित कर सके क्योंकि खुरासान में पिछले दो वर्षों के युद्ध ने उससे लगभग सब कुछ छीन लिया था और उसकी सेनाएं बड़ी दुर्दशा में थीं। जब वह भारतवर्ष पहुंचा तो अल्लाह ने उसे जो विजय प्रदान की वह उसकी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए पर्याप्त थी और उसने उसकी सेना सुव्यवस्थित कर दी।

तुर्कों की सफलता के कारण

तीन समकालीन इतिहासकारों **हसन निज़ामी, मिनहाजुस्मिराज,** तथा **फखेमुदब्बिर** में से प्रथम दो भारतवर्ष में तुर्कों की सफलता के कारणों के विषय में कुछ नहीं कहते यद्यपि उन्होंने अभियानों का उल्लेख किया है। आश्चर्य का विषय है कि उनकी दृष्टि में रणनीति, सैनिक चालें या अनय सामरिक स्पष्टीकरणों का कोई महत्व नहीं था। 'खुदा ने इस्लाम को विजय प्रदान की' या 'भीमदेव के पास अगणित सेना तथा असंख्य हाथी थे और जब युद्ध हुआ तो इस्लामी सेना पराजित हुई और उसे नष्ट कर दिया गया' इत्यादि वाक्यों का कोई महत्व नहीं है। **हसन निजामी** के वक्तव्य भी उतने ही औपचारिक हैं और वे हमारी सहायता नहीं करते। तुर्कों की विजय का **फखेमुदब्बिर** का विवरण भी लगभग इसी स्तर का है। किंतु **'आदाबुलहर्ब** नामक उसकी पुस्तक इस विषय में कुछ सहायक सिद्ध होती है। युद्ध का महत्वपूर्ण अंग होने के नाते उसका घोड़ों का विस्तृत वर्णन और सामंती सेना की कटु आलोचना तुर्कों की सैनिक शक्ति और भारतीय सेनाओं की दुर्बलता सामरिक दृष्टि से स्पष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त तुर्कों की सफलता पर प्रकाश डालने वाला कोई समकालीन स्रोत उपलब्ध नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि किसी मध्यकालीन इतिहासकार ने इस प्रश्न पर विचार तक नहीं किया है।

अंग्रेज इतिहासकारों ने, जिन्होंने मध्यकालीन भारतीय इतिहास को किसी परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है, बारहवीं शताब्दी में मुसलमानों की सफलता के कारण जानने का प्रयास किया। **एल्फिन्सटन** ने लिखा है : 'चूंकि उसकी (मुईजुद्दीन की) सेना में सैनिकों की भर्ती भारतवर्ष तथा आक्सस नदी के बीच समस्त लड़ाकू प्रांतों से की गई थी इसलिए हमें यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उन्हें स्वभाव से ही सरल एवं अहिंसात्मक प्रजा का जो छोटी–छोटी रियासतों में बंटी थी और जिन पर बिना किसी लाभ की आशा के युद्ध थोप दिया गया था, कठिन सामना करना पड़ेगा।' इसके अतिरिक्त **एल्फिन्सटन** यह भी भूल जाते हैं कि कम से कम राजपूत लोग जिनको तुर्कों का सामना करना पड़ा, साहस, सामरिक उत्साह और वीरता में कम नहीं थे।

सर जदुनाथ सरकार ने मुसलमानों की सफलता का विश्लेषण इस प्रकार किया है :

> इस्लाम ने अपने अनुयायियों को तीन विशेष सद्गुण प्रदान किए (जैसा कि एच. ए. एल. फिशर ने बताया है) जिनका किसी अन्य धर्म ने उतनी सफलता से प्रतिपादन नहीं किया है और उन्होंने अरबों, बर्बरों, पठानों तथा तुर्कों जैसे कुदरती सैनिकों को एक आश्चर्यजनक सामरिक कुशलता प्रदान की। ये थे : प्रथम, जहां तक वैधानिक स्थिति और धार्मिक विशेषाधिकारों का संबंध है पूर्ण समानता और सामजिक संगठन। इस प्रकार समस्त नस्ली एवं जातीय भेदभाव समाप्त हो गए और संप्रदाय एक दूसरे से मिल कर एक विशाल भ्रातृत्वपूर्ण कुटुंब में परिणत हो गए। द्वितीय, ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता से उत्पन्न भाग्यवाद और यह विश्वास कि अल्लाह की इच्छा समस्त मानवी प्रयत्नों से सर्वोपरि है। इस भावना ने युद्ध करते समय मृत्यु का भय नष्ट कर दिया। तृतीय, मद्यपान से मुक्ति। कुरान के अनुसार मद्यपान पाप है और मुसलमानों के देशों में दंडनीय अपराध है। इसके विपरीत मद्यपान ने राजपूतों, मराठों तथा अन्य हिंदू सैनिकों के

सर्वनाश कर दिया और उनकी दूरदर्शी सामरिक नियोजन, अकस्मात छापामार युद्धों का नेतृत्व, यहां तक कि अपने ही सैनिक शिविरों की आवश्यक सावधानी से रक्षा करने की क्षमता नष्ट कर दी।

तुर्कों की उत्तर भारत पर विजय संबंधी अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है तथा विभिन्न स्पष्टीकरण किए गए हैं। यह तर्क कि भारतीय इस कारण पराजित हुए कि वे शांतिप्रिय थे और उनमें युद्ध के प्रति बड़ी घृणा थी, ऐतिहासिक तथ्यों से सिद्ध नहीं होता। युद्ध राजपूतों का पेशा था और ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में भारतवर्ष का अंतर्देशीय इतिहास संघर्षों, युद्धों, पारस्परिक विरोधों और कलह की एक लंबी कहानी है।

तुर्कों की इस सफलता का कारण मुसलमानों के धार्मिक जोश में ढूंढ़ना भी अनैतिहासिक होगा। आदिकालीन अरब विजेताओं का धार्मिक जोश भी अब इन लोगों के लिए कोई प्रेरक उद्देश्य नहीं रह गया था। वास्तव में अधिकांश तुर्क जनजातियां, जो इस युग में भारतवर्ष आईं, पूर्णरूप से इस्लाम धर्म में परिवर्तित नहीं हो पाई थीं और उनके अनेक सरदार इस धर्म के विषय में अल्पज्ञ थे। इससे यह संभावना समाप्त नहीं होती कि जब तुर्क मूर्तिपूजक और बहुदेववादी प्रजा और संस्थाओं का सामना करने आए तो उनकी धार्मिक भावनाओं को भड़काने का प्रयत्न किया गया, चाहे वे कितनी ही अशुद्ध क्यों न रही हों। यह एक 'अस्थाई प्रवृत्ति' ही रही होगी न कि एक 'स्थाई उद्देश्य' या उनके अभियानों का प्रेरक तत्व।

भारतवासियों की पराजय का वास्तविक कारण उनकी सामाजिक व्यवस्था और घृणित वर्णात्मक विभिन्नता थी जिसने समस्त सैन्य संगठन को जर्जर और दुर्बल बना दिया था। वर्णात्मक निषिद्धि और भेदभावों ने सामाजिक या राजनीतिक एकता की भावना ही नष्ट कर दी थी यहां तक कि धर्म भी एक विशेष संप्रदाय का एकाधिकार बन गया था और भारतवर्ष की अधिकांश जनता को विजातीय भारतीय मंदिर की झांकी भी देखने की अनुमति नहीं थी। इस प्रकार जब भारतीय जनता को गोरी आक्रमणों का सामना करना पड़ा तो अधिकांश प्रजा में देशभक्ति की भावना भड़काने के लिए कुछ नहीं था। वह भारतीय शासकवर्ग का भाग्य शुष्क उदासीनता से देखते रहे। फलस्वरूप नगर पके हुए फलों की भांति गिरने लगे। केवल दुर्गों ने कुछ विरोध किया किंतु जब शत्रु ने ग्रामीण क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया तो वे निस्सहाय हो गए। यदि भारतीय शासक सुरक्षा योजनाओं में जनता का सहयोग प्राप्त करने में सफल हो जाते तो यही दुर्ग और गढ़ अपनी संपूर्ण आक्रमक शक्तियां एक स्थान पर संगठित कर महत्वपूर्ण सुरक्षा के केंद्र बन जाते। किंतु विद्यमान सामाजिक परिस्थितियों में ये दुर्ग सुरक्षा के लिए बेकार सिद्ध हुए और अपने ही क्षेत्रों की रक्षा न कर सके।

वर्ण व्यवस्था ने राजपूत राज्यों की सैनिक क्षमता नष्ट कर दी। चूंकि युद्ध करना एक वर्ग विशेष का ही पेशा था इसलिए सेना में भर्ती एक विशेष जनजाति या वर्ग तक ही सीमित थी। अधिकांश जनता को सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। छुआछूत की भावना ने सैनिकों में श्रम विभाजन असंभव कर दिया था और एक ही व्यक्ति युद्ध से लेकर पानी भरने तक अनेक कार्य करता था।

युद्ध सामरिक दृष्टि से भी भारतीय सेना मध्यएशिया में युद्ध कला में हुए विकास के प्रति सहायक नहीं थी। इस तथ्य के अतिरिक्त कि ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी में सामंती सेनाएं जिनसे भारतीय सेनाएं संगठित होती थीं, विशाल भारतीय सेनाओं का बहुजातीय बना देती थीं जिनका स्वरूप और निष्ठा समरूप नहीं होती थी, भारतीय तथा तुर्की सेनाओं के रणक्षेत्र में संगठन और युद्ध करने के सिद्धांतों में भी अंतर था।

उस युग में तुर्कों के सैन्य संगठन का मूल सिद्धांत था गतिशीलता। वह घोड़ों का युग था और अद्भुत गतिशीलता वाली सुसज्जित अश्वारोही सेना समय की सबसे बड़ी मांग थी। भारतीय सामरिक नीति शक्ति को गतिशीलता से अधिक महत्व देती थी। राजपूत तीव्रगति से क्रियाशील होकर आक्रमण करने के बजाय एक ही धावे में शत्रु को कुचलने पर अधिक विश्वास करते थे। विशाल, भारी भरकम सेनाओं के दल थे जिनमें भड़कीले वस्त्रों से सुसज्जित हाथी चलते थे और तीव्र और सरल गति से चलने वाली अश्वारोही सेना का सामना करते समय जो शत्रु की सेना पर बगल और पीछे से आक्रमण कर सकती थी, इनका पराजित होना अवश्यंभावी था।

भारतीय सेनाओं में इस गतिशीलता के तत्व का सर्वथा अभाव था। **सर जदुनाथ सरकार** लिखते हैं: 'इन सीमांत आक्रमणकारियों के हथियारों और घोड़ों ने उन्हें भारतीयों पर निस्संदेह सामरिक श्रेष्ठता प्रदान की। उनकी साज सज्जा भी द्रुतगामी ऊंटों पर ले जाई जाती थी जिन्हें अपने लिए किसी रातिब की आवश्यकता न होती थी। वे मार्ग में उपलब्ध पत्तियों और जड़ों से पेट भर लेते थे जबकि हिंदुओं की बंजारों द्वार प्रचलित बैलगाड़ी भारी भरकम और मंदगति से चलती थी।'

जैसाकि '**आर. सी. स्मेल**' ने बताया है गतिशीलता के बाद तुर्कों की सामरिक चालों की दूसरी विशेषता उनकी धुनर्विद्या थी। वे चलते–चलते घोड़ों की काठी पर बैठकर धनुष का प्रयोग करते थे। इससे उन्हें राजपूतों की भारी भरकम और मंदगति से चलने वाली सेनाओं की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त होता था।

तुर्क विजय का प्रभाव

गोरियों की उत्तर भारत विजय ने देश के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में धीरे–धीरे किंतु अवश्यभावी परिवर्तन किए। ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी के भारतवर्ष से जो अनेकदेशीय प्रणालियां थीं उनके विलयन् के लिए मार्ग बन गया। असीमित शक्तियों से विभूषित राजा द्वारा संचालित एक केंद्रीय राजनीतिक संगठन प्रारंभिक तुर्क सुल्तानों का राजनीतिक आदर्श था। सामंतवाद के लिए अपने दो मूल सिद्धांतों अर्थात शासन में स्थानीयता तथा सामंतों पर वैधिक नियत्रण से मुक्ति का राजतंत्र में कोई स्थान नहीं था और उसे नष्ट करने के लिए प्रभावशाली प्रयत्न किए गए। विभिन्न क्षेत्रों मे सामतवादी परंपराएं, तोड़ने और साम्राज्य के सुदूर स्थित प्रदेशों को केन्द्रीय व्यवस्था में जोड़ने के लिए 'इक्ता' प्रणाली का सहारा लिया गया।

गत अनेक शताब्दियों से भारतीय राय एक दूसरे से शरद ऋतु में युद्ध किया करते थे। युद्ध में शत्रु का वध करने का यश या मारे जाने की शुभ कामना के अतिरिक्त इस निरंतर 'धन और रक्त के विनाश' का एकमात्र तर्कसंगत औचित्य देश का प्रशासकीय एकीकरण हो सकता था। किंतु हर्ष के शासन के पश्चात् कोई भारतीय शासक उत्तर भारत का प्रशासकीय एकीकरण करने में सफल नहीं हुआ। अब विदेशियों के एक दल ने एक ही पीढ़ी में वह उपलब्धि प्राप्त कर ली जिसे किसी भी भारतीय शासक को पांच या छः शताब्दी पहले प्राप्त कर लेना चाहिए था। उन्होंने भारतवर्ष के अंतःस्थल में ही, जो ऐसा क्षेत्र था जिसकी जलवायु की प्रशंसा नहीं की जा सकती, राजधानी स्थापित कर वहां एक मीनार का निर्माण कर उसके सुशोभित किया था। उन्होंने दिल्ली शासन के अंतर्गत मुख्य–मुख्य नगर और विशाल मार्ग बनाकर देश में एक अखिल भारतीय शासन के लिए एक प्रशासनिक प्रणाली भी प्रदान की थी। गोरियों को तुर्कों की श्रेष्ठता इसी तथ्य में निहित थी कि जिन बड़े–बड़े रायों का स्थान उन्होंने ग्रहण किया उनके विपरीत वे एक साम्राज्यवादी या बड़े पैमाने पर शासन करने के मूल सिद्धांत जानते थे। राजा के उच्चपदीय अधिकारियों के लिए एक अखिल भारतीय सेवा तथा अपनी इच्छानुसार उनकी नियुक्ति, तैनाती, स्थानांतरण, पदोन्नति और पदच्युति, जिसे सतर्क विचार विमर्श और अपने उच्चाधिकारियों के परामर्श से किया जाता था, की अवधारणा पृथ्वीराय तृतीय के लिए अपने अधीनस्थ राज्यों के विषय में संभव न रही होगी।

उत्तर भारत में एक केंद्रीय राजतंत्र के उदय के साथ राजनीतिक क्षितिज में भी एक विशिष्ट परिवर्तन हुआ। राजनीतिक दृष्टिकोण विस्तृत होता गया और अलगाव की स्थिति कम होने लगी। सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं

> भारतवर्ष तथा सीमोत्तर एशियाई विश्व के बीच आदि बौद्धकालीन युग में जो घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ था वह उस समय टूट चुका था जब लगभग आठवीं शती ईसवी में भारतीय समाज का पुनर्गठन हुआ और सीमेंट से निर्मित एक सुदृढ़ भवन की भांति कठोर हो गया। फलस्वरूप भारतवर्ष पुनः स्वकेंद्रित और अपनी प्राकृतिक सीमाओं के भीतर स्थिति प्रगतिशील विश्व से अलग था। [illegible] के निचले प्रदेशों से [illegible] में मुस्लिम विजय ने स्थगित किया।

उत्तरी भारतवर्ष पर तुर्कों की विजय का एक महत्वपूर्ण पहलू वह था जिसे **प्रोफेसर हबीब 'नगरीय क्रांति'** कहते हैं। राजपूत युग के प्राचीन 'कुलीन नगरों' के द्वार ऊंच–नीच के भेदभाव बिना प्रत्येक वर्ग के लोगों, मजदूरों और कारीगरों हिंदुओं और मुसलमानों, चांडालों और ब्राह्मणों सबके लिए खोल दिए गए। तुर्क शासन ने सामाजिक भेदभावों और उस नागरिक जीवन का आधार वर्ण व्यवस्था को मानना अस्वीकर कर दिया। मजदूर वर्ग, श्रमिक, दस्तकार तथा अवर्ण तथा विशेषाधिकारहीन प्रजा ने तत्परता से नए नगरों के निर्माण में नई सरकार का हाथ बटाया। वास्वत में आरंभिक तुर्क सुल्तानों की मुख्य शक्ति इन्हीं नगरों पर आधारित थी जिन्होंने अपना समस्त अतिरिक्त श्रमिक वर्ग शासन की सेवा के लिए समर्पित कर दिया।

सैनिक दृष्टि से तुर्क विजय का प्रभाव भारतीय सेनाओं के स्वरूप और संगठन तथा सैनिक भर्ती और उसकी व्यवस्था के परिवर्तन में दृष्टिगत होता है। युद्ध केवल एक वर्ण अथवा वर्ग विशेष का एकाधिकार नहीं रह गया और सेना में भर्ती के द्वार सभी उचित प्रशिक्षण प्राप्त सैनिकों के लिए, जो युद्ध की कठिनाइयां सहन कर सकते थे, खोल दिए गए। इस प्रकार ऐसी भारतीय सेनाओं का गठन हुआ जिनमें सामरिक कुशलता समस्त साधनों से वर्ण, धर्म या रंग के भेदभाव बिना ली जाती थी। सामंती सेनाओं की परम्परा त्या दी गई और उनके स्थान पर शक्तिशाली स्थाई सेनाओं का संगठन किया गया, जिनकी भर्ती वितरण और व्यवस्था केवल केंद्रीय शासन द्वारा की जाती थी। इसी प्रकार सामरिक चालों के क्षेत्र में भी तुर्कों ने सैनिक दृष्टि से भारतवर्ष को तत्काल मध्येशियाई शक्तियों के समानांतर बना दिया। पायक (पदाति सैनिक) 'सवारने मुकाबला (अश्वारोही लड़ाकू सैनिक) में बदल दिए गए और भारी भरकम सेनाओं और उनकी दलन शक्ति के स्थान पर गतिशीलता तथा आक्रमक क्षमता सैन्य संगठन के सिद्धान्त बन गए। वास्तव में यही पुनर्गठित सेनाएं देश पर मंगोल आक्रमण रोकने में सफल हुई

बाह्य विश्व से संपर्क स्थापित होने ओर नए 'श्रमिक वर्गीय' नगरों के उदय के साथ ही व्यापार को नया प्रोत्साहन मिला। वैधिक प्रणाली की एकरूपता, एक संबंधी नियम और मुद्रा ने व्यापारियों का क्षेत्र बढ़ा दिया और एक स्थान से दूसरे स्थान तक गतिशीलता में सुविधा की व्यवस्था की।

एक अन्य अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र, जिसमें तुर्क विजय का प्रभाव पड़ा था वह प्रशासकीय भाषा थी। राजपूत युग में प्रशासन तथा अन्य कार्यों में उपयुक्त बोलियां और भाषाएं प्रत्येक प्रदेश में भिन्न-भिन्न थीं। भारतवर्ष में गोरियों से अधिकृत समस्त प्रदेशों में उच्चवर्गीय प्रशासन में फ़ारसी भाषा के प्रचलन से प्रशासकीय भाषा में एकरूपता आई। तुर्कों के योगदान का यह पक्ष ध्यान में रखते हुए अमीर खुसरो लिखते हैं :

> किंतु भारतवर्ष में फ़ारसी बोली (**गुफ्तार**) सिंध निदी के तट से समुद्र तक एक समान है। इतनी महान भाषा हमारी बोलचाल का माध्यम है और हमारी यह फ़ारसी भाषा मूल फ़ारसी भाषा (दरी) है। प्रत्येक सौ कोस पर भारतीय बोलियां बदल जाती हैं किंतु लगभग चार हजार फ़र्सग के क्षेत्र में फ़ारसी भाषा वही है...। यह वह फ़ारसी भाषा है जिसमें शब्दों का उच्चारण उनके वर्ण विन्यास के समोचित है।

तुर्कों के भारतवर्ष पर आक्रमण के समय भारत में मुसलमान बस्तियों के अस्तित्व का वर्णन मिलता है। तुर्क विजेताओं का इन मुसलमान बस्तियों के प्रति और इन मुसलमान बस्तियों का तुर्क विजेताओं के प्रति क्या व्यवहार था? इस प्रश्न पर हमारे आधार स्त्रोत बिल्कुल मौन हैं। किंतु **अमीर खुसरो** ने दक्षिण के मुसलमानों के रूख् का कुछ आभास हमें दिया है। जब मलिक काफ़ूर के नेतृत्व में अलाउद्दीन खल्जी की सेना ने राय वीर पांड्या के राज्य पर आक्रमण किया तो जो मुसलमान उसकी सेवा में थे वे आक्रमणकारियों से लड़े किंतु जब राय ने भाग जाने का निश्चय किया तो उसके मुसलमान सैनिकों को आत्मसमर्पण करना पड़ा। उत्तर भारत के मुसलमानों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। यदि वे विजेताओं के विरोध में लड़े होते या उनकी सहायता की होती तो इसकी अवश्य उल्लेख किया गया होता। चूंकि भारतीय मुसलमान शासकों की सेवा में नहीं थे इसलिए उनके विषय में हमारे आधारों के मौन से दो तथ्य स्पष्ट हैं। एक यह कि उन्होंने संघर्ष में किसी पक्ष की ओर से कोई भाग नहीं लिया और दूसरे यह कि वे किसी महत्वपूर्ण पद के लिए योग्य नहीं समझे गए। आरंभिक तुर्क सुल्तानों के अंतर्गत इस नियम का एकमात्र अपवाद इमादुद्दीन रैहान था और उसकी अल्पकालीन जीवनचर्या तथा पतन इस बात का प्रमाण है कि तुर्क दास अधिकारी 'भारत की जाति' के व्यक्तियों से कितनी घृणा करते थे। फिर भी दिल्ली के शासक उनकी सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकते थे। उन समुदायों का, जिनसे सैनिकों और अश्वारोहियों की भर्ती होती थी 'हिंदुस्तानियों' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है और इस संज्ञा में हिंदुस्तानी मुसलमान अवश्य ही सम्मिलित रहे होंगे।

हम भाषा की समस्या की भी अवहेलना नहीं कर सकते। उत्तर भारत की सभी 'प्रांतीय भाषाएं' मध्य युग में उत्पन्न हुईं। इल्तुतमिश के समय में वे भाषाएं जो बोली जाती थीं किंतु लिपिबद्ध नहीं थीं, प्रत्येक तीन या चार जिलों के बाद बदल जाती थीं। तुर्की भाषा परिपक्व नहीं थी और अरबी बहुत कम लोग जानते थे। संपूर्ण भारत के हिंदू एक दूसरे की बात संस्कृत के ही माध्यम से समझ सकते थे। दिल्ली शासन के समक्ष फ़ारसी शासकीय भाषा के रूप में प्रयोग करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। किंतु भारतवर्ष की स्थानीय भाषाएं केवल वही लोग जानते थे जिन्होंने उन्हें मातृभाषा के रूप में सीखा था या जो उस क्षेत्र में दीर्घकाल से निवास कर रहे थे। उन्हें प्रशिक्षित अध्यापक, कोश या व्याकरण उपलब्ध नहीं थे। हम यह सोच भी नहीं सकते कि प्रारंभिक तुर्क सुल्तानों ने कैसे भारी संख्या में भारतीय मुसलमान दुभाषिए नौकर रखे बिना विशाल उत्तर भारत पर शासन किया होगा। आरंभ में वही उपलब्ध दुभाषिया समुदाय था।

बारहवीं शताब्दी के भारतवर्ष का एक समग्र सर्वेक्षण करने के पश्चात् हम निर्विवाद रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वर्ण व्यवस्था और छुआछूत की विचारधारा ने ही देश की प्रगति रोक रखी थी और सामाजिक अराजकता तथा राजनीतिक विषमता को उत्तर भारत में जन्म दिया। तुर्क विजय ने इस प्रणाली पर भीषण कुठाराघात किया और स्वाभाविक रूप से ऐसे तत्वों की सहायता प्राप्त की जो पिछली सामाजिक व्यवस्था से पीड़ित थे। 'तुर्क सत्ता का भारतवर्ष में दीर्घकाल तक स्थापित रहना और उसके प्रभाव तथा राजनीतिक शक्ति का निरंतर प्रसार तभी स्पष्ट हो सकता है जब हम यह मान लें कि भारतीय जनता ने तुर्क शासन स्वीकार कर लिया था। यदि भारतीय जनता ने उनके शासन का विरोध किया होता तो गोरी भारतवर्ष की एक इंच भूमि पर भी अधिकार नहीं रख सकते थे।'

अध्याय-3

13वीं–14वीं सदी में सल्तनत : *(क) विजय एवं विस्तार, (ख) शक्ति की स्थापना व सुदृढ़ीकरण*

13th and 14th Century Sultanate : (a) Conquests and Expansion (b) Consolidation and Construction of Power

तुर्क मध्य एशिया के सभ्य हिस्सों में न केवल जाने–माने स्थायी आवास वाले या व्यापरिक क्षेत्र में ही सक्रिय थे, बल्कि कई स्थानों पर तो वे विद्यमान सैनिक प्रशासनिक तंत्र में बहुत प्रभावशाली पदों पर भी रहे। आठवीं शताब्दी के आरम्भ में ट्रांसआक्सियाना को जीतने वाले अरबों ने तुर्कों को जैकसार्टस के पार खदेड़ दिया और मवारउन्नहर को बर्बरों के हमलों के खिलाफ एक ढाल के रूप में परिवर्तित कर दिया। लेकिन, अंत में तुर्कों को सिपाहियों के रूप में नियुक्त करने के विचार से अरब भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। कठोर घासस्थलीय पृष्ठभूमि तुर्कों को एक सहज योद्धा बनाती थी। प्रशिक्षण और अनुशासन के द्वारा उन्हें प्रथम दर्जे का योद्धा बनाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त, उन्हें किसी और आवश्यक वस्तु की तरह खरीदा भी जा सकता था। ट्रांसआक्सियाना में और उसके आसपास के बाजारों में मध्यएशिया के घासस्थलों और मवारउन्नहर के उत्तर मे पड़ने वाले मैदानों से पकड़कर लाए गए गुलामों की भरमार रहती थी।

उमैय्यदों (661-750 ई.) के अधीन सेना में भर्ती लगभग पूरी तौर पर अरबों तक सीमित थी। परन्तु 750 ई. में उमैय्यदों का स्थान पर अब्बासिदों के आ जाने के बाद सेना में अरबों का एकाधिकार जाता रहा। खलीफा मुतस्सिम (833-842 ई.) अपने आस पास तुर्की गुलामों का एक बड़ा लश्कर रखने वाला और उसे अपनी सेनाओं का आधार बनाने वाला पहला शासक था। उन्हे एक स्पष्ट और अलग पहचान देने के लिए तुर्की सेना को स्वदेशी लोगों से काफी दूर रखा जाता था। इस तरह उसने एक ऐसा सैनिक वर्ग खड़ा किया जिसका काम महल के झगड़ों में या किसी राजनीतिक अथवा धार्मिक आंतरिक झगड़ों में हिस्सा लिए बिना खलीफा और राज्य की रक्षा करना था। लेकिन हुआ इसके विपरीत। राज्य के संचालन में इस वर्ग का हस्तक्षेप इस सीमा तक बढ़ गया कि वह अधिकाधिक विनाशकारी होता गया।

अब्बासीद खलीफाओं की ताकत कमजोर पड़ने के साथ इस्लामी दुनिया पर उनका नियंत्रण बस फरमान जारी करने तक ही सीमित और नाममात्र का रह गया। इसके फलस्वरूप दसवीं शताब्दी में कई छोटे–छोटे स्वाधीन राज्य उठ खड़े हुए – ताहिरिद, सफ़विद, बुवाईहीद, समानीद आदि।

समानीद गवर्नर और तुर्की मूल के गुलाम अलप्तगीन ने गज़नी में एक स्वाधीन राज्य की स्थापना की। गजनवी राज्य महमूद गजनवी (998-1030 ई.) के समय में गज़नी शासन के तहत ईरानी प्रभाव अपने चरम पर पहुंच गया। महमूद अपने आपको इरानी नायक अफरासियाब का वंशज होने का दावा करता था। इस प्रक्रिया ने तुर्कों का पूरी तौर पर इस्लामीकरण और ईरानीकरण कर दिया। महमूद ने भारत में भी बारंबार हमले किए। इसके परिमाणस्वरूप पंजाब गजनवी साम्राज्य का एक हिस्सा बन गया।

महमूद की मृत्यु के बाद शक्तिशाली सैलजुक उभरे। उन्होंने जल्दी ही ईरान, सीरिया और ट्रांसआक्सियाना पर कब्जा कर लिया। इन घटनाओं से गजनवी ताकत को गहरा धक्का लगा जो गज़नी व पंजाब के हिस्सों तक सीमित होकर रह गई। बारहवीं शताब्दी में, सैलजुकों की ताकत को तुर्की कबीलों के एक गुट ने नष्ट कर दिया। सैलजुकों के नष्ट होने से जो शून्य बना उसमें ख्वारिज्मी और उत्तर–पश्चिम अफगानिस्तान में गौर शक्ति को जन्म दिया। गौर गज़नी के सामन्त थे। दूसरा का शासकों की शुरूआत शानदार रही। उन्होंने गज़नी और लगभग समूचे मध्यएशिया और ईरान को अपने अधिकार क्षेत्र में इन परिस्थितियों में गौरियों के लिए ख्वारिज्मी ताकत की कीमत पर विस्तार करना सभव नहीं था। भारत ही एक रास्ता बची था। विस्तार की इस प्रक्रिया की शुरूआत बारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षो में हुई।

दिल्ली सल्तनत के इतिहास में (सन् 1206 से 1290 तक का समय) निर्माणात्मक एवं चुनौतियों से भरपूर रहा। इस काल की विशेषता यह थी कि जहा एक ओर गौर वश के शासक वर्ग मे आंतरिक बहु–केन्द्रित संघर्ष था, वही तुर्कों को राजपूत विद्रोहो क विरूप संघर्ष भी करना पड़ा।

विजय विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण

सन् 1206 ई. में मुईजुद्दीन मुहम्मद की मृत्यु के समय तक तुर्कों ने विशिष्ट वैयक्तिक प्रयासों के बल पर बंगाल में लखनौती तक, राजस्थान में अजमेर और रणथम्भौर तक, दक्षिण में उज्जैन की सीमाओं तक एवं सिन्ध में मुल्तान और उच्छ तक अपने शासन का विस्तार कर लिया था। किन्तु उन्हें बहुत सी आंतरिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा और लगभग सौ वर्षों तक उनका साम्राज्य क्रमोवेश ज्यों का त्यों बना रहा। तुर्कों के समक्ष अनेक आंतरिक और बाह्य कठिनाईयां थी। सबसे पहले तो उन्हें कुछ सत्ताच्युत शासकों, विशेषकर राजस्थान और बुंदेलखंड एवं निकटवर्ती क्षेत्रों जैसे बयाना और ग्वालियर के राजपूत सरदारों द्वारा अपने पूर्व राजक्षेत्रों की पुनर्प्राप्ति के लिए किए जाने वाले प्रयासों से निपटना था। यद्यपि उनका साथ संघर्ष में दोनों पक्षों की शक्ति एवं संसक्ति के अनुसार अनेक उतार–चढ़ाव आए, किन्तु राजपूतों ने कभी भी एकजुट होकर भारत से तुर्कों को बाहर निकालने का प्रयास नहीं किया। न ही गंगा घाटी अथवा पंजाब में तुर्कों के विरुद्ध कोई गंभीर विद्रोह हुआ–इसका एकमात्र अपवाद मुईजुद्दीन के शासन के दौरान पंजाब में खोखरों का विद्रोह था। अतः राजपूत शासकों द्वारा अपने–अपने राज्यों को पुनः प्राप्त करने हेतु व्यक्तिगत स्तर पर संचालित इन युद्धों को तुर्कों के प्रति 'हिन्दू प्रतिक्रिया' की संज्ञा देना शायद ही उचित हो।

दूसरे, तुर्कों के तुर्क अमीरों के बीच की गुटबंदी से निपटने में काफी समय और शक्ति खर्च करनी पड़ी। इस गुटबंदी के कारण केन्द्र में अक्सर राजनीतिक अस्थिरता का दौर आरम्भ हो जाता था। कुछ तुर्क अमीरों ने अपनी अलग ही स्वतन्त्र सत्ता कायम करने की कोशिश की। उदाहरणार्थ, मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी और उसके उत्तराधिकारियों ने लखनौती और बिहार को दिल्ली के नियंत्रण से मुक्त रखने का प्रयास किया। मुल्तान व सिंध में भी प्रबल अलगाववादी प्रवृत्तियां विद्यमान थीं। कुछ समय तक तो लाहौर और दिल्ली के अमीरों के बीच सत्ता के लिए संघर्ष चलता रहा। यदा–कदा कुछ शक्तिशाली गवर्नरों (इक्तादारों) ने भी दिल्ली की अवज्ञा करने अथवा उसे चुनौती देने की कोशिश की। इस प्रकार क्षेत्रीय तत्व प्रबल होने लगे।

इस काल के दौरान मध्य एशियाई राजनीति में भी कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिन्होंने भारत को भी प्रभावित किया। ऐबक ने लाहौर की राजगद्दी संभाली और कुबाचा ने मुल्तान व उच्छ पर अपना नियंत्रण कायम किया। दोनों एक दूसरे के विरुद्ध, विशेषकर पंजाब पर नियंत्रण हेतु, संघर्षरत रहे। कुछ समय बाद मर्व, जो मध्यएशिया में सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य था, के शासक ख्वारिज्म शाह ने गौर और गज़नी को रौंद डाला। किंतु इसके पहले कि ख्वारिज्म शाह गौर और गज़नी में अपने पांव मजबूत कर पाता एवं भारत की ओर बढ़ाने की सोच पाता उसे कहीं अधिक बड़े खतरे का अर्थात् मंगोलों का सामना करना पड़ गया।

मंगोल शासक चंगेज खान सन् 1218 में मावरउन्नहर एवं खुरासान में प्रकट हुआ और कालान्तर में मंगोल साम्राज्य चीन से लेकर मध्य यूरोप में सैक्सनी तक फैल गया। मंगोलों ने मध्य और पश्चिम एशिया में अपना प्रतिरोध करने वाले शहरों व नगरों को ध्वस्त कर दिया। कहीं–कहीं नरसंहार करने के बाद उन स्थानों को मिट्टी में मिला दिया; सिर्फ शिल्पकारों की जान बख्शी गई जिन्हें स्त्रियों व बच्चों के साथ–साथ दास बना लिया गया। मंगोल शासन के अन्तर्गत मध्य और पश्चिम एशिया के एकीकरण के कारण व्यापार और वाणिज्य का सुचारू रूप से संचालन होने लगा और धीरे–धीरे शहर तथा शहरी जीवन पुनर्जीवित होने लगे।

मंगोलों का उदय एवं गौर की प्रशिक्षित सेना के समर्थन और सहायता का अभाव ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य थे जिनके कारण दिल्ली के आरम्भिक तुर्क शासक अपने राजक्षेत्र का और अधिक विस्तार करने के प्रयास न कर सके। दूसरी ओर, मुईजुद्दीन की मृत्यु (1206 ई.) के बाद गौर और गज़नी के साथ संबंध विच्छेद ने उन्हें मध्य एशियाई मामलों में उलझने से बचा दिया एवं भारत में अपने ही संसाधनों, अभिरुचियों व नीतियों के अनुरूप विकास करने में सक्षम बनाया। इस प्रकार तुर्क शासक भारत में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने एवं ऐसी संस्थाएं और पद्धतियां विकसित करने के लिए बाध्य हुए जो उनकी आवश्यकताओं के साथ ही साथ इस देश की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुकूल भी हों। फलतः उत्तर भारत में एक धीरे–धीरे नई सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था का उदय हुआ।

जहा तक शासक वर्ग का सबध है **जियाउद्दीन बरनी** ने बल्बन के राज्यारोहण से पूर्व का युग दो भागों मे विभाजित किया है। यद्यपि ऐबक और इल्तुतमिश स्वयं तुर्क दास अधिकारी थे किन्तु उन्होंने अपने तुर्क दास अधिकारियों और सम्मानित कुटुंबों के तुर्क

तथा फारस के अधिकारियों में जो भारतवर्ष में उच्च पदों पर नियुक्ति की आशा से आए, कुछ न कुछ संतुलन अवश्य रख [illegible] यह शासक के हित में था कि समस्त उच्च पद किसी एकाधिकारी दल के हाथ में न जा जाए जो शासक की [illegible] छीनने में सफल हो जाए।

दूसरे दौर का सबसे सक्रिय व षडयन्त्रकारी व्यक्तित्व बहाउद्दीन बल्बन था। इल्तुतमिश की मृत्यु के समय वह एक [illegible] था किन्तु जब इल्तुतमिश का पौत्र नसिरूद्दीन महमूद गद्दी पर बैठा तो सिंहासन के पीछे वही वास्तविक शक्ति था। [illegible] के वास्तविक सत्ता प्रयोग करने के सभी प्रयत्न विफल कर दिए और अंत में उसे विष देकर स्वयं गद्दी पर बैठ गया। [illegible] शासक के रूप में उसने अपनी नीति ही बदल दी। खुले रूप से उन दास अभिजातीय सरदारों के विरुद्ध कटार का प्रयोग किया जाने लगा जो शासक के सर्वसत्ताधिकार के विरोधी थे।

मुईजुद्दीन गौरी की मृत्यु के समय ऐबक की स्थिति क्या थी, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। क्या गौरी ने तरायन के युद्ध के [illegible] पश्चात् ऐबक को भारतीय साम्राज्य पर अपना वाइसराय नियुक्त किया था या वह धीरे–धीरे केवल अपने उद्यम और [illegible] उपलब्धियों के फलस्वरूप बाद में उस स्थिति पर पहुंचा। **ताजुलमआसिर** के आधार पर हबीबुल्ला लिखते हैं कि दिल्ली के [illegible] इंदरपत में कुतुबुद्दीन ऐबक के नेतृत्व में एक अधिकृत सेना नियुक्त की गई जिसे मुईजुद्दीन के प्रतिनिधि की भांति कार्य करना था। **फर्रुख मुदब्बिर** के अनुसार 1206 ई. में जब मुईजुद्दीन खोखरों का दमन कर गज़नी वापिस जा रहा था तो औपचारिक रूप से ऐबक को वाइसराय की शक्तियां प्रदान की गई। मलिक के पद पर उसकी पदोन्नति की गई और उसे भारतीय साम्राज्य का 'वली अहद' (उत्तराधिकारी) नियुक्त किया गया। 'दोनों वक्तव्य ऐसी परिस्थिति को पूर्वव्यापी सिद्ध करने को प्रयत्न करते हैं जो बहुत बाद में उत्पन्न हुई। ऐबक 'वली अहद' कभी नहीं नियुक्त किया गया। न तो तरायन के युद्ध के पश्चात और न खोखर के अभियान के पश्चात वह ऐसी स्थिति थी जिसे उसने अपने स्वामी की मृत्यु के पश्चात राजनयिक और सैनिक दोनों दृष्टियों से कठिन संघर्ष द्वारा प्राप्त किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने भारतीय साम्राज्य के विषय में मुईजुद्दीन ने जिस प्रशासनिक व्यवस्था की कल्पना की थी वह अपने मातहत तीन (या अधिक) स्वतंत्र अधिकारियों की थी। उसने अपने सभी तुर्क दास अधिकारियों को ऐबक के व्यापक नियंत्रण में नहीं रखा। चूंकि उसकी आकस्मिक मृत्यु हुई, उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने या साम्राज्य की एकता बनाए रखने के लिए कोई शासन व्यवस्था स्थापित करने का अवसर ही नहीं मिला। हम यही कह सकते हैं कि उसे अपने कुटुंब के किसी व्यक्ति या गैर के किसी जनजातीय सरदार पर विश्वास नहीं रह गया था और यह कि अपना सुदूर स्थित साम्राज्य बनाए रखने के लिए बहिष्करण की प्रक्रिया द्वारा वह केवल अपने 'दासों' पर विश्वास कर सकता था। अचानक उसके तीन प्रमुख दासों अर्थात यल्दौज, कुबाचा और ऐबक ने स्वयं को एक समान स्थिति में पाया। मुहम्मद बख्तियार खिलजी का भी कोई स्वामी नहीं रह गया। जहां तक अली नागौरी और बख्तियार खिलजी का संबंध है ऐबक का उनकी उपलब्धियों की सराहना करना या तो औचित्य पर आधारित था या संयोगवश। उन पर उसका कोई वैधानिक नियंत्रण नहीं था। इसके अतिरिक्त जिस विधि से ग्वालियर के राय ने बहाउद्दीन तुगरिल की परवाह न करते हुए ऐबक से संधिवार्ता की उससे यह स्पष्ट होता है कि मुईजुद्दीन के इन दोनों अधिकारियों की स्थिति समान और स्वतंत्र थी। मुहम्मद बख्तियार ने पूर्वी प्रदेशों में जो कार्य किए वह मुईजुद्दीन के एक स्वतंत्र अधिकारी के रूप में किए। जब तिब्बत के अभियान का अंत एक महान दुर्घटना में हुआ और मुहम्मद बख्तियार अपनी मृत्यु–शय्या पर हताश, कुंठित और दुखी पड़ा था तो बार–बार उसके विचार अपने स्वामी की ओर जाते थे : 'संभवतः मेरे स्वामी सुल्तान मुईजुद्दीन के साथ कोई दुर्घटना हुई है जिसके फलस्वरूप भाग्य ने मेरा साथ छोड़ दिया है।' उसने कभी ऐबक की चर्चा नहीं की और उसके विषय में सोचा तक नहीं केवल इसी कारण की वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी प्रकार उसके अधीन नहीं था। वास्तव में यदि मुहम्मद बख्तियार बच जाता और बंगाल तथा बंगाल में अपनी विजयों को संगठित कर लेता तो वह ऐबक की शक्ति के लिए सचमुच एक चुनौती बन जाता।

भारत में मुईजुद्दीन के उत्तराधिकारी विषयक जो अनिश्चित स्थिति उत्पन्न हुई उसके स्पष्ट कारण थे। मुईजद्दीन अपने कुछ [illegible] बड़ा निराश हुआ जैसा कि उसके गयासुद्दीन के पुत्र महमूद के दावों की उपेक्षा करने और फीरोजकोह का अलाउद्दीन [illegible] (गयासुद्दीन के जामाता) को प्रदान किए जाने से स्पष्ट है। उसे गोरी सरदारों से भी बड़ी निराशा हुई जो पहले [illegible] उसके बाद अदखुद में उसका साथ छोड़कर भाग गए थे। उसका यह कथन कि उसके दास उसके पुत्र हैं और [illegible] उत्तराधिकारी होंगे यह दर्शाता है कि उसका अपने कुटुंब के लोगों और गोरी अधिकारियों पर कितना अविश्वास [illegible] था। इस पृष्ठभूमि में समस्त स्थिति को देखना चाहिए। उसकी आशाएं उसके दासों पर आधारित थीं। [illegible]

सुल्तान मुईज़ुद्दीन को तुर्क दास खरीदने की प्रबल इच्छा रहती थी और उसने बहुतेरे दास खरीदे। उसके तुर्क दासों में प्रत्येक ने साहस, रणकौशल और आत्म बलिदान में पूर्व के सभी देशों में बड़ा यश प्राप्त किया और उसके दासों का नाम समस्त संसार में प्रसिद्ध हो गया। । सुल्तान मुईज़ुद्दीन ने यल्दौज को जब खरीदा था वह छोटा ही था। उसे आरंभ से जिम्मेदारी के काम सौंपे और उसे तुर्क दासों के सरदार के पद पर उन्नति प्रदान की थी। जब वह बड़ा हुआ तो उसे किर्मान और सकरान की इक्ता प्रदान की गई। सुल्तान के आदेशानुसार यल्दौज की एक पुत्री का विवाह कुतुबुद्दीन एबक से और दूसरी का नासिरूद्दीन कुबाचा से हुआ था।

ऐसा प्रतीत होता है कि मुईज़ुद्दीन ने यल्दौज या अपने अन्य किसी वरिष्ठ दास को मुक्त नहीं किया था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मुईज़ुद्दीन के मन में अंतिम व्यवस्था की क्या रूपरेखा थी। अपने अंतिम अभियान में पूर्व यल्दौज को गज़नी में और ऐबक को भारतवर्ष में उत्तराधिकारी बनाने का उल्लेख प्रतिद्वंदी पक्षों द्वारा बाद की मनगढ़ंत बात प्रतीत होती है जिसका उद्देश्य सत्ता के लिए हो रहे संघर्ष में अपनी स्थिति की वैधानिकता सिद्ध करना था। वास्तविक स्थिति यह प्रतीत होती है कि मुईज़ुद्दीन की मृत्यु ने यल्दौज, ऐबक और कुबाचा को सत्ताधिकार के संघर्ष के लिए छोड़ दिया और निर्णय योग्यतम उत्तरजीवी के लिए निश्चित किया। इसलिए ऐबक को अपनी स्थिति की मान्यता के लिए कठिन प्रयास करना पड़ा।

मुईज़ुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् लाहौर के नागरिकों ने ऐबक को दिल्ली से बुलाया और उससे यह प्रार्थना की कि वह संप्रभु सत्ता ग्रहण करे। किंतु जब उसका मुख्यालय दिल्ली में था तो उसे लाहौर क्यों बुलाया गया? ऐसा इसलिए हुआ होगा कि लाहौर अधिकाधिक खतरे में था। ऐबक ने तुरंत स्थिति समझ ली और अपना मुख्यालय लाहौर स्थानांतरित कर दिया।

यद्यपि ऐबक निश्चित रूप से मुईज़ुद्दीन गोरी के वरिष्ठ दासों से सबसे योग्य था किन्तु एक स्वतंत्र शासक के रूप में उसे बहुत समय बाद मान्यता प्राप्त हुई। वास्तव में उसका अनौपचारिक राज्यारोहण 25 जून 1206 ई. को हुआ जबकि उसकी सत्ता की मान्यत और संभवतः मुक्तिपत्र औपचारिक रूप से 1208-09 ई. में प्राप्त हुए। इन तीन वर्षों की अवधि में उसे मलिक और सिपहसालार की पदवी से ही संतुष्ट रहना पड़ा और संभवतः इसी कारण वह अपने नाम के सिक्के प्रचलित नहीं कर सका। उसकी वैधानिक स्थिति की मान्यता में विलंब का कारण यह था कि गोरी राजनीति में कुछ जटिलताएं उत्पन्न हो गई थीं जिनका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है।

जब सुल्तान मुईज़ुद्दीन का जनाजा दमयक से गज़नी के लिए चला तो उसके तुर्क दासों ने सुल्तान की अर्थी और उसके कोष पर अधिकार कर लिया और सारे गोरी अमीरों तथा मलिकों को बलपूर्वक दूर रखा गया। जब शव किर्मान पहुंचा तो मुईज्जी दासों की शक्ति और बढ़ गई क्योंकि यल्दौज ने शव गज़नी तक सुरक्षित पहुंचाने के लिए मुअय्यदुल मुल्क मुहम्मद अब्दुल्ला संजरी को नियुक्त किया। शव के गज़नी पहुंचने के दो दिन के भीतर ही गोरी अमीरों और मुइज्जी दासों में मुईज़ुद्दीन का उत्तराधिकारी चुनने के प्रश्न पर झगड़ा उत्पन्न हो गया। गोरी अमीरों ने बामियान शाखा अर्थात बहाउद्दीन साम के पुत्रों जलालुद्दीन अली और अलाउद्दीन मुहम्मद का समर्थन किया। मुइज्जी दासों ने गयासुद्दीन मुहम्मद के पुत्र तथा मुईज़ुद्दीन के भतीजे सुल्तान गयासुद्दीन महमूद को प्राथमिकता दी। अन्य कारणों के अतिरिक्त मुइज्जी दासों ने महमूद का समर्थन इसलिए भी किया होगा कि वह दिवंगत सुल्तान का वैध उत्तराधिकारी था और इस नाते दासों सहित उसकी समस्त संपत्ति का अधिकारी था और वही उन्हें वैध मुक्तिपत्र दे सकता था। गोरी अमीर अलाउद्दीन मुहम्मद को बामियान से बुलवाया और उसे गज़नी में सिंहासनारूढ़ कर दिया। उसने व उसके भाई जलालुद्दीन ने मुईज़ुद्दीन का कोष आपस में आधा–आधा बांट लिया और दोनों को 250 ऊंटों के बोझ के बराबर सोना, रत्नजटित वस्तुएं और सोने चांदी के वर्तन प्राप्त हुए। जलालुद्दीन अपना भाग बामियान ले गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि मुइज्जी दासों ने अलाउद्दीन की सत्ता स्वीकार कर ली थी किंतु मन से वे उसे नहीं चाहते थे। मुअय्यदुल मुल्क ने जो यल्दौज की ओर से बड़ी सावधानी से स्थिति का निरीक्षण कर रहा था, उसे किर्मान आने की सलाह दी। उसने अलाउद्दीन को पराजित कर उसे अन्य गोरी अमीरों सहित बंदी बना लिया। बाद में अलाउद्दीन और उसके समर्थकों को बामियान आने की अनुमति दे दी गई। जलालुद्दीन अपने सिंहासनच्युत भाई सहित वापस आया और यल्दौज के अधिकारियों को खदेड़ कर उसे पुनः गज़नी के सिंहासन पर आरूढ़ किया। यल्दौज वापस आकर चार मास तक गज़नी का दुर्ग घेरे रहा और दोनों भाइयों को बंदी बना लिया। बाद में संधि हो गई और यल्दौज ने जलालुद्दीन तथा अलाउद्दीन को बामियान चले जाने दिया। अंत में दोनों भाइयों में झगड़ा हुआ और अलाउद्दीन सुल्तान मुहम्मद ख्वारज्मशाह के पास चला गया जिसने उनके झगड़े का लाभ उठा कर बामियान पर अधिकार कर लिया। लगभग इसी समय अलाउद्दीन की मृत्यु हो गई और ख्वारज्मशाह ने जलालुद्दीन का वध कर दिया। इस प्रकार दोनों भाई जिनका गोर के अमीरों ने समर्थन किया था नष्ट हो गए।

गयासुद्दीन महमूद जिसे आरंभ में मुइज्जी दास गजनी के सिंहासन पर बिठाना चाहते थे अपने पिता की 1203 ई. में मृत्यु के पश्चात फीरोजकोह का शासक बनाने के लिए उत्सुक था किंतु मुईजुद्दीन ने जो गोरियों की जनजातीय परंपराओं के अनुसार भाग्य से इ या राज्य बांटने का अधिकारी था, उसके दावे की परवाह नहीं की और **फीरोजकोह** गयासुद्दीन के जामाता अलाउद्दीन मुहम्मद दे दिया। महमूद ने **बुस्त, इरफरार** और **फराह** प्राप्त किए। मुईजुद्दीन के वध के पश्चात महमूद ने फीरोजकोह की ओर कूच कि और उस पर अधिकार कर लिया। **मिनहाज** का कथन है कि जब **गोर, गर्जिस्तान, तालिकान, गुजरवान** और **फराह** त **गर्मसीर** के जिलों पर महमूद का अधिकार हो गया तो यल्दौज, ऐबक तथा सुल्तान मुईजुद्दीन के अन्य दासों ने उसके दरबार म अपने दूत भेजे और मुक्तिपत्रों की याचना करते हुए गज़नी तथा भारतवर्ष के प्रदेशों पर शासन करने की स्वीकृति मांगी। महम् ने यल्दौज को एक छत्र तथा गज़नी पर शासन करने का फरमान भेज दिया। जब 1206 में ऐबक गज़नी की ओर बढ़ा तो उस निज़ामुद्दीन मुहम्मद को इस आशय से फीरोजकोह भेजा कि वह उसके लिए शासन करने लिए आज्ञापात्र प्राप्त कर इस के प्रतिवेदन पर महमूद ने ऐबक को एक लाल छत्र और भारतवर्ष पर शासन करने का फरमान दे दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि इ फरमान में मुक्तिपत्र भी सम्मिलित था।

इस प्रकार **गज़नी, गोर** और **बामियान** की राजनीतिक स्थिति के फलस्वरूप ऐबक के लिए मुईजुद्दीन के वध उत्तराधिकारी क शासन करने का औपचारिक आदेश प्राप्त होने में विलम्ब हुआ।

ऐबक की समस्याएं

1206 ई. में भारतवर्ष में गोरियों के अधिकृत प्रदेश में मुल्तान, उच्छ, नहरवाला, पुरशोर, सियालकोट, लाहौर ताबरहिंदा हांसी, अजमेर, हांसी, सरसुती, कुहराम, मेरठ, कोयल, दिल्ली, थनकर, बदायूं, ग्वालियर, भीरा, बनारस, कन्नौज, कालिंजर और मालवा, बिहार तथा लखनौती सम्मिलित थे। किन्तु तुर्कों की शक्ति समस्त स्थानों पर एक समान नहीं थी। वास्तव में कुछ स्थान पर जैसे कालिंजर और ग्वालियर में उनका नियंत्रण यदि समाप्त नहीं हुआ था तो शिथिल अवश्य हो गया था।

मुईजुद्दीन की भारतीय रिक्थ के दो अन्य दावेदार ताजुद्दीन यल्दौज और नासिरूद्दीन कुबाचा थे। इससे पूर्व कि उसकी सत्ता इ आधारशिला पर स्थापित हो कुतुबुद्दीन ने उनसे किसी न किसी प्रकार समझौता कर लिया।

जब सुल्तान गयासुद्दीन महमूद ने यल्दौज के गज़नी पर अधिकार का अनुमोदन कर दिया और उसे मुक्तिपत्र द दिया तो भारत से संबंधित उसकी स्थिति और दृढ हो गई क्योंकि भारतवर्ष गजनवी साम्राज्य का भाग रह चुका था। अब वह मुइज़्ज़ुद्दीन भारतीय राज्य का वैध उत्तराधिकारी होने का दावा कर सकता था। गज़नी की राजनीति में उत्पन्न इस तथ्य की ऐबक नहीं कर सकता था। वास्तव में भारतवर्ष में गोरी साम्राज्य का स्वतंत्र स्वरूप बनाए रखने या प्राप्त करने के लिए उस स्थान सतर्कतापूर्ण दृष्टि रखनी पड़ी ताकि कोई विषम परिस्थिति न उठ खड़ी हो।

जैसे ही यल्दौज को शासन करने का अधिकार पत्र प्राप्त हुआ। उसके पंजाब विजय के इरादे में गज़नी से कूच किया और उसकी प्रगति रोकने के लिए बढ़ा। युद्ध में यल्दौज पराजित हुआ और कोहिस्तान की ओर भाग गया। सफलता से प्रफुल्लित होकर ऐबक गज़नी पहुंचा और उस पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात वह अपनी विजय का समारोह मनाने के लिए गज़नि में व्यस्त हो गया। ऐबक को मार भगाने के लिए यही सुअवसर जान कर गज़नी के नागरिकों ने यल्दौज को आमंत्रित किया। यल्दौज के अकस्मात गज़नी के निकट पहुंचने से ऐबक घबरा गया और तुरंत संगेसुर्ख के मार्ग से भारतवर्ष भाग आया। यल्दौज की ओर से खतरे का भय जो आरंभ में समाप्त होता प्रतीत होता था फिर भी मंडराने लगा। प्रभावशाली सुरक्षा की दृष्टि से उसने लाहौर में रहना निश्चित किया और उसे अपनी राजधानी बनाया। यह कहना कठिन है कि ऐबक के समान अनुभवी अधिकारी गज़नी में रंगरेलियां मनाने में अपना दायित्व कैसे भूल गया। फिर भी जैसाकि मिनहाज का कथन है, संघर्ष में कोई कटुता नहीं थी क्योंकि ऐबक यल्दौज का जामाता था। ऐबक का स्थान इल्तुतमिश ने ले लिया तो स्थिति बिल्कुल बदल गई

पूर्वी मामले

साम्राज्य के पूर्वी प्रदेश के मामले भी बड़ी अस्तव्यस्त स्थिति में थे। यदि ऐबक के राज्य की सुरक्षा उत्तर–पश्चिमी प्रदेश की सुरक्षा पर निर्भर थी तो पूर्वी प्रदेश उसकी मान मर्यादा का प्रश्न थे। अली मर्दान द्वारा मुहम्मद बख्तियार खिलजी की कपट हत्या ने मुहम्मद शीरान की निष्ठा को चुनौती दी। शीरान ने अली मर्दान को **नरनकुई** नामक उसकी इक्ता में बंदी बना लिया और उसे वहां के कोतवाल बाबा कोतवाल इस्पहानी की निगरानी में छोड़ दिया। देवकोट लौटने के पश्चात समस्त अमीरों ने उसे खलिजा

का नेता स्वीकार कर लिया। किन्तु इसी बीच अली मर्दान के कोतवाल को अपनी ओर मिला लिया और दिल्ली भाग गया। इस विषय में ऐबक के सामने एक वैधानिक कठिनाई थी। खिलजी मुईजुद्दीन के दास नहीं थे और इसलिए ऐबक का उसका उत्तराधिकारी होने के नाते बिहार पर कोई वैधानिक अधिकार नहीं था। अली मर्दान ने ऐबक को इस बात के लिए तैयार किया कि वह अवध के राज्यपाल कैमाज रूमी को लखनौती भेजे जो खिलजी अमीरों के लिए उचित इक्ताएं निश्चित करे। कैमाज ने **देवकोट** की इक्ता मलिक हुसामुद्दीन एवज खिलजी को प्रदान की जो मुहम्मद बख्तियार के समय में **कंकूरी** का अधिकारी था। इससे मुहम्मद शीरान तथा अन्य खिलजी अमीर रूष्ट हो गए और उन्होंने देवकोट पर आक्रमण कर दिया; कैमाज वापस आया और उन्हें बुरी तरह पराजित किया। बाद में मुहम्मद शीरन एक आंतरिक झगड़े में मारा गया।

जब 1206 ई. में ऐबक ने गज़नी की ओर प्रस्थान किया तो अली मर्दान भी उसके साथ था। किंतु यल्दौज ने उसके बंदी बना लिया और कारागार में डाल दिया। किसी भांति उसने कारागार से मुक्ति प्राप्त की और ऐबक के पास वापस चला आया जिसने उसे लखनौती प्रदान किया। मलिक हुसामुद्दीन ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और अली मर्दान ने समस्त प्रवेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

1206 ई. के पश्चात ऐबक ने नई विजयों के बजाय विजित प्रदेशों की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया। वह अपने भारतीय प्रदेशों का प्रशासकीय संगठन कर उन्हें निश्चित रूप देने के लिए अधिक उत्सुक था और उसकी अनिश्चित सीमाएं स्थाई बनाना अधिक उपयुक्त समझता था बजाय इसके कि सुरक्षा खतरे में डाल कर अपनी सत्ता का प्रसार करे। यह तभी संभव हो सकता था जब मुइज्जी दास और मलिक उसे सर्वशक्तिमान समझें। उसने अनेक कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना किया किंतु जब एक दुर्घटना से उसका जीवन समाप्त हुआ उस समय भी यह कार्य अधूरा था। चौगान खेलते समय वह अपने घोड़े से गिर पड़ा और काठी की उठी हुई नोक उसकी पसलियों में घुस गई। वह तत्काल 1210 में मर गया।

कुतुबुद्दीन ऐबक की उपलब्धियां

कुतुबुद्दीन, ऐबक नामक तुर्क जनजाति का था। बाल्यकाय में ही वह तुर्किस्तान में अपने परिवार से पृथक हो गया और उसे नैशापुर के दासों के बाजार में लाया गया। यहां काजी फखरूद्दीन अब्दुल अजीज कूफी ने, जो इमाम अबू हनीफा का वंशज था, उसे खरीद लिया। काजी अपने धार्मिक अध्ययन और पवित्रता के लिए प्रसिद्ध था। इसलिए उसे अबू हनीफा द्वितीय कहते थे। **औफी** के अनुसार वह ऐसा काजी था जो 'सुल्तान निशान' (शासक पहचानने वाला) था। उसने कुतुबुद्दीन को बड़े स्नेह से पाला और उसकी शिक्षा के लिए धनुर्विद्या और घुड़सवारी की वही सुविधाएं उपलब्ध कीं जो अपने पुत्रों के लिए की थीं। शीघ्र ही कुतुबुद्दीन ने बौद्धिक तथा भौतिक सभी कलाओं में कुशलता प्राप्त कर ली। उसने अत्यंत सुरीले स्वर में कुरान पढ़ना सीख लिया और इसलिए वह '**कुरानख्वां**' (कुरान का पाठ करने वाला) नाम से प्रसिद्ध हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में काजी या उसके पुत्रों ने उसे किसी व्यापारी के हाथ बेच दिया जो उसे गज़नी में दासों के बाजार में ले आया। यहां उसे मुईजुद्दीन ने खरीद लिया और उसकी जीवनचर्या का एक नया अध्याय आरंभ हुआ जिसने अंत में उसे दिल्ली के सिंहासन पर बिठाया।

मुईजुद्दीन के 'दास परिवार' में सम्मिलित होने के तुरंत बाद ही ऐबक ने अपनी बुद्धिमानी और उदार प्रकृति से अपने स्वामी का ध्यान आकर्षित किया। एक रात मुईजुद्दीन ने एक उत्सव का आयोजन किया और अपने दासों में उपहार वितरित किए ऐबक को भी बहुमूल्य उपहार प्राप्त हुए किंतु उसने अपना भाग दरबार के सेवकों में बांट दिया। जब सुल्तान को उसकी इस उदारता की सूचना मिली तो वह उससे बहुत प्रसन्न हुआ और उसकी एक बड़े पद पर उन्नति की। बाद में वह 'अमीरे आखूर' (शाही अश्वशाला का अधिकारी) बन गया जो उस समय का एक महत्वपूर्ण पद था। सुल्तान शाह के साथ गोर, वामियान और गज़नी के सुल्तानों के युद्धों में उसे घोड़ों की देखरेख, उनके रातिब और साज सज्जा की व्यवस्था करनी पड़ती थी। एक दिन वह रातिब की खोज कर रहा था तो शत्रु के गुप्तचरों ने उसे एक लोहे के पिंजरे में बंद किए जाने का आदेश दे दिया। जब सुल्तान शाह पराजित हुआ तो ऐबक ने यातनाओं से मुक्ति प्राप्त की और उसे पिंजरे में ही अपने स्वामी के सम्मुख लाया गया। मुईजुद्दीन यह देख कर बहुत दुखी हुआ और उस पर बड़ी कृपा प्रकट की। इसके पश्चात उसे क्या पद दिए गए यह ज्ञात नहीं।

1192 ई. में हम ऐबक को तरायन के युद्ध में महत्वपूर्ण भाग लेते हुए पाते हैं। तत्पश्चात उसे कुहराम और सामाना का प्रशासन सौंपा गया और अब भारतवर्ष में उसकी राजनीतिक जीवनचर्या उचित रूप से आरंभ हुई। मोटे तौर पर भारतवर्ष में उसका जीवन हम तीन स्पष्ट चरणों में बांट सकते हैं : 1192 ई. से 1206 ई. तक मुईजुद्दीन के प्रतिनिधि के रूप में उत्तरी भारत में कुछ भागों में शासक; 1206 ई. से 1208 ई. तक मुईजुद्दीन के भारतीय साम्राज्य का जो दिल्ली और लाहौर के मातहत था, अनौपारिक सत्ताधिकार सहित स्वामी या सेनापति, और 1208 ई. से 1210 ई. तक एक स्वतंत्र भारतीय राज्य का सर्वसत्ताधारी। यह कहना

कठिन है कि इन स्थितियों में कौन सी स्थिति अधिक महत्वपूर्ण है। प्रथम सैनिक गतिविधियों में व्यतीत हुइ, दूसरी राजनैतिक कार्यों में और तीसरी दिल्ली साम्राज्य का मानचित्र निर्मित करने में।

ऐबक एक अत्युत्तम सेनानी था। उत्तरी भारतवर्ष की विजय में उसकी निरंतर सतर्कता उतनी ही महत्वपूर्ण है जितना मुईजुद्दीन का दृढ़ संकल्प। मुईजुद्दीन योजना तैयार करता था और निर्देशन करता था और ऐबक उसकी योजनाएं कार्यान्वित करता था। ऐसे समय, जबकि मध्येशिया के अभियान बार–बार मुईजुद्दीन के कार्यों में वाधक सिद्ध हो रहे थे, ऐबक ही था जिसने भारतवर्ष में अपने स्वामी की प्रसारवादी नीति चलाई। जब तक मुईजुद्दीन, जीवित रहा ऐबक उससे विषम परिस्थितियों में सहायता की आशा कर सकता था किंतु उसकी मृत्यु के पश्चात उसे केवल अपने साधनों पर ही निर्भर होना पड़ा। उसने गयासुद्दीन महमूद, यल्दोज, कुबाचा और अली मर्दान से बड़ी कुशलता से व्यवहार किया और स्थिति के अनुकूल शक्ति, नम्रता और अनुनय से काम लिया। वह मुईजुद्दीन द्वारा शासित भारतीय प्रदेशों को स्वतंत्र राज्य की मान्यता दिलाने के उद्देश्य पर काम करता रहा और वह भी ऐसे समय में जबकि गज़नी से लखनौती तक मुईजुद्दीन के साम्राज्य का प्रत्येक भाग एक अनिश्चित वातावरण से गुजर रहा था क्योंकि स्थानीय सुल्तान के अधिकारियों में अराजक महत्वाकांक्षाएं उभर रही थीं। जिन अनिश्चित परिस्थितियों से होकर गोरी साम्राज्य गुजर रहा था उसमें यह उपलब्धि कुछ कम नहीं है।

वैसे भी ऐबक अपनी दिली और बौद्धिक विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध था। डॉ. **हबीबउल्ला** ठीक ही कहते हैं कि उसमें तुर्कों की निर्भीकता और फारसियों की रिष्कृत अभिरुचि तथा शालीनता पाई जाती थी। समस्त समकालीन और परवर्ती इतिहासकार उसकी स्वामिभक्ति, उदारता, साहस और न्याय की प्रशंसा करते हैं। उसकी उदारता ने उसे **'लख वख्श'** (लाखों का दान करने वाला) की उपाधि से सुशोभित किया। सत्रहवीं शताब्दी ईसवी में भी उसकी उदारता की कथाएं सुदूर दक्षिण में प्रचारित होती थीं और **फरिश्ता** का कथन है कि जब जनसाधारण किसी व्यक्ति के असीमित दान की प्रशंसा करते थे तो उसे 'अपने समय का ऐबक' कहते थे। उसकी महानता का यही सर्वोत्तम गुण है कि यद्यपि भारतवर्ष में उसकी जीवनचर्या अनवरत सैनिक गतिविधियों में बीती किंतु उसने जो छाप जन साधारण के मन में छोड़ी वह विनाश और विध्वंस की नहीं थी अपितु न्याय और उदारता की थी। जब युद्ध की स्थिति समाप्त हो गई तो जनसाधारण के प्रति न्याय और उनके हितों की रक्षा के दायित्व की अदम्य भावना ने ही उसे यह महानता प्रदान की। **फखे मुदब्बिर** का कथन है कि यद्यपि उसके सैनिक विभिन्न जातियों के थे जैसे तुर्क, गोरी, खुरासानी खिलजी और हिंदुस्तानी फिर भी किसी सैनिक का यह साहस न था कि वह किसी किसान से घास का एक तिनका, रोटी का टुकड़ा, बकरी या चिड़िया लेता या उसके घर पर बलात अधिकार करता। 'अबुल फज्ल जिसने सुल्तान महमूद गजनवी पर निर्दोष व्यक्तियों का खून बहाने का आरोप लगाया है, ऐबक की भूरि–भूरि प्रशंसा करता है और उसकी उपलब्धियों का मूल्यांकन इन शब्दों में करता है, 'उसने भले और महान कार्य किए।'

आरामशाह

अकस्मात मृत्यु के कारण ऐबक अपने उत्तराधिकार के विषय में कुछ नहीं कह पाया था और तुर्क मलिकों और अमीरों को अचानक उसका उत्तराधिकारी चुनने की आवश्यकता हुई। स्थिति पूर्णतः अनिश्चित थी और इस विषय पर निर्णय लेने मे थोड़ी भी देर से नवजात मुस्लिम राज्य को उत्तराधिकार के युद्ध में झोंक सकती थी। राज्य का सर्वोत्तम हित दृष्टि में रखते हुए उन्होंने आरामशाह को सिंहासन पर बिठाया। आरामशाह अज्ञात व्यक्ति था क्योंकि पिछले बीस वर्षों में निरंतर युद्धों में एक बार भी उसका उल्लेख नहीं किया गया। क्या इससे अच्छा चयन नहीं हो सकता था? इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में उससे अधिक योग्य तुर्क अधिकारी कार्य कर रहे थे किंतु चयन किसी तत्काल उपलब्ध व्यक्ति का ही करना था। योग्यता और यश के बजाय सुलभता ने ही लाहौर स्थित तुर्क अधिकारियों को आरामशाह को सिंहासन पर बिठाने के लिए विवश किया। सिंहासन खाली छोड़ा ही नहीं जा सकता था।

आरामशाह का व्यक्तित्व एक विवादास्पद विषय रहा है। कुतुबुद्दीन ऐबक का पुत्र होने के समर्थन में तर्क अत्यंत थोथ प्रमाणों पर आधारित है। जुवैनी स्पष्ट लिखता है कि ऐबक के कोई पुत्र नहीं था और मिनहाज उसकी तीन पुत्रियों का उल्लेख करता है, उनमें से दो का विवाह (एक की मृत्यु के बाद दूसरी) कुबाचा से हुआ था और तीसरी का इल्तुतमिश से। यह तथ्य कि तबकात नासिरी' की कुछ पांडुलिपियों में एक अध्याय के शीर्षक में आरामशाह के नाम के बाद 'बिन ऐबक' (ऐबक का पुत्र) लिखा है, इस विषय पर अंतिम प्रमाण नहीं माना जा सकता। किसी लिपिक ने भूल से यह शब्द जोड़ दिए होंगे।

चूंकि आराम के चयन से कुछ अधिक योग्य तुर्क मलिकों की उपेक्षा की गई थी जो वैसे भी ऐबक के रिक्थ के दावदार थे इसलिए

उसका राज्यारोहण निर्विरोध नहीं रहा। उसके शासनकाल की अवधि के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वह आठ मास से अधिक नहीं रहा।

आराम के राज्यारोहण के तुरंत बाद देश के विभिन्न भागों में तुर्क अमीर स्वतंत्र शासन करने या अपना शासक चुनने का प्रयत्न करने लगे। कुबाचा ने उच्छ और सुल्तान की ओर कूच किया और फरिश्ता के अनुसार भक्कर और शिउरान पर अधिकार कर लिया। बंगाल में खिलजी मलिकों ने विद्रोह कर दिया और कुछ स्वतंत्र रायों ने भी तुर्कों का नियंत्रण ठुकरा दिया।

सिपहसालार (सेनापति) अमीर अली इस्माइल ने इस विषय का सूत्रपात किया और 'अमीरे दाद' तथा कुछ अन्य तुर्क अमीरों और अधिकारियों की सम्मति से बदायूं के राज्यपाल इल्तुतमिश को आमंत्रित करते हुए उसे यह सलाह दी कि वह शीघ्रातिशीघ्र दिल्ली आकर सिंहासन पर अधिकार कर ले। भारतवर्ष में तुर्क सरकार की सेवा करने में इल्तुतमिश ने विशिष्ट योगदान दिया था और उसकी वैधानिक योग्यता के अतिरिक्त उसका चयन इस कारण भी किया गया कि ऐबक उसे पुत्र कह कर पुकारता था और उसे बदायूं की 'इक्ता' भी दी थी जिसका यह अर्थ लगाया गया कि इल्तुतमिश को अपना उत्तराधिकारी घोषित करना चाहता था। इल्तुतमिश ने तुरंत यह आमंत्रण स्वीकार किया और दिल्ली पहुंच कर बिना किसी कठिनाई के सिंहासनारूढ़ हुआ। इल्तुतमिश द्वारा दिल्ली पर अधिकार से उसे सामरिक महत्व का ऐसा स्थान मिल गया जहां से वह प्रत्येक दिशा में अपने हितों की रक्षा कर सकता था।

आराम ने अमरोहा से एक विशाल सेना एकत्रित की और इल्तुतमिश का उन्मूलन करने के उद्देश्य से दिल्ली की ओर कूच किया किंतु युद्ध में वह पूर्णतः पराजित हुआ। उसके दो मुख्य तुर्क सेनानी अकसुनकर और फरूखशाह युद्ध में मारे गए। आरामशाह स्वयं बंदी बनाया गया और उसका वध कर दिया गया। आरामशाह तथा उसके कुछेक समर्थकों के दल के विनाश से इल्तुतमिश के मार्ग का कांटा दूर हो गया। किंतु अन्य तुर्क सरदारों ने भी उसकी सत्ता का विरोध किया। यद्यपि मिनहाज हमें पूरी सूचना नहीं देता किंतु उसका निम्नलिखित वक्तव्य विचार योग्य है :

> जब तुर्क और मुइज्जी अमीर दिल्ली में एकत्रित हुए तो उनमें से कुछ अन्य से सहमत नहीं थे। वे दिल्ली से बाहर चले गए और एकत्रित होकर शरारत और विद्रोह करने की योजना बनाने लगे। सुल्तान शम्सुद्दीन अपनी केंद्रीय सेना और कुछ विशिष्ट सैनिक लेकर दिल्ली से बाहर निकल कर आया। उन्हें जूद के मैदान में पराजित किया और उनमें से अधिकांश के सर काट डालने के आदेश दिए...। अन्य अनेक अवसरों पर उसके तथा 'तुर्कों और अमीरों' के बीच युद्ध हुआ किंतु दैवी कृपा ने उसकी सहायता की और प्रत्येक उस व्यक्ति का जिसने उसके विरुद्ध विद्रोह किया था या उसका विरोध किया था, दमन किया गया।

इसके बाद मिनहाज हमें सूचित करता है कि, इल्तुतमिश ने उन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया जिन पर ऐबक शासन करता था अर्थात दिल्ली, बदायूं, अवध, बनारस तथा संपूर्ण शिवालिक प्रदेश। यह नहीं समझना चाहिए की हिंदू रायों ने इन नगरों पर पुनः अधिकार कर लिया था। इल्तुतमिश ने उन्हें तुर्कों और मुइज्जी अमीरों से प्राप्त किया जो उसके विरोधी थे।

शम्सुद्दीन इल्तुतमिश

इल्तुतमिश इल्बरी जनजातीय तुर्क था। उसका पिता ईलम खां अपनी जनजाति का एक सरदार था और उसके 'अनेक संबंधी, रिश्तेदार, आश्रित और अनुयायी थे।' इस प्रकार इल्तुतमिश का जन्म पर्याप्त समृद्ध वातावरण में हुआ था और प्रकृति ने उसे आकर्षक व्यक्तित्व, तीव्र बुद्धि और सर्वोत्तम स्वभाव वाला बनाया था। बड़ी संख्या में भाइयों, चचेरे और सौतेले भाइयों इत्यादि से भरे जनजातीय परिवार में वह अपने से कम योग्यता वाले व्यक्तियों की ईर्ष्या से न बच सका। उसके भाइयों ने उसके पिता से, जो उसे कभी घर से बाहर नहीं जाने देता था, यह अनुमति ले ली कि वह उसे घोड़ों की दौड़ का तमाशा देखने के लिए उनके साथ भेज दे। वहां उन्होंने उसे जबरदस्ती एक दासों के व्यापारी के हाथ बेच दिया। इस प्रकार अपने परिवार से पृथक होकर इल्तुतमिश को दास व्यापारियों की कृपा पर निर्भर रहना पड़ा। उसे बुखारा लाया गया और वहां के 'सद्रे जहां' के एक संबंधी के हाथ बेच दिया गया। यह एक सम्मानित परिवार था और यहां इल्तुतमिश के साथ अच्छा व्यवहार किया गया। उसने इस परिवार में निवास के समय एक घटना का इस प्रकार वर्णन किया है:

> एक बार परिवार के एक सदस्य ने मुझे कुछ पैसे दिए और कहा : 'बाजार जाओ और थोड़े अंगूर खरीद लाओ।' मार्ग में मैंने पैसे खो दिए और चूंकि उस समय में बालक था इसलिए भयवश रोने लगा...। एक दरवेश ने मेरा हाथ पकड़ा और मेरे लिए कुछ अंगूर खरीद दिए। उसने फिर पूछा, 'जब तुम सत्ता और साम्राज्य के अधिकारी होगे तो क्या तुम ईश्वर के भक्तों और सन्यासियों का सम्मान करोगे या और उनके हित का ध्यान रखोगे? मैने उसे वचन दिया।'

'सद्रे जहां' के परिवार से इल्तुतमिश, बुखारा हाजी नामक दासों के एक व्यापारी के अधिकार में आया। तत्पश्चात एक [illegible] व्यापारी जमालुद्दीन मुहम्मद बुस्तकवा ने उसे खरीद लिया और उसे गज़नी ले आया।

इसामी तथा अन्य ग्रंथों से ऐसा प्रतीत होता है कि इल्तुतमिश ने अपना कुछ समय बगवाद में भी व्यतीत किया [illegible] रक्तपात के पूर्व अपनी सांस्कृतिक पराकाष्ठा के अंतिम चरणों से गुजर रहा था। यहां वह 'अवारिफुल मआरिफ' के प्रसिद्ध रचयिता शेख शहाबुद्दीन सहरावर्दी, शेख औहदुद्दीन किरमानी तथा अन्य समकालीन प्रसिद्ध संतों के संपर्क में आया। सूफियों के इस समूह का उसका युवा मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा और आदिकालीन सूफी साहित्य में अनेक ऐसी घटनाए लिखी हैं जो सूफियों [illegible] सूफीवाद में उसकी रुचि की पुष्टि करती हैं।

जब जमालुद्दीन बुस्तकवा उसे गज़नी के दासों के दरबार में लाया तो अपने सुंदर व्यक्तित्व और मेधावी दृष्टि से उसने सभी [illegible] बाजार आकर्षित कर लिया। उसके आने की सूचना सुल्तान मुईजुद्दीन को दी गई और सुल्तान ने इल्तुतमिश और एक [illegible] तमगाज रूमी को जो उसके साथ था, खरीदने के लिए एक हजार स्वर्ण मुद्राओं की बोली लगाई। जमालुद्दीन ने यह मूल्य अस्वीकर कर दिया और सुल्तान ने गज़नी में उनका क्रय–विक्रय रोक दिया। गज़नी में एक वर्ष निवास करने के पश्चात जमालुद्दीन बुखारा गया जहां वह तीन वर्ष तक रहा। तत्पश्चात वह गज़नी वापस आया और जब कुतुबुद्दीन ऐबक मलिक नासिरूद्दीन हुसेन सहित गुजरात के अभियान से गज़नी लौटा तो वह वहां एक वर्ष से रह रहा था। इल्तुतमिश ने उस आकर्षित किया और उसने मुईजुद्दीन से उसे खरीदने की अनुमति मांगी। सुल्तान ने उत्तर दिया : 'चूंकि गजनी में उसका क्रय–विक्रय बंद है इसलिए व्यापारी उसे दिल्ली ले आए और वहां उसे बेचा जा सकता है।' ऐबक ने इस विषय पर जमालुद्दीन बुस्तकवा [illegible] आवश्यक निर्देश दे दिए और दिल्ली में इल्तुतमिश तमगाज सहित एक लाख जीतल में खरीदा गया। उन्नति कर तमगाज [illegible] ताबरहिंदा का राज्यपाल बना और कुतुबुद्दीन तथा यल्दौज के बीच हुए युद्ध में मारा गया।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इल्तुतमिश को कैसा प्रारंभिक प्रशिक्षण दिया गया किंतु उसे उत्तम शिक्षा मिली थी। मिनहाज से यह ज्ञात होता है कि उसे सीधे सरजानदार (शाही अंगरक्षकों का सरदार) नियुक्त किया गया। वह अस्वाभाविक था क्योंकि यह एक महत्वपूर्ण पद था और बाजार से खरीदे गए एक नए दास को नहीं दिया जा सकता था। मिनहाज निश्चित रूप से यह कहता है कि कुतुबुद्दीन ने उसमें प्रशंसनीय गुण देखे और उसे एक पद से दूसरे पद पर उन्नति प्रदान की यहां तक कि वह 'अमीरे शिकार' बन गया। ग्वालियर विजय के पश्चात 1200 में वह उस नगर का अमीर नियुक्त हुआ। इसका यह अर्थ है कि कम वर्ष के भीतर ही इल्तुतमिश को शासन करने के लिए 'इक्ता' प्राप्त हो गई। तत्पश्चात उसे बरन और उसके मातहत प्रदेश 'इक्ता' मिल गई। उसने इन प्रदेशों का कुशल शासन किया और उसका कार्य देखकर कुतुबुद्दीन ने उसे बदायूं की 'इक्ता' प्रदान की जो रेवर्टी के अनुसार 'दिल्ली साम्राज्य में सबसे उच्च थी।'

जब 1205-06 में मुईजुद्दीन खोखरों का दमन करने के लिए गज़नी से चला तो उसने दिल्ली की सेना भी बुलवाई और इल्तुतमिश बदायूं की सेना लेकर ऐबक के साथ चला। इस अवसर पर इल्तुतमिश ने असाधारण साहस और उत्साह का परिचय दिया। [illegible] खोखरों को झेलम नदी में ढकेल दिया। बीच धारा तक उनका पीछा करता हुआ वहां उनका सहार करने लगा। मुईजुद्दीन ने [illegible] इस साहसी कार्य को प्रशंसनीय दृष्टि से देखा और उसके विषय में पूछा। तत्पश्चात इल्तुतमिश को विशेष शाही वस्त्र प्रदान किए और ऐबक को यह आदेश दिए कि वह उसके साथ अच्छा व्यवहार करे 'क्योंकि वह एक यशस्वी व्यक्ति बनेगा। उसने यह आदेश भी दिया कि उनका मुक्तिपत्र लिखा जाए यह एक अनन्य सम्मान था। जबकि मुईजुद्दीन ने अपने वरिष्ठ दासों जैसे यल्दौज एवं और कुबाचा को भी दासता से मुक्त नहीं किया था उसने अपने दास के दास इल्तुतमिश को मुक्त कर दिया। संभवतः इल्तुतमिश की मुक्ति का उचित प्रचार नहीं हुआ क्योंकि उसके राज्याभिषेक के समय काजी, वजीहुद्दीन काशानी के नेतृत्व में [illegible] जानने के लिए रुके रहे कि क्या उसने मुक्तिपत्र प्राप्त कर लिया है।

इल्तुतमिश की समस्याएं

राज्यारोहण के पश्चात इल्तुतमिश को जबर्दस्त आंतरिक और वैदेशिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा किस प्रकार [illegible] अपने विरोधी समस्त मुइज्जी और तुर्क दास अधिकारियों का दमन कर कुतुबुद्दीन ऐबक के भूतपूर्व साम्राज्य पर अपना [illegible] स्थापित की थी उसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। किंतु अब तीन शक्तिशाली अधिपति थे अर्थात गजनी में यल्दौज मुल्तान में कुबाचा और लखनौती में अली मर्दान जिनसे इल्तुतमिश को अपने संबंध निश्चित करने थे। या तो उन्हें स्वीकार [illegible] था या उनका विनाश करना था। उन्हें स्वीकार करना दिल्ली सुल्तनत नष्ट करना था और उनका विनाश सावधान नियोजन उपलब्ध साधनों के प्रयोग बिना संभव नहीं था। जालौर और रणथंभौर के हिंदू शासकों ने तुर्कों का निमंत्रण [illegible] देख

साम्राज्य के विभिन्न भागों पर दिल्ली का नियंत्रण सामान्य रूप से शिथिल होता जा रहा था। जब इल्तुतमिश ने अपने प्रतिद्वंद्वी अमीरों का दमन कर दिया तो यल्दौज ने उसके पास एक छत्र और राजसी दंड ('दूरवाश') भेजा। इन उपहारों का यह अर्थ था कि इल्तुतमिश एक मातहत शासक था क्योंकि उस समय वास्तविक सत्ताधारियों को खलीफा से मानाभिषेक प्राप्त करना पड़ता था। फिर भी यल्दौज एक वरिष्ठ अधिकारी था—इल्तुतमिश के ससुर का ससुर। इन उपहारों से उसकी जो मातहत स्थिति स्पष्ट होती थी उसे इल्तुतमिश ने स्वीकार किया। यल्दौज यह नही जानता था कि वह एक ज्वालामुखी पर्वत के मुख पर बैठा है।

मोटे तौर पर इल्तुतमिश का छब्बीस वर्ष का शासन तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है : क. 1210 ई. से 1220 ई. तक जब वह मुख्यतः अपने विरोधियों का दमन करने में व्यस्त था; ख. 1221 ई. से 1227 ई. तक जिसमें उसे चंगेज खां के आक्रमण से उत्पन्न खतरे का सामना करना पड़ा; और ग. 1228 से 1236 तक जब वह अपनी वैयक्तिक और वंशीय सत्ता के संगठन में व्यस्त रहा।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना एवं राजक्षेत्रीय सुदृढ़ीकरण

प्रथम काल (1210-20)

इस युग में जिन दो अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतिद्वंद्वियों का इल्तुतमिश को सामना करना पड़ा वे यल्दौज और कुबाचा थे।

पंजाब एवं सिंध—पंजाब और सिंध को अपने नियंत्रण में लाने हेतु अपने संघर्ष में इल्तुतमिश ने भारी सूझ–बूझ, धैर्य और कूटनीतिक पटुता का परिचय दिया। परिस्थितियों के अनुकूल न होने तक उसने पंजाब हेतु संघर्ष में स्वयं को अधिक उलझाने से बचाये रखा। पहले तो उसे यल्दूज को अपना मित्र बनाया एवं यल्दूज द्वारा प्रेषित दास्य–मुक्ति पत्र तथा दुर्बाश (दो शीर्षों वाला डंड जो राजत्व का प्रतीक था) को स्वीकार किया, भले ही इसका अर्थ यल्दूज को अधिक श्रेष्ठ हैसियत प्रदान करना रहा हो। इस बीच पंजाब पर नियंत्रण हेतु यल्दूज और कुबाचा के बीच जटिल संघर्ष छिड़ गया जिसका यहां हम से कोई वास्ता नहीं। सन् 1215 ई. में ख्वारिज्म शाह द्वारा गज़नी से निकाल बाहर किए जाने के बाद यल्दूज ने कुबाचा को भागकर लाहौर और समस्त पंजाब पर कब्जा कर लिया। ऐसा लगता है कि गज़नी में मुईज़ुद्दीन के उत्तराधिकारी के रूप में यल्दूज न केवल पंजाब का शासक होने का दावा कर रहा था बल्कि हिन्दुस्तान में मुईज्जुद्दीन और उसके अनुयायियों द्वारा विजित सभी क्षेत्रों पर भी अप्रत्यक्ष नियंत्रण का दावा कर रहा था। यह स्थिति इल्तुतमिश को अस्वीकार्य थी और इसके कारण दोनों के बीच झगड़ा शुरू हो गया जिसमें यल्दूज पराजित हुआ, कैद कर लिया गया एवं बाद में मार डाला गया। किन्तु पंजाब की समस्या बनी ही रही। पहले तो इल्तुतमिश लाहौर को कुबाचा के नियंत्रण में छोड़ देने के लिए तैयार हो गया किन्तु इसकी सीमाओं को लेकर दोनों के बीच मतभेद हो गया कुबाचा अपना नियंत्रण तबरहिंदा और कुलरम तक रखना चाहता था जिसके कारण इल्तुतमिश को दिल्ली पर खतरा महसूस हुआ। दोनों के बीच होने वाले संघर्ष में कुबाचा पराजित हुआ एवं इल्तुतमिश ने लाहौर पर कब्जा कर लिया।

द्वितीय काल (1221-27)

इसके पूर्व कि इल्तुतमिश पंजाब में अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर पाता खवारिज्मी शाहजदा जलालुद्दीन मंगबर्नी ने, जिसका चंगेज खान पीछा कर रहा था, सन् 1221 ई. में सिंधु नदी को पार कर लिया एवं लड़ाकू खोखरों के साथ मिलकर थानेसर तक पंजाब को जीत लिया। उसके बाद उसने मंगोलों के विरूद्ध एक गठबंधन करने के लिए इल्तुतमिश को संदेश भेजा ताकि उसे अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त हो जाये। इल्तुतमिश ने नम्रतापूर्वक उसका प्रस्ताव ठुकरा दिया और मंगोलों के विरुद्ध संघर्ष में शामिल होने से इंकार कर दिया। एक विशाल सेना के साथ उसने मंगबनी के विरुद्ध कूच भी किया। उसकी सेना का सामना करने में स्वयं को असमर्थ समझकर जलालुद्दीन मंगबर्नी ने लाहौर को छोड़ दिया और सिंध में कुबाचा की ओर बढ़ा। उसने कुबाचा को करारी मात दी एवं उच्छ पर कब्जा कर लिया। इस बीच मंगोलों ने भी सुल्तान को घेर लिया।

इस प्रकार, भारत में जलालुद्दीन के प्रवेश का प्रभाव यह पड़ा कि सिंध में कुबाचा की स्थिति कमजोर पड़ गई। जलालुद्दीन सन् 1224 ई. में भारत से हट गया किन्तु चंगेज के भय से इल्तुतिमश ने उत्तर–पश्चिम में अपनी गतिविधियों को सीमित रखा। चंगेज की मृत्यु के बाद 1228 ई. में ही उसने कुबाचा से सिंध को जीत लेने का निश्चय कि या एवं उच्छ को घेर लिया। तीन महीनों की घेराबंदी के बाद इस पर कब्जा कर लिया गया। कुबाचा भागकर बक्खर चला गया। कुछ ही समय बाद जब इल्तुतमिश ने बक्खर की ओर कूच किया तो कुबाचा भागते हुए सिंधु नदी में डूबकर मर गया।

इस प्रकार, सन् 1228 ई. तक इल्तुतमिश का नियंत्रण न केवल सिंधु नदी तक फैल गया बल्कि समुद्र तक समस्त मुल्तान और सिंध भी उसके नियंत्रण में आ गया। इल्तुतमिश द्वारा दिल्ली सल्तनत के सुदृढ़ीकरण या समकेन का पहला चरण इस प्रकार पूरा हुआ।

तृतीय काल (1228-36)

बिहार एवं लखनौती पर तुर्कों की विजय–मुईज्जुद्दीन के शासन काल के दौरान मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी नाम का एक खिलजी मलिक ने बिहार और लखनौती को जीत लिया था। समकालीन, इतिहासकार मिन्हाज सिराज एक उत्साही धर्म भीरू निर्भीक, बहादुर, बुद्धिमान एवं युद्ध–कुशल" व्यक्ति के रूप में उसकी सराहना करता है। खिलजी लोग दक्षिण–पश्चिम गजनी के एक तुर्क जनजाति थे। बख्तियार देखने में कुरूप था एवं जब वह गज़नी में मुईज्जुद्दीन के समक्ष सेवा हेतु प्रस्तुत हुआ तो उसे एक निम्न कोटि की नौकरी का प्रस्ताव दिया गया। उसने अपनी हैसियत के अनुरूप न पा कर अस्वीकार करते हुए भारत की ओर प्रस्थान किया। लेकिन दिल्ली दरबार में एक बार फिर उसे अस्वीकृत कर दिया गया। उसके बाद उसने बदायूं के इक्तादार (गर्वनर) के अधीन नौकरी कर ली जिसके अन्तर्गत आधुनिक पश्चिम उत्तर प्रदेश का एक बड़ा भाग था थोडे ही समय बाद वह अवध के सिपहसालार की सेवा में चला गया जिसने उसे बिहार की सीमा पर दो गांव प्रदान किये। इसके कारण उसे बिहार और मनेर में छापे मारकर लूटपाट करने का अवसर मिल गया। यह क्षेत्र गहड़वाल साम्राज्य के पतन के बाद एक प्रकार का नो मैन्स क्षेत्र बन गया था जहां अनेक छोटे–छोटे गहड़वाल सरदारों का प्रभुत्व था। बंगाल नरेश राय लक्ष्मण सेन जो गहड़वालों के एक प्रतिद्वंद्वी था, ने स्वयं को बंगाल तक ही सीमित रखना मुनासिब समझा जिसका कारण या तो उसका अत्यधिक बूढ़ा और दुर्बल होना था या फिर उसकी यह भ्रान्ति थी कि यदि वह तुर्कों के साथ संघर्ष नहीं करेगा तो वे बिहार पर अपने नियंत्रण से ही संतुष्ट होंगे।

एक उद्यमशील योद्धा के रूप में बख्तियार खिलजी की ख्याति दूर–दूर तक फैल गई थी, और हिन्दुस्तान के विभिन्न भागों से बहुत से खिलजी उससे आ मिले। यहां तक कि मुईज्जुद्दीन ने भी उसे **'खिलअत'** (विशिष्टता सूचक एक विशेष वस्त्र) भेजी और इस तरह सम्मान किया, जबकि वह मुईज्जुद्दीन का न तो दास था और न ही कर्मचारी। इससे प्रोत्साहित होकर बख्तियार खिलजी ने अब 200 घुडसवारों के साथ बिहार के किले पर आक्रमण कर दिया जिसके बारे में बाद में उसे ज्ञात हुआ कि वह एक बौद्ध विहार था। यह सम्भवतः सुप्रसिद्ध नालंदा विश्वविद्यालय था। उसके बाद उसने एक अन्य नगर, जहां **विक्रमशिला** विश्वविद्यालय स्थित था, पर कब्जा कर लिया और वहां काफी तबाही मचाई। उसने राजधानी **उदंतपुर** पर भी कब्जा कर लिया एवं वहां एक किला बनवाया। ये सारी घटनाएं 1202 ई. में मानी जाती हैं।

इस विजय के उपरांत बख्तियार खिलजी भारी परिमाण में लूट के माल के साथ कुतुबद्दीन ऐबक की सेवा में हाजिर हुआ जिसने उसे भारी सम्मान एवं विशिष्टता प्रदान की और अपने विशेष **तोशाखाना** (भंडार) से एक सम्मानजनक वस्त्र एवं ढेर सारे कीमती उपहार भेंट किए। बख्तियार खिलजी ने इन उपहारों को अपने समर्थकों के बीच बांट दिया और बिहार लौट गया। यह तथ्य उस समय सुल्तान और प्रमुख अमीरों के बीच के संबंध की प्रकृति का परिचायक है। अमीरों को अपनी व्यवस्था का जोखिम स्वयं उठाना पड़ता था जबकि उनकी जीत सुल्तान की जीत मानी जाती थी। दूसरी ओर, अमीर तब तक सुल्तान की सत्ता को स्वीकार करते थे जब तक उन्हें उससे लाभ था अन्यथा उससे स्वतंत्र होने की ताक में रहते थे। इस प्रकार, सल्तनत की संरचना नाजुक थी।

बिहार लौटकर बख्तियार खिलजी ने लक्ष्मण सेन के संबंध में जानकारी हासिल की। कहा जाता है कि वह 80 वर्षों का बूढ़ा था और अपने समय का एक महान योद्धा रहा था। मिन्हाज सिराज के अनुसार, उसने अपनी प्रजा पर कभी भी अत्याचार नहीं किया था और मुक्त हाथ से उपहार दिया करता था। ज्योतिषियों की सलाह तथा इस डर के कारण कि बिहार की विजय के बाद अब बंगाल की बारी आनेवाली है, क्योंकि बख्तियार के सैन्य पराक्रम का आतंक दूर–दूर तक फैल गया था, बहुत से ब्राह्मण और व्यापारियों ने सेन राजधानी छोड़कर पूर्व में एक अधि सुरक्षित स्थान में शरण ले ली थी। किन्तु बताया जाता है कि लक्ष्मण सेन ने अपनी राजधानी में ही बने रहने का निश्चय किया।

लखनौती पर बख्तियार खिलजी की विजय के संबंध में जानकारी के लिए हम एक समकालीन स्त्रोत **मिन्हाज सिराज** पर निर्भर हैं जिसके विवरण को बाद के लेखकों ने ग्रहण किया है। **मिन्हाज** का विवरण सर्वविदित है "बख्तियार ने एक सेना तैयार की और सेन की राजधानी नादिया पर इतनी तेजी से चढाई की कि केवल 18 घुड़सवार ही उसके साथ नादिया तक पहुंच पाने में सफल हुए; वह इस ढंग से बढ़ा कि वहां के लोगों ने उसके दल को घोड़े बेचने वाले व्यापारियों का दल समझा। राजा महल के अंदर था बख्तियार ने अचानक हमला कर दिया एवं आश्चर्यचकित राय पिछले दरवाजे से भाग गया; बख्तियार ने उसके समस्त खजाने उसकी पत्नियों एवं अन्य स्त्रियों और परिचारकों आदि को अपने अधिकार में कर लिया; शीघ्र ही मुख्य सेना पहुंच गई और सेन नादिया नगर तथा उसके आसपास के इलाके पर कब्जा कर लिया।"

मिन्हाज की कहानी को ज्यों–का–त्यों स्वीकार करने में कई कठिनाइयां सामने आती हैं। मिन्हाज के कथानुसार लक्ष्मण सेन की राजधानी नादिया में थी। पुरातात्विक प्रमाणों से पता चलता है कि सेनों की राजधानी पहले विक्रमपुर (आधुनिक ढाका के निकट) एवं बाद में लक्ष्मणवती अथवा लखनौती में थी। नादिया एक बहुत छोटा शहर और शायद एक तीर्थ–स्थल अथवा ब्राह्मण शिक्षा का एक केंद्र था। हो सकता है कि बिहार की तरह ही, जहां बख्तियार ने एक विश्वविद्यालय को किला समझ लिया था, उसने तीर्थ–स्थल नादिया को ही सेन की राजधानी समझ लिया हो। सम्भावना यही लगती है क्योंकि सेन सैनिकों द्वारा मुकाबला किए जाने का उल्लेख नहीं मिलता है, हालांकि लक्ष्मण सेन एक विख्यात योद्धा रह चुका था और उसे तुर्क आक्रमण के खतरे से पहले ही आगाह कराया जा चुका था। इसके अतिरिक्त उस समय लक्ष्मण सेन के नादिया में होने का कोई स्वतंत्र साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। हो सकता है कि वह एक छोटी सैनिक दृकड़ी के साथ वहां तीर्थ करने गया हुआ हो।

नादिया के बाद बख्तियार ने लखनौती को जीत लिया। उसने मुईज्जुद्दीन के नाम से 'खुत्बा' पढ़वाया और सिक्के जारी कराए, यद्यपि वह नाम के अलावा हर तरह से स्वतंत्र था।

बिहार और उत्तर बंगाल पर बख्तियार की विजय निर्भीकता का एक ज्वलन्त उदाहरण है। इसके कारण भारत में तुर्क सेना की ख्याति में जबदस्त वृद्धि हुई। किन्तु अपनी सफलता के बाद बख्तियार खिजली अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सका। अगले ही वर्ष उसने तिब्बत एवं तुर्किस्तान पर कब्जा करने के लिए 10,000 घुड़सवारों की एक सेना तैयार की। तुर्कों को उस क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति का बहुत कम ज्ञान था। संभवतः बख्तियार ने सोचा कि तिब्बत और तुर्किस्तान पहाड़ों के उस पार ही स्थित है और यदि तुर्किस्तान पर उसका प्रत्यक्ष नियंत्रण हो गया तो उसे वहां से सैनिक आपूर्ति प्राप्त हो जाएगी और वह स्वयं को एक स्वतंत्र शासक की हैसियत से स्थापित करके इस क्षेत्र में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर सकेगा। इस प्रकार, आरंभ से ही उस अभियान का विफल होना निश्चित हो गया। लगता है कि बख्तियार असम से आगे कभी भी नहीं बढ़ पाया। माघ शासकों ने उसे वहां तक आने दिया जहां तक वह आ सकता था जिसमें उसने एक पत्थर के पुल के जरिए बागमती नदी को पार किया। यह देखते हुए कि वह अब और आगे नहीं बढ़ सकता है बख्तियार वापिस हुआ, किन्तु बागमती नदी पर पहुंचने के बाद उसने पाया कि पत्थर का पुल नष्ट किया जा चुका है। एक ओर विशाल शुत्र सेना और दूसरी ओर नदी के बीच फंसे बख्तियार ने नदी में छलांग लगा दी। किन्तु नदी इतनी गहरी थी कि उसे तैर कर पार करना संभव नहीं हो पाया। उसके अधिकांश सैनिक नदी में डूबकर मर गए और स्वयं बख्तियार लगभग 100 सैनिकों के साथ किसी तरह बच निकला।

तुर्क सेना की यह सर्वाधिक बुरी तबाही थी। बख्तियार को इतना सदमा पहुंचा कि उसने बिस्तर पकड़ लिया इसी हालत में अली मर्दान खान नामक उसके एक अमीर ने चाकू मारकर उसकी हत्या कर दी। यह घटना 1205 ई. की है।

दिल्ली के साथ बंगाल के संबंध

मुहम्मद बख्तियार के प्रति आस्थावान, अमीरों ने अली मर्दान को कैद कर लिया। किंन्तु वह भाग निकला और अनेक जोखिमों के बाद कुतुबुद्दीन ऐबक के दरबार में हाजिर हुआ जिसने उसे सम्मानित किया एवं उसे लखनौती का राजक्षेत्र प्रदान किया। मुईज्जुद्दीन और उसके उत्तराधिकारियों को भारी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। अतः लखनौती के खिलजी अमीरों ने अली मर्दान की अधीनता स्वीकार कर ली ओर इस तरह समस्त उत्तर बंगाल पर मर्दान का नियन्त्रण स्थापित हो गया।

ऐबक की मृत्यु के पश्चात् जब सिंध के कुबाचा जैसे महत्त्वकांक्षी अमीरों ने अपने स्वतंत्र होने की घोषणा कर दी तो अली मर्दान ने भी 'छत्र' धारण कर लिया एवं अपने नाम से 'खुत्बा' पढ़ा। किन्तु वह अत्याचारी साबित हुआ और शीघ्र ही इवाज नामक एक खिलजी अमीर ने उसे हटाकर सुल्तान गियासुद्दीन की उपाधि धारण कर राजगद्दी संभाल ली। मिन्हाज सिराज सुल्तान गियासुद्दीन का एक योग्य, ईमानदार, न्यायप्रिय एवं परोपकारी शासक के रूप में उल्लेख करता है। उसके शासन काल में इस क्षेत्र की समृद्धि हुई एवं उसने अनेक सार्वजनिक कार्य आरंभ किए जिनसे लोगों को बड़ा लाभ हुआ। उत्तर–पश्चिम में इल्तुतमिश की व्यस्तता का लाभ उठाते हुए उसने बिहार पर भी अपना प्रभुत्व कायम कर लिया तथा कई पड़ोसी शासकों से कर लेना शुरू कर दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि बिहार पर प्रभुत्व हेतु इल्तुतमिश के मलिकों और इवाज की सेना के बीच कई बार संघर्ष हुआ। यह काशी और मगध का स्वामियों के बीच सामरिक महत्त्व के भूखंड पर आधिपत्य के लिये चलने वाले संघर्ष की पुरावृत्ति थी। उत्तर–पश्चिम में स्थिति थोड़ी–बहुत संभल जाने के बाद सन् 1225 ई. में इल्तुतमिश ने इवाज के विरूद्ध कूच किया। दोनों के बीच एक प्रकार की संधि हुई जिसके अनुसार इवाज इल्तुतमिश के आधिपत्य को स्वीकार करने के लिए सहमत हो गया और भारी परिणाम में युद्ध–हर्जाना भी दिया। इल्तुतमिश ने अपने अधिकारियों को बिहार का प्रभार सौंपा दिया। लेकिन जैसे ही इल्तुतमिश ने पीठ

मोड़ी, वैसे ही इवाज ने उसका आधिपत्य मानने से इन्कार कर दिया एवं उसके अधिकारियों को बिहार से निकाल बाहर किय इल्तुतमिश ने अपने पुत्र और अवध के तत्कालीन हाकिम नासिरूद्दीन महमूद को स्थिति का जायजा लेने को कहा। दो वर्ष ब जब इवाज कामरूप (असम) एवं बंग (पूर्व बंगाल) में सैन्य अभियान में व्यस्त था और लखनौती अरक्षित था तभी नासिरूद्दीन महम ने अचानक हमला कर लखनौती पर कब्जा कर लिया। इवाज ने वापिस आकर युद्ध किया किन्तु वह पराजित हुआ और बन्द बनाकर मौत के घाट उतार दिया गया। लखनौती को नासिरूद्दीन के नियंत्रण में ही रहने दिया गया, किन्तु शीघ्र ही उसकी मृ हो गई और खिलजियों ने पुनः दिल्ली के नियंत्रण का जुआ उतार फेंका।

सन् 1230 ई. में दूसरे अभियान के बाद ही कहीं जाकर इल्तुतमिश लखनौती पर अपना नियंत्रण स्थापित कर पाया। किन्तु बंगा पर नियंत्रण बनाए रखना सदैव कठिन साबित हुआ और केंद्र में दुर्बलता का पहला संकेत मिलते ही वह दिल्ली के आधिपत्य जुऐ को उतार फेंकता था।

आंतरिक विद्रोह, रणथम्भौर और ग्वालियर पर विजय, एवं बुंदेलखंड और मालवा में सामरिक अभियान—अपने दीर्घ काल दौरान इल्तुतमिश को अनेक आंतरिक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। कन्नौज के निष्कासित गहड़वालों ने बदायूं और कन्नौज पुनः कब्जा कर लिया था व यहां तक कि बनारस में भी विद्रोह हुआ। इन पर काबू तो पा लिया गया किन्तु कटेहर (आधुनि रूहेलखंड) के राजपूत इस क्षेत्र में कठिनाइयां पैदा करते रहे। कटेहर पर हमला किया गया और बाद में इल्तुतमिश ने शिवालि तक के क्षेत्र में सुव्यवस्था स्थापित की। दोआब और अवध के कुछ भागों में भी स्थानीय हिन्दू सरदारों के साथ मुठभेड़ हुई। क्षेत्र, जो उस समय घने जंगलों से आच्छादित था, कई सदियों तक बाहरी लोगों के लिए कठिनाइयां पैदा करता रहा।

बिहार और बंगाल की समस्याओं को निपटाने के बाद इल्तुतमिश ने अपना ध्यान बयाना और ग्वालियर जैसे कुछ किला पर कब्ज़ा करने पर केन्द्रित किया जिन्हें राजपूत राजाओं ने ऐबक की मृत्यु के बाद उत्पन्न अस्तव्यस्तता का लाभ उठाकर पुनः अप अधीन कर लिया था। सबसे पहले इल्तुतमिश ने रणथम्भौर का घेरा डाला एवं उसे पृथ्वीराज के चौहान उत्तराधिकारियों से छी लिया। इसे एक महान सफलता माना गया था क्योंकि रणथम्भौर को एक अजेय दुर्ग समझा जाता था जिसने पूर्व में कई आक्रमण के प्रयासों को विफल कर दिया था। किन्तु, चूंकि यह दिल्ली से इतना अधिक दूर था कि इस पर दिल्ली का प्रभावकारी नियंत्र रह पाना संभव नहीं था, कुछ समय बाद इसे चौहानों को दिल्ली के अधीनस्थों के रूप में लौटा दिया गया। अजमेर पर तुर्क शास बना रहा।

इसके बाद इल्तुतमिश ने बयाना पर कब्जा कर लिया एवं ग्वालियर का घेरा डाला। ग्वालियर के परमार शासक एक लग अधिक समय तक मुकाबला करने के बाद उस किले को खाली करने के लिए विवश हुआ।

ग्वालियर को बुंदेलखंड और मालवा में लूटपाट के अभियान संचालित करने का अड्डा बना लिया गया। ग्वालियर के तुर्क शास ने चंदेरी और कालिंजर पर आक्रमण किया, किन्तु उस समय उसे अपनी जान बचाना कठिन हो गया जबकि वापसी के समय लूट के माल से लदा हुआ वह राजपूतों के आक्रमण के घेरे में आ गया था।

इससे कुछ समय पूर्व इल्तुतमिश ने मालवा में भिलसा और उज्जैन पर छापे मारे। उज्जैन के विख्यात महाकाल मंदिर का ध्वस्त कर दिया गया और वहां से भारी मात्रा में धन लूटा गया। किन्तु इस क्षेत्र पर तुर्क शासन स्थापित करने का प्रयास नहीं किया गया।

इल्तुतमिश की उपलब्धियां

इल्तुतमिश मध्यकालीन भारत एक श्रेष्ठ शासक था। वह एक चतुर, सावधान और दूरदर्शी शासक था जिसने भारतीय इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़ी। **डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी** ठीक ही कहते हैं कि भारतवर्ष में मुस्लिम प्रभुसत्ता का वास्तविक श्रीगणेश इल्तु से होता है। उसी ने देश को एक राजधानी, स्वतंत्र राज्य, राजतंत्रीय शासन और शासक वर्ग प्रदान किया। अपने अथक परिश्रम और सावधानी से अपने उद्देश्य के संचालन से उसने भारतवर्ष में गोरियों द्वारा अधिकृत दुर्बल प्रदेश को एक सुसंगठित राज्य अर्थात दिल्ली सुल्तनत में परिवर्तित कर दिया।

इल्तुतमिश ने 1192 ई. में एक गुलाम के रूप में ऐबक की नौकरी शुरू की और बीस वर्ष से भी कम समय में वह भारतवर्ष के एक साम्राज्य का नेतृत्व कर रहा था। निस्संदेह कई अन्य विशिष्ट मुइज्जी और कुत्बी मलिक थे जिनके विषय में वह कहा करता था कि जब वह उन्हें अपने दरबार में खड़ा हुआ देखता था तो उसकी यह इच्छा होती थी कि वह अपने सिंहासन से उतर आए और उनके हाथ पैर चूमे किन्तु केवल अपनी क्षमता के आधार पर ही वह उच्चतम स्थान तक पहुंचा। जिस समय वह सिंहासन पर बैठा

उस समय राजनीतिक वातावरण अस्तव्यस्त था और राजत्व के सिद्धांत से लेकर साम्राज्य की सीमा तक प्रत्येक विषय एक अनिश्चित स्थिति में था। संकटमय क्षणों में उसका पथप्रदर्शन करने के लिए न तो कोई परंपराएं थीं और न मुईजुद्दीन के समान कोई नेता। इस प्रकार एक अज्ञात समुद्र में उसे अपना मार्ग खोजना था। उसकी रचनात्मक योग्यताओं ने उसकी सहायता की और उसने अपना कार्य इस दृढ़संकल्प से नियोजित किया कि जब छब्बीस वर्ष की निरंतर राजनयिक और सैनिक गतिविधियों के पश्चात उसकी मृत्यु हुई तो दिल्ली सुल्तनत एक स्पष्ट रूपरेखा सहित उभर चुकी थी। एक राजवंश की दृढ़ स्थापना हो चुकी थी और वंशानुगत उत्तराधिकार का सिद्धांत जन साधारण और शासक वर्ग की राजनीतिक जागृति में इतनी गहरी जड़ें बना चुका था कि उसकी मृत्यु के छत्तीस वर्ष बाद तक यह उचित समझा गया कि उसके वंशज ही राज सिंहासन पर बैठने के अधिकारी हैं। जब सीदी मौला के समर्थकों ने जलालुद्दीन खिलजी के शासनकाल में एक राजविप्लव का संगठन किया तो उन्होंने उसके निमित्त जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए यह योजना बनाई कि सीदी का विवाह सुल्तान नासिरूद्दीन महमूद की पुत्री से कर दिया जाए। इल्तुतमिश ने जन साधारण के मन में अपने कुटुंब के लिए गहरा सम्मान और सहानुभूति की भावना उत्पन्न कर दी, ऐसी भावना जिसे बाबर किसी राजवंश की दृढ़ता के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण समझता था।

इल्तुतमिश मध्यकालीन दिल्ली का वास्तविक निर्माता था जो कुछ समय छोड़ कर 1857 ई. तक मध्ययुगीन राजनीति का केंद्रबिन्दु बनी रही। उसके मीनार, मस्जिदें, मदरसे, खानकाहें और तालाब उसके शासनकाल में कीर्ति स्थान बने। उसने उसे वह सांस्कृतिक वातावरण प्रदान किया जिसने मुसलमान प्रतिभा आकर्षित की जो अजम की अस्तव्यस्त स्थितियों से छिन्न–भिन्न हो गई थी। मिनहाज लिखता है: 'उसने दिल्ली में संसार के विभिन्न प्रदेशों से लोग एकत्रित किए।...यह नगर इस पवित्र शासक द्वारा बहुसंख्यक अनुदानों और असीम कृपाओं से संसार के विभिन्न भागों के ज्ञानियों, चरित्रवानों और विशेषज्ञों के लिए शरण का स्थान बन गया...। जो लोग ईश्वर की अनुकंपा से अजम के नगरों और प्रांतों की कठिनाइयों तथा विधर्मी मुगलों के आक्रमण से उत्पन्न दुर्घटनाओं से बच निकले उन्होंने उस सम्राट की राजधानी को अपनी शांति हेतु सुरक्षा, विश्राम और स्वर्ग का स्थान बना लिया।

वास्तव में उसने दिल्ली को न केवल भारतवर्ष में तुर्क साम्राज्य का राजनीतिक और प्रशासनिक केंद्र बनाया बल्कि उसकी सांस्कृतिक गतिविधियों का भी केंद्र बनाया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि दिल्ली सुल्तनत के साहित्य में दिल्ली को केवल उसके नाम से ही स्मरण नहीं किया जाता बल्कि या तो उसका '**हजराते दिल्ली**' (प्रतिभाशाली दिल्ली) या 'नगर' नाम से उल्लेख होता है।

राजवंशीय राजतंत्र की स्थापना करना इल्तुतमिश के लिए एक राजनीतिक आवश्यकता थी। अमीर मुआविया की भांति उसने उसी में अराजकता का विकल्प पाया। उसके लिए एक आदर्श और रचनात्मक सामग्री एकत्रित करने में अपनी समस्त शक्ति लगा दी। उसने ईरान की राजतंत्रीय परंपराएं भारतीय वातावरण में समन्वित की। ऐसा प्रतीत होता है कि '**आदाबुस्सलातीन**' और '**मआसिरूस्सलातीन**' नामक पुस्तकों में जिन्हें उसने बगदाद से अपने पुत्रों की शिक्षा हेतु मंगवाया था, ईरानी राजतंत्र के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया था जिन्हें वह दिल्ली में पूर्णरूपेण कार्यान्वित करना चाहता था।

इल्तुतमिश ने जिस राजतंत्र की स्थापना की थी उसकी शक्ति और आधार विशेषतः एक सैनिक एवं प्रशासनिक सेवा पर आधारित थे जो विदेशियों से भरी थी और जो मिनहाज के अनुसार दो दलों में विभक्त थे। प्रथम, तुर्क दास अधिकारी और दूसरे ताजीक अर्थात कुलीन वंशों के अतुर्क विदेशी। इन दोनों दलों के विषय में कुछ शब्द कहना आवश्यक है।

मुईजुद्दीन के वंशजों का उसके दासों पर चाहे जो दावा रहा हो किंतु वह ख्वारज्मियों और मंगोलों द्वारा गोरियों के वंश के विनाश के बाद समाप्त हो गया और वे स्वतंत्र हो गए। किंतु यल्दौज, कुबाचा और इल्तुतमिश को भी शिक्षित दास खरीदने की बड़ी रुचि थी। मंगोलों द्वारा अजम की विजय ने दास व्यापारियों को उनके मुख्य प्राप्तिक्षेत्र से वंचित कर दिया। फिर भी बगदाद और ईरान के दक्षिणी समुद्रतट के बंदरगाहों से समुद्री मार्ग से कुछ दास इल्तुतमिश के लिए लाए जा सके जैसे सुल्तान बल्बन और उनका सगा चचेरा भाई शेर खां। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो वे मंगोल आक्रमण के समय या उससे पूर्व दास व्यापारियों के अधिकार में आए। यह दास जो अजम (अनातोलिया से तुर्किस्तान तक) के विभिन्न भागों से लाए गए और जिन्हें तुर्क समझा जाता था स्वयं का एक दूसरे को समानांतर और भाई समझते थे। वे '**ख्वाजाताश**' अर्थात एक ही स्वामी के दास थे। जब तक इल्तुतमिश जीवित रहा तब तक वे उसके दास थे किंतु उसकी मृत्यु के पश्चात वे स्वयं को 'सुल्तानी' कहने लगे अर्थात सुल्तान का दास या अधिकारी जिसे सिंहासन पर बिठाया था।

जहां तक अतुर्क विदेशियों का संबंध था उन्होंने मुईजुद्दीन की विजय के तुरंत पश्चात भारतवर्ष आना आरंभ नहीं किया। 1192 ई. और 1218 ई. के बीच के युग में ऐसी कोई परिस्थिति नहीं थी जो संपन्न विदेशी मुसलमानों को रावी नदी के पूर्वी प्रदेश की ओर आवास ग्रहण करने के लिए प्रेरित करती जब कि वे एक व्यापारी, राजकीय कर्मचारी या राजकीय सेवा प्राप्त करने के अभिलाषी

न हों। भारतीय सीमा के बाहर दो दलों अर्थात् खिलजी और अफ़गान के अतिरिक्त, जो भारतवर्ष में राजनीतिक [illegible] लेकर आए, गोरियों की विजय के तुरंत पश्चात मुसलमानों की भारी संख्या में कोई देशातरण नहीं हुआ। किंतु जब [illegible] **जेकसार्टीज** नदी पार की तो अनेक विदेशी मुसलमानों ने, जो विभिन्न क्षेत्रों में दक्ष थे, सुरक्षा और सम्मानित जीविकोपार्जन [illegible] भारतवर्ष की ओर मुख मोड़ा। यद्यपि देशांतरण विशेषतः पश्चिम दिशा में बगदाद, सीरिया और मिस्त्र की ओर हुआ किंतु देहली के नवनिर्मित साम्राज्य ने भी अनेक व्यक्तियों को आकर्षित किया। **बरनी** का कथन है कि चंगेज खां द्वारा उत्पन्न [illegible] से उत्पीड़ित होकर अनेक प्रसिद्ध राजकुमार, अभिजातवर्ग, मंत्री एवं अन्य प्रसिद्ध लोग इल्तुतमिश के दरबार में आए। उनकी उपस्थिति से उसके दरबार का वैभव और स्तर इतना बढ़ गया कि वे महमूद और संजर के दरबारों के समान दिखाई देने लगा।

इल्तुतमिश के दरबार में एकत्रित हुए इन स्वतंत्र ताजीकों में ऐसे व्यक्ति थे जैसे निजामुलमुल्क मुहम्मद जुनैदी जो अनेक वर्ष [illegible] सुल्तान के प्रधान मंत्री रहे, मलिक कुतुबुद्दीन हसन गोरी जो मंगोलों से युद्ध करने के पश्चात भारतवर्ष आया था और **फखरुलमुल्क इसासी**, '**फुतूहुस्सलाती**' के लेखक का पूर्वज जो बगदाद में उच्च पद पर नियुक्त था और जिसे भारतवर्ष आने के तुरंत पश्चात इल्तुतमिश ने अपनी सेवा में ले लिया था। तुर्क दासों तथा स्वतंत्र ताजीकों के ये दोनों दल इल्तुतमिश के राजतंत्र के मुख्य आधार थे। जब तक इल्तुतमिश जीवित रहा इन दोनों विदेशी दलों पर उचित नियंत्रण बनाए रहा किंतु उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में दास अधिकारियों का ताजीकों के प्रति वैमनस्य बढ़ने लगा।

इल्तुतमिश द्वारा भारतवर्ष में जन्मित किसी मुसलमान की नियुक्ति के विषय में हमारे आधार बिल्कुल मौन हैं किन्तु स्थानीय हिन्दू शासक इल्तुतमिश के साम्राज्य में अपने प्रदेशों पर अवश्य शासक रहे होंगे। इस प्रकार इल्तुतमिश का सिंहासन एक तुर्क सिंहासन था जिसे तुर्क दास अधिकारियों और ताजीकों का, जो दोनों ही सुल्तान के सेवक थे, समर्थन प्राप्त था। इसके अतिरिक्त स्थानीय शासकों ने भी, जो निश्चित खराज देने तथा व्यवस्था एवं शांति बनाए रखने के लिए कुछ सेवाएं अर्पित करने को बाध्य थे जिन्हें वे अपने पद पर वंशानुगत आसीन होते थे और जिन्हें साधारणतः उनके शासन की परिधि से खराज न देने या विद्रोह करने के अतिरिक्त पदच्युत नहीं किया जा सकता था, उसका समर्थन किया। इस प्रकार इल्तुतमिश का शासन प्रबंध दो तत्वों द्वारा होता है जिनकी राजनीतिक पृष्ठभूमि भिन्न थी। एक वंशानुगत और दूसरी नौकरशाही। एक सम्राट की सेवा में रहने वाला और दूसरा वंशानुगत विशेषाधिकारों का भोगी। यह विपरीत तत्व एक प्रशासनिक प्रणाली में संगठित करने में इल्तुतमिश ने बड़ी राजनीतिक प्रतिभा और चतुरता का परिचय दिया। किंतु जबकि स्थानीय शासकों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने का सदैव प्रयत्न किया फिर भी तुर्क और ताजीक ही उसके राजतंत्र का मुख्य आधार बने रहे।

1191 से 1210 ई. तक भारतवर्ष का इतिहास गोरी परंपराओं से प्रभावित होता रहा। कुछ तो परिस्थितियों की सहायता से किंतु विशेषतः अपने राजनीतिक विचारों से प्रेरित होकर इल्तुतमिश ने दिल्ली का गोरी और गजनवी नियत्रण से बिल्कुल संबंध विच्छेद कर दिया। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उसने एक ऐसे राज्य की स्थापना की जो पूर्णरूपेण भारतीय था किंतु जिसके एकमात्र उच्चपदीय अधिकारी तुर्क दास अधिकारी और ताजीक थे। उसके अंतर्गत मुईजुद्दीन के अधिकृत प्रदेशों ने गजनी और मध्येशियाई देशों से नाता तोड़ कर अपना ही एक राजनीतिक व्यक्तित्व विकसित किया। जब बगदाद के खलीफा ने मान्यपत्र प्रदान किया तो इन प्रदेशों ने वैधानिक स्थिति प्राप्त कर ली।

दिल्ली सुल्तनत का संस्थापक होने के नाते उसकी प्रशासनिक संस्थाओं के विकास में इल्तुतमिश का योगदान ठोस और महत्वपूर्ण था। मध्येशियाई राजनीति में निरंतर उलझे रहने के कारण मुईजुद्दीन के पास भारतवर्ष के लिए उचित शासन व्यवस्था संगठित करने के लिए समय नहीं था और एक स्वतंत्र शासक के रूप में ऐबक का शासन इतना अल्पकालीन था कि उसमें शासन प्रबंध बनाए रखने के लिए अस्थाई व्यवस्था बनाए रखना ही संभव था। इल्तुतमिश ने दिल्ली सुल्तनत की शासन प्रणाली को रूप और तत्व प्रदान किया। उसने 'इक्ताओं', सेना और मुद्रा प्रणाली संगठित की जो दिल्ली सुल्तनत के साम्राज्यवादी ढांचे के तीन महत्वपूर्ण अंग थे।

क. **इक्ताएं**—इल्तुतमिश द्वारा निर्मित शासन व्यवस्था में 'इक्ताओं' का प्रमुख स्थान था। साहित्यिक दृष्टि से इक्ता का अर्थ भूभाग है किन्तु व्यावहारिक रूप से वह भूमि या राजस्व था जो किसी व्यक्ति को शासक द्वारा प्रदान किया जाता था। मावर्दी ने दो प्रकार की 'इक्ताओं' का उल्लेख किया है—'इक्ताएं तमलीक' और 'इक्ताएं हस्तिकलाल'। प्रथम का अर्थ है वह भूमि होती थी जिसमें खेती होती थी या बंजर थी या जिसमें खानें होती थीं। दूसरी का संबंध वृत्ति से होता था। यहां हमारे विषय के लिए केवल 'इक्ताए तमलीक' का ही महत्त्व है।

इस्लाम की आर्थिक राजनीतिक संस्थाओं के विकास में एक दीर्घ एवं रोचक इतिहास है। राज्य के प्रति सेवा के पुरस्कार स्वरूप उसका अस्तित्व इस्लाम के आरंभिक काल से ही था और बुवैहिदियों, सल्जूकियों, इत्यादि के अंतर्गत उसका विभिन्न स्तरीय विकास हुआ। उन्होंने विभिन्न परिस्थितियोंवश राजनीतिक जीवन की समस्याओं में उसका प्रयोग किया। दिल्ली सुल्तनत के आदिकालीन सुल्तानों, विशेषरूप से इल्तुतमिश ने, भारतीय सामंतशाही का विनाश करने के लिए तथा साम्राज्य के सुदूर स्थित प्रदेश प्रदेशों को एक केंद्र से जोड़ने के लिए इस संस्था का सहारा लिया।' इससे यातायात और परिवहन संबंधी कठिनाइयां सुलझाई गई। नवीन अधिकृत प्रदेशों में भूमिकर वसूल करने की व्यवस्था की गई और साम्राज्य के समस्त प्रदेशों में शांति और व्यवस्था करना संभव हो सका। इसके अतिरिक्त अभी तक भारतवर्ष पर हिंदू सामंतों द्वारा शासन किया जाता था। इससे अनेक स्थानीय समस्याएं उत्पन्न हो गई थीं जिनका समाधान स्थानीय स्तर पर किसी स्थानीय संस्था द्वारा ही किया जा सकता था। 'इक्ता' से समकालीन मांगों की पूर्ति होती थी।

निश्चय ही सभी 'इक्ताओं' के अनुदान दो प्रकार के होते थे—बड़े और छोटे। छोटे अनुदानों से संबद्ध न तो कोई प्रशासनिक दायित्व होते थे, न केंद्रीय अर्थ विभाग पर उसका कोई आर्थिक दायित्व होता था। इन छोटे–छोटे 'इक्तादारों' को सैनिक सेवाओं के बदले भूमि के कुछ भाग का केवल कर वसूल करने का अधिकार होता था। बड़ी 'इक्ताएं' (प्रांत) जो उच्चपदीय कर्मचारी पाते थे के साथ प्रशासनिक दायित्व भी होता था और जिन्हें यह प्रदान की जाती थी उनसे यह आशा की जाती थी कि वे अपने क्षेत्र में शांति एवं व्यवस्था बनाए रखेंगे और आपातकालीन स्थिति में केंद्रीय सरकार को सैनिक दस्ते भी भेजेंगे।

इल्तुतमिश ने तुर्कों को भारी संख्या में 'इक्ताए' प्रदान कीं। उसका यह उद्देश्य था कि विजित प्रदेशों पर नियंत्रण रखा जाए और भारतीय सामंतशाही संस्थाओं का समूलोच्छेदन किया जाए। किंतु 'इक्ता' प्रणाली में स्वयं ऐसे तत्व थे जो सामंती विशेषताएं विकसित कर सकते थे। उसने दृढ़ता से शासन में स्थानीयता प्रोत्साहित नहीं की और सामंतशाही का यह सिद्धांत कि स्वामी कानून की सीमा से बाहर है, बिल्कुल रद कर दिया। 'इक्ताओं' के स्वामियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर तबादला कर उसने 'इक्ता' प्रणाली की नौकरशाही विशेषता पर बल दिया। इसके अतिरिक्त इल्तुतमिश पहला शासक था जिसने दोआब की आर्थिक क्षमता समझी। वहां दो हजार तुर्क सैनिक नियुक्त कर उसने तुर्क राज्य के लिए उत्तर भारत के सबसे संपन्न प्रदेश पर आर्थिक और प्रशासनिक नियंत्रण स्थापित किया।

ख. **सेना**—यद्यपि इस विषय पर विशिष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं हैं फिर भी हम यह मान सकते हैं कि वह इल्तुतमिश ही था जिसने सल्तनत की 'शाही सेना' संगठित करने के विषय पर विचार किया जिसकी भर्ती, वेतन भुगतान तथा प्रशासन केंद्रीय सरकार द्वारा होता था। यह तथ्य कि फÂ मुदब्बिर ने युद्धकला पर इल्तुतमिश को समर्पित पुस्तक लिखने का विचार किया यह सूचित करता है कि सुल्तान की सैन्य संगठन की समस्या में कितनी रुचि थी।

ग. **मुद्रा**—मुद्रा प्रणाली में इल्तुतमिश का योगदान दिल्ली के समस्त सुल्तानों में अधिकतम है क्योंकि उसी ने दिल्ली सुल्तनत के दो प्रमुख सिक्कों अर्थात चांदी का टंका और तांबे का जीतल प्रचलित किए। **नेल्सन राइट** का कथन है :

दिल्ली की मुद्रा प्रणाली में इल्तुतमिश का शासनकाल ऐतिहासिक महत्व रखता है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह टंका, जैसा कि इसकी तौल से स्पष्ट है, बाद के सुल्तानों के टंकों के लिए एक नमूना था और उन्हीं से आधुनिक रुपए का विकास हुआ...। ऐसा प्रतीत होता है कि जीतल को एक विशिष्ट सिक्के के रूप में प्रचलित करने का श्रेय भी इल्तुतमिश को ही है। इल्तुतमिश एक महान मुद्रा विशेषज्ञ था। यह तथ्य कि उसने चांदी के टंके और तांबे के जीतल एक दृढ़ स्तर तक पहुंचाए, ही उसकी महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। विदेशों में प्रचलित टंकों पर टकसाल का नाम लिखने की परंपरा के भारतवर्ष में प्रचलन का श्रेय भी इल्तुतमिश को दिया जा सकता है।

इल्तुतमिश ने शाही दरबार तथा शासन प्रबंध संबंधी नियम अवश्य बनाए होंगे ताकि वह कार्यभार की अधिकता के बिना देश के शासन पर नियंत्रण रख सके। उसने उच्च सेवाओं के लिए भी नियम अवश्य बनाए होंगे। यद्यपि मिनहाज सिराज ने उनका उल्लेख नहीं किया है किंतु हम उसकी कार्यप्रणाली और शाही दरबार के शिष्टाचार और संगठन की रूप रेखा की कल्पना पूर्वकालीन पुस्तकों में उल्लिखित निम्न घटनाओं के आधार पर कर सकते हैं :

1. इल्तुतमिश का शासन दृढ़ अवश्य था किंतु वह बर्बरतापूर्वक नहीं था। उसने कबीर खां अयाज नामक अपने एक दास को जिसे उसने भारी मूल्य देकर खरीदा था, जब मुल्तान के राज्यपाल के पद पर असफल पाया तो उसे वापस बुला लिया और उसकी जीविका के लिए पलवल ग्राम प्रदान किया।

2. '**फवायदुलफुवाद**' (शेख निजामुद्दीन औलिया की वार्तालाप) में उल्लिखित एक घटना से हमें इस विषय का कुछ आभास होता है कि सिंहासन पर बैठकर इल्तुतमिश किस प्रकार कार्य किया करता था। नासिरी नामक एक कवि ने, जो इसी पुरस्कार पाने का बड़ा इच्छुक था, इल्तुतमिश की प्रशंसा में एक कविता पढ़ने का सम्मान प्राप्त कर लिया किंतु जब उसने सिंहासन के समक्ष कुछ पंक्तियां पढ़ीं तो इल्तुतमिश की कुछ अत्यंत आवश्यक प्रशासकीय कार्य देखना पड़ा और बेचारे नासिरी ने यह समझा कि उसे बिल्कुल भुला दिया गया है। किंतु जैसे ही इल्तुतमिश को अवकाश प्राप्त हुआ उसने उसकी ओर मुख मोड़ा और नासिरी की प्रशंसात्मक कविता की प्रथम पंक्ति दुहराई और उससे आगे पढ़ने के लिए कहा। शेख निजामुद्दीन औलिया ने कहा कि, 'सुल्तान की स्मरण शक्ति बड़ी तीव्र थी।'

3. सुल्तान की अंतर्दर्शी बुद्धि भी बड़ी तीखी थी। उसके सिंहासनरोहण के तुरंत पश्चात विद्वानों का एक दल जिसका पहले ही वर्णन किया जा चुका है उससे इस उद्देश्य से मिलने आया कि क्या वह विधिवत स्वतंत्रता प्राप्त कर चुका है। इससे पूर्व कि वे एक शब्द भी कहें सुल्तान उनके आने का उद्देश्य समझ गया और अपनी दरी के नीचे से स्वतंत्रता का प्रमाण पत्र निकालकर उनके सामने रख दिया।

4. ऐसा प्रतीत होता है कि उसके दरबार में साहित्यकारों और संतों के बैठने के लिए कुछ ऊंचे और कुछ नीचे स्थान थे। एक बार शेख निजामुद्दीन अब्दुलमुअय्यद और सय्यद नूरूद्दीन मुबारक गजनवी में उसके समक्ष प्राथमिकता के विषय पर झगड़ा हुआ।

5. समस्याओं का समाधान करने के लिए इल्तुतमिश का अपना ढंग था। एक बार 'उलमा' का एक प्रतिनिधि मंडल सुल्तान से भेंट करने के लिए आया। उसने अपने वजीर निजामुलमुल्क जुनैदी को उनसे निपटने की आज्ञा दी।

व्यक्तिगत जीवन में इल्तुतमिश अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति था। **मिनहाज सिराज** के अनुसार उसका धार्मिक विश्वास प्रशंसनीय था और उसका हृदय आध्यात्मिक भावनाओं से प्रभावित होता था। रात के समय वह बहुत देर तक प्रार्थना और ध्यान में मग्न रहता था। शेख निजामुद्दीन औलिया ने एक बार अपने समक्ष उपस्थित व्यक्तियों से कहा, 'वह अपने सेवकों से केवल तब सोते समय क्षुब्ध नहीं करता था।' वह सूफी संतों जैसे शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार कांकी, काजी हमीदुद्दीन नागौरी, शेख सदरुद्दीन तबरेजी, शेख बहाउद्दीन जकारिया और शेख नजीबुद्दीन नखशबी का बड़ा आदर करता था। दरबार में धार्मिक गोष्ठियों का आयोजन कर वह 'उलमा' वर्ग को भी संतुष्ट किया करता था। किंतु मौलिक रूप से उसकी नीति कट्टर धार्मिक नेताओं के पक्षपात और मान्यताओं से प्रभावित नहीं थी। वह सय्यद नूरूद्दीन मुबारक गजनवी के प्रवचन सुनता था। किंतु अपनी नीति निर्धारण में उनकी खुल्मखुल्ला अवहेलना करता था। रजिया को अपना 'उत्तराधिकारी' घोषित करते समय उसने 'उलमा' से परामर्श लेना उचित समझा। अपनी पवित्र जीवनचर्या के फलस्वरूप उसने रहस्यवादियों की सद्भावना से पूरा लाभ उठाया। शेख बहाउद्दीन जकारिया की सहायता से उसे मुल्तान पर विजय प्राप्त हुई और शेख कुतुबुद्दीन काकी ने उसे शम्सी तालाब के निर्माण में सहायता दी।

इल्तुतमिश को अपने स्वामी से अनेक अधूरे प्रशासकीय, भवन निर्माण एवं साम्राजी कार्य विरासत में प्राप्त हुए थे। उसने न केवल इन्हें पूरा किया बल्कि अपनी निजी नीतियों का भी संचालन किया। उसका यथार्थवादी मूल्यांकन, सावधान नियोजन और इन समस्त समस्याओं के कुशल संचालन ने उसे सफल बनाया जो उसके लगभग चौथाई शताब्दी के शासनकाल में उपस्थित हुई। उसका चंगेज खां और जलालुद्दीन मंग**बरनी** से व्यवहार उत्तम राजनीतिक कल्पना और अद्वितीय राजनयिक निपुणता से विभूषित था। ऐबक ने सुल्तनत की रूपरेखा की कल्पना मात्र की थी किंतु इल्तुतमिश ने उसे रूप और स्तर, वाहिनी शक्ति और निर्देशन शासन प्रणाली तथा शासक वर्ग प्रदान किया।

केन्द्रीकृत राजतंत्र की स्थापना हेतु संघर्ष (1236-1290)

इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी एवं अस्थिरता का काल

इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद एक दशक तक दिल्ली में राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति बनी रही। इस काल के दौरान इल्तुतमिश के चार वंशजों को राजगद्दी पर बैठाया गया और उनकी हत्या कर दी गई। इसका मुख्य कारण तुर्क अमीरों के बीच तीक्ष्ण गुटबंदी थी। जैसा कि हमने पहले देखा है, तुर्क लोग कई जनजातियों में विभाजित थे जिनमें से कुछ ने इस्लाम कबूल कर लिया था और कुछ ने इस्लाम को कबूल नहीं किया था। उनके बीच घोर संघर्ष की स्थिति रहती थी। मसलन मुईज्जुद्दीन और मावरा–उन–नहर की गैर–मुस्लिम गुज्ज तुर्क जनजाति के बीच बराबर संघर्ष चलता रहता था। इसके अलावा वे तुर्क जनजातीय समूह भी हमेशा एक–दूसरे के विरूद्ध लड़ते रहते थे जिन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था।

इल्तुतमिश के शासन काल में कुलीनतंत्र में तुर्कों के अतिरिक्त अगला महत्त्वपूर्ण जातीय समूह ताजिकों का था। ताजिक लोग मावरा–उन–नहर और खुरासान क्षेत्रों के ईरानी थे। इस क्षेत्र में तुर्कों के प्रवेश करने के पूर्व ईरानियों का प्रधान्य था जिन्हें वहां से निकाल दिया गया। किन्तु तुर्क लोग उद्दंड योद्धा थे एवं प्रशासन काल के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे। अतः ताजिक लोगों ने, जिनमें से बहुत से लोग पहले जमींदार हुआ करते थे, प्रशासन का अधिकांश भार सम्भाला। इस प्रक्रिया में उनमें से कई लोगों ने उच्च पद प्राप्त किए। इस प्रकार, इल्तुतमिश का वजीर निजामुल–मुल्क जुनैदी एक ताजिक था। मुक्त एवं दास दोनों ही प्रकार के तुर्क अमीर ताजिकों को प्रधानता देने का विरोध करते थे और उन्हें योद्धा के बजाय कलम का धनी (नवीसंदा) या नौकारशाही से संबद्ध मानते थे। यद्यपि खुरासान एवं निकटवर्ती क्षेत्रों (ईरान, गौर, गज़नी, आदि) में बस जाने के बाद तुर्कों की जनजातीय संरचना काफी हद तक खंडित हो गई थी, किन्तु पुराने जनजातीय संघ एवं व्यक्तिगत लगाव और बंधन अब भी काफी सबल थे। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत बंधन दासता का था। जैसा कि हमने देखा है, कई सुल्तानों ने तुर्क दासों को पाल–पोस कर योद्धा एवं प्रशासक बनाने के विषय प्रयोजन से खरीदा था। ऐसे दासों के साथ अच्छा बर्ताव किया जाता था और अक्सर उन्हें शासकों के अपने पुत्रों के साथ–साथस प्रशिक्षण दिया जाता था।

इल्तुतमिश के दास अधिकारियों का अपना एक अभिजात समूह था जिसे अपने आप पर बहुत गर्व था। यह समूह मुक्त अमीरों (तुर्क एवं ताजिक दोनों ही) को भी अपने बराबर नहीं समझता था। बाद के इतिहासकार **जियाउद्दीन बरनी** इन दास अधिकारियों को चिहलगानी (चालीस का समूह) की संज्ञा देता है। चालीस की यह संख्या कोई विशेष महत्व नहीं रखती है क्योंकि इल्तुतमिश के अमीरों की सूची मे ऐसे 25 से भी कम दास अधिकारियों का उल्लेख मिलता है।

यदि इस 'चालीस के समूह' ने भी एक संगठित निकाय के तौर पर व्यवहार किया होता तो सम्भवतः स्थिति संभल जाती। लेकिन जैसा कि **बरनी** का कथन है, "उनमें से कोई भी किसी अन्य के समक्ष झुकने को तैयार नहीं होता था, और क्षेत्रों (इक्तों), शक्तियों, पदों एवं सम्मानों के वितरण में वे एक–दूसरे के साथ समानता की मांग करते थे।"

रजिया (1236-40) के उत्थान और पतन को इसी पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। वह राजगद्दी पर इस कारण बैठ पाई कि तुर्क दास अधिकारियों का एक सबल समूह ने जिसमें बदायूं, मुल्तान, हांसी और लाहौर के हाकिम प्रमुख थे, इल्तुतमिश के पुत्र रुक्नुद्दीन के विरूद्ध विद्रोह कर दिया था जो अपनी पिता की मृत्यु के बाद राजगद्दी पर बैठा था। इल्तुतमिश का वजीर निजामुल–मुल्क जुनैदी भी विद्रोहियों के साथ हो गया। रूक्नुद्दीन अलोकप्रिय हो गया था क्योंकि सुल्तान बनाने के बाद वह भोग–विलास में डूब गया और राजकाज अपनी मां शाह तुर्कान के हाथों में सौंप दिया था जो एक तुर्क दासी रह चुकी थी। सुल्तान के हरम एवं इसके प्रशासन के प्रधान के रूप में उसने उन सबों से प्रतिशोध लेना शुरू कर दिया जिन्होंने पहले उसे नीचा दिखाया था। जब रूक्नुद्दीन अपने विद्रोहियों से लड़ने के लिए नगर से बाहर गया हुआ था तब रजिया ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए जामा मस्जिद में प्रवेश किया एवं दिल्ली के लोगों को यह बताते हुये कि उसकी हत्या करने की साजिश की जा रही है, उनसे समर्थन का अनुरोध किया। उसके पक्ष में एक जन विद्रोह जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई तथा वह राजगद्दी हासिल करने में सफल हो गई।

रजिया ने राजगद्दी पर अपने दावे को इस आधार पर सशक्त बनाने का प्रयास किया कि इल्तुतमिश ने अपने जीवन काल में ही अपने पुत्रों के बजाय उसी को अपना उत्तराधिकारी नामजद किया था। उस समय के लिए यह एक अभूतपूर्व घटना थी कि इल्तुतमिश ने यह निर्णय लेने के पूर्व धर्मशास्त्रियों (उलमा) से परामर्श नहीं किया, बल्कि उन्हें इसकी जानकारी बाद में दी, जिसके

कारण उनके सामने इस निर्णय से सहमत होने के सिवा अन्य कोई विकल्प नहीं रह गया। हम देखेंगे कि बाद में भी कई तुर्की शासकों ने राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए निर्णय लिये और बाद में धर्मशास्त्रियों से परामर्श किया। किन्तु इस बार निजामुल मुल्क जुनैदी समेत तुर्की अमीरों ने इल्तुतमिश की नामजदगी को स्वीकार नहीं किया, अपितु पहले उसके ज्येष्ठतम पुत्र रूक्नुद्दीन का समर्थन किया।

यद्यपि रजिया राजगद्दी पर बैठ गई, किन्तु लगता है कि उसे कभी भी तुर्की अमीरों के किसी भी शक्तिशाली समूह का ठोस समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि उसने सत्ता में बने रहने के लिए विरोधी पक्ष को विभाजित रखने में अपने राजनीतिक कौशल का प्रदर्शन किया। इस प्रकार अमीरों का शक्तिशाली गुट जिसमें मुल्तान, लाहौर, हांसी और बदायूं के हाकिमों के साथ निजामुल मुल्क जुनैदी भी मिल गया था, रजिया का विरोधी था किन्तु उसने कुछ प्रभावपूर्ण नेताओं को अपने पक्ष में कर लिया जिसके कारण निजामुल–मुल्क जुनैदी अकेला पड़ गया और उसे अंततः पलायन करना पड़ा।

राजगद्दी पर अपनी पकड़ मजबूत कर लेने के बाद रजिया ने "प्रशासन का पुनर्गठन करना" शुरू कर दिया। **मिन्हाज** के अनुसार "राज्य में शांति स्थापित हो गई एवं सरकार की सत्ता दूर–दूर तक फैल गई। लखनौती से देबल तक के क्षेत्र में सभी मलिकों और अमीरों ने अपनी आज्ञाकारिता और अधीनता अभिव्यक्त की।" प्रशासन के साथ सीधा संपर्क रखने के लिए रजिया ने महिला पोशाक त्याग कर पुरुषों द्वारा धारण किये जाने वाले कुबा (कुरता) और कुलाह (पगड़ी का एक प्रकार) को अपनाया। इस दरबार में उपस्थित होना शुरू किया और बेपर्दा होकर हाथी पर सवारी करना आरंभ किया। इस प्रकार, लोग उसे प्रत्यक्ष रूप से देख सकते थे।

इसके कारण रूढ़िवादी तबकों में कानाफूसी तो अवश्य शुरू हो गई होगी किन्तु रजिया के प्रति कोई जन विद्रोह नहीं हुआ क्योंकि उसे दिल्ली के लोगों का समर्थन प्राप्त था। किन्तु शीघ्र ही दिल्ली और इक्तो में स्थित कुछ अमीरों के बीच उसके प्रति विरोध पनपने लगा। यह विरोध जैसा कि बताया जाता है इसलिए शुरू हुआ कि उसने मलिक याकूत नामक एक हब्शी को **'अमीर-आखूर'** अथवा अस्तबलों का अधीक्षक नियुक्त कर दिया था। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पद था जो न केवल हाथियों और घोड़ों समेत राजकीय अस्तबलों पर नियंत्रण का सूचक था बल्कि सुल्तान से घनिष्ठता का प्रतीक भी माना जाता था। अतः कई अमीरों ने इसका विरोध किया क्योंकि वे राज्य के सभी महत्त्वपूर्ण पदों को अपने ही पास रखना चाहते थे। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि मलिक याकूत की नियुक्ति तुर्क अमीरों की शक्ति को निस्तेज करने के लिए गैर–तुर्क अमीरों का एक समानान्तर गुट तैयार करने की रजिया की नीति का एक हिस्सा था। यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि रजिया और मलिक याकूत के बीच कोई व्यक्तिगत घनिष्ठता थी। क्योंकि किसी भी समकालीन व्यक्ति ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

सच तो यह है कि उसके प्रति तुर्की अमीरों के असंतोष का मुख्य कारण सत्ता का प्रत्यक्ष प्रयोग व संचालन करने की रजिया की इच्छा और दृढ़ता था। पहला विद्रोह लाहौर के हाकिम कबीर खान द्वारा हुआ। रजिया ने लाहौर की ओर कूच किया और इसने कबीर खान को समर्पण करने के लिए विवश कर दिया। उसके बाद उसने कबीर खान को **लाहौर** के बजाय **मुल्तान** का हाकिम नियुक्त किया। वह जैसे ही दिल्ली लौटी वैसे ही **तबरहिंदा** के हाकिम अल्तूनिया ने विद्रोह कर दिया। रजिया ने कबीर खान और अल्तूनिया दोनों ही पर अनुग्रह किया था और उनसे किसी भी विरोध की उम्मीद उसे नहीं थी। उसने अल्तूनिया के विरूद्ध कूच तो किया किन्तु उसे यह पता नहीं था कि वह दिल्ली में मौजूद तुर्क अमीरों के एक शक्तिशाली गुट से संपर्क बनाए हुए था ताकि सत्ता प्राप्त करने के अपने मार्ग को निष्कंटक बनाने के लिए रजिया को गद्दी से हटाने की ताक में थे। अतः जब रजिया तबरहिंदा पहुंची तो तुर्क अमीरों ने विद्रोह कर दिया, याकूत की हत्या कर दी और तबरहिंदा में रजिया को कैद कर लिया। दिल्ली के षडयंत्रकारियों ने इल्तुतमिश के एक अन्य वंशज को राजगद्दी पर बैठाया।

इस घटना ने रजिया के शासन काल का वस्तुतः अंत कर दिया। बाद में अल्तूनिया के साथ उसका विवाह, दिल्ली की ओर कूच बढ़ना एवं उनकी पराजय, उनके द्वारा जल्दबाजी में भर्ती किए गए सैनिकों का पलायन एक रोचक अन्तराल था जिसके सफल होने की संभावना नहीं के बराबर थी। पलायन के दौरान डकैतों ने उसकी हत्या कर दी।

रजिया के दुखद अंत ने चिहलगानी तुर्की अमीरों की बढ़ती हुई शक्ति को प्रदर्शित किया। समकालीन इतिहासकार मिन्हाज सिराज रजिया की अत्यधिक प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं कि रजिया में सुल्तान होने के सभी गुण मौजूद थे, वह बुद्धिमान, लोकोपकारी, अपने राज्य का कल्याण करनेवाली, न्यायप्रिय, अपनी प्रजा का पालन करने वाली एवं एक महान योद्धा थी किन्तु इसके साथ वे पाठकों के सामने यह सवाल भी रखते हैं कि "इन सारे गुणों से उसे फायदा ही क्या हुआ जब वह एक स्त्री हो गई

में पैदा हुई?" तुर्की अमीरों को दोषी ठहराने के बजाय मिन्हाज ने ऐसा कहना ही अधिक उपयुक्त समझा। जैसा कि हम देख चुके हैं, ये रजिया के साथ–साथ उसके उत्तराधिकारियों के पतन के भी प्रधान कारण थे।

रजिया की मृत्यु (1240 ई.) और नायब के रूप में बल्बन की शक्ति के उत्थान के बीच का काल अमीरों और सुल्तान के बीच सतत संघर्ष का काल था। यद्यपि अमीर इस बात से सहमत थे कि इल्तुतमिश के ही किसी वंशज को दिल्ली की राजगद्दी पर बिठाया जाये किन्तु वे चाहते थे कि समस्त शक्ति और प्राधिकार उन्हीं के हाथों में निहित रहें। जैसा कि एक प्रसिद्ध आधुनिक इतिहासकार आर.पी. त्रिपाठी का कथन है, "इल्तुतमिश के परिवार के इतिहास में मुख्य संवैधानिक हित वास्तविक सत्ता पर कब्जा बनाए रखने के लिए सुल्तान और अमीरों के बीच संघर्ष में निहित है।" पहले तो अमीरों को इस संघर्ष में सफलता मिली। उन्होंने इल्तुतमिश के एक पुत्र बहराम शाह को इस शर्त पर रजिया के बाद सुल्तान बनाया कि वह एक तुर्क अमीर ऐतिगीन को नायब के पद पर नियुक्त करेगा। कुछ समय तक तीन अमीरों–नायब, वजीर और मुस्तौफी (महा अंकक्षेक)–के निकाय ने एक प्रकार के प्रशासकीय परिषद के रूप में कार्य किया जिससे सुल्तान का प्रभुत्व केवल एक औपचारिकता मात्र रह गया। किन्तु त्रिशासक गुट के बीच स्वार्थों के आपसी टकराव एवं अपनी शक्तियां पुनः हस्तगत करने के सुल्तान के प्रयासों ने वजीर के साथ एक ऐसे संघर्ष को जन्म दिया जिसमें बहराम शाह को अपनी राजगद्दी और जीवन दोनों ही से हाथ धोना पड़ा। उसके बाद सुल्तान बनने वाले मसूद का अंजाम भी वैसा ही हुआ। समस्त शक्ति अपने ही हाथों में समेटने के वजीर निजाम–उल–मुल्क के प्रयास के कारण उसकी हत्या कर दी गई और बल्बन का उत्थान हुआ जिसने बाद में सत्ता हथियाने के अपने मार्ग को निष्कंटक बनाने के उद्देश्य से सुल्तान को पदच्युत कर दिया।

इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद छह वर्षों के छोटे–से काल में चार सुल्तानों की मृत्यु ने सुल्तान और तुर्क अमीरों के संबंधों में एक गंभीर संकट को इंगित किया। इस काल में शासन की वास्तविक शक्ति अमीर वर्ग के हाथों में थी और सुल्तान नाम मात्र का शासक था किन्तु अमीर वर्ग कोई संयुक्त मोर्चा प्रस्तुत करने में विफल रहा। इन वर्षों के दौरान उच्च राजनीति में निर्णय लेने वाला अति महत्वपूर्ण समूह **तुर्कान-ए-चहलगानी बन्दगान-ए-शम्सी** था। 14वीं सदी के इतिहासकार **जियाउद्दीन बरनी** ने इन संकटकालीन वर्षों का संक्षिप्त एवं रोचक वर्णन किया है। वह लिखता है:

"शम्सुद्दीन इल्तुतमिश के शासनकाल में.....अति महत्वपूर्ण मलिकों, वजीरों, जो शिक्षित, बुद्धिमान एवं योग्य थे, की उपस्थिति के कारण सुल्तान के दरबार में एक स्थिरता आयी.....किन्तु सुल्तान की मृत्यु के बाद....उसके चालीस गुलाम अधिकारियों ने दरबार की राजनीति में सर्वोच्चता प्राप्त कर ली.....सर्वोच्चता प्राप्त करने वाले ये तुर्क गुलाम अधिकारी जो कुलीन वर्ग से संबंधित थे,..... शम्सुद्दीन के उत्तराधिकारियों के शासनकाल में.....विभिन्न बहानों द्वारा नष्ट कर दिए गए।

बरनी ने अपने वर्णन में तत्कालिक घटनाक्रमों पर भी प्रकाश डाला है। सन् 1236-1265 ई. के बीच राजनीतिक घटनाक्रम सिंहासन एवं सैनिक अभिजात वर्ग के बीच संघर्ष के इर्द–गिर्द घूमता रहा। सैनिक अभिजात वर्ग अपने विशेषाधिकारों की स्थिति को बनाए रखने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था और अक्सर संतुलन इस सैनिक अभिजात वर्ग के पक्ष में ही रहा।

सन् 1246 ई. में इल्तुतमिश का एक पौत्र नासिरूद्दीन महमूद को राजगद्दी प्राप्त करवाने में बल्बन का हाथ था। अमीरों के लिए नासिरूद्दीन महमूद जैसा कि सतीशचंद्र लिखते है कि एक उपयुक्त उपकरण था क्योंकि राजनीतिक और प्रशासनिक मामलों में उसकी कोई रुचि नहीं थी; उसके पूर्ववर्ती सुल्तानों का जो हाल हुआ वह उसके लिए पर्याप्त चेतावनी था।

इन परिस्थितियों में सल्तनत के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लग गया। राजनीतिक अस्थिरता उस समय और अधिक तीव्र हो गई जब छोटे–छोटे राजपूत सरदारों एवं स्थानीय सरदारों ने केन्द्र की अवज्ञा शुरू कर दी। इसके अतिरिक्त, मंगोल आक्रमणकारी अभी भी पंजाब के अन्दर तथा आसपास के क्षेत्र में लगातार सक्रिय थे।

1265 ई. में बल्बन के सिंहासनारोहण के साथ ही सल्तनत को एक 'लौह इच्छा शक्ति वाला' शासक प्राप्त हो गया। बल्बन ने स्वयं के लिए दो उद्देश्य निर्धारित किए :

1. ताज की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करना। ससानिद परम्पराओं का पालन करना, जिससे शासक का स्थान आम जनता से बहुत ऊंचा हो और सुल्तान उनके लिए भय का प्रतीक बन जाए।
2. तुर्कों की शक्ति को और सुदृढ़ करना, विद्रोहों का दृढ़ता के साथ दमन करना और प्रशासनिक तंत्र को चुस्त करना।

बल्बन के समक्ष समस्याएं

सिंहासन पर बैठने के पश्चात् बल्बन के समक्ष अनेक समस्याएं खड़ी हुईं, जिनका निवारण करना राज्य की सुरक्षा के [illegible] आवश्यक था। नीतिवश उसने वे हथियार प्रभावहीन कर दिए जिनका प्रयोग उसने अपने उत्थान के लिए किया था। [illegible] प्रयोग करने के लिए फिर कोई आकर्षित न हो। इसके लिए मलिकों व अमीरों को यह बतलाना आवश्यक था कि सुल्तान [illegible] उनकी पहुच के बाहर है और सुल्तान तथा सामंतों में प्रतिस्पर्धा का कोई प्रश्न ही नहीं है। उसे तुर्क दासों और [illegible] दीर्घकालीन सघर्ष समाप्त करना था। जिसमे उसने स्वय एक ऐसी स्थिति मे भाग लिया था जिसे वह अब स्वय स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। सुल्तान की शक्ति तथा मान–मर्यादा पुनस्थापित करने के लिए उसने एक राजत्व सिद्धात का सूत्रपात किया।

राज्य को सुदृढता प्रदान करने के लिए बल्बन के समक्ष दूसरी तत्कालिक समस्या जिसका समाधान उसको करना था वह थी कानून व व्यवस्था की स्थापना करना। बल्बन ने यह अनुभव किया कि सुल्तान होने के नाते उसका मूल्याकन देश में शांति स्थापित करने के जैसा कि वह कहा करता था न्याय स्थापित करने से किया जाएगा। जहां तक कानून और व्यवस्था का संबध है बल्बन के समक्ष चार समस्याग्रस्त प्रदेश थे, **दिल्ली का निकटवर्ती प्रदेश, गंगा-यमुना का दोआब, व्यापारी मार्ग विशेरूप से अवध जाने वाला मार्ग** और **कटेहर (रूहेलखंड) के विद्रोही**। प्रथम तीन के विषय में जो व्यवस्था थी और उसके लिए बल्बन ने उपाय किए उनका **बरनी** ने सुस्पष्ट वर्णन किया है :

> मैंने विश्वसनीय लोगों से सुना है कि सुल्तान बल्बन अपने राज्यारोहण के प्रथम वर्ष दिल्ली के निकटवर्ती जगल कटवाने और मेवों का दमन करने में व्यस्त रहा। वह नगर से बाहर निकल कर आया और अपनी सेना का शिविर लगाकर मेवों का विनाश करना उसने राज्य के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य समझा। इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता और सुल्तान नासिरूद्दीन की दुर्बलता जिसने बीस वर्ष तक राज्य किया था, के फलस्वरूप दिल्ली के निकटवर्ती मेव बड़े शक्तिशाली हो गए थे और उनकी संख्या भी बढ़ गई थी। वे रात में नगर में आ जाते और दीवारें तोड़ कर मकानों में घुस आते और भांति–भांति से निवासियों को सताते थे। मेवों ने दिल्ली के आसपास समस्त सरायें लूट ली थीं और उनके भय से दिल्ली के नागरिकों का सोना हराम था। जैसे–जैसे मेवों की संख्या बढ़ती गई और वे अधिक साहसी होते गए दिल्ली के चारों ओर घने जंगल और विशाल वृत्त भी बढ़ते गए। दोआब और पूर्वी भारतवर्ष के धूर्त व्यक्ति खुल्मखुल्ला डकैती करने लगे। दिल्ली आने वाले मार्ग चारों ओर से बंद हो गए और व्यापारियों तथा कारखानों के लिए आना–जाना असभव हो गया। अंत में मेवों के डर से नगर के पश्चिमी द्वारा दोपहर की नमाज के पश्चात बंद कर दिए जाते थे और तत्पश्चात कोई पवित्र मकबरों पर जाने या सुल्तानी (शम्सी) तालाब की ओर सैर करने के लिए साहस न करता था। किंतु दोपहर की नमाज के पूर्व भी (मेव लोग) पानी भरने वाले उन कहारों और दासियों को सताते थे और उनके कपड़े छीन कर उन्हें नगा कर देते थे जो तालाब से पानी भरने जाती थीं।
>
> बल्बन मेवों का दमन करने और दिल्ली के आसपास का जंगल कटवाने में पूरे एक वर्ष तक व्यस्त रहा। उसने भारी सख्या में मेवों का संहार किया। उसने गोपालगीर में एक दुर्ग का निर्माण किया और अनेक थाने स्थापित किए जहां अफगान नियुक्त किए गए। थानों की व्यवस्था के लिए जो भूमि निश्चित की गई थी उसे कर रहित कर दिया गया। इन मुठभेड़ों में सुल्तान का एक कृपापात्र दास यकलखी मेवों द्वारा मारा गया। सुल्तान ने अपनी तलवार की शक्ति से अनेक व्यक्तियों को (अर्थात मुसलमान) मेवों द्वारा लूटने और सताए जाने से बचा लिए। उस समय के आज तक मेवों के आतक से नगर की रक्षा हो गई है।
>
> मेवों का दमन करने के पश्चात सुल्तान ने दोआब की ओर ध्यान दिया। दोआब के नगर और प्रदेश उन इक्तादारों को प्रदान किए गए जिनके पास आवश्यक धन था। बल्बन ने यह आदेश दिए कि जिन गांवों के लोग आज्ञाकारी नहीं हैं उन्हें बिल्कुल नष्ट कर दिया जाए। निवासियों की हत्या की जानी थी और उनके स्त्रियां तथा बच्चे लूट की सपत्ति के रूप में अधिकृत कर लेने थे। जंगल पूर्णरूपेण काटे जाने थे। कुछ बड़े अमीर जिनके पास विशाल सेनाएं थीं ने यह कार्य पूरा करने के लिए कमर कस ली। उन्होंने विद्रोहियों का विनाश किया, जंगल काट डाले, अराजकता फैलाने वालों को मार डाला और दोआब की जनता को समर्पण और अधीनता स्वीकार करने पर विवश कर दिया।

[illegible] बरनी [illegible]

> [illegible] सुल्तान [illegible] करने के पश्चात बल्बन ने हिंदुस्तान [illegible] [illegible] कुल किया। वह कोने और घाटियों पहुचा और उन क्षेत्रों में जहां भी डाका मारा जाता था [illegible]

के डाकुओं और विद्रोहियों का संहार किया। हिंदुस्तान की ओर का मार्ग खुल गया और व्यापारी तथा कारवां सुरक्षित आने–जाने लगे। इन क्षेत्रों से भारी मात्रा में लूट की संपत्ति दिल्ली आई जहां दास और भेड़ें बड़ी सस्ती हो गई। कंपिल, पटियाली और भोजपुर में, जो हिंदुस्तान के मार्ग में डाकुओं के बड़े–बड़े केंद्र थे, दृढ़ दुर्गों तथा ऊंची और विशाल मस्जिदों का निर्माण किया गया। उपरोक्त तीनों दुर्ग सुल्तान ने अफगानों के लिए निश्चित किए और दुर्गों से संबद्ध उपजाऊ भूमि कर रहित कर दी गई। अफगानों तथा अन्य मुसलमानों को कर रहित भूमि प्राप्त हो जाने से (उस क्षेत्र के) नगर इतने दृढ हो गए कि मार्गों में डकैती और लूटमार हिंदुस्तान जाने वाले मार्ग से बिल्कुल समाप्त हो गई। इसी अभियान में जलाली के दुर्ग का निर्माण किया गया और उसे अफगानों को दिया गया। इस प्रकार डाकुओं के मकान सैनिक चौकियां बन गए। जलाली से संबद्ध भूमि भी कर रहित कर दी गई। जलाली जो पहले लूटमार करने वाले डाकुओं का निवास स्थान था अब मुसलमानों का स्वदेश और मार्गों का रक्षक बन गया और तब से वैसा ही बना हुआ है।

जिस समय सुल्तान इन कार्यों में व्यस्त था, उसे निरंतर यह समाचार मिलते रहते थे कि कटेहर के विद्रोहियों की संख्या बढ़ गई है। 'वे किसानों के गांव लूटते और नष्ट करते थे और बदायूं तथा अमरोहा के क्षेत्रों में लूटमार करते थे। उनकी उद्दंडता विश्वविदित थी। वे इतने शक्तिशाली हो गए थे कि वे बदायूं और अमरोहा के इक्तादारों के आदेशों की परवाह नहीं करते थे और उनकी शक्ति के भय से निकटवर्ती क्षेत्रों के वाली (अधिकारी) भी हस्तक्षेप न कर पाते थे।' बल्बन ने यह निश्चय किया कि कटेहर का दमन शाही सेना का दायित्व है। वह कंपिल और पटियाली से दिल्ली लौटा और केंद्रीय सेना में दस्तों को तैयार होने का आदेश दिया और यह घोषणा की कि वह पर्वतीय देश की ओर शिकार खेलने जाएगा। किंतु जब सेना तैयार हो गई तो उसने कटेहर की ओर कूच किया और दो रात दिन की यात्रा के पश्चात् कटेहर पहुंच गया। 'बल्बन कुछ दिन तक उस प्रदेश में रहा। कटेहर में आतंक फैलाने वालों का रक्त भूमि पर बहने लगा। लाशों के ढेर प्रत्येक गांव के आगे लगाए गए और सड़ने वाली लाशों की दुर्गंध गंगा नदी की तट तक पहुंची....। उस समय से जलालुद्दीन (खिलजी) के शासनकाल के अंत तक कटेहर में किसी विद्रोही ने सर न उठाया।'

तत्पश्चात बल्बन ने जूद पर्वतमाला (साल्ट रेन्ज) की ओर कूच किया और वहां के विद्रोहियों को दंड दिया। इन सैनिक कार्यवाहियों के फलस्वरूप उसे इतने घोड़े प्राप्त हुए कि बाजार में उनका मूल्य गिर गया और तीस या चालीस टंकों में एक घोड़ा खरीदा जा सकता था। इस प्रकार कुछ ही वर्षों में सुल्तान ने प्रत्येक अशांत क्षेत्र में शांति स्थापित की और समस्त विद्रोही तत्वों को सत्ताधीन कर लिया।

विस्तार के बजाय संगठन पर बल

जब राज्य के समस्त प्रदेशों में कानून और व्यवस्था स्थापित हो गई तो बल्बन 'संगठन' और 'विस्तार' में से एक को अपनी प्रशासनिक नीति के लिए चुनने पर विवश हुआ। यद्यपि वह पक्का साम्राज्यवादी था फिर भी उसने संगठन की नीति अपनाई। यह निर्णय परिस्थितियों के वास्तविक मूल्यांकन पर आधारित था। 1. साम्राज्य के अंतर्गत हिंदू शासक सदैव दिल्ली के सुल्तान की सत्ता उखाड़ फैकने के अवसर की ताक में रहा करते थे। उनकी गतिविधियों पर दृष्टि रखना आवश्यक था और उन्हें दिल्ली के नियंत्रण और आधिपत्य में लाना था। 2. व्यास–नदी पर दिल्ली के इतने निकट मंगोलों की उपस्थिति काफी चिंता का विषय था। यदि उन्हें रोका न गया तो किसी समय भी तूफान आ सकता था। जब आदिल खां और तम्र खां ने। जो उसके सेनानी थे, उसे गुजरात मालवा और हिंदुस्तान के अन्य प्रदेशों पर जो ऐबक और इल्तुतमिश के अधिकार में रह चुके थे विजय प्राप्त करने की सलाह दी तो बल्बन ने इस प्रकार अपनी नीति का स्पष्टीकरण किया :

> ऐसी स्थिति में जब कि मंगोलों ने समस्त मुस्लिम देशों पर अधिकार कर लिया है और लाहौर नष्ट कर यह संकल्प किया है कि प्रत्येक वर्ष वे एक बार हमारे देश पर आक्रमण करेंगे तो ऐसे आतंक और अरक्षा के दिनों में दिल्ली छोड़ कर सुदूर अभियानों पर जाना बुद्धिमानी नहीं है...। यदि मैं राजधानी के बाहर जाऊंगा तो निश्चय ही मंगोल इस अवसर का लाभ उठा कर दिल्ली पर धावा बोलेंगे और दोआब रौंद डालेंगे। विदेशों पर आक्रमण करने से कहीं अधिक श्रेयस्कर है अपने राज्य में शांति बनाए रखना और अपनी शक्ति संगठित करना जबकि हमारे अपने प्रदेश सुरक्षित नहीं हैं। इसके अतिरिक्त नए विजित क्षेत्रों पर शासन करने के लिए योग्य अधिकारियों और सुसज्जित सेनाओं की आवश्यकता होगी जिन्हें मैं वर्तमान स्थिति में त्याग नहीं सकता। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि मैं मंगोल की शक्तिशाली और सुसंगठित सेना का सामना करूंगा किंतु यदि मुझे अवसर मिला तो मैं निस्संदेह शेष हिन्दुस्तान पर अधिकार करूंगा और अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करूंगा।

जिन प्रदेशों पर अधिकार था उन्हें संगठित करने में बल्बन ने अपनी समस्त शक्ति लगा दी और अपनी [illegible] महत्त्वाकांक्षाओं को नियंत्रित रखा। बल्बन का सारा ध्यान अधिकांशतः मंगोल खतरे की ओर लगा रहा और उसने दिल्ली से बहुत दूर कहीं भी कोई सैनिक अभियान नहीं किया।

बरनी के अनुसार, बल्बन के सुल्तान बनाने के बाद सरकार की गरिमा और शक्ति पुनः बहाल हुई और [illegible] दृढ़ इरादे के कारण समूचे राज्य के ऊंच-नीच सभी लोग उसकी सत्ता के समक्ष सिर झुकाने के लिए बाध्य हुए। [illegible] वक्तव्यों की तरह इस वक्तव्य पर भी सावधानीपूर्वक विचार किया जाना चाहिए। यद्यपि बल्बन के अधीन केंद्र सरकार [illegible] और शक्ति में वृद्धि हुई, किन्तु आंतरिक प्रतिरोध के स्वर बराबर उभरते रहे जिसके दो पहलू थे : पहला, महत्त्वाकांक्षी तुर्क मीर और सरदारों द्वारा, जिनमें से कुछ तो भारत के पड़ोस में स्थित थे, स्वयं के लिए स्वतंत्र राज्य स्थापित करने के प्रयास। दूसरा, बड़े भूस्वामी समेत राजपूत राजाओं और रायों द्वारा स्वयं को स्वतंत्र करने तथा, यथासंभव तुर्कों को अपने राजक्षेत्र से खदेड़ने के प्रयास।

राजपूत राजाओं और रायों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजस्थान में स्थित थे। रजिया की मृत्यु के पश्चात उत्पन्न अस्थिरता की स्थिति में ग्वालियर और रणथम्भौर दोनों ही तुर्कों के हाथ में नहीं रहे क्योंकि राजपूत सेनाओं का मुकाबला कर पाना उनके लिए संभव नहीं रह गया था। बल्बन ने ग्वालियर पर तो पुनः कब्जा कर लिया किन्तु रणथम्भौर पर पुनः अपना आधिपत्य कायम करने के उसके प्रयास सफल नहीं हो पाए। इसी समय से रणथम्भौर के चौहानों की शक्ति तेजी से बढ़ने लगी। किन्तु उनके विस्तारवादी प्रयास राजस्थान, मालवा और गुजरात के शासकों के विरुद्ध संचालित थे, न कि तुर्कों के विरुद्ध। अजमेर और नागौर पर तुर्कों का कब्जा बना रहा लेकिन इन नगरों के बाहर राजस्थान में उनका कोई प्रभाव नहीं था।

यमुना नदी के दक्षिण में स्थित बुंदेलखंड क्षेत्र पर राजपूतों की विभिन्न शाखाओं-चंदेलों, भर एवं बघेलों का शासन कायम हो बल्बन ने कड़ा के दक्षिण में मैदानी क्षेत्र को साफ करने के उद्देश्य से रीवा के बघेल शासक के विरुद्ध एक सैनिक अभियान का नेतृत्व किया। उसकी विजय एवं उसे वहां से प्राप्त लूट के माल का उल्लेख करते हुए **मिन्हाज** ने काफी अतिशयोक्ति से काम लिया है।

इस प्रकार राजपूतों के किसी भी प्रयास से तुर्क राज्य के अस्तित्व अथवा मूलभूत राजक्षेत्रीय अखंडता को खतरा पैदा नहीं हुआ। किन्तु आंतरिक कलहों अथवा मतभेदों को दबाने के लिए सुल्तानों ने कभी-कभी तथाकथित हिन्दू खतरे का अपने हित में फायदा उठाया। लूटपाट के उद्देश्य से बलबन ने मालवा में भी एक अभियान संचालित किया वस्तुतः तुर्क राज्य इस समय विस्तारवादी नीति अपनाने की स्थिति में नहीं था।

उपरोक्त संघर्षों की तुलना में सल्तनत के भीतर और बाहर के महत्त्वाकांक्षी तुर्क अधिकारियों द्वारा अपने-अपने स्वतंत्र राज्य बनाने के प्रयास अधिक गंभीर थे। मंगोल खतरे का लाभ उठाते हुए **करलूगो** ने, जो गौर और गज़नी के स्थानीय शासक रह चुके थे किन्तु मंगोलों द्वारा खदेड़ दिए गए थे, सिंधु नदी के पार **कोह-ए-जूद** अथवा नमक की पहाड़ियों आदि क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। उन्होंने मुल्तान और सिंध पर भी अपना नियंत्रण कायम करने की कोशिश की। मंगोलों से होने वाले जटिल संघर्ष में कोह-ए-जूद कभी-कभी उनके हाथों से निकलकर मंगोलों के पास चला जाता था और कभी-कभी वे पुनः उस पर कब्जा कर लेते थे। तथ्य तो यह है कि इस भूखंड पर दिल्ली सुल्तान का प्रभावी नियंत्रण समाप्त हो चुका था। यद्यपि लाहौर तक दिल्ली सल्तनत के नाममात्र के नियंत्रण में बना रहा, किन्तु उत्तर-पश्चिम में प्रभावी सीमा ब्यास नहीं ही रह गई थी जिसके [illegible] अधिकांश पंजाब दिल्ली सल्तनत के नियंत्रण से बाहर हो गया था। सिंध में भी अनेक हाकिमों ने स्वतंत्रता का झंडा [illegible] जिनमें से कुछ ने तो दिल्ली से मुक्त होने के अपने प्रयास में मंगोल व्यवस्थापक को भी स्वीकार कर लिया था। किन्तु इल्तुतमिश और बाद में बल्बन मुल्तान और सिंध पर अपना कब्जा कायम करने में सफल हुए।

पूर्व में बंगाल और बिहार अधिकांशतः लखनौती के हाकिमों के अधीन रहे और परिस्थितियों के अनुसार कभी दिल्ली सुल्तान के समक्ष अपनी अधीनता का डंका पीटते थे तो कभी स्वतंत्र होने की घोषणा करते थे। उनमें से कुछ ने तो **कामरूप** [illegible] **जाजनगर**, (उड़ीसा) एवं **दक्षिणी बंगाल** (राधा) पर भी अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया किन्तु इन्हें स्थानीय शासकों के साथ संघर्ष में गंभीर पराजयों का भी मुंह देखना पड़ा क्योंकि इस प्रयोजन के लिये उनके पास [illegible] नहीं थे। कुछ हाकिमों ने तो अपना नियंत्रण बिहार से मानिकपुर एवं अवध तक फैलाने का प्रयास किया। यदि ऐसा होता तो दिल्ली की तुर्की सुल्तनत विखंडित हो जाती और उसे कई अन्य आंतरिक समस्याओं का भी सामना करना पड़ता।

इल्तुतमिश ने खिलजी सरदार इवाज के विरुद्ध दो अभियान किये थे। स्वयं उसके द्वारा एवं परवर्ती दिल्ली सुल्तानों द्वारा बिहार को लखनौती से अलग करने के प्रयास सफल नहीं हो पाए थे। इस प्रकार, इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद उत्पन्न अस्थिरता की स्थिति एक अन्य खिलजी सरदार तुगन खान लखनौती और बिहार का स्वामी बन बैठा। उसने राधा पर आक्रमण किया एवं एक बार तिरहुत पर भी छापा मारा। यहां तक कि उसने अवध और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों पर कब्जा करने का भी असफल प्रयास किया उसने इतनी सावधानी अवश्य बरती कि दिल्ली की अधीनता को स्वीकार किये रहा और रजिया तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी स्थिति को पुष्टि व सम्मान की प्राप्ति होती रही जिसमें राजस्व का प्रतीक माना जाने वाला छत्र भी शामिल था। यह स्थिति तब तक बनी रही जब उड़ीसा के गंग शासकों के साथ अपने संघर्ष में तुगन को पीछे हटना पड़ा और उसे दिल्ली से सहायता का अनुरोध करना पड़ा। उड़ीसा की सेना ने लखनौती में उसे घेर लिया और वह तभी पीछे हटी जब उसे ज्ञात हुआ कि अवध के हाकिम के नेतृत्व में एक सेना तुगन खान की सहायता के लिए आ रही है। अवध के हाकिम ने तुगन को हटाकर स्वयं ही लखनौती की सत्ता संभाली किंतु वह शीघ्र ही मारा गया।

जब बल्बन ने दिल्ली में नायब के रूप में सत्ता संभाली तो उसने अपने दास युजबेक को लखनौती का हाकिम बनाकर रवाना किया। अपने पूर्ववर्तियों की तरह युजबेक ने भी शीघ्र ही स्वतंत्र रूप से शासन करना शुरू कर दिया। यद्यपि उड़ीसा के विरुद्ध वह सफल नहीं हो सका, किन्तु उसने राधा पर कब्जा जमाने (1255 ई.) में सफलता प्राप्त कर ली। इस सफलता के कारण दिल्ली की ओर उसकी नीति में परिवर्तन हुआ। उसने अब सुल्तान की उपाधि तथा शाही छत्र धारण किया। अवध में, जहां के हाकिम को बल्बन ने निकाल दिया था, संघर्ष का लाभ उठाते हुए युजबेक ने अवध पर चढ़ाई कर दी और उस पर कब्जा कर लिया और अपने नाम से खुत्बा पढ़वाया। किन्तु अवध की ओर दिल्ली की सेना से बढ़े चले आने की अफवाह सुनकर युजबेक भाग खड़ा हुआ। इस असफल अभियान के बाद युजबेक ने कामरूप पर आक्रमण किया। स्थानीय शासक जहां तक पीछे जा सकता था, हटता गया और वर्षा ऋतु के आरंभ होने पर युजबेक पर प्रहार करना शुरू कर दिया। उफनती हुई नदी के कारण अपने राज्य के युजबेक का संपर्क टूट गया। उसकी जबरदस्त हार हुई, उसे पकड़ लिया गया और मार डाला गया (1257 ई.)।

इस प्रकार, दिल्ली से एक के बाद एक बंगाल भेजे जाने वाले तुर्क अधिकारियों ने स्वतंत्र होने का प्रयास किया। सबसे बुरा हश्र **तुगरिल** नामक एक दास अधिकारी का हुआ जिसे बल्बन ने **युजबेक** के बाद **लखनौती** का हाकिम नियुक्त किया। अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के बाद तुगरिल ने जाजनगर के शासक के क्षेत्रों पर छापा मारा एवं ढेर सारा धन और बहुत से हाथी लूटकर ले आया जिसमें से दिल्ली को हिस्सा देने से इंकार कर दिया। उसने सुल्तान की उपाधि धारण कर ली एवं अपने नाम से **खुत्बा** पढ़वाया।

तुगरिल के विद्रोह की खबर ने बल्बन को अत्यधिक विचलित कर दिया। बंगाल की घटनाओं के कारण दिल्ली में उसकी स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। सन् 1276 ई. में बल्बन ने अवध के हाकिम **अमीन खान** को अपनी सेना और केंद्रीय सेना की एक टुकड़ी को साथ लेकर कूच करने एवं तुगरिल के विद्रोह को कुचलने का आदेश दिया। किन्तु तुगरिल के साथ संघर्ष में अमीन के बहुत सारे सैनिक उसका साथ छोड़कर तुगरिल के पक्ष में चले गए क्योंकि तुगरिल ने उन्हें अपने पक्ष में करने के लिए बहुत सा धन खर्च किया। जब अमीन खान दिल्ली लौटा तो बल्बन ने क्रोध में आकर उसका सिर काट लिया और उसके शव को सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए रख दिया। बल्बन ने अब बहादुर नामक अपने एक चुनिन्दा अधिकारी को तुगरिल को दंडित करने की जिम्मेदारी सौंपी। लेकिन परिणाम फिर वही निकला। बहादुर ने काफी बहादुरी के साथ लड़ाई की किन्तु तुगरिल के हाथों पराजित हो गया। दिल्ली की सेना बिखर गई और बहुत सारे सैनिक तुगरिल के पक्ष में चले गए।

इस प्रकार बल्बन के सामने अत्यंत गंभीर स्थिति आ पहुंची। दो अधिकारी पराजित हो चुके थे और तुगरिल बल्बन के एक प्रतिद्वद्वी के रूप में उभर रहा था। अतः बल्बन ने तुगरिल के विरूद्ध स्वयं ही सैनिक अभियान का नेतृत्व करने का निर्णय लिया। हर आकस्मिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए उसने अपने ज्येष्ठतम पुत्र शाहजदा मुहम्मद को अपना वैध उत्तराधिकारी मनोनीत किया। किन्तु दिल्ली के क्रियाकलापों के संचालन की जिम्मेदारी उसने किसी तुर्क अमीर को नहीं, अपितु दिल्ली के कोतवाल फखरुद्दीन को सौंपी तथा उसे नायब का पद प्रदान किया। बल्बन ने अपने द्वितीय पुत्र बुगरा खान को लखनौती की ओर प्रयाण में अपने साथ ले लिया।

तुगरिल के विरुद्ध अभियान में बल्बन को दो वर्ष (1280-82) लग गए क्योंकि तुगरिल उसके साथ युद्ध करने से बचता रहा था और [illegible] इस अभियान में अकबर खान दिल्ली लौट आया किन्तु [illegible] कुछ [illegible] दबाव लिया और उसको हटा दिया। बल्बन ने लखनौती में तुगरिल के समर्थकों को क्रूरतापूर्वक दंड दिया। किन्तु [illegible]

दिल्ली लौटा तो उसे तुगरिल के पक्ष में जाने वाले दिल्ली के सैनिकों के सम्बन्ध में वही उदाहरण प्रस्तुत न करने का आश्वासन दिया गया। शायद तुर्कों की एकता को बनाए रखने की बल्बन की इच्छा अधिक बलवती साबित हुई। इसके बाद बुगरा खान को पूर्वी क्षेत्र का हाकिम नियुक्त किया गया। किन्तु बुगरा खान ने ही बल्बन की मृत्यु के बाद एक स्वतंत्र राजवंश की आधारशिला रखी जिसने लगभग चालीस वर्षों तक बंगाल पर शासन किया।

बल्बन का राजत्व सिद्धान्त

बल्बन का एक दास के पद से उत्कर्ष उसकी योग्यता व प्रतिभा का प्रमाण है। बल्बन ने मंत्री के रूप में अपने प्रभाव, शक्ति व सत्ता को इतना अधिक दृढ़ कर लिया था कि सिंहासनारोहण में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। **हबीबुल्लाह** के अनुसार "लगभग बीस वर्षों तक महमूद ने राज किया था परन्तु शासन नहीं किया।" बल्बन ने इन बीस वर्षों में सल्तनत की शक्ति को संगठित कर प्रशासन संभाला और राजवंश के पतन का रोका। **बरनी** के अनुसार 'नायक' के रूप में भी बल्बन को राजकीय उपाधि प्राप्त थी अतः जब वह गद्दी पर बैठा तो उसे किसी भी प्रकार के विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। भारत में शासन करने और अपनी प्रजा से अपनी इच्छा मनवाने का तरीका बल्बन से अधिक और कोई सुल्तान न जान पाया था।

बल्बन ने यह अनुभव किया कि उस समय समस्त सैनिक और असैनिक शक्तियों से युक्त शासक की आवश्यकता थी। कुशल नेतृत्व के बिना विभिन्न अभिजात वर्गों को संगठित रखना कठिन था। बल्बन का कार्य सरल नहीं था। दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा कम हो गई थी और तुर्क अमीर शक्तिशाली थे। इसलिए सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा को ऊंचा उठाना आवश्यक था। बल्बन ने सर्वप्रथम फारस के इस्लामी राजत्व के राजनीतिक सिद्धांतों व परंपराओं के आधार पर अपने शासन को संगठित किया। उसने दक्ष व प्रसिद्ध व योग्य अधिकारियों को राज्य में नियुक्त किया, जिससे राज्य का कार्य कुशलतापूर्वक चलाया जा सके। राजनीतिक आवश्यकता ने उसे बाध्य किया कि वह शासन की समस्याओं को ध्यानपूर्वक सुलझाए। उसने राज्य कार्य को नया उत्साह प्रदान कर राज्य की शक्ति को पुनर्स्थापित किया। कानूनों को कठोरता व उत्साह के साथ लागू करके उसने राज्य–शक्ति के पतन को रोका। शासन की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने में उसे अधिक समय नहीं लगा।

संभवतः बल्बन दिल्ली का एकमात्र सुल्तान है जिसने राजत्व संबंधी अपने विचारों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। सुल्तान के उच्च पद और शासक के कर्त्तव्यों के विषय में उसने अपने स्पष्ट व विस्तृत विचार प्रकट किए। राजमुकुट को उच्च व सम्मानित स्तर पर स्थापित करने के लिए और सामंतशाही के विरोध व संघर्ष को समाप्त करने के लिए भी यह आवश्यक था कि राजा के पद को अधिक प्रतिष्ठित बनाया जाए। हिंदू व मंगोल आक्रमणों के विरूद्ध एक संगठित शासन की आवश्यकता थी जिसमें शासक की शक्ति सर्वोपरि और निर्विवाद स्वीकार की जाए। इल्तुतमिश ने राजा के पद की केवल रूपरेखा खींची थी। परन्तु बल्बन ने उसे पूर्ण उच्चता व नवीन शक्ति प्रदान की। **डॉ. निजामी** का विचार है कि "इन निरंतर उपदेशों के पीछे उसकी हीन भावना एवं अपराध भाव की जटिल प्रक्रिया का भी आभास किया जा सकता है। अपने मलिकों और अमीरों के, जिसमें अधिकांश उसके सहचर थे, कानों में निरंतर चिल्ला–चिल्लाकर यह कहने से कि राजत्व एक दैवी संस्था है, उसका यह उद्देश्य था कि राजहत्या का जो कलंक उसके माथे पर लगा था, उसे धो डाले और उनके मन में यह विचार भली–भांति बिठा दे कि वह देवेच्छा से ही सिंहासनारूढ़ हुआ है न कि किसी हत्यारे के विष भरे प्याले या कटार से।" **हबीबुल्लाह** जो बल्बन को अपने स्वामी का हत्यारा होने का दोषी नहीं मानते हैं, लिखते हैं कि 'गद्दी पर अपने वंशानुगत उत्तराधिकारी के अभाव को जानते हुए उसने अपनी प्रतिष्ठा में वृद्धि करने के लिए स्वयं को तुर्की पौराणिक वीर अफरासियाब का वंशज बताया। अपने शब्दों और कार्यों से उसने निरंतर सुल्तान की पवित्रता पर बल दिया।' संभवतः इसका यह भी कारण था कि वह दासता से मुक्त नहीं किया गया था। मिनहाज या **बरनी** ने उसकी दासता से मुक्ति का कोई उल्लेख नहीं किया है। ऐसी स्थिति में वह इस कानूनी अयोग्यता के कारण सुल्तान के पद का अधिकारी नहीं था। यही कारण है कि उसने दैवी दायित्व की आड़ लेकर अपनी सत्ता को वैधानिक रूप देने का प्रयत्न किया।

बल्बन राजा के कर्त्तव्यों के संबंध में जो विचार रखता था, वह उसके वसय (Wasaya) से प्राप्त होते हैं। मध्यकालीन फारस की एक लोकप्रिय परंपरा यह थी कि प्रसिद्ध शासकों और राजनीतिज्ञों के वसय को संकलित किया जाए। दिल्ली के सुल्तानों को समझाया, वह उसके विचारों को परिलक्षित करता है। अपने पुत्रों, मुहम्मद और महमूद को जो आदेश उसने दिए, वह न केवल मध्यकाल की राजनीतिक विचारधारा का संक्षेप हैं वरन् स्वयं उसके राजनीतिक व्यक्तित्व के आंतरिक संघर्षों को पूर्णतः प्रकट करते हैं। वसय का प्रथम भाग सुल्तान के कर्त्तव्यों पर आधारित है। वसय के दूसरे भाग में उसने अपने पुत्रों का राजत्व के संबंध में निर्देश दिए हैं जिनमें से कुछ ये थे–

"व्यक्तियों के ऊपर शासन करने को एक मामूली और महत्त्वहीन कार्य न समझो, यह एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है जिसमें

गंभीरता व उत्तरदायित्व की भावना के साथ पूरा किया जाना चाहिए।"

"राजा का हृदय ईश्वर की कीर्ति को प्रतिबिंबित करता है। वह यदि निरंतर ईश्वरीय ज्योति प्राप्त नहीं करता है तो शासक कभी अपने अनेक और अति महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों को पूर्ण नहीं कर सकता। अतः राजा को अपने हृदय तथा आत्मा की पवित्रता के लिए प्रयत्न करना चाहिए और ईश्वर की दया के लिए अनुग्रही रहना चाहिए।"

"एक अनुग्रही राजा सदा ईश्वर के संरक्षण के छत्र से रक्षित रहता है।"

"राजा को इस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए कि मुसलमान उसके प्रत्येक कार्य, शब्द व क्रियाकलाप को मान्य और प्रशंसित करें।"

"उसे इस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए कि उसके शब्दों, कार्यों, आदेशों, व्यक्तिगत योग्यताओं व गुणों से लोग शरीअत के नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने के योग्य हो सकें।"

इस प्रकार बल्बन के राजत्व–सिद्धांत का स्वरूप और सार फारस के राजत्व से प्रेरित था। उसने फारस के लोक–प्रचलित वीरों के प्रेरणा लेकर अपना राजनीतिक आदर्श निर्मित किया था। उनका अनुकरण करते हुए उसने राजत्व की प्रतिष्ठा को उच्च सम्मान दिलाने का प्रयत्न किया। राजा को धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि 'नियाबते खुदाई' माना गया। बल्बन के अनुसार मान–मर्यादा की दृष्टि से वह केवल पैगम्बर के बाद है। राजा 'जिल्ले अल्लाह' अर्थात् ईश्वर का प्रतिबिंब है और उसका हृदय दैवी–प्रेरणा व कांति का भंडार है। ईश्वर से राजसी दायित्व की पूर्ति के लिए प्रेरित व निर्देशित करता है। इस प्रकार के विचारों को बल्बन ने इसलिए व्यक्त किया कि यह धारणा निराधार मानी जाए कि राजा की शक्ति का स्त्रोत अभिजात वर्ग या जनता है। उसने इस पर बल दिया कि राजा को शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है, इसलिए उसके कार्यों की सार्वजनिक जांच नहीं की जा सकती। निजामी के अनुसार यह एक जटिल धार्मिक युक्ति थी जिससे वह अपनी निरंकुश सत्ता को पवित्र बनाना चाहता था। उसने यह घोषणा की कि 'राजा का हृदय ईश्वर कृपा का विशेष कोष है और इसमें समस्त मनुष्य जाति के उसके समान कोई नहीं है।' उसने माना कि 'राजत्व निरंकुशता का शारीरिक रूप है। इस प्रकार की निरंकुशता सुल्तान की हत्या का खतरा उत्पन्न करती थी। अतः उसे अपनी सुरक्षा के प्रति सावधान रहना चाहिए और जनता में अपने प्रति भय की भावना जागृत करनी चाहिए।'

दिखावटी मान–मर्यादा और प्रतिष्ठा को बल्बन ने राजत्व के लिए आवश्यक बना दिया। अपने संपूर्ण शासन काल में अपने साधारण व्यक्तियों से कोई संपर्क नहीं रखा। वह साधारण व्यक्तियों से बात करना भी पसंद नहीं करता था। फâ बावनी नामक दिल्ली के एक धनी व्यक्ति ने राजमहल के अधिकारियों को रिश्वत देकर सुल्तान से भेंट करने का प्रयत्न किया परन्तु बल्बन ने अपने दरबारियों का निवेदन स्वीकार नहीं किया। वह किसी भी शर्त पर राजत्व के आदर्श की महानता बनाए रखना चाहता था। उसने राजा के पद को जीवित रखने के लिए कुछ मूलभूत तत्त्वों को आवश्यक समझा, जैसे राजकीय प्रतिष्ठा, सम्मान, वैभव, मान–मर्यादा और आचार–व्यवहार। उसने राजा के पद को एक ऐसी संस्था का रूप दिया जिसका जनसाधारण के साथ निकट संपर्क नहीं होना चाहिए। जनता की अपेक्षा राजा का पद अधिक ऊंचा था। ऐसी स्थिति में जनता के साथ उसका कोई एकीकरण नहीं हो सकता था। उसका विचार था कि अगर राजत्व को जनता के निकट ले जाया जाए तो उसका अंत हो जाएगा। इसका परिणाम यह होगा कि साधारण लोग भी राजा का पद प्राप्त करने की लालसा करने लगेंगे। इसलिए यदि राजत्व की संस्था का अस्तित्व बनाए रखना है तो राजा को न तो जनसाधारण से संपर्क रखना चाहिए और न ही उनसे प्रभावित होना चाहिए।

यदि राजा के व्यक्तिगत या सार्वजनिक जीवन से राजत्व के तत्त्व जैसे प्रतिष्ठा, सम्मान, महानता आदि अदृश्य हो जाएंगे तो वह राजमुकुट को सुरक्षात्मक सहयोग नहीं दे सकेगा। राजा और जनता के बीच कोई निर्धारित अंतर नहीं रह जाएगा। ऐसा राजत्व आक्रमण के खतरे से भी नहीं बच सकेगा। कोई भी इस पद को हड़प कर सकेगा। इस प्रकार राजत्व की कीर्तिमय संस्था स्वयं शासक द्वारा नष्ट कर दी जाएगी और राज्य के कानून समाप्त हो जाएंगे। साधारण व्यक्ति राजा की आज्ञा नहीं मानेगा, उसका आदर नहीं करेगा और उसके प्रति स्वामिभक्त नहीं रहेगा। बल्बन के अनुसार राजा का यह प्रमुख कर्तव्य था कि जनता की स्वामिभक्ति अपने प्रति रखे और यह तभी संभव होगा जब राजत्व का भय और आतंक राजत्व का मुख्य तत्त्व रहेगा। यदि राजत्व स्वयं को जनसाधारण के सम्मुख असम्माननीय और आदरहीन बनाएगा तो उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि अपने पद को सुरक्षित रख सकेगा।

वंशावली के महत्त्व पर बल्बन ने अत्यधिक बल दिया। उसने स्वयं को **फिरदौसी** के '**शाहनामा**' में वर्णित अफरासियाब के वंश से संबंधित घोषित किया। अपने समस्त अधिकारियों तथा सरकारी कर्मचारियों के पारिवारिक स्तर को निश्चित करने के लिए सभी प्रदेशों से वंशावली विशेषज्ञ एकत्रित किए गए। बल्बन ने लगभग तीस अधिकारियों को पदच्युत कर दिया जो उच्च वंश के नहीं

थे। उसने अपने दरबारियों को इसलिए बहुत डांटा कि उन्होंने कमाल महियार नाम के एक नए मुसलमान को अमीरेहा **'मुतसर्रिफ'** के पद पर चुना था। वह सदैव कुलीन व अकुलीन परिवार के व्यक्तियों में अंतर करता था। अकुलीन व्यक्तियों से वह व्यक्तिगत संपर्क रखता था, न ही उन्हें कोई पद देता था। उसने कहा, "जब मैं किसी तुच्छ परिवार का व्यक्ति देखता हूं मेरे शरीर की प्रत्येक नाड़ी क्रोध से उत्तेजित हो जाती है।" बल्बन के केवल तुर्कों की प्रधानता बनाए रखने का निश्चय किया परन्तु बल्बन के काल की परिस्थितियों में परिवर्तन हो चुका था। इल्तुतमिश के समय में नए राज्य की नींव मजबूत बनाने व उसके विस्तार के लिए केवल तुर्कों का सहारा लिया गया। क्योंकि हिंदुकुश के पार से तुर्कों का बड़ी संख्या में आगमन होता रहा। परन्तु बल्बन के काल में अनेक हिंदू–मजदूर वर्ग जैसे जुलाहे, कसाई, महावत, आदि इस्लाम धर्म ग्रहण कर रहे थे। वह ऐसी सरकार स्वीकार नहीं कर सकते थे जिसमें समस्त उच्च पद सुल्तान के तुर्क अमीरों के लिए ही सुरक्षित हों। दूसरे, हिंदू भारी संख्या में फारसी सीख रहे थे परंतु बल्बन की शासन व्यवस्था में उनके लिए भी कोई स्थान नहीं था। बल्बन की शांति तथा संगठन की नीति के फलस्वरूप एक मिश्रित हिंदू–मुस्लिम संस्कृति का अप्रत्यक्ष रूप से विकास हो रहा था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि सल्तनत भी अब तुर्क न रहकर एक हिंदू–मुस्लिम राज्य में परिवर्तित हो जाए। परंतु बल्बन ने इस प्रक्रिया को रोकने का प्रयत्न किया जो **हबीबुल्लाह** के अनुसार, "न केवल निरर्थक अपितु अत्यंत बुद्धिहीनतापूर्ण थी।" उच्च कुलीन तुर्कों की संख्या कम होती जा रही थी। ऐसी स्थिति में उनकी प्रधानता बनाए रखना असंभव था।

बल्बन ने अपने राजत्व को प्रभावशाली बनाने के लिए फारस की रहन–सहन की परंपराओं को अपनाया। अपने व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन में उसने फारस के रीति–रिवाजों का अनुकरण किया। उसने अपने पौत्रों के नाम भी फारस के सम्राटों की भांति कैकुबाद, कैखुसरो और कैकाऊस रखे। उसने अपना दरबार ईरानी परंपरा के आधार पर आधारित किया तथा उसी प्रकार के शिष्टाचार और औपचारिकता को सावधानी के साथ लागू किया। उसने दरबार की शोभा इस प्रकार की बनाई कि उसके राज्य की व्यवस्था समृद्धि और वैभव को प्रतिबिंबित करे। राज्यारोहण से पूर्व ही, जब हलाकू के प्रतिनिधि 1259 में भारत आए तो बल्बन ने उनके स्वागत की वैभवपूर्ण योजना बनाई और दरबार को सावधानी के साथ बड़ी शान–शौकत से सुसज्जित किया। गद्दी पर बैठने के बाद उसने सस्सानियों व ख्वारिजमी शासकों के दरबार का सावधानीपूर्ण अनुकरण किया और राजत्व की मान–मर्यादा से संबंधित तत्त्वों के महत्त्व पर बल दिया। दरबार का शिष्टाचार इन तत्त्वों में से एक था। बल्बन स्वयं संपूर्ण राजसी वैभव व उपकरणों के साथ ही दरबार में उपस्थित होता था। अपने निजी सेवकों के सामने भी सदा वह शाही पोशाक, मोजे और मुकुट के साथ ही उपस्थित होता था। सोलहवीं शताब्दी के लेखक **फिजूनी अस्तराबादी** के अनुसार उसके लंबे चेहरे पर दाढ़ी थी और उसके ऊंचे मुकुट से उसकी दाढ़ी के अंतिम छोर तक लगभग एक गज की लंबाई होती थी। इस भय उत्पन्न करने वाले व्यक्तित्व के साथ वह दरबार में बैठता था और शिष्टाचार व दरबार की प्रतिभा के तत्त्वों को महत्त्व देता था। सस्सानियों व ख्वारिजमी शासकों के समान उसने उच्च वेतन प्राप्त करने वाले, भय जागृत करने वाले अंगरक्षकों को नियुक्त किया। वे अपनी वर्दी में तलवारों के साथ सुल्तान के चारों ओर खड़े होते थे।

गद्दी पर बैठने के तुरंत पश्चात् उसने अपनी जीवनचर्या व आदतों में परिवर्तन किया। अपनी सामाजिक सभाओं में होने वाले नृत्य, संगीत, मद्यपान सभी पर पूर्ण प्रतिबंध उसने लगाया। उसने फारसी परंपरा का अनुकरण करते हुए अपने दरबार में **सिजदा** (घुटने पर बैठकर सिर झुकाना) और **'पायबोस'** (सुल्तान का चरण–चुंबन) को अपनाया जिसका पालन उन लोगों को पूरी तरह करना पड़ता था जिन्हें उसके समक्ष आने का विशेषाधिकार प्राप्त होता था। उसने ऐसे शान–शौकत वाले रिवाजों को शुरू किया जो **बरनी** के अनुसार, "दिल्ली के किसी अन्य सुल्तान ने नहीं किया था।" उसने अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः राजत्व के अनुरूप ढाला। उसकी परिस्थिति में कोई हंसी–मजाक या फालतू बात नहीं हो सकती थी। दरबार में वह न तो स्वयं हंसता था न किसी को इसकी छूट देता था। वह अत्यंत गंभीर मुद्रा में दरबार में बैठता था और किसी ने उसे साधारण व्यक्ति के समान व्यवहार करते हुए नहीं देखा। दरबार में केवल वजीर ही उससे वार्तालाप कर सकता था। सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए सिंहासन के पीछे विश्वसनीय अमीर और मलिक बैठते थे। अन्य लोग अपने पद के अनुसार उसके समक्ष खड़े रहते थे।

बल्बन ने कठोरतापूर्ण अपने व्यक्तित्व को अपने राजत्व के लिए बलिदान किया। अपने निजी सेवकों के समक्ष भी वह अपनी भावनाएं व्यक्त नहीं करता था। उसके बड़े पुत्र की मृत्यु ने उसका हृदय तोड़ दिया, परन्तु उसने किसी के समक्ष अपना दुर्बलता को प्रकट नहीं किया। केवल रात के एकांत में वह फूट–फूट कर रोता था। मंगोलों के विनाशकारी युद्धों के प्रकोप से सुरक्षित होने के लिए अन्य देशों से विख्यात विद्वान और राजकुमार भारत आए। बल्बन ने उन्हें अपने दरबार में स्थान दिया जिससे उसके दरबार की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। विदेशों में मुस्लिम संस्कृति के संरक्षक के रूप में उसे पर्याप्त ख्याति मिली। समारोहों के समय दरबार की शान–शौकत दर्शनीय होती थी। कढ़े हुए कालीन, सजावटी पर्दे, रंग–बिरंगे वस्त्र तथा सोने–चांदी के बर्तन उसके

दरबार की कीर्ति बढ़ाते थे। **बरनी** के अनुसार, "इन समारोहों के कई दिन बाद तक लोग दरबार की सजावट के विषय में बातें करते थे।" विदेशी राजदूत उसके दरबार की शान से प्रभावित होते थे। जब वह जुलूस में जाता था तो सैनिक चमकती तलवारें लेकर उसके साथ चलते थे। तलवारों की चमक, उसके मुख्य की कांति और सूर्य की चमक से जुलूस अत्यंत प्रभावशाली लगता था, इसी प्रकार के जूलूस शक्ति, सत्ता और प्रतिष्ठा का प्रदर्शन करने के लिए निकाले जाते थे। बल्बन का उद्देश्य था, इस प्रकार के प्रदर्शन से जनसाधारण के मन में भय व आंतक उत्पन्न करना जो राजत्व की प्रतिष्ठा का एक मूल तत्त्व था।

बल्बन खलीफा की राजनीतिक सत्ता को मान्यता देता था। अपनी राजनीतिक शक्ति के प्रयोग के लिए वह खलीफा की अनुमति प्राप्त करने की चर्चा करता है। मंगोलों ने खिलाफत को नष्ट कर दिया था तथा खलीफा की हत्या की जा चुकी थी। इस सब के कारण मुस्लिम सत्ता पर गहरा आघात लगा था। चूंकि दिल्ली अनेक राजाओं और राजकुमारों के लिए शरणस्थली बन गई थी और बल्बन यह अनुभव करता था कि पूर्व में इस्लाम की पताका को फहराने का श्रेय उसी को है, इसलिए उसने खलीफा के स्मरण के लिए अपने सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित किया तथा मस्जिदों के 'खुत्बे' में उसका नाम पढ़ा जाता था।

ईश्वर टोपा के अनुसार, "बल्बन का राजत्व का सिद्धांत संकीर्ण, भौतिकतावादी तथा निरंकुश नहीं था। उसने इसके नैतिक सिद्धांतों पर विशेष बल दिया। उसका उद्देश्य था राजत्व के आधार को मजबूत करना और बिना सोचे–समझे व्यवहार पर रोक लगाना। बल्बन का विश्वास था कि जो सुल्तान अपने कार्य या व्यवहार से अत्याचारपूर्ण नीतियों का पालन करता है, वह ईश्वर के प्रति विश्वासघात करता है। इस प्रकार बल्बन ने शासन की निरंकुशता को रोकने के लिए नैतिक सीमाएं लगानी चाहीं। बल्बन के लिए राजत्व मात्र मनुष्य द्वारा निर्मित राजनीतिक व नियंत्रण व पथ–प्रदर्शन करने वाली संस्था नहीं था। वह ईश्वर की इच्छा के फलस्वरूप प्राप्त हुआ था। यही कारण है कि बल्बन ने शासन के दायित्व पर अत्यधिक बल दिया है।

बल्बन का विश्वास था कि राजा का पद ईश्वर द्वारा इसलिए प्रदान किया गया है कि वह जनता के कल्याण के लिए कार्य करे। सुल्तान द्वारा प्राप्त होने वाले संरक्षण व देखभाल के लिए जनता को उसका आभारी होना चाहिए। यह तभी संभव था कि सुल्तान अपने कर्तव्यों के प्रति सतर्क हो। यदि वह जनहित की ओर ध्यान न देकर राजा के पद तथा प्रतिष्ठा को आघात पहुंचाएगा तो उसे अपने राज्यकाल में किए गए अपराधों और दुष्कर्मों के लिए अंतिम फैसले के दिन दंड भोगना पड़ेगा। बल्बन के अनुसार इसका प्रथम कारण यह था कि राजा के लिए उसके पद की प्रतिष्ठा बनाए रखना उसका सर्वोच्च कर्त्तव्य था।

बल्बन ने ईश्वर, शासक तथा जनता के बीच त्रिपक्षीय संबंध को राज्य का आधार बनाने का प्रयत्न किया। इसी कारण उसने जनहित को शासन का व्यावहारिक आदर्श बनाया। राजत्व को वह एक विरासत मानता था और विरासत में प्राप्त होने वाला राजत्व ही वास्तविक तथा औचित्यपूर्ण था। इससे ही उसे वैधानिक आधार प्राप्त होता था। वह मानता था कि यदि इस प्रकार का राजत्व क्रूर व अत्याचारी हो तब भी जनता उसको स्वीकार करेगी और उसके नियमों का पालन करेगी। परंतु जो राजत्व विरासत में प्राप्त नहीं होगा उसमें राजत्व के गुण और विशेषताएं नहीं होंगी। वह वैभवशाली और गंभीर होने पर भी अल्पकालीन होगा और जनता का समर्थन प्राप्त नहीं कर सकेगा।

बल्बन कुरान के नियमों को शासन का आधार मानता था। एक मुसलमान होने के कारण वह इस्लामी शासन को गैर–इस्लामी शासन से भिन्न मानता था जो धर्म के कानून के विरुद्ध था, वह वैधानिक शासन नहीं माना जा सकता। बल्बन ने उन शासकों की आलोचना की जो इस्लाम की राजनीतिक परंपरा का पालन करने में असफल रहे थे और जिन्होंने इस्लाम से पूर्व के ईरानी राजत्व का अनुकरण किया था। उसका विश्वास था कि राज्य को धर्म के आदेश के अनुसार चलाना चाहिए। परंतु यह केवल आदर्शवादी बल्बन का विचार था। वास्तविक परिस्थितियों के कारण उसे अपने राजनीतिक विचारों में परिवर्तन करना पड़ा। भारत में हिंदुओं के बहुसंख्यक होने के कारण बल्बन को वास्तविक परिस्थिति के साथ समझौता करना पड़ा। कहना चाहिए कि राज्य की आदर्शवादिता को शासन की यथार्थवादिता के लिए त्यागना पड़ा। राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आदर्शवादी विचारों को बल्बन कार्यान्वित नहीं कर सका। धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति लगाव के बावजूद बल्बन ने न केवल भारतीय राजनीतिक समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया वरन् निष्पक्ष न्याय, प्रशासन की निरंकुशता के दमन और बुद्धिमान, धर्मभीरू, ईमानदार तथा योग्य व्यक्तियों के हाथ में सत्ता देकर राज्य के अस्तित्व को औचित्य प्रदान किया। यथार्थवादी होने के नाते वह युग की आवश्यकताओं को भली–भांति समझता था। यथार्थवादी होने के कारण ही वह इस्लाम धर्म को राजनीति से अलग रखने की चेष्टा करता रहा।

उसने अपने पुत्रों तथा अधिकारियों को चेतावनी दी थी कि यदि वे निष्पक्ष न्याय नहीं करेंगे तो उन्हें दंड दिया जाएगा। बल्बन, का विश्वास था कि केवल न्याय का पालन करके ही वह न केवल अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है वरन् धर्म की रक्षा तथा राजकीय

कर्त्तव्य की पूर्ति भी कर सकता है। उसका विश्वास था कि यदि उसके प्रशासकीय तथा अन्य कार्य न्याय पर आधारित नहीं होंगे, यदि उनकी राजकीय प्रतिष्ठा तथा वैभव राज्य से अत्याचार और दमन का विनाश करने में सफल नहीं हुए तो [illegible] के रूप में वह पूर्णतः असफल रहेगा। बल्बन के अनुसार हजार बार नमाज पढ़कर, सारा जीवन उपवास करके, [illegible] करके और धार्मिक कार्य करके भी वह नरक का भागी होगा। अतः जाति के आधार पर न्याय न करके ही शासन अपना दायित्व पूर्ण कर सकता है। किसी साधारण व्यक्ति पर अत्याचार करने वाले अपने अधिकारी तथा संबंधी को दंड देने में बल्बन संकोच नहीं करता था। उसके **'बरीद'** (समाचार लेखक व गुप्तचर) साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में अधिकारियों के कार्यों की पूर्ण सूचना सुल्तान को देते थे। यदि वह 'बरीद' अपना कार्य निष्ठापूर्वक नहीं करते थे और स्थानीय अधिकारी के दुराचार की सूचना नहीं देते थे तो उन्हें भी कठोर दंड दिया जाता था। बदायूं के 'बरीद' का वध ऐसा ही एक उदाहरण है।

इस प्रकार बल्बन ने शासन की सुरक्षा के लिए निष्ठावान् गुप्तचर प्रणाली की स्थापना की।

बल्बन ने राज्य के प्रमुख व्यक्तियों को उनके अपराध के लिए कठोर दंड दिए। बदायूं के 'अक्तादार' मलिक बकबक को कोड़े मार कर वध कर दिया गया और अवध के 'अक्तादार' को पांच सौ कोड़े की सजा तथा बीस हजार टंके जुर्माना देना पड़ा क्योंकि उन्होंने अपने घरेलू नौकरों की हत्या की थी। इसी प्रकार के अपराधों के लिए कठोर दंड का वास्तविक कारण यह था कि वह तुर्क अमीरों की शक्ति को नष्ट करने के लिए कृतसंकल्प था और किसी न किसी साधारण अपराध के लिए वह उनका विनाश करने को तैयार था। इस प्रकार अपने विरोधियों तथा विद्रोहियों के संबंध में न तो वह न्याय व ईमानदारी का ध्यान करता था, न ही 'शरीअत' का। उन्हें वह क्रूरतापूर्वक दंड देता था। **बरनी** का कहना है कि 'विद्रोह के अपराध में वह किसी संपूर्ण नगर और उसकी सेना को पूर्णतः नष्टभ्रष्ट कर देता था। विद्रोहियों को दंड देते समय वह अत्याचारियों की परंपराओं से सुई की नोक के बराबर भी पीछे नहीं हटता था। राजत्व का भय और सम्मान स्थापित करने हेतु वह धर्म के समस्त नियम त्याग देता था और अपनी सत्ता के थोड़े से दिनों में वह जो हितकर समझता था, कर डालता था, चाहे शरीअत में उनके लिए अनुमति हो या न हो। प्रमुख बात यह है कि बल्बन की न्यायप्रियता जनसाधारण के झगड़ों में ही अधिक निष्पक्ष और प्रशंसनीय थी।'

बल्बन का राजत्व का सिद्धांत शक्ति, प्रतिष्ठा और न्याय पर आधारित था। उसका उद्देश्य था, सैनिक और प्रशासनिक अधिकारियों पर प्रभुत्व रखना। वह इल्तुतमिश के समान केवल अभिजन वर्ग का मुखिया बनकर रहने से संतुष्ट नहीं था।

वह राजा के पद का एक विशेष स्थान प्रदान करना चाहता था, जो अपनी शक्ति व सत्ता के लिए अभिजात वर्ग पर निर्भर न रहकर अपनी व्यक्तिगत शक्ति पर आधारित हो। बल्बन ने अनुभव किया था कि सुल्तान की निरंकुशता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा तुर्क अमीर थे। वह सुल्तान तथा अभिजात वर्ग के बीच हुए पहले जैसे संघर्ष से अपने उत्तराधिकारियों की रक्षा करना चाहता था। बल्बन के निरंकुश शासन में अभिजात वर्ग के प्रभुत्व का प्रश्न ही नहीं उठता था। अपनी इस निरंकुशता में बल्बन काफी हद तक सफल रहा क्योंकि उसके बीस वर्ष के नायब काल में ही **तुर्कान-ए-चहलगानी** के सदस्य या तो स्वयं मर गए थे या वृद्ध हो गए थे। सुल्तान की निरंकुशता का विकास बल्बन के राज्यकाल की सर्वप्रमुख विशेषता थी। प्रभावशाली अमीरों की शक्ति व सम्मान को उसने नष्ट कर दिया। चूंकि बल्बन अपने तथा अपने वंश के निजी हितों की रक्षा करने के लिए उत्सुक था इसलिए उसने तुर्क शासकवर्ग के हितों की लेशमात्र भी परवाह नहीं की। उसने तुर्कों में योग्य व्यक्ति इतनी निर्दयता से नष्ट कर दिए कि जब खिलजी उनके विरूद्ध सिंहासन के लिए प्रतिस्पर्धी के रूप में राजनीतिक क्षेत्र में आए तो वे बिल्कुल विस्मित हो कर पराजित हुए। उसके संगठन कार्यक्रम ने निस्संदेह दिल्ली सुल्तान की स्थिरता आश्वस्त कर दी और खल्जियों के अंतग्रत उसके और अधिक प्रसार के लिए मार्ग बना दिए किंतु तुर्क सामंतों के लिए उसकी नीति ने [illegible] दुर्बल बना दिया।

सेना का पुनर्गठन

राजनीतिक अनुभव से बल्बन ने यह सीखा था कि सेना शासन का मूल स्तंभ है। इसलिए अन्य किसी विभाग के पूर्व सैन्य संगठन आवश्यक था। इल्तुतमिश द्वारा प्रचलित परंपराओं की गति मंद पड़ गई थी और इसलिए सेना का संपूर्ण [illegible] आवश्यक था।

1. बल्बन ने सेना की संख्या में वृद्धि की और सेना के केंद्रीय दल में सहस्त्रों निष्ठावान और अनुभवी [illegible] किए। उनका वेतन बढ़ा दिया गया और वेतन के बदले उनके लिए गांव निश्चित किए गए।

2. सैनिकों के वेतनों में वृद्धि और उन्हें सुखी और संतुष्ट रखना बल्बन की सामरिक नीति का एक आवश्यक अंग था। उसने अपने पुत्र बुगरा खां को यह परामर्श दिया : 'सेना के लिए कितना भी धन व्यय करना अधिक न समझो और अपने 'आरिज' (सैनिक भर्ती करने वाला अधिकारी) को पुराने सैनिकों की व्यवस्था करने और नवीन की भर्ती करने में व्यस्त रहने दो। उसे अपने विभाग में प्रत्येक व्यय के विषय में सूचना होनी चाहिए।

3. सेना सदैव सतर्क और फुर्तीली बनाए रखने के लिए वह बार–बार सैनिक अभ्यास पर बल देता था। प्रत्येक शरद् ऋतु में प्रातःकाल वह रेवाड़ी की ओर शिकार खेलने के बहाने जाया करता था और अपने साथ एक हजार अश्वारोही तथा एक हजार पैदल बाण चलाने वाले ले जाता था और बहुत रात गए वापस आता था।

4. बल्बन समस्त अभियानों का उद्देश्य गुप्त रखता था और कोई उसकी गतिविधि या लक्ष्यों का पूर्वाभास नहीं कर पाता था। कूच के दिन पहले की रात को ही वह प्रमुख मलिक को बुलाता था और उन्हें अपने उद्देश्य बतलाता था।

5 जब उसकी सेनाएं कूच करती थीं तो वह इसका विशेष ध्यान रखता था कि दरिद्र और असहाय व्यक्तियों को कोई हानि न पहुंचने पाए। वह स्वयं अपनी सेनासहित प्रतीक्षा करता था और वृद्ध तथा रोगी व्यक्तियों को पहले नदी, पुल या दलदल पार करने देता था। इस प्रकार जहां उसकी सेना विद्रोहियों का दमन करने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण थी, वहां वह साधारण व्यक्तियों की प्रशंसा की पात्र भी थी।

6. बल्बन ने अत्यंत ईमानदार और निष्ठावान व्यक्ति सेना की व्यवस्था के लिए नियुक्त किए।

बल्बन का 'काजिए लश्कर' एक विश्वसनीय और ईमानदार व्यक्ति था, जिसका सुल्तान और जनता विश्वास करते थे। किंतु हम उनके विषय में बहुत कम जानते हैं। **बरनी इमादुलमुल्क** के विषय में कुछ विस्तारपूर्वक उल्लेख करता है जो प्रसिद्ध कवि **अमीर खुसरो** का नाना था। इमादुलमुल्क, इल्तुतमिश के एक दास–अधिकारी के रूप में अपनी जीवनचर्या आरंभ की और जल्दी ही '**अर्जे ममालिक**' (सुरक्षा मंत्री) के पद तक उन्नति प्राप्त कर ली। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात अगले तीस विप्लवी वर्षों में इमादुलमुल्क इस पद पर आसीन रहा। अपने सिंहासनारोहण के उपरांत बल्बन ने पुनः उसे उस पद पर नियुक्त रखा। अपनी ईमानदारी, विश्वसनीय स्वभाव और निष्ठा के कारण वह अपने स्वामी का पूर्ण विश्वास पात्र बना रहा। वजीर के आर्थिक नियंत्रण से उसे स्वतंत्र कर दिया गया। बल्बन के शासनकाल में सेना की समृद्धि का कारण बहुत कुछ उसके कारण था। वह अपने मंत्रालय के अधिकारियों को अपनी जेब से इनाम देता था। उनके कल्याण के लिए बड़ी उत्सुकता और कर्त्तव्यनिष्ठा से रुचि लेता था। वह प्रायः अपने कार्यालय के कर्मचारियों का अतिथि सत्कार किया करता था। उनसे निवदेन करता था जो 'इक्तादारों' के प्रतिनिधियों से रिश्वत न लें और सैनिकों के वेतन के किसी भाग का गबन न करें।

7. बल्बन के पास उसकी खानी के दिनों से 1,000 सैनिकों का एक प्राचीन और अनुभवी सैनिक दस्ता था जिसे वह सदैव अपने साथ रखता था। वह जब शिकार खेलने के लिए जाता था तब भी यह सैनिक उसके साथ जाते थे। **बरनी** का कथन है कि बल्बन इस दस्ते के प्रत्येक सैनिक का चेहरा पहचानता था।

8. बल्बन व्यर्थ अभियानों के विरुद्ध था। किसी सैनिक अभियान पर जाने के पूर्व वह बहुत समय तक उस पर विचार करता था। लक्ष्य प्रकट किए बिना संपूर्ण तैयारी बहुत पहले से की जाती थी। अभियान आरंभ होने के एक वर्ष पूर्व 'दीवान वजारत' तथा 'दीवाने अर्ज' को आदेश दिए जाते थे कि वह सेना सतर्क और तैयार रखें। कारखानों में लड़ाई का सामान तैयार करवाएं।

दोआब में 'इक्ताओं' का पुनर्ग्रहण

सेना पुनर्गठित करने के कार्यक्रम का एक अंग यह भी था कि बल्बन ने सैनिकों को दी गई 'इक्ताओं' की अवधि के विषय में भी जांच करवाई। इल्तुतमिश ने भारी संख्या में छोटी बड़ी 'इक्ताएं' प्रदान की थीं। अन्य स्थानों के अतिरिक्त दोआब में दो हजार तुर्क सैनिकों को 'इक्ताएं' प्राप्त थीं। इन अनुदानों का दोहरा उद्देश्य था : प्रथम यह कि भारतवर्ष में तुर्क सरकार को अर्पित तुर्क सैनिकों की सेवाओं को पुरस्कृत करना और द्वितीय साम्राज्य के सब से अधिक समृद्ध प्रदेश में तुर्क शासन के संगठन के लिए उनकी सेवाओं का उपयोग। इन 'इक्ताओं' पर न तो कोई प्रशासकीय कर्त्तव्य था और न केंद्रीय कोषागार के प्रति कोई दायित्व। इन छोटे–छोटे 'इक्तादारों' को केवल यह अधिकार दिया गया था कि वे अपनी सैनिक सेवाओं के बदले भूमि के कुछ भाग के कर वसूल कर लें। इस प्रणाली में जो अंतर्निहित दोष थे उन्हें इल्तुतमिश ने शासन प्रणाली पर सावधान और सतर्क नियंत्रण से दूर कर

दिया था किंतु उसकी मृत्यु के पश्चात जो अराजकता फैली उसमें 'इक्ताओं' का समस्त शासन अस्तव्यस्त हो गया और [illegible] ने केंद्रीय सत्ता के प्रति लापरवाही का रुख अपना लिया। इक्ता प्रणाली जिसे केंद्रीयकरण गतिमान बनाने के लिए [illegible] था, अब राजनीतिक सत्ता को विकेंद्रीकरण और विघटन की ओर ले जा रही थी। यह स्थिति बल्बन में कट्टर शासन [illegible] के अनुकूल न थी। उसने दोआब में दो हज़ार तुर्क सैनिकों को दी गई 'इक्ताओं' की शर्तों और अवधि के विषय में [illegible] के आदेश दिए। इस समय तक अधिकांश सैनिक उन्हें मूल रूप में यह 'इक्ताएं' दी गई थीं, मर चुके थे और जो [illegible] सैनिक सेवाओं के लिए बहुत वृद्ध और निकम्मे हो चुके थे। **'दीवाने अर्ज'** के गुप्त सहयोग से वे इक्ताओं पर [illegible] बनाए थे और उन पर अधिकार जमाए थे। बल्बन का यह मत था कि यह 'इक्ताएं' सैनिक सेवाओं के उपलक्ष में दी गई [illegible] प्राप्तकर्त्ताओं ने अपना दायित्व पूरा करना बंद कर दिया तो वह अनुबंध जिसके आधार पर वे इन इक्ताओं के [illegible] हो गई। संभवतः 'इक्तादार' सल्जूकी परंपराओं से प्रेरित होकर इन 'इक्ताओं' पर मौरूसी अधिकार का दावा कर रहे थे किंतु बल्बन ने जो अन्य अनेकों विषयों में संजर की परंपराओं का अनुसरण करता था, 'इक्ताओं' के अनुदान के विषय में यह दृष्टिकोण अस्वीकार कर दिया।

पूर्ण जांच के पश्चात बल्बन ने इन 'इक्ताओं' का उनके अधिकारियों को कुछ मुआवजा देकर पुनर्ग्रहण किए जाने के लिए आदेश दे दिए। वृद्ध तथा दुर्बल सैनिकों के लिए उसने 20 से 30 टंके पेंशन निश्चित की और जो युवा और स्वस्थ थे स्थाई सेना में भर्ती कर लिए गए। उनके लिए नकद वेतन निश्चित किया गया। यह स्वाभाविक था कि यह आदेश अनुदान प्राप्तकर्ताओं में हलचल उत्पन्न करता। कुछ तुर्क सरदार दिल्ली के प्रसिद्ध कोतवाल मलिक फखरूद्दीन के पास इस उद्देश्य से पहुंचे कि वह राजकीय आदेश वापस ले लिया जाए। वे फखरूद्दीन के लिए उपहार लाए थे किंतु उसने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि [illegible] तुम से रिश्वत ले लूंगा तो मेरे शब्दों को कोई प्रभाव न होगा।' दरबार में पहुंच कर वह गंभीर और उदास मुद्रा में अपने स्थान पर खड़े हो गया। जब सुल्तान ने उसकी चिंता का कारण पूछा तो उसने कहा 'मैंने सुना है कि सुरक्षा मंत्रालय से लोग सेवा निवृत्त किए जा रहे हैं। प्रलयकाल के अंतिम दिन का ध्यान कर मैं अपने भाग्य के विषय में दुखी हो रहा हूं कि क्या वृद्ध लोग ईश्वर की अनुकंपा से वंचित हो जाएंगे।' सुल्तान फखरूद्दीन का आशय समझा गया। उसकी आंखों में आंसू निकल पड़े और उसने [illegible] आदेश वापस ले लिया।

प्रशासनिक उपाय और शासन संगठन

सुल्तान की प्रशासनिक उपलब्धियों का वर्णन करते हुए **बरनी** लिखता है : 'प्रकृति ने सुल्तान बल्बन के शरीर पर राजसी वस्त्र सिल दिए थे। जिस समय वह दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तो प्रत्येक राजकीय कर्मचारी स्वेच्छाचारी था और समस्त प्रशासनिक प्रणाली अस्तव्यस्त थी। उसने उसके समस्त ढीले पुर्जे कसे और नौकरशाही को शाही सत्ता के प्रतिनिष्ठवान और आज्ञाकारी बना दिया।

पूर्व और पश्चिम के अधिकांश मध्यकालीन शासनों की भांति बल्बन का शासन भी अर्धनागरिक तथा अर्धसैनिक था। यह मध्यकालीन युद्ध प्रणाली के कारण था क्योंकि सरकारी अधिकारी तब तक कार्य नहीं कर सकते थे जब तक उनमें नागरिक और सैनिक शासन की क्षमता न हो।

राजनीतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बल्बन ने फूट उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियां दृढ़ता से रोकीं। वह केंद्रीय राजनीतिक सत्ता में विश्वास करता था। अधिकांश सरकारी नियुक्तियां या तो वह स्वयं करता था या उसकी अनुमति से होती थीं। यह तथ्य कि अमरोहा में की गई एक साधारण नियुक्ति उसका ध्यान आकर्षित कर सकती थी यह सिद्ध करता है कि वह समस्त नौकरशाही व्यवस्था पर कड़ी दृष्टि रखता था। प्रांतीय राज्यपालों को उसे अपनी सामयिक रिपोर्ट भेजनी पड़ती थी। राज्यपालों की [illegible] क्रियाओं पर अत्यंत दक्ष लेखा परीक्षा प्रणाली नियंत्रण रखती थी। मुल्तान तथा लखनौती जैसे सीमांत प्रांतों की गंभीर परिस्थिति को देखते हुए उसने अंत में अपने पुत्रों को इन क्षेत्रों में राज्यपाल नियुक्त किया। बल्बन किसी सामंत या अधिकारी को यह अवसर नहीं देना चाहता था कि वे साम्राज्य के किसी सूक्ष्म क्षेत्र में अपनी स्थिति संगठित कर लें और फिर उसके सामने वह चुनौती प्रस्तुत करें जो तुगरिल ने की थी।

चूंकि सुल्तान की शक्ति कम करने के लिए पहले स्वयं बल्बन ने ही **'नायबे मुमलकत'** की भांति नए पदों के सृजन किए थे इसलिए उसने इसका ध्यान रखा कि किसी अधिकारी के हाथ में बहुत अधिक शक्ति एकत्र न हो जाए। इसने सैनिक और आर्थिक अधिकारी छीन कर उसके पद का महत्व कम कर दिया। वजीर पद पर ख्वाजा हसन को नियुक्त

बात का संकेत मिलता है कि प्रधान मंत्री पद के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण था और उस से कैसें कार्य की वह आशा करता था। आर्थिक और सैनिक अधिकार पृथक करने के पश्चात किसी राज्याधिकारी द्वारा सत्ता हड़पने की आशंका बिल्कुल समाप्त हो गई।

बल्बन ने यह अनुभव किया कि एक निरंकुश शासन के लिए निष्ठवान गुप्तचर प्रणाली की आवश्यता थी। उसके गुप्तचर उसे सदैव राज्य के प्रत्येक प्रदेश में होने वाली घटनाओं से भलीभांति अवगत रखते थे। उसके पुत्रों, संबंधियों, प्रांतीय राज्यपालों, सैनिक अधिकारियों, सरकारी कर्मचारियों और जनता की गतिविधियों पर गुप्तचर दृष्टि रखते थे और उनकी सूचना भेजते रहते थे। बल्बन **'बरीद'** (गुप्तचर अधिकारी) की नियुक्ति बड़ी सावधानी से करता था। चरित्र, ईमानदारी यहां तक कि वंशावली की पूरी जांच के पश्चात कोई व्यक्ति 'बरीद' के पद पर नियुक्त किया जाता था। 'बरीदों' को जनसाधारण तथा गुप्तचर पहचानते थे और उन की सफल व्यवस्था जिस से जनता में चारित्रिक दुर्बलता और अविश्वास उत्पन्न न हो, सुल्तान की चतुरता पर निर्भर थी। इस विषय में बल्बन ने अपने पुत्र को यह परामर्श दिया : 'सूचना देने वालों को और गुप्तचरों को दरबार के निकट न जाने दिया जाए, क्योंकि शासकों के पास उनकी निकटता से आज्ञाकारी तथा विश्वसनीय मित्र हो जाते हैं और उनका शासक पर विश्वास जो उत्तम शासन का आधार है नष्ट हो जाता है।

बल्बन के राजनीतिक दृष्टिकोण और प्रशासनिक सिद्धांतों की झलक उन दो व्याख्यानों से मिल सकती है जिन्हें उसने अपने पुत्रों को दिया था और जिन से **बरनी** ने विस्तृत उद्धरण लिए हैं। इन शिक्षाओं से निम्नलिखित सिद्धांतों की जानकारी होती है:

1. शासन को संरक्षात्मक कानून बनाने चाहिए और समर्थ लोगों के अत्याचार से दुर्बल व्यक्तियों के हितों की रक्षा करनी चाहिए।
2. संतुलित आचार शासन का आदर्शवाक्य होना चाहिए। जनता से व्यवहार में न तो कठोरता होनी चाहिए और न ढिलाई। कर न तो इतना अधिक होना चाहिए जिससे जनता दरिद्र हो जाए और न इतने कम कि वे अवज्ञाकारी और धृष्ट हो जाएं।
3. शासन इस बात का ध्यान रखे कि जनता की आवश्यकतानुसार उपयुक्त अनाज की उपज होती है।
4. शासन के आदेश दृढ़ता से लागू किए जाएं और शासन के निर्णयों में बार–बार परिवर्तन न होना चाहिए।
5. राज्य की आर्थिक स्थिति का समुचित नियोजन और व्यवस्था होनी चाहिए। वार्षिक आय का केवल आधा भाग ही व्यय करना चाहिए। शेष आधा भाग संकटकालीन समय के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।
6. शासन को चाहिए कि वह व्यापारियों को समृद्ध और संतुष्ट रखने का प्रयत्न करे।
7. सैनिकों का वेतन उचित समय पर दे देना चाहिए और सेना को प्रसन्न तथा संतुष्ट रखना चाहिए।

इन मौलिक सिद्धांतों के अंतर्गत बल्बन ने एक दृढ़ और कार्यकुशल शासन प्रणाली का निर्माण किया। जनता को वह 'शांति और न्याय' दिया जिसकी वह कई दशकों से प्रतीक्षा कर रही थी। **बरनी** द्वारा लिखित सुल्तान के इतिहास से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जहां बल्बन अपने मलिकों और अमीरों के प्रति कठोर और काम लेने वाला था जिनकी स्थिति से वह स्वयं उठा था, वहां वह साधारण नागरिक के लिए बड़ा दयालु और उनका ध्यान रखने वाला था। जनता के प्रति वह 'पिता तुल्य चिंता' प्रदर्शित करता था यद्यपि उसे अकुलीन व्यक्तियों से घृणा थी।

लखनौती में तुगरिल का विद्रोह

सीस्तानी और तुर्की सैनिकों वाली बल्बन की सेना एक भव्य प्रदर्शन–वस्तु थी। उसके अधिकारियों की भर्ती साधारण जनता से नहीं की जाती थी। इल्तुतमिश और उसके पुत्र शाहजदा नासिरूद्दीन को बंगाल के शासकों और राज्यपालों का दमन करने में कोई कठिनाई नहीं हुई थी। बल्बन तथा उसके अधिकारी और सेना ने जब उसी समस्या का सामना किया तो अत्यत निकम्मे और अनाड़ी सिद्ध हुए। वे विजयी हुए किंतु इसके लिए उन्हें छः वर्ष से अधिक समय तक संघर्ष करना पड़ा और अपनी अधिक संख्या को श्रेय देना पड़ा। पश्चिम में स्थिति भिन्न थी। सेना के विषय में बल्बन की अत्यंत सावधानी के बावजूद उसका पुत्र तथा उसके अधिकारी मंगोलों के सीमांत अधिकारी की सेना के विरूद्ध बिल्कुल परास्त हुए।

अर्सलान खां का पुत्र तातार खां ने जो लखनौती का राज्यपाल था, बल्बन के राज्यारोहण के वर्ष उसे 63 हाथी भेजे। तुगरिल जो तातार खां के पश्चात लखनौती का राज्यपाल बना, बल्बन का दास था। वह अपनी चतुरता, साहस, उदारता और उत्साह के लिए प्रसिद्ध था। इस्लामी के अनुसार तुगरिल ने बल्बन के विरूद्ध सुल्तान के शासन के आठवें वर्ष (1275) विद्रोह किया। संभवतः यह किसी सुल्तान के दास का प्रथम विद्रोह था। अन्य बातों के अतिरिक्त यह सपूर्ण सस्था के पतन का संकेत था। यदि एक दास सफलता से विद्रोह कर सकता है तो समस्त शाही दास प्रणाली ही बिल्कुल बेकार हो जाती है।

तुगरिल की इस उद्दंड योजना को भड़काने के पीछे उसका जाजनगर का सफल अभियान था। वहां से उसे अपार सम्पत्ति एवं हाथी प्राप्त हुए जिन पर उसने स्वयं अधिकार कर लिया। उसने यह सोच–विचार कर कि सुल्तान बहुत वृद्ध हो गया है और मंगोलों की समस्या में इतना व्यस्त है कि उसका पीछा न करेगा, सुल्तान के पास कुछ न भेजा। उसने 'सुल्तान मुगीसुद्दीन' का खिताब धारण कर लखनौती में अपने सुल्तान बनाने की घोषणा कर दी और स्वतंत्र सत्ता के सभी प्रतीक जैसे छत्र, 'खुत्बा' और मुद्रा प्रचलन ग्रहण किए। उसकी उदारता ने आम जनता को उसकी ओर आकृष्ट किया और 'लोग सुल्तान का क्रोध और बर्बरता भूल गए।'

इस विद्रोह की सूचना सुनकर बल्बन को बड़ा दुख और आश्चर्य हुआ। वह इस समाचार से इतना व्यथित हुआ था कि रात में न खाना खाता था और न सोता था। उसने तुरंत अवध के राज्यपाल मलिक ऐतिगीन (लंबे बालों वाला) को, जिसकी उपाधि अमीन खां थीं, एक विशाल सेना तथा अन्य अनेक अनुभवी मलिक और अधिकारी जैसे तमर खां, शम्सी और कुतलुग खां शम्सी के पुत्र मलिक ताजुद्दीन सहित लखनौती भेजा। जैसे ही अमीन खां ने सरयू (आधुनिक घाघरा) पार की, तुगरिल उसका विरोध करने आगे और उसे पराजित कर दिया। इसके अतिरिक्त तुगरिल ने बल्बन की सेना के अनेकों अमीर और सैनिक अत्यधिक उपहार देकर अपनी ओर मिला लिए। वापस होते समय शाही सेना हिंदू जनजातियों द्वारा लूटी और आंतकित की गई। अमीन खां के कार्य से बल्बन बहुत क्रोधित हुआ। उसने अमीन खां के वध के आदेश दे दिए और उसकी लाश अवध के द्वार पर लटका दी गई। इस मृत्यु दंड से जनता के मन में बड़ा रोष उत्पन्न हुआ और इस घटना से उन्होंने यह समझ लिया कि बल्बन का पतन प्रारंभ हो गया है।

अपने एक पूर्व दास द्वारा अपनी सेना की पराजय देख कर बल्बन के क्रोध और दुख की सीमा न रही। अवध के राज्यपाल और उसकी सेना की असफलता के पश्चात बल्बन ने तुगरिल के दमन का कार्य बहादुर नामक अपने एक विश्वसनीय अधिकारी के नेतृत्व में दिल्ली की सेना सौंपी। भावी युद्ध में तुगरिल ने सीधे बहादुर की केंद्रीय सेना पर आक्रमण किया। बहादुर बड़ी वीरता से लड़ा किंतु शाही सेना के कुछ दस्ते भाग खड़े हुए और उसका सेना पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। बहादुर के प्रयत्नों के बावजूद दिल्ली की सेना भाग खड़ी हुई। जब बहादुर अपने भागे हुए सैनिकों सहित दिल्ली वापस आया तो बल्बन ने उसे मृत्यु दंड देना चाहा किंतु बहादुर के मित्रों ने उसकी युद्ध में वीरता का प्रमाण प्रस्तुत कर उसे बचा लिया और बल्बन उसे दरबार में निर्वासित कर के ही संतुष्ट हो गया।

दो सेनानी, **अमीन खां** और **बहादुर तुगरिल** द्वारा पराजित कर दिए गए थे। बल्बन इससे बड़ा चिंतित हुआ। उन सेनाओं की पराजय देखकर वह क्रोध से हाथ पटकता था। उसे ऐसा अनुभव हुआ मानो उसके सम्मान को बहुत बड़ा धक्का पहुंचा हो। अतः 1280-81 में उसने तुगरिल का दमन करने के लिए कूच का निश्चय किया। किंतु इतने सुदूर अभियान पर प्रस्थान करने से पूर्व वह दिल्ली और उसके निकटवर्ती प्रदेशों की समस्याएं विश्वसनीय हाथों में छोड़ना चाहता था। पहले वह सुनाम और सामाना को गया। यह दोनों प्रांत उसके दूसरे पुत्र बुगरा खां के अधिकार में थे। बल्बन ने दोनों प्रदेश अनेक छोटी–छोटी इकाइयों में विभाजित कर वहां सेना के अमीर नियुक्त किए। मलिक सौंज '**सरजानदार**' सुनाम का सर्वेसर्वा नियुक्त किया गया। सामाना बल्बन के ज्येष्ठ पुत्र सुल्तान महमूद, जिसे उसने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था, के अधिकार में दिया गया। पहले सुल्तान मुहम्मद कोहाम तथा अन्य प्रदेशों का अधिकारी था। बाद में उसे समस्त सिंध दिया गया। उसके साथ बड़ी संख्या में अधिकारी नियुक्त किए गए जिन्हें बल्बन योग्य समझता था।

तत्पश्चात बल्बन ने दिल्ली लौटे बिना दोआब की ओर प्रस्थान किया। उसने सुल्तान मुहम्मद को सिंध प्रदेश के अतिरिक्त सामाना की सेना प्रदान करते हुए पत्र लिखा और कहा कि वह मंगोल खतरे का भली भांति सामना करे। दिल्ली के कोतवाल फखरूद्दीन को भी उसने पत्र लिखा और उसे 'नायबे गीबत' (सुल्तान की अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधि) नियुक्त किया। उसका यह दायित्व था कि वह जहां तक संभव हो सुल्तान के पास प्रत्येक विषय की सूचना भेजता रहे किंतु उसे यह अधिकार था कि वह राज्य संबंधी सभी विषयों पर स्वेच्छा से बिना शाही आदेशों की प्रतीक्षा किए आदेश जारी करे। तत्पश्चात बुगरा खां को अपने साथ लेकर बल्बन ने वर्षा ऋतु की परवाह न करते हुए पूर्व की ओर कूच किया। अवध पहुंचने पर उसने सेना में सामान्य भर्ती के आदेश दिए और लगभग दो लाख सैनिक अर्थात अश्वारोही, पैदल सैनिक, 'पायक', बाण चलाने वाले, टट्टुओं पर यात्रा करने वाले दास, नौकर–चाकर, व्यापारी तथा दुकानदार सेना की सूची में सम्मिलित किए गए। वर्षा ऋतु होने के कारण शाही सेना को विभिन्न स्थानों पर दस या बारह दिन तक विश्राम करना पड़ा। तुगरिल ने हाजी नगर भाग जाने का निश्चय किया जो सुनारगांव (आधुनिक ढाका) से पूर्व दिशा में कई मंजिल बाद स्थित था। किंतु उसने यह प्रचार किया कि वह लौट कर आएगा और बल्बन के दिल्ली वापस चले जाने के बाद लखनौती पर पुनः अधिकार करेगा। बल्बन लखनौती पहुंचा और अपनी सेना पुनः मुसज्जित

करने के लिए कुछ दिन ठहरा। उसने सिपहसालार हुसामुद्दीन (**बरनी** का नाना) को इस आदेश सहित लखनौती का 'शहना' नियुक्त किया कि दिल्ली से प्राप्त होने वाले समस्त पत्र सप्ताह में दो या तीन बार सुल्तान के पास भेजता रहे। कुछ दिन निरंतर कूच करने के पश्चात सुल्तान सुनारगांव के निकट पहुंचा। सुनारगांव का शासक दनुज राय उस से भेंट करने आया और सुल्तान ने उस से यह वचन लिया कि वह तुगरिल की चाहे वह जल या थल किसी मार्ग से भागे, बंदी बनाएगा। फिर बल्बन निरंतर कूच करता हुआ चला। यहां तक कि वह हाजीनगर से 60 'करोह' (120 मील) तक पहुंच गया किंतु तुगरिल का कहीं पता न चला। मुख्य सेना धीरे–धीरे कूच करती रही और साथ ही बल्बन ने मलिक बेकतर्स को आदेश दिए कि वह अग्रिम दल के रूप में सेना से दस या बीस कोस आगे चले। अग्रिम दल ने दुभाषियों सहित कुछ सैनिक तुगरिल का पता लगाने के लिए भेजे। अंत में मलिक मुहम्मद शेर अंदाज तथा अन्य के नेतृत्व में भेजे गए दल की कुछ अनाज बेचने वालों से भेंट हुई और उन्होंने उनसे तुगरिल का पता–ठिकाना पूछा। उन्होंने अनभिज्ञता प्रकट की। इस पर मलिक शेर अंदाज ने उनमें दो के सर काट कर उन्हें भयभीत कर दिया। तब उन्होंने बतलाया कि तुगरिल का शिविर वहां से केवल आधे 'फर्संग' (लगभग एक मील) पर है। आज वह पत्थर के तालाब के पास ठहरा है और कल हाजी नगर के प्रदेश में पहुंच जाएगा। शेर अदांज ने तुरंत यह समाचार मलिक बारबक बेकतर्स के पास पहुंचा दिया।

उस समय तुगरिल की सेना विश्राम कर रही थी। घोड़े तथा हाथी हरी–भरी भूमि पर चर रहे थे और संभवतः सुरक्षा के प्रति झूठे भय का अनुभव कर उन्होंने कोई पहरेदार नियुक्त नहीं किए थे। समय नष्ट किए बिना शेर अदांज शिविर की ओर झपटा और उसने उच्च स्वर में तुगरिल को पुकारा। तुगरिल उस अकस्मात और दृढ़ शोर से घबरा उठा और अत्यंत घबराहट में अपने स्नानागार से खिसक आया और बिना काठी के एक घोड़े पर छलांग लगा कर बैठा और निकटवर्ती नदी की ओर भागा। मलिक मुकद्दर और अली नामक एक अन्य अधिकारी उसके पीछे दौड़े। तुगरिल लगभग नदी के निकट पहुंच चुका था जब अली ने उस पर एक छोटी कुल्हाड़ी से प्रहार किया। उसे घोड़े से गिरा दिया। मलिक मुकद्दर तुरंत घोड़े से उतरा और तुगरिल का सर काट कर उसका धड़ नदी में फेंक दिया। चूंकि तुगरिल के सैनिक उसे खोज रहे थे इसलिए मलिक ने नदी के किनारे कोमल भूमि में उसका सर छिपा दिया और उसके कपड़े धोने लगे। थोड़ी ही देर में मलिक बारबक बेकतर्स वहां पहुंच गया और तुगरिल का सर सुल्तान के पास भेज दिया गया। सुल्तान ने उन सब लोगों की पदोन्नति की जिन्होंने उस कार्य में भाग लिया था। अली को 'तुगरिलकुश' (तुगरिल का वध करने वाला) की उपाधि दी गई और उसे तथा मुकद्दर को बराबर–बराबर इनाम दिया गया।

जब बल्बन लखनौती वापस आया तो उसने बाजार में दो मील से अधिक दूरी तक मार्ग के दोनों ओर फांसी के तख्ते लगाने का आदेश दिया। तुगरिल के समस्त मित्र, समर्थक और संबंधी उन पर चढ़ाए गए। **बरनी** लिखता है कि, 'मैंने वृद्ध अधिकारियों से सुना है कि दिल्ली के किसी शासक ने इतनी भारी संख्या में मृत्युदंड नहीं दिया था जैसा बल्बन ने लखनौती में दिया।' तुगरिल की सेना के सैनिक, जो राजधानी के रहने वाले थे, दिल्ली में दंड देने के लिए कारागार में रखे गए।

सुल्तान ने लखनौती प्रदेश बुगरा खां के अधिकार में दिया और उसे संबोधित करते हुए पूछा : 'मुहम्मद! क्या तुमने देखा?' उसने वह प्रश्न तीन बार दुहराया और जब उसे कोई उत्तर न मिला तो उसने समझाया। 'क्या तुमने बाजार में मेरा दंड देखा? यदि धूर्त षड्यंत्रकारी व्यक्ति तुम्हें दिल्ली से संबंध विच्छेद के लिए उकसाएं तो उस समय तुम मेरे द्वारा तुगरिल और उसके समर्थकों को दिए गए दंड का स्मरण करना। उसने बुगरा खां को यह सलाह दी कि वह दिल्ली के शासक के प्रति निष्ठावान रहे चाहे दिल्ली के सिंहासन का अधिकारी किसी अन्य वंश का हो।'

वृद्धावस्था में लखनौती के अभियान से बल्बन थक गया था और वह तीन वर्ष पश्चात ही दिल्ली लौट सका। दिल्ली में उसकी सफलता का समारोह मनाया गया। दान वितरित किया गया और वह उत्सव मनाने के लिए बंदी मुक्त किए गए। तत्पश्चात बल्बन ने आदेश दिया कि दिल्ली के उन समस्त सैनिकों का, जिन्होंने तुगरिल का समर्थन किया था वध किया जाए। राजधानी मार्गों पर दोनों और फांसी के तख्ते लगाए गए। इन बंदियों के अनेक संबंधी दिल्ली में थे। उनके हाहाकार से दिल्ली गूंज उठी। सेना के काजी ने, जिसकी संस्तुतियों पर बल्बन सदैव सहानुभूति से विचार करता था, उनकी ओर से मध्यस्थ बन कर सुल्तान की क्षमा प्राप्त की।

पश्चिमोत्तर सीमा व मंगोल

अपनी पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा हेतु बल्बन ने अनेक उपाय किए। 1270 में वह लाहौर आया और वहां के प्राचीन दुर्ग के पुनर्निर्माण के आदेश दिए। लाहौर के निकट अनेक गांव मंगोलों ने नष्ट कर दिए थे। बल्बन ने वह प्रदेश फिर से बसाने का प्रयत्न किया। 1241 में मंगोलों ने लाहौर पर अधिकार कर उसे लूटा था। किंतु उसके तुरंत बाद मंगोल सेनाएं वापस चली गई। उसके

उपरांत लाहौर नगर दिल्ली से नियुक्त राज्यपालों के अधिकार में बना रहा। सीमा निरंतर बदलती रहती थी किंतु दीपालपुर, सुनाम, सामाना, उच्छ और मुल्तान अधिकांशतः दिल्ली के अधिकारियों के पास ही रहे। बल्बन के शासनकाल में मंगोलों द्वारा भारतवर्ष पर विजय को कोई खतरा नहीं था। किंतु फिर भी मंगोलों के आक्रमण का भय सदैव बना रहता था। अनेक प्रयोगों के पश्चात, जिनका कुछ उल्लेख किया जा चुका है, बल्बन ने पश्चिमी सीमा का समग्र अधिकार अपने पुत्र और उत्तराधिकारी सुल्तान मुहम्मद को दिया जिसे 'खाने शहीद' के नाम से जाना जाता था।

बल्बन के केवल दो पुत्र थे। वह बुगरा खां से जिसे उसने लखनौती दिया था, कोई आशा नहीं करता था। उसे यह विवेकपूर्ण परामर्श दिया कि वह कम से कम दिखावे के लिए दिल्ली के प्रति निष्ठावान बना रहे ताकि संघर्ष से बचाव हो सके। सुल्तान की समस्त आशाएं अपने ज्येष्ठ पुत्र और उत्तराधिकारी सुल्तान मुहम्मद पर केंद्रित थीं। अपने पिता के विपरीत मुहम्मद मिलनसार शिष्ट और उत्तम व्यवहार से संपन्न था। अपने पिता की तुलना में मुहम्मद अत्यंत शिक्षित व्यक्ति था। बल्बन की हर संभव प्रशंसा करते हुए भी मिनहाज उसे संस्कृति और ज्ञान का आश्रयदाता नहीं कह पाता। इसके विपरीत मुल्तान मे सुल्तान मुहम्मद का दरबार अत्यंत शिक्षित और योग्य व्यक्तियों से भरा था। राजकुमार की विवेकी बुद्धि ने अमीर खुसरों और अमीर हसन का सम्मान किया था। वे पांच वर्ष तक उसकी सेवा में रहे। उसकी साहित्य संरक्षण की महत्वाकांक्षा और अधिक महान थी।

उसके असाधारण विवेक के फलस्वरूप खाने शहीद ने दो बार मार्ग व्यय देकर दूत भेजे और शेख सादी का मुल्तान आमंत्रित किया। वह मुल्तान में शेख सादी के लिए खानकाह बनवाना चाहता था और उसकी व्यवस्था के लिए पर्याप्त गांव निश्चित करना चाहता था और उसकी व्यवस्था के लिए गांव निश्चित करना चाहता था। किंतु शेख सादी वृद्धावस्था के कारण आने में असमर्थ थे और न आ सकने के लिए क्षमा याचना की।

बल्बन ने पहले सुनाम और सामाना को चालीस तुर्कों के प्रसिद्ध समुदाय के एक विशिष्ट सदस्य तमर खां के अधिकार का दिए थे। किन्तु दोनों ने मंगोलों से मदद मांगी। इसलिए उसने ये दोनों प्रांत अपने छोटे पुत्र को हस्तांतरित किए थे जिसकी निष्ठा पर वह विश्वास कर सकता था, किंतु जिसकी योग्यता के विषय में संदिग्ध था। बल्बन ने विवश होकर 'बरीदों की नियुक्ति की थी कि वे उसे बुगरा खां के कार्यों की सूचना देते रहें। इस प्रकार उसने उसका शासन उचित स्तर पर बनाए रखा था। उन दिनों मंगोल सैनिक अक्सर ब्यास नदी पार कर भारतीय सीमा में घुस जाते थे।' मुल्तान से सुल्तान मुहम्मद, सामाना से बुगरा खां और दीपालपुर से मलिक बेकतर्स को (मंगोलों के विरूद्ध) भेजा करता था। वे ब्यास नदी की ओर जाते थे और मंगोलों को मार भगाते थे। अधिकांशतः वे विजयी होते थे और मंगोल ब्यास नदी पार करने का साहस न करते थे। इन तीनों सेनाओं मे लगभग सत्रह या अठारह हजार सैनिक थे।

अब लखनौती में बुगरा खां की नियुक्ति हुई तो सुल्तान मुहम्मद पश्चिमी सीमा का सर्वेसर्वा नियुक्त किया गया।

तिथि का उल्लेख किए बिना **इसामी** लिखता है कि दो मंगोल सेनाओं ने सिंध सीमा पार की। सुल्तान मुहम्मद ने उनके विरुद्ध अपने अधिकारी भेजे। धंदी कंदली नामक स्थान पर युद्ध हुआ और बहुसंख्यक होने के कारण मंगोल विजयी हुए। मुहम्मद असैनिक अधिकारियों पर जुर्माना करना चाहता था किंतु चूंकि इससे उनकी मानहानि होती इसलिए उन्हें सम्मानसूचक वस्त्र और इनाम दिए गए।

लखनौती से लौटने के पश्चात ग्रीष्म ऋतु में बल्बन ने यह अनुभव किया कि उसका स्वास्थ्य क्षीण हो रहा है। इसलिए उसने यह निश्चय किया कि सुल्तान मुहम्मद को राज्याधिकार दे दे ओर उसे तुरंत दिल्ली बुलवाया। बल्बन का दूत मुल्तान पहुंचा सुल्तान मुहम्मद कुछ अति आवश्यक राजकीय कार्यों में व्यस्त था। उसने उत्तर दिया कि वह तुरंत प्रस्थान करेगा।

1285 में सुल्तान मुहम्मद ने सूमरा जनजातियों के विरूद्ध कूच किया—संभवतः इसलिए कि उन्होंने उसके विरूद्ध विद्रोह कर दिया

था। सूमराओं का दमन करने के उद्देश्य से जतराल के निकट उसने अपने शिविर लगाए। इस समय अकस्मात या पूर्व निश्चय से तमर नामक मंगोल सीमांत अधिकारी ने तीस हजार अश्वारोहियों सहित उसके विरूद्ध कूच किया। या तो मंगोल बड़ी द्रुतगति से चले या उन्होंने अपनी गतिविधि गुप्त रखी क्योंकि सुल्तान मुहम्मद को मंगोलों के आने का समाचार उस समय प्राप्त हुआ जब वह केवल पांच 'फर्सग' की दूरी पर रह गए थे।

सुल्तान मुहम्मद ने अपने अधिकारियों से परामर्श किया। उन्होंने निष्ठापूर्वक उसे यह सलाह दी कि वह चुपचाप वापस चला जाए और उन्हें युद्ध करने दे। भीषण युद्ध होगा। उन्हें बदला जा सकता है किंतु उसका स्थान पूरा करना असंभव है। किंतु सुल्तान मुहम्मद ने युद्ध का निश्चय किया। 'राजकुमारों को यह शोभा नहीं देता कि वे शत्रु देख कर अपने घोड़ों की लगाम मोड़ें।' दूसरे दिन प्रातःकाल मंगोलों का अग्रिम दल दिखाई दिया। अमीर खुसरो का कथन है कि, 'वे झूंड के झूंड, रावी नदी पार कर अचानक आ गए।' किंतु जब तक संपूर्ण मंगोल सेना अपनी पूरी शक्ति सहित आई भारतीय सेना अपने घोड़ों पर तैयारी खड़ी थी। दोपहर तक युद्ध होता रहा कोई पक्ष विजयी न हुआ। किंतु सुल्तान मुहम्मद की सेना में मंगली नामक एक तुर्क अधिकारी था जिसे मंगोल डरपोक समझते थे। उन्होंने उसका पता लगाया और अचानक उसके दस्ते पर आक्रमण कर दिया और वह भाग खड़ा हुआ। मंगोल झपट कर आगे बड़े और भारतीय सेना में अनुशासन बिल्कुल भंग हो गया। इमामी कहता है कि, 'चूंकि मंगोल सेना तुलना में बहुत थी इसलिए उसने सभी मोर्चों पर अपनी पूरी शक्ति लगा दी। भारतीय सैनिक पंक्तियां बिल्कुल अस्तव्यस्त हो गई।

कई घंटे वीरता से युद्ध करने के पश्चात सुल्तान मुहम्मद ने अपना घोड़ा (रावी) नदी की ओर मोड़ा। किन्तु एक सैनिक द्वारा मार डाला गया।

मुहम्मद की मृत्यु अस्सी वर्षीय बल्बन पर एक भयंकर कुठाराघात था क्योंकि राजकुमार उसकी सांसारिक आशाओं का एकमात्र सहारा था। उसके निधन में बल्बन को अपने वंश का विनाश दिखाई देने लगा। इस से उसे अपने परिवार में राजसत्ता बनाए रखने के जीवनपर्यंत प्रयत्नों की दुखांत समाप्ति होते हुए दिखाई दी।

अंतिम प्रयत्न के रूप में उसने बुगरा खां को लखनौती से बुलाया और उसे दिल्ली में रहने का आग्रह किया। उसके पौत्र कैखुसरो और कैकुबाद अभी युवा और अनुभवहीन थे। यदि बुगरा खां दायित्व संभालने के लिए तैयार नहीं होता तो दिल्ली का राजत्व बच्चों का खेल बन जाता जैसा कि इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात पूरी एक पीढ़ी तक बना रहा था। बल्बन का विचार ठीक था किन्तु बुगरा खां बहुत उतावला राजकुमार था जिसे राज्यों में होने वाले विनाशकारी परिवर्तनों का ज्ञान नहीं था। वह अपने पिता के पास दो या तीन मास तक रहा और सुल्तान के स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार हुआ। तब बुगरा खां के मन में लखनौती जाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। सुल्तान के सुधरते हुए स्वास्थ्य का बहाना बनाकर उसकी अनुमति बिना लखनौती के लिए चल पड़ा।

मैंने कैखुसरो को जो खाने शहीद का ज्येष्ठ पुत्र है, अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया है। उसे मेरे सिंहासन पर बिठाना। एक युवक होने के नाते उस से बड़ी आशाएं है किंतु वह अभी अल्पायु है और अनुभवहीन है। राज्य का दायित्व पूर्ण करने योग्य नहीं है। किंतु इसके अतिरिक्त मैं कर भी क्या सकता हूं। महमूद (बुगरा खां) जिसके लिए लोगों के मन में श्रद्धा है और जिस से कुछ आशा की जा सकती थी, लखनौती चला गया है। उसे वापस बुलाने के लिए अब पर्याप्त समय नहीं है। कैखुसरो का नामांकन करने के अतिरिक्त मेरे पास कोई विकल्प नहीं है।

तत्पश्चात उसने मलिकों से विदा होने को कहा। तीन दिन बाद वह मर गया। 'कोतवाल और कोतवाली' के अधिकारी बड़े साहसी और योग्य थे। वे जनसाधारण की मनोभावना समझते थे। उनका विचार था कि यदि कैखुसरो सिंहासन पर बिठा दिया गया तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा। इसलिए उसी दिन उन्होंने कैखुसरो को मुल्तान भेज दिया और बुगरा खां के पुत्र कैकुबाद को मुईजुद्दीन का खिताब देकर सिंहासनारूढ़ कर दिया।

बल्बन की उपलब्धियां और असफलताएं

बल्बन की मृत्यु के पश्चात उसका वंश तीन वर्ष से अधिक राज्य न कर सका। उसके अधिकारियों मे यदि कोई उसके [illegible] पर कि, 'राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है' और यह कि 'राजा का हृदय दैवेक्षा का पात्र होता है' म विश्वास करता था तो [illegible] के दावे और उसके उत्तराधिकारी के चरित्र में परस्पर विरोध देख कर अवश्य आश्चर्य हुआ होगा। इन तुर्क दास अधिकारियों की हत्या की नीति का कैकुबाद के शासन ने अनुसरण किया। जलालुद्दीन फीरोज खिलजी ने उन्हें उनके उच्च पदों के एकाधिकार से वंचित कर दिया। इस प्रकार बल्बन द्वारा स्थापित राजवंश उसकी मृत्यु के बाद मात्र तीन वर्षों तक ही कायम रह सका। पक्ष पुत्र बुगरा खान ने दिल्ली का राजसिंहासन अपने पुत्र कैकुबाद के जिम्मे छोड़ते हुए लखनौती में ही शासन करना पसन्द किया। कैकुबाद इस वक्त सिर्फ 18 वर्ष का नवयुवक था। कैकुबाद ने जो अत्यन्त विलासी सिद्ध हुआ, समस्त राजकाज निजामुद्दीन के हाथों सौंप दिया जिसने अपने सभी विरोधी तुर्क अधिकारियों को मार डालने की कोशिश की। इस प्रक्रिया में स्वय निजामुद्दीन की हत्या हो गई। प्रशासन ध्वस्त हो गया और जलालुद्दीन खिलजी को, जो सीमांत प्रदेश का प्रहरी था एवं जिसने मंगोलों के विरुद्ध लड़कर ख्याति एवं विशिष्टता अर्जित की थी, सहायता के लिए बुलाया गया। उसने शीघ्र ही कैकुबाद से निजात पा ली और 1290 में एक राजवंश की स्थापना की।

यद्यपि बल्बन किसी राजवंश की स्थापना नहीं कर पाया, किन्तु ऊपरी दोआब अथवा सिंधु–गंगा मैदान मे, जो उसके राज्य का वास्तविक भाग था, कानून और व्यवस्था कठोरतापूर्वक लागू करने और अराजक तत्वों का सख्ती से दमन करने के अलावा व्यापारिक माल और व्यापारियों के संचालन हेतु सड़कों को निरापद बनाकर उसने सल्तनत के विकास और भावी विस्तार की आधारशिला रखी। सिंधु–गंगा का मध्यवर्ती क्षेत्र, जो बनारस और जौनपुर तक फैला था, विश्व के सर्वाधिक व्यापक एव उपजाऊ मैदानों में से एक था और इसका एकीकरण अतीत के सबल व समृद्ध साम्राज्यों का अनिवार्य आधार रहा था।

यद्यपि इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि बल्बन ने प्रशासन तंत्र को, विशेषकर स्थानीय अथवा प्रान्तीय स्तर पर पुनर्गठित करने का कोई व्यवस्थित प्रयास किया किन्तु इक्तादारों पर उसका कठोर नियंत्रण स्पष्ट प्रतीत होता है जिसकी गतिविधियों के विषय में वह बरीदों के माध्यम से अवगत होता रहता था। जो राजस्व पहले चहलगानी अथवा तुर्क दास अधिकारियों द्वारा अपने निजी उपयोग के लिए हड़प लिए जाते थे वे अब केन्द्र सरकार को उपलब्ध होने लगे। इस राशि का एक भाग बल्बन द्वारा अत्यन्त भव्य दरबार के रखरखाव और शानोशौकत पर व्यय होता था, तथा शेष राशि केन्द्रीय सेना को सशक्त बनाने के कार्य में खर्च की जाती थी। बल्बन ने एक विशाल व सक्षम सेना तैनात रखने पर काफी जोर दिया। अपने पुत्र बुगरा खान को उसने सलाह दी कि सेना के अलावा आय का आधा भाग आपात काल में सुरक्षा के लिए रखा जाना चाहिए।

मंगोलों के भय के कारण बल्बन ने सेना का विस्तारवादी गतिविधियों के लिए इस्तेमाल नहीं किया। बल्बन ने ब्यास नदी के समानान्तर चलने वाली मुल्तान–दीपालपुर–सुनाम रेखा पर मंगोलों को रोके रखने में सफलता प्राप्त की किन्तु वह लाहौर के आगे के क्षेत्र से मंगोलों को पीछे धकेलने में सफल नहीं हो पाया। मंगोल शासकों का ध्यान इन दिनों ईरान, ईराक, सीरिया आदि पर केन्द्रित था इसलिए मंगोलों से दिल्ली को कोई वास्तविक खतरा नहीं था परन्तु सम्भवतया बल्बन कोई भी जोखिम उठाने के पक्ष में नहीं था।

दो वरिष्ठ तुर्की अधिकारियों–अवध के हाकिम अमीन खान एवं बहादुर की विफलता और उनके सैनिकों का तुगरिल के पक्ष में चला जाना संकेत करता है कि बल्बन के शासन–प्रबन्ध एवं उसकी नीतियों के प्रति असंतोष बढ़ रहा था। तुर्क सैनिक अपने वेतन से भी सन्तुष्ट नहीं थे। लूट के माल से इसकी कमी पूरी करने की अपेक्षा उनसे की जाती थी। परन्तु बल्बन की सुदृढ़ीकरण नीति के कारण उन्हें ऐसा कोई अवसर नहीं मिल पा रहा था। तुगरिल के लखनौती में स्वतन्त्र होने के प्रयास इस तथ्य के परिचायक हैं कि बल्बन की कठोरता भी तुर्की के स्वभाव में निहित जनजातीय स्वतन्त्रता की इच्छा को दबाने में असफल रही। यद्यपि बल्बन ने अंततः तुर्क चहलगानी की शक्ति को नष्ट कर दिया किन्तु योग्यता तथा कार्यकुशलता के स्थान पर वंश को अत्यधिक महत्व देने का परिणाम हानिकारक सिद्ध हुआ। वंशक्रम को अत्यधिक महत्व दिए जाने से न केवल समर्थ और योग्य भारतीयों का राज्य की सेवा में नियुक्त होने या उन्नति करने से वंचित होना पड़ा, अपितु जैसा कि **सतीशचंद्र** लिखते है ऐसा प्रतीत होता है कि निम्न परिवारों में जन्में तुर्कों पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

फिर भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि बल्बन की उपलब्धियां उसकी असफलताओं से कहीं अधिक थी। उसने एक ऐसा [illegible] निर्माण किया जिसमें न केवल अपने पोषण की व स्थायित्व की क्षमता थी बल्कि विस्तार की क्षमता भी थी जिसका [illegible] में मिला जबकि कालांतर मे उसके द्वारा लगाई संकीर्ण बाध्यताएं विखंडित हुई व सामर्थ्यवान व योग्य व्यक्तियों को प्रोत्साहन [illegible]

खिलजी वंश दिल्ली सल्तनत का आंतरिक पुनर्गठन

खिलजी वश के शासन काल (1290-1320 ई) के दौरान दिल्ली सल्तनत की सामाजिक--आर्थिक एवं प्रशासनिक संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। शाइस्ता खां जलालुद्दीन फिरोज खिलजी का जून 1290 ई. में कैलूगढ़ी के राजमहल में सत्तारूढ होने का महत्व केवल एक राजवंशीय परिवर्तन तक ही सीमित नहीं था। पचीस वर्ष पूर्व बल्बन के राज्यारोहण के प्रतिकूल वह एक युग का अंत था क्योंकि ममलूक वंश के साथ--साथ वह जातिवाद भी समाप्त हो गया जिससे कुतुबुद्दीन, इल्तुतमिश और उनके उत्तराधिकारियों का राजनीतिक दृष्टिकोण प्रभावित था। खिलजी दल की सरल विजय ने पूर्वसिद्ध इस तथ्य का महत्व रेखांकित किया कि जातीय निरंकुशता और अधिक समय तक राज्य धारण नहीं कर सकती। वह एक ऐसी स्थिति में पहुंच चुकी थी जहां नई शक्तियां और आकांक्षाएं निरन्तर समायोजन की मांग कर रही थी। साम्राज्य के विस्तार से कहीं अधिक एक नियोजित एवं सुदृढ प्रशासन के लिए नए दृष्टिकोण और नए समाज की जरूरत थी।

मूलतः खिलजी तुर्क थे किंतु यह भी सच है कि दीर्घकाल तक अफगानिस्तान में रहने के कारण उन्होंने उस देश की आदतों और रीति--रिवाजों को अपना लिया था। उनमें से कुछ महमूद गजनवी व मुहम्मद गौरी के साथ सैनिकों के रूप में भारत आए। मध्यएशिया और अफगानिस्तान में मंगोल उथल--पुथल के फलस्वरूप इस जाति के अनेक लोग शरणार्थी के रूप में भारत आए खिलजियों द्वारा सत्ता प्राप्ति का दिल्ली की जनता ने स्वागत नहीं किया। दिल्ली की जनता जिन परिस्थितियों में रहने की अभ्यस्त हो गई थी उसे यह वंश परिवर्तन उनका एक बड़ा उल्लंघन प्रतीत होता था। अतः खिलजियों द्वारा सत्ता प्राप्ति का दिल्ली की जनता ने स्वागत नहीं किया। दिल्ली की जनता जिन परिस्थितियों में रहने की अभ्यस्त हो गई थी--उसे यह वंश परिवर्तन उनका एक बड़ा उल्लंघन प्रतीत होता था। जातीय विभिन्नता में दोनों ही जातियां तुर्क थी। मूल तथ्य यह था कि खिलजी क्रांति भारत में मुस्लिम राजत्व के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। न तो वंशाधिकार, न चुनाव और न षडयंत्र से जलालुद्दीन को गद्दी प्राप्त हुई। जातीय उच्चता या खलीफा की स्वीकृति पर भी उन्होंने अपने राजत्व का दावा नहीं किया। उन्होंने राज्य को शक्ति प्रयोग के बल पर ही अपने हाथ में रखा। न तो जनता, न अमीर वर्ग और न ही उलेमा का समर्थन खिजली वंश ने प्राप्त किया। उन्होंने मुस्लिम जनता को भी यह बता दिया कि धार्मिक समर्थन के बिना राज्य न केवल जीवित रह सकता है बल्कि सफलतापूर्वक कार्य भी कर सकता है।

बरनी के अनुसार खिलजियों के हाथ में सत्ता आने पर साम्राज्य तुर्कों के हाथ से फिसल गया एवं दिल्ली शहर के लोग, जिन पर अस्सी वर्षों तक तुर्क जाति के सुल्तानों ने शासन किया था, "तुर्कों की राजगद्दी पर खिलजियों का अधिकार देखकर प्रशंसा और विस्मय से भर उठे।" अनेक आकस्मिक वंशीय क्रांतियों के कारण सत्ता का हस्तांतरण जनसाधारण के लिए अधिक महत्व का नहीं था। परन्तु खिलजी क्रांति के परिणाम सुदूरगामी हुए। जातिवाद के समाप्त होने के साथ--साथ, इसके महत्व के संबंध में **के. एस. लाल** लिखते हैं, "इससे न केवल एक नवीन वंश का उदय हुआ, बल्कि इसने अनवरत विजयों, कूटनीति में असाधारण प्रयोगों और अतुलनीय साहित्यिक क्रियाकलापों के एक युग को जन्म दिया। खिलजी सुल्तानों विशेषकर अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है--अभूतपूर्व विजयों की एक अनवरत श्रृंखला। देश के सुदूरतम कोनों में मुस्लिम सेनाओं ने प्रवेश किया। स्वतन्त्र राज्यों पर आधिपत्य करने के साथ ही बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा का भी ध्यान खिलजी शासकों ने रखा। अलाउद्दीन ने मंगोल आक्रमण से देश की रक्षा की और सुदूर दक्षिण तक अपनी सेनाएं भेजी।"

अनेक दृष्टियों से अलाउद्दीन खिलजी का बीस वर्ष (1296-1316 ई.) का शासनकाल महत्वपूर्ण था। मध्यकालीन इतिहास में अलाउद्दीन के कुछ सुधार पूर्णतः नवीन प्रयोग कहे जा सकते हैं। यद्यपि उनकी सफलता अल्पकालीन थी तथापि इससे उनका महत्व कम नहीं होता। वह अपने उद्देश्यों में पूर्ण रूप से सफल रहा। परन्तु अपने समस्त प्रशंसनीय कार्यों के बावजूद अलाउद्दीन उतना लोकप्रिय नहीं हुआ जितना इल्तुतमिश या बल्बन हुए थे। इसका प्रधान कारण यही था कि खिलजी शासकों की सत्ता मुख्यतः शक्ति पर आधारित थी। सम्भवतया इसी कारण वह जनसाधारण के हृदयों में वह स्थान प्राप्त नहीं कर सके जो इल्बारी सुल्तानों को मिला था। **आर. पी. त्रिपाठी** लिखते हैं, "खिलजी क्रांति का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उसने राजभक्ति की उस भावना को, जो दिल्ली सिहासन के प्रति विकसित हो रही थी और जिससे भविष्य में अच्छे परिणामों की आशा थी, भारी धक्का लगा। यदि खल्जियों ने राजभक्ति तथा राजप्रतिष्ठा की परम्पराओं को उत्पन्न होते ही न कुचल दिया होता और उन्हें बढ़कर अपनी पूर्णता तक पहुंचने दिया होता, तो सैनिकवादी तत्व बहुत न्यून हो जाता और अधिकारों तथा कर्त्तव्यों और आज्ञा देने तथा पालन करने की नई परम्परा स्थापित हो जाती। दुर्भाग्यवश खिलजी क्रांति ने सरकार के सैनिक पक्ष को शक्तिशाली बनाकर एक ऐसा घातक उदाहरण उपस्थित किया जो दिल्ली सल्तनत की जीवन--शक्ति को क्षीण करता रहा।"

यद्यपि खिलजियों के उत्थान के कारण सत्ता और शासन के पदों पर एक नए समूह के लोग आसीन हुए, किन्तु इस वंश के संस्थापक जलालुद्दीन खिलजी (1290-96 ई.) ने एक ही वर्ग को प्रश्रय देने की संकीर्ण नीति नहीं अपनाई। जलालुद्दीन ने [illegible] काल के ऐसे कई तुर्कों और अधिकारियों को महत्त्वपूर्ण पद और इक्ते प्रदान किये जो उसके पक्ष में आ गये थे। [illegible] बल्बन के एक भतीजे मलिक छज्जू किश्ली खान को भी कड़ा का हाकिम नियुक्त किया गया जो सर्वाधिक उपजाऊ और समृद्ध भूखंडों में से एक माना जाता था। मलिक छज्जू ने जब विद्रोह किया, दिल्ली पर चढ़ाई की और मुंह की खाई तब भी [illegible] दंड नहीं दिया गया।

परंतु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि जलालुद्दीन ने अपने कार्यों के जरिए शासन के एक नए प्रकार की संकल्पना प्रस्तुत की जो मूलतः सभी समुदायों के लोगों की सद्भावना और समर्थन पर आधारित थी और औदार्ययुक्त तथा [illegible] के साथ निहित थी। इस प्रकार बल्बन के विपरीत उसने सम्प्रभुता को, आत्म–गौरव तथा अत्याचार से सम्बद्ध नहीं किया। **बरनी** की [illegible] भाषा में वह "एक चींटी को भी नुकसान न पहुंचाने" की नीति में विश्वास करता था।

यद्यपि जलालुद्दीन खिजली एक धर्मपरायण मुसलमान था, किन्तु वह हिन्दुओं को बलात धर्मांतरित करने या अपमानित करने की नीति को यथार्थपरक नहीं समझता था, जैसा कि कुछ मुस्लिम धर्मशास्त्री चाहते थे। अपने एक निकट सहयोगी अहमद चप के साथ बहस करते हुए उसने हिन्दुओं द्वारा मूर्तिपूजा करने, अपने धर्म का प्रचार करने एवं ऐसे अनुष्ठानों का संपादन करने का भी पक्ष लिया जो कुफ्र के प्रमाण थे। इस प्रकार उसने हिन्दुओं पर अपने महल की बगल में जुलूस निकालने, ढोल बजाने तथा अपनी प्रतिमाओं को विसर्जित करने के उद्देश्य से यमुना नदी के किनारे जाने पर रोक नहीं लगाई और उन्हें इस्लाम के गढ दिल्ली में भी आराम, वैभव और प्रतिष्ठा का जीवन जीने दिया गया। उसका मत था कि वैसे तो आतंक की नीति के जरिए कुछ समय के लिए लोगों के हृदय में सरकार के प्रति भय और सम्मान स्थापित किया जा सकता है, किन्तु इसका अर्थ (सच्चे) इस्लाम का त्याग करना होगा, अथवा, जैसा कि कहा गया था, कि इसके परिणामस्वरूप "जिस प्रकार आटा गूंधने के समय किसी बाल को निकाल देया जाता है उसकी प्रकार लोगों के हृदय से इस्लाम को निकाल दिया जायेगा।"

जलालुद्दीन खिलजी के भतीजे और दामाद अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316 ई.) ने, जिसने अपने चाचा की धोखे से हत्या करने के बाद राजगद्दी प्राप्त की थी जलालुद्दीन के उदार और मानवतावादी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया। फिर भी, जलालुद्दीन द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का दीर्घकालीन महत्त्व रहा व उनको किसी–न–किसी रूप में उसके लगभग सभी उत्तराधिकारियों द्वारा अपनाया गया।

इस प्रकार जलालुद्दीन के शासन काल का दीर्घकालीन महत्त्व है जो अक्सर उपेक्षित ही रहा है।

अलाउद्दीन खिजली ने जलालुद्दीन के परोपकारिता और मानवतावाद के सिद्धांतों को यह मानते हुए अस्वीकार कर दिया कि वे तत्कालीन संदर्भ में अनुपयुक्त हैं एवं दुर्बल शासक को निर्दिष्ट करते हैं। उसने आतंक के सिद्धांत को अपने शासन का आधार बनाना अधिक उपयुक्त समझा। इस सिद्धांत को उसने अमीरों के साथ–साथ जनसाधारण पर भी लागू किया। इस प्रकार अपने शासन काल के आरंभ में ही हुए दो विद्रोहों (जिसमें से एक का नेतृत्व उसके भतीजे अकत खान ने किया था) के बाद उसने अमीरों पर नियंत्रण रखने के लिए कठोर उपाय अपनाने का निर्णय लिया। उसने बल्बन के खुफिया तंत्र को पुनः चालू किया जो उसे सभी घटनाओं, यहां तक कि अमीरों के घरों के भीतर की बातों, की सूचना देते रहते थे। अमीरों पर एक–दूसरे से मिलने अथवा दावतों की गोष्ठियां करने पर पाबंदी लगा दी गई। आपस में वस्तुतः वैवाहिक संबंध स्थापित करने के लिए भी उन्हें सुल्तान की अनुमति लेनी पड़ती थी।

किन्तु अलाउद्दीन खिलजी ने जलालुद्दीन खिलजी के इस तर्क को स्वीकार किया कि भारत की विशिष्ट परिस्थितियों में एक वास्तविक इस्लामी राज्य की स्थापना का कार्य सम्भव नहीं है। **बरनी** के अनुसार, दिल्ली के काजी मुगीस के साथ अपनी बातचीत में अलाउद्दीन ने इस तथ्य पर जोर दिया कि वैभव और आडंबर एवं 'शरा' (इस्लामी कानून) द्वारा अस्वीकृत दंडों के विधान राज्य में अपरिहार्य थे। वस्तुतः उसने तो यहां तक कह दिया कि "मैं नहीं जानता कि शरा के अनुसार क्या उचित है और क्या अनुचित, मैं राज्य के लिए अथवा इसके कल्याण के लिए जो कुछ भी आवश्यक समझता हूं, उसका आदेश दे देता हूं।" **बरनी** मगीस के अपने कथन का उपसंहार इन शब्दों के साथ करता है कि अलाउद्दीन इस बात में विश्वास करता था कि राज्य और इससे संबंधित विषय शरीयत के नियमों एवं आदेशों से अलग हैं; अतः जहां राज्य और प्रशासन केवल सुल्तानों से संबंधित हैं वहां [illegible] नियमों और आदेशों से संबंधित विषयों का दायित्व काजियों और मुफ्तियों (अर्थात जो लोग अदालतों में न्याय से संबंधित [illegible]

अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल के दौरान गैर–तुर्कों के विरूद्ध कोई पक्षपात नहीं किया गया, बल्कि उन्हें प्रशासन में उन्नति करने का पूर्ण अवसर प्रदान किया गया। यही कारण था कि अलाउद्दीन के काल में जफर खान एवं नुसरत खान तथा बाद में गुजरात में पकड़े गए एक गैर–तुर्क दास मलिक काफर जैसे कई गैर–तुर्कों को उच्च पदों पर नियुक्ति एवं पदोन्नति का अवसर मिला। मलिक नायक नामक एक हिन्दू को, जो समाना और सुनाम का हाकिम भी रह चुका था, एक ऐसी सेना की कमान सौंपी गई थी जिसने मंगोलों को बहुत बुरी तरह पराजित किया था। इस सैन्य अभियान के दौरान बहुत सारे मुस्लिम अधिकारियों को उसके अधीन कार्य करने का आदेश दिया गया था। इस सेना में भारी संख्या में भारतीय मुसलमान भी थे।

आन्तरिक सुदृढ़ीकरण एवं विस्तार

क. अलाउद्दीन के भूमि सुधार

अलाउद्दीन खिलजी के भूमि एवं बाजार सुधारों को सल्तनत के आतंरिक पुनर्गठन के प्रयासों तथा बार–बार होने वाले आक्रमणों के खतरे का सामना करने के लिए एक विशाल सेना तैयार करने की आवश्यकता के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए।

अलाउद्दीन खिलजी के भूमि सुधारों का उद्देश्य दीपालपुर एवं लाहौर से कड़ा (आधुनिक इलाहाबाद के निकट) तक के क्षेत्र के गांवों को सरकार के निकट संपर्क में लाना था जिसके लिये इस क्षेत्र के गांवों को खालिसा के तहत लाया गया, यानी उन्हें किसी भी अमीर को इक्ता के रूप में नहीं दिया गया। धर्मार्थ अनुदानों के रूप में दी गई जमीनें भी जब्त कर ली गईं एवं खालिसा के तहत लाई गईं। साथ ही यह तय किया गया कि इस क्षेत्र में भू–राजत्व (खराज) उपज का आधा भाग होगा और उसका आकलन पैमाईश के आधार पर किया जायेगा। **बरनी** ने, जो इस विषय पर हमारी जानकारी का मुख्य स्रोत है, खेतों के मापन की विधि और ढंग के बारे में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। काश्त के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र की पैमाइश एवं प्रति बिस्वा (एक बीघा का बीसवां भाग) की अनुमानित उपज के मानक के आधार पर राज्य का देय भाग (हिस्सा) निश्चित किया जाता था। इसके अलावा पशुओं पर चराई कर एवं घरों पर घरी कर को छोड़कर अन्य कोई कर नहीं लिया जाता था। ये दोनों कर पारम्परिक थे और पहले भी लिये जाते थे। भू राजस्व का निरूपण उपज के रूप में किया जाता था और उसकी अदायगी नकद होती थी जिसके लिये काश्तकारों को अपनी फसल बाजारों को बेचनी पड़ती थी अथवा उसे स्थानीय बाजार (मंडी) में बेचने के लिए ले जाना पड़ता था।

हमें यह ज्ञात नहीं है कि अलाउद्दीन द्वारा उपज के आधे भाग की मांग ने किस हद तक भू–राजस्व की मांग में वृद्धि की क्योंकि राजपूत शासकों अथवा पहले के तुर्की शासकों द्वारा लगाये गए भू–राजस्व के बारे में हमें सही–सही जानकारी नहीं है। 'धर्मशास्त्रों' के अनुसार भू–राजस्व उपज के चौथे या छठे भाग के बीच होना चाहिए जो आपातकाल में बढ़कर आधे भाग तक पहुच सकता था। किन्तु भू–राजस्व के अतिरिक्त अन्य कई कर लागू होते थे जिनकी दर के बारे में जानकारी उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार, कुलीनों को भूमि दी जाने के लिए कई प्रकार के करों का विधान था जैसे 'भाग', 'भोग', 'कर' यानी भू–राजस्व, शुल्क और अन्य उपकर, आदि। ये सब आरंभिक तुर्की शासकों के अधीन भी जारी रहे होंगे। हम इस तथ्य से अवगत नहीं हैं कि अलाउद्दीन ने इन सभी करों को मिलाकर एक बना दिया या किसानों द्वारा भुगतान की जानेवाली कुल राशि में वृद्धि कर दी।

इसी प्रकार मापन या पैमाइश एक पुरानी पद्धति थी जिसका उत्तर भारत में प्रचलन प्रत्यक्षतः बंद हो चुका था। इसे बल्बन जैसे कुछ आरंभिक सुल्तानों ने कुछ क्षेत्रों में पुनः चालू किया होगा क्योंकि **बरनी** इसे पूर्णतः अज्ञात पद्धति नहीं बताते हैं। किन्तु दोआब जैसे व्यापक क्षेत्र में इसका व्यवस्थित प्रवर्तन अलाउद्दीन का महत्त्वपूर्ण योगदान था। दोआब को खालिसा के तहत लाने एवं किसानों के साथ सरकार द्वारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने का अभिप्राय यह नहीं था कि सभी बिचौलिए समाप्त हो गए। दीर्घ काल से ग्रामीण क्षेत्रों में बिचौलियों का एक सोपान स्थापित था जिसके शीर्ष पर राय, राणा, रावत आदि स्थित थे। इन्हें सरदार या सामंत कहा जाता था। कभी–कभी कोई सरदार एक बड़े भूखंड पर नियंत्रण रखता था जिसे भू–राजस्व वसूल करने के प्रयोजन से उसके सगे–संबंधियों एवं अन्य समर्थकों में बांट दिया जाता था। गांव के स्तर पर ग्राम–प्रधान होता था जिसे चौधरी अथवा मुकद्दम कहा जाता था। जैसे–जैसे तुर्क सल्तनत की स्थिति दोआब में सुदृढ़ होती गई, वैसे–वैसे रायों और राणाओं की शक्ति और अधिकार में कमी आती चली गई और उनमें से कुछ तो विस्थापित हो गए। इस प्रक्रिया में बिचौलियों का एक नया समूह अस्तित्व में आया जो परगना अथवा शिक (जिला) स्तर पर कार्य करने लगा। वस्तुतः ये ऐसे लोग थे जिन्हें **बरनी** में 'खूत' कहा है और जिनके लिए पहली बार खुसरो ने 'जमींदार' शब्द का प्रयोग किया था। आगे चलकर 'जमींदार' शब्द सभी प्रकार के बिचौलियों के लिए प्रयुक्त होने लगा। अलाउद्दीन के भूमि सुधारों का अभिप्राय रायों अथवा राणाओं के विस्थापन हेतु अधिक दबाव

डालना था। किन्तु हमें विदित है कि ऐसे बहुत से जमींदार, जो राज्य को भू–राजस्व की राशि की एकमुश्त अदायगी करते थे अपना अस्तित्व 9वीं और 11वीं सदियों में भी कायम रख सके। दूसरे शब्दों में ऐसे जमींदारों के नियंत्रण में आने वाले युग खालिसा में शामिल नहीं किये गये थे।

खालिसा के तहत लाए गए क्षेत्र में अलाउद्दीन ने खूत, मुकद्दमों और चौधरियों के विशेषाधिकारों पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया। ग्रामीण अभिजात वर्ग में इसी वर्ग के लोग आते थे जो **बरनी** के अनुसार, इतने धनी थे कि अरबी और ईराकी घोड़ों की सवारी कर सकें, हथियार और उत्तम वस्त्र धारण कर सकें, मदिरा पान कर सकें एवं आमोद–प्रमोद की गोष्ठियों का आयोजन कर सकें। उनके पास इतना अधिक धन होने का कारण था गांव की सर्वोत्तम जमीन पर उनका स्वामित्व। साथ ही, जहां पूरे गांव का सामूहिक रूप से कर–निर्धारण होता था वहां वे अक्सर अपने हिस्से के भू–राजस्व का बोझ कमजोर लोगों के कंधों पर डाल देते थे।

हमें इस सम्बन्ध में जानकारी नहीं है कि ग्रामीण समाज के विभिन्न वर्गों पर अलाउद्दीन के भूमि सुधारों का वास्तविक प्रभाव क्या पड़ा। अलाउद्दीन ने न केवल खूतों, मुकद्दमों और चौधरियों को अन्य लोगों की तरह ही चराई कर और घर कर देने के लिए बाध्य किया एवं मापन पद्धति के जरिए सुनिश्चित किया कि वे भू–राजस्व के अपने बोझ को दूसरों के कंधों पर न डाल पाए अपितु उन्हें भू–राजस्व वसूल करने के एवज में मिलने वाले खूती शुल्कों से भी वंचित कर दिया। इस प्रकार, **बरनी** की अतिरंजित भाषा में वे ग्रामीण समाज के निम्नतम तबके यानी बलाहारों के स्तर तक पहुंच गए। वे अब घोड़ों की सवारी करने, उत्तम वस्त्र पहनने एवं पान खाने की स्थिति में नहीं रह गए थे और उनकी स्त्रियां मुस्लिम घरों में जाकर मजदूरी करने के लिए विवश हो गई थीं। पूरे के गांवों में जमीन का पुनर्वितरण कर पाना अलाउद्दीन के लिए शायद ही संभव था और इन तबकों के लोगों का गाव की अधिकांश और सर्वोत्तम जमीन पर स्वामित्व था, अतः वे निश्चय ही ग्रामीण समाज के विशेषाधिकारयुक्त वर्ग बने रहे होंगे। किन्तु हम **बरनी** के इस वक्तव्य को मान सकते हैं कि दंड के भय से ये लोग आज्ञाकारी बन गए और एक चपरासी के कहने पर भी वे भू–राजस्व के भुगतान के लिए आमिल के कार्यालय में जाने लगे।

गांव में विशेषाधिकारयुक्त वर्गों की छीनाझपटी पर अंकुश लगाने के अलाउद्दीन के प्रयासों से किसानों को कितना लाभ हुआ यह ऐसा प्रतीत होता है कि किसानों को एक ओर से जो लाभ हुआ उसमें दूसरी ओर से नुकसान भी हो गया। अलाउद्दीन के बाजार सुधारों ने उन्हें बुरी तरह प्रभावित किया क्योंकि उसकी नीति यह थी कि किसान के पास इतना ही रहने दिया जाए कि वह काश्त कर सके और अपनी खाद्य संबंधी आवश्यकताओं (वस्तुतः दूध और छाछ) की पूर्ति कर सके।" कहा जाता था कि सरकार का लगान इतना अधिक था कि किसान भू–राजस्व का भुगतान करने के लिए अपनी पत्नी और मवेशी तक बेच देते थे।

भूमि पद्धति में सुधार करते समय अलाउद्दीन ने प्रयास किया कि राजस्व प्रणाली का संचालन कुशलता और ईमानदारी से किया जाये। यह कार्य आसान नहीं था क्योंकि खालिसा क्षेत्र के विस्तार के कारण भारी संख्या में मुत्सर्रिफ आमिल एवं गुमाश्ते नियुक्त किए जाने थे। यह कार्य अपेक्षाकृत काफी कम समय में पूरा कर लिया गया जो इस तथ्य का परिचायक है कि किस प्रकार से शासक छोटे–छोटे शहरों तक पहुंच पाने में भी सफल हो गए। अलाउद्दीन चाहता था कि इन सभी अधिकारियों के लेखा–जोखा का नायब वजीर शरफ काई सख्ती से परीक्षण (अंकेक्षण) करे। यदि गांव में पटवारी की खाताबही के आधार पर जिसके बारे में कम पहली बार सुनने को मिलता है एक जीतल भी उनके पास बचा हुआ पाया जाता था तो उन्हें कठोर दंड दिया जाता था अथवा कैद में डाल दिया जाता था, और कभी–कभी तो इससे भी बुरी यातना सहनी पड़ती थी। अलाउद्दीन उन्हें एक अच्छा जीवन यापन के लायक पर्याप्त वेतन देने के लिए तैयार था, किन्तु उनकी रिश्वतखोरी अथवा भ्रष्टाचार को बहुत बुरा मानता था। जो लोग ऐसा करते थे उन्हें अत्यंत कठोर दंड दिया जाता था। अपनी विशेष शैली में **बरनी** में यहां तक कह दिया है कि कोई भी आमिल या मुत्सर्रिफ रिश्वत नहीं ले सकता था और वे आर्थिक अभाव और बहुत छोटे–छोटे बकायों के लिए यातनाओं एवं दीर्घकाल तक कैद किये जाने के कारण इतनी निरीह स्थिति में पहुंच चुके थे कि लोग इन पदों को बीमारी से भी अधिक बदतर मानते थे एवं उन पदों पर कार्यरत व्यक्तियों के साथ अपनी पुत्रियों का विवाह करने के लिए तैयार नहीं थे।

जमीन को मापने, स्थानीय विशेषाधिकारयुक्त वर्गों के उत्पीड़न को कम करने एवं गांव के पटवारियों की बहियों की सहायता से स्थानीय राजस्व कर्मचारियों के खाते और हिसाब–किताब की जांच–पड़ताल कराने की अलाउद्दीन की नीति ने एक ऐसा मानक और आदर्श कायम किया जिसे शेरशाह और अकबर जैसे उसके कुछ परवर्ती शासकों ने अपनाने का प्रयत्न किया। किन्तु विशेषाधिकारयुक्त वर्ग की आय को सीमित करने का उसका प्रयास केवल आंशिक रूप से ही सफल रहा। ये वर्ग फिर से प्रभावशाली बने रहे और अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी मुबारक शाह के शासन काल में खूतों और मुकद्दमों के सारे विशेषाधिकार लौटा दिए गए और अलाउद्दीन के कई राजस्व उपायों को त्याग दिया गया।

सम्भवतः अलाउद्दीन के भूमि सुधारों का एक महत्त्वपूर्ण और चिरस्थायी प्रभाव गांवों में बाजारी अर्थव्यवस्था की वृद्धि में तथा गांव एवं शहर के बीच घनिष्ठ एवं पूरक संबंधों की स्थापना के रूप में प्रकट हुआ जिसके परिणामस्वरूप सल्तनत के आंतरिक पुनर्गठन की प्रक्रिया तीव्र हुई।

ख. बाजार सुधार

यद्यपि अलाउद्दीन के बाजार सुधार आंतरिक पुनर्गठन की अपेक्षा प्रशासनिक और सैनिक आवश्यकताओं के अनुरूप किये गये थे, किन्तु यहां उनकी चर्चा करना अधिक सुविधाजनक होगा।

अलाउद्दीन के बाजार सुधार एवं उनकी प्रभावनीयता उसके समकालीनों के लिए आश्चर्य की बात थी। मध्यकालीन शासकों को इस बात का ध्यान रखने की अपेक्षा की जाती थी कि जीवन की आवश्यक वस्तुएं, विशेषकर खाद्यान्न, नगरों में निवास करने वाली लोगों को उचित मूल्यों पर उपलब्ध होती रहें। ऐसा इसलिए था कि संपूर्ण इस्लामी जगत में नगरों को शक्ति और सत्ता की संचालक शक्ति माना जाता था जबकि गांव के लोगों को पिछड़ा हुआ और अपनी ही संकीर्ण दुनिया में मस्त समझा जाता था। किन्तु व्यापारियों पर कभी–कभी अंकुश लगाने के अतिरिक्त कोई भी शासक मूल्यों को प्रभावी रूप से नियंत्रित करने और वह भी एक लम्बी अवधि के लिये समर्थ नहीं हो पाया था। अलाउद्दीन खिलजी ही पहला ऐसा शासक था जिसने मूल्य नियंत्रण की समस्या का योजनाबद्ध अध्ययन किया एवं दीर्घ काल तक स्थायी मूल्य कायम रखने में सफल रहा।

बरनी का कथन है कि अलाउद्दीन खिलजी ने बाजार सुधार इसलिए किए कि मंगोलों द्वारा दिल्ली की घेराबंदी किये जाने के बाद वह एक विशाल सेना तैयार करना चाहता था, किन्तु अपने सैनिकों को सामान्य वेतन देने की स्थिति में उसके सारे खजाने खाली हो जाते। कहा जाता है कि मूल्य नियंत्रण एवं मूल्यों में गिरावट के परिणामस्वरूप अलाउद्दीन एक घोड़े वाले एक सवार सैनिक को प्रति वर्ष 234 टंके वेतन देकर अपनी सेना में भर्ती कर सकता था और जिस सवार के पास एक अतिरिक्त घोड़ा होता था उसे 78 टंके अधिक दिए जाते थे। **बरनी** हमें बाजार सुधारों का एक अन्य कारण भी बताता है। उसके अनुसार बाजार सुधार अलाउद्दीन की हिन्दुओं को साधनहीन बनाने की नीति के तहत किये गये थे ताकि वे विद्रोह करने का विचार भी अपने मन में न ला सकें। उसके बाजार सुधारों का विश्लेषण करते समय हम इस विषय में भी अध्ययन करेंगे।

बरनी के अनुसार, अलाउद्दीन ने दिल्ली में तीन बाजार स्थापित किए–पहला खाद्यान्नों के लिए, दूसरा सभी प्रकार के कपड़ों एवं कीमती वस्तुओं, जैसे चीनी, घी, तेल, मेवे आदि के लिए, तथा तीसरा घोड़ों, दासों और मवेशियों के लिए। इन सभी बाजारों के नियंत्रण और प्रशासन के लिए विस्तृत विनियम (जवाबित) बनाए गए।

खाद्यान्नों के मूल्यों को नियंत्रित करने के लिए अलाउद्दीन ने न केवल गांवों से खाद्यान्नों की आपूर्ति तथा अनाज–व्यापारियों (कारवानियों अथवा बंजारों) द्वारा नगर तक उनके परिवहन की व्यवस्था का ध्यान रखा अपितु नागरिकों के बीच उनके उचित वितरण की व्यवस्था करने का भी प्रयास किया। निश्चय ही ये तीनों उपाय खाद्यान्नों के मूल्यों को नियंत्रित करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू थे। अलाउद्दीन का पहला प्रयास था कि सरकार के पास खाद्यान्नों के पर्याप्त भंडार रहें ताकि व्यापारीगण एक कृत्रिम अभाव पैदा कर मूल्य बढ़ाने की अथवा मुनाफाखोरी करने की कोशिश न करें। इस प्रयोजन से दिल्ली में शाही भंडार स्थापित किए गए। आदेश दिया गया कि दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्रों, जैसे झाईं में सरकारी हिस्से का आधा भाग यानी उपज का चौथा भाग फसल के रूप में ही एकत्र जाए। अनाजों को पहले तो स्थानीय रूप से एकत्र किया जाता था और बाद में उन्हें दिल्ली भेज दिया जाता था।

खाद्यान्नों को गांवों से लाने का दायित्व प्रायः कारवानी अथवा बंजारे निभाते थे, जिनमें से कुछ के पास 10,000 अथवा 20,000 तक की संख्या में बैल होते थे। इन बंजारों को आदेश दिया गया था कि वे आपस में मिलकर एक संगठन बनाएं ताकि एक–दूसरे की प्रतिभूति (जमानत) दे सकें। उन्हें यमुना के किनारे अपने बच्चों, पत्नियों, सामान एवं पशुओं के साथ रहना पड़ता था। उनकी देखरेख करने के लिए एक अधिकारी (शुहना) नियुक्त किया गया। बताया जाता है कि सामान्य स्थितियों में ये बंजारे नगर में इतना अधिक खाद्यान्न लाते थे कि शाही भंडारों को छूने की भी आवश्यकता नहीं होती थी। बंजारों को खाद्यान्नों की नियमित आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए अनेक विनियम बनाए गए। दोआब में और इसके आसपास के 100 कोस के क्षेत्र में, जिसे खालिसा के तहत लाया गया था और जहां भू–राजस्व उपज का आधा भाग निर्धारित किया गया था, भू–राजस्व वसूल करने की जिम्मेदारी निभाने वाले स्थानीय अधिकारियों को इतनी सख्ती बरतने का आदेश दिया गया कि किसान भू–राजस्व के भुगतान के लिए अपने खाद्यान्न सस्ती दरों पर बेचने के लिए मजबूर हो जाएं और उन्हें अपने घरों में या अपनी खत्तियों में न ले जाने पाएं। यदि किसान अधिक बेचना चाहते, यानी जो कुछ उनकी निजी आवश्यकताओं और बीज के अलावा बच जाता था उसे बेचना

चाहते थे तो बेच सकते थे। किन्तु स्थानीय अधिकारियों को एक इकरारनामे पर हस्ताक्षर करना होता था कि वे किसान को मुनाफाखोरी नहीं करने देंगे अथवा सरकारी मूल्य से अधिक मूल्य पर बेचने नहीं देंगे। यदि कोई भी किसान इस आदेश का उल्लंघन करता तो खाद्यान्नों का जब्त कर लिया जाता था। मुनाफाखोरी को चाहे वह किसान हो अथवा दुकानदार या संबद्ध अधिकारी, कठोर दंड दिया जाता था। **बरनी** का कहना है कि किसानों को अपने लिए 10 मन से अधिक अनाज नहीं रखने दिया जाता था, किन्तु ऐसे आदेश को लागू करना आसान नहीं रहा होगा। सभी खाद्यान्न अलाउद्दीनी द्वारा खाद्यानों के विक्रय के लिये स्थापित बाजारों (मंडियों) में लाए जाते थे और केवल सरकारी मूल्यों पर बेचे जाते थे।

अलाउद्दीन ने यह सुनिश्चित करने के लिए कठोर कदम उठाए कि उसके द्वारा निर्धारित मूल्यों का पूरी तरह पालन हो। एक अधिकारी (शुहना) को पर्याप्त शक्ति प्रदान कर बाजार का प्रभारी नियुक्त किया गया। उसे सख्त आदेश दिए गए थे कि वह उन अनुदेशों का उल्लघंन करने वालों को दंडित करे।

बरनी के कथनानुसार इन सभी उपायों के परिणामस्वरूप अनाजों की कीमतें गिर गई। इस प्रकार, गेहूं 7½ जीतल प्रति मन की दर से, जौ 4 जीतल प्रति मन की दर से, उच्च कोटि का चावल 5 जीतल प्रति मन की दर से एवं चना 5 जीतल प्रति मन की दर से बिकता था। आधुनिक तौल पद्धति के आधार पर गणना करने से ये कीमतें इस प्रकार हैं: एक रूपये में 88 सेर गेहू, 98 सेर जौ एवं उच्च कोटि का चावल। उस समय के लोगों को भी ये कीमतें काफी कम मालूम पड़ती थीं।

अलाउद्दीन ने अकाल के दिनों के लिए नियंत्रित वितरण की प्रणाली लागू की। प्रत्येक दुकानदार को उसके इलाके की आबादी को ध्यान में रखते हुए सरकारी भंडारों से निश्चित परिमाण में अनाज दिए जाते थे। किसी भी व्यक्ति को एक बार में आधा मन से अधिक मात्रा में अनाज खरीदने की अनुमति नहीं होती थी। लेकिन यह प्रतिबंध अमीरों पर लागू नहीं किया जाता था। यदि उनके पास अपना कोई गांव या इक्ता की जमीन नहीं होती तो उन्हें उन पर आश्रितों की संख्या के अनुसार अनाज दिए जाते थे।

बरनी कहता है कि इन उपायों के कारण अकाल के दिनों में भी दिल्ली में खाद्यान्नों की कमी नहीं हो पाई और अनाजों की कीमतों में एक दाम अथवा एक दिरहम की भी वृद्धि नहीं हो पाई। इस बात की पुष्टि **बरनी** के एक समकालीन इसामी ने भी की है जो कहते हैं कि एक बार अकाल के कारण अनाज मंड़ी में लोगों की इतनी बड़ी भीड़ एकत्र हो गई कि दो–तीन कमजोर लोग कुचलकर मर गए। अलाउद्दीन ने अकाल के पूर्व की कीमतों पर ही अनाजों की वसूली और विक्रय करने का आदेश दिया था।

दूसरे बाजार यानी वस्त्र बाजार में मेवे, जड़ी–बूटी, घी, तेल, आदि भी जिन्हें दीर्घ समय तक रखा जा सकता था बिकते थे। इस बाजार को सराय–ए–अदल कहते थे। अलाउद्दीन ने आदेश दिया था कि देश के विभिन्न भागों एवं यहां तक कि विदेशों से व्यापारियों द्वारा लाए गए सभी कपड़े सरकारी दरों पर केवल इसी बाजार में लाये जाएं और बेचे जाएं। यदि कोई भी दुकानदार सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य से एक जीतल भी अधिक मूल्य पर बेचा जाता तो उसे जब्त कर लिया जाता था तथा विक्रेता को दंडित किया जाता था। सभी वस्तुओं की आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए हिन्दू अथवा मुस्लिम सभी व्यापारियों को पंजीकृत किया जाता था और उनसे एक इकरारनामा लिया जाता था कि वे प्रति वर्ष सराय–ए–अदल में उतनी ही मात्रा में वस्तुएं लाएंगे और सरकारी दरों पर बेचेंगे।

ये कोई नई कार्रवाइयां नहीं थी। किन्तु इनमें से दो कुछ विशिष्ट थीं जो एक नई सोच की ओर संकेत करती हैं। पहली कार्रवाई यह थी कि धनी मुल्तानी व्यापारियों को, जो दूरस्थ प्रदेशों एवं विदेशों से माल लाते थे, इस शर्त पर राजकोष से 20 लाख टंके की पेशगी दी गई कि वे अपना माल किसी भी बिचौलिए को न बेचकर सराय–अदल में सरकारी दरों पर बेचेंगे। कार्रवाई की दूसरी विशिष्टता यह थी कि इन आदेशों का अनुपालन कराने का अधिकार और दायित्व स्वयं व्यापारियों के एक संस्थान को दिया गया था। बताया जाता है कि इन युक्तियों के कारण दिल्ली में इतनी अधिक मात्रा में कपड़ा लाया गया कि वर्षों तक उसका विक्रय होने की नौबत नहीं आई।

यह भी ध्यान रखा गया कि महंगा कपड़ा लोगों द्वारा खरीदकर ऐसे लोगों को न दे दिया जाये जो उस पास के शहरों में चौगुने–पांचगुने दाम पर बेच दें। इस कार्य के लिये एक अधिकारी नियुक्त किया गया जो कीमती सामान को खरीदने के लिए अमीरों, मलिकों आदि को उनकी आय के अनुरूप अनुमति पत्र जारी करता था।

बरनी ने, जैसा कि उन्होंने अनाजों के सिलसिले में किया है, विभिन्न प्रकार के कपड़ों और अन्य वस्तुओं की कीमतों की एक लंबी सूची दी है। ये सब वस्तुओं के सस्ते होने के संकेत मात्र हैं। इस प्रकार कोई व्यक्ति एक टंका में 40 गज मोटा अथवा 20 गज महीन बुना हुआ सूती कपड़ा, डेढ़ जीतल में एक सेर साधारण चीनी, 1 जीतल में आधा सेर घी और 1 जीतल में 3 सेर तिल का तेल खरीद सकता था।

तीसरा बाजार घोड़ों, मवेशियों और दासों के क्रय–विक्रय के लिए था। उचित दरों पर अच्छी कोटि के घोड़ों की आपूर्ति सैन्य विभाग और सैनिक दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण थी। घोड़ों का व्यापार कमोबेश एकाधिकारपूर्ण व्यापार था और स्थल–मार्ग से होने वाले घोड़ों के व्यापार पर तो मुल्तानियों और अफगानों का ही एकाधिकार था। किन्तु उनके द्वारा लाये गये घोड़े बाजार में बिचौलियों अथवा दलालों द्वारा बेचे जाते थे। **बरनी** के अनुसार, धनी दलाल बाजार के अधिकारियों जितने ही शक्तिशाली थे और अपने व्यवहार में बेशर्मी से रिश्वत लेते–देते थे और अन्य भ्रष्ट आचरणों में लिप्त रहते थे। घोड़ों की कीमतें बढ़ाने के उद्देश्य से घोड़ों के व्यापारी इन दलालों के साथ सांठ–गांठ रखते थे।

अलाउद्दीन ने ऐसे दलालों के विरूद्ध कड़े कदम उठाए। उन्हें नगर से निर्वासित कर दिया गया एवं उनमें से कुछ को तो किलों में बंद कर दिया गया। उसके बाद अन्य दलालों की सहायता से घोड़ों की कोटि की कीमत तय की गई। प्रथम कोटि के घोड़ों की कीमत 100 और 120 टंकों के बीच तय की गई और द्वितीय कोटि के घोड़ों की कीमत 80 से 90 टंके के बीच रखी गई जबकि तीसरी कोटि के घोड़ों की कीमत 65 से 70 टंके होती थी। साधारण घोड़ों अथवा टट्टुओं, जिनका प्रयोग सेना में नहीं होता था, की कीमत 10 से 25 टंके तक होती थी।

अलाउद्दीन चाहता था कि धनी लोग और दलाल घोड़ों के बाजार में न जाएं एवं घोड़ों के व्यापारी अपने घोड़े सीधा सेना विभाग (दीवान–ए–अर्ज) को बेंचे। किन्तु बिचौलियों को हटाने की दिशा में किए गए उसके प्रयास बहुत सफल नहीं रहे, यद्यपि **बरनी** के विवरण के अनुसार अलाउद्दीन द्वारा निर्धारित घोड़ों की कीमतें उसके पूरे शासन काल में ज्यों–की–त्यों बनी रहीं।

इसी प्रकार, दास युवक–युवतियों एवं मवेशियों की कीमतें भी तय की गई, यद्यपि ऐसा करने के पीछे क्या उद्देश्य था यह बात स्पष्ट नहीं है क्योंकि वे न तो जीवन की आवश्यक वस्तुओं में से थे और न ही सैनिक प्रयोजनों में उनकी कोई उपयोगिता थी। संभवतः अमीरों, सरकारी सेवकों एवं धनी लोगों और सैनिकों (जो घरेलू और निजी कामकाज हेतु दास खरीदने के आदी हो चुके थे) के जीवन को थोड़ा अधिक सहज बनाने के उद्देश्य से ये कीमतें निर्धारित की गई होंगी। इसी प्रकार, मांस, परिवहन एवं दूध और दुग्ध–उत्पादों के लिए मवेशियों की आवश्यकता पड़ती थी।

बरनी का कहना है कि अलाउद्दीन के शासन काल में कीमतों का स्थायित्व, जिसके कारण लोग आश्चर्यचकित थे, अलाउद्दीन की सख्ती के कारण ही संभव हो पाया। सुल्तान अपने अनेक गुप्तचरों के जरिए बाजार में चालू कीमतों से अपने को अवगत रखता था और इस प्रयोजन से वह छोटे–बड़े लड़कों को भी बाजार में भेजता था ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि दुकानदार सामान कम तौलकर उन्हें ठगता तो नहीं था। अपनी विशिष्ट शैली में **बरनी** हमें बताता है कि यदि कोई दुकानदार तौल में कमी करता तो उसके शरीर से उस कमी के दूने वजन के बराबर मांस काटकर निकाल लिया जाता था। शायद कुछ मामलों में निवारक दंड दिए जाते होंगे। किन्तु व्यापारियों एवं आम जन समुदाय के न्यूनतम समर्थन के बिना यह योजना एक दशक या उससे भी अधिक समय तक शायद ही चल पाती।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि ये कदम किसी विशिष्ट समुदाय को नुकसान पहुंचाने के उद्देश्य से नहीं उठाए गए थे। जिन व्यापारियों के नाम पंजीकृत किए गए थे उसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। यही बात घोड़ों के व्यापारियों के दलालों और मुल्तानियों के साथ थी जिन पर इतना सख्त नियंत्रण रखा जाता था कि समकालीन इतिहासकार **बरनी** के शब्दों में वे अपने जीवन से ऊब चुके थे और मृत्यु की इच्छा करने लगे थे। निश्चय ही किसानों पर बुरा प्रभाव पड़ा होगा जो एक ओर अनाज की निम्न कीमतों और दूसरी ओर उच्च भू–राजस्व की मार झेल रहे थे।

अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसके बाजार सुधार गायब हो गए। उसके उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन मुबारक शाह ने न केवल अपराधों के लिए दिल्ली से निर्वासित या कैदखाने में बंद बहुत सारे लोगों को रिहा कर दिया, अपितु उन कानूनों को भी रद्द कर दिया जो लोगों से अपनी इच्छा के अनुसार खाने, पहनने, बोलने अथवा खरीदने–बेचने की स्वतंत्रता छीन लेते थे।

बरनी कहता है कि अलाउद्दीन के बाजार सुधार केवल दिल्ली में ही लागू हो पाए थे। यदि ऐसा रहता तो समूचे दोआब में अनाजों की आपूर्ति को नियंत्रित करने की शायद कोई आवश्यकता ही नहीं होती। साथ ही, सैनिक और उनके परिजन केवल दिल्ली में ही नहीं रहते थे, बल्कि लाहौर से अवध तक विभिन्न शहरों और कस्बों में रहते थे। स्वयं **बरनी** ही राजनीतिक सिद्धांत पर लिखी गई अपनी एक पुस्तक में संकेत करता है कि राजधानी में जो कुछ भी किया गया उसका प्रायः अन्य शहरों में भी अनुकरण किया गया। किन्तु हमारे पास यह पता करने का कोई उपाय नहीं है कि दिल्ली के अतिरिक्त अन्य शहरों में मूल्य नियंत्रण कितना प्रभावी रहा।

यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अलाउद्दीन के विनियमों का परिणाम क्लेशप्रद अधिकारी तंत्र के नियन्त्रण और भ्रष्टाचार में वृद्धि के रूप में प्रकट हुआ। शायद अलाउद्दीन अधिक सफल हुआ होता यदि उसने केवल अनिवार्य वस्तुओं [illegible] प्रयोग की वस्तुओं क मूल्यों का नियत्रित किया हुआ होता। किन्तु उसने "टोपियों से लेकर माजा (जुराबों) तक कंघियों से सूइयो तक, सब्जियो, शोरबा, मिठाइयों से लेकर चपातियों तक" हरेक वस्तु की कीमत तय करने की कोशिश की [illegible] केंद्रित नियंत्रणों का उल्लंघन होना स्वाभाविक था जिसके लिये कठोर दंड दिये जाते थे और इसके फलस्वरूप [illegible] आक्रोश उत्पन्न होता था।

इस प्रकार, अलाउद्दीन खिलजी के बाजार सुधार वस्तुतः अस्थायी प्रकृति के थे और मुख्यतः आपातकाल अथवा किसी खास [illegible] से निपटने के निमित्त से शुरू किए गए थे।

ग. विद्रोहों के उन्मूलन व राज्य को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए किए गए उपाय

अलाउद्दीन के राज्यारोहण के पश्चात् तीन विद्रोह हुए थे। अस्तु रणथम्भौर की घेराबंदी तीव्र करते हुए अलाउद्दीन ने इस प्रश्न [illegible] विचार करने के लिए कि विद्रोहों के क्या कारण हैं अपनी गोपनीय परिषद (मजलिसे खास) की सभाएं कीं। सुल्तान ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा 'यदि वे कारण ज्ञात हो जाएं तो मैं उन सबका तुरंत उन्मूलन कर दूं।' अधिकांश अत्यंत योग्य पदाधिकारी, जिनके कारण उसे प्रारंभिक सफलता मिली थी, मर चुके थे। किंतु उनके उत्तराधिकारी उतने ही योग्य थे। **बरनी** ने मलिक आइनुलमुल्क मुल्तानी और आला दबीर के दोनों पुत्रों मलिक हमीदुद्दीन और मलिक ईजुद्दीन का उल्लेख किया है किंतु वह लिखता है कि कुछ अन्य बुद्धिमान अधिकारी भी बुलाए गए। कई दिन रात तक कारणों का पता लगाने के लिए हुई वार्तालाप में परिषद ने न तो सुल्तान के भय की परवाह की और न अपने राजकीय दलों के हितों या मतों की परवाह की।

विद्रोहों के चार कारण हैं। प्रथम यह कि सुल्तान का जनता के भले बुरे कार्यों के विषय में अज्ञान। द्वितीय, मद्यपान [illegible] मद्यपान की सभाओं का आयोजन करने के पश्चात बड़ी निर्भीकता से बातें करते हैं और पारस्परिक समझौता कर षड्यंत्र और विद्रोहों की योजना बनाते हैं। तृतीय मलिकों और अमीरों की परस्पर एकता, सहानुभूति और रिश्तेदारी तथा उनका एक दूसरे के घर बार–बार आना जाना जिसके फलस्वरूप किसी एक को दंड दिया जाता है तो सौ अन्य सहानुभूति और रिश्तेदारी के कारण उसकी ओर मिल जाते हैं। चतुर्थ, धन। यदि लोगों के पास धन न हो तो वे अपनी जीविका कमाने में व्यस्त रहेंगे और कोई षड्यंत्र या विद्रोह के विषय में नहीं सोचेंगा।

1. **जब्ती**–अलाउद्दीन ने संपत्ति के अपहरण को प्राथमिकता दी। किंतु **बरनी** की अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा में हमें यह विश्वास नहीं कर लेना चाहिए कि सुल्तान ने मध्ययुगीन कानून के अनुसार जो कुछ विधिवत प्राप्त हो सकता था, उसकी सीमा पार की। केवल धनी होने के कारण ही कोई लूटा नहीं गया। अपने राज्यारोहण के समय अलाउद्दीन ने धर्मार्थ निधियां और सरकारी अनुदान पुष्ट करने के अतिरिक्त उन्हें बढ़ा भी दिया था। अब उसने उन्हें रद्द करने के आदेश जारी किए। 'जहां कहीं कर गांव, राजकीय अनुदान ('मिल्क'), राजकीय पुरस्कार ('इनाम') या धर्मार्थ निधि ('वक्फ'), के रूप में दिया गया था एक आदेश द्वारा 'खालसा' में सम्मिलित कर लिए गए'। 'खालसा' में ऐसी कोई संपत्ति नहीं ली गई जो मूल रूप से उसके पास नहीं थी। इसके अतिरिक्त मध्यकाल में जितनी भी धर्मार्थ निधियां होती थीं चाहे वे किसी के द्वार प्रदत्त हों, राज्याधिकार अंतर्गत होती थीं। हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि अलाउद्दीन ने अपने इस आदेश के अनेक अपवादों की अनुमति दे। **बरनी** भी यह स्वीकार करता है कि दिल्ली में रहने वाले अधिन्यासियों के लिए भी कुछ हजार टंके' छोड दिए गए फिर सामान्य आदेश समस्त साम्राज्य के लिए था। **बरनी** कहता है : 'दिल्ली में मलिकों, अमीरों, राजकीय कर्मचारियों हिंदू मुल्तानी व्यापारियों और हिंदू साहूकारों के अतिरिक्त अन्य घरों में सोना नाम मात्र के लिए रह गया।

2. **गुप्तचर प्रणाली का संगठन**–चूंकि यह आवश्यक था कि सुल्तान को साम्राज्य के विषय में सूचना मिलती रहे इसलिए व्यवस्था की गई कि उसे तीन स्त्रोतों अर्थात कार्यभारी अफसरों बरीदों' अर्थात गुप्तचर अधिकारियों और मनुहीसा अर्थात गुप्तचरों से निरंतर सूचना मिलती रहे। अमीरों के निवास स्थान और बाजार ही दो विशेष स्थान थे जिनके विषय में सूचना मांगी जाती थी। अमीरों के घरों में होने वाली प्रत्येक घटना की सूचना गुप्तचर अपनी रिपोर्ट मे सुल्तान को देते थे रिपोर्ट में उल्लिखित किसी बात की उपेक्षा नहीं की जाती थी और उनके विषय में जबाब मांगा जाता था गुप्तचरों के भय से अमीर अपने घरों में कांपते रहते थे और जब वे राजमहल में जाते थे तो वे आपस मे सकेतों स बातचीत करने में श्रेयस्कर समझते थे। 'संक्षेप में वे ऐसे किसी कथन या कार्य के अपराधी नहीं होते थे जिसके लिए उन्हें फटकार [illegible]

3. **दिल्ली में मद्यनिषेध**—अलाउद्दीन द्वारा मद्यनिषेध के कोई धार्मिक कारण नहीं थे क्योंकि वह मद्यपान मात्र का विरोधी नहीं था। किंतु चूंकि राजनीतिक कारणवश इस कार्यवाही की आवश्यकता थी इसलिए उसने स्वय मद्यपान त्याग दिया। शीशे और चीनी के शराब पीने के बर्तन बदायूं द्वारा के सामने तोड़ डाले गए और शाही शराब के मटकों की शराब फेंक दी गई जिसके फलस्वरूप वर्षाकाल की भांति कीचड़ और गंदगी फैल गई। तत्पश्चात अधिकारियों ने हाथियों पर चढ़ कर दिल्ली नगर के गली और सड़कों पर यह घोषणा की कि कोई व्यक्ति शराब न पिए, न बेचे और न उसके निकट जाए। लाइसेंस प्राप्त शराब बेचने वाले तथा शराब बनाने वाले दिल्ली से बाहर निकाल दिए गए और उन से प्राप्त होने वाला कर बट्ट खाते डाल दिया गया। जिन्हें अपने सम्मान का ध्यान था उन्होंने पहली चेतावनी पर ही शराब पीना छोड़ दिया किंतु अन्य लोगों ने अपने घरों पर शक्कर से शराब बनाना आरंभ कर दिया और उसे बढ़े–चढ़े दामों पर बेचने लगे। वे नगर के बाहर से भी मटकों में भरी शराब लकड़ी और घास की गाड़ियों में छिपा कर लाने का प्रयत्न करने लगे। अलाउद्दीन ने आज्ञा दी कि बदायूं द्वार के निकट सूखे कुएं खुदवाएं जाएं और जो लोग उसकी आज्ञा का उल्लंघन करते पाए जाते थे उन्हें उन कुओं में फेंक दिया जाता था। अधिकांश मर जाते थे और जो बच जाते थे वे लंबे इलाज के पश्चात ही स्वस्थ हो पाते थे। अत्यंत कठिन समय में यह संभव था कि दिल्ली से दस–बारह कोस बाहर जा कर अच्छी शराब पी जा सके। दिल्ली के आसपास चार–पांच कोस तक जैसे गयासपुर, इंदरपत और कैलूगढ़ी में कहीं शराब नहीं मिलती थी। अंत में अलाउद्दीन ने इस कानून में ढील दी और यह आदेश दिए कि यदि कोई व्यक्ति अपने उपभोग के लिए अपने ही घर में शराब बनाता है किंतु वह उसे बेचने या मद्यपान की दावत करने का अपराधी नहीं है तो उसे दंड न दिया जाए और गुप्तचर उसके घर न जाएं। जुआ खेलने तथा भांग के सेवन पर भी प्रतिबंध लगा दिए गए।

4. **अमीरों पर नियंत्रण**—पिछले शासनकालों के बचेकुचे अधिकारियों को अलाउद्दीन ने समूल नष्ट कर दिया था। यही शिक्षा पर्याप्त रही होगी। अब उसे केवल उन्हीं अधिकारियों से निपटना था जिन्हें उसी ने नियुक्त किया था और वे इस स्थिति में नहीं थे कि उसकी अवहेलना कर सकें। लगभग पचास वर्ष पश्चात घटना का वर्णन करते हुए **बरनी** लिखता है:

> सुल्तान ने आदेश दिए कि मलिक, अमीर, दरबारी, अधिकारी और जिम्मेदार तथा उच्चपदीय व्यक्ति न तो एक दूसरे के घर जाएं और न दावतों और गोष्ठियों का आयोजन करें। उन लोगों में परस्पर वैवाहिक संबंध भी तब तक नहीं हो सकते थे जब तक सुल्तान को इस विषय में सूचित कर उसकी अनुमति न प्राप्त कर ली गई हो। इसके अतिरिक्त वे जन साधारण को भी अपने घरों पर बारंबार आने की अनुमति नहीं दे सकते थे।

बरनी साग्रह कहता है कि इन आदेशों का कड़ा पालन होता था। अमीरों के घरों में अतिथि सत्कार और रंगरेलियां समाप्त हो गईं। वे बड़े सावधान हो गए और कोई षड्यंत्रकारी, धूर्त या बदनाम व्यक्ति अपने पास फटकने नहीं देते थे। यहां तक कि जब वे राजमहल में भेंट करते थे तो कंधे से कंधा मिला कर या निश्चित होकर नहीं बैठ सकते थे। **फरिश्ता** लिखता है : 'यदि किसी अमीर को अपने घर में कोई अतिथि रखना पड़ता था या कोई वैवाहिक संबंध स्थापित करना होता था तो सय्यद खां वजीर से लिखित प्रार्थना करनी पड़ती थी जिसे समकालीन फिला अंगेज खां कहते थे और उसकी बड़ी चापलूसी करते थे ताकि वह उचित अवसर पाकर सुल्तान की अनुमति प्राप्त कर ले। अधिकारी वर्ग सुल्तान की आज्ञापालन के पूर्णतया अभ्यस्त हो गए। इस प्रकार दास अभिजात वर्ग की वृत्ति को अलाउद्दीन ने पनपने नहीं दिया।

इस प्रकार अलाउद्दीन ने अपना ध्यान राज्य को शक्तिशाली बनाने पर केन्द्रित किया। कारणों को जानने के पश्चात् सुल्तान ने अमीर वर्ग के दमन के उपाय किए और अमीरों का दमन कर स्वयं को एक दृढ़ निरकुंश शासक बना लिया। इससे केन्द्रीकृत शासन–व्यवस्था का कार्य सुगम हो गया। उसने अमीर वर्ग व धर्माधिकारियों को अपनी इच्छा के आगे समर्पण करने के लिए बाध्य किया और प्रशासन को कुशल बनाने का काम किया। यद्यपि सुल्तान शिक्षित नहीं था परन्तु उसमें व्यवहारिक ज्ञान की कमी नहीं थी। वह राज्य की आवश्यकताओं को भली–भांति समझता था। अब्बासी खलीफाओं के आदर्श पर धर्म की रक्षा व प्रचार किसी भी सुल्तान का मुख्य कर्त्तव्य होता था परन्तु बल्बन, अलाउद्दीन व मुहम्मद तुगलक जैसे शासकों ने कभी भी धर्म को राजनीति से ऊपर स्थान नहीं दिया। अलाउद्दीन ने यह अनुभव किया कि राजनीतिक आवश्यकताएं धार्मिक सहिष्णुता की मांग करती हैं और एक अस्थिर बुद्धि व धर्मान्ध शासक की अपेक्षा एक शक्तिशाली शासक की आवश्यकता को महसूस करती हैं। उसने स्पष्ट रूप से यह विचार प्रकट किया कि राजनीति व धर्म बिल्कुल ही भिन्न तथा विपरीत कार्यक्षेत्र हैं। धर्म और धार्मिक आदेशों का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है और राजनीति के कानून स्वयं अपने आप में कानून है एवं उन पर धार्मिक कानून का कोई दबाव नहीं होना चाहिए। वह एक सर्वशक्तिमान शासक था।

घ. दिल्ली सल्तनत का विस्तार

सन् 1206 ई. में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद 85 वर्षों तक एक के बाद एक सभी सुल्तानों का सल्तनत का क्षेत्रीय [illegible] करने के बजाय सल्तनत के विखंडन को रोकने के लिए कठिन संघर्ष करते रहना पड़ा। इसके मूल में कई कारण निहित [illegible] दिल्ली में सत्ता के लिये संघर्ष, कई तुर्क अमीरों द्वारा स्वतंत्र राज्य स्थापित करने के प्रयास, मंगोलों के आक्रमण [illegible] हिन्दू राजाओं द्वारा अपना खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त करने के प्रयास, आदि। किन्तु सत्ता में खिलजियों के [illegible] अधिकारियों, प्रशासकों एवं सैनिकों के रूप में तुर्कों के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों यानी भारतीय मुसलमानों और हिन्दुओं को नियुक्त करने में सल्तनत द्वारा उदार नीति अपनाने एवं प्रशासन के आंतरिक पुनर्गठन के फलस्वरूप ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई [illegible] नक कारण सल्तनत के क्षेत्रीय विस्तार की गतिविधि तीव्र हो गई।

यह विस्तार कई चरणों में सम्पन्न हुआ। पहले चरण में उन क्षेत्रों को दिल्ली के अधीन लाया गया जो दिल्ली से बहुत दूर नहीं थे जैसे गुजरात, राजस्थान एवं मालवा। दूसरे चरण में आधुनिक महाराष्ट्र और दक्कन के राज्यों पर हमला किया गया एवं उन्हें दिल्ली का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया गया। किन्तु इस चरण में उन राज्यों को दिल्ली सुल्तानों के प्रत्यक्ष शासन में लाने में कोई प्रयास नहीं किया गया। तीसरा चरण अलाउद्दीन खिलजी के शासन के अंतिम वर्षों में आरंभ हुआ और गियासुद्दीन तुगलक के शासन काल (1320-24 ई.) में समाप्त हुआ। इस चरण में समस्त दक्कन पर केंद्रीय नियंत्रण स्थापित हुआ। बंगाल को भी एक बार फिर दिल्ली के नियंत्रण में लाया गया।

इस प्रकार 30 वर्षों के संक्षिप्त काल में लगभग समस्त भारत दिल्ली सल्तनत के अधिकार क्षेत्र में आ चुका था। इस प्रक्रिया का अध्ययन हम महत्वाकांक्षी सुल्तानों द्वारा व्यक्तिगत आधार पर किये गये उपक्रम के रूप में नहीं बल्कि एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में करेंगे जो निरन्तर चलती रही।

(क) गुजरात

यद्यपि तुर्क लोग गुजरात को जीतने का प्रयास गजनवियों के समय से ही करते चले आ रहे थे, किंतु उनके प्रयासों को गुजरात के चालुक्य शासक विफल करते रहे थे। बाद में मुईज्जुद्दीन मुहम्मद गौरी ने अन्हिलवाड़ा पर आक्रमण किया और उस पर कब्जा कर भी लिया, किन्तु वह अधिक समय तक उसके अधिकार में नहीं रह पाया। पर गुजरात का महत्त्व इतना अधिक था कि तुर्क लोग दीर्घ काल तक उसकी उपेक्षा नहीं कर सके। यह न केवल एक उपजाऊ और आबाद प्रदेश था, अपितु हस्त–शिल्प उत्पादन पर विशेषकर कपड़ा उत्पादन का एक केंद्र भी था। इसके मुख्य बंदरगाह खम्बायत (कैम्बे) के जरिए पश्चिम एशिया के साथ-साथ दक्षिण–पूर्व एशिया के देशों एवं चीन के साथ भारी मात्रा में व्यापार होता था। जैनों, हिन्दुओं और बोहरों के अतिरिक्त अरब व्यापारी भी काफी समय से खम्बायत में रह रहे थे। इसकी समृद्धि के कारण वहां के शासकों ने अपने पास बहुत भारी परिमाण में सोना और चांदी एकत्र कर रखा था और वहां के मंदिरों में भी सोने–चांदी का विशाल भंडार था। गुजरात के प्रति दिल्ली के सुल्तानों की लालची दृष्टि का एक अन्य कारण यह था कि मध्य और पश्चिम एशिया पर मंगोलों के प्रभुत्व और भारत पर उनके निरंतर हो रहे आक्रमण के कारण मध्य एशिया और ईराक से घोड़ों की आपूर्ति कम हो गई थी। जैसा कि हम देख चुके हैं बंगाल को मुख्यतः भारतीय नस्ल के घोड़ों से संतुष्ट रहना पड़ा। गुजरात पर नियंत्रण कर लेने से अरबी, ईराकी, और तुर्क प्रजातियों के घोड़ों की नियमित आपूर्ति सुनिश्चित हो सकती थी जिनकी दिल्ली सल्तनत की सेना के लिए अत्यधिक आवश्यकता थी और जो दीर्घ काल से ईरान और ईराक जैसे देशों के साथ व्यापार की महत्त्वपूर्ण वस्तु थे।

अतः दिल्ली सुल्तानों को गुजरात पर आक्रमण करने के लिए किसी बहाने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु ऐसा एक बहाना मिल ही गया जब परम्परागत विवरण के अनुसार, नए शासक कर्ण के प्रधानमंत्री ने अलाउद्दीन को गुजरात पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया क्योंकि कर्ण ने उसकी अनुपस्थिति में उसकी पत्नी पर बलात अधिकार कर लिया था और अन्य कई अपराध किए थे। सन् 1299 ई. में अलाउद्दीन ने अपने दो अग्रणी सिपहसालार, उलुग खान और नुसरत खान को गुजरात के विरुद्ध अभियान का नेतृत्व करने का आदेश दिया। उलुग खान ने सिंध से प्रयाण किया और रास्ते में जैसलमेर पर आक्रमण किया उसे लूटा। उसके बाद दोनों सेनाओं के चित्तौड़ के राणा के विरोध के बावजूद चित्तौड़ को पार करते हुए गुजरात पर [illegible] गुहिलवाडा पहुंचकर उन्होंने उसे पूरी तरह तबाह किया और लूटा। राय कर्ण बिल्कुल भौंचक्का रह गया और भागकर [illegible] चला गया। रूपवती महारानी कमला देवी समेत उसकी सारी स्त्रियों और खजानों को तुर्कों ने अपने कब्जे में ले लिया। कमला देवी के साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया। उसे दिल्ली ले जाया गया जहां अलाउद्दीन ने उससे अपने हरम में [illegible]

ूरत समेत गुजरात के अन्य कई प्रमुख नगरों एवं पुनर्निर्मित सोमनाथ मंदिर समेत कई मंदिरों और मठों को पूरी तरह लूट लिया या। खम्बायत में हिन्दू और मुस्लिम व्यापारियों में से किसी को भी नहीं बख्शा गया। यहीं पर मलिक काफूर नामक दास को, जिसने बाद में दक्कनी अभियानों में अग्रणी भूमिका निभाई तथा जिसे हजार–दीनारी (यानी 1000 स्वर्ण दीनारों के मूल्य का) कहा ाता था, एक मुस्लिम व्यापारी से बलपूर्वक छीन लिया गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि तुर्कों को कहीं भी किसी गंभीर प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा था। कर्ण ने हाल ही में राजगद्दी प्राप्त र्क थी और एक नए राजवंश की स्थापना की थी क्योंकि उसके पूर्ववर्ती राजा की निस्संतान मृत्यु हो गई थी। अपने कुकृत्यों के वरण कर्ण को अधिक स्थानीय समर्थन प्राप्त नहीं था। अपनी राजधानी से भागने के बाद कर्ण ने दक्षिण गुजरात में बगलाना पर त्यना नियंत्रण बनाए रखा जहां तुर्कों ने कुछ समय तक उसे परेशान नहीं किया। गुजरात का शेष भाग तुर्कों के नियंत्रण में चला या एवं उसका प्रशासन संभालने के लिए एक तुर्क नियुक्त किया गया।

ख) राजस्थान

यद्यपि मुईज्जुद्दीन मुहम्मद गौरी के समय से ही अजमेर, नागौर और मंडौर पर तुर्कों का नियंत्रण कायम रहा था, किन्तु इन स्थानों के अतिरिक्त राजस्थान के अन्य किसी भी भाग पर अपना कब्जा जमाने में सुल्तानों को सफलता नहीं मिल पाई थी। राजस्थान के सर्वाधिक शक्तिशाली किले रणथम्भौर को अपने नियंत्रण में लाने के उनके प्रयास बहुत कम समय के लिए ही सफल हो पाए थे। जलालुद्दीन खिलजी ने रणथम्भौर की घेराबंदी की तो थी किन्तु किले की मजबूती को महसूस करते हुए एवं प्रतिरोध करने में राणा के दृढ़ निश्चय को देखते हुए उसे बिना किसी सफलता के ही लौट आना पड़ा।

गुजरात को अपने शासन के अधीन लाने के बाद अलाउद्दीन के लिए यह आवश्यक हो गया कि राजस्थान और मालवा पर भी वह अपना नियंत्रण कायम करे ताकि गुजरात के साथ उसका संपर्क सुरक्षित रहे। मेवाड़ के शासक ने गुजरात जाने वाली तुर्क सेना का मेवाड़ से होकर जाने का विरोध किया था। उसका अनुकरण करते हुए जालौर के शासक ने भी तुर्क सेना को अपने राज्य से होकर जाने देने से इंकार कर दिया था। अंत में, गुजरात से लौटते समय मंगोलों ने, जिन्हें नौ–मुस्लिम कहा जाता था, गुजरात में लूटे गए माल के अपने और सुल्तान के बीच बंटवारे के प्रश्न का विद्रोह कर दिया था। यद्यपि इस विद्रोह को दबा दिया गया था, किन्तु दो मंगोल सरदारों ने अपने अनुयायियों के साथ रणथम्भौर में शरण ली। वहां का शासक हम्मीर देव वस्तुतः पृथ्वीराज चौहान का प्रत्यक्ष वंशज था। उसके भगोड़ों को तुर्क सेना के हाथों सौंपने से मना कर दिया क्योंकि ऐसा करना उसके सम्मान के विरुद्ध था तथा उसे अपने किले की मजबूती पर गर्व था। अतः सन् 1301 ई. में अलाउद्दीन ने गुजरात के विजेताओं उलुग खान और नुसरत खान को रणथम्भौर पर चढ़ाई करने का आदेश दिया। किले की घेराबंदी की गतिविधियों के निरीक्षण के दौरान नुसरत खान किले के इतने निकट पहुंच गया कि मारा गया। तुर्क सेना में खलबली मच गई और राणा ने इसका लाभ उठाते हुए किले से बाहर निकलकर युद्ध में उलुग खान को पराजित किया और उसे झाईं में शरण लेने के लिए विवश कर दिया। रणथम्भौर से झाई 12 किलोमीटर दूर थी और रणथम्भौर में आश्रय लेने के पूर्व राणा की राजधानी वहीं पर थी।

ऐसी स्थिति में अलाउद्दीन के लिए रणथम्भौर की ओर स्वयं प्रयाण करना आवश्यक हो गया। अपने विरुद्ध हुए एक षडयंत्र को कुचलने के बाद उसने रणथम्भौर की ओर कूच किया। वहां पहुंचकर उसने किले की जबरदस्त घेराबंदी कर दी। यद्यपि महीनों तक की गई घेराबंदी के बावजूद तुर्क लोग किले की दीवारों पर नहीं चढ़ गए। किन्तु किले के भीतर भोजन और पानी की भारी कमी हो गई। अतः राजपूतों ने भयंकर 'जौहर' अनुष्ठान किया सभी स्त्रियों ने चिता में प्रवेश किया और सारे पुरुष लड़ते हुए मृत्यु को प्राप्त करने के लिए किले से बाहर निकल आए। इस युद्ध में मंगोलों ने राजपूतों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर लड़ाई की और उन्हीं की तरह वीरगति को प्राप्त हुए। **अमीर खुसरो** ने, जो अलाउद्दीन के साथ गए थे, अपनी एक प्रसिद्ध काव्य रचना में इस किले का वर्णन किया है उस समय किए गए जौहर अनुष्ठान का उल्लेख किया है।

रणथम्भौर के बाद चित्तौड़ की बारी आई। चित्तौड़ भी राजस्थान के सर्वाधिक मजबूत किलों में से एक माना जाता था। यद्यपि चित्तौड़ काफी समय से गुजरात के चालुक्य शासकों और गुहिल शासकों के बीच विवाद का विषय बना हुआ था, किन्तु उस समय वह गुहिलौत शासक राणा रतन सिंह के नियंत्रण में था जो अपने पिता के बाद अभी–अभी ही वहां के राज–सिंहासन पर आसीन हुआ था। कवि अमीर खुसरो, जो इस अभियान में अलाउद्दीन के साथ गए थे, ने चित्तौड़ की घेराबंदी का विस्तार से वर्णन किया है एवं कहा है कि छह महीनों की घेराबंदी के बाद रतन सिंह किले से बाहर आ गया और उसने आत्म–समर्पण कर दिया; उसके साथ अच्छा सलूक किया गया। किन्तु किले में शरण लिये हुए 30,000 किसानों का संहार कर दिया गया। खुसरो ने चित्तौड़ में जौहर किए जाने का कोई उल्लेख नहीं किया है।

खुसरो के विवरण की पुष्टि सभी समकालीन लेखकों ने की है। उनमें से किसी ने भी पद्मिनी से संबंधित घटना का उल्लेख नहीं किया है। वस्तुतः इस घटना का उल्लेख पहली बार 15वी सदी के प्रथम चतुर्थांश में लिखी गई एक साहित्यिक रचना में हुआ। इस के सौ वर्षों बाद मलिक मुहम्मद **जायसी** ने इसे विभिन्न मनगढंत कहानियों और साहिसिक घटनाओ से अलंकृत किया है। यह कहानी काफी प्रसिद्ध है और इसलिए इसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है। राजस्थान के अग्रणी इतिहासकारों में से **गौरी शंकर ओझा** आदि अधिकांश आधुनिक इतिहासकारों ने इस कहानी को अस्वीकार कर दिया है। चित्तौड़ के किले पर कब्जा करने के बाद अलाउद्दीन ने अपने पुत्र खिज्र खान को यहां का हाकिम बना दिया।

चित्तौड़ पर तुर्क नियंत्रण स्थापित हो जाने के बाद मारवाड़ और हड़ौती (बुंदी) के राजाओं समेत राजस्थान के अधिकांश राजाओं ने दिल्ली सल्तनत का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। पहले से ही मारवाड़ के मंडौर पर तुर्कों का कब्जा था। गुजरात अभियान के दौरान ही जैसलमेर भी तुर्क आधिपत्य कायम हो चुका था। गुजरात की सीमा के निकट स्थित सिवाना और जालौर के किले भी काफी मजबूत थे और उन्होंने कड़ा मुकाबला किया। किन्तु 1308 और 1311 ई. में उन्हें जीत लिया गया और लूट लिया गया।

इस प्रकार, दस वर्षों में ही समस्त राजस्थान पर तुर्क आधिपत्य स्थापित हो गया। पर अजमेर और कुछ अन्य शक्तिशाली किले जैसे रणथम्भौर और चित्तौड़ को छोड़कर अन्य किसी भी राजपूत राज्य पर अलाउद्दीन ने अपना प्रत्यक्ष नियंत्रण रखने का कोई प्रयास नहीं किया। वस्तुतः उसने कुछ राजपूत राजाओं के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित करने का भी प्रयास किया। इस प्रकार परंपरागत वृत्तान्त के अनुसार, जालौर के शासक के भाई मालदेव ने 5000 घुड़सवारों वाली सेना के साथ अलाउद्दीन की निष्ठापूर्वक सेवा की एवं सन् 1313 ई. के करीब अलाउद्दीन ने उसे खिज्र खान के स्थान पर चित्तौड़ का हाकिम बना दिया।

अलाउद्दीन ने स्थानीय प्रशासन में हस्तक्षेप न करने एवं राजपूत राजाओं को अपने मित्र बनाने की इस नीति का बाद में दक्कन तथा कुछ अन्य दक्कनी राज्यों के सन्दर्भ में भी अपनाया जिससे उसे काफी लाभ हुआ।

इस प्रकार, अलाउद्दीन दिल्ली सल्तनत का पहला सुल्तान था जिसने राजपूतों के प्रति एक ऐसी नीति की बुनियाद डाली जिसमें पारस्परिक हितों की मान्यता को आधार बनाया गया था।

(ग) मालवा

चित्तौड़ पर विजय प्राप्त करने के बाद अलाउद्दीन ने अपना ध्यान मालवा की ओर मोड़ा जो बहुत से नगरों वाला एक समृद्ध एवं विशाल प्रदेश था। अमीर खुसरो के अनुसार, यह इतना अधिक विशाल था कि बहुत बुद्धिमान भूगोलशास्त्री भी इसकी सीमाओं का निर्धारण नहीं कर पाते थे। यद्यपि इल्तुतमिश ने और बाद में जलालुद्दीन ने मालवा पर आक्रमण किया था तथा वहा से काफी धन लूटा था, किन्तु इसे दिल्ली सल्तनत के प्रत्यक्ष शासन में लाने का संभवतः कोई प्रयास नहीं किया गया। इस पर अलाउद्दीन द्वारा प्रत्यक्ष शासन स्थापित करने के दो उद्देश्य थेः गुजरात जानेवाले मार्ग पर अपना नियंत्रण कायम करना एवं दक्षिण की ओर जाने का मार्ग।

सन् 1305 ई. में ऐनुल मुल्क मुल्तानी को मालवा जीतने का दायित्व सौंपा गया। मालवा के राय के पास 30-40 हजार घुड़सवार सैनिक तो थे किन्तु वे तुर्की सेना के सामने टिक नहीं पाए। राय का पीछा किया गया। वह भागकर उज्जैन से मांडू चला गया। तुर्की सेना ने मांडू में उसे पराजित किया तथा मार डाला। राजस्थान के विपरीत समस्त मालवा को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित कर दिया गया और ऐनुल मुल्क को वहां का हाकिम नियुक्त किया गया।

(घ) महाराष्ट्र एवं दक्षिण भारत–प्रथम चरण

मंगोल आक्रमणों से सफलतापूर्वक निपटने तथा अपनी सेना और आंतरिक प्रशासन को पुनर्गठित करने के बाद अलाउद्दीन अपनी सर्वाधिक साहसिक योजना को मूर्त्त रूप देने यानी दक्कनी राज्यों पर आक्रमण करने एवं उन्हें दिल्ली के नियंत्रण में लाने के लिए तैयार हुआ। महाराष्ट्र एवं दक्षिण भारत खजानों और सोने के देश के रूप में विख्यात थे। उनके विख्यात हस्तशिल्पों और फलते–फूलते बंदरगाहों के कारण वहां सोने का समागम बना रहता था जिसे पीढ़ियों से शासक गण एकत्र करते आ रहे थे। उन प्रदेशों में समृद्ध मंदिरों की बहुतायत थी जिनमें से कई मंदिर तो अपने देश के भीतर और बाहर के व्यापार में भी भाग लेते थ तथा महाजनी करते थे। इस प्रकार, इस क्षेत्र में धन और पशु दोनों ही अर्जित किए जा सकते थे। यह उद्यम इतना अधिक सफल रहा जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसका कारण यह था कि इस क्षेत्र में राज्य उत्तर भारत के घटनाओं से सर्वथा अनजान था अथवा यह सोचे बिना कि ये घटनाएं उनके लिए खतरा पैदा कर सकती हैं, एक–दूसरे के विरुद्ध अपनी विशिष्ट शैली में युद्ध–अभियान में व्यस्त रहे और स्वयं को तबाही के कगार पर लाना जारी रखा।

महाराष्ट्र

अलाउद्दीन का महाराष्ट्र के साथ संपर्क 1296 ई. के लगभग हुआ था जब वह कड़ा से चलकर बुंदेलखंड के दुर्गम मार्गों से होते हुए 8000 घुड़सवारों वाली सेना के साथ देवगिरि के सामने अचानक प्रगट हुआ और उसने यादव शासक रामचन्द्र और उसके बाद उसके पुत्र सिंघना को पराजित किया। वह धन की एक बहुत बड़ी राशि के साथ लौटा जबकि रामचन्द्र ने उसे एक वार्षिक कर के रूप में पेशकश देते रहने का अस्पष्ट वचन दिया।

चित्तौड़ और मालवा को जीतने के बाद अलाउद्दीन ने एक बार फिर अपना ध्यान देवगिरि की ओर मोड़ा। यद्यपि उन दिनों किसी राज्य पर आक्रमण करने के लिए शायद ही किसी बहाने की आवश्यकता होती है, फिर भी देवगिरि पर आक्रमण करने के लिए यह बहाना बनाया गया कि रामचन्द्र ने पिछले दो–तीन वर्षों से वार्षिक कर देना बंद कर दिया है। कुछ लोगों के अनुसार, यह स्थिति रामचन्द्र के पुत्र सिंघना के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुई; सिंघना दिल्ली के प्रति अपने पिता की अधीनता के कारण उद्विग्न था।

सन् 1308 ई. में देवगिरि की ओर दो सेनाएं भेजी गई। उनमें से एक सेना का उद्देश्य गुजरात के भूतपूर्व शासक कर्ण को दक्षिण गुजरात के बगलाना से हटाना था जिस पर उसने रामचन्द्र की सहायता से उसने अपना नियंत्रण कायम रखा था। एक घमासान युद्ध में राय कर्ण की पराजय हुई। उसके बाद विजेता तुर्क सेना मलिक काफूर की सेना से जा मिली जिसे रामचन्द्र को दंडित करने के उद्देश्य से रवाना किया गया था। यादव शासक रामचन्द्र ने मामूली प्रतिरोध करने के बाद काफूर के समक्ष आत्म–समर्पण कर दिया। अमीर खुसरो के अनुसार, अलाउद्दीन ने मलिक काफूर को यह आदेश देकर भेजा था कि रामचन्द्र और उसके परिवार को किसी भी तरह का नुकसान न पहुंचाया जाए। अतः रामचन्द्र अथवा रामदेव को सम्मानपूर्वक दिल्ली लाया गया एवं देवगिरी को उसके पुत्र सिंघना की देखरेख में रहने दिया गया। जब रामदेव ने अलाउद्दीन के दरबार में प्रवेश किया तो सुल्तान ने यादव शासक पर मोतियों और रत्नों की बौछार कर दी। उसे छह महीने तक दिल्ली में रखा गया और उसके साथ मेहमानोचित व्यवहार किया गया। खुसरो के अनुसार, "प्रतिदिन उसकी हैसियत और सम्मान में वृद्धि होती रही।" उसके बाद उसे अपने पुत्रों और परिवार के साथ देवगिरि लौट जाने दिया गया। उसकी विदाई के समय रामदेव को एक लाख स्वर्ण टंके भेंट किए, गए, राय रायान की उपाधि प्रदान की गई एवं एक सुनहला छत्र, जो राजस्व का प्रतीक था, दिया गया। उसे उपहार के रूप में गुजरात का नौसारी जिला भी भेंट किया गया। शायद इसी समय रामदेव ने अपनी पुत्री झट्यपाली का अलाउद्दीन के साथ विवाह कर दिया था। इसके पूर्व राय कर्ण के विरुद्ध किए गए अभियान के दौरान उसकी पुत्री देवल देवी को, जिसकी माता रानी कमला देवी को अलाउद्दीन के हरम में स्थान प्राप्त था और जिसने अपनी सुन्दरता के कारण सुल्तान पर काफी प्रभाव जमा लिया था, पकड लिया गया था। कमला देवी के आग्रह पर देवल देवी का विवाह अलाउद्दीन के पुत्र और संभावित उत्तराधिकारी खिज्र खान के साथ कर दिया गया। यद्यपि खिज्र खान का दुखद अंत हुआ, किन्तु इसमें हमें राजपूत राजाओं के साथ विशेष संबंध स्थापित करने की अलाउद्दीन की नीति के क्रमिक विस्तार की झलक मिलती है।

दक्षिणी राज्य

उन दिनों दक्षिण भारत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण राज्य थे—वारंगल (आधुनिक तेलंगाना) राज्य जिसके शासक काकतीय थे; एवं होयसल राज्य जिसकी राजधानी द्वार समुद्र (कर्नाटक में आधुनिक हेलबिद) में थी। उनसे भी दक्षिण में माबर तथा मदुरै (तमिलनाडु) के पांड्य शासक थे। ये सभी एक–दूसरे के साथ बराबर युद्ध करते रहते थे और देवगिरि के यादवों के साथ भी उलझते रहते थे। उनके युद्धों का मुख्य कारण राजक्षेत्रीय विवाद था।

देवगिरि में पांव जमाने और वहां के राजा को अपना विश्वस्त सहयोगी बनाने के पश्चात् सन् 1309 और 1311 ई. के बीच अलाउद्दीन ने दक्षिण राज्यों से उनका संचित धन उगलवाने एवं दिल्ली का आधिपत्य स्वीकार कराने तथा तथा वार्षिक कर अदा करने हेतु उन्हें विवश करने के उद्देश्य से मलिक काफूर के नेतृत्व में दो सैनिक अभियान भेजे। इनमें से किसी भी राज्य को सल्तनत में सम्मिलित करने तथा अपने प्रत्यक्ष प्रशासन में लाने का अलाउद्दीन का कोई इरादा नहीं था, क्योंकि उसे पता था कि दूरियां और भिन्न स्थितियां ऐसे किसी प्रयास को कठिन और खतरनाक बना देंगी। **बरनी** के ही समकालीन **इसामी** के अनुसार, वारंगल के प्रथम अभियान पर जाने के समय मलिक काफूर को अलाउद्दीन ने हिदायत दी थी कि "यदि तेलंग का राय (सुल्तान के प्रति) अपनी अधीनता मान ले तो उसका राज्य उसे लौटा दिया जाए एवं उसे खिलअत (शाही पोशाक) और छत्र प्रदान कर सम्मानित किया जाए।" **बरनी** का कहना है कि अलाउद्दीन के अनुदेश इस प्रकार थे: "यदि राय अपने खजाने, हाथी और घोड़े दे

दे और भविष्य में कर देते रहने का वादा करे तो इस व्यवस्था को स्वीकार कर लेना।" उपरोक्त आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि द्वारसमुद्र और माबर के विरुद्ध भेजे गए दूसरे अभियान पर भी ऐसे ही अनुदेश दिए गए होंगे।

तेलंगाना में वारंगल के विरुद्ध भेजे पहले अभियान (1309-10 ई.) में करीब छह महीने लगे। दूरस्थ और दुर्गम मार्गों से गुजरते हुए काफूर वारंगल के किले के सामने जा पहुंचा। इस किले की बाहरी दीवार मिट्टी की बनी हुई थी जो इस्पात से भी अधिक मजबूत थी, जबकि भीतरी दीवार पत्थर की बनी हुई थी। एक मजबूत घेराबंदी के बाद जब बाहरी किले पर कब्जा कर लिया गया और भीतरी किले का पतन होने की भी सम्भावना थी तो राय ने शांति का प्रस्ताव भेजा जिसे मान लिया गया। राय ने जो धन प्रदान किया उसे एक हजार ऊंटों पर लादकर दिल्ली लाया जा सका जिन्हें सुल्तान के समक्ष प्रस्तुत किया गया। राय ने वार्षिक कर अदा करने की भी हामी भरी।

इस सफलता से प्रेरित होकर अगले वर्ष मलिक काफूर को द्वारसमुद्र और माबर पर आक्रमण करने के लिए एक सेना लेकर जाने को कहा गया। पहले की तरह ही लंबा रास्ता तय करते हुए एवं रामदेव के मराठा सरदारों द्वारा दिए गए मार्गदर्शन की सहायता से काफूर ने द्वारसमुद्र में होयसल शासक बल्लाल देव को वहां अकस्मात पहुंचकर चकित कर दिया। एक मजबूत घेराबंदी के बाद बल्लाल देव को भी उन्हीं शर्तों को मानना पड़ा जिन्हें वारंगल के राय ने स्वीकार किया था। उसने अपना सारा संचित धन दे दिया और वार्षिक कर अदा करने की हामी भरी। **इसामी** के अनुसार, अलाउद्दीन से मिलने के लिए बल्लाल देव दिल्ली आया जहां उसे 10 लाख टंके, एक खिलअत और एक छत्र प्रदान किया गया तथा साथ ही से उसका राज्य लौटा दिया गया।

उसके बाद काफूर माबर (कोरोमंडल) की ओर बढ़ा किन्तु एक–दूसरे के साथ युद्धरत दोनों पांड्य भाइयों के साथ युद्ध नहीं हो सका। काफूर पाटन (मसूलीपट्टम) पहुंचा जहां उसे मुस्लिम व्यापारियों की एक बस्ती दिखाई पड़ी। इस नगर को पूरी तरह तबाह कर दिया गया और मुस्लिम व्यापारियों समेत किसी को भी नहीं बख्शा गया। काफूर ने (मद्रास के निकट स्थित) चिदंबरम मंदिर को ध्वस्त कर दिया और पांड्य भाईयों के बहुत से हाथियों पर अधिकार कर लिया। उसने मदुरै को भी लूटा और तहस–नहस कर दिया। किन्तु उसे पांड्य भाइयों से संपर्क किए बिना अथवा उसके साथ कोई समझौता किए बिना ही लौटना पड़ा। इस अभियान में एक वर्ष का समय लगा।

इन दो अभियानों के कारण अलाउद्दीन को न केवल अपार धन प्राप्त हुआ, अपितु उसकी प्रतिष्ठा में भी काफी वृद्धि हुई। एक सेनानायक के रूप में मलिक काफूर के कौशल, साहस और सफलता के कारण लोगों के बीच उसका सम्मान काफी बढ़ गया। अलाउद्दीन की दृष्टि से भी उसकी हैसियत काफी बढ़ गई। सुल्तान ने उसे मलिक नायब (सुल्तान का निजी प्रतिनिधि तथा प्रतिशासक) की उपाधि प्रदान की। किन्तु आगे चलकर काफूर सत्ता के मद में आ गया और उसके कारण अमीरों के बीच एक काफूर–विरोधी गुट पैदा हुआ जिससे अंततः उसका पतन और अंत हुआ।

दक्कनी अभियानों से तत्काल तो कोई विशेष राजनीतिक लाभ नहीं हुआ। जब तक रामदेव जीवित रहा तब तक देवगिरि एक सुदृढ़ सहयोगी मित्र बना रहा किन्तु अन्य दक्षिणी राज्यों के साथ हुए समझौते नाजुक ही रहे। वार्षिक कर की अदायगी के लिए उन पर निरन्तर दबाव बनाये रखना पड़ता था और उसके लिए कभी–कभी सैनिक अभियान भी करने पड़ते थे। इन अभियानों के परिणामस्वरूप उस समय तक व्यापार में भी कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई जब तक वहां अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में राजनैतिक स्थिरता कायम नहीं हो गई, किन्तु इन अभियानों ने अगले कदम यानी समामेलन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

इस प्रकार अलाउद्दीन खिलजी दक्षिण राजाओं की सहायता प्राप्त करने में सफल हुआ। अलाउद्दीन के साम्राज्य विस्तार की सर्वोच्च उपलब्धि यह थी कि दक्षिणी प्रदेशों को साम्राज्य में विलीन किये बिना ही उसकी महत्वाकांक्षा पूरी हो गई। वह उन कठिनाइयों से बच गया जिनका सामना मुहम्मद तुगलक को दक्षिण में सुल्तान की विस्तारवादी नीति के फलस्वरूप करना पड़ा था। अलाउद्दीन की नीति की सफलता के सम्बन्ध में के. एस. लाल लिखते हैं, "रामदेव और बल्लाल देव जैसे महान् राजा दिल्ली आये व होने सुल्तान के प्रति स्वयं सम्मान प्रकट किया, उनके कोष ले लिए गए, साम्राज्य के गौरव में वृद्धि हुई और सल्तनत का कोष बेशकीमती की सम्पत्ति से परिपूर्ण हो गया।" इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अलाउद्दीन की राज्य विस्तार की नीति केवल सफलताओं की ही लंबी कथा है। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि अलाउद्दीन की दक्षिण विजय और मलिक काफूर की सफलता अल्पकालीन सिद्ध हुई। दक्षिण की विजय कभी पूर्ण नहीं हुई। देवगिरी, वारंगल, द्वारसमुद्र व माबर की सम्पत्ति को संधि की शर्तों द्वारा या लूट कर प्राप्त किया गया। परन्तु वे स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे। पांड्य देश को पराजित करने में काफूर असमर्थ रहा। जैसे ही काफूर की विजयी सेनाएं दक्षिण के पराजित राज्यों से कूच करती थी, दक्षिण के राज्य सल्तनत की सत्ता की अवहेलना करने लगते थे। कुतुबद्दीन मुबारक खिलजी और मुहम्मद तुगलक के दक्षिण युद्धों से स्पष्ट है कि अलाउद्दीन की

सफलताएं दीर्घकालीन नहीं थी। उसके राज्य–विस्तार की प्रमुख विशेषता यही थी कि वह दक्षिण में कुछ शासकों को मित्र बनाने और उनसे सहायता प्राप्त करने में सफल हुआ।

तुगलक वंश (1320-1412 ई.)

गाजी मलिक अथवा तुगलक गाजी गयासुद्दीन तुगलक के नाम से 1320 ई. में दिल्ली का सुल्तान बना। इसी शासक के नाम से तुगलक वंश का प्रारम्भ हुआ। गाजी मलिक सुल्तान कुतबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी के राज्य काल में उत्तर–पश्चिम सीमा प्रान्त का शक्तिशाली गवर्नर नियुक्त हुआ था। इस कठिन कार्य को उसने योग्यता से निभाते हुए मंगोलों के विरुद्ध सीमावर्ती क्षेत्रों को सुरक्षा प्रदान की थी।

जिस साम्राज्य पर शासन करने के लिए गयासुद्दीन बुलाया गया था वह असंख्य जटिल समस्याओं से घिरा हुआ था। बाहर और दूर तक फैले क्षेत्र में एकछत्र नियंत्रण रखने में उसकी विशालता बाधक थी। प्रान्तों में बार–बार विद्रोह होते रहते थे। सिंध नाममात्र के लिए दिल्ली के अधीन था। यहां के गवर्नर ने केन्द्रीय गड़बड़ी का लाभ उठाकर थट्टा तथा सिंध के निचले भाग पर कब्जा कर लिया था। इसी प्रकार आइनुलमुल्क मुल्तानी की अनुपस्थिति में गुजरात में गड़बड़ हो रही थी। बंगाल की स्वामिभक्ति भी संदेहपूर्ण थी। उधर राजपूतों ने चित्तौड़, नागौर और जालौर के दुर्गों में अपनी शक्ति बढ़ा ली थी।

दक्षिण में स्थिति बिल्कुल स्थिर न थी। अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण के प्रदेशों को साम्राज्य में नहीं मिलाया था बल्कि उन राजाओं से भेंट लेकर उन्हें राज्य वापिस कर दिए थे। इस प्रकार अपनी सर्वोच्चता भी बनाए रखी थी। किन्तु मुबारकशाह खिलजी ने देवगिरी तथा तेलंगाना पर सीधा नियंत्रण करके सुल्तानी शासन लागू कर दिया। तेलंगाना ने भी इसमें स्वतंत्र होने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। दक्षिण में प्रशासनिक व्यवस्था भी नियंत्रण से बाहर हो रही थी। खुसरो खां ने राजनीतिक स्वार्थ के लिए सभी बड़े–बड़े अमीरों तथा अफसरों को अपने पक्ष में करने के लिए खजाने से पैसा पानी की तरह बहाया था। भू–राजस्व भी सुगमता से प्राप्त नहीं हो रहा था। परिणाम यह हुआ कि राज्य की आर्थिक स्थिरता को भयंकर धक्का पहुंचा था।

इस प्रकार गयासुद्दीन तुगलक को जिन समस्याओं का सामना करना था। वे केवल विस्तृत ही नहीं बल्कि स्वाभाविक रूप से उलझी हुई थीं। उसने सारी स्थिति का जायजा लेकर कुछ प्रशासनिक व आर्थिक सुधार किए। उसके इन उठाए कदमों द्वारा न केवल शासन–व्यवस्था स्थिर हुई बल्कि राज्य को सुदृढ़ता भी प्राप्त हुई।

आर्थिक तथा प्रशासनिक संगठन–राज्यारोहण के तुरन्त बाद गयासुद्दीन ने रिक्त राजकोष को फिर से पूरा करने और साम्राज्य की अर्थव्यवस्था के संगठन की ओर ध्यान दिया। इस उद्देश्य से उसने राजस्व सुधार की एक व्यवहारिक योजना जो मूलतः अलाउद्दीन की कठोर प्रणाली और उसके उत्तराधिकारियों की उदारता के बीच समझौता थी। **बरनी** कहता है कि प्रशासन संबंधी सभी कार्यों में संतुलन उसकी नीति का आधार था।

मध्यवर्ती जमींदारों, विशेष रूप से मुकद्म तथा खूतों को उनके पुराने अधिकार लौटा दिए गए तथा उनको वही स्थिति प्रदान की गई जो उन्हें बल्बन के समय में प्राप्त थी। उनको लगान वसूली के लिए उचित जमींदाराना शुल्क दिया गया तथा उन्हें निश्चित लगान से अधिक वसूली व अत्याचार करने के लिए मनाही कर दी। उनसे कहा गया कि वे किसानों को अधिक उपज के लिए प्रोत्साहन दें ताकि अधिक लगान मिल सके व राज्य की आर्थिक स्थिति सुधर सके। सुल्तान ने एक नियमावली भी जारी की जिसके अनुसार भुक्तों अथवा गवर्नरों को लगान वसूली में किसानों पर अत्याचार नहीं करने देना चाहिए। परिणाम यह हुआ कि इस संतुलित नीति से अक्तादारों, जमींदारों तथा किसानों में समन्वय स्थापित हुआ।

सुल्तान ने उन सबसे धनराशि को वापिस खजाने में जमा करने के लिए कहा जिन्हें खुसरो खां ने मनमाने रूप से दी थी। यहां तक कि दिल्ली के प्रसिद्ध सूफी संत **निजामुद्दीन औलिया** को भी खुसरो खां द्वारा धार्मिक अनुदान के रूप में दिए धन को वापिस लौटाने के लिए कहा गया।

सैनिकों को आर्थिक दृष्टि से संतुष्ट रखने के लिए अक्तादारों को निर्देश दिए कि वे किसी सैनिक के उचित वेतन तथा भत्ते का दुरुपयोग न करें। घोड़े के सरकारी खर्च की देखभाल की गई। अलाउद्दीन द्वारा चलाई गई **दाग** तथा **चेहरा** प्रथा को प्रभावशाली ढंग से लागू किया गया। इस प्रकार दो वर्ष में सेना सुसंगठित हो गई।

महाराष्ट्र एवं दक्षिणी राज्य–दूसरा चरण (समामेलन)

यद्यपि अलाउद्दीन ने महाराष्ट्र और दक्षिणी राज्यों को सल्तनत में शामिल न करने की एक सुनिर्धारित नीति अपना रखी थी, किन्तु स्थिति में परिवर्तन हुआ और अपने जीवन काल में ही उसे इस नीति में संशोधन करना पड़ा। सन् 1315 ई. में देवगिरि के शासक

रामदेव की मृत्यु हो गई और उसके बाद राजगद्दी पर उसका पुत्र भिल्लमा आसीन हुआ जिसने अलाउद्दीन के आधिपत्य को मानने से इंकार कर दिया। अलाउद्दीन ने भिल्लमा को दंडित करने के लिए मलिक काफूर को इस अनुदेश के साथ भेजा कि भिल्लमा को दिल्ली भेज दिया जाए और उसके राज्य को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित कर लिया जाए। लेकिन भिल्लमा भाग गया। काफूर ने किले पर अधिकार कर लिया तथा पुराने मराठा सरदारों को हटाए बगैर उस राज्य पर शासन करने का प्रयास किया। इसमें उसे आंशिक सफलता ही मिली क्योंकि कई सरदारों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और राज्य का एक भाग पुराने राजवंश के सदस्यों के नियंत्रण में ही बना रहा।

अलाउद्दीन द्वारा समामेलन की नीति अपनाये जाने के संबंध में यहां थोड़ी चर्चा करना आवश्यक है। इस बदलाव के लिए भिल्लमा का विद्रोह की पर्याप्त कारण प्रतीत नहीं होता है। संभवतः अलाउद्दीन ने महसूस किया कि अन्य दक्षिणी राज्यों पर कूटनीतिक और यदि आवश्यक हुआ तो सैनिक दबाव डालकर उन पर अंकुश रखने के लिए देवगिरि पर प्रत्यक्ष तुर्की नियंत्रण आवश्यक है। इस प्रकार, दक्षिण में विजित राज्यों के संदर्भ में समामेलन की नीति को संशोधित रूप में अपनाया गया।

जब अलाउद्दीन के बाद मुबारक खिलजी ने सुल्तान की गद्दी संभाली तो उसने देवगिरि को अपने नियंत्रण में प्रभावी ढंग से लाने के लिए उस पर चढ़ाई की। बिना अधिक विरोध का सामना किए ही उसने अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। उसने वारंगल के विरुद्ध भी एक सेना भेजी जहां के राय ने कई वर्षों से वार्षिक कर का भुगतान नहीं किया था। घेराबंदी का पहले की ही भांति परिणाम सामने आया : जब बाहरी किले पर कब्जा कर लिया गया तो राय ने आत्मसमर्पण कर दिया। सुल्तान की ओर से पहले तो पांच जिलों, उसके संचित खजानों और हाथियों की मांग की गई किन्तु अन्त में राय ने एक जिला और वार्षिक कर के रूप में सोने की 40 ईंटें देना स्वीकार किया। गैर–समामेलन की नीति का यह आंशिक उल्लंघन था, न कि परित्याग।

दक्षिण में विजित राज्यों के सम्मेलन के संबंध में अलाउद्दीन की नीति के परित्याग का श्रेय वस्तुतः गयासुद्दीन तुगलक और उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी मुहम्मद बिन तुगलक को दिया जाना चाहिए। सुल्तान बनने के तुरन्त बाद गयासुद्दीन तुगलक ने अपने पुत्र उलुग खान को, जो बाद में मुहम्मद बिन तुगलक के नाम से प्रसिद्ध हुआ, वारंगल पर आक्रमण करने का आदेश दिया जहां के शासक ने दिल्ली की अस्त–व्यस्त स्थिति का लाभ उठाते हुए कर अदा करना बंद कर दिया था। दिल्ली से एक सेना भेजी गई जिसने देवगिरि में विश्राम करने के बाद वारंगल को घेर लिया। छह महीनों की घेराबन्दी के बाद जब किले का पतन होने ही वाला था तभी दिल्ली में सुल्तान की मृत्यु की अफवाहों के कारण उलुग खान के शिविर में खलबली मच गई। कुछ अमीरों के पलायन का लाभ उठाते हुए राय ने तुर्की सेना पर हमला कर दिया और उलुग खान को भागकर देवगिरि में शरण लेने के लिए विवश होना पड़ा।

सुल्तान की मृत्यु की अफवाह शांत होने के बाद दिल्ली से आई नई सेना की सहायता से उलुग खान ने अगले वर्ष वारंगल के विरुद्ध पुनः अभियान आरम्भ किया। इस बार वारंगल के राय के बचने के लिये कोई रास्ता नहीं छोड़ा गया। उसे आत्मसमर्पण के लिए विवश कर दिया गया और दिल्ली की ओर रवाना किया किन्तु रास्ते में ही उसने आत्महत्या कर ली। अब समस्त तेलंगाना को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित कर लिया गया। इसे नौ जिलों में विभाजित किया गया और उनके प्रशासन के लिए अधिकारी नियुक्त किए गए और एक वर्ष का भू–राजस्व वसूल किया गया। वारंगल का नाम बदलकर सुल्तानपुर रख दिया गया।

तेलंगाना को जीतने के बाद माबर को जीता गया। इस प्रकार, माबर की राजधानी मुदैरे पर सन् 1323 ई. में कब्जा कर लिया गया। लगता है कि पहले से ही मलिक काफूर ने पांड्य राजधानी मदुरै में एक मुस्लिम सैन्य टुकड़ी छोड़ रखी थी किन्तु इसके प्रभाव के संबंध में जानकारी नहीं है। मुबारक खिलजी के एक अधिकारी खुसरो खान ने भी इस क्षेत्र पर छापा मारा था। इस प्रकार, तमिल क्षेत्र अस्त–व्यस्त अवस्था में था। गयासुद्दीन तुगलक के शासन काल में प्रेषित सैनिक अभियान ने मदुरै में पुनः एक मुस्लिम हाकिम नियुक्त किया और इस प्रकार समस्त माबर क्षेत्र दिल्ली सल्तनत के प्रत्यक्ष नियंत्रण में आ गया।

अंत में, सन् 1328 ई. में, मुहम्मद बिन तुगलक के एक चचेरे भाई गरशास्प, जिसने दक्षिणी कर्नाटक में कम्पिल के शासक की यहां शरण ले रखी थी, द्वारा विद्राह किए जाने पर सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने एक सेना भेजी तथा कर्नाटक को भी समामेलित कर लिया गया।

इस प्रकार, बारह वर्षों के छोटे से समयांतराल में मालाबार की सीमाओं तक समस्त दक्षिण भारत को दिल्ली के प्रत्यक्ष प्रशासन के अधीन कर लिया गया। द्वारसुद्र समेत केवल कुछ ही क्षेत्र अपने ही शासकों के नियंत्रण में बने रहे। शीघ्र ही घटनाक्रम ने सिद्ध कर दिया कि यह एक जल्दबाजी में उठाया हुआ एवं कुविचारित कदम था। दिल्ली से काफी दूर और भिन्न प्रशासनिक ढांचे के

भिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टिकोण एवं परम्पराओं वाले इतने विशाल क्षेत्र इतनी तीव्र गति से सल्तनत में सम्मिलित किये जाने की प्रक्रिया के कारण सल्तनत के संसाधनों पर बहुत अधिक दबाव पड़ने लगा और शीघ्र ही इसके विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गई।

इस प्रकार, दिल्ली सल्तनत के राज्यक्षेत्रीय विस्तार ने नए अवसरों के साथ–साथ नई चुनौतियां उत्पन्न कीं।

तुगलक शासन का प्रसार

तुगलक वंश दिल्ली में जिस समय सत्ता में आया गयासुद्दीन तुगलक ने 1320 ई. में दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त किया) उस समय सल्तनत राजनीतिक अस्थिरता से त्रस्त थी। नये शासक द्वारा तुरन्त ध्यान दिये जाने की आवश्यकता थी। दूर–दराज के प्रान्तों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। सल्तनत का प्रभावशाली नियंत्रण केवल केन्द्रीय भू–भाग तक ही सिमटकर रह गया था। प्रशासनिक तंत्र पूर्णतः पंगु हो चुका था। यह स्वाभाविक ही था कि गयासुद्दीन ने अपना ध्यान आर्थिक एवं प्रशासनिक स्थिति को सुधारने की ओर केन्द्रित किया। लेकिन शीघ्र ही साम्राज्य के बाह्य प्रान्तों में प्रतिष्ठा एवं प्रभुत्व को पुनर्स्थापित करने का प्रश्न पैदा हो गया।

पूर्वी भारत

पूर्वी भारत में किये गये सैनिक अभियान दक्षिण में होने वाले युद्धों के परिणाम थे। शाही सेना के वारंगल पर आक्रमण के समय उड़ीसा में स्थित जाजनगर के शासक भानूदेव द्वितीय ने वारंगल नरेश रुद्र देव की सहायता की थी। अतः सन् 1324 ई. के मध्य उलुग खां ने वारंगल से प्रस्थान करते हुए जाजनगर पर भी आक्रमण किया। दोनों के मध्य घमासान युद्ध हुआ और अन्ततः विजय उलुग खां की हुई। उसने शत्रु के पड़ाव को खूब लूटा और बहुत अधिक धन एकत्रित किया। जाजनगर को जीतकर उसको सल्तनत का एक अंग बना दिया गया।

पूर्वी भारत में बंगाल प्रान्त सदैव से ही विद्रोहों का गढ़ रहा था। इन प्रान्त के गवर्नर स्वयं को स्वतंत्र करने का कोई भी अवसर नहीं जाने देते थे। लखनौती राज्य के स्वतंत्र शासक फिरोज शाह की मृत्यु के बाद 1323-24 ई. में सिंहासन के लिये भाइयों के बीच युद्ध प्रारम्भ हो गया। लखनौती के कुछ कुलीन सहायता के लिये गयासुद्दीन के पास आये। गयासुद्दीन ने सहायता करने का वचन दिया और स्वयं बंगाल की ओर प्रस्थान किया। तिरहुत पहुंचने पर सुल्तान वहां पर ठहर गया और उसने बहराम खां को अन्य अधिकारियों के साख लखनौती भेजा। विरोधी सेनाओं में परस्पर संघर्ष लखनौती के समीप हुआ। सुल्तान की सेनाओं ने सरलता से बंगाल की सेनाओं को पराजित कर दिया और कुछ दूरी तक उनका पीछा किया। नसीरुद्दीन के नेतृत्व में युद्धरत एक समूह को लखनौती में एक अधीनस्थ शासक के तौर पर नियुक्त कर दिया गया।

उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर

अलाउद्दीन के सुल्तान अभियान से ही सुल्तान की पश्चिमी सीमाएं स्थिर बनी रही थीं। सुल्तान दक्षिण एवं गुजरात के मामलों में व्यस्त रहे। अतः मोहम्मद तुगलक के सत्ता में आ जाने के बाद ही उत्तर–पश्चिम सीमा की ओर ध्यान केन्द्रित किया जा सका। सिंहासनारूढ़ होने के तुरन्त बाद मोहम्मद तुगलक ने कलानौर एवं पेशावर में सैनिक अभियान भेजे। संभवतः यह 1326-27 ई. में तरमाशिरीन खां के नेतृत्व में हुए मंगोल आक्रमणों का परिणाम था। इसलिये मोहम्मद तुगलक अपने इन अभियानों द्वारा भविष्य में मंगोलों के होने वाले आक्रमणों से उत्तर–पश्चिम सीमा को सुरक्षित करना चाहता था। सुल्तान कलानौर जाते समय स्वयं लाहौर में ठहरा लेकिन उसने अपनी सेना को कलानौर तथा पेशावर पर आक्रमण करने का आदेश दिया। इस कार्य को बिना किसी विशेष कठिनाई के पूरा कर लिया गया। सुल्तान ने इन नये विजित किये गये क्षेत्रों की प्रशासनिक व्यवस्था को दुरुस्त किया, तत्पश्चात् वापस दिल्ली लौट आया।

लगभग 1332 ई. में सुल्तान मोहम्मद तुगलक ने कराचील क्षेत्र को विजित करने की योजना बनायी। इस क्षेत्र की पहचान हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जिले में स्थित आधुनिक कुल्लू से की जाती है। यह उत्तर तथा उत्तर–पश्चिम सीमा की किलेबन्दी करने की योजना का ही एक भाग था। इस उद्देश्य के लिये उसने खुसरो मलिक के नेतृत्व में एक विशाल सेना भेजी। सेना ने कराचील क्षेत्र के महत्वपूर्ण स्थान जिद्या पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। सुल्तान का आदेश इस स्थान को विजित करने के पश्चात् वापस लौटने का था। लेकिन खुसरो मलिक ने अपने उत्साह में सुल्तान के आदेश को नहीं माना और वह तिब्बत की ओर आगे बढ़ गया। परन्तु शीघ्र ही वर्षा प्रारम्भ हो गई और सेना बीमारी और प्रकोपों का शिकार हो गई। यह विपत्ति इतनी भयंकर थी कि

मात्र तीन जवान इस विपत्ति पूर्ण कहानी का विवरण देने के लिए जीवित वापिस आ सके। कराचील अभियान में संसाधन का काफी नुकसान हुआ और इससे सुल्तान मोहम्मद तुगलक की प्रभुसत्ता को भी काफी ठेस पहुंची।

कराचील अभियान से कुछ समय पूर्व सुल्तान मोहम्मद तुगलक ने मध्य एशिया में स्थित खुरासान को अपने अधीन करने के लिए एक अति महत्वाकांक्षी योजना को प्रारम्भ किया। इस उद्देश्य के लिये 37,000 की एक विशाल सेना को भर्ती किया गया और सिपाहियों को एक वर्ष के वेतन का भुगतान पहले ही कर दिया गया। सेना के लिये मूल्यवान हथियारों को खरीदने के लिये काफी बड़ी मात्रा में धन खर्च किया गया। परन्तु अन्ततः इस योजना को यह कह छोड़ दिया गया कि यह अव्यावहारिक है। सेना को भी बर्खास्त कर दिया गया। इसके कारण न केवल गंभीर वित्तीय हानि हुई बल्कि सुल्तान की प्रभुसत्ता को भी काफी गहरा धक्का लगा और इसके फलस्वरूप कई विद्रोह भी हुए जो दिल्ली सल्तनत के लिये अत्यधिक हानिकारक साबित हुए।

गयासुद्दीन तुगलक की तकदीर में बहुत अल्पकाल तक ही शासन करना लिखा था। बंगाल अभियान में सफल होकर लौटने पर उसका स्वागत करने के लिए उसके पुत्र उलुग खान (मुहम्मद बिन तुगलक) द्वारा नई निर्मित राजधानी तुगलकाबाद से आठ किलोमीटर की दूरी पर अफगानपुर में स्वागत समारोह के लिए निर्मित लकड़ी के भवन के गिरने से 1325 ई. में सुल्तान गयासुद्दीन की मृत्यु हो गई। आधुनिक शोध द्वारा भी इस बात की पुष्टि नहीं हो पायी कि यह दुर्घटना शहजादे उलुग खां द्वारा रचे गए षड्यंत्र के कारण हुई या जैसा कि **बरनी** कहता है बिजली के गिरने से। संभव है कि जल्दी से तैयार किया गया यह भवन लकड़ी गए हाथियों के कवामद कराए जाने के कारण ध्वस्त हो गया हो।

गयासुद्दीन तुगलक एवं उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी मुहम्मद बिन तुगलक ने दूरस्थ राज्यों के दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित न करने, उनके शासकों द्वारा औपचारिक अधीनता स्वीकार कर लेने और नियमित रूप से कर भेजे जाने से संतुष्ट रहने की अलाउद्दीन की नीति का त्याग कर दिया। **बरनी** का कहना था कि गयासुद्दीन और मुहम्मद तुगलक दोनों ही अत्यन्त महत्वाकांक्षी थे। उनके शासन के दौरान वारंगल (तेलंगाना), माबर (कोरोमंडल), मदुरै (तमिलनाडु) एवं द्वारसमुद्र (कर्नाटक) पर भी दिल्ली सल्तनत का प्रत्यक्ष नियंत्रण कायम हो गया; अर्थात् दिल्ली सल्तनत की सीमाएं भारत के दक्षिणी छोर तक जा पहुंचीं। प्रत्यक्ष रूप से शासित क्षेत्रों में इतनी तेजी से विस्तार एवं इतने अधिक केन्द्रीकरण के मूल में बहुत ही गंभीर समस्याएं थीं जिन्हें मुहम्मद बिन तुगलक ने बाद में महसूस किया।

बरनी लोगों के कल्याण के चिन्ता व नरमी की नीति के कारण गयासुद्दीन तुगलक की प्रशंसा करता है। संभवतः ऐसा पहली बार हुआ कि राज्य में कृषि और हस्तशिल्पों के महत्व को कृषि का निरन्तर विस्तार किए जाने की आवश्यकता को मान्यता प्रदान की। जलालुद्दीन खिलजी की कल्याण व मानवतावाद की नीति को गयासुद्दीन ने अधिक सकारात्मक व निश्चित तरीके से अपनाया व इसे पुनः लागू करने का प्रयास किया।

मुहम्मद बिन तुगलक एक ज्ञानी पुरुष था और उसे दर्शनशास्त्र, गणित, धर्म आदि जैसी ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की गहरी समझ थी। **बरनी** की आलोचना, जिसे उसकी प्रशंसा समझी जा सकती है, यह थी कि वह एक 'बुद्धिवादी था अर्थात् वह किसी भी इस्लामी कानून को तर्क की कसौटी पर रखे बगैर स्वीकार नहीं करता था। मुहम्मद बिन तुगलक उदार विचारों का व्यक्ति था, न कि कट्टर सिद्धान्तवादी। वह एक अत्यधिक योग्य, तीक्ष्ण बुद्धिवाला, कलाप्रेमी तथा अनुभवी सेनापति था। किन्तु इन गुणों के होते हुए भी वह इतिहास में बहुत अधिक विवादास्पद व्यक्त रहा है। समकालीन इतिहासकारों ने मुहम्मद तुगलक के असाधारण व्यक्तित्व की सराहना की है किन्तु उसके कार्यों की निन्दा। निस्सन्देह सुल्तान ने अपनी विद्वता से प्रेरित होकर प्रशासन, राजनीति तथा धार्मिक प्रश्न पर कुछ नए प्रयोग किए थे जिन्हें समझने में उसकी अफसरशाही तथा धार्मिक वर्ग असमर्थ रहे। कुछ योजनाएं पूरी तरह कार्यान्वित न हो सकीं तथा निराशा में त्याग दी गईं। परिणाम यह हुआ कि सुल्तान को व्यक्तिगत उपलब्धियों के बावजूद गलत समझा गया। धार्मिक वर्ग नाराज हो गया, अमीर उसके विरुद्ध हो गए। लगातार विद्रोह शुरू हो गए और सुल्तान इन्ही विद्रोहों के दमन में व्यस्त रहते हुए 1351 ई. में मृत्यु को प्राप्त हो गया।

मुहम्मद तुगलक प्रशासन को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए नए सिरे से व्यवस्थित करने एवं इसके कार्य–संचालन में एकरूपता लाने के लिए बड़ा उत्सुक था। इसके लिए उसने कुछ प्रशासनिक, राजनीतिक एवं आर्थिक उपाय किए निश्चय ही एक दूसरे को प्रभावित किया जिसके कारण दोनों को पृथक रूप से वर्गीकृत नहीं किया जा सकता।

प्रशासनिक, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रयोग एवं सुधार—मुहम्मद तुगलक प्रशासन को नये सिरे से व्यवस्थित करने एवं इसके कार्य–संचालन में एकरूपता लाने के लिए बहुत उत्सुक था। इस दिशा जैसा कि **इब्नेबतूता** लिखता है उसने बहुत सारे आदेश

जारी किए। इन्हें **बरनी** ने सूचीबद्ध किया है। इस आधार पर उन्हें दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है: क. प्रशासनिक एवं राजनीतिक उपाय तथा ख. आर्थिक एवं भूमि सुधार। निश्चित ही दोनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया जिसके कारण दोनों को पूर्णतः पृथक रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता।

क. प्रशासनिक एवं राजनीतिक उपाय

राजधानी परिवर्तन (Transfer of Capital)—समकालीन इतिहासकारों के अनुसार जब सुल्तान की पहली योजना असफल हो गई तो वह नई योजनाएं सोचने लगा, जिसको कार्यान्वित करने से राजधानी में खराबी तथा विशेष व्यक्तियों की दुर्दशा हुई। सुल्तान के मन में आया कि देवगिरि का नाम दौलताबाद रखा जाए व उसे राजधानी बनाया जाए। **बरनी** इसकी तिथि नहीं देता। पर इसे दोआब में घर वृद्धि के बाद रखता है। यहिया जोदोबार परिवर्तन होने की बात कहता है व पहली परिवर्तन 1327 व दूसरी Transfer 1329 के बाद रखता है। **बदायूनी** भी **यहिया** से सहमत है। **फरिश्ता** राजधानी परिवर्तन की तिथि 1339 देता है। पर यह सही प्रतीत नहीं होती क्योंकि **इब्नेबतूता** जो 1333 के अन्त में दिल्ली आया, लिखता है कि सुल्तान दिल्ली में लोगों को पुनः बसा रहा था। इसका अर्थ है कि उसके आने से पहले राजधानी परिवर्तन हो चुका था। इसके अतिरिक्त 1327 के जो सिक्के दौलताबाद से प्राप्त हुए, उन पर लिखा है "Cupola of Islam" इससे स्पष्ट है कि 1327 में दौलताबाद साम्राज्य की राजधानी थी। इसके अतिरिक्त भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता, (Indian Museum, Calcutta) से ऐसे सिक्के मिले हैं जो 1327 में देवगिरि (Devgiri) से जारी किए गए थे। इसके अतिरिक्त **बरनी** कहता है कि मुल्तान के विद्रोह को दबाने के बाद सुल्तान दिल्ली आया व देवगिरि को जहां दिल्ली निवासी अपने परिवार सहित प्रस्थान कर चुके थे, न गया। इससे स्पष्ट है कि राजधानी परिवर्तन 1327 के लगभग हुआ।

अब पश्न हे कि क्या सुल्तान दिल्ली के लोगों को दो बार दौलताबाद ले गया या नहीं? यहिया दो बार हुए परिवर्तन की बात कहता है। उनके अनुसार पहला परिवर्तन शाही सदस्यों, अमीरों एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों का हुआ व इसके बाद 1329 में दूसरा परिवर्तन दोआब में कर वृद्धि से फैली अशान्ति के कारण आम लोगों का किया गया। वह लिखता है कि "प्रत्येक दिल्ली नगरवासी दौलताबाद की ओर रवाना कर दिया गया। कुत्ते–बिलली भी नगर में न बोलते थे।" इसके विपरीत **बरनी** सिर्फ एक बार हुए परिवर्तन की बात करता है। अगर दूसरी बार परिवर्तन हुआ होता तो कोई कारण न था कि वह उस घटना का वर्णन न करता क्योंकि यह बात तो उसके हक में थी। इसके अतिरिक्त यहिया की बात से भी सहमत नहीं हुआ जा सकता कि ये परिवर्तन दोआब के विद्रोही लोगों को सजा देने के लिए किया गया क्योंकि यह एक अजीब प्रकार की सजा थी। कोई भी सुल्तान इस प्रकार सजा के लिए तैयार न होता क्योंकि उसके हाथ में सैक्ड़ों अन्य प्रकार की सजाएं देने के तरीके थे। इसके अतिरिक्त अगर यह परिवर्तन सजा के फलस्वरूप किया गया तो सुल्तान ने दिल्ली के वासियों को उनके घरों के हर्जाने व रास्ते की अन्य सुविधाएं क्यों प्रदान कीं। इस प्रकार हम यहिया के इस विचार से सहमत नहीं हो सकते कि पहले परिवर्तन के बाद जो बहुत विस्तृत था, कोई दूसरी बार परिवर्तन हुआ होगा। **बरनी** का विचार कि केवल एक बार परिवर्तन हुआ और वह भी समस्त जनता का, सही प्रतीक होता है। **बरनी** के विचार से **इब्नेबतूता** भी सहमत है। साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि दिल्ली कभी भी पूर्णतया खाली नहीं हुई क्योंकि टकसाल हमेशा वहीं थी व दिल्ली से प्रचलित 1327 व 1329 के सिक्के हमें मिलते हैं। अगर सभी सरकारी कार्यालय खत्म कर दिए गए हों तो टकसाल वहां पर क्या कर रही थी? और अगर टकसाल दिल्ली में थी तो उसकी देखभाल के लिए कुछ संख्या में लोग भी वहां अवश्य होंगे।

इब्नेबतूता का कहना है कि कुछ अज्ञात लोग गालियों से भरे पत्र सुल्तान को लिखते थे। अतः सुल्तान ने दिल्ली को उजाड़ने का संकल्प कर लिया व आदेश दिया कि लोग दिल्ली से दौलताबाद चले जाएं। पर यह उचित प्रतीत नहीं होता कि कुछ अज्ञात विद्रोही लोगों की वजह से, जिनहें अगर सुल्तान चाहता तो कड़ी से कड़ी सजा दे सकता था, उसने सारी दिल्ली को उजाड़ दिया। अगर एक पल के लिए यह मान भी लिया जाए कि सुल्तान ने दिल्ली में अपनी अलोकप्रियता (Unpopularity) को देखते हुए राजधानी परिवर्तन दिया तो क्या सुल्तान को दृढ़ निश्चय था कि देवगिरि में वह सुरक्षित रह सकेगा क्योंकि वहां तो वह ऐसे लोगों से घिरा होगा जो उसके धर्म व जाति के भी नहीं होंगें? इसके अतिरिक्त दक्षिण में मुसलमानों की संख्या भी कम होगी जो मुश्किल के समय काम आ सकें। इसलिए यह मानना उचित नहीं होगा कि कुछ लोगों को सजा देने के लिए राजधानी परिवर्तन किया गया। **इब्नेबतूता** के विचारों को किसी भी समकालीन इतिहासकार या बाद के इतिहासकारों ने आधार नहीं बनाया है। **Gadner Brown** के अनुसार दिल्ली की महत्ता पंजाब (जो कि मंगोल आक्रमणों व बाढ़ के कारण पुरानी दशा में न रह गया था) के कारण कम हो गई थी। अतः सुल्तान ने उन हालातों को देखते हुए और साम्राज्य के फैल जाने के कारण एक मध्य स्थित जगह को अपनी राजधानी बनाया। **बरनी** ने उस समय पंजाब के depopulated होने या बाढ़ के आने का जिक्र नहीं करता। फिर बाढ़

आना उस समय एक आम बात थी फिर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि सुल्तान इससे इतना प्रभावित हुआ कि उसने राजधानी ह परिवर्तित कर दी। **ईश्वरी प्रसाद** मानते हैं कि सुल्तान का राजधानी परिवर्तित करने का उद्देश्य मंगोलों के आक्रमण से छुटकार पाना था व नए प्राप्त किए हुए दक्षिण के प्रान्तों पर अधिकार करना था। पर इस विचार से भी पूर्णतया सहमत नहीं हुआ ज सकता क्योंकि अगर राजधानी परिवर्तन करने का मुख्य कारण मंगोल आक्रमण का भय होता तो दिल्ली को राजधानी बना रखना उसके लिए अधिक लाभदायक होता ताकि वह प्रारम्भ में ही मंगोलों के आक्रमण पर नियंत्रण लगा लेता न कि पहल देवगिरि तक बढ़ आते तो सुल्तान उसके लिए उपाय करता। अगर मंगोल आक्रमण का भय इतना भयानक होता (जबकि उसक राज्यकाल में कोई मंगोल आक्रमण भी नहीं हुआ) और उसके लिए राजधानी परिवर्तित करना आवश्यक होता तो बल्बन अलाऊद्दीन जैसे सुल्तान ही राजधानी बदल लेते। इसलिए सुल्तान मुहम्मद जैसे महत्वांकाक्षी सुल्तान के लिए यह कहना कि उसने मंगोलों के भय से राजधानी परिवर्तित की तो कुछ उचित प्रतीत नहीं होता।

इन समस्त कारणों को देखते हुए **बरनी** का विचार सबसे उचित प्रतीत होता है। **बरनी** कहता है कि "सुल्तान के हृदय में यह बात आई कि देवगिरि का नाम दौलताबाद रखा जाए और उसे राजधानी बनाया जाए क्योंकि अन्य प्रदेशों की दूरी तथा निकटता क देखते हुए देवगिरि मध्य में स्थित है। इस तरह सुल्तान ने दक्षिण पर नियंत्रण रखने के लए ही राजधानी परिवर्तित की। यह विचार सबसे उत्तम प्रतीत होता है क्योंकि दक्षिण दिल्ली से दूर होने के कारण सुल्तान उस पर अपना पूरा नियत्रण नहीं रख पात थे। Ala-ud-din ने दक्षिण पर अधिकार जमाया पर जब उसने इस पर नियंत्रण रखना असंभव देखा तब उसने अपना उद्देश्य दक्षिण से पैसा प्रापत करना ही बनाया। पर मुहम्मद तुगलक दक्षिण को अपने प्रशासन के अधीन लाना चाहता था और यह नियंत्रण दिल्ली से दूरी के कारण रखना संभव न था। इसलिए वह एक ऐसी राजधानी चाहता था जोकि मध्य स्थित हो ताकि वह समस्त प्रदेशों पर अपना एक–सा नियंत्रण रख सके।

बरनी, **एसामी** आदि समकालीन इतिहासकार सुल्तान की बहुत आलोचना करते हैं। **बरनी** बताता है कि दिल्ली के समस्त निवासियों, उनके दास–दासियों, स्त्रियों व बच्चों सभी को देवगिरि की ओर खाना कर दिया गया। इस योजना के विषय में किसी से परामर्श न लिया गया व उसके लाभ–हानि प्रत्येक दृष्टिकोण को सोचे–समझे बिना उसने दिल्ली को, जो कि 160-170 वर्ष स आबाद होकर बगदाद व मिस्र की तरह बन गई थी... नष्ट कर दिया। इस लम्बी यात्रा के कष्टों से बहुत लोग मार्ग ही में समाप्त हो गए। इसी प्रकार देवगिरि से वापिस दिल्ली लौटने का वर्णन करते हुए **एसामी** बताता है कि एक दूत सुल्तान का यह फरमान लाया कि सुल्तान का प्रत्येक हितैषी दिल्ली की ओर प्रस्थान करे। जो कोई भी इस कार्य में शिथिलता करेगा, उसका घर–बार खतरे में पड़ जाएगा। वह कहता है अत्याचार के कारण चारों ओर कोलाहल रहने लगा और पूरा दौलतावाद भूतों का निवास स्थान हो गया। सभी को दण्ड दिया जाने लगा। धनी लोग बंदी बनाए जाने लगे व लोग भीख मांगने लगे।" **एसामी** सुल्तान को 'ईश्वर द्वारा भेजा गया शैतान' मानता है।

बरनी व **एसामी** के इस वर्णन पर पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि इस परिवर्तन से जो उनका नुकसान हुआ, उस कारण सुल्तान से नाराज थे। **बरनी** के कुछ रिश्तेदार व **एसामी** के दादा की मृत्यु इस परिवर्तन के दौरान हुई। इसलिए इस घटना का वर्णन बढ़ा–चढ़ा कर करते है। एक सच्चे इतिहासकार के गुण कि उसे स्पष्टवादी व सच्चा होना चाहिए, इन दोन इतिहासकारों में मुहम्मद तुगलक का वर्णन करते हुए दिखाई नहीं देते। जहां कहीं भी सुल्तान का नाम आता है, वहीं उनका क्रो उबल पड़ता है। उनका जो नुकसान हुआ, वह उस लाभ से अधिक था, जो उन्हें सुल्तान प्रदान करना चाहता था। इसलिए उनक वर्णन पर पूर्णतया निर्भर रहना ठीक नहीं। फर भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इस योजना के फलस्वरूप लोगों को बहुत कष्ट उठाने पड़े होंगे।

अब प्रश्न यह है कि इस राजधानी परिवर्तन के प्रभाव क्या हुए? **बरनी** बताता है कि बहुत से लोग जो देवगिरि पहुंच अपन मातृभूमि का वियोग सहन न कर सके और वापस जाने की इच्छा में ही परलोक सिधार गए। देवगिरि के चारों ओर जोकि कु का स्थान था, मुसलमानों की कब्रें बन गईं। बहुत कम लोग सुरक्षित अपने घरों में पहुंच सके। उस तिथि से ये नगर, जो सस के नगरों के लिए ईर्ष्या की वस्तु थी नष्ट हो गया। यद्यपि सुल्तान ने राज्य के प्रदेशों से आलिमों एवं गणमान्य व्यक्तियों ल लाकर बसाया किन्तु इस प्रकार से नगर आबाद न हो सका। इस उथल–पुथल से राज्य को विशेष हानि पहुची।

इब्नेबतूता भी लिखता है कि जब हम दिल्ली में पहुंचे तो वहां कोई विशेष आबादी न थी। केवल कुछ घर ही आबाद थे। इ प्रकार यह कहा जा सकता है लोग राजकीय सेवा प्राप्त होने के बावजूद भी दिल्ली छोड़कर न जाना चाहते थे इस तरह जो कि ईश्वरी प्रसाद कहते हैं कि यह योजना बुरी तरह असफल रही व इससे लोगों को बहुत कष्ट उठाने पड़े। पर इसके साथ ह

भी कहना आवश्यक होगा कि सुल्तान का योजना का उद्देश्य बहुत अच्छा था। 14th सदी में सुल्तान मध्य स्थित राजधानी की बात सोच सका। राजधानी परिवर्तन कोई नयी चीज नहीं थी। इस तरह सुल्तान की नीति का उद्देश्य खराब न था अगर उसका पालन सख्ती से न किया जाता। सुल्तान ने इस विषय में एक गहरी खोज बड़ी लग्नपूर्वक की। मुहम्मद तुगलक के दौलताबाद अभियान का एक दूरगामी प्रभाव यह पड़ा कि बहुत सारे सूफियों और उलेमा ने दौलताबाद में ही रुके रहने का निर्णय लिया जिससे कि बाद में यह इस्लामी शिक्षा और ज्ञान का केन्द्र बन गया। किन्तु इससे दिल्ली के सुल्तान नहीं, अपितु बहमनी सुल्तान लाभान्वित हुए जिन्होंने शीघ्र ही इस क्षेत्र में अपना शासन स्थापित किया।

खुरासान अभियान

मुहम्मद तुगलक ने लगभग तीन लाख सत्तर हजार घुड़सवारों की एक विशाल सेना इकट्ठी की ताकि उसे खुरासान विजय के लिए भेजा जा सके। इस सेना में दोआब के राजपूत तथा कुछ मंगोल भी शामिल थे। यह अभियान तरमाशरीन के साथ मैत्री का परिणाम था। कहते हैं कि एक त्रि–मैत्री संगठन (मुहम्मद तुगलक, तरमाशरीन तथा मिस्र के सुल्तान) भी खुरासान के सुल्तान अबू सैदय के विरुद्ध बनाया गया था। किनतु जब भारतीय सेना तैयार हुई तो ट्रांसआक्सियाना में राजनीतिक खलबली होने से तरमाशरीन को शासक पद से हटा दिया गया। इस प्रकार यह अभियान कभी भी प्रारम्भ न हो सका। **इब्नेबतूता** तथा अरबी ग्रंथ **मसालिक-उल-उअबसार** भी खुरासान के विरुद्ध किसी भी लड़ाई का उल्लेख नहीं करते हैं। सुल्तान के समक्ष बड़ा प्रश्न यह था कि इस विशाल सेना का क्या किया जाए? यदि इसे पूर्णतया हटाया जाता है तो ये सैनिक कानून–व्यवस्था भंग करके उत्पात मचा सकते थे। ऐसी स्थिति में सुल्तान ने यही बेहतर समझा कि इस सेना के कुछ भाग को उत्तरी भारत की पर्वतीय शृंखला में सीमाओं की दृढ़ करने के लिए भेजा जाए।

कराचिल प्रदेश के बारे में कुछ विवाद है। गार्डनर ब्राउन के अनुसार यह प्रदेश मध्य हिमालय में बसे कुल्लू तथा कांगड़ा के बीच में था जबकि मेंहदी हुसैन इसे गढ़वाल–कुमाऊं प्रदेश के साथ जोड़ते हैं। यदि हम **इब्नेबतूता** तथा **फरिश्ता** के विवरण को देखें तो पता लता है कि मुहम्मद तुगलक के काल में चीनियों ने हिमालय के इस हिस्से में राजपूत राजाओं को परेशान किया हुआ था। इसलिए भी सुल्तान इस सीमा को सुदृढ़ करना चाहता था। महत्वपूर्ण बात यह है कि जब दक्षिण की सुरक्षा पूर्ण हो गई तब उसका ध्यान पर्वतीय सीमा की तरफ गया ताकि उत्तर में किलों की शृंखला को पूर्ण किया जा सके। इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए खुरासान के विरुद्ध तैयार की गई कुछ सेना उपयोगी हो सकती थी। लेकिन कुछ कारणों से यह अभियान भी अन्ततः विफल हुआ। यद्यपि मैदानी इलाकों में सफलता प्राप्त होती गई तथापि सेना में पहाड़ों की चढ़ाई तथा कठिनाइयों को बरदाश्त करने की क्षमता नहीं थी। पर्वतीय स्थानों पर सैनिक वर्षा तथा बीमारी का सामना न कर सके। परिणाम यह हुआ कि पहाड़ी लोगों का साहस बढ़ गया। उन्होंने पत्थर फेंकने शुरू कर दिए। सेना को निराश होकर वापिस लौटना पड़ा।

इन प्रयोगों के निराशाजनक परिणामों तथा खुरासान अभियान के लिए बनाई गई सेना की बरखास्तगी ने सुल्तान के लिए कई परेशानियां उत्पन्न कर दीं। बेरोजगार सैनिकों की नाराजगी का उलेमा वर्ग, विशेषतः शेखों तथा सूफियों ने अपने हितों के लिए काम में लिया। उलेमा वर्ग पहले से ही सुल्तान से नाराज था क्योंकि मुहम्मद तुगलक के धार्मिक एवं प्रशासनिक विचार उनके विचारों के अनुरूप नहीं होते थे। उलेमा अपने परम्परागत विशेषाधिकारों में कोई कमी नहीं चाहते थे। सुल्तान की उनके प्रति लापरवाही तथा संदेहपूर्ण रवैया उन्हें हमेशा खटकता रहता था। खोज–बीन करने पर ज्ञात होता है कि मुल्तान में बहराम ऐबा किश्लू खां को सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह करवाने में कई सैयदों का हाथा। सुल्तान ने कई उलेमाओं की निर्दयता से हत्या करवा दी तथा दूसरों को बड़ी–बड़ी सजाएं दीं। सुल्तान किसी भी विद्रोही को क्षमा करने के लिए तैयार न था। परिणाम यह हुआ कि उसके इस राजनीतिक कार्य से सारे उलेमा वर्ग में रोष की लहर दौड़ गई। उनकी सहानुभूति सजाए हुए सैयदों के प्रति बढ़ती गई। इसके अतिरिक्त सुल्तान ने हिन्दुस्तानी सूफियों की जगह पर बाहर से आकर बसे सूफियों को अधिक अनुदान दिए। ऐसी स्थिति में भारत में रह रहे सूफियों तथा सैयदों ने अपना अनादर समझा तथा सुल्तान के विरुद्ध लोकमत तैयार करना प्रारम्भ कर दिया।

सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन (Token Currency)–मुहम्मद तुगलक की अगली योजना थी प्रतीक मुद्रा (Token Currency) का प्रचलन। **बरनी** इस योजना की तिथि नहीं देता पर इसे राजधानी परिवर्तन के बाद बताता है। यहिया भी इसकी तिथि नहीं देता व **बरनी** के विचार को ही आधार मानते हुए इसे राजधानी परिवर्तन के बाद ही मानता है। कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय (Indian museum) में पहले सांकेतिक मुद्रा 1330 ई. की प्राप्त होती है। 1333 में **इब्नेबतूता** के भारत आने पर सांकेतिक मुद्रा प्रचलित नहीं। उसका इस बारे में चुप रहना इस ओर संकेत करता है कि यह सांकेतिक मुद्रा बहुत कम समय तक प्रचलित रही।

1334 तक सिक्कों ने अपनी पुरानी शक्ल पुनः हासिल कर ली थी। यह दिल्ली की टकसाल से प्राप्त चांदी के सिक्के से स्पष्ट हो जाता है।

सांकेतिक मुद्रा कोई नयी चीज नहीं थी क्योंकि 13वीं शताब्दी के अन्त में कुबलाई खां (Qublai Khan) चीन के बादशाह ने इसका प्रयोग किया। एक ऐसी ही कोशिश ईरान के कैकातू खान (Kakatu Khan) द्वारा भी की गई, जो असफल रही। इन उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए मुहम्मद तुगलक ने भी सांकेतिक मुद्रा चलाने की योजना बनायी। पर प्रश्न यह है कि इस योजना को लागू करने के पीछे सुल्तान का उद्देश्य क्या था?

बरनी के अनुसार, "सुल्तान के हृदय में यह आया कि समस्त संसार पर अधिकार जमाया जाए और उसे अपने अधीन किया जाए इस कठिन कार्य के लिए अत्यधिक एवं अपार सेना की आवश्यकता थी विशाल सेना अपार धन सम्पत्ति के बिना भर्ती न हो सकती थी। सुल्तान के खजानों में दान–पुण्य की अधिकता से बड़ी अव्यवस्था हो गई थी। सुल्तान ने तांबे के सिक्के लागू किया और आदेश दिया कि क्रय–विक्रय में तांबे की मुद्रा को सोने व चांदी की मुद्रा के समान प्रचलित किया जाए।" **फरिश्ता** के अनुसार "दोआब में कर वृद्धि प्रजा के विनाश तथा विद्रोह का कारण बन गई और कई वर्षों तक वर्षा भी बन्द हो गई और दिल्ली में अकाल पड़ गया... अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तांबे व पीतल के सिक्के चलाए गए और आदेश दिया कि सोने–चांदी के सिक्कों के स्थान पर क्रय–विक्रय उन्हीं के द्वारा हो। यहिया के अनुसार भी "समस्त आय के साधन व कर पूर्णतः बन्द हो गए तो सुल्तान ने तांबे के सिक्के चलाने का आदेश दिया गया।"

हाजी उद्धवीर के अनुसार, "सांकेतिक मुद्रा को चलाने का सुल्तान का मुख्य उद्देश्य सोने के सिक्कों को इकट्ठा करना था

सुल्तान की योजना का सही मूल्यांकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सुल्तान का उद्देश्य मुद्रा की संख्या को बढ़ाना था न कि खाली खजाने को भरना। यह इससे साबित है कि उसने इस योजना के असफल होने पर तांबे के स्थान पर सोने के टंके का पेश किए। न **बरनी** और न **इब्नेबतूता** ही खजाना खाली होने के विषय में कुछ कहते हैं। इसके विपरीत उनका विचार है कि सुल्तान बहुत दान–पुण्य किया करता था। व अकाल पड़ने पर बहुत सा धन कृषि सुधार में लगाया गया व किसानों को तकावी ऋण (Interest free) दिए गए। सांकेतिक मुद्रा को लागू करने के पीछे सुल्तान को नयी–नयी योजनाएं बनाने का शौक था व यह योजना उसके असंतुलित दिमाग का कार्य नहीं थी। **ईश्वरी प्रसाद** कहते हैं कि अपने साधनों को बढ़ाने के लिए सुल्तान ने प्रतीक मुद्रा लागू नहीं की क्योंकि उसके जल्दी खराब हो जाने का डर था क्योंकि उसकी कोई वास्तविक मूल्य न थी और दूसरी बात लोग लम्बे समय से लागू सोने–चांदी के सिक्के के आदी हो चुके थे। **बरनी** केवल तांबे के सिक्के चलाए जाने की बात करता है। **फरिश्ता** तांबे व पीतल के सिक्कों की बात करता है और प्राप्त सिक्कों के द्वारा उसकी बात में सच्चाई प्रकट होती है। **एसामी** तांबे, लोहे व चमड़े के सिक्कों का उल्लेख करता है। उसके अनुसार सुल्तान का विचार था कि लोग धन के कारण सुखी नहीं होते, अतः इस अभिप्राय का अन्त हो जाना चाहिए। जब सब धनी दरिद्र हो जाएंगे तो कोई किसी की सहायता नहीं कर सकेगा। चमड़े व लोहे के सिक्कों का किसी अन्य इतिहासकार ने वर्णन नहीं किया। इससे साफ स्पष्ट है कि जो कुछ उसने लिखा है, वह सुल्तान के प्रति क्रोध के कारण लिखा है।

यद्यपि इन सिक्कों को कानूनी रूप से स्वीकार कर लिया गया पर सरकार उस पर पूरा नियंत्रण न कर पायी और जैसा कि **बरनी** कहता है "हिन्दुओं के घरों में से प्रत्येक घर टकसाल बन गया। हिन्दुओं ने लाखों करोड़ों तांबे की मुद्रा बनवा ली। व उस से खराज अदा करते व नाना प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएं खरीदते। मुकद्दम खुत्स भी तांबे की मुद्राओं द्वारा सम्पन्न एवं सुखी हो गए और राज्य में बहुत गड़बड़ी फैल गई। तांबे की मुद्रा द्वारा खजाना भर गया और उसका मूल्य कंकड़ के समान हो गया।

इससे स्पष्ट है कि टकसाल पर ठीक प्रकार से नियंत्रण न रखा गया व इन सिक्कों के बाजार में आने से बाजार में सोने वाले सिक्कों की कमी हो गई। क्योंकि जब में काफी संख्या में प्रयोग होने लगा तो अच्छा पैसा बाजार में आना बंद हो गया। जब सुल्तान ने देखा कि उसकी योजना असफल हो गई है तो उसने अपना आदेश रद्द कर दिया और आदेश दिया कि जिस किसी के पास तांबे का सिक्का हो, उसे वह खजाने में जमा करवा दे और उसके स्थान पर प्राचीन सोने की मुद्रा खजाने से ले जाय। इस प्रकार सुल्तान के खजाने में तांबे के सिक्के इतनी संख्या में पहुंच गये कि तुगलकाबाद में **बरनी** के अनुसार तांबे के सिक्कों के ढेर पर्वत के समान लगा गए। इस प्रकार इतिहासकारों का यह विचार का खजाना खाली था, गलत प्रतीत होता है।

सुल्तान मुहम्मद जब गद्दी पर बैठा तो उसके समक्ष एक गंभीर समस्या थी और वह थी चांदी की कमी और उसकी गिरती हुई कीमत। यह समस्या दक्षिण से हिन्दुतान में सोने के आ जाने से हुई। सुल्तान बनने के लिए बाद मुहम्मद तुगलक ने एक नया सिक्का दीनार, जिसका वजन 200 ग्रेन था और एक चांदी का सिक्का अदा ली जिसका वजन 140 ग्रेन था पहले के सोने व चांदी के सिक्कों जो 175–175 ग्रेन के थे जारी किए। इस कमी को पूरा करने के लिए उसने जैसा कि बदायूनी कहते हैं कि सुल्तान ने

आदेश दिया कि तांबे की मुद्राओं को चांदी की मुद्राओं के समान व्यय किया जाए।

इस प्रकार यद्यपि सुल्तान की नीति बहुत अच्छी थी पर वह 14th सदी के लोगों की समझ से बाहर थी। उनके लिए सोना–सोना था व तांबा तांबा। यह तरह इस योजना बिल्कुल असफल रही व इससे राज्य को बहुत आर्थिक हानि हुई।

के. ए. निजामी (K. A. Nizami) के अनुसार 1. **सांकेतिक मुद्रा** (Token Currency) विश्वास पर आधारित होती है और 2. किसी भी सांकेतिक मुद्रा को लागू करने के लिए यह आवश्यक होता है कि राज्य उसे कुछ इस ढंग से बनाए कि अन्य लोग उसे न बना सकें। 3. तीसरी बात टकसाल पर राज्य का पूरा Control होना चाहिए तभी सांकेतिक मुद्रा सफल हो सकती है।" पर सुल्तान के ऊपर न तो लोगों के विश्वास था और न टकसाल पर उसका पूरा नियंत्रण था। लोग समझते थे कि सोना–चांदी सुल्तान ने अपने पास छुपा ली है व तांबे के सिक्के प्रचलित कर दिए है।

सार्केतिक मुद्रा चालू करने के पीछे सुल्तान के इरादों के संबंध में बहुत अधिक विवाद रहा है। **बरनी** के अनुसार, यह कदम भी विश्व के सभी आबाद भागों को जीतने की उसकी महत्त्वकांक्षा का ही भाग था जिसके लिए एक विशाल सेना की और उसे वेतन देने के लिए एक विशाल खजाने की आवश्यकता थी। इस प्रकार, खजाने को पूरा करने के उद्देश्य से यह कदम उठाया गया था। किन्तु **बरनी** अपनी बात का खुद ही खंडन करता है जब वह यह कहता है कि उपहारों और इनामों के अविचारित अनुदानों के जरिए सुल्तान ने अपना खजाना खाली कर लिया था। किन्तु इस कदम के लिए सोने और चांदी का अभाव प्रमुख कारण नहीं रहा होगा क्योंकि जब यह प्रयोग विफल हो गया तो सुल्तान ने सांकेतिक सिक्कों को लौटा लिया और उनके बदले लोगों को सोना और चांदी के सिक्के दिये।

यह प्रयोग मुख्यतः इस कारण विफल हो गया कि सुल्तान नए सिक्कों की नकल की जालसाजी रोकने में असफल रहा। **बरनी** ने अपनी विशिष्ट भाषा में कहा है कि "प्रत्येक हिन्दू का घर एक टकसाल बन गया।" शायद उनका अभिप्राय यह था कि अधिकांश सुनार हिन्दू समुदाय के थे एवं वे तांबे और पीतल के सिक्के बनाना जानते थे और उन्होंने ऐसा ही किया। इस कारण राज्य को काफी नुकसान पहुंचा क्योंकि देहातों में रवूतों और मुकदमों ने भू–राजस्व का भुगतान तांबे और पीतल के सिक्कों के जरिए किया और उन्हीं सिक्कों के जरिए हथियार एवं घोड़े खरीदे। शीघ्र ही इन नए सिक्कों की इतनी अधिक भरमार हो गई कि उनका तेजी से अवमूल्यन हुआ और वे 'पत्थरों ओर ठीकरों की तरह मूल्यहीन' हो गए। व्यापार और वाणिज्य में बाधा पड़ने लगी। अतः क्रोध में आकर मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने आदेशों को रद्द कर दिया एवं सांकेतिक सिक्कों के बदले सोने ओर चांदी के सिक्के दिए। ऐसा केवल शाही टकसालों से जारी सिक्कों के साथ किया जा सकता था। मुहम्मद बिन तुगलक द्वारा जारी सिक्के तांबे और पीतल दोनों के थे। पहले के किसी भी सुल्तान ने पीतल का कोई भी सिक्का जारी नहीं किया था; पीतल वस्तुतः तांबे को टिन और जस्ते आदि के साथ मिलाया जाता था। एक प्रसिद्ध आधुनिक इतिहासकार **प्रोफेसर मुहम्मद हबीब** के अनुसार, मुहम्मद बिन तुगलक न कांसे के सिक्के जारी किए थे जिन पर नए सिक्कों की पहचान के लिए फारसी और अरबी भाषाओं में स्पष्ट अभिलेख थे। गड़बड़ी इसलिए उत्पन्न हुई कि आम लोग सांकेतिक सिक्कों के असली रूप और नकली रूप के बीच भेद नहीं कर पाए। प्रतिदान हेतु लोगों द्वारा लाए गए किन्तु सरकार द्वारा अस्वीकृत नकली सिक्कों का एक बहुत ढेर तुगलकाबाद किले के बाहर काफी समय पर पड़ा रहा।

यदि यह प्रयोग सफल हुआ होता तो भारत के व्यापार एवं वाणिज्य में काफी वृद्धि होती क्योंकि उस समय पूरे विश्व में चांदी का अभाव चल रहा था। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने शासन के आरंभ में टंका में चांदी की मात्रा 178 ग्रेन से घटाकर 140 ग्रेन कर दी। सार्केतिक मुद्रा की विफलता ने निश्चय ही राजकोष पर प्रतिकूल प्रभाव डाला होगा। किन्तु यह इतना बड़ा आधात नहीं था जिसके कारण जन–जीवन अस्त–व्यस्त हो जाता। सन् 1333 ई. तक यानी इसके आरंभ होने के बाद तीन वर्षों के भीतर ही इसे त्याग दिया गया। इस प्रकार 732 हिजारी अथवा 1332-33 के बाद सांकेतिक सिक्के जारी किए जाने के प्रमाण नहीं मिलते हैं। सन् 1334 ई. में **इब्नेबतूता** दिल्ली आया, पर उसने सांकेतिक सिक्कों जल्द ही भुला दिया गया।

भूमि सुधार

देवगिरि गमन, रवुरासान अभियान, सांकेतिक मुद्रा–इन तीनों प्रयोगों की विफलता एवं कराचिल अभियान के अनिष्टकारी परिणाम ने सुल्तान की लोकप्रियता के साथ–साथ उसके कोश को भी निश्चित रूप से प्रभावित किया होगा। किन्तु साम्राज्य के संसाधन अभी भी बहुत व्यापक थे। अतः राजकोष की क्षति जल्दी ही पूरी हो गई होगी। किन्तु लगता है कि इसके कारण बड़े–बड़े भू–क्षेत्रों को इजारेदारी पर देने की प्रथा (मुकाता) को प्रोत्साहन दिया होगा।

इस बीच मुहम्मद बिन तुगलक के कुछ भूमि संबंधी उपायों, महामारियों एवं अकाल (जो छह–सात वर्ष तक जारी रहा एवं जिसने दोआब और मालवा के बड़े–बड़े भागों को प्रभावित किया) ने लोगों के सामने गंभीर विपत्ति खड़ी कर दी एवं व्यापक कृषक विद्रोह को जन्म दिया।

मान्ना जाता है कि गयासुद्दीन ने खेतों को मापने की अलाउद्दीन की पद्धति को समाप्त कर उपज के बटवारे की पद्धति आरम्भ की। किसानों के लिए यह पद्धति लाभप्रद थी क्योंकि इसमें फसलों के पूर्ण या आंशिक नुकसान का ध्यान रखा जाता था **बरनी** के अनुसार, सुल्तान की नीति यह थी कि कर की दर में धीरे–धीरे एवं इतनी ही मात्रा में वृद्धि हो कि इसके कारण किसानों की खुशहाली में कमी न आए। अधिकारियों को यह सुनिश्चित करने के निर्देश दिए गए कि हर वर्ष खेती में वृद्धि हो और उसी अनुपात में राजस्व भी बढ़े। हमें ज्ञात नहीं है कि वह किसानों से वस्तुतः कितना भू–राजस्व लेता था, किन्तु यह मानने का ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता है कि उसने इसे घटाकर 1/5 कर दिया, जैसा कि कुछ आधुनिक इतिहासकार कहते हैं।

जब मुहम्मद बिन तुगलक सुल्तान बना तो उसने किसानों से मांगे जानेवाले भू–राजस्व की दर में भारी बढ़ोत्तरी करने का प्रयास किया। **बरनी** का कहना है कि उसने इसे 'एक से दस तक अथवा एक से बीस तक' बढ़ा दिया। किन्तु इस कथन में **बरनी** ने संख्या अलंकार का प्रयोग किया है और इसका अर्थ शाब्दिक रूप से दस–बीस गुना वृद्धि या दस अथवा बीस में एक यानी 10 से 5 प्रतिशत वृद्धि नहीं लगाया जाना चाहिए। **बरनी** कई स्थानों पर जबरदस्त बढ़ोत्तरी का भाव देने के लिए यानी 10 से 5 प्रतिशत वृद्धि नहीं लगाया जाना चाहिए। **बरनी** कई स्थानों पर जबरदस्त बढ़ोत्तरी का भाव देने के लिए 'एक से सौ एक अथवा 'एक से हजार तक' जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। कहा गया है कि नए कर लगाए गए, एवं चराई कर और घरी कर जैसे पुराने करों की सख्ती से वसूली की जाती थी; मवेशियों को दागा जाता था तथा घरों की गिनती की जाती थीं इससे भी बुरी बात यह थी कि किसी खेत की उपज का आकलन करते समय वास्तविक उपज को नहीं, बल्कि मानक उपज को ध्यान में रखा जाता था। साथ ही, राज्य के हिस्से को नगद में रूपांतरित करते समय वास्तविक मूल्यों को नहीं, बल्कि सरकार द्वारा निश्चित दरों को ध्यान में रखा जाता था।

कहा जाता है कि इन कार्रवाइयों के फलस्वरूप किसान तबाह हो गए एवं कृषक विद्रोही प्रवृत्ति के हो गए जिनके कारण दोआब और दिल्ली के निकट का बहुत बड़ा क्षेत्र प्रभावित हुआ। **बरनी** कहते हैं कि हिन्दुओं यानी किसानों ने अपने अनाज–भंडारों में आग लगा दी एवं अपने–अपने घरों से मवेशियों का भगा दिया। इस प्रकार, "सभी क्षेत्र तबाह हो गए और कृषि कार्य पूरी तरह त्याग दिया गया।" सुल्तान ने विद्रोह को दबाने के आम तरीके अपनाए। इस प्रकार शिकदारों (राजस्व संग्रहकर्ता) एवं फौजदारों (सैनिक अधिकारियों) को देहाती इलाकों को बरबाद कर देने एवं लूट ले के आदेश दिए गए। इसके परिणामस्वरूप बहुत सारे खूत और मुकद्दम मारे गए अथवा उन्होंने जंगलों में शरण ली। सुल्तान के सैनिकों ने जंगलों को चारों ओर से घेर लिया एवं उनके अंदर पाए गए हरेक व्यक्ति को मार डाला। इस प्रकार कन्नौज से दलमऊ तक समस्त क्षेत्र तबाह हो गया।

इस कृषक विद्रोह के विस्तार और सीमा पर चर्चा करना आवश्यक है व हमें स्मरण रखना चाहिए कि अलाउद्दीन खिलजी ने दोआब में भू–राजस्व को बढ़ाकर उपज का आधार हिस्सा कर दिया था, खूतों और मुकद्दमों का कोई रियायत नहीं दी थी एवं भू–माप पर जोर दिया था जिससे वर्षा के पूर्ण या आंशिक रूप से विफल होने पर किसानों को हानि होती थी। फिर भी खूतों और मुकद्दमों अथवा किसानों ने विद्रोह नहीं किया था। इसका यह उत्तर नहीं है कि इसके पीछे अलाउद्दीन के कठोर दंड का भय था क्योंकि मुहम्मद बिन तुगलक उससे कम कठोर नहीं था। हम यदि यह कल्पना भी करें कि **बरनी** ने तथ्यों को अतिरंजित किया, जैसा कि उसने अक्सर किया है, तो भी एक व्यापक कृषक विद्रोह की सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता है। क्या इसका यह अर्थ लगाया जाये कि मुहम्मद बिन तुगलक स्थानीय राजस्व अधिकारियों पर कठोर नियंत्रण रखने में असमर्थ रहा? अतः सरकार द्वारा निश्चित दरों के आधार पर मानक उपज प्राप्त करने के बहाने उनमें से बहुतों ने किसानों का अतिशय उत्पीड़न किया होगा। **बरनी** का कहना है कि जब दूरस्थ क्षेत्रों के किसानों की तबाही और बरबादी के बारे में सुना तथा उन्हें आशंका हुई कि वही आदेश उन पर भी लागू किए जा सकते हैं तो वे भी विद्रोही हो गये। किन्तु इसे अतिशयोक्ति माना जा सकता है क्योंकि हमें यह सूचना नहीं मिलती कि दोआब के बाहर के क्षेत्रों में भी कृषक विद्रोह हुआ।

बरनी कहता है कि दोआब में खेती में कमी, किसानों को तबाही, अनाज वाहकों (बंजारों) की संख्या में कमी एवं दिल्ली बहुत सी खाद्यान्नों की विफलता के कारण वहां अकाल पड़ गया। बरसात भी नहीं हुई। अतः अनाजों के मूल्य काफी बढ़ गए।

अकाल से निपटने के लिए दिल्ली में राहत शिविर खोले गए एवं अवध से जहां अकाल का प्रकरोप नहीं हुआ था, खाद्यान्न मंगाये गये। मुहम्मद तुगलक ने कुएं खोदने के लिए एवं बीज और हल खरीदने के लिए कृषि ऋण भी प्रदान किए।

ऐसा प्रतीत होता है कि सन् 1334-35 ई. में अकाल शुरू हुआ और सात वर्षों तक जारी रहा। इस काल के दौरान मुहम्मद बिन तुगलक को महसूस हुआ कि दिल्ली का वातावरण कष्टदायक हो गया है। अतः समस्त शाही शिविर उठकर 80 किलोमीटर दूर गंगा के किनारे स्थित एक स्थान पर चला गया। इस स्थान को स्वर्ग–द्वार कहा राया एवं सुल्तान वहां दो वर्षों तक रहा। उसके लिए अवध से खाद्यान्न भेजे जाते थे। दिल्ली के बहुत से प्रमुख लोग भी ऐसे क्षेत्रों में चले गए जो अकाल की चपेट में नहीं आ पाए थे।

मुहम्मद तुगलक ने कृषि के विस्तार और सुधार के लिए एक वृहत योजना बनाई। **'दीवान-ए-अमीर-ए-कोही'** नामक एक नया विभाग बनाया गया जिसके प्रभार में 30 किरोह लंबा और 30 किरोह चौड़ा (लगभग 75 किलोमीटर × 75 किलोमीटर) क्षेत्र सौंपा गया। उसने उस क्षेत्र में कृषि का विस्तार करने की ऐसी योजना बनाई कि एक बित्ता जमीन भी खाली न पड़ा रहे। जैसा कि **बरनी** का कथन है, सुल्तान का इरादा का बंजर एवं ऊसर भूखंडों को कृषि के तहत लाने का था। साथ ही, जो भी खेती हो रही थी उसें सुधार किया जाना था। **बरनी** के शब्दों में, "इस प्रकार जौ के बदले गेहूं लगाया जाता एवं गेहूं के बदले गन्ना", तथा "गन्ना के बदले अंगूर और खजूर लगाया जाता।"

इस प्रकार, इस योजना के दो पहलू थेः पहला, कृषि का विस्तार करना एवं दूसरा, फसलों में सुधार करना। दोनों ही के कारण अधिक मात्रा में भू–राजस्व प्राप्त होता। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए 100 शिकदारों की नियुक्ति की गई। उन्हें सम्मान और घोड़े प्रदान किए एवं कृषि ऋण (सोंधार) का वितरण करने के लिए बहुत बड़ी–बड़ी रकमें दी गई। बताया जाता है कि इस तरह से सोंधार के प्रयोजन से 70 लाख से अधिक टंके मंजूर किए गए। फिरोज शाह तुगलक के काल में लिखनेवाले अफीफ ने इस राशि को और अधिक यानी 2 करोड़ टंके बताया है।

बरनी करता है कि यह सारी योजना निष्फल हो गई और तीन वर्षों के दौरान बंजर भूमि का हजारवां अथवा सौवां भाग भी काश्त के योग्य नहीं बनाया जा सका। उसके अनुसार इसका कारण यह था कि इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए जिन लोगों पर जिम्मेदारी सौंपी गई थी वे लोग ही अयोग्य थे। वह उन्हे लालची, भिखमंगे एवं मोक्ष की आकांक्षा से रहित' बताता है। वस्तुतः उन्हें स्थानीय स्थितियों की कोई समझ नहीं थी, और ऋण वितरण से मिले धन को उन्होंने अपने निजी खर्चों और आवश्यकताओं में लगा दिया।

य़दि मुहम्मद बिन तुगलक गुजरात हुए विद्रोह का दमन करने के बाद अपने गुजरात अभियान से लौट आया होता तो इन लोगों को भारी कीमत चुकानी पड़ती। किन्तु मुहम्मद बिन तुगलक की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी फिरोज शाह तुगलक ने उन ऋणों को माफ कर दिया।

फिर भी इस योजना को पूर्णतः निष्फल नहीं माना जा सकता। कृषि ऋणों की सहायता से कृषि का विस्तार और सुधार करने की परियोजना का विचार परवर्ती सुल्तानों ने भी अपनाया और यह मुगलों की कृषि नीति का एक अंग बन गया। इस प्रकार, अलाउद्दीन खिलजी एवं मुहम्मद की एवं यह नीति मुगलों के शासन काल में पूर्ण विकसित हो गई।

प्रशासक वर्ग में परिवर्तन एवं विद्रोह

सुल्तान की छवि निखारने के लिए सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक एक के बाद एक परियोजनाएं शुरू करता रहा जिसके कारण उसके खजाने खाली हो गए और असंतोष एवं विद्रोह फूटते रहे जिन्हें नियंत्रित करने में सुल्तान असफल रहा। **बरनी** ने 26 वर्षों की अवधि में मुहम्मद बिन तुगलक के विशाल साम्राज्य में होनेवाले सभी विद्रोह को एक जगह रख दिया है। किन्तु मुहम्मद बिन तुगलक की सफलताओं और विफलताओं की सही समीक्षा के उद्देश्य से हम उसके शासन काल को तीन असमान चरणों में विभाजित कर सकते है; पहले दोनों चरण दस–दस वर्ष की अवधि के हैं और तीसरा चरण पांच–छह वर्षों की अवधि का है।

पहले चरण (1324-35 ई.) में मुहम्मद बिन तुगलक विरासत में मिले अपने विशाल साम्राज्य को सुदृढ़ करने में संलग्न रहा। एकमात्र विस्तार दक्षिण कर्नाटक में कम्पिल की विजय था जो अपने चचेरे भाई गरशास्प के विद्रोह को कुचलने के लिए मुहम्मद बिन तुगलक के वहां प्रयाण किये जाने के बाद संभव हुआ। मुल्तान और लखनौती में विद्रोह हुए जिनका दमन कर दिया गया। सिंध (सेहवान) में भी विद्रोह हुआ जिसे कुछ समय बाद नियंत्रण में ले आया गया। देवगिरि गमन, खरासान एवं कराचिल अभियानों तथ सांकेतिक मुद्रा प्रयोग जैसी अपनी योजनाओं को विफलता के बावजूद सुल्तान की प्रतिष्ठा को आंच नहीं आंच नहीं आई थी, जैसा कि इब्नबतूता ने बताया है। उसके अनुसार, उस समय दिल्ली का सुल्तान विश्व के चार सर्वाधिक शक्तिशाली शासकों में से एक था जबकि अन्य तीन चीनी, ईराकी और उजबेक शासक थे।

दूसरे दशक (1336-45 ई.) की शुरूआत अच्छी नहीं रही। माबर में विद्रोह हुआ और दोआब में अकाल पड़ा। माबर अभियान जिसमें महामारी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, की विफलता के कारण अन्य सभी दक्षिण राज्य भी सुल्तान के हाथों से निकल गए। बंगाल भी नियन्त्रण से बाहर हो गया। सुल्तान ने इन दरवर्ती क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया जिसका कारण या तो यह रहा होगा कि उसके पास मानव एवं भौतिक संसाधनों की कमी रही होगी अथवा उसने महसूस किया होगा कि मौजूदा हालात में दिल्ली से इन क्षेत्रों का नियंत्रण और प्रत्यक्ष प्रशासन करना असंभव होगा। एकमात्र ऐसा क्षेत्र जिसे वह महत्त्वपूर्ण समझता था और जिस पर उसने अपना नियंत्रण कायम रखा दौलतबाद था।

इस काल में उत्तर भारत में और दौलतबाद क्षेत्र में भी अनेक विद्रोह हुए जिन्हें पुराने अमीरों के असतोष अथवा लालची राजकीय नीतियों के साथ जोड़ा जा सकता है। जिन्हें 'सदा' अमीर कहा जाता था वे भी इस काल में खिन्न हो गए। शायद पुराने अमीरों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विद्रोह वह था जिसका सूत्रधार ऐनुल मुल्क तथा जो कभी सुल्तान का घनिष्ठ मित्र और सहयोगी रह चुका था और जिसे अवध का इक्तादार बनाया गया था। उसने सुल्तान के लिए रसद एवं अन्य सुविधाओं का प्रबंध किया था तथा कड़ा (इलाहाबाद के निकट) में हुए एक विद्रोह का दमन किया था। मुहम्मद बिन तुगलक को ऐनुल मुल्क की बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण उस पर शंका होने लगी; ऐनुल मुल्क ने कुछ राजस्व अपराधियों को आश्रय भी दिया था। यद्यपि मुहम्मद बिन तुगलक ने उसे अंततः माफ कर दिया, किन्तु इस विद्रोह ने भारतीय और विदेशी तत्त्वों के बीच के गहन विभाजन को उजागर कर दिया। ऐनुल मुल्क एक भारतीय था और वजीर (जो ऐनुल मुल्क का शत्रु था) के अधिकांश सैनिक व सहयोगी विदेशी मूल–फारसी, तुर्क एवं खुरासानी–के थे। ये मतभेद और अधिक गहरे होते चले गए क्योंकि मुहम्मद बिन तुगलक विदेशियों पर विशेष कृपा दृष्टि रखता था जिन्हें वह 'अजीज' मित्र कहता था एवं उदार हृदय से उपहार दिया करता था।

जिन विदेशियों को मुहम्मद बिन तुगलक ने विशेष संरक्षण प्रदान किया उनमें मंगोल भी थे। बहुत से मंगोल सैनिकों अथवा निम्न श्रेणी के अधिकारियों के रूप में भारत आए थे। निम्न श्रेणी के अधिकारियों को 'सदा' कहा जाता था। 'सदा' अथवा सौ शब्द का प्रयोग मंगोल सेना में ऐसे व्यक्ति के लिए होता था जो सौ सैनिकों पर नियंत्रण रखता था। किन्तु भारत में 'सदा' शब्द का प्रयोग भूभागीय विभाजन में सौ गांवों को इंगित करने के लिए किया जाने लगा। संभवतः परगना का आधार यही था जो लगभग इसी समय एक प्रशासनिक इकाई के रूप में प्रकट हुआ। किन्तु सभी 'सदा' अमीर मंगोल ही नहीं थे, बल्कि उनमें अफगान एवं अन्य लोग भी शामिल थे।

किन्तु अमीरों के प्रति मुहम्मद बिन तुगलक का दृष्टिकोण जातीय अथवा संकीर्ण धार्मिक विचारों पर आधारित नहीं था। उसने न केवल उन परिवारों के लोगों का स्वागत किया जो भारत में काफी अर्से से रह रहे थे और पूर्ववर्ती सुल्तानों की सेवा करते रहे थे बल्कि इसके अलावा उसने शिल्पी अथवा अन्य वर्गों/जातियों के लोगों, जैसे माली, नाई, बावरची, बुनकर, कलाल, संगीतकार आदि को भी सरकारी सेवा में प्रवेश करने दिया जिनसे तुर्क घृणा करते थे। इनमें से कुछ लोग धर्मांतरित थे, जबकि कुछ अन्य हिन्दू थे। इस प्रकार, **बरनी** किशन बज्जान इंद्री की चर्चा करते हैं जिसे सेहवान (सिंध) का हाकिम बनाया गया था। **बरनी** कहता है कि इन लोगों को उच्च हैसियत, पद एवं शासन करने के लिए क्षेत्र प्रदान किए गए। इसी प्रकार नजबा नामक एक गायक को पहले बदायूं का और उसके बाद गुजरात एवं मुल्तान का हाकिम बनाया गया था; अजीज खम्मार नामक एक कलाल को मालवा का प्रभार सौंपा गया था। उच्च पदों पर उन्हें बैठाए जाने का पुराने अमीरों एवं ऐज्जा (अजीज का बहुवचन) ने जबरदस्त विरोध किया। ऐसा नहीं था कि ये लोग अयोग्य थे अथवा अभी भी अपने पुराने खानदानी अथवा जातिगत पेशे से जुड़े हुए थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी योग्यता के आधार पर ही तरक्की पाई थी। किन्तु वे योद्धा नहीं थे। अतः जब कभी विद्रोहों से सामना करना पड़ा, वे असफल रहे। **बरनी** ने ऐसे नीच, अधम लोगों को उच्च पद देने के लिए न केवल मुहम्मद बिन तुगलक की कटु आलोचना की है, अपितु "लिपिकों और अनाज व्यापारियों (बनियों)" का खूब उपहास उड़ाया है "जो घोड़े की पूछ और अगले भाग (लगाम और अन्य साज–समानों) के बीच भेद नहीं कर सकते थे।"

इस प्रकार, मुहम्मद बिन तुगलक का अमीर वर्ग विविध जातीय आधार पर गठित था और जिस पर सुल्तान संकट–काल में पूरी तरह भरोसा नहीं कर सकता था। यद्यपि निम्न जातीय अधिकारी एवं कई तुर्क और हिन्दुस्तानी अमीर निष्ठावान बने रहे किन्तु मंगोल और अफगान 'सदा' अमीरों ने भिन्न व्यवहार किया। मुहम्मद बिन तुगलक ने धार्मिक वर्गों के सदस्यों और विशेषकर सूफियों को भी प्रशासन में शामिल करने का प्रयास किया। इस प्रयोजन से उसने उनमें से कुछ के साथ वैवाहिक सबंध भी कायम किए। किन्तु अधिकांश सूफियों ने शासन से अलग रहना ही पसंद किया और सुल्तान के इस कदम का स्वागत नहीं किया। क्रोध में आकर मुहम्मद बिन तुगलक ने उनमें से कुछ को कठोर दंड दिए एवं कुछ को मृत्यु–दंड तक भी दे दिया। **बरनी** कहते हैं कि उसने कई उलेमा, शेखों, सैयदों, सुफियों एवं कलंदरों (भ्रमणशील संतों) को मृत्यु–दंड दिया। इसके प्रतिकार में एवं योगियों आदि ने

साथ उसके संपर्क रखने के कारण काजियों ने एक फतवा जारी किया जिसने किसी भी व्यक्ति को सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह करन की अनुमति दे दी। इस दुष्प्रचार को निस्तेज करने के लिए सुल्तान ने खलीफा से एक औपचारिक राजघोषणा पत्र (मंशूर) प्राप्त करने का निर्णय लिया जो उसके शासन को रूढ़िवादी तत्वों की नजर में वैधानिक बना दे। उसे पता चला कि बगदाद के खलीफा, जिसकी सन् 1258 ई. में मंगोल सरदार हलाकू ने हत्या कर दी थी, का एक संबंधी काहिरा में रह रहा है। खलीफा का प्रतिनिधि एवं उसका एक वंशज सन् 1339 ई. में दिल्ली पहुंचा और उनका भव्य स्वागत किया गया। मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने सिक्कों पर अब्बासी खलीफा का नाम भी उत्कीर्ण करा दिया। बाद में उसे खलीफा का एक औपचारिक राजघोषणा पत्र (मंशूर) भी प्राप्त हुआ। किन्तु इन सब के बावजूद उसके प्रति रूढ़िवादी तत्वों के दृष्टिकोण और रवैये में शायद ही कोई अंतर आया।

इस काल में कुछ विद्रोहों, जैसे कड़ा और बीदर का विद्रोह, का कारण यह था कि सुल्तान ने उक्त क्षेत्र कुछ व्यक्तियों को अनुबंध (मुकाता) पर दे दिया था जिसका आधार उनके द्वारा बहुत भारी रकम देने का वादा था। किन्तु उतनी रकम को वे किसानों से वसूल नहीं पाए। इस प्रक्रिया में उन्होंने स्थानीय अधिकारियों अथवा 'सदा' का आर्थिक उत्पीड़न करने की कोशिश की। बाद में मालवा और गुजरात में होनेवाले विद्रोह इस तथ्य के साथ भी जुड़े हैं।

इन बार–बार हो रहे विद्रोहों के प्रति सुल्तान की चिंता के बावजूद उनका दमन हो गया। इस काल में सुल्तान दिल्ली में जमा रहा उसकी प्रतिष्ठा पूर्ववत बनी रही, यह इस बात से स्पष्ट होता है कि इस काल में उसके पास चीन, मिस्र, खुरासान, ईराक, मावरा–उन–नहर एव यहां तक कि कुछ अफ्रीकी देशों के राजदूत भी आए।

तीसरे चरण (1346-51 ई.) में ही गुलबर्गा एवं मालवा में अनेक विद्रोह हुए। बाद में एक अधिक गंभीर विद्रोह गुजरात में और हसन गंगू द्वारा बीदर में हुआ। यद्यपि गुजरात के विद्रोह का नेतृत्व निम्न श्रेणी के 'सदा' अमीर कर रहे थे, किन्तु गुजरात के आर्थिक और सामरिक महत्व को देखते हुए मुहम्मद बिन तुगलक ने स्वयं ही वहां जाकर चल रहे विद्रोह का दमन करने का निश्चय किया। उसकी अनुपस्थिति में दौलताबाद दिल्ली सल्तनत के नियंत्रण से निकल गया एवं बहमनी राज्य अस्तित्व में आया। मुहम्मद बिन तुगलक ढाई वर्षों तक गुजरात में रहा जिसमें अंतिम वर्ष सैराष्ट्र में अभियान करते हुए तथा विद्रोही सरदार तगी को पकड़ने के लिए थट्टा (निचले सिंध) की ओर जाते हुए बीता। तगी पहले कभी उसका दास था जिसे थट्टा के जाम ने शरण दे रखी थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस वस्तुतः व्यर्थ अभियान में उसने मावरा–उन–नहर के शासक अल्तून बहादुर द्वारा प्रेषित 5000 मंगोलों की सहायता स्वीकार की। थट्टा पहुंचने के पूर्व ही सुल्तान की मृत्यु हो गइ। इस बीच उसके द्वारा स्थापित एक प्रतिशासक परिषद ने दिल्ली का कार्यभार संभाला। सुल्तान की दीर्घ अनुपस्थिति के दौरान उत्तर में कोई विद्रोह नहीं हुआ।

अपनी बहुत सी कमियों के बावजूद मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने उत्तराधिकारी के लिए सक्रिय प्रशासन से युक्त एक विशाल साम्राज्य छोड़कर अनी इहलीला समाप्त की। यद्यपि उसका अक्खड़ और जल्दबाज मिजाज, उसकी शंकालु प्रकृति एवं अत्यधिक कठोर दंड देने के उसके स्वभाव के करण उसकी कठिनाइयों में वृद्धि हुई, किन्तु उसकी मुख्य सामस्याएं एक ऐसे साम्राज्य के कारण उत्पन्न हुईं जो अत्यधिक विशाल हो गया था और जिसमें उसने एकरूप तथा अत्याधिक केन्द्रीकृत प्रशासन तंत्र लागू करने का प्रयास किया। उसके कुछ प्रयोगों और सुधारों का दूरगामी प्रभाव भी पड़ा। सांकेतिक मुद्रा का उसका प्रयोग एक साहसिक कदम था किन्तु यह उसके काल से बहुत आगे का था। उसने कृषि विस्तार और विकास को एक नई दिशा प्रदान की। अंत में उसने हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाकर एक समन्वित या मिश्रित शासक वर्ग तैयार करने की दिशा में पहला लड़खड़ाता हुआ कदम उठाया। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि उसने जाति के संकीर्ण दायरों से बाहर निकलने का प्रयास किया एवं सरकारी सेवा में केवल भूपति वर्ग के लोगों को ही नहीं, अपितु निम्न अथवा शिल्पी जातियों या वर्गों के लोगों को भी शामिल किया।

मुहम्मद बिन तुगलक अपनी सेना को थट्टा में अस्त–व्यस्त हालत में छोड़कर परलोक सिधार गया। उसके बाद उसका चचेरा भाई फिरोज शाह तुगलक (1351-88 ई.) दिल्ली का सुल्तान बना। फिरोज का दीर्घ शासन काल दिल्ली सल्तनत के इतिहास में एक युगांतरकारी काल में समान था। उसने परोपकार और जन–कल्याण पर आधारित राज्य की परंपरा को पुनः आरंभ करने का प्रयत्न किया जिसे, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जलालुद्दीन खिलजी ने कायम करना चाहा था, फिरोज ने सुलह और संतुष्टीकरण की एवं किसी–न–किसी कारण से मुहम्मद बिन तुगलक से अप्रसन्न हुए वर्गों (जैसे अमीरों, प्रशासकों, सैनिकों, उलेमा, किसानों आदि) को अपने पक्ष में करने की नीति अपनाई। कई सैनिक अभियानों के बाद, जिनमें उसे कोई महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिली, फिरोज ने युद्ध–नीति को त्याग दिया एवं राज्य को विकास और कल्याण का एक साधन बनाया। दुर्भाग्य से अपने शासन काल के उत्तरार्ध में फिरोज का धर्म के प्रति दृष्टिकोण उत्तरोत्तर संकीर्ण होता चला गया। मुहम्मद बिन तुगलक के विपरीत फिरोज तुगलक में विस्तृत दार्शनिक आधार पर अभाव था जिसके कारण उसने धर्म की व्याख्या संकीर्ण अर्थ में एवं हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ही के कुछ

वर्गों धर्मांधता एवं दमन की नीति का सहारा लिया। इसके कारण कल्याणकारी राज्य की उसी अवधारण मजबूत होने के बजा कमजोर ही हुई। अंत में, फिरोज ने अनेक प्रशासनिक सुधार किए जिनके कारण उसे तत्काल तो लोकप्रियता हासिल हुई कि केंद्र सरकार आगे चलकर कमजोर हो गई।

जन-कल्याण की फिरोज की अवधारणा व शासन का सुदृढ़ीकरण

फिरोज तुगलक ने '**फुतूहात-ए-फिरोज शाही**' नामक पुस्तक में परोपकार की अपनी मूल अवधारणा की व्याख्या की है। माना जाता है कि इस पुस्तक को फिरोज ने स्वयं लिखा था किन्तु अब उसका केवल एक भाग ही उपलब्ध है। यह उल्लेख करते हुए कि अतीत में मुसलमानों का बहुत रक्त बहाया गया और उन्हें विविध प्रकार की यातनाएं दी गईं जिनका उसने वर्णन किया है (जैसे हाथ पांव, कान, नाक आदि काटना, आंखें निकाल लेना आदि)। फिरोज ने कहा कि मैंने संकल्प कर लिया है कि मेरे शासन काल में "किसी कारण अथवा बहाने के बगैर मुसलमानों का रक्त नहीं बहाया जाएगा, उन्हें कोई यातना नहीं दी जाएगी एवं किसी भी व्यक्ति का अंग–भंग नहीं किया जाएगा।"

इस संबंध में फिरोज के आदेश मुसलमानों पर ही नहीं बल्कि गैर–मुसलमानों पर भी लागू होते थे, यद्यपि अपने आदेशों की प्रस्तावना के तौर पर उसने कहा था कि एक आदर्श मुस्लिम होने के नाते मुस्लिम धार्मिक कानून शरीयत के विरूद्ध सभी प्रथाओं को रोकना मेरा कर्त्तव्य हैं। शरीयत निश्चय ही लुटेरों के हाथ–पैर काटने एवं किसी व्यक्ति के विरुद्ध किए गए अपराध के लिए सजा की अनुमति देती है किन्तु हमें यह ज्ञात नहीं कि फिरोज ने ऐसी सजाओं पर रोक लगाई या नहीं। शायद उसके आदेश राजनीतिक, एवं कुछ मामलों में वित्तीय अपराधों पर ही लागू होते थे।

फिरोज ने कहा है कि अतीत में कठोर दंड देने का प्रयोजन "लोगों को आतंकित करना था ताकि उनके मन में सरकार का भय बना रहे और सरकार के कार्य (निर्बाध गति से) संचालित होते रहें।" उसने यह भी कहा है कि कठोर दंडों को समाप्त कर देने से सरकार की प्रतिष्ठा में कमी नहीं आई है। दूसरे शब्दों में, लोग दंड के भय के बगैर सरकार की ओर आकृष्ट हुए।

परोपकार की इस मूल अवधारणा का कि शासन को लोगों की स्वेच्छापूर्ण स्वीकृति पर आधारित होना चाहिए, न कि हिंसा के भय या डर पर, व्यापक प्रभाव पड़ा। विशेषकर एक ऐसे समाज में जहां गैर–मुसलमानों की ही संख्या अधिक थी, यह प्रभाव स्पष्ट रूप से सामने आया।

तुष्टीकरण की अपनी नीति के एक अंग के रूप में फिरोज ने सार्वजनिक रूप से उन दस्तावेजों को नष्ट कर दिया जिनके आधार पर मुहम्मद बिन तुगलक ने दोआब में कृषि के विसतार और सुधार के लिए अधिकारियों को दो करोड़ टंकों की रकम दी थी कि जिसका अधिकांश भाग हजम कर लिया था। तनिक बचकाने अंदाज में फिरोज तुगलक ने उन व्यक्तियों को स्वच्छिा पत्र लिखे को कहा जिन्हें मुहम्मद बिन तुगलक ने हाथ, पैर, नाक और आंखों को क्षति पहुंचाकर दंडित किया था। ऐसे पत्रों को एक डिब्बे में डालकर मुहम्मद बिन तुगलक के मकबरे के सिरहाने की ओर रख दिया गया।

इसी प्रकार, उन लोगों को कठोर दंड नहीं दिया गया जिन्होंने मुहम्मद बिन तुगलक के एक कृपापात्र अहमद आयाज का, जो फिरोज थट्टा में था, दिल्ली की राजगद्दी पर एक प्रतिद्वंद्वी शाहजादे को बैठाने में साथ दिया था। यदि फिरोज का वश चलता तो उसे अहमद आयाज को भी माफ कर दिया होता, किन्तु उसके प्रमुख समर्थकों ने उसे ऐसा नहीं करने दिया। पर अहमद अयाज ने अपने पक्ष में लोगों को लाने के लिए जो सोना और रत्न बांटे थे उन्हें छीनने का कोई प्रयास नहीं किया गया जो अपनी ताजपेशी के समय गयासुद्दीन तुगलक द्वारा उठाए गए कदम के ठीक विपरीत था; गयासुद्दीन ने उन लोगों से जो खुसरो मलिक की उदारता से लाभान्वित हुए थे, उगलवाने के लिए कठारे तरीके अपनाए।

फिरोज तुगलक का एक अन्य कार्य उलेमा, विद्वानों और कमजोर लोगों की इनाम–इदरार के तौर पर अनुदान में प्राप्त उस भूमि को वापिस लौटा देना था जिस पर उसके पूर्ववर्ती शासकों द्वारा कब्जा कर दिया गया था और जिसे खालिसा क्षेत्र में शामिल कर लिया गया था। बताया गया है कि वस्तुतः इन अनुदानों में वृद्धि कर दी गई।

इन्हीं नरम उपायों के कारण, **बरनी** की अतिरंजित भाषा में, "प्रशासन में स्थायित्व आया, शासन के सारे कार्य व्यवस्थित हो गए एवं ऊंच–नीच सभी वर्गों के लोग संतुष्ट हो गए, हिन्दु अथवा मुस्लिम प्रजा प्रसन्न हो गई और हर कोई अपने–अपने पेश में जुट गया।"

सभी समकालीन लेखक फिरोज शाह के 40 वर्षों के दीर्घ शासन काल में आम खुशहाली तथा वस्तुओं के सस्ती होने का जिक्र करते हैं। फिरोज के जीवनी लेखक **शम्स-ए-सिराज अफीफ** कहता है कि अलाउद्दीन के शासन काल में उसके कठोर विनियमों के कारण अनाज सस्ते थे किन्तु फिरोज शाह के शासन काल में उसके किसी प्रयस के बिना ही सभी चीजें सस्ती थीं।

अनुसार, इस खुशहाली का लाभ व्यापारियों और शिल्पकारों समेत हर किसी को मिला क्योंकि उत्पादन और परिश्रमिक में हर वर्ष वृद्धि होती चली गई। पहले की प्रथाओं की ओर स्पष्ट रूप से इशारा करते हुए कहा गया है कि आदेश जारी किए गए थे कि "शाही स्थापनों के लिए आवश्यक जरीदार वस्त्र, रेशमी वस्त्र एवं अन्य वस्तुएं बाजार मूल्यों पर खरीदी जाएं और उनका भुगतान किया जाए।" यह जिक्र करते हुए सभी घर अनाज, संपत्ति, घोड़े और लकड़ी के सामानों से परिपूर्ण थे एवं कोई भी स्त्री आभूषणविहीन नहीं थी, अफीफ यहां तक कह जाते हैं कि ऐसी सर्वतोन्मुखी खुशहाली थी कि गरीब लोग भी अपनी पुत्रियों का विवाह किशोरावस्था में कर सकते थे। इसका आशय यह था कि परिवार की आय में सहयोग देने के लिए अब लड़कियों की आवश्यकता नहीं रह गई थी।

किसानों अथवा रैयत के संबंध में **अफीफ** कहते हैं कि उन्हें बताया गया है कि पहले "रैयत के पास एक गाय छोड़कर शेष सब कुछ ले लेने की प्रथा थी।" फिरोज ने इस स्थिति में सुधार करने का प्रयास किया व उसके लिए शरीयत द्वारा अस्वीकृत सभी करों को समाप्त कर दिया और एक नई कर–निर्धारण प्रणाली (जमा) को, जो मापन पर नहीं बल्कि उपज पर आधारित थी, लागू किया। फिरोज शाह के प्रशासनिक एवं भूमि सुधारों की विवेचना करते समय हम इसकी चर्चा करेंगे।

फिरोज शाह के कल्याणकारी एवं मानवतावादी कार्यों में मस्जिदों और उनसे संलग्न मदरसों की मरम्मत और पुनरुद्धार भी शामिल थे। शिक्षकों को दिए जानेवाले अनुदानों को 100-200 टंकों से बढ़ाकर 400 अथवा 500 या 700 और यहां तक कि 1000 टंके तक कर दिया गया। इसी तरह, विद्यार्थियों को, जिन्हें पहले छात्रवृत्ति के रूप में 10 टंके भी नहीं मिलते थे, 100 अथवा 200 अथवा 300 टंके के अनुदान दिए जाने लगे।

इसी प्रकार कई सूफी खानकाहों की मरम्मत करवाई गई, उन्हें आबाद किया गया एवं उनके व्यय हेतु गांव दिये गए। बुढ़े–बुढ़ियों विधवाओं, अनाथों एवं शरीर से लाचार व्यक्तियों को भी अनुदान दिए गए। बेरोजगारी के लिए एक प्रकार का रोजगार ब्यूरो स्थापित करने एवं सम्माननीय परिवारों की लड़कियों के विवाह हेतु सरकारी सहायता प्रदान करने का भी प्रयास किया गया। ये प्रबंध मुख्यतः मुसलमानों और विशेषकर दिल्ली में या दिल्ली के निकट रहने वाले मुसलमान थे, को लाभ पहुंचाने के लिए किए गए थे। आम लोगों के लिये एक अन्य व अधिक लाभकारी सुधार कार्य सबों के मुफ्त उपचार हेतु दिल्ली में एक अस्पताल (दार–उस–शफा) स्थापित किया जाना था। यद्यपि दिल्ली में मुहम्मद बिन तुगलक के समय से ही कई अस्पताल कार्य कर रहे थे, किन्तु अस्पतालों को राजकीय संरक्षण मिलते रहना एक सकारात्मक कदम माना जाना चाहिए।

मध्यकालीन संदर्भ में, जहां युद्ध और हिंसा ने सुस्थापित प्रथा का स्वरूप धारण कर लिया था, परिसीमनों के बावजूद भी कल्याण के सिद्धांत पर आग्रह एक महत्वपूर्ण योगदान था जिसके लिए फिरोज को निश्चित रूप से श्रेय दिया जाना चाहिए।

फिरोज के सैनिक अभियान

जब फिरोज तुगलक सन् 1351 ई. में थट्टा में सुल्तान की गद्दी पर बैठा तब सल्तनत के सामने एक संकट की स्थिति थी। जिन दक्षिणी राज्यों को गयासुद्दीन तुगलक और मुहम्मद बिन तुगलक द्वारा दिल्ली सल्तनत के दायरे में लाया गया था, वे उससे निकल चुके थे और उनके बाद दैलताबाद भी सल्तनत के नियन्त्रण में नहीं रहा था। गुजरात और सिंध में विद्रोह हो चुके थे। बंगाल भी एक बार फिर स्वतंत्र हो गया।

फिरोज तुगलक में न तो एक महान योद्धा अथवा सेनानायक के गुण थे और न ही उसे इस प्रकार का कोई प्रशिक्षण मिला था। फिर भी उसने बंगाल के विरुद्ध दो बार सेना का संचालन किया, उड़ीसा एवं नगरकोट में छापे मारे तथा निचले सिंध में एक सैनिक अभियान का नेतृत्व किया। उनमें से किसी से भी दिल्ली सल्तनत के राजक्षेत्र में वृद्धि नही हुई और न ही कोई कमी भी नहीं आई।

बंगाल अभियान

सन् 1353-54 और 1359-60 के दो बंगाल अभियानों का लक्ष्य बंगाल को पुनः दिल्ली सल्तनत के अधीन लाना था क्योंकि बंगाल ने स्वयं को दिल्ली से स्वतंत्र घोषित कर दिया गया था। दोनों ही बार फिरोज अपने साथ एक विशाल सेना ले गया था जिसमें स्थानीय (जैसे गोरखपुर और चम्पारण के शक्तिशाली राय) भी साथ हो गए थे। उनके सहयोग के कारण दिल्ली की सेना में घुडसवारों की संख्या 90,000 तक जा पहुंची। दोनों ही बार बंगाल के शासक (पहले अभियान के दौरान हाज इलियास एवं दूसरे अभियान के दौरान उसका पुत्र सिकंदर) पीछे हट गए एवं उन्होंने इकदाला में शरण ली जो एक मजबूत किला था और जिसके चारों ओर एक चौड़ा खंदक बना हुआ था जिसे एक नहर के जरिए एक निकटवर्ती नदी से जोड़ दिए गया था। दोनों ही बार

फिरोज इस किले पर कब्जा नहीं कर पाया। किले के अभेद्य समझते हुए एवं वर्षा काल को आता देखकर जो सभी सड़कों को दुर्गम तथा जलवायु को अस्वास्थकर बना देता, फिरोज किले के बाहर रुकने के लिए अनिच्छुक था। अतः उसने शांति की बातचीत शुरू की। कीमती उपहारों के आदान–प्रदान के बाद यथास्थिति बनाए रखने एवं दोनों ओर शांति कायम रखने की नीति पर सहमति हो गई। इतिहासकार अफीफ की यह कहानी कि फिरोज ने किले पर आक्रमण करने से इसलिए इकार कर दिया कि इसके कारण और अधिक रक्तपात होता एवं मुसलमान महिलाओं को अपमानित होना पड़ता, संभवतः सरकारी वक्तव्य था।

जाजनगर (उड़ीसा) एवं नगरकोट अभियान

बंगाल के अपने दूसरे अभियान से लौटते हुए फिरोज जौनपपुर में रुका और वहां से सने उड़ीसा पर चढ़ाई कर दी। इस अभियान का उद्देश्य उस क्षेत्र पर दिल्ली का आधिपत्य पुनः स्थापित करना था जिसे कभी गयासुद्दीनप तुगलक के शासन काल मे शाहजादे मुहम्मद बिन तुगलक ने अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया था। जब बंगाल ने दिल्ली से स्वतंत्र होने की घोषणा कर दी तो उड़ीसा के शासक ने भी दिल्ली को कर देना बंद कर दिया। इससे भी बुरी बात तो यह थी कि उसने दिल्ली के साथ ए संघर्ष में बंगाल के शासक का पक्ष लिया था। फिरोज का उड़ीसा में सैनिक अभियान लगभग एक सुखद यात्रा बन गया क्योंकि उड़ीसा का शासक युद्ध करने से कतराता रहा। अंततः इस अभियान का अंत करने का निर्णय हुआ जिसके मुताबिक उड़ीसा के शासक ने नियमित रूप से कर और एक निश्चित संख्या में हाथी देते रहने की हामी भरी; फिरोज हाथियों को बहुत महत्व देता था। वापसी यात्रा में कोई विशेष घटना नहीं घटी किन्तु अफीफ का कहना है कि फिरोज एक बार रास्ते से भटक गया और कई महीनों तक जंगलों की खाक छानने के पश्चात् दिल्ली लौटा। दिल्ली में चार वर्षों के विश्राम के बाद फिरोज ने कांगड़ा में नगरकोट के विरुद्ध एक सैनिक अभियान करने का निर्णय किया। नगरकोट को देश के सर्वाधिक मजबूत किलों में गिना जाता था। शायद इसे बंगाल अभियान के निराशाजनक प्रदर्शन की क्षतिपूर्ति करने का सुअवसर भी माना गया था। पहले तो फिरोज ने दौलताबाद के विरुद्ध अभियान करने का निश्चय किया था और इस प्रयोजन से बयाना तक पहुंच भी गया था। किन्तु उसे सुबुद्धि आई और उसने इस अभियान से कदम पीछे खींच लिया और नगरकोट की ओर चल पड़ा। नगरकोट का राय पीछे हट गया। और किला बंद हो गया जिसे आक्रमिक सेना ने घेर लिया। जैसा कि प्रायः होता था, देहाती इलाकों में लूटपाट की गई। छह महीनों की घेराबंदी के बाद दोनों पक्षों ने समझौते के लिए बातचीत शुरू की। राय व्यक्तिगत रूप से फिरोज के समक्ष नतमस्तक हुआ और फिरोज ने राय के कंधे पर अपना हाथ रखा, उसे सम्मानसूचक वस्त्र एवं एक छत्र प्रदान किया तथा उपहारों से लादकर वापस भेज दिया। बदले में राय ने पहले की तरह सुल्तान का आधिपत्य स्वीकार किया और अपरिमित मूल्य के उपहार एवं घोड़े भेजे।

इस अभियान के दौरान किसी भी मंदिर के ध्वस्त किए जाने का उल्लेख नहीं मिलता। वस्तुतः **अफीफ** का कहना है कि फिरोज नगरकोट के रास्ते में स्थित ज्वालामुखी मंदिर गया था। किन्तु वह इस अफवाह को सर्वथा गलत बताता है "जो कुछ हिन्दुओं द्वारा फैलाई गई थी उस अवसर पर फिरोज प्रतिमा (वस्तुतः ज्वाला) के ऊपर एक सोने की छतरी पकड़कर खड़ा हुआ था। अतएव प्रतिमा को दूषित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया।

थट्टा अभियान (1365-67)

फिरोज का अंतिम सैनिक अभियान जिसमें उसने ढाई वर्ष लगाए निचले सिंध में थट्टा के विरुद्ध था, जिसका प्रयोजन इस के स्थानीय शासकों को दंडित करना था जिन्हें जाम एवं बांहबीना कहते थे। वैसे इस अभियान के बिलकुल सही–सही प्रयोजन की जानकारी नहीं हो पाई है। कहा गया है कि मुल्तान के हाकिम को उनसे बहुत सी शिकायतें थी, किन्तु यह कारण इतना महत्वपूर्ण नहीं था जिसके लिये फिरोज को स्वयं वहां सेना लेकर जाने की आवश्यकता पड़ती। शायद यह अभियान मंगोल गतिविधियों के पुनः आरंभ हो जाने के कारण किया गया। उससे पहले वर्ष में एक मंगोल सेना दीपालपुर तक आ गई थी किन्तु दिल्ली से भेजी सेना के आने पर वापस लौट गई थी। जाम और बांहबीना का मंगोलों के साथ घनिष्ठ संपर्क होने का शक किया जा रहा था। फिरोज को निश्चय ही यह आशंका हुई होगी कि निचले सिंध पर मंगोल नियंत्रण कायम हो जाने से पंजाब को खतरा हो जाएगा और सिंधु नदी के जरिए चलनेवाले व्यापार में रुकावट आ जाएगा।

कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने थट्टा अभियान को सर्वाधिक कुप्रबंधित अभियान बताया है। फिरोज शाह एक सेना लेकर चल पड़ा जिसकी सहायता के लिए 5000 नौकाओं का बेड़ा था जो सिंधु नदी के जरिए होनेवाले व्यापार का एक आभास होता। थट्टा पहुचने पर फिरोज को कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा जिसकी उसने उम्मीद नहीं की थी। इस बीच तीन–चौथाई सेना महामारी के कारण मर गए और उसके शिविर में भोजन की काफी कमी हो गई। पराजय सामने खड़ी देखकर फिरोज गुजरात की ओर चल पड़ा, किन्तु अपने मार्गदर्शकों के विश्वासघात के कारण कच्छ की खाड़ी में रास्ता भटक गया। काफी मुसीबत सहने

बाद उसकी सेना अहमदाबाद पहुंची। सेना को पुनः सुसज्जित करने के लिए राजकोष से दो करोड़ की राशि निकाली गई लेकिन बहुत से सैनिक इस स्थिति का लाभ उठाते हुए दिल्ली भाग गए। फिरोज ने उन्हें रोकना उचित नहीं समझा। किन्तु जब वह पहले की अपेक्षा छोटी सेना लेकर थट्टा तो वह उस नगर के दोनों भागों पर कब्जा करने में असफल रहा जो एक चौड़ी नदी के एक–दूसरे किनारे पर स्थित थे। अतः उसने वजीर खान–ए–जहां को अतिरिक्त सेना भेजने को कहा। अतिरिक्त सेना के आने पर ही जाम और बांहबीना ने समझौते की बातचीत शुरू की तथा अधीनता स्वीकार की। उनके साथ सम्मानजनक बर्ताव किया गया और उन्हें फिरोज दिल्ली ले गया। उसके स्थान पर निचला सिंध जाम के एक पुत्र एवं बांहबीना के भाई तमाची को सौंप दिया गया।

थट्टा से अपनी वापसी के बाद फिरोज ने भविष्य में और कोई भी सैनिक अभियान न करने का निर्णय लिया एवं अपने को शांति के कार्यों में लगाया। एक अंतिम प्रयास उस समय हुआ जब फिरोज ने दौलताबाद पर आक्रमण करने के अपने निर्णय की घोषणा की किन्तु खान–ए–जहां के परामर्श पर उसने वह अभियान न करने का निर्णय लिया ताकि मुसलमानों का और अधिक रक्त न बहे।

शांति के प्रति फिरोज के प्रेम एवं मुसलमानों का रक्त बहाने की उसकी अनिच्छा और उसके विभिन्न सैनिक अभियानों की सीमित सफलता के बीच परस्पर कोई संबंध नहीं है, बल्कि उनसे एक नेता के रूप में उसकी अयोग्यता का पता चलता है। किन्तु ये विफलताएं ही प्रच्छन्न वरदान बन गईं। भविष्य में किसी भी सैनिक अभियान पर जाने से तौबा कर उसने अब एक ऐसे राज्य की अध्यक्षता करनी शुरू की जो राजक्षेत्रीय दृष्टि से अधिक संसक्तिशील एवं संचालनीय था। अपने घटे हुए आकार में भी यह किसी भी तरह छोटा नहीं कहा जा सकता था क्योंकि इसका विस्तार न्यूनाधिक उतना ही था जितना अलाउद्दीन की मृत्यु के समय था; केवल दौलताबाद इससे बाहर हो चुका था जिसे अलाउद्दीन के शासन के अंतिम कुछेक वर्षों में समामेलित किया गया था। फिरोज भाग्यशाली था कि पहले के सुल्तानों के समान उसे अपने राज्य पर बार–बार होनेवाले मंगोल आक्रमणों का सामना नहीं करना पड़ा।

इस प्रकार, फिरोज सुदृढ़ीकरण और विकास को कार्यों पर अपना ध्यान केंन्द्रित करने में सफलता पाई जिसके कारण उसके साम्राज्य के केंद्रीय क्षेत्रों में अपूर्व समृद्धि आई।

प्रशासन का पुनर्गठन

फिरोज अमीरों सहित सभी वर्गों को लोगों की तुष्ट करना चाहता था। वह एक ऐसे अमीर–वर्ग की स्थापना करना चाहता था जो स्थायी एवं संसक्तिशाली हो। इल्तुतमिश की मृत्यु के समय से अमीर–वर्ग में बहुत अधिक अस्थायित्व चला आ रहा था एवं उसके बाद के सुल्तान अपने प्रति वफादार रहनेवाले नए–नए अमीर समूह बनाने का प्रयत्न करते चले आ रहे थे। पहले के अमीरों के प्रति उदार रवैया अपनाने के जलालुद्दीन खिलजी और गयासुद्दीन तुगलक के प्रयास विफल रहे थे। फिरोज ने उन अमीरों को प्रसन्न रखने का प्रयास किया जो मुहम्मद बिन तुगलक के प्रति वफादार रहे थे। इस प्रकार, जिस **खान-ए-जहां मकबूल** को मुहम्मद बिन तुगलक के वजीर के रूप में प्रशिक्षित किया था उसे फिरोज ने भी उसी पद पर नियुक्त किया और प्रशासन के अधिकांश कार्यों का दायित्व उसी को सौंप दिया। तातार खान जैसे अन्य वरिष्ठ अमीरों को भी सम्मान दिया गया।

मुहम्मद बिन तुगलक के विपरीत फिरोज को विदेशियों से कोई विशेष लगाव नहीं था। उसने आरंभ में ही इसे स्पष्ट कर दिया था जब हिरात, सीस्तान, अदन, मिस्र आदि से आए कई विदेशी लोग थट्टा में पड़ाव डाले हुए थे और मुहम्मद बिल तुगलक द्वारा उन्हें रोजगार दिए जाने अथवा भेंट करने के संदेश का इंतजार कर रहे थे। फिरोज ने उन्हें यात्रा–व्यय देकर वापस चले जाने को कहा। साथ ही फिरोज ने निम्न वर्गों के मुसलमानों एवं हिन्दुओं को, जिन्हें **बरनी** ने 'नीच एवं अधम' कहा है, अमीर–वर्ग में शामिल करने का प्रयास नहीं किया।

फिरोज ने अपने अमीरों को अत्यंत उच्च वेतन देना शुरू किया। वह अपने खानों और मलिकों का निजी आय के रूप में 4,00,000 टंका, 6,00,000 टंका एवं 8,00,000 टंका वेतन देता था। उसके वजीर खान–ए–जहां को 13,00,000 टंका का वेतन मिलता था, जबकि उसके प्रत्येक पुत्र अथवा पुत्री को अतिरिक्त अनुदान दिया जाता था। अपने शासन काल के आरंभ में ही फिरोज ने भूमि से प्राप्त आय का नया निर्धारण (जमा) कराया। उसके पूरे शासन काल के दौरान इस जमा को संशोधित नहीं किया गया। अतः इस काल में यदि किसी अमीर के इक्ता की कृषि में कोई विस्तार या सुधार हुआ तो इसका लाभ उस अमीर को ही मिला।

अंत में, फिरोज ने अपने अमीर–वर्ग को वंशानुगत स्वरूप प्रदान करने की कोशिश की। अपनी पुस्तक 'फुतूहात' में फिरोज कहता है कि "जब किसी पद पर आसीन व्यक्ति मर गया तो मैंने उसका पद और गौरव उसके पुत्र को हस्तांरित कर दिया; एवं उक्त पद की हैसियत, अनुलाभ तथा गौरव में कोई कटौती नहीं की गई।" हमारे पास कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनमें आनुवंशिकता के इस नियम का पालन किया गया। इनमें से सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण खान–ए–जहां मकबूल का है जिसकी सन् 1368-69 में मत्यु के बाद उसके पुत्र जौना खान को वजीर के पद पर नियुक्त किया गया। किन्त ऐसा तब किया गया जब जौना खान ने जोर दिया

कि फिरोज ने खान–ए–जहां की नियुक्ति के समय लिखित वादा किया था कि फिरोज जब तक शासन करता रहेगा तब तक विजारत का पद उसी (खान–ए–जहां) के परिवार के सदस्य के पास रहेगा। ऐसा ही एक अन्य मामला जफर खान का था। वह गुजरात का हाकिम था जो सन् 1370-71 ई. में मर गया। उसकी मृत्यु के बाद उसका पद और उपाधि उसके पुत्र दरिया खान को दे दी गई। किन्तु शीघ्र ही दरिया खान को उक्त पद से हटा दिया गया। फिरोज ने अन्य किसी भी वरिष्ठ पद पर आनुवंशिकता का नियम लागू नहीं किया। शायद फिरोज का अभिप्राय यह था कि किसी भी पदाधिकारी का इक्ता वापस नहीं लिया जाएगा बल्कि उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्रों को दे दिया जाएगा। दृष्टव्य है कि जब कभी केंद्र सरकार में कोई कमजोरी आती थी तब ऐसा प्रयास अक्सर किया जाता था क्योंकि इसके कारण सुल्तान की तुलना में अमीरों की स्थिति मजबूत होती थी।

प्रशासन में अमीरों के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व सेना थी। फिरोज अमीर–वर्ग की ही तरह एक ऐसी सेना रखना चाहता था जो ऐसे तत्वों से निर्मित हो जिनके यहां सिपाहीगीरी की परम्परा हो तथा जिनको राज्य के स्थायित्व में ही अपना हित दिखाई पड़े अतः उसने आदेश दिया कि केंद्रीय सेना के सैनिकों को नगद वेतन नहीं दिया जाये बल्कि उसकी जगह गांव (वजह) अनुदान में दिये जायें; बल्कि दिल्ली के समीप एवं दोआब में अनुदान के रूप में वेतन दिए जाएं। इस प्रकार उसने तुर्क सैनिकों द्वारा रखी गई मांग को मान लिया जिससे बलबन ने भी अंशतः स्वीकार कर लिया था, जबकि अलाउद्दीन खिलजी ने इसे पूरी तरह अस्वीकार कर दिया था। हमें बताया गया है कि केंद्रीय सेना के 80 प्रतिशत सैनिकों के वेतन की अदायगी अनुदानों के माध्यम से ही होती थी। शेष सैनिकों (गैर वजही) को, जो अस्थायी सैनिक होते थे, राजकोष से नगद अथवा अमीरों के इक्तों में राजस्व आबंटन के जरिए वेतन दिया जाता था। किन्तु अमीरों के इक्तों से आबंटित राजस्व का केवल कुछ अंश ही सैनिकों को मिल पाता था।

सैनिक सेवा के वंशानुगत एवं पारिवारिक स्वरूप पर जोर देने के लिए फिरोज ने आदेश दिया कि यदि कोई सैनिक मर जाए तो उसका गांव स्थायी रूप से उसके पुत्र को; उसका कोई पुत्र न हो तो उसके दामाद को; उसको कोई दामाद न हो तो उसके दास को; और उसके कोई दास न हो तो उसकी स्त्रियों को दिया जाएगा। बाद में फिरोज ने आदेश जारी किया कि यदि कोई सैनिक बूढ़ा हो जाए तो उसके स्थान पर उसके पुत्र को; यदि उसका कोई पुत्र न हो तो उसके दामाद को और उसका कोई दामाद न हो तो उसके दास को सेवा में नियुक्त किया जा सकता है। "इस प्रकार, बूढ़ा व्यक्ति आराम से अपने घर में रहेगा और युवा जन अपना पराक्रम दिखा पाएंगे।"

इन कार्रवाइयों के पक्ष में तर्क दे पाना बहुत कठिन है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यदि फिरोज ने घोड़ा को दागने के नियम में ढील न दी होती तो ऐसे परिवारों का एक समुदाय तैयार करने का प्रयास सफल हो सकता था जिसका पेश केवल सैनिक सेवा होता। वस्तुतः दाग–प्रथा के कारण सुनिश्चित होता था कि सेवा में निम्न–स्तरीय घोड़े प्रस्तुत न हों। सामान्यतः घोड़ों को दागने के लिए साल में एक बार प्रस्तुत करना पड़ता था। किन्तु कई सैनिक ऐसा नहीं कर पाते थे और नायब अरीज–ए–मुमालिक के आग्रह पर फिरोज ने उन्हें 51 दिनों का और फिर दो महीनों का अतिरिक्त समय दे दिया। अंततः इस समय–सीमा को भी इस आधार पर हटा दिया गया कि सैनिकों को अपने अधिकारियों के आदेश पर अपने वेतन वसूल करने के लिए गांव जाना पड़ता है। उदारता और दया के प्रति सर्वथा गलत दृष्टिकोण अपनाते हुए फिरोज ने तो एक बार एक व्यर्थ सैनिक को एक स्वर्ण टंका भी दिया ताकि वह मुहर्रिर को वर्ष का अंत होने के पूर्व अपने निम्न–स्तरीय घोड़े को मंजूर कराने के लिए रिश्वत दे सके।

अपने शासन काल के उत्तरार्ध में फिरोज ने यह महसूस किया कि उदारता और दया के प्रति अपने गलत दृष्टिकोण के कारण उसने केंद्रीय सेना की कुशलता और प्रभावनीयता को घटा दिया है। अतः उसने बड़े–बड़े इक्तादारों और अधिकारियों को आदेश दिया कि वे युद्ध के दौरान दासों को पकड़ें एवं उनमें जो सर्वोत्तम हों उन्हें दरबार में सेवा के लिए भेज दें। यह आदेश उन सरदारों और शासकों को भी दिया गया जो, प्रथा के अनुसार, सुल्तान को वार्षिक उपहार भेजा करते थे। इस प्रकार 1,80,000 दास एकत्र किए गए। उनमें से कुछ दास अपना समय पढ़ने में और धार्मिक अध्ययन में बिताने लगे, 12,000 दास विभिन्न प्रकार के शिल्पकार बन गए और विभिन्न परगनों में भेज दिये गए। दासों के एक बहुत बड़े दल को सशस्त्र सैनिक बल के रूप में गठित किया गया। यह दल 80,000 घुड़सवारों की केंद्रीय सेना के अतिरिक्त था। दासों के इस दल में अधिकांशतः धर्मांतरित हिन्दू थे। इस दल के लिए एक अलग विभाग (दीवान) स्थापित किया गया व उनके लिये कोष व गणना अधिकारी की व्यवस्था भी अलग से की गई।

फिरोज ने दासों के इस दल की कुशलता का परीक्षण किसी युद्ध में नहीं किया, किन्तु जिस हद तक यह अमीरों और स्थाई सेना की शक्ति का प्रत्युत्तर था, उस हद तक इसने प्रशासन में दोहरेपन की स्थिति पैदा कर दी। इस प्रकार फिरोज ने एक संस्थागत अमीर वर्ग तथा सामरिक वृत्ति परिवारों के एक समुदाय से निर्मित सेना के सहारे प्रशासन को स्थायित्व प्रदान करने के अपने प्रयास मे स्वयं ही बाधा डाली। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि फिरोज की मृत्यु के पूर्व ही इन दोनों के बीच तनाव पैदा हो गया।

सामान्य प्रशासन के क्षेत्र में फिरोज काफी भाग्यशाली था कि उसे खान–ए–जहां मकबूल जैसा एक योग्य और ओजस्वी अधिकारी मिला जिसे वह 'भाई' कहता था एवं पूर्ण समर्थन देता था। उसने तो यहां तक कहा था कि खान–ए–जहां ही वास्तविक सुल्तान है। दूसरे ओर खान–ए–जहां ने भी अपने अधिकार–क्षेत्र का कभी उल्लंघन नहीं किया तथा सुल्तान को सारी बातों से पूर्णतः अवगत रखा। वह पूर्णतया ईमानदार भी था। यद्यपि व प्रांतो के हाकिमों से उपहार स्वीकार करता था, किन्तु वह उन्हें शाही खजाने में डाल देता था। वह सरकारी बकायों की वसूली में काफी सख्त भी था। किन्तु उसके अधिकारों पर अंकेक्षक (मुस्तौफी) और महालेखाकार (मुशरिफ) के कारण अंकुश भी लगा हुआ था क्योंकि दन दोनों अधिकारियों का सुल्तान के साथ सीधा संपर्क था। कभी–कभी इसके कारण विवाद भी खड़े हो जाते हो जाते थे जिनमें सुल्तान मध्यस्थता करता था।

फिरोज के दरबार में एक अन्य शक्तिशाली अमीर था बशीर सुल्तानी जो सल्तनत का आरीज–ए–ममालिक था। वह किसी समय फिरोज का दास रह चुका था और अनुचित तरीकों से उसने काफी धन इकट्ठा कर लिया था। खान–ए–जहां उसके अनुचित आचरण एवं बेईमानीपूर्ण कार्यों पर पर्दा डाल दिया करता था। जब बशीर की मृत्यु हुई तो वह अपने पीछे 13 करोड़ टंका छोड़ गया था। फिरोज ने इनमें से नौ करोड़ इस आधार पर जब्त कर लिये कि बशीर उसका दास रहा था जबकि शेष राशि उसे पुत्रों के बीच बांट दी गई।

खान–ए–जहां की मृत्यु के बाद उसके पुत्र जौना शाह अथवा खान–ए–जहां द्वितीय ने प्रशासन कार्य को पर्याप्त कुशलता और प्रभावनीयता के साथ संचालित किया। किन्तु वह बहुत महत्त्वकाक्षी था और उसने अपने ही समर्थकों का एक दल उस समय बनाने का प्रयास किया जब उम्र बढ़ने के साथ–साथ फिरोज की शक्तियां धीरे–धीरे कम होती जा रही थी। फिरोज की मृत्यु के बाद होनेवाले संघर्ष का यह एक अन्य कारण था।

विकास कार्य

फिरोज तुगलक ने कृषि विकास के क्षेत्र मुहम्मद बिन तुगलक की परंपराओं को आगे बढ़ाया। अपने शासन की शुरूआत में ही उसने राजस्व का नया बंदोबस्त करने के लिए ख्वाजा हिसामुद्दीन जुनैद को नियुक्त किया। ख्वाजा ने अधिकारियों की एक टोली के साथ छह वर्षों तक पूरे देश का दौरा किया तथा कर–निर्धारण (जमा) किया। "निरीक्षण" यानी मोटे तौर पर आकलन के आधार पर छह करोड़ पचहत्तर लाख टंका की राशि (भू–राजस्व) तय की गई ओर फिरोज तुगलक के शेष शासन–काल इसमें कोई संशोधन नहीं किया गया। यद्यपि किसान द्वारा सरकार को दिए जानेवाले मानक हिस्से का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है, किन्तु भू–राजस्व के निर्धारण का आधार मापन नहीं, बल्कि उपज का बंटवारा था। इसका यह अर्थ था कि उपज में किसी भी वृद्धि या कमी से किसान और सरकार दोनों को क्रमशः लाभ या हानि में भागीदार होना पड़ता। चूंकि भू–राजस्व का अधिकांश भाग अमीरों को इक्ता के रूप में दे दिया गया था, अतः किसी भी विकास से मुख्यतः अमीरों को ही लाभ होता था। जैसा कि हम आगे चलकर देंखेंगे, ठीक ऐसा ही घटित हुआ।

अपने बंगाल अभियानों के दौरान फिरोज ने हिसार फिरोज (आधुनिक हिसार) नामक एक नगर बसाया तथा इस नगर में सतलज और यमुना नदियों से पानी लाने के लिए दो नहरें बनाने का निर्णय किया। ये नहरें, जो लगभग सौ मील लंबी थीं, करनाल में एक–दूसरे से मिलती थीं तथा हिसार नगर को प्रचुर मात्रा में पानी प्रदान करती थीं। बताया जाता है कि पहले यह क्षेत्र इतना शुष्क था कि ईराक और खुरासन से आनेवाले व्यापारियों को एक घड़ा पानी के चार जीतल का भुगतान करना पड़ता था। किन्तु इन नहरों के चालू हो जाने के बाद किसान साल में दो फसलें–खरीफ और रबी–उगा सकते थे। बाद में यह नहर बंद हो गई थी जिसकी अकबर ने मरम्मत कराई थी। शाहजहां के समय में इस नहर को बढ़ाकर दिल्ली तक पहुंच दिया गया। उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश सरकार ने इसकी मरम्मत कराई और इसका विस्तार किया। यह नहर पश्चिमी यमुना नहर का आधार बन गई। फिरोज के शासन काल में नगर के आस–पास का समस्त भूखंड सिंचित हो गया, एवं इसके कारण पुराने गांवों में कृषि का विस्तार हुआ एवं नए गांव बसाये गये। फिरोज ने अन्य नहरें भी बनावाई। समाकलीन लेखक उनमें से छह का विवरण देते हैं। इनमें से अधिकांश नहरें वर्तमान हरियाणा क्षेत्र में थीं। एक नहर दिल्ली के दक्षिण में फिरोज द्वारा बसाए गये फिरोजपुर नामक नगर को भी पानी पहुंचती थी। **अफीफ** का कहना है कि सतलज नदी से कोइल (आधुनिक अलीगढ़) का समस्त क्षेत्र पूरी तरह काश्तकारी के अन्तर्गत आ चुका था। अफीफ के ही शब्दों में, "समाना शिक के समान ही इस क्षेत्र में हर एक कोस (डेढ़ मील) में चार गांव थे।" इस क्षेत्र में बेहतर फसल पैदा करने का प्रयास किया गया तथा निम्न श्रेणी की फसलों के बदले गेहूं और गन्ने की खेती की जाने वाली।

शायद इस क्षेत्र में समृद्धि एवं अमीरों के धन में वृद्धि को ही **बरनी** एवं **अफीफ** ने अपने ग्रंथों में प्रतिबिंबित किया है। निश्चय ही इस क्षेत्र के किसानों, शिल्पकारों एवं व्यापारियों जैसे अन्य वर्गों को भी लाभ पहुंचा किन्तु जैसाकि एक समकालीन लेखक का कथन है, दिल्ली से दूर स्थित स्थानों पर (उदाहरण के लिए सिंध में) खाद्यान्नों की कीमतें अस्थिर रहती थीं तथा शिल्कारों का

पारिश्रमिक भी बहुत अधिक था। अन्य क्षेत्रों की स्थिति के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिल पाई है।

इस क्षेत्र की कृषि में समृद्धि से फिरोज भी लाभान्वित हुआ। उसने कुछ विद्वानों और मुल्लों को एकत्र किया जिन्होंने घोषणा की कि सुल्तान ने नहर बनवाने एवं पानी लाने में जो कष्ट उठाया है उसके लिए उसे 10 प्रतिशत अतिरिक्त शुल्क का हक है जिसे हक्के–ए–शुर्ब कहा गया। यह कर पुराने गांवों पर लगाया गया जहां उपज में वृद्धि हुई थी और जो सुल्तान की निजी आय (इमलाक या खालिसा) के भाग थे। नए गांवों का सामान्य भू–राजस्व भी सुल्तान की निजी आय का भाग था जो दो लाख टंके के बराबर थी। सुल्तान इसे धार्मिक व्यक्तियों और विद्वानों के बीच दान के रूप में बांट देता था।

सुल्तान ने सिंचाई के प्रयोजन से नहरों के अलावा कई बांध भी बनवाए। उसे फलों के बाग लगाने का भी काफी शौक था और माना जाता है कि उसने दिल्ली के आसपास ऐसे 1200 बाग लगाए। जिनकी जायदाद अथवा कर–मुक्त (इनाम) जमीनों में ये बाग लगाये गये थे उनको जमीन की कीमत अदा कर दी गई। इन बागों में, अलाउद्दीन द्वारा लगाए गए 30 बाग भी शामिल थे कहा जाता है कि इनमें से अधिकांश बागों में काले और सफेद अंगूर तथा मेवे पैदा होते थे और इनसे सुल्तान को 1,80,000 टंके की आमदनी होती थी।

अपने शासन काल के अंतिम वर्षों में फिरोज ने कृषि कराधान प्रणाली को शरीयत के अनुरूप बनाने का प्रयास किया इस प्रकार, उसने उन सारे करों का हटा दिया जो शरीयत द्वारा स्वीकृत नहीं थे। समकालीन लेखकों ने इस तरह हटाये गए करों की संख्या 21 बताई है। इनमें गृह–कर (घरी) भी शामिल था जिसके बारे में हमें अलाउद्दीन के शासन काल में सुनने को मिलता है। उत्पादित वस्तुओं पर ऐसे बहुत से उपकर जो बाजार में देय थे। यह बता पाना कठिन है कि इन करों का अंत होने से किसानों का कितना लाभ हुआ अथवा यह आदेश कितना प्रभावकारी सिद्ध हुआ क्योंकि उनमें से कई करो को अकबर द्वारा हटाया गया। बाद में औरंगजेब ने भी कर हटाये।

शरीयत द्वारा स्वीकृत कर ही वसूल करने की अपनी नीति के कारण फिरोज ने गैर–मुसलमानों पर जजिया लगाने पर जोर दिया। यद्यपि पहले के सुल्तान भी जजिया वसूल करते थे, किन्तु वे भूमि–कर (खराज) का भाग मानते थे और दोनों को भिन्न करना कठिन था। फिरोज ऐसा पहला सुल्तान था जिसने भू–राजस्व के अलावा एक पृथक कर के रूप में जजिया वसूल करना शुरू किया। कुछ हद तक इसने घरी का स्थान ले लिया क्योंकि घरी (गृह–कर) भी व्यक्तियों पर लगाया जाने वाला कर था।

फिरोज ने दिल्ली के निकट अनेक नगर बसाए जिनमें हिसार फिरोजा और फिरोजपुर का जिक्र किया जा चुका है। उसने पूर्वी उत्तर प्रदेश में जौनपुर का निर्माण किया अथवा उसका जीर्णोद्धार किया एवं यमुना नदी के किनारे फिरोजबाद नामक एक नई राजधानी बनाई। आज इस शहर का केवल किला ही बचा हुआ है जिसे अब कोटाला फिरोज शाह कहा जाता है। इस शहर का पूर्वी भाग पहाड़ी तक विस्तारित था और इसका विस्तार पांच कोस अथवा साढ़े सात मील में था जिसमें परवर्ती शाहजहानी बाद अथवा आज की पुरानी दिल्ली के कुछ भाग शामिल थे। फिरोज ने जो बहुत सारे नगर बसाए, जिनकी वस्तुतः आवश्कता महसूस की जा रही थी। उन्होंने इस क्षेत्र में कृषि में विकास को प्रतिबिंबित किया जिसे अनाज की मंडियों के रूप में नए शहरों के लिए की जरूरत थी। ये नए शहर व्यापार और हस्त–शिल्प के केंद्र भी बन गए। शिल्कारों के रूप में प्रशिक्षित 12,000 दासों में से कुछ इन्हीं शहरों में तैनात किए गए।

इस प्रकार, कृषि एवं शहरी दोनों प्रकार के विकास के संबंध में फिरोज की अवधारणा आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक थी

फिरोज एक महान भवन–निर्माता भी था। उसने एक लोक निर्माण विभाग गठित किया जिसने बहुत से पुराने भवनों एवं मकबरों की मरम्मत की। इस प्रकार उसने कुतुब मीनार की मरम्मत कराई जिसकी एक मंजिल विद्युतपात के कारण नष्ट हो गई थी एवं इसके निकट स्थित मस्जिद और इल्तुतमिश एवं अलाउद्दीन के मकबरों का जीर्णोद्धार किया। उसने कुतुब मीनार के दक्षिण में स्थित हौज–ए–शम्सी (तालाब) एवं हौज–ए–अलाई (वर्तमान हौज खास), जिसकी नाली बंद हो गई थी, कि भी मरम्मत कराई

फिरोज तुगलक ने मेरठ और इसके पड़ोस से अशोक के दो लाट भी मंगवाए एवं उनमें से एक को फिरोजाबाद स्थित कोटला में एवं दूसरे को पहाड़ी पर स्थित शिकारगाह में खड़ा कराया। उसने यात्रियों के प्रयोग हेतु कई सराय भी बनवाए।

फिरोज ने अपनी पुस्तक '**फुतूहात-ए-फिरोज शाही**' में अपनी रूढिवादी कार्रवाइयों का उल्लेख तो किया है, किन्तु मदिरा–पान पर रोक लगाने की बात नहीं कहीं है। रोचक बात यह है कि अफीफ ने राज्य के विभागों (कारखानों) में मदिरा विभाग का भी उल्लेख किया है। फिरोज संगीत और गीत का भी शौकीन था तथा वह दोनों ईद के उत्सवों के दौरान एवं जुम्मे (शुक्रवार) की नमाज के बाद संगीत सुना करता था। अपने शासन (जीवन) काल के अंत तक वह ऐसा करता रहा। वह बड़े हर्षोल्लास के साथ शब–ए–बारात भी मानता था। बाद में मुगल सम्राट औरंगजेब ने इन रिवाजों को गैर–इस्लामी बताते हुए उन पर रोक लगा दी।

किन्तु उम्र बढ़ने के साथ फिरोज अपने धार्मिक दृष्टिकोण में अधिकाधिक संकीर्ण और यहां तक कि धर्मांध हो गया प्रधान उल

उदारवादी सूफी संत अजोधन के **फरीदुद्दीन गंज शकर** के एक अनुयायी के रूप में प्रसिद्ध था, किन्तु धीरे–धीरे वह कहरबन्दी होता गया जब वह सन् 1374-75 ई. में बहराईच स्थित योद्धा संत सालार मसूद गाजी के मकबरे का दर्शन करने गया और संत सालार सपने में उसके सामने प्रकट हुए तो उनेस अत्यंत प्रभावित होकर फिरोज ने उनके प्रति अपना आत्मसमर्पण करते हुए सिर का मुंडन करा लिया। कइ अमीरों ने भी सुल्तान का अनुकरण करते हुए अपना सिर मुड़वा लिया। उसके बाद सुल्तान ने शरीयत के विरुद्ध सारे दस्तूरों पर रोक लगा दी, शरीयत द्वारा अननुमोदित सारे करों का अंत कर दिया एवं राजस्व अधिकारियों को ऐसे किसी भी कर की वसूली न करने की चेतावनी दी। उसने अपने महल के ऐसे सारे चित्रों के नष्ट किए जाने का आदेश दिया जिनमें मानव आकृतियां बनी हों एवं भोजन हेतु सोने और चांदी के बर्तनों के प्रयोग की मनाही कर दी। उसने शुद्ध रेशमी अथवा जरीदार वस्त्रों एवं मानव आकृतियों के चित्र बने हुए वस्त्रों पर भी रोक लगा दी।

इस समय फिरोज की धर्मांधता का सबसे बुरा उदाहरण यह था कि उसने इस आरोप के आधार पर एक ब्राह्मण को खुलेआम जला दिया कि उसने अपने घर पर खुले तौर पर मूर्तिपूजा की जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ही ने भाग लिया था एवं उसने एक मुस्लिम महिला को हिन्दू बना लिया था। उसने ब्राह्मणों से **जजिया** वसूल करने पर भी जोर दिया जो उस समय तक इस कर से मुक्त रखे गए थे। दिल्ली के चारों नगरों के ब्राह्मणों द्वारा भूख हड़ताल किए जाने पर भी वह टस से मस नहीं हुआ। अंत में दिल्ली के हिन्दुओं ने ब्राह्मणों के हिस्से का जजिया स्वयं देने का निर्णय लिया। यह ज्ञात नहीं है कि यह व्यवस्था अन्य शहरों में भी अपनाई गई या नहीं।

'**फुतूहात**' में फिरोज कहता है कि यद्यपि जजिया देनेवाले हिन्दू रक्षित लोग (जिम्मी) थे तथा उन्हें अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा ओर पूजा करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी, उन्होंने नए मंदिर बनाने शुरू कर दिए जो शरीयत के विरुद्ध था। उसने ऐसे मंदिरों को ध्वस्त करा दिया था। कराए गए मंदिरों की सूची में उसने दिल्ली के निकट मालवा गांव के एक मंदिर को भी शामिल किया है। यह मंदिर इसलिए ध्वस्त कराया गया था कि हिन्दुओं ने वहां तालाब (हौज) बनाया था जहां एक उत्सव होता था जिसमें हिन्दू पुरूषों और महिलाओं के अलावा मुसलमान भी भाग लेते थे। इसी प्रकार उसने सालेहपुर गांव गोहना कस्बा में बनाए गए नए मंदिरों को नष्ट कर दिया।

शरीयत के अनुसार चलने की अपने उत्साह में फिरोज ने शिया समुदाय के इस्माली समूह के नेताओं को मृत्यु दंड दिया। उसने अनेक ऐसे मुसलमानों को भी मृत्यु दण्ड दिया जो सुफी तौर–तरीकों पर अमल हुए रूढिवादी मत से दूर हो गये थे। अपनी रूढ़िवादिता में उसने दिल्ली के बाहर स्थित दरगाहों पर मुस्लिम महिलाओं के जाने पर भी रोक लगा दी क्योंकि उन पर लोगों को कामुक दृष्टि पड़ती थी।

किन्तु यह दर्शाने का कोई प्रमाण नहीं है कि असहिष्णुता के चन्द कृत्यों के बावजूद फिरोज जिम्मी अथवा रक्षित हिन्दुओं की दी गई व्यापक धार्मिक स्वतंत्रता की संकल्पना के विरुद्ध चला। फिरोज के युग को बढती हुई असहिष्णुता का युग माना जा सकता है। वस्तुतः इसी युग में संगीत, औषधि आदि पर लिखी गई संस्कृत पुस्तकों का सबसे अधिक संख्या में फारसी में अनुवाद किया गया। फिरोज ने हिन्दू सरदारों के साथ आदर भरा बर्ताव किया और उनमें से तीन को उसके दरबार में फर्श पर भी बैठने दिया गया जिसे एक दुर्लभ सम्मान माना जाता था।

फिर भी, कभी–कभी फिरोज के असहिष्णुतापूर्ण व्यवहार तथा धर्मशास्त्रियों और धार्मिक गतिविधियों से सम्बद्ध लोगों को दूसरों की तुलना में महत्व दिये जाने के कारण रूढ़िवादी उलेमा की स्थिति मजबूत हुई। इसके कारण जन–कल्याण एवं व्यापक धार्मिक स्वतंत्रता पर आधारित परोपकारी नीति की संकल्पना कमजोर हुई। फिरोज ने एक समन्वित शासक वर्ग के निर्माण की ओर मुहम्मद बिन तुगलक द्वारा बढ़ाए गए कदमों को भी पीछे खींच लिया। इसे लोदियों ने जरा सावधानियों बरतते हुए पुनः शुरू किया किन्तु वास्तविक अर्थ में इसका पुनरारंभ अकबर के आने पर ही हुआ।

इस प्रकार अड़तीस वर्ष के लम्बे राज्यकाल में फिरोजशाह ने जो तरीके अपनाए उनमें राजनीति बुद्धिमता की कमी रही। दक्षिण सदैव के लिए तुगलक साम्राज्य से अलग हो गया। बंगाल व सिन्ध पहले की तरह विद्रोही रहे। आगे चलकर तो विशाल साम्राज्य के साथ–साथ विशाल सशस्त्र सेना भी लुप्त हो गई। फिरोजशाह तुगलक के खर्चे आम से अधिक बढ़ चुके थे क्योंकि आय का मुख्य स्त्रोत अमीरों तथा सैनिकों को पास चला गया था।

सन् 1388 ई. में फिरोजशाह की मृत्यु पर उत्तराधिकार के लिए युद्ध छिड गया। दशा बिगड़ती गई। 1394 ई. तक कन्नौन से पूर्व का भाग भी तुगलक नियंत्रण से निकल गया। मलिक सरकार ने अनुशासन लाने का प्रयत्न किया किन्तु हताश होकर उसने भी जौनपुर में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। उत्तर में खोखरों के विद्रोह हुए। मालवा तथा खानदेश भी स्वतन्त्र हो गए। रही–सही कसर 1398 ई. में अमीर तैमूर के आक्रमण ने पूरी कर दी। तुगलक सुल्तान को शरण के लिए गुजरात भागना पड़ा। तैमूर के लौट आने पर यह राज्य भी स्वतंत्र हो गया और इस प्रकार 1412 ई. तक तुगलक साम्राज्य का पूरी तरह विघटन हो गया।

13वीं–14वीं सदी में सल्तनत :
(ग) सुल्तान व अमीर वर्ग
13th and 14th Century Sultanate : (c) Sultans and Nobility

शासक के तुरन्त नीचे अमीरों का स्थान था। वे उसकी शक्ति–सम्पन्नता का समर्थन करते थे, किन्तु यदकदा उसके प्रकार्यों को अपने अधिकार में कर लेते थे, और यदि कोई सतारूढ़ वंश निर्बल हो जाता तो वे उसका स्थान ग्रहण पर स्वयं के एक नवीन राजवंश की स्थापना कर देते। इस प्रकार क्योंकि सल्तनत काल में राज्य में इस वर्ग का बहुत प्रभाव था, इसलिए दिल्ली सल्तनत के समय अमीर संगठन, स्वरूप व सुल्तान के साथ उनके सम्बन्ध का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सुल्तान की शक्ति पर अमीर वर्ग का प्रभाव भी कुछ हद तक प्रतिबंधों के रूप में काम करता था। सल्तनत काल में प्राय सभी प्रभावी पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की सामान्य संज्ञा थी—अमीर। इन अमीरों का प्रभाव उस समय अधिक होता जा जब सुल्तान आयोग्य, निर्बल अथवा अल्प–वयस्क होता था, जैसे इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी सुल्तान अमीरों के हाथ की कठपुतली थे। परन्तु बल्बन के समय में अमीर वर्ग आज्ञाकारी से अधिक कुछ नहीं होते थे। अलाउद्दीन जैसे शक्तिशाली सुल्तान ने अमीर व उलेमा दोनों पर अंकुश लग रखा था दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि बल्बन तथा अलाउद्दीन के काम में इन प्रतिबंधों का विशेष प्रभाव नहीं रहा। इस काल में अमीर प्रायः प्रत्येक राजवंश अथवा प्रमुख सुल्तान के साथ बदलते रहते थे। इस कारण एक ओर उनमें सदा नए रक्त का प्रवेश होता रहा था और दूसरी ओर उन्हें वंशानुगत महत्व प्राप्त करने का अवसर नहीं मिलता था। आमतौर पुराने अमीर मार डाले जाते थे या फिर छोटे पदों पर कर दिए जाते थे और धीरे–धीरे वे नगण्य हो जाते थे।

अमीरों का महत्व सुल्तान की कृपा पर निर्भर होता था। उन्हें प्रायः स्थानांतरित किया जाता था। यद्यपि उस काल की विशिष्ट राजनीतिक स्थिति के कारण उनको आंतरिक शासन में पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती थी पर शासन के लिए प्रदत्त क्षेत्र उनकी पैतृक सम्पत्ति नहीं बन जाते थे। अमीरों का महत्व सुल्तानों को गद्दी पर बैठाने व उतारने वाले के रूप में बना रहा। इस काल में अमीरों में प्रायः पारस्परिक ईर्ष्या तथा गुटबंदी रहती थी। इस कारण उनका प्रभाव घटता–बढ़ता रहता था प्रायः वे विघटनकारी शक्तियों का संवर्द्धन एवं नेतृत्व किया करते थे। इस प्रकार मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था एवं राजवंशों के उत्थास व पतन में अमीर वर्ग का सक्रिय योगदान था। भारत पर तुर्क विजय के परिणामस्वरूप जहां एक तरफ राज्य के स्वरूप में परिवर्तन आया, वहीं दूसरी और अमीर वर्ग की सृष्टि हुई जो अपने उद्भव के प्रारम्भ में जातीयता व धर्म का आधार लिये हुए थे।

मंत्रीगण, सचिवगण, सुल्तान की गृहस्थी के अधिकारी या यों कहें कि वास्तव में राज्य के समग्र उच्चाधिकारी सल्तनत के अमीर वर्ग में आते थे। सैद्धांन्ति रूप से कोई भी व्यक्ति अमीर बनने की आकांक्षा कर सकता था। इस श्रेणी में प्रवेश पाने के लिए कोई अर्हताएं निश्चित नहीं थीं। सामान्यत वह अपने सेवाकाल का प्रारम्भ सुल्तान अथवा अमीरों के गुलाम के रूप में करता था तथा अपनी योग्यता व शासकीय अनुकम्पा से विभिन्न पदों पर कार्य के पश्चात् अमीर पद को अर्जित करता था। ऐबक, इल्तुमिश और बल्बन जैसे व्यक्ति निम्न स्थिति से ऊंचे उठे। व्यवहारिकतः ऐसी स्थिति तक, पहुंचने के लिए एक अमीर से आशा की जाती थी कि वह एक सैनिक नेता, बुद्धिमान व योग्य व्यक्ति हो।

अमीरों के दर्जे में खान, मलिक और अमीर होते थे। चूंकि सल्तनत सैनिक शक्ति पर आधारित थी, खान, मलिक और अमीर की पदवियां सेना संबंधी दर्जे प्रकट करती थे।

राज्य के उच्च अधिकारी होने के कारण अमीर–गण शासक वर्ग के सदस्य समझे जाते थे और ये वे स्तंभ थे जिन पर सुल्तान की सत्ता टिकी थी। **बरनी** उनका महत्व समझते हुए कहता है यदि अमीर–वर्ग उच्च कुलोत्पन्न, उच्च वंश के और सच्चरित्र होगा तो शासन का कार्य अस्थिर न होगा? अव्यवस्था उत्पन्न न होगी और प्रशासन के सूत्र ढीले न होंगें। किन्तु हम देखत है कि अमीरगण पूरे तुर्की काल में द्विमुखी संघर्ष में रत रहे।

एक ओर उनमें परस्पर शक्ति प्राप्ति को लिए अनवरत संघर्ष चलता रहा तो दूसरी ओर अमीरो और सुल्तान के मध्य वास्तविक सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष चलता था। ऐसा इस कारण से था कि भारत के सुल्तान ऐसा शासकीय–यंत्र नहीं विकसित कर पाए जिसके अनुकूल अमीर अपने को ढाल सकते या जिसके अन्तर्गत वे अपने को सुरक्षित अनुभव कर पाते। यदि सुल्तान अमीरों को

शक्ति से आंतकित थे, तो अमीर–वर्ग भी निरन्तर सुल्तान से, जिसकी सद्–इच्छा पर उनकी प्रतिष्ठा, उनका सम्मान यहां तक कि उनका जीवन निर्भर रहता था, आंतकित रहते थे।

इल्तुतमिश के अन्तर्गत अमीरों ने बहुत शक्ति प्राप्त कर ली थी। उसके **चहलगानी** दल का राजकीय मामलों में बहुत प्रभाव था। वास्तव में तुर्की कुलीनतंत्र ने शासक पर अपना आधिपत्य तक स्थापित कर लिया था और बल्बन उनकी शक्ति से आशंकित हो उठा था। उसने उन्हें कुचल डालने का प्रयत्न किया किन्तु उसकी सफलता आंशिक ही रही। खिलजियों के सत्तारूढ़ होने के साथ ही अमीरों ने जो कुछ क्षति उनकी शक्ति को पहुंची थी, उसे पुनः प्राप्त कर लिया; प्रथमतः इसलिए कि जलालुद्दीन ने खलजी क्रांति के समय उनका समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। और दूसरे सुल्तान स्वभाव से अत्यन्त दयालु था पर अलाउद्दीन के समय अमीर वर्ग का प्रभाव कम हो गया। वह गुप्तचरों द्वारा अमीरों की गतिविधियों पर पूर्ण नियंत्रण रखता था। तुगलक काल में भी अमीरों का प्रभाव बना रहा। उसके शासनकाल में अमीरों द्वारा किए गए विद्रोह कुछ विशेष कारणों से हुए थे। इस प्रकार समस्त समस्याओं के बावजूद सल्तनत काल के दौरान राजपद सत्ता व शासन की धुरी बना रहा व सुल्तान की शक्ति पर अमीर वर्ग का प्रभाव कुछ हद तक प्रतिबंधों के रूप में काम करता रहा।

नवागन्तुक एवं स्थानीय अमीरों ने मिलकर सल्तनतकालीन अमीर वर्ग का गठन किया। **के. एम. अशरफ** उन भारतीय इतिहासकारों में प्रथम हैं जिन्होंने तुर्क अमीर वर्ग के संगठन एवं स्वरूप का अध्ययन किया। अशरफ के अनुसार तुर्क अमीर वर्ग को दो प्रमुख समूहों में विभक्त किया जा सकता है–प्रथम उलेमा एवं द्वितीय उमरा। यद्यपि इन प्रमुख समूहों के अतिरिक्त अमीरों के छोटे समूह भी थे, किन्तु प्रतिष्ठा व प्रभाव की दृष्टि से यह समूह उक्त समूहों की तुलना में नाम मात्र का था, अतः अशरफ इन इन्हें महत्वहीन कहकर अध्ययन से परे रखा। वस्तुतः कुलीन वर्ग के अध्ययन के अन्तर्गत इन निम्न श्रेणी के लोगों को महत्वपूर्ण न समझना पूर्णतः उचित प्रतीत नहीं होता।

दिल्ली सल्तनत में अमीरों का वर्ग सर्वाधिक शक्तिशाली था जिसने भारत में तुर्क विजय को सफल बनाया। वास्तव में तुर्क अमीरों की गौरी अमीरों के विरुद्ध श्रेष्ठता द्वारा प्राप्त की गई (गजंनी के पास) विजय से ही प्रमाणित हो गई थी। तुर्क–अमीरों का जीवन सुंल्तान अथवा अन्य अमीरों के गुलाम के रूप में में प्रारम्भ हुआ तथा अपनी स्वामिभक्ति व योग्यता के आधार पर उन्होंने अमीर पद को प्राप्त किया। अमीरों के व्यक्तिगत पद एवं दरबार में प्राप्त प्रतिष्ठा (स्थान) का निर्धारण, इक्ता, मरातिव तथा उपाधि के आधार पर होता था। वस्तुतः अमीर का पद एवं इक्ता वंशानुगत नहीं था वरन् सुल्तान की इच्छानुसार इसे छीना व कम–अधिक किया जा सकता था। उसे या तो स्वामिभक्ति अथवा विद्रोही की स्थिति में जीना पड़ता था। **के. एम. अशरफ** के अनुसार इस तरह अमीर वर्ग का स्थान वेतनभोगी नौकरशाही के समकक्ष था जिसका सर्वशक्तिशाली सुल्तान की उपस्थिति में कोई अलग से अस्तित्व संभव नहीं था।

यद्यपि **के. एम. अशरफ** ने उलेमा वर्ग का भाग माना है, तथापि इस वर्ग की कार्य–पद्धति के स्वरूप के आधार पर इसे अमीर वर्ग के अन्तर्गत मानना तर्कसंगत नहीं है। राजनीति में हिस्सा लेना उलमा का प्रधान न होकर गौण कार्य था और सामान्यतः ताज व अमीरों के मध्य के संघर्ष में यह शक्तिशाली वर्ग को अपना समर्थन प्रदान करते थे।

सल्तनकालीन अमीर वर्ग का संगठन

मुहम्मद हबीब के इस कथन में काफी सत्यता है कि प्रारम्भिक चरण में भारतीय, तुर्क गुलाम शासक वर्ग के सामुदायिक परिवार में रूप में था। कुछेक खलजी व ताजिक अमीरों को छोड़कर इस वर्ग के अधिकांश सदस्य तुर्क थे। तुर्क अमीरों को चूंकि सुंल्तान मुइज्जुद्दीन साम (मुहम्मद गौरी) का संरक्षणं प्राप्त था अतः उन्हें हिन्दुस्तान के सर्वाधिक उपजाऊ प्रदेश प्रदान किये गये, जहां वह अपनी सत्ता को सुदृढ़ कर सकते थे। इसके विपरीत खलजी अमीरों की नियुक्ति आसाम, बिहार व बंगाल जैसे दूरस्थ क्षेत्रों में की गई और इस इन्हें राजनीति के प्रमुख केन्द्र से दूर धकेल दिया गया। यह जातीय संरचना कैकूबाद के शासनकाल तक तुर्क अमीर वर्ग की महत्वपूर्ण विशेषता रही।

महत्व की दृष्टि से इल्बरी तुर्क अमीर वर्ग के बाद ताजिक अमीरों का स्थान था, जिसके सदस्य दरबार में महत्वपूर्ण पद प्राप्त किये हुए थे। मध्य एशिया में मंगोल अतिक्रमण के कारण कुलीन वंश के बहुत से युवराज (शहजादे) तथा अमीर परिवार के लोग हिन्दुस्तान में आकर बस गये जहां इल्तुतमिश एवं उसके उत्तराधिकारियों ने उन्हें सम्मनित पद प्रदान किए। इतिहासकार **मिनहाज-सिराज** ने उन **ताजिक** अमीरों के नामों का उल्लेख किया है जो इल्तुमिश के शासनकाल में सेवारत थे। इनमें ख्वारिज्व के शाहजादा मालिक फीजरोजशाह इल्तुतमिश, तुर्कीस्तान के शाहजादे मालिक अलाउद्दीन जानी एवं मालिक इज्जुद्दीन हमजा अब्दुल जलाली के नाम उल्लेखनीय हैं। बजीर निजामुल्मुल्क कमालुद्दीन जुनैदी तथा उसका नायब ख्वाजा मुहाज्जबुद्दीन भी

ताजिक थे। रुकनुद्दीन फीरोज शाह के शासनकाल में अन्य ताजिक अमीरों का विवरण भी प्राप्त होता है यद्यपि इल्तुमिश के उत्तराधिकारियों के शासनकाल में बहुत से ताजिक अमीरों के अपदस्थ कर दिया गया था, तथापि सुल्तान नासिरूद्दीन के शासनकाल में बहुत से ताजिक अमीर उच्च पदों पर प्रतिष्ठित थे तथा इमामुद्दीन रैहान के पतन में इन्होंने इल्बरी अमीरों का साथ दिया था।

पेशकशी अमीरों की संख्या काफी बड़ी थी तथा ये दरबार में उपस्थित रहते थे। परन्तु इनका राजनीतिक क्रियाकलाप प्रभावहीन था। लखनौती के मुक्तिराय दानूज ने तुगरिल पर अधिकार के समय बल्बन की सहायता की थी। बल्बन ने इसके बदले में उसे दरबार में सम्मलित किया। इससे यह अवश्य प्रतीत होता है कि बल्बन ने हिन्दू पेशकंशी अमीरों के क्षेत्रों में हस्तक्षेप नहीं किया, यद्यपि दरबार में उनका प्रभाव बहुत कम था। कैकूबाद के शासनकाल में पेशकशी की राजाओं की संख्या भी काफी अधिक थी।

अमीरों में अन्य महत्वपूर्ण वर्ग ऐबीसीनियायी अमीरों का था। कुतुबद्दीन ऐबक के शासनकाल में अवध के मुक्ति मलिक काम्याज–जो सम्भवतः ऐबीसीनियाई था–को लखनौती के खलजी अमीरों को दण्डित करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। अन्य अमीर सिन्धु एवं देबरम के मुक्ति मलिक सिनानुद्दीन चातिसर (हब्श) इल्तुतमिश की सेवा में नियुक्त किया था। वास्तव में सुल्तना रजिया के शासनकाल में ऐबीसीनियाई अमीर प्रभुत्व में आये। वस्तुतः जमालुद्दीन की हत्या इस तथ्य को स्पष्टतः प्रमाणित करती है की **इल्बारी तुर्क**–अमीर वर्ग आसानी से अपने वर्ग से बाहर के व्यक्ति के सल्तनत के साथ सम्पर्क को स्वीकार नहीं कर सकते थे। याकूत की हत्या की पश्चात् ऐसा लगता था कि दरबार में कुछ समय के लिए ऐबीसीनियाई गुट का प्रभाव कम हो गया था किन्तु सुल्तान अलाउद्दीन मसूदशाह के शासनकाल में कुछ समय के लिए इनके प्रभाव में पुनः वृद्धि हो गई थी।

इल्बरी तुर्की के शासनकाल में नव मुस्लिम, धर्म–परिवर्तित मंगोलों का भी अमीर वर्ग में महत्वपूर्ण स्थान था तथा शासनकाल के अन्तिम वर्षों में इनका प्रभाव और बढ़ गया था। बल्बनकालीन अमीरों की सूची में दो मंगोल अमीरों को सरिश्तादारी मेमाना व सरिश्तादारी मैसारा का पद प्राप्त था तथा एक अन्य को भी उच्च पद मिला हुआ था। कैकूबाद के शासनकाल में मंगोल मुसलमानों को अनेक महत्वपूर्ण पद प्राप्त थे। वस्तुतः इल्बारी अमीर नव मुस्लिम अमीरों से द्वेष रखते थे तथा उन्होंने अनेक अमीरों को मरवा डाला था।

इल्बारी शासनकाल में अफगान अमीरों का भी समावेश हुआ। पृथ्वीराज चौहान के विरुद्ध मुहम्मद गौरी द्वारा सचालित सेना में अफगान दल की संख्या बारह हजार बताई गई है। अफगान दल का नेता मालिक महमूद लोदी था, जिसके भाई मलिकशाह को भी गौरी का आश्रय प्राप्त था। **नैमत उल्लाह (मुखजान-ए-अफगानी)** के अनुसार मुहम्मद गौरी ने स्यालकोट की नींव डालने के पश्चात् इसे बसाने का कार्य मालिक शाह को सौंपा था। गौरी ने मालिक महमूद को काफी प्रतिष्ठित किया तथा उसे नवीन क्षेत्र प्राप्त करने का भी अधिकार प्रदान किया। लोदी की सत्ता का प्रारम्भ इसी समय से माना जाता है। कुतुबद्दीन ऐबक ने भी अफगानों को संरक्षण प्रदान किया तथा अनेक अफगानों को अमीर पद पर नियुक्त किया। वस्तुतः इल्तुतमिश के शासनकाल से लेकर बल्बन के सिंहासनारूढ़ होने तक अफगानों को कोई विशेष महत्व नहीं मिला था किन्तु बल्बन के शासनकाल में इनकी शक्ति एवं प्रभाव में काफी वृद्धि हुई। बल्बन का अफगानों पर गहरा विश्वास था तथा उसकी सेना में तीन हजार अफगान सैनिक थे, जिन्होंने कोहपया के हिन्दुओं के विरुद्ध अपनी सैनिक शक्ति का सफलता के साथ प्रदर्शन किया। उसने नव–निर्मित जलाली–दुर्ग भी अफगानों को प्रदान कर दिया था।

वस्तुतः तेरहवीं शताब्दी में अमीर वर्ग में गैर–तुर्क अमीरों का समावेश हो गया था, पर तुर्क अमीरों का स्थान सर्वोच्च बना रहा था सही अर्थों में शासक वर्ग का निर्माण करते थे।

खलजीकालीन अमीर वर्ग

जातीय आधार पर अमीर वर्ग का गठन खलजी काल में आकर काफी कमजोर हो गया था। जलाउद्दीन खलजी ने बल्बनकालीन अमीर वर्ग के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई, तथापि महत्वपूर्ण पदों का बंटवारा उसने खलजियों में किया, जिनमे अधिकांश उसके सम्बन्धी थे। पुरातन इल्बारी अमीर वर्ग ने विद्रोह के रूप में अनेक बार अपनी असन्तुष्टि का प्रदर्शन किया परन्तु यह नेतृत्व व संगठन के अभाव में उन्हें असफलता का ही मुंह देखना पड़ा।

जलाउद्दीन के अल्प शासनकाल में नव मुसलमानों को बड़ा आश्रय प्राप्त हुआ। वास्तविकता यह है कि बहुत से नव मुसलमान जो बल्बन के शासनकाल में पदों पर आसीन थे उन्हें यथावत् रखा गया, किन्तु ये अधिकांशत जलाउद्दीन के शासन के द्वितीय वर्ष में शामिल हुए। चंगेज खां के पौत्र अब्दुल्ला ने 1291-92 में हिन्दुस्तान विजय के लिए कूच किया, परन्तु उसके एवं जलाउद्दीन के बीच समझौता हो जाने से यह संकट टल गया था। सुल्तान ने अपनी एक पुत्री का विवाह अब्दुल्ला के एक प्रमुख सेनापति जन्यु के साथ सम्पन्न किया। अन्य बहुत से अमीरान–ए–हजरा एवं अमीरान–ए–सादा मंगोल इस्लाम स्वीकार करने के पश्चात देहली में बस गये थे। सुल्तान जलाउद्दीन ने उनका वेतन निश्चित किया तथा इक्ता व इनाम के रूप में उन्हें गांव प्रदान किया। ये लोग इन्द्रप्रस्थ तथा किलोखारी एवं गियासपुर मौहल्लों में बस गये थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नव–मुसलमान अमीरों ने सल्तनत

खलजी के शासनकाल में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अलाउद्दीन खलजी के नकारात्मक व्यवहार ने नव–मुस्लिम अमीरों को महत्वहीन कर दिया।

अलाउद्दीन ने इस व्यवस्था की कमजोरी व शक्ति की जानकारी ठीक तरह से प्राप्त कर ली थी तथा बल्बन की तरह ऐसे किसी गुट को समाप्त करने की चेष्टा की जिसने उसका अवरोध किया। उसने केवल इल्बरी अमीरों को ही नहीं कुचला अपितु जलाउद्दीन खलजी के प्रति समर्पित सम्पूर्ण खलजी गुट को भी समाप्त कर दिया था। इस्लाम में परिवर्तित हिन्दू जो अलाउद्दीन के शासनकाल में ऊंचे पदों पर आसीन हो रहे थे, अमीर वर्ग में बड़े शक्तिशाली दल के रूप में विकसित हो गये। मलिक नायक काफूर हजार दिनारी, खुसरां खां, मलिक शाहिन (नायब बारबाक), मलिक एक लखी एवं मलिक अहमद झितम का जीवन इस बात को प्रमाणित करता है कि इस्लाम में परिवर्तन हिन्दू अमीरों का जीवन गुलाम की स्थिति से प्रारम्भ हुआ था। वास्तव में अलाउद्दीन ने अपने खलजी अमीरों की शक्ति पर अंकुश रखने के लिए अमीरों के इस नवीन वर्ग को प्रोत्साहन दिया था। वस्तुतः मुबारक शाह के शासनकाल के दौरान यह वर्ग काफी प्रभावशाली था, किन्तु शक्ति प्राप्त करने के उत्साह एवं प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करने के प्रयत्नों ने इन्हें पतन की ओर धकेल दिया।

यद्यपि **बरनी** ने जलालुद्दीन के अमीरों में ऐसे कई नामों का उल्लेख किया है जो विदेशी थे तथा भारत में बस गये थे। परनतु यह सन्देहास्पद है कि इन अमीरों ने किसी शक्तिशाली गुट का निर्माण किया हो। इसके कारण स्पष्ट हैं। एक शताब्दी के तुर्क शासनकाल के दौरान ऐसे बहुत से कुलीन परिवारों का उद्भव हो चुका था जिनके पास प्रशासन में उच्च पद प्राप्त करने के बहुत से अवसर थे क्योंकि यह अपने समर्थन में काफी प्रभावपूर्ण साधन जुटा सकते थे। अतः विदेशी अमीर वर्ग इन स्वामिभक्त अमीरों से ऊंचे नहीं उठ सकते थे।

अफगान जिन्होंने इल्बरी शासनकाल में अपना प्रभाव स्थापित करने की ओर कदम रखा था, खलजी शासकों के अन्तर्गत और भी प्रगति की। अलाउद्दीन खलजी ने इन्हें अपने अमीर वर्ग में प्रवेश दिया। अफगान अमीरों में सबसे प्रमुख मलिक इख्तियारुद्दीन यल अफगान था। वह सुल्तान मुबारक शाह के शासनकाल तक प्रतिष्ठित पद पर बना रहा तथा खुसरो खां के नेतृत्व में बाबर के विरुद्ध अभियान में उसने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अलाउद्दीन के शासनकाल में मौलाना अब्दुल करीम शेरवानी अन्य प्रतिष्ठित अफगान अमीरों में से एक था जो अपनी विद्वत्ता के लिए भी प्रतिष्ठित था।

तुगलककालीन अमीर वर्ग

तुगलक शासन के प्रारम्भ होने के साथ ही नस्ल व जतीयता का सिद्धान्त पूर्णतः समाप्त हो गया क्योंकि ऐसे बहुत से शक्तिशाली तत्व कार्य कर रहे थे जो किसी एक वर्ग को सर्वशक्तिमान होने देना नहीं चाहते थे। सर्वप्रथम स्वयं तुगलक हिन्दुस्तान के लिए नवीन थे तथा खलजी शासन से पूर्व कुलीन वर्ग में मुश्किल से इनका कोई स्थान था। द्वितीय तुगलक शासक का खलजी अमीरों पर निर्भर होना आवश्यक था, क्योंकि उन्हें सत्ता में लाने के लिए खलजी अमीरों ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया था। मुहम्मद बिन तुगलक की वृहद् प्रशासनिक उदारता की नीति ने भी नस्ल के सिद्धान्त को काफी कमजोर कर दिया था। मुहम्मद तुगलक ने विदेशियों, हिन्दू मंगोल, अरब व खुरासानियों को काफी प्रोत्साहन दिया परन्तु स्वयं के विरुद्ध संगठित होने का उन्हें अवसर प्रदान नहीं किया। इसी तरह इसके बावजूद कि उसके प्रति उच्च वर्ग में तिरस्कार एंव घृणा की भावना घर कर गई थी–विशेषकर उलेमा वर्ग में उसकी सभी विषयों में, अपनी निर्णय को सर्वोच्च रखा। इस नीति के परिणामस्वरूप मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के समय उसका अमीर वर्ग मुगलों, अफगानों, हिन्दुस्तानी आदि विभिन्न जाति के लोगों से संगठित था। इन सभी ने फीरोज तुगलक को सर्वसम्मत्ति से मुहम्मद तुगलक के उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकृति प्रदान की।

फीरोज ने अमीरों की इस स्वामिभक्ति को उचित इनाम देकर सम्मानित किया। उसने सच्चे अर्थों में बहुजातीय अमीर वर्ग के संगठन को स्वीकृत प्रदान की। उसके सद्भाग्य से इस व्यवस्था ने सुचारू ढंग से कार्य किया। यह अमीर स्वानिभक्तिपूर्वक प्रशासिक व सैनिक कर्त्तव्य को निभाते रहे अपने स्वार्थों से अधिक राज्य हितों को महत्व दिया। इस तरह से सुल्तान फीरोज तुगलक के शासनकाल में नस्ल व जातीयता जो अमीर वर्ग के निर्णयक तत्व थे, का स्थान ताज के प्रति स्वामिभक्ति ने ले लिया था। किन्तु शाही स्वामिभक्ति व एकता के अनुबंध के अभाव में अमीर वर्ग अपने सदस्यों के व्यक्तिगत स्वार्थ व महत्वाकांक्षा का शिकार बन गया। इस तरह से अमीर वर्ग का आधार शाही सेवा व सुल्तान के प्रति स्वामिभक्त बनने से पूर्व इसे अनेक चरणों में से गुज़रना पड़ा। यद्यपि जातीयता का आधार, जो सल्तनतकाल के प्रारम्भ में प्रमुख सिद्धान्त था, धीरे–धीरे समाप्त हो गया था, परन्तु इल्बारी कालीन वंशानुगतता का सिद्धान्त प्रबल होता चला गया।

वंशानुगतता का सिद्धान्त हिन्दुस्तान के लिए नवीन नहीं था तथा जातीय रूढिवादिता के कारण यह मुस्लिम पद्धति के अन्तर्गत स्वीकृत सिद्धान्त से अधिक दृढ था।. इल्तुतमिश के शासनकाल के दौरान जिसे इतिहासकार 'सशक्त की सफलता' के सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत करते हैं, अमीरों के उच्च पद पर पहुंचने के लिए वंशानुगत तत्व को प्रमुख स्थान दिया गया। इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों ने वंशानुगत सिद्धान्त को वह इज्जत नहीं जो उसने प्रदान की जी, किन्तु बल्बन के शासनकाल

में वंशानुगत सिद्धान्त को प्रमुख महत्व प्राप्त हुआ। बल्बन ने वंश परम्परा को अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्रदान किया तथा वह स्वयं को **फरिश्ताई** शासक अफरासियाब का वंशज बताता था। **एस. बी. पी. निगम** के अनुसार वह स्वयं निगन वंश से सम्बन्ध रखता था, अतः उसने इस सिद्धान्त को अद्वितीय महत्व प्रदान किया जिससे वह अमीरों के मध्य अपने को उच्च वंश का होने के तथ्य के प्रति विश्वास पैदा कर सके। वस्तुतः बल्बन के पुत्र कैकूबाद के शासनकाल में नौकरशाही के बहुत से सदस्य जो बल्बन के शासनकाल में उच्च पद प्राप्त नहीं कर सके थे, मलिक का पद प्राप्त करने में सकल हुए।

खलजी एवं तुगलक शासनकाल के दौरान–जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है–उच्च राजनीतिक एवं धार्मिक पदों के लिए वंशानुगतता एवं योग्यता को आधार माना गया। इसका प्रमुख कारण यह था कि दोनों में से किसी भी वंश के सुल्तान गुलाम नहीं थे। परन्तु एक शताब्दी के गुलाम वंश के शासनकाल में वंशानुगत अमीर वर्ग का निर्माण हो गया था, जो आर्थिक लाभ–प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते थे। अपनी स्थिति को बनाये रखने के लिए सुल्तान की अनुकम्पा प्राप्त करना इनके लिए आवश्यक था और इस प्रयत्न में इनके बीच आपसी संघर्ष भी उत्पन्न हो जाते थे। फीरोज तुगलक के शासनकाल में बहुत से पुराने अमीरों एवं उनके पुत्रों को इक्ता एवं उच्च पद प्राप्त हुए। इस प्रकार इस काल में आकर वंशानुगत अमीरों का एक विशिष्ट वर्ग बन गया।

उक्त विवरण का यह अर्थ बिलकुल नहीं कि सुल्तान के लिए अपने गुलामों अथवा कृपापात्रों को अमीर बनाने का मार्ग रूक गया था। मलिक मकबूल, किवाम–उल–मुल्क, बशिर सुल्तानी आदि अमीरों का निर्माण सुल्तान की अनुकम्पा से हुआ था। यह इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि नवीन एवं निम्नस्तरीय तत्वों का अमीर वर्ग में शामिल होना स्वाभाविक था। एक बार एकाधिकारवादी नौकरशाही में शामिल होने के लिए पश्चात् अमीरों के वंशजों का अमीर वर्ग में वंशानुगत आधार पर स्थान बन जाता था।

इस तरह यह स्पष्ट है कि सल्तनतकाल में अमीर वर्ग की रचना एवं पुनर्रचना होती रही। अमीर वर्ग के संगठन के निर्माण में वंशानुगत एंव सुल्तान की अनुकम्पा से रचित अमीरों का आधिपत्य रहा। वस्तुतः अमीरों के इस संगठन में व्यापारी, पेशकारी, जमींदार तथा राय एवं विद्वान् लोगों का एक बड़ा वर्ग शामिल नहीं था। यद्यपि दरबार में इनको कोई प्रतिष्ठा का पद प्राप्त नहीं था किन्तु अपने धन के बल पर तथा विद्वत्ता की उपलब्धियों के आधार पर समाज में इनका महत्वपूर्ण प्रभाव था। धनाढ्य व्यापारी वर्ग एव विद्वान् अपनी उपलब्धियों के बावजूद दरबार में प्रभावपूर्ण पद नहीं रखते थे, तथापि समाज में तथा विशेषकर कुलीन वर्ग में इनकी प्रतिष्ठा थी। धनाढ्य व्यापारी वर्ग, एवं अमीर वर्ग सुल्तान का पक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता था जिससे समाज में उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो सके। **जियाउद्दीन बरनी** ने दिल्ली के एक शाह का उल्लेख किया है जो साहूकारी के व्यवसाय से धनाढ्य बन गया था तथा उसके आसामियों में राजधानी के उमरा भी शामिल थे। ब्राह्मणों एवं ठाकुरों में जो धनाढ्य थे, अमीरों की तरह रहन–सहन का ढंग अपना लिया था किन्तु व्यावहारिकता में इन्हें अमीर वर्ग का सदस्य कहना उचित नहीं।

राजस्व व्यवस्था के अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि राज्य के राजस्व स्रोत को अलाउद्दीन के शासनकाल में नियमित स्वरूप प्रदान किया गया और राज्य द्वारा प्राप्त राजस्व अमीरों में विभक्त किया जाने लगा। इन क्षेत्रीय इकाइयों को इक्ता तथा इसे प्राप्त करने वाले को मुक्ता अथवा इक्तादार कहा जाता था, जिसके विषय में अन्य अध्याय में लिखा जा चुका है। यह उल्लेखनीय है कि इक्ता व्यवस्था के स्वरूप–परिवर्तन का अमीर वर्ग की संरचना से सीधा सम्बन्ध था। प्रथम चरण में अमीर वर्ग की संरचना नोमद–तुर्की मूल के गुलामों एवं उनके परिवार तक सीमित थी जिसे **जियाउद्दीन बरनी** ने 'इल्तुतमिश के चालीस अमीरों की संज्ञा दी है। किन्तु अलाउद्दीन की राजशाही निरंकुशता के अन्तर्गत अमीर वर्ग की संरचना के स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। पुराने अमीर वर्ग को समाप्त कर दिया गया। 'नवोदित' भारतीय तुर्क, भारतीय गुलाम तथा विदेशी आगन्कों न राजकीय तत्र में अपनी प्रधानता स्थापित की। इस तरह अलगाव की समाप्ति के साथ ही साथ अमीर वर्ग का स्थिर स्वरूप भी समाप्त हो गया। अलाउद्दीन खलजी के शासनकाल के दो दशकों में अमीरों के तीन वर्गों के एक के बाद दूसरे के सत्ता में आने का विवरण **बरनी** द्वारा दिया गया। इससे भी अधिक भावुक प्रवृत्ति मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में देखने को मिलती है, जिस काल में बड़ी संख्या में विदेशियों को प्रशासन में भर्ती किया गया। इससे भी अधिक संख्या में भारतीय एवं नवोदित मुस्लिम–हिन्दुओं की भर्ती की गई। वास्तव में इस कार्य का उद्देश्य पुराने अमीर वर्ग का अस्तित्व समाप्त करना था।

इरफान हबीब के इस कथन में बडा सार है कि अमीर वर्ग की संरचना में इतना परिवर्तन इक्ता–व्यवस्था की प्रकृति के कारण ही संभव था। **एस. बी. पी. निगम** ने अपने अध्ययन में इस बात को स्पष्टतः प्रमाणित किया है कि अमीर वर्ग का कोई भी सदस्य किसी भी क्षेत्र विशेष पर अपना व्यक्तिगत दावा नहीं रखता था। क्षेत्र विशेष पर उसका अधिकार होना और उससे उसे हटा दिया जाना सुल्तान की इच्छा पर निर्भर करता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि सुल्तान द्वारा इन अधिकारों को अपने पास केन्द्रित करने का स्वाभाविक परिणाम उसके अधिकारों में असीमित शक्ति का निहित होना था, और इसके लिए शोषण की नवीन पद्धति को स्थापित करना आवश्यक था। फीरोज के शासनकाल में इस भावना का पूर्ण प्राधान्य था। उसने सार्वजनिक रूप से सरदारों के लिए वंशानुगत नीति को अपनाने की घोषणा की। विशेषकर बड़ी संख्या में अपने यहां गुलामों को भर्ती करने की नीति के कारण सभी नवीन तत्वों को अमीर वर्ग से अलग रखा गया। अमीर वर्ग के लोगों के अधिकारों को पूर्णतः सुरक्षित करने का प्रयत्न लोदी शासनकाल में सर्वाधिक प्रगति हुई। लोदी शासनकाल में अफगान प्रजातीय मुखियों ने अमीर वर्ग का निर्माण किया जिसमें

संबंधित क्षेत्र पर वंशानुगत अधिकार था। वास्तव में अफगान अमीरों का सुल्तान के प्रति संबंध एवं अपने अधिकृत क्षेत्रों पर वंशानुगत अधिकार राजपूतकालीन शासन नीति का स्मरण कराता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि पूर्व सल्तनतकालीन अमीर वर्ग की अपेक्षा सल्तनतकालीन अमीर वर्ग अपने स्वरूप में नागरिक था। चूंकि इक्तादारों का क्षेत्र विशेष पर अधिकार अस्थायी होता था, अतः वे किसी भी ग्रामीण क्षेत्र पर अपनी सत्ता को केन्द्रित नहीं कर सकते थे। अधिकांश अमीर अपना स्थायी मुकाम राजधानी दिल्ली में अथवा बड़े नगरों में रखते थे जो उनके इक्ताओं से दूर होता था। इन परिस्थितियों में यह स्वाभाविक था कि वह अपने क्षेत्र का भू–राजस्व नकदी में वसूल करें। अन्यत्र यह लिखा जा चुका है कि अलाउद्दीन खलजी ने वस्तु के रूप में राजस्व का आदेश प्रेषित करने के बावजूद यह व्यवस्था रखी थी कि राजस्व के रूप में प्राप्त अनाज को निश्चित मूल्यों पर खलियान से ही महाजन को बेच दिया जाये। चूंकि किसान की बचत राजस्व के अधिकांश भाग की सृष्टि करती करती थी, अतः कस्बों एवं गांवों के बीच व्यापार का विस्तार इस व्यवस्था का स्वभाविक परिणाम था। निस्संदेह राजस्व व्यवस्था की कार्य–पद्धति के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों से बड़ी मात्रा में उत्पादनों का विकास होता था जिसे व्यवहारिक रूप देने के लिए अनाज के व्यापारियों की एक जमात बन गई थी जो मध्यकालीन अर्थतन्त्र के विभिन्न पहलुओं का नियन्त्रण करने लगे थे। आर्थिक विकास का यह तंत्र नगरों के विकास में बहुत ही सहायक रहा।

अमीर वर्ग एवं राजनीति

सुल्तान के प्रारम्भिक वर्षों से ही उमरा (अमीर का बहुवचन) राज्य के आधार–स्तम्भ थे। सुयोग्य एवं कर्त्तव्यापरायण अमीरों का होना सुल्तान के लिए तथा राज्य के वैभव व विकास के लिए कितना आवश्यक था इस तथ्य को **बरनी** द्वारा वर्णित दिल्ली के कोतवाल फखरुद्दीन द्वारा मालिक निजामुद्दीन को (कैकूवाद का प्रमुख सलाहकार) दिये गये उपदेश में स्पष्ट है। अमीर वर्ग की प्रतिष्ठा व महत्व को समझाते हुए शम्सुद्दीन इल्तुतमिश के राज्यकाल का उदाहरण देते हुए कोतवाल फखरुद्दीन कहता है कि 'सुल्तान शम्सुद्दीन ने अनेक बार सबके सामने घोषणा की थी कि मैं किस तरह खुदा के सामने अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकता हूं, क्योंकि उसने मुझे ऐसे सहायक व मित्र प्रदान करके सम्मानित किया है जो मुझसे हजार गुना अच्छे हैं। सुल्तानों के निश्चित किये गये नियमों के अनुसार वे मेरे आगे–पीछे चलते–फिरते रहते हैं, मेरे सामने अपना हाथ फैलाते हैं और मेरे सामने दरबार में खड़े रहते हैं। मुझे उनकी प्रतिष्ठा व सम्मान के कारण लज्जा आती है और मेरी यह इच्छा होती है कि राज्यसिंहासन से नीचे उतर कर उनके हाथ–पैर चूम लूं।

निस्संदेह सल्तनत के विस्तार एवं उसके सुदृढ़ीकरण में अमीरों का (महत्वपूर्ण) योगदान रहा। राज्य के प्रति समर्पित अमीर जो गुलाम वंश के सुल्तानों के वर्ग के सम्बद्ध थे, राज्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए थे तथा जनसाधारण की तरह सुल्तान की इच्छा के मातहत नहीं थे। एक सुंसगठित दल के रूप में इनका उद्भव इल्तुतमिश के शासनकाल में हुआ जिसे 'चालीस अमीरों के दल' के नाम से जाना जाता है।

इल्तुतमिश की कार्यदक्षता व जागरूकता ने अमीरों को पूर्णतः नियंत्रित रखा। किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् (अप्रैल 30, 1236) अमीरों के बीच सत्ता प्राप्ति के लिए प्रतिस्पर्द्धा आरम्भ हुई। **बरनी** के अनुसार इल्तुतमिश की मृत्यूपरान्त उसके चहलगानी गुलाम शक्तिशाली बन बैठे। चालीस गुलामों में से प्रत्येक एक क्षेत्र पर अधिकार जमाये हुए था। उनमें से कोई भी एक–दूसरे से आगे सिर न झुकाता था और न ही दूसरे का आधिपत्य स्वीकार करता था। वे चाहते थे कि सबका अधिकार, इक्ता, प्रभुत्व एवं वैभव एक–दूसरे के बराबर रहे। प्रत्येक अमीर अपने शुभचिन्तक को गद्दी पर बिठाकर राजसत्ता पर नियंत्रण करने का आकांक्षी था। इस तरह अलाउद्दीन खलजी से पूर्व ही अमीरों की शक्ति एवं उनके संगठन का उद्भव प्रारम्भ हो गया था। वस्तुतः इल्तुतमिशकालीन अमीरों के स्वच्छन्द व्यवहार एवं कार्यों से राज्य को जो हानि हो रही थी, उसके प्रति सुल्तान गयासुद्दीन बल्बन पूर्ण जागरूक था। यद्यपि बल्बन ने सुल्तान बनने तक (1266 ई.) चहलगानी अमीरों के संगठन व प्रभाव को योजनाबद्ध तरीके से कुचल दिया था, लेकिन उसने अमीरों के पद एवं प्रतिष्ठा की महत्ता को समुचित स्थान, दिया। बल्बन ने अपने पुत्र खाने शहीद को वसीयतें देते समय इस बात से सतर्क किया था कि कोई भी साम्राज्य अमीरों के सहयोग के बिना फलीभूत (समृद्ध) नहीं हो सकता। 'यदि कुलीन तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति अपमानित हो जायेंगे तो इससे जो दुःख उन्हें पहुंचेगा उसकी पूर्ति किसी प्रकार नहीं हो सकेगी। यदि कुलीन तथा प्रतिष्ठित लोगों का अनादर करेगा तो मेरे राज्य में खराबी पैदा हो जाएगी.....दूसरों की आलोचना करने वालों तथा अन्य लोगों के कार्यों में त्रुटियां ढूंढ़ने वालों को कोई उच्च पद प्रदान न कर, उन्हें अपने निकट न फटकने दे।' इस तरह बल्बन अमीरों के विकास अथवा उनके अस्तित्व का विरोधी नहीं था, किन्तु अमीरों के सामूहिक संगठन का पनपना राज्यहित–विरोधी मानता था। इस नियम का उसने अपने प्रभावशाली एवं राज्यकाल में पालन किया। इस तरह एक अस्थायी अवधि तक अमीरों की शक्ति पर अंकुश लगा, किन्तु बल्बन के मरणोंपरान्त वे राजसत्ता पर पुनः हावी हो गये।

सिंहासनारूढ़ होने के बाद अलाउद्दीन ने विदेशी अमीरों के आतंक पर अंकुश रखने के उद्देश्य से भारतीय अमीरों को शासक वर्ग में शामिल किया तथा उन्हें पद प्रदान किये। उसके उत्तराधिकारी ने भी इसी नीति का अनुकरण किया। वस्तुतः दरबार में भारतीय

अमीरों के दल के अतिवादी आचरण तथा खुसरो खां एवं उसके सहयोगियों के व्यवहार ने सामान्य मुस्लिम मानस को रुष्ट क दिया जो भारतीय मुस्लिम प्रधानता से आतंकित होकर उनके विरुद्ध कार्य करने लगे। इन परिस्थितियों ने कुशल गयासुद्दीन तुगलक को, खुसरो खां को पदभ्रष्ट कर अपना राज्य स्थापित करने का अवसर प्रदान किया। उसने अनुभव किया कि विदेशी तुर्क तथा भारतीय अमीर दोनों ही सत्ता के भूखे हैं। अतः गयासुद्दीन ने भारत के बाहर मुस्लिम क्षेत्रों से भर्ती करने के विचार क कार्यरूप में परिणत किया। भारतीय एवं तुर्क मूल के अमीरों के दावों की अनेदेखी करते हुए, उसने विदेशियों को आमंत्रित कर तथा उच्च पद प्रदान करने में अत्यधिक उत्सुकता दिखाई। अपनी इस नीति के परिपालन में सुल्तान इस सीमा तक बढ़ गया कि उसने सामान्य पढ़े–लिखे विदेशी को भी राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर दिया। हिन्दुस्तान में आने वाले ये विदेशी सयुक्त रूप से 'आइज्जा' के नाम से जाने जाते थे। यदि इन्होंने परिस्थितियों का लाभ नहीं उठाया तो यह उनकी गलती थी। इन विदेश अमीरों की स्वार्थसिद्धि एवं धनलोलुपता ने मुहम्मद बिन तुगलक को अमीरों के प्रति अपनी नीति में पुनरावलोकन करने का विवश किया। विदेशी मुसलमानों एवं भारतीय अमीरों के उदाहरण तथा अनुभव ने मुहम्मद बिन तुगलक के समक्ष एक ही विकल्प छोड़ था कि वह धर्म एवं नस्ल की परवाह किये बिना हिन्दुस्तान के सामान्य लोगों की योग्यता का परीक्षण करे। इस तरह अप शासनकाल के उत्तरार्द्ध में मुहम्मदबिन तुगलक ने अपने प्रशासन को 'प्रजातांत्रिक' रूप प्रदान किया, जिसे सामयिक इतिहासक **बरनी** तथा अन्य को काफी रोष से भर दिया। राज्य के उच्चतम सैनिक व प्रशासनिक पद हिन्दुस्तान की प्रत्येक जाति के लि खुले थे तथा 'योग्यता व कुशलता' पद–प्राप्ति के लिए प्रमुख आधार थे। **बरनी** के कथानानुसार मुहम्मदबिन तुगलक ने एक कमीन गायक के पुत्र नजबा को इतनी तरक्की प्रदान की कि उसकी श्रेणी समस्त मलिकों की अपेक्षा बहुत बढ़ा दी। उसे गुजरात, मुल्तान व बदायूं प्रदान कर दिया। इसी प्रकार उसने अजीज खम्मार, उसके भाई फीरोज हज्जाम (नाई), मनका तब्बाख (बावर्ची), मसऊद खम्मार, लद्धा माली तथा अन्य ऐसे लोगों को, जो निम्न वर्ग थे, सम्मान प्रदान किया। उन्हें उच्च पद तथा इक्ताएं प्रदान कीं। पीर माली की, जो हिन्दुस्तान तथा सिंघ के कमीनों तथा पतितों में सबसे अधिक कमीना एवं पतित था, दीवाने विजारत प्रदान की अ से समस्त मलिकों, वलियों तथा मुक्तों का हाकिम बिना दिया। किशन बाजरन इन्दरी को अवध प्रदेश प्रदान किया। अहमद अया के गुलाम मुकबिल को गुजरात का नायब वजीर नियुक्त किया। यह पद केवल बड़े–बड़े खानों तथा प्रतिष्ठित वजीरों को प्राप्त होता था। मूहम्मद तुगलक की इस नीति के शिकार अमीरों को यद्यपि फीरोज के शासनकाल में सांत्वना प्राप्त हुई, तथापि अमी वर्ग का उक्त रोष किसी न किसी रूप में परिलक्षित होता रहा।

अमीर वर्ग एवं सुल्तानों के मध्य सेवक व शासक के संबंधों की कड़ी किसी कानूनी आधार पर निहित न होकर सुल्तान की सैनिक एवं संगठन शक्ति पर निर्भर थी। सुल्तान के निर्बल होने पर मुक्तों द्वारा अपने को स्वतन्त्र करना तथा अधिक शक्ति प्राप्त कर क लिए राज्य–विरोधी कार्य करना तत्कालीन राजनीति का स्वाभाविक गुण था। वस्तुतः सुल्तानों ने अमीरों के इस अरित्र आकांक्षाओं पर अंकुश रखने के लिए प्रशासनिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण करना प्रारम्भ किया। इसके अन्तर्गत सैनिक प्रशासन द दायित्व दीवान के अधिकार–क्षेत्र से बाहर करना प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार की ओर एक महत्वपूर्ण कदम था। अलाउद्दी खलजी का साम्राज्यवादी व्यवस्था का महत्वपूर्ण गुण उस व्यवस्था का निर्माण था, जिसके अन्तर्गत राज्य की नीतियों को कार्य रू में देने के लिए नौकरशाही की रचना सुल्तान करता था। इस काल के पश्चात् दो अफगान शासकों के काल को छोड़कर रा अधिकारियों की स्थिति शासक के संबंध में सेवक के रूप में बनी रही न कि शासक के भागीदार के रूप में। सभी अधिकारी चा वह दिल्ली सल्तनत के खान, मालिक व अमीर हों, शाही सत्ता के पैदाइशी होते थे।

सुल्तानों, विशेषकर अलाउद्दीन ने अमीर वर्ग के दमन के उपाय किए। प्रथम उसने सम्पत्ति को जब्त करने को प्राथमिकता द खालसा भूमि को कृषि योग्य बनाकर, राजस्व में वृद्धि की तथा अन्य खालसा सुधारों से उनके धन को कम कर दिया। **बरन** लिखता है कि दिल्ली में मलिकों, अमीरों, राजकीय कर्मचारियां, हिन्दू मुल्तानी व्यापारियों तथा हिन्दू साहूकारों के अतिरिक्त अ घरों में सोना नाममात्र के लिए रह गया। दूसरे अलाउद्दीन ने गुप्तचर प्रणाली का संगठन किया। गुप्तचरों के भय से अमीर अप घरों में कांपते रहते थे और दरबार में भी संकेतों से बात करते थे। तीसरे अलाउद्दीन ने दिल्ली में मद्य–निषेध कर दिया। उस स्वयं भी शराब पीना छोड दिया और अमीरों के मद्यपान करने क लिए कठोर दण्ड दिया। जुआ खेलने तथा भाग के सेवन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। अमीरों की मद्यपान सभाओं का अंत करके अलाउद्दीन ने उनके मेल–जोल को बाद कर दिया। चा उसने अमीरों के परस्पर मेल–जोल और उनके आनन्द समारोहों पर रोक लगा दी। उन पर तीन शर्तें लगा दी–

1. सुल्तान अमीर के धन का उत्तराधिकारी होगा।
2. कोई भी विवाह सुल्तान की आज्ञा के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता और
3. अमीरों को बाद उनके पुत्र सुल्तान के दास होंगे।

अध्याय–4

मंगोल समस्या
(Mongol Problem)

भारत में उत्तर में पूर्व से पश्चिम की ओर विस्तृत हिमालय पर्वत है। इन पर्वतों को पार करना एक कठिन कार्य था परन्तु इसके समीप ही खैबर गोगल बोलन आदि कई प्रमुख दर्रे हैं। इन दर्रों से होकर आसानी से आया–जाया जा सकता है प्राचीन व मध्यकाल में इन दर्रों के द्वारा ही भारत पर आक्रमण होते थे। इसलिए प्रायः उत्तर–पश्चिम सीमान्त की रक्षा हेतु इस पर्वत के समीप के प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए काबूल, कन्धार व गजनी पर अधिकार करना परम आवश्यक था। शकों, हूणों फिर तुर्कों ने यहीं से भारत पर आक्रमण करके भारत में मुस्लिम राज्य की नीव रखी। अतः तुर्की सुल्तान उत्तर–पश्चिम सीमा के महत्व से भलीं भांति परीचित के और इस सीमा की रक्षा करना समस्त तुर्की सुल्तानों की नीति रही।

दिल्ली सुल्तानों के समय में उत्तर–पश्चिम सीमा से मंगोलों के लगातार आक्रमण होते रहे। इस कारण सुल्तानों की नीति में प्रायः उत्तर–पश्चिम सीमा की सुरक्षा का सबसे अधिक महत्व रहा। अतीत काल से बर्बरों का एक जाति चीन में गोबी के निर्जन्त व जंगली प्रदेशों में रहती थी। 12वीं–13वीं शताब्दी में मंगोल इतने अजेय हो गए कि उनका नाम ही पूर्व तथा पश्चिम क्षेत्रों में आतंक पैदा कर देता था। विकराल बाढ़ के समान उनके असंख्य झुंड मध्य एशिया के अपने पवतीय घरों से इस टर्की ईरान, अफगानिस्तान व भारत की ओर फैल गए। तुर्कीस्तान के ख्वारिजम शाही व अब्बासी खिलाफत जैसी प्रबल शक्तियां भी समाप्त कर दी गई व अन्तिम खलीफा (अल–मुन्तसिर बिल्लाह) को मार डाला गया। **साइक्स हिस्ट्री ऑफ पर्शिया** में लिखते है कि "इतिहास का कोई भी आक्रमण अपने सुदूरगामी परिणामें में मंगालों के आक्रमणों की तुलना में नहीं ठहरता"।

ये बड़े वीर, निडर व निर्दयी लोग थे, जिन्हे लूटमार करने, आग लगाने व लोगों का वध करने में आनन्द प्राप्त होता था **के. ए. निजामी** फ्रांस के लेखक की पुस्तक हिन्ट्री ऑफ मंगोल (History of Mongols) में से उद्धव कर लिखते है कि "मंगोलों का प्रकट होता कुदरत की एक भयंकर व खुंखार शक्ल का प्रकट होता था न कि मनुष्य के इतिहास का कोई दृश्य।"

प्रारम्भिक सुल्तानों के समय तक तो यह मुल्तान, उच्छ लौहार आदि पर की लूटमार करते रहे पर अलाऊद्दीन खलजी के शासनकाल में तो इन्होंने दिल्ली पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। अतः दिल्ली सुल्तानों के लिए उत्तर पश्चिम सीमान्त होने व्राले मंगोल आक्रमणों ने एक गंभीर समस्या के कारण सदा ही सैनिक वादी नीति को अपनाना पड़ा।

गजनी वंशी शासकों के सामने उत्तर–पश्चिम सीमा सुरक्षा की विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं हुई क्योंकि काबुल, कन्धार, गजनी जैसे सुरक्षा पूर्ण प्रदेश उनके अधिकार थे परन्तु उत्तर–पश्चिम सीमान्त की सुरक्षा का प्रश्न 1206 ई. में सर्वप्रथम कुतुबुद्दीन के सामने आया क्योंकि मुहम्मद गौरी की मृत्यु के बाद याल्दौज़ गजनी का व कुबाचा सिन्ध का स्वामी बना। ऐबक को दिल्ली का राज्य मिला। इस प्रकार सुरक्षा की दृष्टि से गजनी व सिन्ध अन्य दो व्यक्तियों के हाथ में चले गए। याल्दौज को ख्वारिजम शाह से भय था इसलिए वह मुहम्मद गौरी के समस्त प्रदेश को हथियाना चाहता था ऐबक ने कुबाचा से अपनी लड़की का विवाह करके अपनी स्थिति सुदृढ की व लाहौर को अपनी राजधानी बना कर पंजाब की सुरक्षा की। याल्दौज ने लाहौर पर अधिकार करने की चेष्टा की पर ऐबक ने याल्दौज को पराजित गजनी पर अधिकार का लिया। गजनी पर 40 दिन के पश्चात् पुनः याल्दौज का अधिकार हो गया व उसने भविष्य में ऐबक के विरुद्ध कभी आक्रमण न किया। जैसा कि मुहम्मद हबीब कहते हैं कि 'दोनों के संबंधों में कोई कटुता न थी क्योंकि ऐबक याल्दौज का दामाद था।'

ख्वारिज्म के शाह ने गजनी पर अधिकार कर समस्या को फिर से बल दिया व हिन्दुस्तान तथा शाह के राज्यों की सीमाएं सिन्धु नदी से टकराने लगी परन्तु मध्य एशिया में मंगोलों के बढ़ते हुए प्रभाव ने ख्वारिज्म शाह में साम्राज्यवादी भावना न पनपने दी।

इल्तुतमिश ने उत्तर–पश्चिम सीमान्त को सुरक्षित करने की चेष्टा की। इल्तुतमिश उत्तर–पश्चिमी सीमान्त का शुरू में उद्देश्य याल्दौज ने शक्ति को कम करना था। 1215 ई. में याल्दौज ने पंजाब पर आक्रमण किया व लाहौर पर पंजाब के अधिकांश भाग पर अधिकतर कर कुबाचा को भगा दिया। इसी बीच ख्वारिज्म शाह ने गजनी पर अधिकार कर लिया।

याल्दौज ने दिल्ली की तरफ कूच किया व इल्तुमिश व याल्दौज के बीच तराइन के मैदान में युद्ध हुआ जिसमें याल्दौज को बन्दी

बना लिया गया व बदायूं में बंदी बना कर रखा गया जहां कुछ समय बाद उसका वध कर गया। याल्दौज को पराजित करने के बाद 1217 ई. में इल्तुतमिश ने कुबाचा ने युद्ध में पराजित किया व लाहौर पर इल्तुतमिश का अधिकार हो गया पर जैसा कि के. ए. निजामी कहते हैं कि दोनों के बीच 10 साल के लिए एक गुप्त समझौता हो गया व कुबाचा को अपने इलाके में ही रहने दिया गया।

1220 ई. में मंगोल नेता चंगेज खां ने ख्वारिज्म शाह के साम्राज्य को नष्ट कर दिया। ख्वारिज्म शाह जलालुद्दीन ने मंगोलों से भयभीत होकर गजनी भागा। मंगोलों ने वहां भी उसका पीछा किया और वह गजनी छोडकर भारत सीमा में प्रवेश कर गया। सिन्धु सागर दोआब में शरण ली। मंगालों ने सिंधु तो इल्तुतमिश तट पर डेरा लगा लिया। एक तरफ तो इल्तुतमिश को मुसीबत के खतरनाक होने का अच्छी तरह अन्दाजा था व दूसरी तरफ वह अपनी सीमाएं भी अच्छी तरह जानता था। इसलिए उसने दूरदर्शी समझ व चतुराई से काम लिया व एक बहुत मुश्किल स्थिति का बड़ी चतुराई से सामना किया।

संक्षेप में हम कह सकते है कि दिल्ली के तुर्की शासकों की उत्तर–पश्चिमी सीमान्त नीति निजामी अर्थात् मंगालो के प्रति नीति का **के.ए. निजामी** (K. A. Nizami) के अनुसार 3 भागों में बांटा जा सकता है–

1. अलगाव की नीति–1221 ई. से 1240 ई. तक
2. उदासीनता की नीति–1240 ई. से 1266 ई. तक
3. संघर्ष की नीति–1266 ई. से 1335 ई. तक

जब तक चंगेज खां जिन्दा रहा अल्तमश ने मंगोलों के मामलों में हस्तक्षेप न करने भी नीति अपनाई व सिन्ध व मुल्तान पर जहां मगोलों के अपने हित थे अपना अधिकार करने की कोशिश न की। मंगोलों ने भी इस नीति का स्वागत किया व इल्तुतमिश के राज्य पर कोई आक्रमण न किया। इधर जलालुद्दीन मंगबरनी ने 1221 में सिन्धु नदी को पार कर लिया था एव लडाकू खोखरों के साथ मिलकर थानेसर तक पंजाब को जीत लिया। उसके बाद उसने मंगोलों के विरुद्ध एक गठबंधन करने के लिए इल्तुतमिश के संदेश भेजा ताकि उसे अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त हो जाए। इल्तुतमिश ने नम्रतापूर्वक उसका प्रस्ताव ठुकारा दिया और मगोलों के विरुद्ध संघर्ष में शामिल होते से इंकार कर दिया। एक विशाल सेना के साथ उसने मंगबरनी के विरुद्ध कूच भी किया। उसकी सेना को सामना करने में स्वयं का असमर्थ समझकर जलालुद्दीन मंगबरनी ने लाहौर को छोड़ दिया और सिंध में कुबाचा की ओर बढ़ा। उसने कुबाचा को करारी मात दी एवं उच्छ पर कब्जा कर लिया। इस बीच मंगोलों ने भी मुल्तान को घेर लिया।

यहां यह कहना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि चंगेज खां और मंगबरनी दोनों ने अपने दूत दिल्ली भजे थे। यह ज्ञात नहीं कि अल्तमश ने मंगोल दूत के साथ कैसा व्यवहार किया लेकिन मंगबरनी के दूत को मरवा दिया। **के. ए. निजामी** के विचारानुसार शायद इल्तुतमिश ने इस अवसर पर मंगोलों के साथ एक आक्रामक नीति न अपनाने की संधि की जिसके अनुसार दिल्ली सुल्तान मंगालों के किसी दुश्मन को शरण नहीं देगा और मंगोल तुर्की शासकों के राज्य में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। यह इल्तुतमिश का सौभाग्य था कि चंगेज खां ने सिन्ध नदी को पार करने की कोशिश न की व कुछ समय के बाद वह वापिस चला गया। इस तरह इल्तुतमिश ने दिल्ली सुल्तानों के लिए मंगोलों के प्रति नीति के मुख्य सिद्धान्त स्थापित किये। इसके अनुसार दिल्ली सुल्तानों ने मध्य एशियाई राजनीति से दूर रहने और मंगोलों को किसी तरह से उत्तेजित न करने के सिद्धान्त अपनाए। इसी के अनुसार इल्तुतमिश ने उत्तर–पश्चिम में अपनी गतिविधियों को सीमित रखा। चंगेज खां की मृत्यु को बाद 1228 ई. में ही उसने कुबाचा से सिंध को जीत लेने का निश्चय किया एवं उच्छ को घेर लिया। तीन महीनों की घेराबंदी के बाद इस पर कब्जा कर लिया। कुबाचा भागकर भक्खर चला गया। कुछ ही समय बाद जब इल्तुतमिश ने भक्खर की ओर कूच किया तो कुबाचा भागते हुए सिंधु नदी में डूबकर मर गया। इस तरह इल्तुतमिश का नियंत्रण न केवल सिन्धु नदी तक फैल गया बल्कि समुद्र तक समस्त मुल्तान व सिंध भी उसके नियंत्रण में आ गया। इस प्रकार दिल्ली राज्य व मंगोलों के बीच जो मध्यवर्ती राज्य था उसका अन्त हो गया व इल्तुतमिश मंगोल ताकत के बिल्कुल आमने–सामने हो गया। लेकिन इल्तुतमिश को शक्ति संगठन के लिए कुछ समय अवश्य मिल गया क्योंकि चंगेज खां के बेटों के बीच आपसी युद्ध छिड़ गया और इस समय में इल्तुतमिश ने अपनी अन्दरूनी ताकत एकत्रित करने व मजबूत करने की कोशिश की।

इस प्रकार चंगेज की मृत्यु के बाद मंगोल लोग अपने आंतरिक मामलों में एवं खुरासान और ईरान पर अपनी विजय को पक्का करने में कुछ समय के लिए इतने अधिक अधिक व्यस्त हो गए कि उन्हें भारत के विषय में सोचने का समय ही नहीं मिला। फिर भी 1234 ई. में ओकताई ने, जो चंगेज खां के बाद तुर्किस्तान का शासक बना था, हिन्द और कश्मीर पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस खतरे का मुकाबला करने के लिए इल्तुतमिश नमक पर्वत मालाओं में स्थित बनियान तक जा पहुंचा। परन्तु इल्तुतमिश बीमार पड़ गया और अपनी राजधानी लौट आया जहां शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई।

इल्तुमिश की मृत्यु के शीघ्र बाद गजनी का भूतपूर्व हकिम वफा मलिक जिसे मंगोलों ने खदेड़ दिया था। भारत आया एवं उसने समस्त कोह–ए–जूद को अपने नियंत्रण में कर लिया। कोह–ए–जूद को अपने नियंत्रण हेतु मंगोलों और वफा मलिक, जिसके राजवंश को कुरलूग राजवंश कहा जाता है के बीच एक लंबा युद्ध चला जिसमें जब कभी संभव हुआ तब दिल्ली के सुल्तानों ने भी हस्तक्षेप किया। सन 1246 ई. तक करलूग भारत छोड़ चुके थे किन्तु उस समय तक कोह–ए–जूद मंगोलों का एक गढ़ और भारत पर उनके भावी आक्रमणों का अड्डा बन चुका था।

दिल्ली के निवासियों को मंगोल खतरे की गंभीरता का एहसास उस समय हुआ जब सन् 1240 ई. में में **ताइर बहादुर** के नेतृत्व में एक मंगोल सेना ने लाहौर को घेर लिया। ताइर बहादुर हिरात गजनी और अफगानिस्तान का सेनानायक था। लाहौर का तुर्क गवर्नर इख्तियारूद्दीन कराकशखान किसी घेराबंदी का सामना करने की हालात नहीं था और उसकी कठिनाई इस कारण और भी बढ़ गई कि लाहैर के बहुत से निवासी व्यापारी थे जो मंगोल द्वारा नियंत्रित प्रदेशों में नियमित रूप से हाकिम व्यापार करते थे एवं मंगोलों और मंगोलों द्वारा बदला लिए जाने के डर से हाकिम की सहायता करने के लिए तैयार नहीं थे। साथ ही, दिल्ली से भी सहायता मिलने की कोई आशा नहीं थी, जहां रजिया की मृत्यु के बाद घोर अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। अतः हाकिम ने लाहौर नगर को त्याग दिया जिस पर कब्जा करने के बाद मंगोलों को वहां के नागरिकों के घोर विरोध का सामना करना पड़ा। माना जाता है कि तीस–चालीस हजार मंगोल और ताइर बहादुर समेत उनके कई सेनानायक मारे गए। मंगोलों ने इसका भारी प्रतिशोध लिया। उन्होंने लाहौर नगर का विनाश कर दिया एवं वहां के समस्त नागरिकों को मार डाला या गुलाम बना लिया। उसके बाद अचानक पीछे लौट गए क्योंकि मंगोल शासक भानि का–खान, ओकताई, की मृत्यु हो चुकी थी। यद्यपि लौहर पर दिल्ली का पुनः कब्जा हो गया किन्तु अगले 20 वर्षों तक लाहौर वीरानी की हालत में रहा क्योंकि कई बार मंगोलों और उनके खोखर सहयोगियों न उस पर हमला किया।

अलाउद्दीन मसूद शाह (1240-42 ई.) के शासनकाल में लाहौर को नए सिरे से संगठित करने की कोशिश की गई और लाहौर की इक्ता भुजबेक तुगरिल खां के अधीन रखा गया परन्तु नगर निर्जन बना रहा और बल्बन के राज्यारोहण के पश्चात् उसका पूर्णतया पुनर्निर्माण और पुनर्वास कराना पड़ा। मसूद के समय से यह प्रदेश सीमा हो गया और उसकी अन्तर्वर्ती रेखा मोटे तौर पर रावी नदी थी। अन्त में कराकश की अपील के उत्तर में जो सेना भेजी गई वह लाहौर की ओर सेनाओं की रक्षा करने के लिए भेज दी गई।

सिन्ध में भी मंगोलों के आक्रमण की प्रतिक्रिया ने दिल्ली के प्रभाव को खतरे में डाल दिया। चगताई मंगोल जिनका अफगानिस्तान पर नियन्त्रण था और जो कोह–ए–जूद में केन्द्रित थे, ब्यास नदी तक छापे मारते रहे जो उन दिनों सतलुज नदी के उत्तर में बहती थी एवं मुल्तान और उच्छे के बीच चिनाब नदी के साथ मिलती थी। बहादुर ताइर के बाद मंगूता अफगानिस्तान कमान का अधिकारी नियुक्त हुआ। उसने हसन करलुम को सिन्ध से निकाल भगाने के लिए सिन्ध नदी को पार किया। करलुग ने जल्दी से मुल्तान छोड़ दिया और दक्षिण सिन्ध में भाग गया। तब मंगोलों ने उच्छ की ओर ध्यान दिया जो कबीर खां द्वारा खाली कर दिया गया था। नागरिकों ने वीरतापूर्वक प्रतिरक्षा की परन्तु अन्त में उन्होंने देखा कि अकेले प्रतिरोध करना कठिन है, इसलिए उन्होंने दिल्ली से सहायता के लिए निवेदन किया। नायब उलुग खां (बल्बन) ने तुरन्त इस अवसर का लाभ उठाया और उनकी सहायता के लिए स्वयं एक शक्तिशाली सेना लेकर प्रस्थान किया। व्यास के उत्तरी तट पर पार्श्विक गति से उसने ऊपरी सिन्ध सागर दोआब से होकर मंगालों का जो वापिस जाने का मार्ग था उसको जोरिवम में डाल दिया। जब मंगोलों ने इस खतरे को महसूस किया और जब उन्हें दिल्ली की विशाल सेना की सूचना मिली तब उन्होंने घेरा उठा लिया और अनेक कैदियों को पीछे छोड़ कर वे सिन्ध नदी के पार चले गए।

उच्छ और मुल्तान पर भी उलुग खां ने निर्विरोध अधिकार कर लिया। इन दोनों नगरों को उसके कश्लू खां की अधीनता में छोड़ दिया और स्वयं अपनी सेना लेकर उत्तर की ओर प्रस्थान किया क्योंकि वह उन पर्वतीय जनजातियों को दण्ड देना चाहता था जिन्होंने हाल में लाहौर में लूटमार की थी और मंगोलों को सहायता भी दी थी। लेकिन मसूदशाह को गद्दी से हटाने को लिए दिल्ली में चल रहे घटनाक्रम के कारण उलुग खां को अपनी सैनिक कार्यवाही को स्थगित कर जल्दी दिल्ली लौटना पड़ा।

उलुग खां के प्रयत्न पश्चिमी की परिस्थिति में अल्पमात्र ही परिवर्तन कर सके। अगले वर्ष (1246 ई.) **साली बहादुर नूइन** के नेतृत्व में मंगोलों का पुनः आक्रमण हुआ और एक बार फिर सिन्ध पर दिल्ली का अधिपत्य निष्प्रभाव कर दिया गया। तब आक्रमणकारियों ने मुल्तान का जोदार घेरा डाल कर वहां के सूबेदार चंगेज खां को संधि वार्ता आरम्भ करने के लिए बाध्य किया। नागरिकों की तरफ से मंगोलों से अनुनय–विनय कर 100,000 दीनार हरजाना देने का प्रस्ताव रखा गया। साली नूइन ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया व घेरा उठाकर लाहौर गया जिसके सूबेदार को ऐसा ही आर्थिक दान देकर अपनी उन्मुक्ति खरीदनी पड़ी। वह मंगोलों का

करद शासिक होने के लिए भी सहमत हो गया इस तरह दिल्ली सल्तनत का मंगोलों के साथ नीति का दूसरा चरण **तुष्टिकरण की नीति** प्रारम्भ हो गया।

मंगोल आक्रमणों को नियंत्रित करने के लिए बल्बन ने सैनिक और कूटनीतिक दोनों प्रकार के कदम उठाया। उसने हलाकू के पास एक दूत भेजा। हलाकू ईरान का मंगोल इल–खान था जो तुर्किस्तान व मावराउन्नहर पर नियंत्रण रखने वाले ओगताइ–चगताई शाखा के अतिरिक्त चंगेज के उत्तराधिकारियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति था। हलाकू ने 1260 ई. में जवाब में अपना एक दूतमंडल भेजा जिसका बल्बन ने शानदार स्वागत किया। हलाकू ने दण्ड की चेतावनी देते हुए अपने अधिकारियों को भारत पर आक्रमण न करने का सख्त आदेश दिया था किन्तु इस आश्वासन को अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि हलाकू की सारी ताकत उस समय पहले की तरह ही ईराक, सीरिया और मिस्र पर विजय प्राप्त करने के प्रयास में लगी हुई थी। उसे 1260 ई. में मिस्र की सेना से करारा धक्का लगा जिसके कारण सीरिया से भी मंगोलों के पांव उखड़ गए।

1266 ई. में बल्बन दिल्ली सल्तनत का सुल्तान बना। इस समय तक हलाकू की मृत्यु हो चुकी थी और मंगोलों और दिल्ली सुल्तान के बीच अस्पष्ट या शिथिल समझौते ओर सद्भवना का अन्त हो गया। किन्तु इस कारण स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। एक समझदार व अनुभवी कूटनीतिज्ञ होने के कारण उसने मंगोलों का सामना करने की नीति को अपनाते हुए कई उपाय किए व अपनी सारी शक्ति सरहदों को बचाने में प्रयोग में लायी। तारीखे फिरोजशाही के अनुसार:–

1. मंगोलों की चाल–ढाल पर नजर रखने के लिए बल्बन हर रोज शिकार व दूसरे बहाने बनाकर रिवाड़ी तक जाता था
2. वह सुरक्षा के कार्यों की स्वयं जांच करता था।
3. शेर खां को सीमांत क्षेत्र का सेनानायक बनाया गया जो लाहौर, सुनाम, दीपालपुर आदि के इक्तों पर नियंत्रण रखते हुए मंगोलों को विरुद्ध ढाल का काम कर रहा था।
4. आरम्भ में ही बल्बन ने एक आक्रामक नीति अपनाई। दोआब में सड़कों को ठीक कराने के बाद वह अपनी सेना के साथ कोह–ए–जूद की ओर बढ़ा। उसने भारतीय भू–खंड और उसके आसपास के क्षेत्रों को तहस–नहस कर दिया और भारी संख्या में घोड़े पकड़े जिसके कारण दिल्ली में घोड़ों की कीमत काफी कम हो गई।
5. सन् 1270 ई. में उसने लाहौर के किले के पुनर्निर्माण का आदेश दिया किन्तु उसके कुछ ही समय बाद बल्बन ने शेर खां को जिस पर उसे शक हो गया कि वह स्वतन्त्र होने के सपने देख रहा है, जहर देकर मरवा दिया।
6. उसके बाद सीमांत प्रदेशों की रक्षा का भार अपने बड़े पुत्र शहजादा मुहम्मद को सौंपा। वह एक सुयोग्य व शक्तिशाली राजकुमार था और ऐसा प्रतीत होता है कि बल्बन के शेष काल के दौरान जिसमें मंगोलों के आक्रमण का सिलसिला चलता रहा, लाहौर तथा मुल्तान में शहजादे द्वारा की गई प्रतिरक्षात्मक व्यवस्था ही लागू रही जिसमें ब्यास नदी सामरिक प्रतिरक्षा की सीमारेखा थी। **बरनी** का कहना है कि मंगोलों ने उसके बाद कभी भी ब्यास के पार के क्षेत्रों पर आक्रमण करने की कोशिश की छोटे–मोटे युद्ध होते रहे परन्तु इससे सल्तनत ने उत्तर–पश्चिम सीमा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

1279 में मंगोलों ने भारत पर आक्रमण किया व सतलुज पार कर ली। परन्तु शहजादा मुहम्मद व बुगरा खां की सयुक्त सेनाओं ने मंगोलों को परास्त कर खदेड़ दिया पर 1285 ई. ने मंगोल नायक **तैमूर खां** ने एक प्रबल आक्रमण किया उसने लाहौर व दीपालपुर को लूटा व बर्बाद किया। मुहम्मद उनका सामना करने आगे बढ़ा व मंगोलों को भयभीत कर दिया। परन्तु वह मंगोलों की रणनीति का शिकार हुआ व मारा गया। मुहम्मद की मृत्यु से बल्बन को इतना सदमा पहुंचा कि अगले ही वर्ष अर्थात् 1286 में वह स्वयं भी चल बसा।

मुहम्मद की मृत्यु के बाद भी मंगोल किसी भाग पर अधिकार करने में सफल न हुए। मुहम्मद के बेटे खुसरो ने कमान सम्भाली सीमा पूर्ववत सुदृढ़ बनी रही। इससे यह स्पष्ट है यद्यपि बल्बन मंगोलों की शक्ति को कम करने में सफल नहीं हुआ परन्तु रक्षात्मक व्यवस्था सफल रही और मंगोल दिल्ली सल्तनत के किसी नए हिस्से पर अधिकार करने में असफल रहे

बल्बन के बाद बैकुबाद की अयोग्यता के बावजूद यह रक्षात्मक प्रणाली ज्यों को त्यो बनीं रही। **फरिश्ता** का कहना है कि जब कैखुसरो को हटा दिया गया तो कैखुसरो ने मंगोल सेनापति तैमूर खां से मदद मांगी पर तैमूर बल्बन की रक्षात्मक व्यवस्था से परिचित था इसलिए उसने कैखुसरो को मदद देने से इंकार कर दिया। कैकुबाद के समय मंगोलों के दो आक्रमण मुल्तान तक हुए

पर हुए। दूसरे आक्रमण में मंगोलों ने **तैमूर खां** के नेतृत्व में मुल्तान से लाहौर तक के क्षेत्र पर आक्रमण किया व समाना तक के क्षेत्र को उजाड़ दिया परन्तु मलिक बेकतर्स ने रावी के किनारे मंगोलों को पराजित किया।

बल्बन ने उत्तर पश्चिम–सीमा का जो ठोस प्रबन्ध किया था उसी वजह से या फिर मंगोलों व दिल्ली सल्तनत में जो एक आपसी समझौता था, उस वजह से मंगोलों ने खल्जियों से पहले दिल्ली पर कभी आक्रमण नहीं किए। परन्तु बाद में अपनी नीति बदल दी। **खलजी वंश के अधीन मंगोल समस्या**–उत्तर पश्चिम से होने वाले मंगोल लुटेरों के आक्रमणों से अलाउद्दीन की सैनिक कार्यवाहियों में बहुधा बाधा पहुंचती रही। इल्तुतमिश से लेकर जलालुद्दीन खिलजी के समय तक हिन्दुस्तान के शासकों को उनसे मोर्चा लेने के लिए अपनी शक्ति केन्द्रीभूत करनी पड़ी। किन्तु यह सब निरर्थक सिद्ध हुआ। केवल अलाउद्दीन ही ऐसा था जो इस देश पर हुए कुछ विकराल मंगोल आक्रमणों के सफलतापूर्वक पीछे ढकेल सका। अलाउद्दीन खिलजी के सिंहासन पर आने से पहले मंगोलों का उद्देश्य केवल लूटमार करना था और वे भारत वे सीमान्त प्रदेशों, मुल्तान, सिंध व पंजाब को ही लूटना चाहते थे परन्तु खिलजियों के समय के दिल्ली को जीतना चाहते थे। खिलजियों से पहले जो मंगोलों के आक्रमण हुए वे फारस के इलखानों द्वारा भेजे गए पर अलाउद्दीन के काल में जो भारत पर आक्रमण हुए वे ट्रॉंस आक्सियाना (Transoxiana) के शासक, द्वारा भेजे गए। दवा खां को मध्य एशिया में अपने पारस्परिक भ्रातृयुद्धों से जब भी अवकाश मिला उसने भारत पर आक्रमण किया। दवा खां जो अपने विरोधियों के विरुद्ध बहुधा असफल रहा, और वह अब भारत में भी अपना भाग्य आजमाना चाहता था और उसने लगातार कई अभियान भारत पर भेजे।

जलालुद्दीन के शासनकाल में मंगोलों ने भारत पर आक्रमण किया। सुल्तान ने पूर्णतः उनको हराने में असमर्थ पाकर उनसे समझौता कर लिया। किन्तु अलाऊद्दीन के समय हुए आक्रमणों की तुलना में यह समस्त आक्रमण गौण थे और भारत का यह सौभाग्य था कि इस देश पर हुए ये विकट प्रहार ऐसे समय हुए जब अलाऊद्दीन जैसा शक्तिशाली सुल्तान शासक था।

अलाऊद्दीन के समय मंगोलों का पहला आक्रमण 1296-97 में **कदर** के नेतृत्व में हुआ। आक्रमणकारी उत्तर–पश्चिम से घुस आए। **अमीर खुसरो युद्ध** के स्थान का नाम 'जरन मंजूर' देता है जबकि **बरनी** निश्चित रूप से कहता है कि युद्ध जालंधर की सीमा पर लड़ा गया। उलुग ख़ां व जफर खां को सेना के साथ मंगोलों से युद्ध करने के लिए भेजा गया। इस युद्ध में असंख्य मंगोल मारे गए व बंदी बनाए गए। मंगोलों पर इस विजय से अलाई राज्य की धाक जम गई।

1299 में जब उलुग खां व नुसरत खां गुजरात को अधीन करने में व्यस्त थे साल्दी के अधीन मंगोल पुनः हिन्दुस्तान के सीमांत में प्रकट हुए। इस आक्रमण का वर्णन **बरनी**, इसामी व **फरिश्ता** द्वारा किया गया है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि **अमीर खुसरो** इसका जरा भी उल्लेख नहीं करता। सिविस्तान पर साल्दी व उसके भाई ने अधिकार जमा लिया था। जफर खां बड़ी सेना लेकर सिविस्तान पहुंचा व किले को घेर लिया। किले पर अधिकार कर लिया गया। इस आक्रमण का वर्णन करते हुए **फरिश्ता** कहता है कि 'दवा खाँ' व उसके भाई साल्दी ने सिविस्तान अधिकृत कर लिया पर **बरनी** 'साल्दी व उसके भाई' का ही जिक्र करता है। **बरनी** व **फरिश्ता** बाद में कहते हैं कि साल्दी व उसका भाई बंदी बना लिए गए व जंजीरों से बंध कर दिल्ली भेज दिया गए। उनका भाग्य क्या हुआ, किसी इतिहासकार द्वारा नहीं दिया गया। पर जैसे कि K. S. Lal कहते है कि यदि यह बात मस्तिष्क में रखी जाए कि राज्य के ऐसे शत्रुओं को अलाउद्दीन ने कभी नहीं छोड़ा तो सरलता से उनके अन्त का अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु Dara Khan 1306 तक जीवित था। इसलिए **फरिश्ता** का अनुमान कि साल्दी के साथ दूसरा सेनानायक उसका भाई दवा खां था। त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। **बरनी** बताता है कि इस विजय के कारण जफर खां की धाक सभी के हृदय में बैठ गई व सुल्तान व उसके भाई उलुग खां उसकी वीरता, साहस एवं बहादुरी के कारण उससे ईर्ष्या रखनी आरम्भ कर दी। सुल्तान इस विषय पर विचार करने लगा कि किस प्रकार जफर खां के रास्ते से हटाया जाए? या तो उस पर कृपा दृष्टि दिखाकर लखनौती भेज दिया जाय या विष दे दिया जाये या उसे अंधा करवा कर अपने से पृथक कर दिया जाए। किन्तु नई राजनीतिक घटनाओं ने उसका उद्देश्य कम निर्दयता से और अपेक्षाकृत अधिक सरलता एवं स्वभाविकता से पूरा कर दिया।

1299 के अन्त में दवा के पुत्र कुतलुग ख्वाजा ने हिन्दुस्तान पर सिविस्तान की हार का बदला लेने के लिए आक्रमण कर दिया। **बरनी** के अनुसार उन्होंने सिन्ध नदी पार कर ली व मार्ग के प्रदेशों का नाश किए बिना दिल्ली के निकट पहुंच गए। दिल्ली वालों को इससे बहुत चिन्ता हो गई। कोतवाल अलाउल्मुल्क ने सुल्तान को मंगोलों के साथ सन्धि करने की सलाह दी पर सुल्तान ने एक सैनिक के रूप में अपने मान की रक्षा की व मंगोलों से युद्ध करने की ठानी। अलाउद्दीन ने कोतवाल से कहा मैने शहर की कोतवाली तुझे दे दी। मुझे या इन्हें जिस किसी को भी विजय प्राप्त हो, उसी का आज्ञाकारी हो जाना। तू इतनी बुद्धि व समझ रख कर यह नहीं जानता कि युद्ध को टालने तथा युक्ति से कार्य करने का अवसर उस समय होता है जबकि शत्रु तैयार होकर पहुंच

न चुका हो। जब शत्रु इतनी सेना लेकर पहुंच जाए तो फिर इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं कि उसका सामना किया जाए सुल्तान सेना लेकर कीली पहुंचा। ख्वाजा भी वहीं सेना लेकर आ पहुंचा। मंगोल जफर खां का सामना न कर सके व भाग गए पर वह उनका पीछा करने से बाज न आया। उलुग खां जो बागी ओर का सरदार था शत्रुता के कारण उसकी सहायता को आया व तरगी ने पीछे से आक्रमण कर दिया व जफर को घेर कर उस पर बाणों की वर्षा कर दी ओर वह वीरगति को प्राप्त हुआ। **बरनी** लिखता है कि यद्यपि जफर खां को वीरगति प्राप्त हो गई थी पर जफर के आक्रमण से मंगोल इतने भयभीत हो गए थे कि रात के अंतिम पहर में उस स्थान से चल पड़े। वर्षों तक मंगोलों के हृदय में जफर खां का आंतक बना रहा और जब उनके जानवर पानी न पीते तो वे कहते क्या तुमने जफर खां को देखा है, जो पानी नहीं पीते हो।" के. एस. लाल के अनुसार, "आंतरिक रूप से अलाउद्दीन जफर खां की मृत्यु से आनन्दित ही था और उसने उसकी मृत्यु को दूसरी शुभ घटना माना, जो मंगोलों के पराजय से कम महत्वपूर्ण न थी।"

मंगोल कुछ समय तक तो शांत रहे। प्रथमतः इसलिए उन्होंने भारतीय सैनिकों की शक्ति देख ली थी व दूसरे इसलिए कि वे मध्य एशिया या में अपने आंतरिक मामलों में व्यस्त थे जब अलाऊद्दीन चितौड़ में था, मंगोलों ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने के लिए पुनः शक्ति संचित कर ली। अभी सुल्तान को चितौड़ से लौटे मुश्किल से एक वर्ष हुआ होगा कि मंगोल सेनानायक तरगी ने 30-40 हजार सवारों के साथ हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर दिया व यमुना नदी के तट पर डेरा डाल दिया। राजधानी की स्थिति बहुत संकट में थी। चित्तौड़ के घेरे में शाही सेना को बहुत हानि हुई थी। इसलिए अलाउद्दीन की सेनाएं इस वक्त युद्ध के लिए उपयुक्त नहीं थी। **बरनी** कहता है कि मुल्तान समाना तथा दीपालपुर की सेना इतनी सुव्यवस्थित न थी कि मंगोल की सेना का विनाश कर सकती। हिन्दुस्तानी के लश्कर को बुलवाया गया किन्तु मंगोलों के मार्ग रोक देने के कारण वे कोइल (अलीगढ़, तथा बरन (बुलन्दशहर) के आगे न बढ सकी।" मंगोलों ने यमुना से समस्त मार्गों को रोक दिया था। सुल्तान को विवश होकर थोड़े ही सवार को लेकर शहर से बाहर निकलना पड़ा। सीरी में शिविर लगाए गए। **बरनी** के अनुसार, मंगालों के आक्रमण का भय जितना उस वर्ष दिल्ली में देखा गया। उतना पहले कभी नहीं देखा गया। भय के कारण दिल्ली वालों के लिए बाहर से अन्न, जल लाना भी असंम्भव हो गया था।" दोनों ओर की सेनाओं के अग्रिम दल में 2-3 बार मुठभेड़ हुई पर किसी को भी विजय प्राप्त न हुई। तरगी ने सुल्तानी लश्कर से युद्ध करने का साहस न किया और 2 महीने के बाद अपनी सेना लेकर लौट गया।

मंगोलों के इस तरह वापिस लौट जाने के करण का अनुमान लगाना कठिन नहीं है। यद्यपि **बरनी** इसका श्रेय दरिद्र शेख **निजामुद्दीन औलिया** की प्रार्थनाओं को देता है पर मंगोलों के पलायन का वास्तविक कारण सुल्तान की तुरन्त कार्यवाही है जो शत्रु के सम्मुख किसी दशा में झुकने को तैयार नहीं था और उसने ऐसे उपाय किए कि मंगोल नेता को भी हतबुद्धि (हैरान) कर दिया। द्वितीय इसका श्रेय मंगोलों की मध्य एशिया में व्यस्तता को जाता है जिसके कारण मंगोल हिन्दुस्तान मे अधिक समय न ठहर सके।

तरगी लौट चुका था किन्तु मंगोल संकट सदैव के लिए समाप्त नहीं हुआ था। उनके क्रमबद्ध आक्रमणों ने सुल्तान के मस्तिष्क मंगोल संकट की बात बिठा दी थी। अतः तरंगी के आक्रमण के भय का अन्त हो जाने के पश्चात् सुल्तान असावधानी की निद्रा जागा व दूसरे स्थानों पर आक्रमण करना तथा किलों पर विजय करना रोक दिया व कुछ समय तक अपना सारा ध्यान सुरक्षा की समस्या पर लगा दिया।

1. सीरी में एक महल निर्मित करवाया और सीरी में ही निवास करना आरम्भ कर दिया। सीरी को राजधानी बनाया व आबाद व सुव्यवस्थित किया।
2. दिल्ली की चहारदीवारी का निर्माण करवाया और यह आदेश दिया कि मंगोलों के आक्रमण के मार्ग के जितने भी किले पुराने हो गए हों, उनका पुनः निर्माण कराया जाए।
3. जिस स्थान पर किले की आवश्यकता हो, वहां नया किला बनवाया जाए।
4. किलों में प्रतिष्ठित तथा कार्य कुशल कोतवाल नियुक्त करके उन्हें आज्ञा दी गई कि वे अस्त्र-शस्त्र तैयार रखें सैनिक नियुक्त करें, अनाज तथा चारा पर्याप्त मात्रा में अपने पास एकत्रित रखें।
5. समाना तथा दीपालपुर में बहुत संख्या में चुनी हुई और कार्यकुशल सेना नियुक्त की जाए।
6. मंगोलों के आक्रमण के मार्ग के प्रदेश अनुभवी अमीरों, वलियों तथा प्रतिष्ठित सेनानायकों को प्रदान किए गए।

सुल्तान मंगालों को रोकने के लिए उपर्युक्त उपायों के बाद अपने परामर्शदाताओं से रात–दिन इस विषय पर परामर्श करने लगा कि मंगोलों का विनाश करने के लिए क्या करना चाहिए। सोच विचार के उपरान्त सुल्तान एवं उसके परामर्शदाताओं ने यह निश्चय किया कि बहुत बड़ी संख्या में सेना भरती करनी चाहिए। सभी चुने हुए व अनुभवी सैनिक, सवार तथा अस्त्र–शस्त्र सुव्यवस्थित व तैयार रखने चाहिए। सुल्तान ने परामर्शदाता की सलाह पर बाजार नियंत्रण नीति लागू की व इस तरह चीजों के मूल्य सस्ते कर प्रत्येक सैनिक को 234 टंका व दो अस्पा को 78 टंका। वार्षिक अतिरिक्त देकर 4 लाख 75 हजार की विशाल हजार की विशाल सेना की भर्ती की ताकि मंगोलों का सामना अच्छी प्रकार किया जा सके। इससे मंगोलों के मुकाबले में बहुत सफलता प्राप्त हुई।

मंगालों को भारतीयों से कई बार पराजित होना पड़ा था। 1303 में **तरगी** ने अपनी पराजयों का बदला लेने का प्रयत्न किया था पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। **इसामी** लिखता है कि तरगी ने दूसरी बार आक्रमण किया व दिल्ली को चारों ओर से घेर लिया। वह एक मास तक दिल्ली में प्रवेश करने का प्रयास करता रहा पर सफल न हो सका। एक मास पश्चात् वह निराश होकर वापिस चला गया। किन्तु कोई भी इतिहासकार इसकी पुष्टि नहीं करता। पर 1303 की असफलता से तरगी निराश नहीं हुआ। 1303 में जब **अली बेग, तारतक** ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया तो तरगी भी उनके साथ हो लिया। पर जब उन्होंने झेलम नदी पार की तो तरगी इस्लामी सेना का मुकाबला न कर सका व मारा गया। सम्भवतः यही कारण है कि **बरनी** इस आक्रमण में तरगी के नाम का उल्लेख नहीं करता। अलीबेग व तारतक यह जानकर की राजधानी दृढ़ता से सुरक्षित है, देश के उपजाऊ व समृद्ध प्रदेश दोआब की ओर बढ़ गए। सुल्तान ने मलिक नायक आखुर वक को मंगोलों से युद्ध करने के लिए भेजा। अमरोहे के निकट दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ। मंगोलों की पराजय हुई व अलीबेग बे तारतक को बंदी बना लिया गया उन्हें दरबार में लाया गया गया व **बरनी** के अनुसार बन्दी दरबार में ही हाथियों के पैरों के नीचे कुचल दिया गया।

अगले वर्ष अर्थात् 1306 में अमीर खुसरो मंगोल सेनानायक कुबुक, इकबालमंदा व ताई बू के अभियान का वर्णन करता है। **बरनी** इन्हें 3 आक्रमण में बांट देता है जो **अमीर खुसरो** के अनुसार एक ही आक्रमण के विभिन्न टुकड़ियों के नायक थे। यही अधिक सही प्रतीत होता है क्योंकि **अमीर खुसरो** अपने कथन की पुष्टि **देवलरानी** में भी करता है जिससे प्रतीत होता है कि वह जो कुछ इस सम्बन्ध में लिख रहा था उस बारे में उसे पूरा निश्चय था। इस युद्ध में भी मलिक काफूर व मलिक तुगलक ने पहले रावी के तटं पर कुबक का सामना किया व उसे पराजित कर बंदी बना लिया व फिर नागौर (राजस्थान) की ओर बढ़कर मंगोल सेना के पराजित किया। इकबाल मंदा मारा गया व जो मंगोल बन्दी बना लिए गए व हाथी के पैरों तले कुचलता दिए गए।

के.एस. लाल के अनुसार इस के बाद मंगोलों ने अलाऊद्दीन खिलजी के समय आक्रमण करने का विचार पूर्णतया त्याग दिया। चारों ओर शान्ति हो गई। हिन्दुस्तान के घोर शत्रु दवा खां जिसने भारत पर बार–बार अभियान भेजे, 1306 में परलोक सिधार गया व उसके बाद उसके राज्य (Transaxiana) में गड़बड़ी फैल गई व 3 वर्षों में सिंहासन पर एक के पश्चात् एक 3 **खान-कुमक, कुबक व तलिकु** आसीन हुए। वहां परिस्थितियां इतनी बिगड़ गईं कि दीपालपुर के अध्यक्ष गाजी मालिक ने काबुल व गजनी तक भी अभियान किए व उन स्थानों को लूटा व उजाड़ा।

इस प्रकार जिस मंगोल संकट के भय से अलाउद्दीन के पूर्ववर्ती शासक कांपते थे वह संकट अलाउद्दीन के अटूट निश्चय द्वारा समाप्त हो गया।

के. एस. लाल मानते हैं कि मंगोल संकट का अन्त करने में अलाऊद्दीन की सफलता वास्तव में महान थी। अलाउद्दीन ने अपने दृढ़ निश्चय से व अपनी महान सेना द्वारा उन्हें सिन्धु पार खदेड़ दिया और सामरिक महत्व के इलाकों पर आक्रमण कर भारत में मंगोल संकट का अन्त करने में सफल हुआ। इसके विपरीत यू. एन. डे. का मानना है कि अलाऊद्दीन खलजी अपनी मंगोल नीति के लिए किसी विशेष प्रशंसा के योग्य नहीं। उनका कहना है कि वह मंगोल खतरे को समाप्त करने के लिए कोई नयी नीति बनाने के असंमर्थ रहा। उसकी नीति ममलूक सुल्तान से किसी प्रकार भिन्न न थी। मंगोल खतरे का सामना करने के लिए सिर्फ कुछ सैनिक तैयारी की व सीमान्त किला को सुदृढ़ किया। उनके अनुसार अगर उसके आखिरी दिनों में मंगोलों के आक्रमण कम हुए तो वे इसलिए नहीं कि उसने कोई विशेष मंगोल नति अपनायी बल्कि ऐसा 1306 में दवा खां की मृत्यु के बाद उसके राज्य में उत्पन्न समस्याओं के कारण था।

अंत में यह विचार करना उचित होगा कि मंगोल जिन्होंने एक बार पूर्व तथा पश्चिम को आतंकित कर दिया था जो अलाउद्दीन के समय भी मध्य एशिया में विशाल युद्ध करते रहे, हिन्दुस्तान की सेनाओं से क्यों पराजित होते रहे। इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं:

1. विश्व विजय की भावना जो मंगोल साम्राज्य की प्रेरणादायिनी शक्ति रही है, चंगेज खां के विभिन्न वंशजों के मध्य परस्पर विनाशकारी युद्धों में खो गई थी। खिलजी काल में मंगोलखान मध्य एशिया की अपनी आंतरिक समस्याओं में व्यस्त थे। हिन्दुस्तान के घोर शत्रु दवा खां ने ही मध्य एशिया में लगभग 40 युद्ध लड़े और परिणामतः हिन्दुस्तान की विजय पर अपना पूरा ध्यान न लगा सका।

2. दूसरे भारत पर आक्रमण करने वाले सैनिकों की संख्या अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होती है। लूटमार के लिए स्त्री–पुरुष आक्रमणकारियों के साथ ही रहते थे। यद्यपि इसके कारण आक्रमणकारियों की संख्या अधिक हो जाती थी किन्तु उनकी सैनिक कुशलता कम हो जाती थी। इसके अतिरिक्त अनेक अफगान खोखर भी लूट के लोभ के कारण आक्रान्ताओं के साथ हो लेते थे जो केवल लूट के माल में ही रूचि रखते थे और शायद किसी दीर्घकालीन विजय योजना में उन्हें रूचि न थी। यह मंगोल की पराजय का एक प्रमुख कारण बना।

3. दवां खां, जो मध्य एशिया में व्यस्तता के कारण भारत को संगठित अभियान न भेज सका। 1306 में इसकी मृत्यु के कारण ट्रांसआक्सियाना (Transoxiana) में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। 2-3 साल की अवधि के भीतर ही तीनखान सिंहासनारूढ़ हुए। ऐसी स्थिति में भारत पर नियमित रूप से आक्रमण आयोजित न किए जा सके जो मंगोलों की पराजय का एक प्रमुख कारण बना।

4. इसके अतिरिक्त एक सैनिक के रूप में अलाऊद्दीन ने यह अनुभव कर लिया कि जब तक वह मंगोलों के विरुद्ध आक्रामक नीति नहीं अपनाएगा, तब तक उनको रोकने में पूर्णतया सफल न हो सकेगा। इसलिए उसने सुरक्षा की सर्वोत्तम नीति के रूप में आक्रमण की नीति अपनाई व इससे शत्रु को पराजय हासिल हुई।

5. अन्त में मंगोलों की पराजय का मुख्य कारण यह था कि अलाऊद्दीन व उसके सेनापति युद्धकला में निपुण थे। अलाऊद्दीन का धैर्य संकल्प और सैन्य कौशल और उसका साहस तथा लगन, कोतवाल अलाउल्मुल्क के साथ वार्तालाप से स्पष्ट प्रकट होते हैं। उसने अनेक सुधार किए व एक विशाल सेना संगठित की व मंगोल आक्रमणों को रोकने में कामयाब हुआ।

यद्यपि यू. एन. डे. अलाऊद्दीन को इसके लिए विशेष प्रशंसा के योग्य नहीं मानते पर फिर भी अलाऊद्दीन के दृढ निश्चय से इंकार नहीं किया जा सकता।

इस विजय ने भारत ने भारत में मंगोलों की अजेयता के गौरव को नष्ट कर दिया जिसे मंगोलों ने पहले ही पश्चिम एशिया में 1260 ई. में मिस्र के हाथों अपनी पराजय तथा सीरिया के अपने हाथ से निकल जाने के बाद खो दिया था। सन् 1306 ई. में दवां खां की मत्यु के बाद मंगोलों ने दिल्ली को जीतने में रुचि लेना बंद कर दिया। उन्होंने कटेहर–शिवालिक क्षेत्र में कई आक्रमण किए किन्तु उन्हें पीछे हटने के लिये विवश किया गया जिनमें भारी संख्या में मंगोल हताहत हुए। **बरनी** के अनुसार, मंगोलों ने दिल्ली अथवा उसके आसपास के क्षेत्रों पर जब कभी भी आक्रमण किया तब वे पराजित हुए। मंगोलों के विरुद्ध इस्लामी सेनाओं का आत्मविश्वास इतना अधिक बढ़ गया था कि दु–अस्पा (दो घोड़े) दर्जे का एक अकेला सैनिक दस मंगोलों की उनकी गर्दनें रस्सियां बांधकर (कैदी रूप में) ले आता था और "एक अकेला मुसलमान घुड़सवार सौ मंगोल घुड़सवारों को भागने के लिए मजबूर कर देता था।" मंगोलों द्वारा उजाड़े गए क्षेत्रों में धीरे–धीरे पुनः खेती की जाने लगी। कहा जाता है कि लाहौर और दीपालपुर मंगोलों के लए 'चीन की दीवार की तरह' अलंघ्य बन गए। उक्त क्षेत्र के सेनानायक तुगलक शाह उर्फ गाजी मलिक ने पश्चिम पंजाब में मंगोल नियंत्रित क्षेत्रों पर सिंधु नदी तक कई आक्रमण किए और ये आक्रमण इतने सफल रहे कि इन क्षेत्रों में रहनेवाले लोगों के हृदय से मंगोलों का आंतक पूरी तरह निकल गया। **बरनी** के अनुसार, मगोलों को सिंधु नदी पार करने का साहस नहीं होता था। यह कथन, जैसा कि आगे की घटनाओं से ज्ञात होगा, एक अतिशयोक्ति थी।

इस प्रकर अलाउद्दीन ने न कवल दिल्ली और दोआब की मंगोल खतरे से रक्षा की बल्कि ऐसी स्थितियां भी पैदा कर दी कि उसकी उत्तर–पश्चिम सीमा व्यास नदी और लाहौर से बढ़कर सिंधु नदी तक जा पहुंची।

तुगलक काल में मंगोल समस्या

ये महत्वपूर्ण उपलब्धियां थीं किन्तु हम कह सकते है अफगानिस्तान और उसके आसपास के क्षेत्रों में मगोलों का प्रभाव तब तक कायम रहा तक तब भारत पर से उनका खतरा समाप्त नहीं हुआ। इस प्रकार, अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद भारत पर पुनः खतरा मंडराने लगा। सन् 1320 ई. में **दलूचा खान** ने 70,000 सवारों के साथ कश्मीर घाटी में प्रवेश किया और इस एक समय

दूसरे सिरे तक तबाह कर दिया। सभी पुरूषों की हत्या कर दी गई एवं स्त्रियों और बच्चों को खिताई और तुर्किस्तान के दास व्यापारियों को हाथों बेच दिया गया। नगरों और गांवों के सभी घरों को भी जला दिया गया। संयोग से आठ महीने बाद कश्मीर से लौटते समय मंगोल आक्रमण हिमझंझावात में फंस मर गए। गयासुद्दीन तुगलक के सुल्तान बनने (1320 ई.) के तुरंत बाद ही दो मंगोल सेनाएं सुनाम और समाना पहुचीं और मेरठ तक जा धमकीं। भारी नरसंहार के साथ उन्हें पराजित किया गया। सन् 1326-27 ई. में नए मंगोल खान, **तर्माशिरीन** ने भारत पर पुनः आक्रमण किया। गयासुद्दीन ने तर्माशीरीन से लोहा लेने के लिए कूच किया और न केवल उसे पीछे हटने के लिये विवश किया अपितु अपने राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा को आगे बढ़ाया जिससे सिंधु नदी के पार स्थित कलानौर और पेशावर भी दिल्ली सल्तनत के भाग बन गए। इसके कारण भावी मंगोल आक्रमणों के विरुद्ध एक बेहतर रक्षा–पंक्ति तैयार हो गई। किन्तु कुछ समय बाद भारतीय सेना सिंधु नदी क इस पार चली आई और सिन्धु नदी दिल्ली सल्तनत और मंगोलों के बीच सीमा–रेखा बनी रही।

भारत पर मंगोल खतरे का मुकाबला करने के लिए सर्वाधिक निर्भीक प्रयास मुहम्मद बिन तुगलक ने किया जिसने अपनी ताजपोशी के कुछ भी समय बाद 3,75,000 सैनिकों की एक सेना तथाकथित खुरासान अभियान के निमित्त से तैयार की। सुल्तान के मुख्य उद्देश्यों के बारे में तो तरह–तरह की अटकलें लगाई जाती रही हैं, किन्तु ऐसे किसी भी अभियान का यह प्रभाव तो पड़ता ही कि काबुल, गजनी एवं आसपास के उन क्षेत्रों पर जिन्हें हम भारत पर आक्रमण और विजय के प्रयोजनों से सैनिक अड्डा बता चुके हैं, विजय प्राप्त हो जाती। उसकी अन्य कई परियोजनाओं की तरह मुहम्मद बिन तुगलक का यह उपक्रम भी योजना के रूप में ही रह गया और कार्यान्वित नहीं हो सका। तथापि वह भारत के उन कुछेक तुर्क सुल्तानों में से एक था जिनमें संभवतः भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के संबंध में सामरिक युक्ति की समझ और सूझबूझ थी। इसका आधार यह था कि उसे एशियाई मामलों की गहन जानकारी थी। इन्हीं तथ्यों की अपेक्षा होने के कारण तैमूर ने सन् 1398 ई. में भारत पर आक्रमण किया था।

इस प्रकार, भारत के लिए मंगोल खतरा लगभग एक सदी तक कायम रहा और इसकी गंभीरता में तब तक लगातार वृद्धि होती ही गई। अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में तो यह खतरा अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया। तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध में मंगोल आक्रमणों के कारण लाहौर से आगे सारा पश्चिमी पंजाब मंगोलों के हाथ में चला गया जिसे फलस्वरूप दिल्ली और दोआब के सामने वैसा ही गंभीर खतरा उत्पन्न हो गया, जैसा कि गजनवी आक्रमणों के समय हुआ था। किन्तु उस समय के राजपूत शासकों के विपरीत दिल्ली के सुल्तानों ने अपने संसाधनों को संगठित किया एवं मंगोल खतरे का सामना करने के लिए अपनी अर्थव्यवस्था का दूरगामी परिप्रेक्ष्य में पुनर्निर्माण किया। किन्तु ऐसे भावी आक्रमणों के रोकने के उद्देश्य से ऐसी उपयुक्त रक्षा–पंक्ति का निर्माण में वे सफल नहीं हो पाए जिसका आधार अफगानिस्तान में हो। इस कार्य के बाद में मुगलों द्वारा पुरा किया गया।

1398 में **तैमूर लंग** ने उत्तर–पश्चिम से भारत पर भंयकर आक्रमण किया। उसका उद्देश्य भारत में लूट–मार करना था। वह पंजाब के अनेक भागों को लूटता हुआ दिल्ली तक आ पहुंचा। अन्तिम तुगलक सुल्तान नासिरूद्दीन नहमूद उसका सामना न कर सका। तैमूर ने दिल्ली में भीषण नरसंहार किया और लोगों को बुरी तरह लूटा। इसके पश्चात् मेरठ, हरिद्वार व जम्मू आदि नगरों को लूटता हुआ अपने देश (समरकन्द) वापिस लौट गया।

1519-1526 तक फिर बाबर ने उत्तर–पश्चिम सीमान्त से भारत पर 5 बार आक्रमण किए व लोदी साम्राज्य के अन्तिम शासक इब्राहीम लोदी को पराजित कर हिन्दुस्तान ये मुगल वंश की नींव डाली।

इस प्रकार दिल्ली सुल्तानों के काल में उत्तर–पश्चिमी सीमा से लगातार मंगालों के आक्रमण होते रहे जिसके परिणामस्वरूप सुल्तानों को अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि करनी पड़ी। इससे एक सैनिक राज्य की स्थापना हुई व लोक कल्याण कार्यों की तरफ ध्यान कम हुआ। सेना के भरण–पोषण के लिए जनता पर करों का बोझ बढ़ा। इन आक्रमणों ने सुल्तानों की विदेश नीति को प्रभावित किया व उनका ध्यान उत्तर–पश्चिम की तरफ ही लगा रहा। इससे बहुत जान व धन को हानि पहुंची। मंगोलों ने बहुत इलाकों को उजाड़ दिया व काफी संख्या में इस्लाम स्वीकार कर दिल्ली के पास रहने लगे वे 'नवमुस्लिम' कहलाये।

इसके अतिरिक्त मंगोलों से तुर्कीस्तान, ईरान, खीवा खुरासान आदि अनेक देशों को उजाड़ा। अतः इन देशों में बहुत से शरणार्थी हिन्दुस्तान आए जिनमें बहुत से कवि, कलाकार आदि भी थे जिन्होंने सुल्तानों के दरबारों को सजाया। इसमें तुर्क, अफगान, ईरानी आदि भिन्न–२ जातियों के लोग थे जो धीरे–२ ऊंची पदवियों पर पहुंच गए।

इस तरह संक्षेप में कहा जा सकता है कि दिल्ली सुल्तानों के लिए उत्तर–पश्चिमी सीमान्त से मंगोलों का खतरा एक गम्भीर समस्या बनी रही व सदा से होने वाले मंगोल आक्रमणों का सामना करने के लिए उन्हें गम्भीर कदम उठाने पड़े। पर साथ ही यह भी अवश्य कहना पड़ेगा कि मंगोल लूटमार के अतिरिक्त भारत को अधिक हानि नहीं पहुंचा सके।

यूनिट-II

अध्याय-5

राज्य (State)

(क) सल्तनत काल में राज्य का स्वरूप (Nature)

सल्तनत काल में राज्य के स्वरूप के बारे में इतिहासकारों में बहुत वाद-विवाद है। ये विवाद राज्य सैनिक एवं धर्म प्रधान के स्वरूपों के बारे में है। जहां सल्तनत को कुछ इतिहासकार जैसे **आर. पी. त्रिपाठी, ए. एल. श्रीवास्तव ईश्वरी प्रसाद, आर. एस. शर्मा**, धर्म प्रधान राज्य मानते हैं तो दूसरी तरफ मोहम्मद हबीब **के. ए. निजामी** इसे एक धर्म निरपेक्ष राज्य सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। **आई. एच. कुरेशी** राज्य को न तो धर्मप्रधान और न ही धर्मनिरपेक्ष मानते हैं। उनका मानना है कि राज्य की धर्म की प्रधानता में पड़कर कुछ लोग यह सोचने लगे हैं कि सल्तनत एक धर्म प्रधान राज्य था। एक धर्म प्रधान राज्य की मुख्य विशेषता–दीक्षित पुरोहित वर्ग का शासन मुस्लिम राज्य के संगठन में नहीं था। धर्माधिकारी सामान्य मनुष्य थे जो गलती नहीं करने का दावा नहीं करते। वे राज्य को धर्म केन्द्रित राज्य मानते हैं न कि धर्म प्रधान राज्य। इसलिए राज्य के सही स्वरूप को समझने के लिए सभी इतिहासकारों के तर्कों का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है।

Oxford कोश के अनुसार Theocracy शब्द ग्रीक भाषा के Theos से निकला है जिसका अर्थ है ईश्वर। Chamber कोश एक ऐसे राज्य कि जिसमें ईश्वर सर्वोच्च शासक स्वीकार किया जाए और राज्य के नियम मनुष्य मात्र को आदेश न होकर ईश्वरीय आदेश हों, उसे धर्म तन्त्र की संज्ञा दी गई है। इन परिभाषाओं से धर्मतन्त्र राज्य के तीन तन्त्र उभर कर सामने आते हैं

i. जहां ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से पुरोहित वर्ग के द्वारा शासन करता हो।

ii. ईश्वरीय कानून का होना।

iii. ईश्वरीय कानून को लागू करने के लिए शासक वर्ग का होना।

इन तीनों विशेषताओं का अध्ययन करने से निर्णय किया जा सकता है कि राज्य का स्वरूप धर्म प्रधान था अथवा नहीं।

दिल्ली सुल्तानों का खलीफा के साथ सम्बन्ध था। सैद्धान्तिक रूप से ही सही था पर सल्तनत खिलाफत का ही एक अंग थी। तात्कालीन सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित होता था। इसके अतिरिक्त खुत्बे में भी खलीफा का नाम पढ़ा जाता था। इस प्रकार धर्म प्रधान मानने वालों का मत है कि अल्लाह द्वारा इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से शासन चलाया जाता था।

पुरोहित वर्ग के रूप में इस्लाम में कोई विशिष्ट पुरोहित वर्ग विकसित नहीं हुआ। परन्तु दिल्ली सल्तनत में उलेमा वर्ग को इस विशिष्ट रूप में पाते हैं। इसके अतिरिक्त ये इतिहासकार मानते हैं कि कुरान के सिद्धान्त सभी मुसलमानों के लिए दैविय थे और इन दैविय सिद्धान्तों को लागू करने के लिए हम सुल्तानों को पाते हैं। इस प्रकार ऊपरी तौर पर देखने से लगता है कि सल्तनत में धर्म प्रधान राज्य की सभी विशेषताएं मौजूद थीं। परन्तु इसका गहन अध्ययन करने पर इसका विरोधात्मक रूप उभर कर आता है।

धार्मिक वर्ग का अप्रत्यक्ष शासन

दिल्ली सल्तनत को एक धर्म प्रधान राज्य दर्शाते हुए **ए. एल. श्रीवास्तव** मानते हैं कि विभिन्न सुल्तानों ने खलीफा से मान्यता हासिल की उनके नाम का खुतबा पढ़वाया और स्वयं को खलीफा का नायक कहा। **आर्नोल्ड** लिखते हैं कि जिस प्रकार खुदा का प्रतिनिधि पैगम्बर है, उसी प्रकार खलीफा पैगम्बर का प्रतिनिधि है और सुल्तान खलीफा का प्रतिनिधि है। इस सन्दर्भ में प्रश्न यह है कि दिल्ली सुल्तानों ने अपनी वैधानिक सम्प्रभुता के लिए अब्बासी खिलाफत सत्ता को कहां तक स्वीकार और किस अंश तक खलीफा के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहारिक से कार्य किया। सल्तनत काल में इल्तुमिश पहला सुल्तान था जिसने बगदाद के खलीफा से आज्ञा पत्र हासिल किया। 1229 ई. में इल्तुतमिश को खलीफा से अनुमति प्राप्त हुई। **आर. पी. त्रिपाठी** लिखते हैं कि "इस स्वीकृति ने कानूनी रूप से खलीफा द्वारा सल्तनत को स्वीकृति दे मान्य ठहराया" इल्तुतमिश ने **नासिर अमीर उल मोमनिन**

की उपाधि धारण की परन्तु व्यवहारिक रूप से सुल्तानों ने कभी भी खलीफाओं से कोई आज्ञा नहीं ली। अगर खलीफा को सुल्तान सम्प्रभुता सम्पन्न मानते तो इल्तुतमिश ने बंगाल के ग्यासुद्दीन को जिसके उसके ही समान खलीफा से खिलअत हासिल की थी, अपने अधीन ना करता। इसका अर्थ है कि सुल्तानों का खलीफा से अनुमति हासिल करना एक औपचारिक मात्र था। जिससे वे अपने राज्य के गैर कानूनी रूप को कानूनी रूप दे सके।

अन्य शासकों के व्यवहार से भी इसकी पुष्टि होती है। अगर ऐसा ना होता तो हलाकु द्वारा अन्तिम खलीफा की हत्या किए जाने पर दिल्ली सल्तनत उसका भव्य स्वागत ना करती। यदि खलीफा को मुस्लिम जगत का वास्तविक अधिराज स्वीकार किया गया होता तो उसके विनाशक को निश्चित ही दिल्ली सुल्तान अपना शत्रु मानते और इसका स्वागत ना करते। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने व्यवहार में खलीफा की मृत्यु को कोई महता ना दी और भावनाओं की अपेक्षा राजनैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को अधिक उपयोगी समझा। बाद के सुल्तानों ने भी इस तरह की उपाधियां धारण कीं और खलीफा का नाम इज्जत के रूप में खुत्बे और सिक्कों में चलता रहा। पर वास्तविकता ये थी कि उपाधियां धारण करना एक सामान्य सी बात हो गई थी। कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी ने तो स्वयं को ही खलीफा घोषित कर दिया। मौहम्मद तुगलक ने खलीफा के नाम की अर्थ हीनता को भली भांति जाना। और अपने राज्य के प्रारम्भिक वर्षों में सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित नहीं करवाया। उलेमा वर्गने मुहम्मद तुगलक के विरुद्ध प्रचार किया और जिससे विभिन्न क्षेत्रों में विद्रोह होने लगे। उलेमा द्वारा अपना विरोध होने पर उसने भी खुत्बे व सिक्कों पर खलीफा का नाम धारण किया। लेकिन इसके बाद भी विरोध कम ना हुआ। और इस नीति से सुल्तान की राजनैतिक स्वतंत्रता में कोई अन्तर ना आया। खलीफा के नाम का प्रयोग करने पर भी विद्रोह में कोई कमी ना आई, इससे स्पष्ट है कि अब्बासी खिलाफत को इज्जत प्रदान करना केवल एक औपचारिक मात्र था। फिरोजशाह तुगलक ने कुतुबद्दीन मुबारक शाह का नाम खुब्बे में पढ़वाया अगर खिलाफत का प्रभाव सही होता तो वह मुबारक शाह का नाम खुब्बे में कभी भी न पढ़वाता।

इस प्रकार निष्कर्षतया हम कह सकते हैं कि दिल्ली सुल्तानों ने केवल औपचारिक रूप से अब्बासी खलीफाओं का नाम अपने नामों के साथ जोड़ा। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से तो उनको मान्यता प्रदान करते रहे लेकिन व्यवहारिक रूप से कभी खलीफाओं को महता प्रदान ना की। इस प्रकार स्पष्ट है कि दिल्ली सल्तनत में धार्मिक वर्ग द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से शासन किया जाना मौजुद नहीं था। यद्यपि उलेमाओं ने अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए सुल्तानों को प्रभावित करने की कोशिश की लेकिन उनकी अपनी स्थिति सुल्तानों के व्यक्तित्व पर निर्भर करती थी। अलाउद्दीन खिलजी ने तो उलेमाओं को स्पष्ट कह दिया था कि "मैं नहीं मानता कि तुम्हारी कुरान क्या कहती है। शासन चलाना मेरा काम है और में वही करूगा जो मेरी प्रजा के हित में होगा। मेरा काम राजनीति है तुम्हारा काम धर्म है। जब मुझे आवश्यकता होगी मैं तुम्हारी सलाह ले लूंगा।"

इस प्रकार, सल्तनत काल के दौरान भारत के संदर्भ में खलीफा की संस्था की प्रासंगिकता नगण्य थी।

सल्तनत का कानूनी, राजनीतिक स्वरूप

तुर्कों के आगमन के बाद उत्तर भारत में एक नए प्रकार के राज्य का आरंभ हुआ। आरंभिक चरण में देश के विभिन्न भागों में विजय–अभियानों के लिए सेनानायकों को अधिकतम स्वतंत्रता प्रदान की गई जबकि सैनिकों का एक शक्तिशाली समूह सुल्तान के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रहते हुए कार्य करता था। प्रशासन के क्षेत्र में इस प्रकार की शिथिलता अथवा विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बलबन के काल के अति केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था द्वारा बदल दिया गया। कुछ क्रम–भंगों को छोड़कर (जैसे जलालुदीन खिलजी के शासन में) दिल्ली सल्तनत ने अपना अत्यंत केन्द्रीकृत चरित्र 14वीं सदी के अंत तक बनाए रखा जब तुगलकों के पतन एवं सत्ता में लोदियों के आने के बाद विकेन्द्रित निरंकुशता के सिद्धांत को लागू करने का एक संक्षिप्त प्रयोग किया गया जिसमें अफगान कबीलाई नेताओं ने सत्ता में भागीदारी का दावा किया। इसके कारण सुल्तान और अमीरों के बीच पुनः झगड़ा शुरू हो गया जिसकी परिणति 1526 ई. में पानीपत के मैदान में इब्राहीम लोदी की पराजय के रूप में हुई।

यद्यपि सुल्तान और अमीरों के बीच सत्ता हेतु संघर्ष सल्तनत का एक स्थाई लक्षण था (केंद्रीकरण की सही–सही मात्रा और स्तर भिन्न–भिन्न शासकों के समय भिन्न–भिन्न होती थी), किन्तु अमीरों और सुल्तान के बीच सत्ता हेतु मूल संघर्ष का निपटारा बलबन को राजगद्दी प्राप्त होते ही सुल्तान के पक्ष में हो गया। तुर्क अमीर गण एक समूह के रूप में कार्य करने में, अथवा अपनी पसंद के वजीर के नेतृत्व में एकजुट होने में, अथवा सुल्तान की शक्ति को नियंत्रित करने वाली किन्हीं संस्थाओं का गठन करन में विफल हो चुके थे।

अपनी बाह्य प्रतीति के छोड़कर 13वीं और 14वीं सदियों के दौरान राज्य का चरित्र काफी अलग–अलग था। 13वीं सदी के दौरान

राज्य किसी हद तक विदेशी आक्रमण का संस्थानीकृत रूप था अधिकांशतः तुर्क मूल के अमीरो को इस देश के बारे में बहुत ह कम जानकारी थी और वे देश में जगह–जगह स्थित बड़े किलों और शहरों की सैनिक छावनियों से देहाती इलाका पर नियंत्र रखते थे। इस काल में सूफी संतों, विशेषकर चिश्तियों ने नए शासक वर्ग एवं जनता के बीच संपर्क स्थापित करने में महत्वपू भूमिका निभाई, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं।

13वीं सदी व्यवहारिक दृष्टि से राज्य पर तुर्क प्रभुत्व का काल था। स्वतंत्र एवं दास दोनों प्रकार के अमीरों में से अधिकांश लग जो मुईज्जुद्दीन मुहम्मद बिन साम के साथ भारत आए थे, इस्लामी संस्कृति में दीक्षित तुर्क थे। उन खिलजियों का समूह, जिन्हें तुर्क नहीं माना जाता था, एक अन्य महत्वपूर्ण समूह था। किन्तु दिल्ली में कुतुबुद्दीन ऐबक के उत्तराधिकारियों का अनुग्रह उन्हें प्राप्त नहीं हो पाया और उन्होंने उत्तर बंगाल में अपना एक अर्ध–स्वतंत्र राज्य कायम करना ही उचित समझा।

इल्तुतमिश के शासन काल में महत्वपूर्ण पदों को हासिल करने वाला एक दूसरा समूह ताजिकों का था। कुछ छिटपुट अरब, यामन आदि भी थे जो प्रायः सद्र विभाग में नियुक्त होते थे। तुर्कों के विपरीत, जो अशिष्ट योद्धा थे, ताजिक लोग, जिनकी मातृभाषा फारसी थी, सुसंस्कृत और शिष्ट थे। अतः उन्हें प्रायः केंद्र सरकार में प्रशासनिक पदों के लिए चुना जाता था। इल्तुतमिश के वजीर निजामूल मुल्क जुनैदी एक ताजिक थां। मुक्त और दास दोनों ही प्रकार के तुर्क ताजिकों द्वारा उच्चतर प्रशासनिक पदों को हथियाने के प्रयास का विरोध करते थे। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद यह वैर खुलकर सामने आया जब तुर्कों ने अधिकांश ताजिकों का संहार कर दिया। वजीर निजामुल मुल्क अपनी जान बचाकर भाग तो गया लेकिन उसके बारे में फिर भी नहीं सुन गया। इसने तुर्कों के लिए ताजिक चुनौती का अंत कर दिया।

गैर–तुर्कों को उच्च पद प्राप्त न करने देने का तुर्क संकल्प मलिक याकूत नामक एक हब्शी के प्रति उनके बैर के रूप में प्रकट हुआ याकूत को रजिया ने अमीर आखुर (शाही अस्तबलों का अधीक्षक) नियुक्त किया था। किन्तु तुर्क अमीरों ने चिहलगानी दास अधिकारियों को विस्थापित करने के लिए एवं सुल्तान पर अपना प्रभाव जमाने के लिए इमादुद्दीन रैहान नामक एक भारतीय मुसलमान से फायदा उठाने में कोई संकोच नहीं किया।

बलबन के शासन काल में अनेक विरोधाभास मिलते हैं। बलबन ने चिहलगानी तुर्कों की शक्ति नष्ट कर दी। साथ ही उसने प्रशासन के निचले सोपानों पर भी 'निम्न कुलोपन्न' यानी भारतीय मुसलमानों को नियुक्त करना उचित नहीं समझा। इस प्रकार उसने राज्य में तुर्क प्रभुत्व का पक्ष लिया। साथ ही, उसने स्वयं को ईरानी नायक अफ्रासियाब का एक वंशज घोषित किया और राजत्व के पूर्व–इस्लामी ईरानी रूपों और प्रतीकों को अपनाया। इस प्रकार, उसने ईरानी रूपों और तुर्क प्रभुत्व को समन्वित करने का प्रयास किया।

यद्यपि दास प्रथा ने मुसलमानों के बीच विभिन्न नस्लों व जातियों के लोगों विशेषकर तुर्कों को मिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जो कबीलों और क्षेत्रीय गुटों में विभाजित थे, किन्तु भारत में मुस्लिम राज्य को 'दास राज्य' नहीं कहा जा सकता है। इस पद का प्रयोग आरंभिक ब्रिटिश इतिहासकारों ने किया था, किन्तु अब इसे अस्वीकार कर दिया गया है। कई अमीरो ने एक सुल्तान अथवा एक प्रमुख अमीर की सेवा में दासों के रूप में अपनी वृत्ति शुरू की; किन्त उच्च पदों पर अपनी उन्नति के दौरान एक चरण में मुक्त कर दिए गए थे। इस प्रकार, इल्तुतमिश ने उलमा के समक्ष अपना मुक्ति–पत्र प्रस्तुत किया जब वे उसके सुल्तान बनने के बाद उससे मिलने गए। इस्लामी सिद्धांत के अनुसार, केवल स्वतंत्र व्यक्ति ही राजगद्दी पर बैठ सकता है। इस दृष्टि से भी इसे 'दास राजवंश' की संज्ञा देना गलत है।

बलबन, के प्रयासों के बावजूद उसके जीवन काल में ही राज्य में ही तुर्क प्रभुत्व क्षीण होने लगा था। इस प्रकार अपने शासन के अंतिम वर्षों के दौरान वह अपने अमीर–समूह में कुछ मंगोलों को शामिल करने के लिए विवश हो गया था। इसके पूर्व अपने पुत्र शाहजादा मुहम्मद की मृत्यु के बाद उसे मंगोलों से लड़ने के लिए जलालुद्दीन खिलजी के नेतृत्व में खिलजियों को भर्ती करना पड़ा था। साथ ही, अपने बंगाल अभियान के दौरान उसने कुछ तुर्क अमीरों और सैनिकों को अक्षम और गैर–भरोसेमंद पाया। उसने तुर्क अमीरों और सैनिकों को दंड दिया और उसे पूर्व उत्तर प्रदेश के कुछ हिन्द रायों की सहायता लेनी पड़ी और बंगाल विद्रोह को दबाने के लिए स्थानीय सैनिकों की भर्ती करनी पड़ी।

खिलजियो ने तुर्क प्रभुत्व अथवा तुर्क को विशिष्ट समझे जाने की नीति का अंत कर दिया। उन्होंने तुर्कों के विरुद्ध कोई भेदभाव नहीं किया, किन्तु मुसलमानों के विभिन्न समूहों और तबकों के प्रतिभाशाली लोगों के लिए दरवाजे खोल दिए। इस प्रकार अलाउद्दीन खिलजी का वजीर नुसरत खान जलेसर था एवं जफर खान मीर अर्ज था। दोनों ही प्रसिद्ध योद्धा थे किन्तु गैर–तुर्क

और संभवतः भारतीय मुसलमान थे। एक अन्य गैर–तुर्क मलिक काफूर ने भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त की ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन खिलजी के शासन के अंतिम वर्षों में भारतीय मुसलमानों समेत बहुत सारे गैर–तुर्कों ने अमीर समूह में स्थान प्राप्त कर लिया था। इसी से पता चलता है कि मुबारक शाह खिलजी की हत्या (1320 ई.) के बाद खुसरो खान के नेतृत्व में राजपूतों के एक अशिक्षित किन्तु योद्धा समूह यानी बरादुओं ने, बहुत कम समय के लिए ही सही, पर किस प्रकार सत्ता हथिया ली थी।

यह तर्क भी दिया जाता है कि खिलजियों के उदय एवं उच्च पदों पर तुर्क एकाधिकार के अंत के साथ ही भारत में एक 'एकीकृत हिन्दू–मुस्लिम राज्य' का उदय हुआ जिसमें भारतीय मुसलमानों समेत विभिन्न समूहों के मुसलमान अमीर–समूह में शामिल किए जाने लगे और उच्च पदों पर नियुक्ति क्षमता और शासक विशेष की पसंद के आधार पर, न कि नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की नस्ल के आधार पर की जाने लगी। इस तथ्य को सिद्ध करने अथवा स्वीकार करने के लिए पर्याप्त शोध कार्य नहीं हो पाया है। फिर भी हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि भारत शासन एवं प्रशासन से जुड़े लोगों का वर्ग वक्त की श्रेष्ठता के सिद्धांत में दृढ़ विश्वास रखते थे जिसके कारण वे ही लोग सरकार में उच्च पदों के अधिकारी होते थे जो धार्मिक अथवा गैर–धार्मिक क्षेत्रों के 'सम्मानित' परिवारों के साथ अपने संबंध स्थापित कर सकते थे। भारत के सबसे पहले मुस्लिम राजनीतिक विचारक **फख्र-ए-मुदाब्बिर** ने, जिन्होंने इल्तुतमिश के शासन काल में अपने ग्रंथ की रचना की, कहा है:

"दीवान, शगिर्द एवं महर्रिर (राजस्व पद) जैसे पद केवल **अहल-ए-कलम** (शिक्षित लोगों) को दिए जाने चाहिए जिनके पूर्वजों ने सुल्तानों और अमीरों की सेवा की हो।"

जियाउद्दीन बरनी ने भी, जिन्होंने फिरोज तुगलक के आरंभिक वर्षों के दौरान जेल काटते हुए अपनी राजनीतिक पुस्तिका **'फतवा-ए-जहांदारी'** लिखी, ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। वे कहते हैं कि सृष्टि के निर्माण के समय कुछ दिमागों में पढ़ाई–लिखाई की कला भरी गई, जबकि कुछ में घुड़सवारी, और अन्यों में सिलाई, बुनाई, बढईगिरी, नाईगिरी एवं चर्मशोधन जैसे शिल्प डाले गए। इस प्रकार, लोगों को उन्हीं शिल्पों और व्यवसायों को अपनाना चाहिए "जिनके लिए लोग प्रेरित किए गए हैं (और) जिनका उन्हें अभ्यास रहा है।" इसके आगे वे कहते हैं कि "यदि निम्न या तुच्छ कुल का कोई व्यक्ति सैकड़ों गुणों से भी विभूषित हो तो भी उससे देश का संगठन और प्रशासन संचालित करना सम्भव नहीं होगा और न ही वह नेतृत्व या राजनीतिक आस्था का पात्र बन पाएगा।"

बरनी संभवतः शासक वर्गों के पूर्वाग्रहों को स्वर प्रदान कर रहे थे। लेकिन इन विचारों का राज्य के चरित्र पर निश्चित प्रभाव पड़ा। राज्य तथाकथित 'सम्मानित' वर्गों का अनन्य दायरा बना रहा। जिस एकमात्र सुल्तान ने इस नीति पर प्रहार करने का प्रयास किया उसका नाम मुहम्मद बिन तुगलक था जिसने तथाकथित निम्न वर्गों के मुसलमानों और हिन्दुओं–दोनों को उनकी योग्यता के आधार पर विभिन्न पदों पर नियुक्त किया। किन्तु सुस्थापित शासक वर्गों ने इसके विरुद्ध कड़ी प्रतिक्रिया व्यक्त की। फिरोज शाह तुगलक के शासन काल में हिन्दू हो या मुसलमान, ऐसे लोगों की नियुक्ति का हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता।

इस प्रकार, एक अत्यधिक विभाजित समाज में एक 'एकीकृत' हिन्दू–मुस्लिम राज्य के बारे में सोच पाना शायद ही संभव है। निम्न वर्गों के जो हिन्दू अपना धर्म त्याग कर मुसलमान बन गए थे, उनकी स्थिति में शायद ही कोई सुधार हुआ। फिरोज तुगलक के शासन काल में एक धर्मांतरित तैलंग ब्राह्मण खान–ए–जहां मकबूल को वजीर का पद प्राप्त होने, अथवा एक हिन्दुस्तानी मुसलमान ऐन–उल–मुल्क को मुहम्मद बिन तुगलक द्वारा अवध का हाकिम एवं बाद में फिरोज तुगलक द्वारा मुशरिफ–ए–ममालिक (प्रधान अंकेक्षक) बनाए जाने से यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि उच्च जातियों के धर्मांतरित हिन्दू अब अमीर–समूह का प्रमुख तत्त्व बन गए थे। मुहम्मद तुगलक ने अमीर–समूह में बहुत सारे विदेशियों को शामिल किया एवं उन्हें 'ऐज्जा' कहा करता था। इससे यह पता चलता है कि भारतीयों से अधिक विदेशियों को ही वरीयता मिलती रही। इन अमीरों में से ही एक ने बाद में दक्कन में बहमनी राज्य तथा दूसरे ने गुजरात में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की।

अत्यंत अस्थिर केंद्रीय अभिजात वर्ग, जिसे गैरवंशानुगत इक्ताओं से भुगतान किया जाता था, जिसके पीछे सशस्त्र घुड़सवार सेना होती थी और जिसका कोई भी स्थानीय निहित स्वार्थ नहीं होता था, तुर्क केंद्रीकरण का मुख्य उपकरण होता था। राज्य इस अर्थ में सोपानिक होता था कि समाज और राज्य में एक निश्चित श्रेणीकृत क्रमबद्धता होती थी। तीन वर्गों–खान, मलिक एवं अमीर–में श्रेणीकृत अमीर गण सर्वोच्च सोपान पर होते थे, यद्यपि उलेमा एवं मशायख (संतों) को भी कभी सम्मान दिया जाता था।

ईश्वरीय कानून

इस्लाम में कुरान को ईश्वरीय कानून माना जाता है जिसे सभी मुस्लिम जनता एवं सुल्तानों के अपने निजी जीवन व राज्य धर्म रूप में अपनाना चाहिए। एक इस्लामी राज्य वह है जिसमें मूर्ति पुजकों को या तो इस्लाम स्वीकार करा लेना चाहिए या मौत घाट उतार देना चाहिए। सिन्ध के विजेता मुहम्मद बिन कासिम ने अनुमान किया था कि कुरान के सिद्धान्तों का कठोरता से पालन करना और हिन्दुओं को जबरदस्ती इस्लाम स्वीकार करवाना या मौत के घाट उतार देना असम्भव है। इसलिए उसने सिन्ध के हिन्दुओं को जिम्मी (रक्षित लोग) बनाने का निर्णय लिया। यह बहुत ही महत्वपूर्ण निर्णय सिद्ध हुआ क्योंकि बाद में मुस्लिम शासकों ने भी इसे अपनाया दिल्ली सुल्तानों ने भी अनुभव कर लिया था कि राज्य को इस्लामी शिक्षा के आधार पर नहीं चलाया जा सकता। पैगम्बर ने दिल्ली सल्तनत की कभी कल्पना नहीं की थी अतः यह महसूस किया गया कि इस्लाम के प्रसार के साथ हजरत मुहम्मद की शिक्षाओं पर राज्य नहीं चलाया जा सकता है।

कुरान में कहा गया है कि काफिरों से कहों कि अगर वे कुफ्र छोड़ दें तो उन्हें माफ कर दिया जाए। यदि वे कुफ्र न छोड़ तो उनके खिलाफ तब तक लड़ो जब तक वे मुसलमान न बन जायें। इसका अर्थ हुआ कि तुर्क पराजित जनता के समक्ष इस्लाम या मृत्यु का विकल्प रखे परन्तु मुस्लिम शासकों ने यह महसूस किया कि हिन्दुस्तान में हिन्दुओं की संख्या अत्यधिक बहुमत में है इसलिए उन पर इस्लाम के ईश्वरीय कानून को लागू नहीं किया जा सकता इसलिए मुहम्मद बिन कासिम के हिन्दुओं को जिम्मी बनाने के निर्णय को बाद के शासकों ने भी अपनाया हिन्दुओं के प्रति इस्लाम या मृत्यु सम्बन्धी विचारधारा के दुष्प्रभावों को इल्तुतमिश व बल्बन ने भली–भांति समझा **बरनी** लिखता है कि बल्बन ने बार–बार दोहराया कि "मैं मजहब की रक्षा करने में अपने दायित्वों का निर्वाह नहीं कर सकता और इस प्रकार की महत्वाकांक्षा को अपने मन में भी कैसे सजो कर रख सकता हूं जबकि मैं जानता कि मेरे पूर्वज भी मजहब की रक्षा नहीं कर पाए।

बरनी चौहदवीं शताब्दी में लिखता है कि यदि ईश्वरीय कानून से शासन न चल पाए तो शासकों को चाहिए कि वे **जवाबित** (मनुष्य द्वारा तर्क के आधार पर बनाए गए कानून) बना लें इस्लामी कानूनों में समय–समय पर इन कानूनों का समावेश परिस्थितियों के आवश्यकतानुसार हुआ चाहे ये कम ही क्यों न हों। अलाउद्दीन का विचार है कि राजतन्त्र और शासन बिल्कुल अलग है और वह इस्लामी कानून के नियम व अध्यादेश को बिल्कुल भिन्न मानता था। मोहम्मद तुगलक ने भी अलाउद्दीन की तहर राजनीति व धर्म को अलग रखने की कोशिश की। इस तरह इस्लामी नियमों का बहुत बार पालन नहीं हुआ। जैसे रजिया मुस्लिम वैध कानून की मान्यताओं (जो किसी स्त्री के गद्दी पर बैठने के लिए विरोधी थे) के बावजूद गद्दी पर बैठी। **बरनी** स्वयं अपने मत में धर्म व राजनीति को साथ जोड़ने को गलत मानता है और फतवाहे–जहांदारी में उसने स्वीकार किया कि धर्म के द्वारा शासन नहीं चलाया जा सकता।

उलेमा के साथ संबंध

राज्य में उलेमा की शक्तियां और हैसियत, एवं धर्मनिरपेक्ष सुल्तानों के साथ इस वर्ग के संबंध में इस्लामी जगत में सदैव वाद–विवाद चलता रहा है। मक्का के प्रथम चार खलीफाओं के शासन के अंत के बाद धार्मिक एवं धर्मेतर सत्ता के बीच विभाजन हो गया। अधिकांश प्रमुख मुल्ले मक्का में ही रह गए, एवं उमैय्यद खलीफाओं ने राजनीतिक सत्ता का केंद्र दमिश्क में स्थानांतरित कर दिया। पैगंबर के वंशज होने का दावा करने वाले अब्बासी खलीफाओं द्वारा बगदाद को राजनीतिक सत्ता का केंद्र बनाए जाने के बाद उनके नेतृत्व में धार्मिक एवं राजनीतिक सत्ता को पुनः एकीकृत करने का प्रयास किया गया। किन्तु यथार्थ में राजनीतिक तत्त्व धार्मिक तत्वों पर भारी पड़ते थे। अपने सीमित दायरे में भी यह एकता स्थापित न रही तथा 9वीं सदी के अंत तक अब्बासी खिलाफत के विखंडन एवं अधिकांशतः तुर्क सुल्तानों के नेतृत्व में स्वतंत्र राज्यों के उदय के साथ ही समाप्त हो गई। हालांकि इस्लाम कबूल करने वाले तुर्कों ने उलमा को काफी सम्मान दिया जो लोगों को इस्लाम के बारे में में बताते थे। किन्तु उन्होंने प्रभावी राजनीतिक नियंत्रण अपने ही हाथों में रखा। उच्चतर राजनीतिक मामलों के बारे में सलाह देने पर उलेमा और निम्न अधिकारियों (नवीसंदा अथाव लेखक लोगों) के प्रति वितृष्णा का भाव दिल्ली के कोतवाल अला–उल–मुल्क के प्रति अलाउद्दीन खिलजी द्वारा दिये गये वक्तव्य से व्यक्त होता है, जब कोतवाल ने अलाउद्दीन को कूटनीतिक एवं अन्य वित्तीय तरीकों से मंगोल आक्रमणकारी सेना को दिल्ली से चले जाने के लिए रजामंद कराने की सलाह दी। अलाउद्दीन ने उसकी सलाह को 'अशोभनीय' की संज्ञा देते मानने से इन्कार कर दिया और यह कहते हुए चल रहे तर्क को खत्म कर दिया कि "तुम ऐसा इसलिए कहते हो कि तुम एक नवीसंदा (लिपिक या लेखक) हो तथा एक नवीसंदा के पुत्र हो।" अन्यत्र भी **बरनी** ने कहा है कि ये लोग किसी घोड़े के सिर व पूंछ के फर्क को नहीं जानते थे।

यह तर्क कि तुर्कों द्वारा स्थापित राज्य का धर्मतांत्रिक राज्य था क्योंकि यह मुस्लिम पवित्र कानून यानी शरीयत पर आधारित था जिसकी केवल उलमा ही व्याख्या कर सकते थे। इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि धर्मतंत्र' शब्द मूलतः मूसा से लेकर राजतंत्र के उदय तक के काल के दौरान यहूदी राष्ट्रमंडल पर लागू होता था और उसे "सीधे ईश्वर द्वारा अथवा एक पुरोहित वर्ग के जरिए शासित सरकार अथवा राज्य" समझा जाता है। इसका यह भी अभिप्राय था कि ऐसे पुरोहित वर्ग द्वारा शासन किए जाने के लिए इसे औपचारिक रूप से संगठित किया जाना चाहिए, जैसा कि यहूदी अथवा ईसाई धर्म संगठनों के मामले में होता था। कहा गया है कि एक संगठित धर्म के अभाव में मुस्लिम उलेमा शासन नहीं कर सकते थे और इसलिए कोई धर्मतांत्रिक राज्य नहीं हो सकता था।

वस्तुतः समस्त तर्क–वितर्क ही थोड़ा बनावटी है क्योंकि एक पूर्णतः धर्मतांत्रिक राज्य दीर्घ काल तक कहीं भी कभी भी नहीं रह पाया। इसका करण यह भी था कि 'धर्मतांत्रिक राज्य' पद अथवा संकल्पना, जैसा ऊपर बताया गया है, का मध्य काल के दौरान भारत में कभी भी विवेचन नहीं हुआ। जिसका विवेचन हुआ और जो प्रासंगिक है वह यह है कि भारत में वास्तविक इस्लामी राज्य की स्थापना हो सकती थी या नहीं और इसके पीछे यह विवाद था कि किस हद तक रूढ़िवादी उलमा द्वारा व्याख्यायित शरीयत भारत में लागू की जा सकती थी।

इस विषय पर सल्तनत काल के दौरान गंभीर वाद–विवाद चलता रहा, मुगलों के काल में उसे पुनः आरंभ किया गया एवं ब्रिटिश शासन के तहत भी यह वाद–विवाद जारी रहा। यह विभिन्न रूपों में अभी भी चलता रहता है।

आम तौर पर भारत के मुस्लिम सुल्तान उलमा का सम्मान तो करते थे किन्तु उनसे सलाह मशविरा करने के लिए अथवा राजकीय विषयों में उनके विचारों को मानने के लिए बाध्य नहीं महसूस करते थे। इस प्रकार इल्तुतमिश ने रजिया को अपना उत्तराधिकारी घोषित करने के पूर्व उलेमा से परामर्श नहीं किया। बलबन ने अपने दरबार में पूर्व–इस्लामी औपचारिकताएं, जैसे **सिजदा** और **पाबोस**, आरंभ कीं जिन्हें उलमा गैर–इस्लामी मानते थे। अलाउद्दीन खिलजी के समय में कांजी मुगीस ने घोषणा की कि देवगिरि से सुल्तान द्वारा लूटा गया खजाना बैत–उल–माल अथवा सरकारी खजाने का भाग है, एवं सुल्तान को उस खजाने से उतना ही लेने का हक है जितना एक आम सैनिक को मिलता है। अलाउद्दीन ने काजी की इस सलाह को ठुकरा दिया और यह घोषणा की:

> "यद्यपि मैंने ग्रंथ (कुरान) का अध्ययन नहीं किया है और न ही मैं (धर्मशास्त्रों का) ज्ञाता हूं, फिर भी मैं एक मुस्लिम समुदाय का सदस्य हूं। विद्रोहों को रोकने के लिए, जिनमें हजारों लोग मरते हैं, मैं ऐसे आदेश जारी करता हूं जिन्हें मैं राज्य के हित और जनता के लाभ के लिए उपयुक्त मानता हूं। लोग लापवाह हैं, मन में असम्मान रखते हैं और मेरे आदेशों को नहीं मानते हैं। तब मैं उनके साथ सख्ती से पेश आने एवं उन्हें आज्ञाकारी बनाने के लिए विवश हो जाता हूं। मैं नहीं जानता कि यह शरीयत के अनुकूल है या प्रतिकूल; मैं राज्य के हित में अथवा आपातकाल हेतु जो उपयुक्त समझता हूं वही आदेश जारी करता हूं।"

चूंकि **बरनी** ने अलाउद्दीन खिलजी के 50 वर्षों से भी बाद के समय में लिखा अतः ये शब्द अलाउद्दीन मुख से चाहे न निकले हों किन्तु बरनी ने इन्हें अलाउद्दीन का विचार बनाकर प्रस्तुत किया है। साथ ही, वे एक ऐसी स्थिति की ओर संकेत करते हैं जिनमें अलाउद्दीन को विद्रोह पर अंकुश रखने के लिए एवं अपने आदेशों का अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए कठोर दंड देने का विधान करना पड़ता था।

उनका यह अभिप्राय नहीं है कि अलाउद्दीन नियमित रूप से यह जान–बूझकर शरीयत की उपेक्षा करता था। बरनी ने यह कहते हुए इस स्थिति को स्पष्ट किया है कि "जब वह (अलाउद्दीन) सुल्तान बन गया तो उसे पूरा यकीन हो गया कि सरकार और प्रशासन सुल्तानों से संबद्ध हैं जबकि शरीयत के नियम और आदेश काजियों और मुफ्तियों को सौंपे हुए हैं।"

सुल्तान और उलमा के अवबोधित मूल्यों में इस भिन्नता को केवल अलाउद्दीन ही स्वीकार नहीं करता था। मुहम्मद बिन तुगलक ने शरीयत की 'अनुपूर्ति' करने के लिए कई गैर–धार्मिक आदेश (जवाबित) जारी किए। यहां तक कि रूढ़िवादी सुल्तान फिरोज तुगलक ने अपराधियों के हाथ, पैर, नाक आदि काटे जाने पर रोक लगा दी, भले ही यह दंड शरीयत द्वारा स्वीकृत था।

इन सभी कारकों पर विचार करने के बाद बरनी ने यह निष्कर्ष निकाला कि धर्म (दीनदारी) पर आधारित एक वास्तविक इस्लामी राज्य भारत में संभव नहीं है। इसके बजाय सांसारिक तथ्यों (जहां–दारी) पर आधारित इस्लामी राज्य ही संभव हो सकता था। ऐसे राज्य में राज्य–प्रधान यानी सुल्तान को धर्म–भीरू मुसलमान होना चाहिए: सैयदों, धार्मिक विद्वानों, शेखों आदि को सम्मान और रोजगार दिया जाना चाहिए: निकटवर्ती राजाओं और सरदारों के विरुद्ध धर्म युद्ध (जिहाद) एवं धर्म–आक्रमण किया जाना चाहिए;

एवं मुसलमानो को अपने सार्वजनिक व्यवहार में शरीयत का उल्लंघन नहीं करने देना चाहिए ताकि पाप एव अशुद्धि, दृष्टत कुकर्म रसातल में पहुंच जाएं। किन्तु बरनी यह स्पष्ट कर देता है कि "सुल्तान गुप्त रूप से जो कुछ अथवा कोई नागरिक अपने घर में जो कुछ भी करता है उससे राज्य का कोई सरोकार नहीं है।"

इस प्रकार, दिल्ली सल्तनत कोई धर्मतंत्र नहीं था। इसे 'जाति व नस्ल की श्रेष्ठता पर आधारित' राज्य भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उलमा द्वारा व्याख्यायित शरीयत शायद ही कभी सुल्तानों की चिन्ता का मुख्य विषय रही हो। राज्य औपचारिक रूप से इस्लामी चरित्र का था किन्तु यह सामाजिक समानता पर नहीं, अपितु सोपनिक क्रम पर आधारित था। व्यवहार में हिन्दू जनसाधारण और मुस्लिम जनसाधारण के जीवन में कोई अंतर नहीं था। उलमा को सम्मान तो दिया जाता था किन्तु राज्य उनकी सलाह पर नहीं, अपितु शासक अभिजात वर्ग के राजनैतिक हितों को ध्यान में रखकर ही संचालित होता था। जैसा कि हम देखेंगे यह हमेशा कोई आसान काम नहीं था, और कभी–कभी रूढ़िवादी उलमा और सुल्तानों के बीच गहरा मतभेद उठ खड़ा होता था। विशेषकर हिन्दुओं को दी जाने वाली धार्मिक स्वतंत्रता की सीमा एवं राज्य के कार्य–संचालन में उनकी भूमिका के संबंध में यह सत्य है।

हिन्दुओं की स्थिति

राज्य, जिसके बारे में हमने ऊपर चर्चा की है, उन हिन्दुओं को पर्याप्त किन्तु परिभाषित धार्मिक स्वतंत्रता देता था जिन्होंने मुस्लिम शासक का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था और उसके द्वारा लागू किए जाने वाले नियमों–विनियमों का पालन करने के लिए सहमत हो गये थे। ऐसे लोगों को जिम्मी अथवा रक्षित व्यक्ति कहा जाता था। जिम्मियों को अपने अनुष्ठानों के अनुसार पूरा करने व इस आधार पर कि 'इमारतें स्थायी नहीं होतीं' मंदिरों का अनुरक्षण और मरम्मत करने का अधिकार था। किन्तु उन्हें 'इस्लाम के विरोध में' नए मंदिर बनाने की अनुमति नहीं थी। यह शर्त अस्पष्ट थी; इसका अर्थ था कि हिन्दू लोग अपने घरों में अथवा उन गांवों में नए मंदिर बना सकते थे जहां कोई मुसलमान नहीं रहता था। इसका यह भी अर्थ था कि हिन्दुओं द्वारा विरोध किए जाने पर पुराने मंदिर भी नष्ट किए जा सकते थे। जैसा कि हमने देखा है, युद्धों के दौरान बहुत पुराने मंदिरों को भी लूटा और नष्ट किया जाता था। आरंभिक चरण में उनमें से कुछ को मस्जिदों में रूपांतरित कर दिया गया था। अथवा उन्हें नष्ट कर उनकी सामग्री को मस्जिदें बनाने में प्रयोग किया जाता था। किन्तु तुर्क लोग जब अपने अलग भवन बनाने की स्थिति में आ गए तो ऐसा होना बंद हो गया। परन्तु स्थानीय सरदारों अथवा निकवर्ती शासकों के साथ युद्ध होने पर उनके मंदिरों को नष्ट करना धार्मिक कृत्य माना जाने लगा। जब पूरे देश में तुर्क शासन स्थापित हो गया तब ऐसा होना भी बंद हो गया।

सुल्तान के प्रति निष्ठा और सेवा भाव रखने के साथ–साथ हिन्दुओं को **जजिया** का भी भुगतान करना पड़ता था। जजिया की उत्पत्ति स्पष्ट नहीं है; कुछ लोग इसे यूनान में एवं पूर्व–इस्लामी ईरान में लगाए जाने वाले व्यक्ति–कर के रूप में देखते हैं। कुछ अन्य लोग इसे सैनिक सेवा के एवज में आरोपित कर मानते हैं, और शेष लोग इसे भूमि–कर अथवा खराज के समान समझते। इस उलझन को मिटाने का प्रयास शरीयत के विभिन्न व्याख्यायक मतों ने किया। शरीयत की विवेचना करने वाले विचारकों के ये मत 9वीं सदी के अन्त में तथा 10वीं सदी के आरंभ में आरम्भ हुए थे। उनमें से कुछ ने अरब के मूर्तिपूजकों के प्रति पैगंबर के व्यवहार का उदाहरण देते हुए तर्क दिया कि मूर्तिपूजकों के लिए दो ही विकल्प हैं–इस्लाम अथवा मौत, जबकि कुछ अन्यों ने जजिया को तीसरे विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया। शरीयत के **हनफी मत** ने, जो आम तौर पर अपनाया गया, 'इस्लाम अथवा मौत अथवा जजिया का भुगतान', सूत्र का प्रयोग किया। हमें यह नहीं पता कि सल्तनत काल के दौरान जजिया का निर्धारण या वसूली ठीक–ठीक किस प्रकार से की जाती थी। बरनी के कुछ अनुच्छेदों के अनुसार, किसानों को खराज अथवा जजिया का भुगतान करना होता था, अर्थात उन्हे एक ही समझा जाता था और उसका निर्धारण गांवों में एकमुश्त रकम के रूप मे किया जाता था। इस प्रकार, अलाउद्दीन खिलजी अथवा यहां तक कि फिरोज तुगलक द्वारा वसूल किए गए करों में जजिया का उल्लेख नहीं मिलता है।शहरों में इसकी वसूली किस तरह की जाती थी, यह पता नहीं है। शरीयत के अनुसार, स्त्रियों, बच्चों पागलों और गरीबों को जजिया से मुक्त रखा जाता था। इसमें शिल्पी और व्यापारी शामिल नहीं थे। फिरोज तुगलक के सुल्तान बनने तक ब्राह्मणों को भी जजिया का भुगतान नहीं करना पड़ता था।

इस प्रकार, सल्तनत काल के दौरान एक पृथक कर के रूप में जजिया शहरों की एक छोटी आबादी से ही वसूल किया जाता था अतः इसे इस्लाम में धर्मांतरण करने की युक्ति नहीं माना जा सकता। किन्तु कुछ रूढिवादी उलमा के लिए जजिया हिन्दुओं को परेशान और अपमानित करने एवं नीचा दिखाने का साधन था। इस प्रकार, काजी मुगीस ने तो यह भी कह दिया कि यदि जजिया की वसूली करने वाला अधिकारी किसी हिन्दू के मुंह पर थूकना चाहे तो उसे अपना मुंह खोल देना चाहिए यह मनु के इस निर्देश

के तर्ज पर ही था कि यदि कोई शूद्र वेदों को सुन ले तो उसके कानों में पिघला हुआ सीसा उड़ेल दिया जाना चाहिए। दोनों ही अव्यवहारिक थे, फिर भी एक विशेष मानसिक अवस्था को प्रदर्शित करते थे।

कुछ मुल्लाओं ने तर्क दिया कि हिन्दू लोग मूर्तिपूजक हैं और कुरान जैसा उनका कोई ईश्वरीय अथवा श्रुत ग्रंथ नहीं है, अतः वे जजिया हेतु अयोग्य हैं और उन्हें केवल दो ही विकल्पों—इस्लाम अथवा मौत—में से एक चुनने का अधिकार दिया जाना चाहिए। यदि बरनी पर विश्वास किया जाए तो ऐसा तर्क इल्तुतमिश के समक्ष कुछ मुल्लाओं ने पेश किया था। सुल्तान की ओर से वजीर निजामल मुल्क जुनैदी ने जवाब दिया कि ऐसी नीति परंपरा के विरुद्ध है, क्योंकि इसे इस्लाम के नायक महमूद ने लागू नहीं किया था, एवं अव्यवहारिक है क्योंकि भारत में मुसलमानों की संख्या 'भोजन में नमक की भांति' कम है।

बरनी शायद नहीं जानते थे कि तुर्क सुल्तान सिंध के अरब शासकों के उदाहरण पर चल रहे थे जिन्होंने वहां हिन्दुओं को जजिया के भुगतान का विकल्प दे रखा था एवं उनमें से कइयों को असैनिक प्रशासन में नियुक्त कर रखा था।

यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि दिल्ली सल्तनत में साम्राज्य के केन्द्र दिल्ली में भी आबादी का अधिकांश भाग हिन्दुओं का था। वे देहाती इलाकों में खूतों, मुकद्दमों, चौधरियों, राणाओं, ठाकुरों आदि के रूप में नगरों के व्यापार तथा वित्त में, एवं परिवहन व्यापार में बंजारों के रूप में प्रबल और हावी बने रहे। जैसा कि अलाउद्दीन खिलजी ने काजी मुगीस को कहा, "राजधानी से 100 कोस दूर तक के क्षेत्र में भी "खूत और मुकद्दम उत्तम घोड़ों की सवारी करते हैं, फारसी तीन चलते हैं, एक–दूसरे ये युद्ध करते हैं एवं शिकार खेलने जाते हैं...जलसे करते हैं, एवं शराब पीते हैं।" अपनी '**फतवा-ए-जहांदारी**' में **बरनी** ने उनका उल्लेख करते हुए दुखी मन से लिखा है—

> "इस तथ्य को ध्यान में न रखते हुए कि काफिर एवं अनेकेश्वरवादी कर देते हैं एवं रक्षित व्यक्ति (जिम्मी) हैं, इन काफिरों को सम्मानित किया जाता है, विशिष्टता प्रदान की जाती है, उन पर अनुग्रह किया जाता है एवं उन्हें प्रमुखता दी जाती है; सुल्तान उन्हें ढोल, पताका, आभूषण, जरीदार वस्त्र एवं सुसज्जित घोड़े प्रदान करते हैं और उन्हें हाकिम पद एवं अन्य उच्च पदों पर नियुक्त करते हैं।"

निश्चय ही इस कथन में अतिशयोक्ति है क्योंकि मुहम्मद बिन तुगलक के शासन काल को छोड़कर शायद ही कभी हिन्दुओं को उच्च पदों पर नियुक्त किया गया। लेकिन कुछ हिन्दुओं की आर्थिक समृद्धि के बारे में कोई संदेह नहीं है क्योंकि **बरनी** हमें बताता है कि साह (महाजन), मेहता (प्रशासक) एवं पंडित "महलों की तरह घर बनाते हैं... आनन्द और आराम से रहते हैं। वे मुसलमानों को अपनी सेवा में नियुक्त करते हैं और उन्हें अपने घोड़ों के आगे–आगे दौड़ाते हैं, इस्लाम साम्राज्य की राजधानी में भी ऐसा होता है।"

समृद्ध हिन्दुओं की संख्या निश्चय ही बहुत कम थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों की आम जनता ही गरीब बनी रही और द्वारा उनका शोषण होता रहा।

सल्तनत ने एक औसत हिन्दू के दैनिक जीवन को किस हद तक प्रभावित किया, यह वाद–विवाद का विषय है। एक विचार के अनुसार, आम हिन्दू के जीवन पर शायद ही कोई प्रभाव पड़ा जब तक वह अपने करों का भुगतान करता रहता था क्योंकि राज्य उसके जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता था तथा ये कर गांवों में खूत और मुकद्दम अथवा राय और ठाकुर द्वारा वसूले जाते थे। वह मुसीबत में तभी पड़ता था जब कोई स्थानीय युद्ध अथवा अकाल होता था, अथवा जब गांव के अधिकारी या स्थानीय सरदार भू–राजस्व देने में विलंब कर देते थे या रोक लेते थे। निजी एवं दीवानी कानूनों के मामलों में हिन्दू लोग जाति पंचायतों एवं गांव के जमींदार अथवा सरदार द्वारा शासित होते रहे। काजियों का संबंध मुस्लिम कानून से था और जब किसी विवाद में एक ओर हिन्दू और दूसरी ओर मुसलमान होता तो उसका निपटारा काजी करता था।

फिर भी एक केंद्रीकृत राज्य में राज्य का प्रभाव तो बढ़ना अवश्यभावी ही था जैसा कि अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद बिन तुगलक की कृषि नीतियों से स्पष्ट होता है। धर्म के मामलों में काफी स्वतंत्रता दी गई। जलालुद्दीन खिलजी का यह अवलोकन कि हिन्दू लोग यमुना नदी में प्रतिमाओं को विसर्जित करने के लिए उसके महल के बाहर ढोल और नगाड़े पीटते हुए जुलूस लेकर गुजरत थे, इस तथ्य की पुष्टि करता है। मुहम्मद बिन तुगलक तो होली जैसे हिन्दू त्यौहारों में भाग भी लेता था और योगियों एवं जैन संतों के साथ शास्त्रार्थ भी करता था। तथापि एक निरंकुश राज्य में ऐसी स्वतंत्रता को अधिकार के बजाय कृपा माना जाता था। इस प्रकार, स्थानीय तानाशाह हमेशा ही मनमाने ढंग से चल सकते थे, विशेषकर जब कुछ मुल्ले हिन्दुओं का सख्ती से दमन करने की नीति की निरंतर वकालत करते थे और उसे उचित ठहराते थे। इस प्रकार उन्होंने फिरोज तुगलक द्वारा एक ब्राह्मण को

किसी मुसलमान को हिन्दू बनाने के आरोप में खुलेआम जलाए जाने को, अथवा दिल्ली के आसपास के मंदिरों को इस आधार पर नष्ट किए जाने कि वे नए थे एवं उनके इर्द–गिर्द होने वाले त्यौहारों और उत्सवों में मुसलमान भी भाग लेते थे, उचित ठहराने हिन्दुओं के विरुद्ध मनमाने तरीके से कार्य करने से किसी सुल्तान को रोकने के लिए उलमा द्वारा किए गए हस्तक्षेप का शायद एकमात्र अवसर उस समय का है अब उन्होंने इस आधार पर सिकंदर लोदी को कुरुक्षेत्र के पुराने मंदिर और तालाब की पवित्रता भंग करने एवं उन्हें नष्ट करने तथा तीर्थयात्रियों पर आक्रमण करने से रोका कि उक्त मंदिर बहुत पुराना है एवं पूर्व मुस्लिम सुल्तानों ने वहां हिन्दुओं को स्नान करने की अनुमति दे रखी है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक व्यापक धार्मिक सहिष्णुता की परंपराएं सुस्थापित हो चुकी थीं।

कुछ मर्यादाओं के बावजूद यह स्वीकार किया ही जाना चाहिए कि सल्तनत काल के दौरान राज्य ने यूरोप में 16वी सदी तक गैर–ईसाइयों अथवा यहां तक कि प्रतिद्वंद्वी ईसाई पंथों को दी गई धार्मिक स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक मात्रा मे धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। **सतीश चन्द्र** मानते हैं कि निश्चित ही राज्य औपचारिक रूप से उस अर्थ में एक इस्लामी राज्य था जिसमे बरनी ने इसकी व्याख्या की थी। इसका यह अर्थ था कि मुसलमान लोग विशेषाधिकार प्राप्त समूह थे और उनके नैतिक एव भौतिक उन्नति का ध्यान रखने के लिए राज्य पर विशेष दायित्व था। भारत में किसी भी दृष्टि से यह कोई नई बात नहीं थी क्योंकि पहले राजपूत भी विशेषाधिकार प्राप्त समूह थे, और उनके एवं ब्राह्मणों के विशेषाधिकार एक यथार्थ के रूप में स्वीकार किए जाते थे।

ईश्वरीय कानून को लागू करने वाला शासक वर्ग

यदि तीसरी विशेषता पर विचार करें तो यह अपने आप ही रद्द हो जाती है क्योंकि सुल्तान व सल्तनत का अपना आधार ही कुरानी नहीं था। उन्हें अपनी अवैध स्थिति को वैध बनाने के लिए खलीफा से मान्यता हासिल करनी पड़ी और अपनी बनाने के लिए खलीफा से मान्यता हासिल करनी पड़ी और अपनी प्रभुसत्ता कानूनी रूप से खलीफा को सौंपनी पड़ी। दूसरे शब्दों में जिस दिल्ली सल्तनत की प्रकृति के बारे में हम विचार कर रहे हैं वह सल्तनत कानूनी रूप से खुद ही अवैध थी। इसलिए एक सुल्तान जो ईश्वरीय कानूनों को लागू कर सके, को कुरानी मान्यता प्राप्त नहीं थी।

कानूनी दृष्टिकोण से दिल्ली सल्तनत को सन् 1206 ई. में मुहम्मद गौरी के दास कुतुबुद्दीन ऐबक के राजगद्दी पर बैठने एवं गजनी के प्रति इसकी अधीनस्थता के अंत के बाद एक स्वतन्त्र तत्व माना जा सकता है किन्तु जब तक इल्तुतमिश ने अपनी सत्ता सुदृढ नहीं कर ली तब तक गजनी के शासक दिल्ली सल्तनत के राजक्षेत्र पर अपने आधिपत्य का दावा करते ही रहे। वस्तुत दिल्ली सल्तनत के स्वतन्त्र स्वरूप की स्थापना गजनी पर मंगोल नेता चंगेज खान की जीत का एक नतीजा था। इसके कारण मुईज्जुद्दीन मुहम्मद बिन साम का उत्तराधिकारी याल्दौज दिल्ली की ओर भागा और इल्तुतमिश ने उसे कैद कर लिया।

इस प्रकार अपनी स्वतंत्रता दर्शाते हुए भी दिल्ली के सुल्तान शेष इस्लामी जगत के साथ संपर्क बनाए रहने को इच्छुक थे। अतिरिक्त मोहम्मद हबीब भी ये घोषणा करते है कि किसी भी अर्थ में मुस्लिम राज्यधर्म प्रधान राज्य नहीं था। **के. ए. निजामी** का विचार है कि सल्तनत में धार्मिक राज्य के आवश्यक तत्व मौजुद नहीं थे। "शरियत" (कुरान + हदीस) में सल्तनत का कोई स्थान नहीं थी। इस दृष्टि से यह एक गैर कानूनी संस्था थी। उच्च श्रेणी के अधिकारी अमीर सल्तनत की नीतियों को प्रभावित करते थे। धार्मिक नेताओं का स्थान उनके बाद आता था। सल्तनत ने किसी धार्मिक उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया

सैनिक राज्य

के. एल. श्रीवास्तव सल्तनत को एक धर्म प्रधान राज्य के साथ–साथ एक सैनिक राज्य के रूप में मानते हैं। उनका मानना है कि मध्य युग में शासन का स्वरूप सैनिक था। जब तक सम्भव होता था तब तक सुल्तान देश के महत्पूर्ण भागों में छावनियां बनाए रखते थे। राज्य के कार्यों का क्षेत्र सीमित था और साधारणतया उनके दो ही मुख्य कार्य होते थे। एक तो देश मे शान्ति बनाए रखना अर्थात् बाहरी आक्रमणों व आन्तरिक उपद्रवों से देश की रक्षा करना व दूसरा मालगुजारी वसूल करना गैर मुस्लिम प्रजा की सार्वजनिक शिक्षा और सामाजिक एवम् आध्यात्मिक उन्नति के कार्यों को उन पर ही छोड़ दिया जाता था लेकिन मुस्लिम प्रजा के लिए अवश्य ही शासन ये सब कुछ करता था। इसलिए **ए. एल. श्रीवास्तव** के अनुसार मध्ययुगीन राज्य को लोक हितकारी राज्य नहीं कहा जा सकता।

इसके विपरीत **के. ए. निजामी** का विचार है कि इस काल में सैनिक अभियानों व सैनिक छावनियों की अधिकता के आधार पर राज्य को सैनिक स्वरूप का नहीं माना जा सकता। उनका मानना है कि जनता की स्वीकृति के बिना कोई राजनैतिक ढांचा नहीं चल सकता और कोई सरकार देश में सदियों तक नहीं चलाई सकती। राजपूत जिन्हें सामाजिक व राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे

वंचित कर दिया था तो वे कभी भी विद्रोह कर सकते थे, लेकिन तुर्कों को इस भारतीय विद्रोह का सामना नहीं करना पड़ा। जिससे ये समझना ठीक है कि हिन्दुओं ने तुर्की शासन को स्वीकार कर लिया था। इस संदर्भ में **मोहम्मद हबीब** का भी मानना है कि किसी मुसलमान की हिम्मत नहीं थी कि हिन्दुस्तान की एक इंच भूमि पर भी कब्जा करते यदि उसमें हिन्दुओं की स्वीकृति शामिल न होती।

मोहम्मद हबीब ने मुस्लिम राज्य को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में प्रस्तुत किया है लेकिन इसे धर्म निरपेक्ष राज्य भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि समस्त वर्गों के लोगों की स्थिति अलग–अलग थी। हिन्दूओं को जिम्मी माना जाता था जो राज्य को जजिया कर देते थे। उन पर कई प्रतिबन्ध थे। उन्हें खुले व सार्वजनिक रूप से अपने धार्मिक रीति रिवाजों का पालन करने, धर्म प्रचार करने व नए मंदिर आदि बनाने की अनुमति नहीं थी। नागरिक अधिकारों के उपयोग व राजकीय पदों की नियुक्ति में भी मतभेद थे। हिन्दूओं को द्वितीय श्रेणी का नागरिक माना जाता था। इसे धर्म निरपेक्ष राज्य भी नहीं का जा सकता।

निरंकुशता, जन कल्याण एवं विकास

राज्य के बारे में अपने चिंतन में मुस्लिम राजनीतिक विचारकों ने राज्य शक्ति की प्रकृति और वैध उद्देश्य के बारे में एवं राज्य और सुल्तान की नैतिक सत्ता के आधार के बारे में प्रश्न उठाए। राजनीतिक विचारक राजतंत्र को सामाजिक अराजकता के विरुद्ध, जिसमें संपत्ति और स्त्रियों के सम्मान की रक्षा नहीं की जा सकती, एकमात्र सुरक्षा–उपाय मानते थे। आम तौर पर राजनीतिक विचारक एक व्यक्ति यानी सुल्तान के शासन को पसंद करते थे जिसमें आवश्यक सामाजिक और नैतिक गुण हों और जिसे एक तरह से अल्पतंत्र मंडल अथवा अमीरतंत्र मंडल पर शासन करने का ईश्वर से अधिकार मिला हुआ हो। निरंकुशता का प्रश्न बहुत से मध्यकालीन मुस्लिम विचारकों के चिंतन का विषय रहा। जियाउद्दीन बरनी निरंकुशता अथवा तानाशाही को मूलतः गैर–इस्लामी समझता था एवं मानता था कि सुल्तान की निरंकुशता अथवा उसके द्वारा अपनी व्यक्तिगत शक्ति के दुरूपयोग पर केवल धर्म ही अंकुश लगा सकता है। किन्तु उन्होंने (विचारकों ने) किसी अन्यायी सुल्तान के विरुद्ध, कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर (जैसे शरीयत के खुले और स्पष्ट उल्लंघन के मामले में), विद्रोह करने का अधिकार नहीं दिया। **बरनी** ने निरंकुशता को स्वीकार कर लिया क्योंकि भारत में जो स्थिति थी उसमें कठोर दंड देने के लिए प्रशासन विवश था। विशेष रूप से **बरनी** का मत था कि नीच एवं अधम लोग, जिनकी तुलना वह 'पशुओं और शिकार किए जाने लायक जंगली जानवरों' से करता है, 'प्रचुर एवं बड़ी संख्या' में हैं। एक निरंकुश द्वारा उन्हें दंडित किया जाना एवं उनका कठोर दमन किया जाना न केवल अपरिहार्य, अपितु वांछनीय भी था। इस प्रकार, **बरनी** ने निरंकुशता का एक सामाजिक कारण ढूंढ़ लिया।

अब प्रश्न यह था कि ऐसी स्थिति में राज्य की नैतिक सत्ता को किस प्रकार कायम रखा जाए। इसी संदर्भ में मध्यकालीन राजनीतिक विचारकों ने 'अदल' अथवा न्याय की संकल्पना पर बल दिया। न्याय का अर्थ था धनी और निर्धन, संबंधी और अपरिचित, कुलीन और नीच के बीच कोई भेद न करना। '**सियासतनामा**' के लेखक **निजामुद्दीन** ने न्याय की संकल्पना पर काफी बल दिया है। **बरनी** आदि कई विचारकों ने धार्मिक दायित्व निभाने से भी महत्व न्याय को दिया है। **बरनी** के अनुसार एक शासक के लिए न्याय का कार्य सत्तर वर्षों की नमाज से भी अधिक महान होता है। परन्तु न्याय का अर्थ चालू सामाजिक व्यवस्था की परिरक्षा करना भी है जो एक कठोर सोपानिक आधार पर संगठित थी तथा जिसमें नीच और अधम लोगों को जिनमें शिल्पकार और किसान सम्मिलित थे, सत्ता से बाहर एवं अधीनस्थ स्थिति में रखा जाना था।

इन सब के बावजूद न्याय ने विशेष रूप से अमीरों तथा निचली क्षेणी के पदाधिकारियों द्वारा मनमाने अधिकार एवं शक्ति के प्रयोग पर एक सीमा तक अंकुश लगाया। इसे जन कल्याण अथवा जन सेवा की अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में भी देख जाना चाहिए। मुस्लिम एवं हिन्दू दोनों संतों ने अपने और शासकों के लिए समान रूप से इस तथ्य पर बल दिया। परिसीमनों के भीतर रहते हुए उन्होंने समाज की सोपानिक संरचना की भी आलोचना की एवं मानव समानता की अवधारणा की अवधारणा का समर्थन किया। उस हद तक वे जनाकांक्षाओं को मुखरित करने वाले माध्यम बन गए एवं अपने स्पष्ट दृष्टिकोण के जरिए उन्होंने लोगों को राहत पहुंचाई तथा एक कठोर असमान व्यवस्था से भाग निकलने का रास्ता दिखाया। परन्तु, राजनीतिक स्तर पर जनकल्याण की अवधारणा पर सुल्तानों ने बहुत कम ध्यान दिया। जलालुद्दीन खिलजी के बाद फिरोज तुगलक पहला ऐसा तर्क सुल्तान था जिसने इस अवधारणा को, विशेषकर मुसलमानों के संदर्भ में क्रियान्वित करने की कोशिश की यद्यपि गैर–मुसलमानों को इससे पूरी तरह अलग नहीं किया जा सका।

अत्यंत केन्द्रीकृत और सैनिकवादी, संकीर्ण सामाजिक आधार वाले शासक वर्ग से युक्त ऐसा राज्य क्या देश के आर्थिक और सांस्कृतिक विकास को बढ़ावा दे सका? इन सभी परिसीमनों के बावजूद देश की वास्तुकला, साहित्य और संगीत में वृद्धि हुई

जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों ने समान रूप से योगदान दिया। सूफीवाद और भक्ति आंदोलन की वृद्धि ने भी पारस्परिक शत्रुता को कम करने का कार्य किया एवं आपसी मेलजोल हेतु आधार तैयार किया। आर्थिक क्षेत्रों में यद्यपि केवल कुछ ही सुल्तानों से मुहम्मद बिन तुगलक एवं फिरोज शाह तुगलक, ने कृषि के विस्तार और उन्नति में सक्रिय रुचि ली, किन्तु राजस्व प्रशासन के केन्द्रीकृत व्यवस्था के कारण राज्य के लिए ग्रामीण जीवन में अधिक प्रभावी ढंग से हस्तक्षेप करना संभव हो गया। शासक वर्ग के हाथों में राजस्व अधिशेष के उच्च अनुपात में केन्द्रीकरण ने उच्चकोटि के शिल्प–उत्पादन को बढ़ावा दिया और शहरीकरण को प्रोत्साहित किया। इस्लामी जगत के साथ अधिक विस्तृत सांस्कृतिक संपर्क स्थापित होना, देश की सीमाओ को व्यापार के लिए खोलना, सड़क संचार में सुधार, एक स्थायी मुद्रा यानी रजत टंका की व्यवस्था, एवं दक्षिण–पूर्व एशिया के देशों और चीन के साथ समुद्री व्यापार को सक्रिय प्रोत्साहन–इन सबों के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि जब पुर्तगालियों ने, जैसा कि आधुनिक शोध से पता चलता है, 15वीं सदी के अंत में हिंद महासागर में प्रवेश किया तो उन्होंने देखा कि उक्त क्षेत्र मे व्यापार और समृद्धि अभूतपूर्ण ऊंचाइयों को छू रही थी। किन्तु कौन–कौन से समूह और तत्व इससे लाभान्वित हुए तथा कौन इन गतिविधियों के प्रभाव से अछूते रहे, यह एक अलग प्रश्न है क्योंकि आज की तरह उस समय भी समृद्धि और घोर दरिद्रता साथ–साथ मौजूद रही

इस प्रकार, सल्तनत काल 'अंधकार युग' नहीं था, यद्यपि कुछ लोगों ने इसे ऐसा ही माना था सच यह है कि उस दौरान कठोर व संकीर्ण आर्थिक और सामाजिक ढांचा ध्वस्त हुआ जो इस देश में 8वीं और 12वीं सदियों के बीच प्रबल रहा था। वस्तुत सल्तनत ने सीमित रूप में ही सही, पर विकास हेतु उपयुक्त परिस्थितियां उत्पन्न की।

इरफान हबीब ने भी अपने लेखों में सल्तनत युग में हुए विभिन्न सामाजिक, आर्थिक परिवर्तनों की ओर ध्यान दिलाया है। **के. ए. निजामी, अशरफ** ने भी उन सूत्रों का परीक्षण किया जिनके माध्यम से दोनों धर्मों के लोग एक दूसरे के नजदीक आए व एक दूसरे के जीवन व रीति–रिवाजों को प्रभावित किया।

उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकाल में राज्य न तो धर्म–प्रधान था, न धर्म–निरपेक्ष व न सैनिक यन्त्र। शासकों ने जिस परिस्थिति में जैसा ठीक समझा, वैसा ही रूप इस्तेमाल किया अन्त में कहा जा सकता है कि एक ऐसे राज्य में जहां प्रजा गैर मुस्लिम थी और बहुत अधिक बहुमत में थी और शासक वर्ग, जो मुसलमान थे वे बहुत अल्पमत मे थे, धर्म प्रधान राज्य न सम्भव था, न आवश्यक था।

राज्य (State)

(ख) दिल्ली सुल्तानों का राजस्व सिद्धान्त (Kingship)

इस्लाम सामाजिक और राजनैतिक समानता की दृढ़ नींव पर आधारित है और इस आधार पर प्रभुसत्ता पर किसी वर्ग विशेष अथवा वंश का एकाधिकार स्वीकार नहीं करता है। सम्पूर्ण प्रभुसत्ता जनसाधारण (मिल्लत) में निहित होने के कारण मिल्लत को अपना नेता चुनने का अधिकार था और योग्यता ही इसकी एकमात्र कसौटी थी। हजरत मुहम्मद के पश्चात् मिल्लत ने उनके उत्तराधिकारी (खलीफा) का चुनाव इसी आधार पर किया किन्तु उसी समय यह भावना घर करने लगी थी कि इस्लाम का नेतृत्व हजरत मुहम्मद के वंश तक ही सीमित रहना चाहिए। उमैय्यद व अब्बासी खलीफाओं के समय में वंशानुगत उत्तराधिकार की परम्परा लगातार बलवती होती रही किन्तु शासक द्वारा अपने उत्तराधिकारी को मनोनीत करने अथवा चुनाव द्वारा नेता चुनने के सिद्धान्त को अस्वीकार नहीं किया गया। इस्लाम के विकास के आरम्भिक चरणों में ही चुनाव की प्रक्रिया में समस्त इस्लाम समर्थकों द्वारा भाग लेने की कठिनाई अनुभव की जाने लगी और निर्वाचकों की संख्या में लगातार कटौती की प्रक्रिया जारी रही। यहां तक कि यह केन्द्र के प्रमुख व्यक्तियों और अमीरों तक सीमित हो गई। इस औपचारिकता को बनाये रखना आवश्यक था क्योंकि यह स्वयं एक अर्थ–धार्मिक आवश्यकता थी। केन्द्र के प्रमुख व्यक्तियों से सीमित होते–होते इसने शासक द्वारा उत्तराधिकारी को मनोनीत करने का स्वरूप धारण कर लिया। तत्पश्चात् प्रभुसत्ता का आधार वंशानुगत हो जाना स्वाभाविक था और इसमें शासक अपने पुत्र को वरीयता देना रूचिकर समझता था। इससे यह परिणाम निकलता है कि निर्वाचन प्रणाली को पूर्णतया त्याग दिया गया था, अनुचित होगा क्योंकि इसके बाद भी सैद्धान्तिक आधार पर अयोग्य व अवांछित उत्तराधिकारी से मुक्ति प्राप्त करने की व्यवस्था थी जो अप्रत्यक्ष रूप से प्रभुसत्ता का समस्त मुस्लिम वर्ग (मिल्लत) में निहित होना बताती थी। **डॉ. आर. पी. त्रिपाठी** का मत है कि व्यवहार में इसमें चुनाव अथवा वंशानुगत उत्तराधिकारी प्रणाली के लाभ संदिग्ध थे अपितु सम्भवतः इसमें दोनों हानियां विद्यमान थीं।

वैधानिक सम्प्रभु–डॉ. कुरैशी ने दिल्ली सल्तनत के प्रशासन के अन्तर्गत सम्प्रभुता को वैधानिक तथा वास्तविक सम्प्रभु में विभाजित किया है। सुल्तान वैधानिक रूप में तो स्वयं को खलीफा का नायब अथवा डिप्टी मानते थे परन्तु व्यवहारिक रूप में वे वास्तविक सम्प्रभु थे। खलीफा को वैधानिक सम्प्रभु स्वीकार करने में इस्लामी प्रभुसत्ता का सिद्धान्त अधिक सक्रिय था। इसके अनुसार संसार के समस्त मुस्लिम राज्यों का एक ही शासक है जिसे खलीफा की संज्ञा दी गई है। उस समय खलीफा पूर्णतया शक्तिशाली था और वही समस्त मुस्लिम प्रान्तों के लिए गवर्नरों की नियुक्ति करता था। यदि कोई उत्साही तथा साहसिक मुसलमान किसी नये प्रदेश को विजित कर स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लेता तो भी वह अपने राज्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए खलीफा के नाम का उपयोग करता तथा राज्य की स्वीकृति उससे प्राप्त करता था। 1258 ई. में मंगोल नेता हलाकू ने खिलाफत का मटियामेट कर दिया परन्तु इसके बाद भी खिलाफत की एकता का आडम्बर बना रहा, क्योंकि इससे मुस्लिम शासकों को कोई हानि नहीं थी। दिल्ली के सुल्तान भी इस परम्परा का पालन करते रहे। वे स्वयं को खलीफा का नाइब कहते थे तथा खुतबे में उसका नाम सम्मिलित करते थे।

सल्तनत काल में पहली बार इल्तुतमिश को खलीफा ने प्रतिष्ठापन अभिषेक प्रदार किये। उसके पुत्र, अमीर और दासों कों भी यथोचित सम्मान दिया गया। व्यवहारिक दृष्टि से इसका अर्थ यह नहीं था कि खलीफा ने इल्तुतमिश को सुल्तान नियुक्त किया है, अपितु यह केवल एक राजनीतिक चाल थी। इससे इल्तुतमिश ने अपने राज्याधिकार को मान्य व सुदृढ़ बनाया तथा सह–दासों से अपनी श्रेष्ठता को स्वीकार करवाया। इस मिथ्या सम्बन्ध के साथ ही कानूनी रूप में सुल्तान की मान्यता बढ़ गई। इस मिथ्या सम्बन्ध अनुमान इसी से लगाया सकता है कि इल्तुतमिश ने बंगाल के शासक गयासुद्दीन को अपने आधीन करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई यद्यपि उसी के समान उसने भी खलीफा से मान्यता प्राप्त की थी। इस प्रकार दोनों ही न केवल समान स्थिति के थे अपितु दोनों ही खलीफा के समर्थक भी थे। इस सन्दर्भ में डॉ. बनारसी प्रसाद की यह धारणा अधिक उचित मालूम पड़ती है कि इल्तुतमिश ने धार्मिक भावनाओं की अपेक्षा राजनैतिक मागों को पूरा करने के लिए इसे अपनाया था। अपने साथ आये हुए अन्य तुर्कों तथा स्थानीय मुसलमानों का समर्थन प्राप्त कने के लिए यह सरल साधन था। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि 1260 ई. में जब खिलाफत के विरोधी हलागू के प्रतिनिधि भारत आये तो सुल्तान ने उनका यथोचित सम्मान किया। यदि खिलाफत के प्रति कोई सम्मान शेष होता तो खलीफा के शत्रुओं का इस प्रकार से स्वागत नहीं किया जाता। परन्तु सुल्तान के सम्मुख धार्मिक भावनाओं की तुलना में लौकिक मांगों की महत्ता अधिक थी। मंगोलों को प्रसन्न करना जरूरी था क्योंकि इससे ही उनके बर्बर

आक्रमणों से अपनी सीमाओं को सुरक्षित रख सकना सम्भव था। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि खल्जियो के समय में षड़यन्त्रकारियों ने सिद्दी मोला को खलीफा बनाने की योजना बनाई। इससे यह स्पष्ट है कि साधारण वर्ग खलीफा अथवा खिलाफत के प्रति उदासीन था। अलाउद्दीन ने नासिर–ए–अमीर–उल–मोमिनीन (मुसलमानों का नेता अर्थात् का खलीफा के सहायक) व यामिन–उल–खिलाफत की उपाधियां धारण कीं। इससे यह स्पष्ट है कि वह स्वयं खलीफा बनने का विचार ना नहीं रखता था परन्तु उसके साथ ही यह भी सत्य है कि दरबार में एक ऐसा दल भी था जो सुल्तान द्वारा खलीफा का पद ग्रहण करने के पक्ष में था। खजाईन–उल–फुतूह में अमीर खुसरों ने उसे सदैव ही खलीफा की संज्ञा से सम्बोधित किया है। वास्तविकता यह है कि बलबन अथवा अलाउद्दीन ने खलीफा के प्रति कोई सम्मान प्रदर्शित नहीं किया अपितु खिलाफत की मिथ्या धारणा के प्रति वे श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते रहे। मुबारकशाह खल्जी ने रही–सही मिथ्या भावना को भी समाप्त कर स्वयं खलीफा की उपाधि धारण कर ली। समकालीन इतिहासकारों ने (जो इस्लामी कानून के पूर्णतया जानकार थे) कहीं पर मुबारक शाह के इस कार्य की निन्दा नहीं की है। जिससे यही परिणाम निकलता है कि सुल्तानों पर खलीफा का कोई सक्रिय प्रभाव नहीं था और खिलाफत केवल नाममात्र की एक औपचारिकता थी।

अपने आरम्भिक वर्षों में मुहम्मद तुगलक ने खलीफा के प्रति सम्मान नहीं दिखाया। मुबारक शाह, जिसने स्वयं खलीफा की उपाधि धारण कर ली थी, के प्रति उसने श्रद्धाञ्जलि अर्पित की ओर उसके मकबरे के वृत्तिदान के वृत्तिदान को दुगुना कर दिया। उसके सिक्के भी इस बात को प्रमाणित करते हैं कि आरम्भ में वह खलीफा के प्रति किसी प्रकार का लगाव नहीं रखता था। अपने शासन के अन्तिम वर्षों में असफल योजनाओं से अर्जित अलोकप्रियता को समाप्त करने के लिए ही सम्भवतः उसने खलीफा के नाम का उपयोग किया, उससे खिलाफत प्राप्त की तथा पुनः खुतबे में उसका नाम दिया जाने लगा। फीरोज शाह तुगलक ने खलीफा के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया और दो बार खिलाफत प्राप्त की परन्तु इसके बाद उसने खुतबे में मुबारक शाह का नाम रखा जिसने कि स्वयं खलीफा की उपाधि धारण की थी। यदि फीरोज जैसे धार्मिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति के हृदय में खलीफा अथवा खिलाफत के प्रति तनिक भी सम्मान होता तो वह ऐसे व्यक्ति का नाम खुतबे में कभी भी सम्मिलित नहीं करता।

तुगलकों के बाद सैयद खिज्रखां ने स्वयं को '**रायाते आला**' अर्थात् विजेता का नाइब सम्बोधित किया। उसके उत्तराधिकारी मुबारक शाह ने सिक्कों पर **नाइब-ए-अमीर-उल-मोमिनीन** अंकित करवाया और इस प्रकार खिलाफत के प्रति सम्मान दर्शाया। लोदियों ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया। **डॉ. कुरैशी** का मत है कि खिलाफत के प्रति सम्मान प्रकट करने का यह परम्परागत रूप सुल्तानों द्वारा इसलिए स्वीकार किया जाता रहा कि वे सुदूर काहिरा में अपने दूत भेजकर खलीफा से मान्यता–पत्र प्राप्त करने की कठिनाई से बच जायें। उनका ये सम्मान प्रदर्शन केवल नाम–मात्र का था।

आधुनिक इतिहासकारों ने सुल्तानों द्वारा खलीफा का प्रभुत्व स्वीकार करने की परम्परा को इस्लामी जगत की एकता को वास्तविक सिद्ध करने की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है लेकिन जैसा कि **डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव** का मत है, "तथ्य यह है कि किसी दिल्ली सुल्तान ने कभी भी खलीफा को अपना वास्तविक सम्प्रभु स्वीकार नहीं किया। फिर भी चूंकि उस युग के शासक विदेशी और मुसलमान थे, इसलिये बाहरी इस्लामी जगत से रस्मी सम्बन्ध कायम रखना लाभप्रद समझते थे।"

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि सुल्तान खलीफा के प्रति केवल दिखावे के रूप में विनीत अथवा विनम्र थे जिससे गद्दी पर बने रहने की उनकी स्थिति दृढ़ बनी रहे तथा खिलाफत के नाम पर वे मुस्लिम वर्ग की सहानुभूति प्राप्त कर सकें। खिलाफत की इस स्थिति ने वास्तविक सम्प्रभु की समस्या को खड़ा कर दिया।

वास्तविक सम्प्रभु–वैधानिक रूप में यद्यपि दिल्ली सल्तनत खिलाफत का एक अंग था परन्तु व्यावहारिक रूप मे यह एक स्वतन्त्र राज्य था, यहां तक कि खिज्रखां द्वारा तैमूर के प्रभुत्व को स्वीकार करना भी मात्र औपचारिकता थी। दिल्ली सल्तनत का वास्तविक सम्प्रभु सुल्तान था। सैद्धान्तिक आधार पर सुल्तान भारत में खलीफा का प्रतिनिधि था जिसे खलीफा ने उसके नियन्त्रण–क्षेत्र में सभी अधिकार प्रत्यायोजित कर दिये थे, जिनका उपभोग वह स्वयं करता था। परन्तु इसके बाद भी खलीफा के अधिकार था कि उन नियमों को उलट दे जिनको सुल्तान ने कार्यान्वित न किये हों। व्यावाहारिक रूप में सुल्तान खलीफा से इतना अधिक दूर तथा इतना शक्तिशाली भी था कि उसके मामलों में खलीफा द्वारा हस्तक्षेप केवल अव्यवहारिक ही नहीं अपितु अदूरदर्शितापूर्ण भी होता। इसके अतिरिक्त दिल्ली सल्तनत की स्थापना संयोग से उस समय हुई जब खिलाफत अपनी अन्तिम सांसें गिन रहा था इसलिये खलीफा द्वारा हस्तक्षेप की संभावना और भी कम हो गई। सुल्तान वास्तविक सम्प्रभुता का उपभोक्ता था और यदि वह खलीफा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करता था और स्वयं को यदि खलीफा का नाइब स्वीकार करता था तो वह केवल एक औपचारिकता ही थी। यह प्रचलित मुस्लिम परम्परा का निर्वाह मात्र था जिसे सुल्तान छिन्न–भिन्न करने में कोई लाभ

की आशा नहीं करता था। केवल इस औपचारिकता के आधार पर यदि सुल्तान मुस्लिम वर्ग की सहानुभूति जीत सके और उलेमा–वर्ग को अपने पक्ष में कर सके तो इस हेतु चुकाया गया मूल्य न्यूनतम था और उससे प्राप्त लाभ अनुपात में कहीं अधिक थे।

सुल्तान क्योंकि किसी प्रतिष्ठित वंश से सम्बन्धित न थे इसलिए आरम्भ में उन्होंने ऐसी नीति अपनायी जिसकी स्वीकृति उलेमाओं से मिल सके। ऐसी परिस्थिति में उलेमा वर्ग न अनपेक्षित प्रभाव जमा लिया और सुल्तानों को यह साहस न हो सका कि वे उनकी अवहेलना कर सकें। उन्हें सन्तुष्ट रखने के लिए ही सुल्तान ने 'शेख–उल–इस्लाम' को गैर–धर्मावलम्बियों के प्रति राज्य की नीति निर्धारित करने में काफी स्वतन्त्रता दी। बलबन जैसे शक्तिशाली शासक ने भी उलेमाओं के साथ समझौता करने की नीति में ही भलाई देखी। खल्जी राज्य–काल में अलाउद्दीन ने उनकी शक्ति को सीमित करने का प्रयास किया और राज्य के मामलों में उनके हस्तक्षेप को रोका परन्तु धार्मिक मामलों में उनकी स्वतन्त्रता को बनाय रखा। मुहम्मद तुगलक उलेमाओं के हस्तक्षेप को किसी भी क्षेत्र में स्वीकार करने को तत्पर नहीं था इसलिए उसने इनको राज्य के दूसरे कर्मचारियों के समान ही रखना चाहा जिससे उलेमाओं में असन्तोष बढ़ा और सुल्तान को उनका तथा जनता का कोपभाजक बनना पड़ा। फीरोज तुगलक ने पुनः उलेमा–वर्ग को राज्य और धार्मिक नीतियों के निर्णय में श्रेष्ठता देकर मुहम्मद की नीति को पूर्णतया उलट दिया। अफगान शासकों ने भी इसी नीति का पालन किया। इस प्रकार दिल्ली के सुल्तानों में केवल अलाउद्दीन खल्जी व मुहम्मद तुगलक को छोड़कर समस्त सुल्तानों ने उलेमा वर्ग को राज्य की नीति निर्धारित करने में महत्ता दी। इसलिए दिल्ली सल्तनत ने एक ऐसा इस्लामी स्वरूप धारण कर लिया जिसें सुल्तान धर्म का रक्षक, उसे बढ़ाने वाला व मुस्लिम जगत का संरक्षक था। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि सुल्तानों की निरंकुशता पर किसी प्रकार की आंच आई होगी नितान्त भ्रमात्मक होगा क्योंकि उलेमाओं के शक्तिशाली होने के बाद भी सुल्तान निरंकुशता था। यदि वह उलेमा–वर्ग की राय लेता था तो वह केवल तात्कालीन राजनीतिक स्थिति की मांग थी और सुल्तान इसको ठुकराकर स्वयं के लिए अनावश्यक आपत्ति आमन्त्रित करने के लिए तत्पर न था। सुल्तान जब तक शक्ति–सम्पन्न था तब तक वह पूर्ण निर्भीक था और उसे अपदस्थ करना सम्भव न था।

इल्बारी तुर्कों की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त–मुहम्मद गौरी की आकस्मिक मृत्यु के बाद कुतुबद्दीन ने स्वयं को स्वतंत्र सुल्तान घोषित किया परन्तु इसके बाद भी उसे इस्लामी भारत का प्रथम प्रभुसत्ता सुल्तान मान लेना सन्देहास्पद है। प्रथमतः यह दुविधाजनक है कि मुहम्मद गौरी ने उसे अपने भारतीय अधिकार–क्षेत्र का गवर्नर नियुक्त किया था। फखरूद्दीन मोहम्मद यह स्वीकार करता था कि मुहम्मद गौरी ने (602 हिजरी) खोखरों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् उसे अपने भारतीय राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया था। समाकलीन लेखक हसन निजामी इस तथ्य की पुष्टि नहीं करता। क्योंकि फखरूद्दीन मोहम्मद ने अपनी रचना कुतुबुद्दीन को अर्पित की थी इसलिए उसकी धारणाओं को अकाट्य स्वीकार कर लेना उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र मुस्लिम शासकों की परम्पराओं के अनुसार न तो राज्याभिषेक पर सिक्के ही जारी किये गये और न ही उसके द्वारा खुतबा पढ़वाया गया। यद्यपि वो स्वयं को मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा समस्त विजित प्रदेशों का शासक होने का दावा भरता था परन्तु उसके द्वारा इस दावे के प्रतिपादन मात्र से उसे सार्वभौमिक शासक स्वीकार करना सम्भव नही है। यह सत्य है कि राज्य अधिकारियों का एक भाग उसका समर्थक तथा हितैषी था परन्तु हितैषी होना तथा सत्ता को स्वीकार करना दो भिन्न–भिन्न मापदण्ड हैं। स्थिति यह थी कि बयाना का शासक बहाउद्दीन जो मुस्लिम सेना का कमाण्डर था, उसको अपना स्वामी स्वीकार करने को तत्पर नहीं था। सम्भवतः इसी प्रकार के दूसरे सैनिक अधिकारी भी उसकी सत्ता के विरोधी रहे हों। इन तथ्यों के अतिरिक्त ने तो **इब्न बतूता** उसे दिल्ली का प्रथम शासक मानता है और न ही फीरोज तुगलक ने उसका नाम अपने खुतबे में रखा था। इस इसके बाद भी उसकी समस्त प्राप्तियों को महत्वहीन मान लेना भूल होगी। उसने एक ओर भारत में मुस्लिम शक्ति की स्थापना की तथा दूसरी ओर भारत को गजनी की सर्वोच्चता से मुक्त कर, स्वतन्त्र रूप से मुस्लिम शक्ति के विकास की आधारशिला रखी।

डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार "भारत में मुस्लिम प्रभुसत्ता का इतिहास यथार्थ में इल्तुतमिश से आरम्भ होता है।" कुतुबुद्दीन के पुत्र आरामशाह के समर्थकों का प्रयत्न बुरी तरह असफल रहा। दिल्ली के अमीरों ने बदायूं के अधिकारों तथा स्वतन्त्र मुस्लिम इल्तुतमिश को संयुक्त रूप से आमन्त्रित किया।

इल्तुतमिश एक योग्य सेनानायक था। खोखरों के विरुद्ध रणकोशलता का परिचय देकर न केवल उसने दासता से मुक्ति प्राप्त की थी अपितु मुहम्मद गौरी की प्रशंसा का भागी हुआ था। वह कुतुबद्दीन की तुलना में अधिक संयमी व धार्मिक प्रवृत्ति का था। उस समय की परिस्थितियों में जबकि दिल्ली का राज्य एक नवजात शिशु के समान था, उसे ऐसे ही व्यक्ति की आवश्यकता थी जिसमें राज्य को सुगठित करने का सामर्थ्य हो, अपेक्षाकृत ऐसे व्यक्ति को जो कुतुबद्दीन का पुत्र होने के बाद भी नितान्त निर्बल और असहाय हो। इसी आधार पर इल्तुतमिश को गद्दी हड़पने वाला स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि हड़पने के लिए कुछ शेष था ही नही। इल्तुतमिश दिल्ली के अमीरों का उम्मीदवार (प्रत्याशी) था और भविष्य ही यह बताने में समर्थ था कि उन्होंने उचित

उम्मीदवार का चयन किया है अथवा नहीं। उसे न तो ऐबक की भांति गौरी का समर्थन और न ही समस्त तुर्क अमी का विश्वास ही प्राप्त था अपितु उसे अपने प्रतिद्वन्द्वी आरामशाह से युद्ध कर अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करना था। यही नहीं अपितु क्षित–विक्षित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को उसे पुनर्जीवित कर पुनर्स्थापित भी करना था।

इल्तुतमिश के दास होने के आधार पर काजी वजीउद्दीन ने उसके शासक चुने जाने को चुनौती दी। परन्तु दासता से मुक्ति का पत्र दिखाकर उसके विरोध को शान्त कर दिया। इसी प्रकार जानदारों (Commander of the gaurds) का विरोध भी अल्पकालीन सिद्ध हुआ। उसके साहसिक उद्यमों की सफलता, उसके आत्म–संयम तथा नर्मी से अर्जित लोकप्रियता तथा मुक्त–हस्त से दानशीलता ने उसे मुल्तान से गौड़ का स्वामी बना दिया। अपनी कूटनीति से वह मंगोलों की उलझन से मुक्त तथा यलदुज और कुबाचा के संयुक्त आक्रमणों से सुरक्षित रह सका। इल्तुतमिश ने चाटूकारी से काम लेकर यलदुज द्वारा भेजे गये छत्र, दण्ड आदि राज–चिन्हों को शान्ति से स्वीकार कर लिया जिससे वह भ्रमवश इल्तुतमिश को अपने आधीन ही मानने लगा। परन्तु जब उसने प्रादेशिक क्षेत्राधिकार (Territorial jurisdiction) का दावा किया तो इल्तुतमिश के पास युद्ध के अतिरिक्त कोई चारा न रहा। तराइन के युद्ध में उसे पराजित कर इल्तुतमिश ने प्रभुसत्ता के एक प्रमुख दावेदार को न केवल भौतिक रूप से समाप्त कर दिया अपितु दिल्ली को गजनी के बन्धनों से मुक्त कर स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली।

इल्तुतमिश ने अपनी सत्ता को दृढ़ता करने, मुस्लिम वर्ग की सहानुभूति प्राप्त करने तथा शरा की औपचारिकता को पूरा करने के लिए (1229 में) बगदाद के खलीफा से प्रतिष्ठापन अभिषेक प्राप्त किये। डॉ. त्रिपाठी के अनुसार, उसके इसके लिए स्वयं प्रार्थना की थी अथवा खलीफा मंगोलों के बढ़ते हुए जोखिम के विरुद्ध एक शक्तिशाली मुस्लिम शासक की सहायता का इच्छुक था स्पष्ट नहीं है। वास्तविकता कुछ भी रही हो लेकिन इसने दिल्ली सल्तनत को खिलाफत की कल्पना में कस दिया और इस प्रकार खलीफा द्वारा प्रभुसत्ता की स्वीकृति को मान्य ठहराया। इल्तुतमिश की इसमें कोई सृष्टि नहीं थी अपितु मुस्लिम विधि, राजनैतिक परम्परा गजनवी व गौरी वंशों की कुल परम्परा इसके लिए उत्तरदायी थीं। इसी स्वीकृति से इल्तुतमिश सुल्तान के पद को वंशानुगत बना सका।

इल्तुतमिश ने यह अनुभव किया कि उसकी शक्ति इसी में निहित है कि वह स्वयं की आज्ञाकारिता को लागू करने पर बल दे और सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर बंगाल के शासक गयासुद्दीन के विरुद्ध कार्यवाही की गई जिसने कि उसी के समान बगदाद के खलीफा से स्वीकृति–पत्र प्राप्त कर लिया था और 'शाहानी–शाह' की उपाधि धारण की थी। इल्तुतमिश प्रभुसत्ता में किसी को साझेदार बनाने के लिए तत्पर न था इसलिए उसने उसे पराजित कर उससे स्वयं को 'सुल्ताने आजम' स्वीकार करवाया

इल्तुतमिश ने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। वह स्वयं इसका प्रथम सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न तुर्क मुस्लिम शासक था। उसकी शक्ति तीन तथ्यों पर आधारित थी—वह अधिकारी वर्ग द्वारा निर्वाचित, आज्ञाकारिता को लागू करने तथा विजय करने का अधिकारी था। औपचारिक रूप में उसे बगदाद को खलीफा द्वारा मान्यता प्राप्त थी। परन्तु इसके पश्चात् भी यह समस्त तुर्क सरदारों की उपस्थिति में तख्त पर बैठने में हिचकिचाता था। सम्भवतः इसलिए कि उस समय में किसी सम्राट की स्थिति एक उन्नत अमीर से अधिक नहीं आंकी जाती थी।

इस कमजोरी के बाद भी इल्तुतमिश ने प्रभुसत्ता के क्षेत्र में जो योगदान दिया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण था। **प्रो. निजामी** ने लिखा है "ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की रूपरेखा के बारे में सिर्फ दिमागी आकृति बनाई थी, इल्तुतमिश ने उसे एक व्यक्तित्व एक पद एक प्रेरणा–शक्ति, एक दिशा, एक शासक व्यवस्था और एक शासक वर्ग प्रदान किया।" **प्रो. हबीबुल्ला** भी इसकी पुष्टि करते हुए लिखते हैं "इल्तुतमिश ने ऐबक की खोखली नींव पर आधारित राजसत्ता के अपूर्ण काम को अपने हाथों मे लेकर पूर्णरूप से यह प्रमाणित कर दिया कि उसमें रचनात्मक कूटनीतिज्ञता के गुण विद्यमान हैं।"

इल्तुतमिश राजपद को अपने वंश में स्थायी बनाने का इच्छुक था, इसलिए अपने जीवन–काल मे उसने अपनी पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। था। महमूद से प्रेरणा लेने पर भी इस महमूद से कहीं आगे निकल गया क्योंकि उसने पुत्रों के जीवित होते हुए भी पुत्री को उत्तराधिकारी चुना। राज्याधिकारियों के लिए यह सर्वथा नया प्रयोग था और उसने उन्हें यह कह कर शान्त कर दिया कि उसके पुत्र राज्य–पद के लिए पूर्णतया अयोग्य हैं। उसने उनकी औपचारिक रूप से स्वीकृति भी प्राप्त कर ली। उस काल के सन्दर्भ में शासक की योग्यता केवल इल्तुतमिश के लिए ही नहीं अपितु तुर्क सरदारों के लिए भी निर्णायात्मक शर्त थी।

इल्तुतमिश की मृत्यु के तुरन्त बाद तुर्क राज्यपद के लिए रजिया का चयन नहीं कर सके क्योंकि वे स्त्री द्वारा शासित किये जाने के विचार के नहीं पचा पाये थे। इसके अतिरिक्त यह न केवल इस्लामी प्रभुसत्ता की मान्यताओं के विरुद्ध था अपितु तुर्कों के भारतीय इतिहास में एक अनूठा प्रयोग था। परन्तु अधिक समय तक तुर्कों के लिए इस पर टिके रहना नहीं हो सका। इल्तुतमिश के श्रेष्ठ मूल्यांकन की सत्यता उस समय न्यायोचित सिद्ध हुई जब तुर्की अमीरों ने वजीर मोहम्मद जुनेदी तथा उसके ताजिक समर्थकों के प्रबल विरोध के बाद भी राजसत्ता रजिया को सौंप दी।

मुस्लिम समुदाय के दृष्टिकोण तथा उस समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, रजिया का चुना जाना एक साहसिक व अनन्य (बेजोड़) उदाहरण था। यद्यपि रजिया का राज्यकाल केवल साढ़े तीन वर्ष ही रहा अल्पकालीन शासन की कसौटी पर उसके महत्व को आंकना उचित न होगा। 13वीं शताब्दी में कम से कम यह तुर्कों की वैचारिक ताजगी और सन्तुलितता की ओर इंगित करता है कि वे समय पड़ने पर इस प्रकार के निर्भीक प्रयोग भी कर सकने की क्षमता रखते थे। इसके अतिरिक्त यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि अमीरों ने सर्वसम्मति से इल्तुतमिश के वंशजों का राजसत्ता प्राप्ति के अधिकार का अनुमोदन किया था। वंशानुगत राज्य का विचार इस्लामी जगत में कोई नवीनता न थी तथा तुर्की कानून द्वारा इसकी स्वीकृति भी थी परन्तु भारत के इस्लामी प्रभुसत्ता के इतिहास में यह अपने किस्म का पहला ही प्रयोग था। मंत्रियों का उत्थान अथवा पतन हुआ, सैनिक सरदारों का अभिवादन अथवा निर्वाचन हुआ परन्तु इल्तुतमिश के वंशज शासन करने के लिए स्वीकार किये जाते रहे जैसे यह उनका स्वाभाविक अधिकार हो। यदि अमीरों ने एक की उपेक्षा कर दूसरे को शासक नियुक्त किया तो इसके पीछे वंशानुगत शासन के अधिकार को चुनौती देने की भावना नहीं थी, अपितु दूसरे ही तथ्य उत्तरदायी थे।

उनका एकमात्र उद्देश्य ऐसे व्यक्ति को सुल्तान बनाना था जो अमीरों के प्रति विनम्र व आज्ञाकारी हो तथा शासन को चलाने में कर्मठ हो। रजिया के व्यवहार से वे यह सीखे कि सुल्तान को शासन में कोई अधिकार न दिये जावें। इसलिए उन्होंने एक नवीन पद नाइब उर्फ **नाइब-ए-मामलिकात** की रचना की और शासन के सम्पूर्ण अधिकार नाइब के हाथों में केन्द्रित करने की नीति अपनाई जिससे कि शासन की वास्तविक शक्ति का उपयोग सुल्तान के स्थान पर उनमें से कोई एक करे। मुईजुद्दीन बहरामशाह को (1240-1240 ई.) इसी शर्त पर सिंहासनरूढ़ किया गया था।

यह शर्त–बन्द समर्पण महत्वहीन नहीं था। यद्यपि यह सत्य है कि इस्लामी विचारधारा के अनुसार प्रभुसत्ता द्विपक्षीय समझौते पर आधारित है और इसलिए प्रत्येक समर्पण स्वयं में ही शर्त–बन्द है परन्तु सुल्तान की शक्ति पर अंकुश लगाने की यह नीति सल्तनत–काल में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व सिद्ध हुई। सुल्तान अब केवल नाममात्र का शासक रह गया और शासन की समस्त शक्ति प्रधानमंत्री, व नाइब के हाथों में केन्द्रित हो गई। सुल्तान, अमीरों के द्वारा शक्ति अपहरण को सहन करने के लिए तत्पर न था। परिणामस्वरूप ताज की प्रतिष्ठा को अक्षुण्य बनाये रखने तथा अपनी गिरी हुई स्थिति को सुधारने के लिए उसने षडयन्त्र करने आरम्भ किये जिसका भुगतान सुल्तान को अपना सिर देकर चुकाना पड़ा। तुर्की सरदार अपनी शक्ति के विस्तार में एक कदम और आगे बढ़ चुके थे और अब यह स्पष्ट था और कि वे ही राज्य की वास्तविक शक्ति के दावेदार हैं।

छः वर्षों के अल्पकाल में तीन सुल्तानों के पतन का द्योतक था मंगोलों की सहायता से शासन पुनः प्राप्त करने की इच्छा ने यह प्रमाणित कर दिया कि बिगड़ी हुई परिस्थिति में कोई भी योग्य व शक्तिशाली सैनिक, शासन को हथिया सकता है। इज्जुद्दीन किशलूखां ने राजसत्ता को अपने हाथों में लेने की उद्घोषणा की। अमीर अब भी इल्तुतमिश के वंशजों को ही शासन का एकमात्र अधिकारी मानते थे इसलिए उन्होंने उसके पुत्र अलाउद्दीन मसूदशाह को गद्दी पर बैठाया। उसे भी इस शर्त पर शासन सौंपा गया कि राज्य–शक्ति का प्रयोग वह नाइब द्वारा ही करेगा। नाइब का पद मलिक कुतुबुद्दीन को सौंपा गया परन्तु क्योंकि वह तुर्की सरदारों के दल का नहीं था अतएव नाइब के पद का वास्तविकता में कोई महत्त्व नहीं रहा। शासन की वास्तविक सत्ता वजीर मुहाजबुद्दीन ने हथिया ली जो एक ताजिक (गैर तुर्क) था। ताजिक और तुर्की सरदारों के बीच यह निरन्तर संघर्ष का कारण बना रहा जब तक कि मुहाजबुद्दीन को हटाकर नजमुद्दीन को वजीर नहीं बनाया गया। इस संघर्ष का बलबन ने लाभ उठाकर अपनी शक्ति को दृढ़ कर तुर्की सरदारों का नेतृत्व प्राप्त कर लिया। सुल्तान मसूदशाह के हाथों में अब कोई शेष शक्ति बाकी नहीं रह गई थी। तुर्की सरदारों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। इसलिए जब बलबन ने नासिरूद्दीन महमूद और उसकी मां के साथ मिलकर मसूदशाह को सिंहासन से हटाने का सफल षड़यन्त्र किया तो यह केवल महल तक ही सीमित रहा। प्रभुसत्ता अब पूरी तरह से अमीरों की सहचरी बन चुकी थी और इसलिए नासिरूद्दीन महमूद ने राज्य–कार्यों में हस्तक्षेप करना छोड़ दिया और राज्य की समस्त शक्ति बलबन के हाथों में सौंप दी। धर्म निष्ठा की सनक से उत्तेजित होकर सुल्तान कुरान की प्रतिलिपि कर संतुष्ट रहा।

नासिरूद्दीन की निस्संतान मृत्यु पर राज्य के नाइब गयासुद्दीन बलबन ने सम्पूर्ण सत्ता पर एकाधिकार कर लिया। एक अनुभवी

सैनिक व कुशल प्रशासक होने के कारण उसने नाइब व वजीर के कार्यलय में शक्ति तथा प्रभाव को इस प्रकार गठित किया कि इस समय उसे प्रभुसत्ता को हथियाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उसने यह अनुभव किया था कि तुर्की अमीर–वर्ग जो निर्म व आत्मदम्भी हैं, को बगैर सफल नेतृत्व के संगठित रखना नितान्त असम्भव है। इसके अतिरिक्त मंगोल जो दिल्ली के दरवाजे खटखटा रहे थे, उन पर अंकुश केवल तब ही रखा जा सकता था जब कि प्रभुसत्ता का स्वामी ऐसा शासक ही जिसे समस्त सैनिक व प्रशासनिक अधिकार प्राप्त हों।

बलबन के लिए यह कार्य सरल नहीं था क्योंकि एक ओर तो सुल्तान की प्रतिष्ठा को काफी आघात पहुंच चुका था और दूसरी ओर अमीर परोक्ष रूप में शक्ति का स्वतन्त्र रूप से उपयोग करने के अभ्यस्त हो चुके थे। परन्तु बलबन के पक्ष में यह अधिक महत्वपूर्ण था कि उसने राजसत्ता अमीरों और अधिकारियों की मौन सम्मति से प्राप्त की थी। बलबन ने यह आवश्यक समझा कि वह अमीरों में प्रभुसत्ता के प्रति भय और सम्मान की भावनाएं जाग्रत करे अन्यथा अमीर उसे अन्य सुल्तानों की तरह भगु का नाम–मात्र के शासक की स्थिति में पहुंचा देंगे।

बलबन दिल्ली का प्रथम सुल्तान था जिसने सुल्तान के पद के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये। वह राजपद को प्रभावपूर्ण सम्मानित आसन दिलाने के लिए कटिबद्ध था। उसने सुल्तान के पद को ईश्वरदत्त बताया। उसके अनुसार सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है और पैगम्बर के पश्चात् वही उसका प्रतिनिधित्व करता है। सुल्तान को कार्य की प्रेरणा ईश्वर से प्राप्त है इसलिए जनसाधारण को उसके कार्यों की आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं है। एक बार अपने पुत्र बुगरा खां को सम्बोधित करते हुए उसने कहा था, सुल्तान का पद निरंकुशता का जीवित प्रतीक है। सुल्तान को ईश्वर का प्रतिनिधि दर्शाने के लिए उसने जिल्ली अल्लाह की उपाधि धारण करना आरम्भ की जो कि एकमात्र खलीफा का विशेषाधिकार था। **प्रो. निजामी** ने लिखा है "यह सुल्तान के सम्मान में वृद्धि करने तथा अन्य अमीरों से बचने के लिए आवश्यक था परन्तु इसका एक कारण उसकी हीनता की भावना भी थी जिसके कारण वह अपने विचारों को निरन्तर व्यक्त करके अमीरों को यह विश्वास दिलाना चाहता था कि वह किसी हत्यारे के छुरे अथवा जहर के प्याले के कारण सुल्तान नहीं बना है। अपितु की इच्छा के कारण ही यह पद प्राप्त कर पाया है।"

अपने विचारों को मूर्त रूप देने के लिए उसने सक्रिय कदम उठाये। उसने स्वयं को अफ्रासियन वंश से सम्बन्धित कर अपनी कुलीन श्रेष्ठता को दर्शाया। अपनी इस मिथ्या, सत्य की पुष्टि हेतु उसने केवल उन लोगों को संरक्षण प्रदान किया जो कुलीनवंशीय थे राज्य के समस्त सम्मलित पद केवल कुलीनों को ही दिये गये थे। स्थिति इतनी हास्यापस्द हो गई कि उसने एक बार राज्य के तीस अधिकारियों को केवल इसलिए पदच्युत कर दिया कि ये साधारण वर्ग से सम्बन्धित थे। वजीर निजामुद्दीन ने निम्न वर्ग के व्यक्ति को अनुभव, योग्यता व कार्यकुशलता के आधार पर संरक्षण दिया और इसके दण्ड–स्वरूप उसके स्वयं के विरूद्ध जानकारी प्राप्त की गई और क्योंकि वह जुलाहे के वंश से सम्बन्धित पाया गया इसलिए उसे भी शासक की कृपा से हाथ धोना पड़ा। बलबन ने साधारण व्यक्ति तो क्या छोटे अमीरों व सरदारों से मिलना बन्द कर दिया। दिल्ली के धनाढ्य व्यापारी, परवर बादनी ने सुल्तान से एक बार मिलने पर अपनी समस्त सम्पत्ति देने का वचन दिया, परन्तु बलबन ने उससे मिलने से मना कर दिया। बलबन की यह धारणा थी कि साधारण व्यक्तियों से मिलने से उसके सम्मान को आघात पहुंचता है। न केवल यह परन्तु वह साधारण अपराध पर अमीरों को कठोर दण्ड देता था जिससे कि दूसरे अमीर उसके विरुद्ध विद्रोह की बात भी न सोच सकें। इसी से प्रेरित होकर अमीन खां व हैबत खां को सार्वजनिक रूप से दण्डित किया गया और यद्यपि वे स्वयं को जीवित रख सके परन्तु लज्जा से वशीभूत हो उन्होंने जीवन पर्यन्त सार्वजनिक गतिविधियों में कोई भाग नहीं लिया। यद्यपि न्याय के आधार पर उस समय की व्यवस्था में यह उचित दिखाई पड़ता है परन्तु क्योंकि व्यवस्था केवल राज्य और व्यक्ति पर ही आधारित थी और सामान्य सन्दर्भ में इसकी कोई मान्यता न थी इसलिए यह न्यायसंगत नहीं कही जा सकती। बलबन की स्वेच्छाचारिता, शक्तिशाली अमीरों के दमन करने की योजना पूर्णतया उपयुक्त सिद्ध हुई। बिना किसी संकोच के उसने उचित अथवा अनुचित साधनों का प्रयोग कर उन समस्त व्यक्तियों से जो उसकी निरंकुशता में किसी प्रकार से अवरोधक थे, मुक्ति प्राप्त कर ली।

दूसरी ओर बलबन ने ताज की प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए दरबार में अनेकानेक प्रयत्न किये। वह ताज की गरिमापूर्ण स्थिति से परिचित था और इसे और अधिक सम्मानित करना चाहता था। उसने दरबार को ईरानी आदर्शों पर ढालने की नीति अपनाई। उसने ईरानी शिष्टाचार औपचारिकता तथा आनन्दोत्सव लागू किये। अभिवादन की ईरानी परम्परा के अनुसार पैबास व सिजदा आरम्भ किये तथा ईरानी नौरोज का त्यौहार मानना आरम्भ किया। खलीफा के वंशजों को छोडकर समस्त सरदारों को दरबार में खड़े रहने का आदेश दिया तथा हृष्ट–पुष्ट व भयानक व्यक्तियों को अपना अंगरक्षक नियुक्त किया। ये उसके सिहासन के इर्द–गिर्द ओर चमचमाती नंगी तलवारों को लिए खड़े रहते थे। दरबार में हंसना अथवा मुस्कराना दरबारी शिष्टाचार के विरुद्ध समझा जाता

लगा। अनुशासन इतना कठोर था कि वजीर निजामुल मुल्क के अतिरिक्त किसी दूसरे अमीर का साहस न होता था कि वह सुल्तान को सम्बोधित कर सके। जन–साधारण दरबार की इस शानशौकत से स्तम्भित था और जैसा कि बरनी ने लिखा है, दरबार की सजधज को देखने के लिए लोग चार–चार सौ मील की यात्रा करके आते थे।

सुल्तान की प्रतिष्ठा के अनुरूप उसने अपने व्यक्तिगत व्यवहार में भी परिवर्तन किया और स्वयं गमीर व एकाकी हो गया। सुल्तान बनने के बाद उसने शराब की दावतों में भाग लेना बन्द कर दिया। उने कभी अस्वाभाविक हर्ष और न ही कभी असहनीय दुःख को व्यक्त किया। यहां तक जब उसके प्रिय पुत्र मुहम्मद की मृत्यु का घातक समाचार उसे दरबार में मिला तब भी वे लेशमात्र विचलित हुए दरबार की कार्यवाही में व्यस्त रहा। अपने व्यक्तिगत जीवन में इस शहजादे के लिए फूट–फूट कर रोता था। परन्तु इस दुःख की काली छाया से अपने सार्वजनिक जीवन को अछूता ही रखा। बलबन ने अपने व्यवहार को व्यक्ति बलबन के स्थान पर सुल्तान बलबन में ढाल दिया।

बलबन की प्रभुसत्ता की धारणा सम्मान, शक्ति व न्याय के तत्त्वों पर आधारित थी। उसका उद्देश्य सैनिक तथा कुलीन तन्त्र पर छा जाना था। इल्तुतमिश के समान वह मात्र अमीरों को नेता बनकर रहने के लिए तैयार नहीं था अपितु वह ताज को सुस्पष्ट, पृथक व्यक्तित्व प्रदान कर इसे एक भव्य संस्था के रूप में स्थापित करना चाहता था जो अमीरों से शक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा अपने अन्तर्निष्ट से जीवन शक्ति प्राप्त करे तथा सैनिक कुलीनता से अधिक सम्मानित हो। परन्तु इसके बाद भी वह बुद्धिहीन कार्य करने के लिए तत्पर नहीं था। वह धार्मिक व पारम्परिक मान्यताओं की सीमाबद्धताओं को स्वीकार करता था तथा अपने सलाहकारों का न केवल समुचित आदर करता था अपितु उनकी सलाह के अनुरूप कार्य करने को भी तत्पर था।

बलबन द्वारा आरम्भ किया हुआ कार्य मुहम्मद की मृत्यु से अपूर्ण रह गया। उसने मुहम्मद को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था परन्त उसकी अचानक मृत्यु पर राजसत्ता को अपने वंश में ही रखने के लिए उसने अपने दूसरे पुत्र बुगरा खां को अपना उत्तराधिकार बनाना चाहा। परन्तु बुगरा खां विलासी और आराम पसन्द जीवन का आदी था। वह बलबन के कठोर अनुशासन में रहने का अभ्यस्त नहीं था और इसलिए वह चुपके से बंगाल की ओर वापिस चला गया। बलबन ने अपनी मृत्यु के तीन दिन से पूर्व अमीरों को एकत्रित कर मुहम्मद के पुत्र के कैखुसख को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और उनकी स्वीकृति भी प्राप्त कर ली।

बलबन की यह आज्ञा थी कि अमीरों की प्रवृत्ति में रचनात्मक परिवर्तन हो गया है निरर्थक सिद्ध हुई। उसकी मृत्यु पर अमीरों ने बुगरा खां के पुत्र कैकुबाद को शासक चुना। कैखुसरो ने मंगालों की सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया परन्तु हतोत्साहित हुआ और अन्त में उसका वध कर दिया गया।

कैकुबाद के चुनाव ने प्रभुसत्ता के क्षेत्र में एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अमीरों ने सुल्तान द्वारा मनोनीत उत्तराधिकारी को ठुकरा कर भी उस वंश के दूसरे व्यक्ति को चुन कर वंश के प्रति आभार प्रदर्शित किया था। दूसरे पिता के जीवित होते हुए पुत्र की नियुक्ति स्वयं में एक नवीनता थी। इसने यह सिद्ध किया कि तुर्क उत्तराधिकारी चुनने के क्षेत्र में एक सफल शासक के वंश के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने को तत्पर थे। परन्तु इसके बाद भी नाम–जदगी अथवा नामांकन को अलग रख वे किसी को भी चुनने के लिए स्वतन्त्र थे। बुगरा खां के लिए यह असहनीय था कि वह अपने पुत्र के अधीन शासन करे इसलिए उसने स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित कर नासिरूद्दीन की उपाधि धारण की ओर अपने नाम का खुतबा पढ़वाया तथा सिक्के ढलवाए, पिता और पुत्र युद्ध के लिए तत्पर हो गये परन्तु कुछ वफादार तुर्क सरकारों के प्रयत्नों से युद्ध सम्भावना टल गई। बगरा खां के नाममात्र के लिए सुल्तान के सम्मुख समर्पण कर दिया परन्तु उसने यह भविष्यवाणी की कि बलबन के वंश का शीघ्र ही अन्त हो जायेगा।

इस प्रकार इल्बारी तुर्कों ने अपने शासक काल में न केवल मुस्लिम प्रभुसत्ता के सिद्धान्तों को स्थापित किया अपितु साथ ही उन्होंने वे सब उपकरण जुटा दिये जो भविष्य में दिल्ली सल्तनत के साथ सलंग्न रहे। उन्होंने चुनाव के सिद्धान्त का वंशानुगत उत्तराधिकार के साथ समायोजन करने का प्रयास किया, परन्तु अपने सीमित राजनैतिक अनुभव, तरल राजनैतिक स्थिति, अक्कखड़न तथा निहित अयोग्यता के कारण वे किसी निश्चित हल को निकालने में असमर्थ रहे। वे साधारण वर्ग पर केवल यह प्रभाव छोड़ सके कि तुर्क जन्म–जात शासक हैं तथा प्रभुसत्ता पर उसका अधिकार है।

खल्जी शासकों का राजत्व सिद्धान्त

इल्बारी तुर्कों की इस धारणा का गैर तुर्कों ने विरोध किया कि केवल वे ही प्रभुसत्ता के अधिकारी हैं। खल्जी विद्रोह ने इस इल्बारी कुलीनतन्त्र का अन्त कर दिया। खल्जी विद्रोह इसलिए भी महत्वपूर्ण था कि इसने राज्यनिष्ठा के विकसित मनोभाव को जो सम्भवतः सुपरिणामों से ओत–प्रोत था, झकझोर दिया। यदि खल्जियों ने इस निष्ठा और गरिमा को विकसित होने दिया होता तो

सम्भवतः सैनिकवाद के तत्व न्यूनतम रह जाते और आज्ञाकारिता, अधिकार और कर्त्तव्यों की परम्परा निखर कर ऊपरी आती। खल्जी विद्रोह ने राज्य के प्रशासनिक पक्ष को समाप्त कर, सैनिक पक्ष की भयानक परिपाटी को स्थापित किया जिसने देल्ली सल्तनत की जीवन–शक्ति को निस्सार बना दिया।

खल्जी विद्रोह का आधार सैनिक शक्ति था। सीमाओं पर मंगोलों के आक्रमण के विरोध में उनकी सफलताओं ने उनका निश्चित ही महत्त्वकांक्षी बना दिया था। बंगाल में स्वतन्त्र शक्ति के उपभोग में इल्बारी कुलीनतन्त्र बाधक था और खल्जी किसी ऐसे अवसर की तलाश में थे जब वे अपनी मनोकामना को पूर्ण कर सकें। कैकुबाद की अस्वस्थता ने उन्हें एक अवसर प्रदान किया। उसकी असाध्य स्थिति को देखकर अमीरों ने यह निर्णय लिया कि कैकाऊस (जो मात्र तीन वर्ष का था, को शासक बना कर मलिक छज्जू कोउसका संरक्षक नियुक्त किया जावे। छज्जू को ये प्रस्ताव स्वीकार न था। उसने स्वयं के लिए कड़ा की सूबेदारी की मांग की तथा जलालुद्दीन खल्जी को नायब का पद देने का प्रस्ताव रखा। जलालुद्दीन ने सियासत्तखां के उपाधि धारण कर नाइब का पद प्राप्त किया। **डॉ. त्रिपाठी** का मत है कि यद्यपि इस व्यवस्था में कुछ लाभ अवश्य थे परन्तु इस व्यवस्था को सुखद अथवा दूरदर्शितापूर्ण कहना उचित न होगा।

यद्यपि इस व्यवस्था के आधार पर बलबन के वंश के प्रति सम्मान अवश्य प्रदर्शित किया गया था परन्तु एक तीन वर्ष के बालक को गद्दी पर बैठाना कोई विवेकपूर्ण निर्णय नहीं था। तुर्कों के लिए यह सर्वथा नवीन स्थिति थी। राजकीय वंश के शासनाधिकार का कठोरतम परीक्षण की कसौटी पर कसा जाना था और इल्बारी वंश के समर्थ एक बालक के नाम पर भी शक्ति पर एकाधिकार करने के इच्छुक थे। खल्जियों से उनकी कमजोरी व घबराहट छिपी न थी परन्तु बलबन के वंश के प्रति सद्भावना और सम्मान ने तीन मास के लिए इस संकट–स्थिति को टाल दिया। जलालुद्दीन ने तीन मास तक क्यूमर्स के नाम पर प्रभुशक्ति का उपभोग किया। तुर्क तथा खल्जी दोनों एक दूसरे के प्रति शंकित थे और उपयुक्त अवसर की तलाश में थे। जलालुद्दीन की हत्या के तथाकथित षड़यन्त्र ने उसे गति प्रदान की और उसके समर्थक ने क्यूमर्स की हत्या कर दी। खल्जी दल अब पूर्णतया विजेता की स्थिति में था और यद्यपि स्वयं जलालुद्दीन की आकाक्षायें सीमित थीं, परन्तु युवा खल्जी अब इस प्राप्त लाभ का उपयोग करने के लिए दृढ़ थे इसलिए जून 13, 1290 ई. को किलोखरी में उसका विधिवत राज्याभिषेक किया गया।

खल्जी विद्रोह ने पहली बार यह स्पष्ट किया कि दिल्ली के मुस्लिम वर्ग में जनमत का महत्वपूर्ण स्थान है। जलालुद्दीन ने मंगोल आक्रमणकारियों को अनेकों मुठभेड़ों में पराजित किया था और वह धर्मपरायण व्यक्ति भी था, परन्तु अपने इन गुणों के बाद भी वह जनसाधारण में अपने प्रति विश्वास पैदा न कर सका। योग्य सेना नायक होने तथा शक्तिशाली सेना के समर्थन के बाद भी वह 12 महीनों तक राजधानी में प्रवेश करने का साहस न कर सका। उसने इस काल में किलोखरी को ही शासन का केन्द्र बनाया। उसकी अप्रियता इससे भी स्पष्ट है कि जब बलबन के भतीजे मलिक छज्जू ने असफल विद्रोह किया तो दिल्ली की जनता उसके स्वागत के लिए तत्पर होगी। सिद्दीमोला का विद्रोह भी खल्जी–विरोधी भावनाओं का प्रतीक था।

जलालुद्दीन विरोधी तत्त्वों को उदारता की नीति से अपनी ओर मिलाने के लिए उत्सुक था। उसने अत्यधिक दिनम्रता दिखाई। उसने समस्त विद्रोहों के लिए विरोधियों को उत्तरदायी बताया। जब वह बलबन के लाल किले में गया तो बाहर ही हाथी से घोड़े से उतर पड़ा और सिंहासन पर बैठने से मना कर दिया। बरनी के अनुसार वह उस सिंहासन पर कैसे बैठ सकता है जिस के सामने वह भय और सम्मान से घंटों खड़ा रहा करता था। डॉ. त्रिपाठी के अनुसार ये कार्य उसकी चारित्रिक विशेषता तथा जनसाधारण के प्रतिकूल व्यवहार के कारण थे। इसे नाटकीयता की संज्ञा देना उचित न होगा।

जलालुद्दीन स्वयं को अपने सहायकों की इच्छाओं के अनुकूल ढालने में असमर्थ रहा। यद्यपि उसे सैनिक दल ने सत्तारूढ किया था फिर भी वह दमन व खून–खराबी की अपेक्षा शान्ति और सहृदयता से शासन करना चाहता था, इसलिए नहीं कि वह कमजोर अथवा शक्तिहीन था, अपितु इसलिए कि उसका राज्य–आदर्श ही इस प्रकार का था। उसकी इस नम्रता तथा दयावान प्रवृत्ति के कारण लोग उससे घृणा करने लगे। उस पर सढ़ियाने और सनकी होने का आरोप लगाया गया तथा उसे राज्य करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त समझा जाने लगा। रणथम्भौर के विरुद्ध असफलता ने उसके सैनिक गुणों को धो दिया। अमीरों ने एक महत्त्वकांक्षी भतीजे अली अथवा अलाउद्दीन को उसके विरुद्ध समर्थन देने का निश्चय किया। अलाउद्दीन ने अपने चाचा का वध कर प्रभुसत्ता प्राप्त की। अपनी सत्ता की स्थापना के बाद उसने बलबन की परिपाटियों को पुनः जीवित किया और प्रभुसत्ता की खोई मर्यादा को नहीं, तो कम से कम उसकी शक्ति और सम्मान को पुनर्स्थापित किया।

जलालुद्दीन के वध के साथ ही सैनिकवाद व हितेषी शासक के सिद्धान्तों के बीच जो संघर्ष चला आ रहा था वह समाप्त हो गया। युवक और युद्ध–प्रिय अलाउद्दीन ने इल्तुतमिश और बलबन की विजय–नीति को अपनाया। उसकी तथा इल्बारी तुर्कों की नीति में कोई मौलिक भिन्नता नहीं थी परन्तु यदि इसके बाद भी उसके राज्यकाल को सैनिकवाद की संज्ञा दी जाती है तो इसका कारण था कि एक ओर तो वह मंगोल आक्रमणकारियों का सफलता से सामना करता रहा और दूसरी ओर राज्य की सीमाओं में भी वृद्धि करता रहा

अलाउद्दीन तुलनात्मक आधार पर अपने पूर्वक शासकों से अधिक विवेकपूर्ण था और इसीलिए उसने यह स्वीकार नहीं किया कि राज्य, धर्म से नेतृत्व प्राप्त करे। राज्य को वह स्वयं अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए उचित मानता था इसलिए उसने अपने राज्यकाल में न तो इस्लाम की दुहाई दी, न ही उलेमा वर्ग की सलाह ली और न ही खलीफा के नाम का उपयोग किया। दिखावे–मात्र के लिए वह खिलाफत को श्रद्धाञ्जली अर्पित करता रहा। उसका उद्देश्य केवल उलेमा वर्ग को शक्तिहीन करना था। **डॉ. त्रिपाठी** के अनुसार उसने कभी कोई ऐसा कार्य नहीं किया जो इस्लाम विरोधी हो अथवा दूसरे इस्लामी देशों में मान्य प्रथाओं के विरूद्ध हो। वास्तविकता यह है कि वह भारत के बाहर इस्लाम का समर्थक माना जाता था। यद्यपि **बरनी** ने इसका खण्डन किया है परन्तु अमीर खुसरों के विवरण से इसकी पुष्टि होती है।

अलाउद्दीन ने ***यामिनि-उल-खिलाफत-नासिरी-अमीर-उल-मोमीन*** *की उपाधि धारणा की ओर यद्यपि उसने समस्त स्वतन्त्र शासकों को धराशाही कर दिया था परन्तु फिर भी वह स्वयं को अपमानित और शक्तिहीन और खलीफा का लैफ्टीनेंट ही सम्बोधित करता रहा। प्रत्यक्ष रूप में यह खलीफा के प्रति सम्मान नहीं अपितु खिलाफत के अस्पष्ट विचार के प्रति उसकी श्रद्धाञ्जली थी।*

चित्तौड़ की विजय की पश्चात् अलाउद्दीन ने अपने बड़े को उत्तराधिकारी घोषित कर उसे राज्य चिन्ह प्रदान कर दिये परन्तु अपने शासन के अन्तिम समय में मलिक काफुर से प्रभावित हो अथवा उसकी आरामदेह प्रवृत्ति को देख कर उसने अपने नाबालिग चौथे भड़के (5 अथवा 6 वर्ष) शहाबुद्दीन को अपना उत्तराधिकारी नामजद किया। एक अल्पवयस्क को नामजद करना और विशेषकर उस समय जबकि उसके तीन वयस्क पुत्र जीवित हों किसी प्रकार से खल्जी अथवा मुस्लिम बर्ग के हित में नहीं था।

परन्तु नामजदगी एक सर्वमान्य सिद्धान्त था और मलिक काफूर की सहायता से इसे प्रत्यक्ष रूप से स्वीकृति भी मिल गयी थी। परन्तु मुस्लिम अमीर इससे प्रसन्न नहीं थे और जब मलिक काफूर ने प्रभुसत्ता पर अपना अधिकार जमा लिया तो अलाउद्दीन की मृत्यु के केवल 36 दिन के अन्दर ही उसका वध कर दिया गया। आरम्भ में अमीरों ने मुबारकशाह को शाहबुद्दीन का नाइब ही नियुक्त किया। क़ेवल 64 दिन की रिजैन्सी में ही अपने प्रभाव और अमीरों के सहयोग से उसने इस नकाब को उतार, प्रभुसत्ता को प्राप्त कर लिया।

मुबारकशाह का चार वर्ष का अल्पकालीन शासन प्रभुसत्ता के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। शक्तिशाली अलाउद्दीन जिस कार्य को करने में असमर्थ रहा वह उसने कर दिखाया। वह पहला सुल्तान था जिसने खिलाफत से सम्पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद कर दिये और इस प्रकार दिल्ली सल्तनत को बाहरी शक्ति की अधीनता ने पूरी तरह मुक्त कर दिया। वह इससे ही सन्तुष्ट न था अपितु उसने स्वयं को महान ईमाम घोषित किया। इस प्रकार उसने प्रत्यक्ष रूप से दिल्ली सल्तनत को सम्पूर्ण सत्ता का अधिकारी बना दिया।

इस प्रकार खल्जियों ने न तो जातीय श्रेष्ठता, न ही चुनाव अथवा खलीफा की स्वीकृति से प्रभुसत्ता प्राप्ति के अधिकार का दावा किया। उनका आधार एकमात्र शक्ति था और इसीलिए मुस्लिम प्रभुसत्ता के विकास में एक और तत्व जुड़ गया। प्रभुसत्ता के क्षेत्र में खल्जियों ने दो महत्वपूर्ण योगदान दिये—प्रथमतः प्रभुसत्ता किसी विशेष वर्ग की बपौती नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार–क्षेत्र में है यदि वह योग्य व शक्तिशाली हो और द्वितीय प्रभुसत्ता धार्मिक वर्ग के सहयोग के बगैर भी अक्षुण्य रखी जा सकती है।

तुगलक शासकों को राजत्व सिद्धान्त

मुबारकशाह की हत्या के बाद गाजी मलिक (गयासुद्दीन तुगलक) प्रभुसत्ता का अधिकारी बना और उसने तुगलक वंश की नींव रखी। खल्जी वंश की अलोकप्रियता के बाद भी सर्वसाधारण की यह मान्यता थी कि प्रभुसत्ता पर अधिकार केवल वंशानुगत है। इसीलिए खल्जी वंश का कोई जीवित व्यक्ति तुगलक वंश की अपेक्षा अधिक मान्य था। गयासुद्दीन के लिए इस जनमत को टालना सम्भव नहीं था। परन्तु मुबारकशाह के समस्त पुत्रों का खुसरो खां ने वध करवा दिया था, इसलिए सर्वसाधारण ने उसे शासक स्वीकार कर लिया। यद्यपि गयासुद्दीन ने धम की हिमायत ली थी और इसी आधार पर उसने खल्जियों के धर्मविरोधी होने का बदला चुकाया था परन्तु यह विडम्बना थी कि उसे न तो शेख–उल–इस्लाम निजामुद्दीन ओलिया से सम्मान अथवा मान्यता ही मिली।

गयासुद्दीन ने क्योंकि प्रभुसत्ता धर्म के नाम पर प्राप्त की थी इसलिए उसके लिए यह सम्भव नहीं था कि वह मुस्लिम राजतन्त्र के धार्मिक पक्ष को त्याग दे। यदि गयासुद्दीन के बाद फीरोज तुगलक शासक हो गया होता तो सम्भवतः अलाउद्दीन द्वारा धर्म–निरपेक्ष राज्य की विचारधारा का गला घोट दिया गया होता। परन्तु मुहम्मद तुगलक के शासक होने से यह विचारधारा जीवित रह सकी। उसने दरबार को अति संयमी बनाया, यहां तक कि शासक की उपस्थिति में सन्देहात्मक चरित्र के व्यक्तियों का उपस्थित होना भी नितांत कठिन हो गया। परन्तु बलबन और अलाउद्दीन खल्जी के विरोध में उसने राज्याधिकारियों तथा अमीरों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित किये। दोनों समय दरबार लगाकर उसने सल्तनत की मर्यादा को बनाये रखने का प्रयास किया। अलाउद्दीन की तरह उसने सैनिक प्रधानता को महत्व दिया और बंगाल तथा सुदूरी दक्षिण के प्रदेशों को जीतने का प्रयास किया।

प्रथम दो तुगलक सुल्तानों ने स्वयं को खल्जियों के स्वामिभक्त सेवकों के रूप में दर्शाने का प्रयास किया और इसीलिए मुहम्मद तुगलक ने मुबारकशाह के मकबरे के वृत्तिदान को दुगुना कर दिया। मुहम्मद तुगलक ने खलीफा सम्बन्धी समस्त सन्दर्भों का उपयोग

बन्द कर दिया और विवेक से शासन करना आरम्भ किया। अपने विश्वास और राजनैतिक औचित्य को ध्यान मे रखकर वह यह मानने लगा कि सुल्तान ईश्वर की छाया है। मुबारकशाह खल्जी से प्रेरणा लेकर उसने सिक्कों पर 'अल सुल्तान जिल्ली अल्लाह' अर्थात् सुल्तान ईश्वर की छाया है, अंकित करवाना आरम्भ किया। उसने यह दर्शाया कि प्रभुसत्ता ईश्वर की विशेष अनुकम्पा से प्राप्त होती है और इसलिए सुल्तान की आज्ञा का पालन करना ईश्वरीय आज्ञा का पालन करना है।

शासन के आरम्भिक वर्षों में उसे कोई कठिनाई अनुभव न हुई परन्तु धीरे–धीरे उसका विरोध आरम्भ हुआ। अमीर वर्ग उसकी निरंकुशलता तथा सामान्य बातों में हस्तक्षेप से चिन्तित थे। दूसरी ओर राज्य के उलेमाओं की सद्भावना भी उसे प्राप्त नहीं थी अपितु उनके विरोधी होने की सम्भावना थी। परन्तु इन सबके अतिरिक्त उसका चरित्र जो विरोध को सहन करने में असमर्थ था उसकी कठिनाइयों के लिए अधिक उत्तरदायी था। वह समझौता करने को तत्पर न था। इन कठिनाइयों ने उसका कार्य दुष्कर कर दिया। उसने बरनी से कहा था "मैं आज्ञा की लेशमात्र भी अवज्ञा होने पर मृत्युदण्ड देता हूं और मैं तब तक इसी प्रकार कठोर दण्ड देता रहूंगा जब तक या तो मैं स्वयं नष्ट नहीं हो जाता अथवा प्रजा ठीक नहीं हो जाती तथा विद्रोह और अवज्ञा करना नहीं छोड़ देती है।"

उसने अपनी सत्ता को शक्ति, सम्पन्नता देने के लिए अनेक प्रयत्न किये। उसने इस्लामी कानूनी की उपेक्षा कर तर्क को ही आधार बनाया। वह इन कानूनों को पूर्णतया समाप्त करना नहीं चाहता था इसलिए समय–समय पर विधिवेत्ताओं की सलाह लेता था परन्तु उसे जो उचित लगता था वही स्वीकार करता था। राज्य के कानूनों से कोई भी अपने पद के कारण मुक्त नहीं हो सकता था। अमीर वर्ग को महत्त्वहीन बनाने के लिए उसने साधारण वर्ग में से अमीरों को चुनने की नीति अपनाई जिससे कि वह पुराने अमीर वर्ग को सन्तुलित कर सके। उसने हिन्दुओं को भी सम्मानित पद प्रदान किये जो कि सल्तनत काल में अनूठा प्रयोग था।

उसने तांबे के सिक्कों द्वारा सर्वसाधारण को सुल्तान के पद की महत्ता बताई तथा सुल्तान के प्रति उनके उत्तरदायित्व का ज्ञान कराया। इसलिए कुछ सिक्कों पर उसने अंकित कराया कि ईश्वर सुल्तान का समर्थक है अथवा वह जो सुल्तान की आज्ञा का पालन करता है, ईश्वर की आज्ञा का पालन करता है अथवा सुल्तान ईश्वर की छाया है। परन्तु इन सब कठोर प्रयत्नों शक्ति प्रदर्शन, व्यक्तिगत योग्यताओं, दानवीरता तथा निष्पक्ष न्याय के अद्भुत गुणों के बाद भी वह प्रजा की सहानुभूति न जीत सका। इसकी उसमें भीषण प्रतिक्रिया हुई और सम्भवतः यह मानकर कि खलीफा को उचित सम्मान प्रदर्शित न करना ही इसके लिए उत्तरदायी है, उसने 1340 ई. में खलीफा से अपने पद की स्वीकृति प्राप्त कर ली अपने नाम के स्थान पर खुतबे तथा सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित करवाना आरम्भ कर दिया। राज्य की समस्त आज्ञाएं खलीफा के नाम से प्रेषित की जाने लगीं। इसकी असफलता के बाद भी जब वह जनसाधारण की सहानुभूति प्राप्त न कर सका तो उसे अपनी असफलता नग्न रूप में दिखाई देने लगी।

इससे परेशान होकर उसने इतिहासकार **जियाउद्दीन बरनी** से इस सम्बन्ध में बातचीत की। उसने सुझाया कि ऐसी स्थिति में वह किसी योग्य तथा ग्राह्य व्यक्ति के पक्ष में गद्दी छोड़ दे। सुल्तान भी इसके लिये तत्पर था। परन्तु लोगों के अवज्ञापूर्ण रहते हुए यह समर्पण तो क्या अपनी नीति में परिवर्तन के लिए भी तत्पर नहीं था। **डॉ. त्रिपाठी** के अनुसार मुस्लिम इतिहास में यह प्रथम अवसर था जब ऐच्छिक आधार पर गद्दी त्यागने का प्रश्न उठा था। इससे यह स्पष्ट है कि राजतन्त्र एक नाजुक स्थिति पर पहुंच गया था। यदि इस योजना को कार्यान्वित किया या होता तो सम्भवतः कुछ परिणाम निकलते। सिन्ध में उसकी अचानक मृत्यु ने राजसत्ता के बारे में पुनः समस्याएं खड़ी कर दीं।

सिन्ध में उपस्थित अमीरों और उलेमाओं ने फीरोज को उत्तराधिकारी घोषित किया। इसी में वे अपना हित तथा सुरक्षा समझते थे। दिल्ली के शेख नासिरूद्दीन और खलीफा के वंशज गयासुद्दीन जादा ने भी इसका अनुमोदन किया। बरनी के अनुसार मुहम्मद तुगलक ने फीरोज को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। मुहम्मद तुगलक की बहन ने इसका विरोध किया और अपने पुत्र के निकट सम्बन्धी होने के आधार पर उसे राज्यपद का अधिकार बताया। परन्तु अमीरों ने एक ओर तो उसमें अयोग्यता तथा दूसरी ओर सेना के विदेश में पड़े होने की स्थिति में इसको अस्वीकार कर दिया। फीरोज मुश्किल से सिन्ध से निकल ही पाया था कि मुहम्मद तुगलक के नाइब, ख्वाजा–ए–जहान ने एक अल्पायु बालक को मुहम्मद तुगलक का पुत्र घोषित कर गद्दी पर बैठा दिया। अफीफ ने किशलू खां के आधार पर लिखा है कि ख्वाजा ए–जहान को फीरोज के शासक चुने जाने की जानकारी नहीं थी। डॉ त्रिपाठी के अनुसार वह ख्वाजा की निष्ठा को प्रमाणित करने के लिए एक मनगढ़न्त कहानी थी और ख्वाजा ने जानबूझ कर यह षड़यन्त्र किया था।

फीरोज का प्रभुसत्ता को प्राप्त करना जितना महत्वपूर्ण है उतना ही रुचिकर है। उसके पक्ष में दिये गये निर्णय ने निर्वाचन के नियम को जो कि लुप्त–प्रायः हो रहा था, पुनः स्थापित किया और साथ ही वंशज–उत्तराधिकारी के नियम को भी नहीं ठुकराया। इसने मृत शासक के निकट सम्बन्धी को उत्तराधिकारी बनाने की अपेक्षा शक्तिवान को ही प्रभुसत्ता देने की महत्ता का दर्शाया। मुहम्मद तुगलक की आकस्मिक मृत्यु के बाद दिल्ली सल्तनत पर जो पुनः काले बादल छा जाने की सम्भावना पैदा हो गयी थी उसे

फीरोज ही ऐसा व्यक्ति था जो सल्तनत को इस कठिनाई से मुक्त कर सकता था।

फीरोज के सुल्तान चुने जाने में धार्मिक वर्ग के लोगों का अधिक हाथ था इसलिए यह स्वाभाविक था कि वह स्वयं को सल्तनत का न्यासी समझे। इसके अतिरिक्त मुहम्मद तुगलक की अन्तिम समय की परिपाटियां भी इसी तथ्य की पूरक थीं। परन्तु फीरोज इनसे भी आगे बढ़ गया। उसने खुतबे में अपने नाम के साथ ही पूर्वकालीन सुल्तानों के नामों का पुनः प्रचलन किया। यह अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है कि उसने इसमें कुतुबुद्दीन मुबारकशाह का भी नाम रखा जिसने खलीफा की उपाधिक स्वयं धारण की थी। उसने खलीफा से अपने राज्यपद की स्वीकृति प्राप्त करना अपना सर्वोच्च सम्मान समझा। वह प्रथम मुस्लिम शासक था जिसने सुल्तान को खलीफा का नाइब घोषित किया। उसने अपने लिए **नायब-अमीर-उल-मोमीन** की उपाधि ली जो सुल्तान और खलीफा के सम्बन्धों की द्योतक थी। इस तरह उसने न केवल मुस्लिम वर्ग में अधिक सम्मान प्राप्त किया अपितु अपनी कमजोरियों को छिपा सकने में समर्थ हुआ।

सर्वसम्मति से फीरोज का चुनाव इस आधार पर भी महत्वपूर्ण है कि इस काल में देहिक सम्बन्धों के उसके चुनाव में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं की क्योंकि वह हिन्दू मां के गर्भ से पैदा हुआ था। इसके अतिरिक्त फीरोज के चुनाव ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि प्रभुसत्ता प्राप्ति के लिए सुल्तान का एक प्रतिष्ठित सेनानी होना आवश्यक नहीं है। बलबन के समय से सैनिक नेता द्वारा प्रभुसत्ता प्राप्ति की प्रवृत्ति चली आ रही थी, परन्तु फीरोज में सैनिक गुणों का नितान्त अभाव था। वस्तुतः सैनिक दृष्टिकोण से उसका राज्यकाल नितान्त असफल था। वह स्वभाव से सरल तथा परोपकारी शासक था और इसलिए दूसरे सुल्तानों की तुलना में दीर्घकाल तक शान्तिमय ढंग से शासन करता रहा। इस अपूर्ण सफलता के पीछे उसके पक्ष में संगठित मुस्लिम जनमत का सहयोग, साधारण वर्ग की सम्पन्नता, सुन्नी वर्ग के प्रति उसकी सहिष्णुता की नीति भी महत्वपूर्ण कारण थे।

दुर्भाग्यवश यही गुण जो उसकी सत्ता को स्थायित्व देने के लिए उत्तरदायी थे वही उसकने पतन के कारण भी सिद्ध हुए। वृद्धावस्था में फीरोज यह अनुभव करने लगा कि शक्ति उसके हाथों से निकल रही है परन्तु फिर भी वह अपने प्रति जनता की सहानुभूति बनाये रख सकने में समर्थ रहा। मुहम्मद तुगलक ने अपनी अप्रियता को देखकर राज्य त्यागने की बात केवल सोची ही थी और फीरोज सल्तनत काल का पहला दुर्भाग्यशाली शासक था जिसको अपने पुत्र के पक्ष में राज्य त्यागना पड़ा। 1387 ई. में उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र फतह खां के पक्ष में गद्दी त्याग दी। परन्तु शीघ्र ही उसकी मृत्यु को गई। उसने अपने दूसरे पुत्र जफर खां को उत्तराधिकारी बनाया परन्तु उसकी भी मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् उसने अपने तीसरे पुत्र को इस अधिकार से वंचित कर अपने पौत्र तुगलक खां को उत्तराधिकार बनाया। इसने अनेक कठिनाइयों को जन्म दिया। यद्यपि इस प्रकार की परिपाटी कैकूबाद के सम्बन्ध में मौजूद थी परन्तु उस समय की परिस्थिति भिन्न थी। इसलिए उसके तीसरे पुत्र मुहम्मद खां ने षड़यन्त्र रचा। वजीर ने फीरोज का पक्ष लिया परन्तु षड़यन्त्र सफल रहा और वजीर के वध के साथ ही फीरोज को गद्दी छोड़नी पड़ी।

यह मानना कि सत्ता–हस्तान्तरण का कार्य सहसा हो गया हो उचित नहीं है क्योंकि मुहम्मद खां के नाम के साथ ही सिक्कों तथा खुलबे में फीरोज का भी नाम विद्यमान था। गजनवियों के समय से ही खुतबे में शाहजादों का नाम पढ़ने की प्रथा चली आ रही थी। सत्ता का हस्तान्तरण यद्यपि सम्पूर्ण और औपचारिक था परन्तु फिर भी मुहम्मद खां की स्थिति सुल्तान के असीमित शक्तिशाली मंत्री से अधिक नहीं थी।

मुहम्मद खां ने समस्त राजचिन्ह व शक्ति का उपयोग किया। शहजादों (राजकुमार) के रूप में गजनबियों के समय से इतनी विशाल व प्रभावूर्ण शक्ति का उपयोग कोई दूसरा न कर पाया था। परन्तु इसके बाद भी उलेमाओं और अमीरों की सद्भावना को न जीता जा सका। कुछ भी समय में अमीरों ने विद्रोह कर दिया और तुगलक शाह का पक्ष ग्रहण कर वे उसे शासक बनाने के लिए युद्ध को भी तत्पर हो गए। मुहम्मद खां को विजय श्री प्राप्त होने ही वाली थी कि फिरोज को व्यक्तिगत रूप में युद्धस्थल पर पहुंचने से युद्ध का पासा ही पलट गया। मुहम्मद खां युद्ध क्षेत्र से भाग गया। वह सैनिकों व उलेमाओं में इतना बदनाम था कि तुगलकशाह की हत्या के बाद किसी ने उसे शासक बनने के लिए आमन्त्रित नहीं किया।

फिरोजशाह की मृत्यु के उपरान्त तुगलक सम्राज्य का बड़ी तीव्र गति से पतन हुआ। तैमूर के आक्रमण (1398 ई.) ने तुगलक राजकुमारों के मध्य गृह युद्ध समाप्त कर तुगलक वंश जो अपनी अन्तिम सांसे ले रहा था, समाप्त कर दिया। सैयद वंश के शासक खिज्र खां ने तुगलक सुल्तानों के नाम के सिक्के निकाले और मुगलों का नाम **खुतबा** में पढ़ना प्रारम्भ किया। उसने स्वयं **रैय्यत-ए-आला** की पदवी ग्रहण की। अमीर तैमूर की प्रभुत्ता स्वीकर करने के कारण खलीफा का नाम सिक्के व खुतबा से निकल गया खिज्र खां के पुत्र ने तैमूरियों के प्रति निष्ठा प्रकट करना बन्द कर दिया व तुगलकों के नाम सिक्कों पर से हटा दिए। उसने **नायब-ए-अमीर-उल-मोमनीन** की पदवी ग्रहण की। वास्तव में राजत्व सिद्धान्त को उनका कोई योगदान न था। उन्होंने अन्त में अफगान सरदारों के हाथों में प्रशासन सौंप दिया।

[**नोट**–अफगानों के राजत्व सिद्धान्त के लिए देखिए–अध्याय–6]

राज्य (State)

(ग) बरनी का राजत्व सिद्धान्त व वैधता (Barani's Theory of Kingship & Legitimacy)

जियाउद्दीन बरनी की **फतवाहे-जहांदारी** एक मात्र ज्ञात इंडो–फारसी कृति है जो कि सल्तनत काल के राजनीतिक सिद्धान्त को दर्शाती है। **बरनी** कुलीन परिवार से सम्बन्धित था व उसके मस्तिष्क में यह अटल विश्वास घर कर गया था कि सामाजिक व्यवस्था में कुलीन कुल में जन्म एक प्राथमिक तथ्य है परन्तु इस वर्ग की असफलता तथा उसकी निराशाओं ने उसकी भावना को कटु बना दिया था।

बरनी ने इस पुस्तक में वार्तालाप के तरीके से अपनी बात कही है। सुल्तान महमूद इस पुस्तक का नायक है किन्तु अद्भुत बात तो यह है कि हम तीन लोगों को एक के बाद एक वार्तालाप करते हुए पाते हैं, सुल्तान महमूद, उसका एक समकालीन व स्वयं बरनी। यह निश्चय कर पाना कठिन है कि कहां पर एक का कथन समाप्त होता है और दूसरे का प्रारम्भ होता है। वास्तव में महमूद को बरनी के दर्शन का पूरा भार सहना पड़ा है।

हिन्दुओं के प्रात बरनी का दृष्टिकोण परीक्षण करने योग्य है। इस पुस्तक के अंग्रेजी अनुवादक **अफसर बेगम** ने शब्दों में 'हिन्दुओं के सम्बन्ध में **बरनी** मानसिक रूप से पागल था' लेकिन वह इस कारण और भी परेशानी महसूस करता था कि दिल्ली के साम्राज्य में मुसलमानों को अपनी रोजी–रोटी हिन्दू वर्ग द्वारा नियंत्रित आर्थिक पद्धति से प्राप्त करनी थी क्योंकि देश की आर्थिक व्यवस्था पूर्णतया उच्च वर्गीय हिन्दुओं के हाथ में थी और मुस्लिम शासकगण जैसाकि बरनी कहता है, ऐसी प्रणाली को चुनौती देने की मनःस्थिति में न थे जिसके बिना उनकी सरकारें चल ही न सकती थीं।

बरनी का महान्तम योगदान है–इस्लामी धर्म और सामाजिक आवयकताओं के संदर्भ में राजतन्त्र नामक संस्था की व्याख्या इस स्पष्टतः राजतंत्र को इस्लाम–विरोधी बताया है। राजतंत्र के सिद्धान्त और परम्पराएं कुरान के आदेशों, पैगम्बर की शिक्षाओं और पवित्र खालीफाओं की परम्पराओं का उल्लंघन करती है। परन्तु वह उस युग की आवश्यकताओं के संदर्भ में न्यायसंगत है क्योंकि बिना उसके सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो जाती। फिर भी बरनी हृदय से 'संस्थागत राजतंत्र' का इच्छुक था वह चाहता था। कि राजा अपने सलाहकारों का चुनाव सावधानी से करे और उनके परामर्श से मार्गदर्शत प्राप्त करे। उसका बुनियादी ध्येय वचन है–'राजाओं का कोई मत नहीं'। जहांदारी में राजा के कर्तव्यों का वर्णन विस्तार से लिखा गया है। बरनी की परिकल्पना कि शासक वर्ग के अधिकारी ईश्वर–प्रदत्त जन्म के सिद्धान्तों पर आधारित है, मुस्लिम युग में बहुत कठिनाईयां पैदा कर देते हैं।

बादशाह के कर्त्तव्य एवं बरनी का सिद्धान्त

बादशाह से लाभ

ईश्वर ने जिन लोगों को पैदा किया है उनमें बादशाह अद्भुत होता है। मनुष्य में ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लालच तथा दुष्कर्म स्वाभाविक रूप से पाये जाते हैं। ऐसे बहुत कम लोग होते हैं, जिनमें ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लालच तथा दुष्कर्म न पाया जाता हो। यद्यपि बादशाह वैभव तथा ऐश्वर्य और धन–सम्पत्ति एवं राजकोष के कारण समस्त मनुष्यों से पृथक् होता है, और उसके ऐश्वर्य के कारण लोग को ऐसे कार्यों के विषय में जो करने चाहिये तथा ऐसे कार्यों के विषय में जो न करने चाहिये संसार वालों को आदेश प्राप्त होते रहते हैं, किन्तु समस्त दुष्ट ईर्ष्यालु, द्वेष रखने वाले, लालची तथा धूर्त बादशाह द्वारा अपनी इच्छानुसार अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया करते हैं। अतः बुद्धिमान बाहशाह वह है जो ईर्ष्यालुओं तथा दुष्टों की धूर्तता एवं विश्वासघात से सुरक्षित रहे और उनके जाल में न फंसे।

बादशाह को कोई भय न होना चाहिये

बहुत से ऐसे लोग होते हैं जिन्हें बादशाह द्वारा कष्ट पहुंचा होता है और वे सर्वदा प्रतिकार का प्रयत्न किया करते मुसलमान

बादशाह, जिसे कुरान पर दृढ़ विश्वास होता है, उसे उन लोगों की धूर्तता तथा विश्वासघात एवं अन्य कष्टों का भय नहीं होता और वे अपने आपको तथा अपने देश और राज्य को कुरान के पाठ द्वारा जिसके कारण किसी विश्वासघाती, धूर्त तथा दुष्ट को सफलता नहीं प्राप्त होती, सुरक्षित रखते हैं।

बादशाह के मुहम्मद साहब के धर्म पर विश्वास का प्रभाव

बादशाह के उत्कृष्ट विश्वास के सम्बन्ध में सुल्तान महमूद का कथन है, "हे महमूद के पुत्रो! तुम्हें भली भांति ज्ञात होना चाहिए कि मुसलमानों के बादशाह के कार्यों की अच्छाई उनके भली भांति अथवा बुरी तरह सम्पादित होने एवं बादशाह के उत्कृष्ट तथा दूषित विचारों पर अवलम्बित है। यदि बादशाह का नबियों द्वारा प्राप्त दैवी पुस्तकों पर दृढ़ विश्वास हो तो उसके आशीर्वाद से उसके राज्य सम्बन्धी समस्त कार्य भली भांति सम्पन्न हो जायेंगे और उसकी प्रजा के उद्देश्यों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहेगी। यदि बादशाह का मुहम्मद साहब के धर्म में दृढ़ विश्वास हो और वह अधिक एबादत तथा रोजा नमाज न कर सके तो इसमें आपत्ति नहीं। उसके दृढ़ विश्वास तथा दीन–पनाही एवं दीन–परवरी के कारण उसके नमाज रोजे की कमी एवं दुराचार पर भी ईश्वर ध्यान न देगा। यदि कोई बादशाह सदाचारी हो तथा अल्लाह की एबादत करता हो और उसमें उपर्युक्त गुण हों तो वह संसार का कुतुब हो जायगा।

बादशाह द्वारा शरीअत का पालन

बादशाह के दृढ़ विश्वास की पहचान यह है कि वह अपने आप को तथा अपनी प्रजा को शरीअत के मार्ग पर रखे। यदि वह विलास–प्रिय हो तो अपने बादशाही आतंक एवं ऐश्वर्य द्वारा शरा के आदेशों को इस प्रकार सम्मान प्रदान करे और उन कार्यों को जिनके करने की ईश्वर की ओर से अनुमति प्राप्त है, करने का इस प्रकार आदेश दे, तथा उन कार्यों को जिनके न करने का ईश्वर की ओर से आदेश है, रोकने का इस प्रकार प्रबन्ध करे कि उसके राज्य में कोई शरा द्वारा वर्जित कार्य खुल्लम खुल्ला न हो सके।

दीन पनाह बादशाह

दीन पनाह बादशाह के गौरव की प्रशंसा सम्भव नहीं, कारण कि धर्मनिष्ठ मुसलमान उसकी दीन–पनाही तथा दीन–परवरी के कारण निश्चित होकर ईश्वर की उपासना करते हैं और मुहम्मद साहब की शरीअत के आदेश विभिन्न देशों में जारी होते रहते हैं। इस्लाम को अन्य धर्मों पर प्रभुत्व प्राप्त होता है।..... यदि वह रोजा नमाज में कमी करे तो वह विलास–प्रिय होने पर भी दीन पनाही के कारण दंडनीय नहीं होता।

बादशाह को स्वयं भोग विलास में ग्रस्त होते हुये भी शरा के आदेशों का पालन कराना चाहिये

बादशाह को मुहम्मद साहब के धर्म की वृद्धि में यथासम्भव प्रयत्न करते रहना चाहिये और दीन–पनाही में किसी कारण कमी न करनी चाहिये। वह स्वीकृत कार्यों के जारी करने तथा वर्जित कार्यों की रोकथाम का प्रयत्न करता रहे। अपनी बादशाही की शक्ति ऐसी बातों में लगाये कि सत्य को केन्द्रीय स्थान प्राप्त हो जाय; इस्लामी प्रथायें उन्नति पायें। कहीं ऐसा न हो कि शैतान तुम्हारे हृदय में यह डाल दे जब हम भोग विलास में ग्रस्त है और जश्न तथा सभायें करते रहते हैं, राजकोष अपने भोग विलास में व्यय करते हैं और बादशाही ऐश्वर्य तथा वैभव का प्रयोग अधिकांशतः सून्नत के विरुद्ध करते हैं तो अन्य लोगों को किस प्रकार शरा द्वारा वर्जित तथा निषिद्ध कार्यों को करने से रोकें तथा विभिन्न प्रकार के कठोर दण्डों के भय से उन्हें मना करें और ईश्वर द्वारा स्वीकृत कार्य करने का आदेश दें। इस प्रकार के विचारों को शैतान द्वारा उत्पन्न किया हुआ भ्रम समझना चाहिये। सत्य तो यह है कि बादशाहों को ईश्वर द्वारा स्वीकृत कार्यों के करने तथा वर्जित की रोक थाम का स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिए, तत्पश्चात् अन्य लोगों को इस प्रकार के आदेश देने चाहिये। किन्तु यदि वे स्वयं भोग विलास के कारण ऐसा न कर सकें और दूसरों से भी इन आदेशों का पालन न करा सकें और सत्यता को केन्द्रीय स्थान न प्रदान कर सकें तो बादशाही ऐश्वर्य एवं वैभव को किस नाम से पुकारा जा सकता है, कारण कि न उन्होंने धर्मनिष्ठता सम्बन्धी कर्तव्यों का पालन किया और न दीन–पनाही सम्बन्धी। उनकी बादशाही व्यर्थ रहीं। यदि बादशाह संसार में दीन–पनाही में कमी करते हैं और संसार है उनकी बादशाही में कोई दोष उत्पन्न नहीं भी होता तो वे कयामत में दंड के पात्र होंगे।

कठोर मुहतसिबों एवं अमीर दादों को नियुक्ति

भूतपूर्व आलिमों ने बादशाहों के दृढ़ एवं उत्कृष्ट विश्वासों के चिह्नों के विषय में विस्तार से लिखा है। एक चिह्न यह है कि वह अपनी राजधानी, नगरों, प्रदेशों तथा कस्बों में कठोर स्वभाव वाले मुहतसिब तथा निष्ठुर अमीर दाद नियुक्त करे और नाना प्रकार की सहायता से उनके अधिकार तथा शक्ति में वृद्धि करे ताकि वे मुसलमानों में अम्रे मारूफ तथा निहोये मुन्कर को शोभा प्रदान कर सकें, और दंड द्वारा दुराचार की रोक थाम कर सकें। जो लोक खुल्लमखुल्ला पाप तथा दुराचर करते हों उन्हें कठोर दंड दे कर पाप करने वालों को नाना प्रकार से कष्ट में रखें। मदिरापान करने वालों, बंशी बजाने वालों (गायकों) तथा जुआ खेलने वालों को पाप करने से रोक दें। यदि वे रोकने, कठोरता अपमान तथा अनादर द्वारा न रूकें और इस्लाम के अनुयायी होने पर भी उन अत्यन्त निषिद्ध वस्तुओं को न त्यागें तथा धर्म से लज्जा और बादशाह के निषेध पर ध्यान न दें तो धनी लोगों को निर्धन बनाकर बन्दी कर दें। मदिरापान करने वालों को नगर के बाहर निकाल दें जिससे वे एकान्त में निवास करने लगें। यदि वे मुसलमान हों तो उनसे निर्दयता का व्यवहार करें और ऐसी व्यवस्था करें कि कोई मुसलमान मदिरापान न करे। नीच लोगों की, उनके विलाप के बावजूद, दंड द्वारा रोक थाम करते रहें। उनके ऊपर कठोर तथा निष्ठुर लोगों को नियुक्त कर दें ताकि वे नगरों को त्याग कर ग्रामों में चले जाएं और ग्रामीण जीवन व्यतीत करके तथा शरा द्वारा स्वीकृत कार्यों को करके अपने भोजन तथा वस्त्र की व्यवस्था करें। जो लोग बड़े–बड़े पाप खुल्लम–खुल्ला करते हों उन्हें मुसलमानों के नगरों में रहने तथा पाप एवं दुराचार न करने दें। भव्य विलास के गृहों का निर्माण न होने दें। यदि उनका निर्माण हो चुका हो तो उन्हें धराशायी करा दें।

जो लोग छिप कर वर्जित कार्यों को करते हों उनके विषय में अधिक पूछताछ न कराये। मुहतसिबों तथा अमीर दादों के सामने जो निषिद्ध कार्य होते हों अथवा जो वर्जित कार्य साधारण लोगों की दृष्टि के समक्ष होते हों उनका अन्त करायें और गुप्त रूप से होने वाले कार्यों की खोज तथा उनको स्पष्ट करने का प्रयत्न न करें। जो बिदअतें सुन्नत के मार्ग में बाधक हों उनका यथासम्भव अन्त करा दें। मुसलमानों को प्रत्येक मुहल्ले, गली तथा घर में कलमये शहादत, नमाज, जकात, रोजे तथा हज के विषय में चेतावनी देते रहें। मुहतसिबों के लिए यह बात अनिवार्य कर दें कि वे नमाज न पढ़ने वालों से अत्यधिक कठोरता एवं निष्ठुरता का व्यवहार करें। धनी लोगों से जबरदस्ती जकात दिलवायें और उनका कोई बहाना न स्वीकार करें। जो धृष्ट लोग खुल्लम खुल्ला रोजा न रखते हों अथवा रमजान मास में बड़े–बड़े पाप करते हों और उन्हें इस्लाम की लज्जा तथा बादशाह के भय की चिन्ता न हो तो इन लोगों को बन्दी बनाकर बादशाह के समक्ष लायें ताकि बादशाह सब लोगों की चेतावनी हेतु इनकें बन्दी बनाये जाने, निर्वासन तथा हत्या के विषय में उचित आदेश दे सकें। बादशाह को इस्लाम के विरोधियों तथा मुहम्मद साहब की शरा के शत्रुओं को इस्लाम के कर्म की ओर आमंत्रित करना चाहिये। मुसलमानों को इस्लाम के मार्ग पर रखना चाहिए और मुशरिकों (एक ईश्वर से अधिक सत्ता पर विश्वास करने वाले) को तौहीद (एकेश्वरवाद) के क्षेत्र में लाना चाहिये।

धर्म-युद्ध तथा उसमें मारा जाना

धर्मनिष्ठ सुल्तान युद्धों में शहीद होने की आकांक्षा किया करते हैं। ये अपनी वीरता के कारण शत्रु पर विजय की आकांक्षा करते हैं और धर्मनिष्ठता के कारण शहीद होने की इच्छा करते रहते हैं। महमूद ने अपना समस्त जीवन ईश्वर के लिये जेहाद करने में लगा दिया था। उसके उद्देश्य के विषय में ईश्वर को ज्ञात होगा। उसने इतने दूरस्थ स्थानों पर जो धर्म–युद्ध किये, उनका उद्देश्य धन–सम्पत्ति की लालसा न था किन्तु बाल्यावस्था से अन्त तक उसकी महत्वाकांक्षा यही रही है कि किस प्रकार इस्लाम के समस्त विद्रोहियों तथा शत्रुओं का विनाश किया जाय तथा कुफ्र के इमामों अर्थात् ब्राह्मणों एवं दार्शनिकों तथा उनके अनुयायियों को तलवार के घाट उतारा जा सके और इस्लाम के प्रकाश द्वारा समस्त संसार प्रज्वलित हो सके। महमूद ने बहुत कम ऐसे धर्म–युद्ध किये होंगे जिनमें वह स्वयं सम्मिलित न हुआ हो। वह सर्वदा शहीद होने की आकांक्षा किया करता था। महसूद को पवित्र आलिमों द्वारा ज्ञात हुआ था कि बादशाह को शहीद होने की आकांक्षा द्वारा जितना पुण्य प्राप्त होता है उतना पुण्य बादशाह के अतिरिक्त अन्य लोगों को शहीद होने की आकांक्षा में नहीं होता।

धार्मिक पदों पर नियुक्ति सम्बन्धी सावधानी

गजनी के समस्त निवासियों को ज्ञात है कि महमूद लोगों को पद प्रदान करने में विभिन्न प्रकार से सावधानी बरता करता था। वह लोभियों तथा धूर्तों को धार्मिक पदों के निकट न फटकने देता था और मुहम्मद साहब की शरा की अधिकारियों में बड़ा सम्मान का स्थान न प्रदान करता था। नगरों, प्रदेशों तथा कस्बों में शक्ति तथा वैभव वाले मुहतसिब नियुक्त किये थे। महमूद सर्वदा इस बात को दीन–पनाही तथा दीन–परवरी सम्बन्धी बहुत बड़ा कार्य समझता रहता था और धार्मिक अधिकारियों की नियुक्ति स्वयं करता था

था। महमूद को यह बात पसन्द न थी कि समस्त गजनी तथा उसके अधीन अन्य राज्यों में कोई यहूदी, ईसाई, नीच तथा विधर्मी निवास करे तथा अपने ज्ञान का प्रचार कर सके और अपने झूठे तथा रद्द किये हुये धर्म को प्रचलित कर सके। महमूद के राज्य में सुन्नी आलिमों के अतिरिक्त अन्य धर्म के विद्वानों को निवास करने की अनुमति न प्राप्त होती थी।

बरनी कहता है कि "बादशाह बिना बुद्धिमान वजीर के निराधार राजप्रसाद तथा बिना नमक की रोटी के समान होता है।" यदि वजीर बुद्धिमान होता है तो बादशाह की मूर्खता से राज्य में किसी प्रकार का दोष नहीं उतपन्न हो पाता। बहुत से बादशाह अल्पावस्था में सिंहासनरूढ़ हो जाते हैं किन्तु उनके वजीर राज्य–व्यवस्था का संचालन करते रहते हैं। यदि वजीर के परामर्श में दोष होता है तो राज्य के विनाश में किसी प्रकार का सन्देह न होना चाहिये। जब तक सभी विशेष तथा साधारण व्यक्ति वजीर की बुद्धिमत्ता से सहमत न हों उस समय तक उसे वजीर के पद के योग्य न समझना चाहिये।

सत्परामर्श की विशेषतायें

सत्परामर्श की कुछ विशेषतायें बताई गई हैं।

1. ईश्वर का भय। यदि सत्परामर्श–दाता में सैकड़ों गुण हों और ईश्वर का भय न हो तो उसे उचित बात के विषय में दैवी ज्ञान कदापि नहीं हो सकता।
2. सत्परामर्श की दूसरी पहचान उसका ज्ञान है। उसे भूतकाल के बादशाहों का ज्ञान तथा इस बात की जानकारी होनी चाहिये कि विभिन्न परामर्श से किसी प्रकार प्राचीन बादशाह कष्टों से मुक्ति पाते रहे हैं। यदि उसे इस बात का ज्ञान न हो तो अवश्य ही उसके परमार्श में भूल होगी।
3. उसे राज्य की घटनाओं का ज्ञान हो और वह उनमें भाग लेता रहा हो। राज्य के व्यापार द्वारा मत दृढ़ हो जाते हैं।
4. पूर्ण सूझ बूझ। इसके कारण थोड़े से सोच विचार द्वारा उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है।
5. मनुष्यों के समझने का पूर्ण ज्ञान। यदि यह गुण न हो तो वह शासन प्रबन्ध में भूल कर बैठता है।
6. किसी बात का लोभ न हो। यदि परामर्श–दाता लोभी होता है तो सत्परामर्श लोभी के हृदय में आरूढ़ नहीं होता।
7. सदाचरण तथा पवित्रता, कारण कि सत्परामर्श पापियों के हृदय में उत्पन्न नहीं होता।
8. हृदय में शक्ति होनी चाहिये। जिसके हृदय में शक्ति नहीं होती तो आन्तरिक शक्ति–शून्यता के कारण ठीक बात उसके हृदय में नहीं आ सकती।
9. उसमें सहनशीलता तथा धैर्य होना चाहिये, कारण कि उतावलेपन तथा क्रोध से सत्परामर्श की ओर दृष्टि नहीं जाती।
10. बादशाह के प्रति निष्ठा, कारण कि निष्ठावान लोगों के हृदय में सर्वदा ठीक बात ही आती है।

राय देने की शर्तें

1. राय देने की प्रथम शर्त यह है कि राय देने वाले की समझ में जो कुछ आये वह बिना किसी भय के कह दे; प्रत्येक व्यक्ति अपनी राय के सम्बन्ध में तर्क वितर्क करे और जब उसमें किसी को कोई आपत्ति न रहे कि सभी लोग सहमत हो जायें तो उसे राय के अनुसार कार्य करे। राय देने की परिभाषा में इसे सर्वसम्मति कहते हैं। यदि सर्वसम्मति न प्राप्त हो तो उस राय पर विश्वास न करना चाहिये।
2. जिन लोगों से परामर्श लिया जाए उन्हें निश्चित होना चाहिये। उन्हें अनुभवी, निष्ठावान तथा एक दूसरे के समान होना चाहिए। एक को बहुत बड़ा ज्ञानी तथा दूसरे को मूर्ख न होना चाहिये। एक को बहुत ही श्रेष्ठ तथा दूसरे को कम न होना चाहिये अन्य परामर्श बेजोड़ हो जायेगा।
3. प्रत्येक परामर्श–दाता को राज्य की समस्त गुप्त बातों का ज्ञान होना चाहिये। उनें से कुछ लोग ऐसे न होने चाहिये जो विश्वासपात्र बनने के योग्य न हों। जब राय देने वाले राज्य की गुप्त बातों से अनभिज्ञ होंगे तो वह राज्य के हित में परामर्श न दे सकेंगे। जब तक चिकित्सक को रोगी की प्रत्येक बात तथा स्वभाव का ज्ञान नहीं होता उस समय तक उसके उपचार से अधिक लाभ नहीं होता।
4. परामर्श–दाताओं को बादशाह का विश्वासपात्र होने के कारण प्राणों की रक्षा का विश्वास होना चाहिये, जिससे परामर्श की गोष्ठी में वह किसी प्रकार से नदीमी (चापलूसी) न कर सके और सच बात खुल्लम खुल्ला कह दे और अपनी निष्ठा इसी

बात में समझे। बादशाह के क्रोध का भय न करे। जब तक बादशाह का भय हृदय में होता है उस समय तक ठीक बात जिह्वा पर नहीं आता।

5. बादशाह गोष्ठी में अपना मत व्यक्त न करे और परामर्श–दाताओं की राय को सुने कि वे क्या कहते हैं और परामर्श–दाता किस बात से सहमत है। यदि गोष्ठी में बादशाह अपना मत पहले से व्यक्त कर देता है तो उपस्थितजनों के पास इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं रह जाता कि वे उसकी प्रशंसा करें और अपने विचार त्याग दें। बादशाह की राय के विरोध का किसी को साहस नहीं होता और वे तर्क द्वारा बादशाह के मत की पुष्टि करते हैं।

6. महान कार्यों के परामर्श के लिये बड़े उत्तम समय का चुनाव करना चाहिये। बहुत से बादशाह परामर्श के समय रोजा रखा करते थे और परामर्श–दाताओं को भी रोज़ा रखने का आदेश दिया करते थे। इसका कारण यह था कि वे समझते थे कि इस प्रकार बादशाहों तथा परामर्श–दाताओं के हृदय में सच्ची बात ही आयेगी। वे पीरों के दर्शन तथा दान पुण्य द्वारा ईश्वर से सहायता चाहा करते थे। वे परामर्श को व्यर्थ का कार्य न समझते थे अपितु उसे राज्य के समस्त कार्यों की रक्षा का आधार समझते थे।

7. यदि कोई बात सर्वसम्मत्ति से निश्चय हो जाय और वह वासना के विरुद्ध न हो और यदि उससे अभिमान उत्पन्न होता हो तो उससे बचना चाहिये। वासना के अधीन कार्य करने से हानि होती है। परामर्श के सम्बन्ध में बादशाह इसी कारण भूल करते हैं कि वह परामर्श उनकी वासना के अनुकूल होता है और वह उन्हें रुचिकर होता है। अनुचित परामर्श पर आचरण करने से राज्य का विनाश हो जाता है।

सत्य बात तो यह है कि महान् कार्यों का सम्पन्न होना ईश्वर पर निर्भर है और उसकी भूमिका सत्परामर्श पर जिसे ईश्वर मनुष्य के हृदय में डाल देता है।

सत्संकल्प

सत्संकल्प बादशाही का वस्त्र तथा राज्य–व्यवस्था का रूप है। सत्संकल्प राज्य–व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। बादशाह की राज्य–व्यवस्था तथा महान कार्यों में सत्संकल्प से राज्य में अव्यवस्था नहीं होती। राज्य–व्यवस्था एवं शासन–प्रबन्ध शीघ्र सम्पन्न हो जाता है और विरोधियों तथा मित्रों के हृदय में उसका सम्मान आरूढ़ हो जाता है। सभी लोगों के हृदय में उसकी राज्य–व्यवस्था का स्थायित्व बैठ जाता है। उसका भय उसके बराबर वालों के हृदय से कम नहीं होता और लोगों को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि बादशाह जिस महान् कार्य में हाथ डालता है उसे उस समय तक नहीं त्यागता जब तक उसे पूर्ण नहीं कर लेता। बादशाह के दृढ़ संकल्प के विषय में सर्व साधारण को विश्वास हो जाने से राज्य–व्यवस्था में बड़ा लाभ होता है।

यदि बादशाह के विषय में यह प्रसिद्ध हो जाता है कि वह अपने संकल्प में दृढ़ नहीं है और लोगों को ज्ञात हो जाता है कि वह अपने कार्यों में परिवर्तन करता रहता है तो न उसके हितैषियों में उसके प्रति निष्ठा एवं प्रेम शेष रहता है और न उसके शत्रुओं को उसके क्रोध का भय रहता है और न प्रजा को उसके आदेशों से संतोष होता है और न उनके किसी कार्य अथवा उसकी किसी बात का कोई महत्व रहता है और न उसका गौरव उसके बराबर वालों में शेष रहता है।

बाहशाहों द्वारा आतंक का प्रदर्शन तथा उनका न्याय

अभिमान, सब से अलग रहना, गौरव तथा आतंक का प्रदर्शन दासता के गुणों के विरुद्ध है और उपर्युक्त गुण केवल ईश्वर के गुण हैं किन्तु मुसलमान बादशाहों के लिये कुछ सांसारिक आलिमों ने उपर्युक्त गुणों का प्रदर्शन उचित बताया है। इसका कारण यह है कि वह न्याय करता है और उसके वैभव से न्याय उच्च शिखर को प्राप्त होता है और कोई भी विरोधी तथा अवज्ञाकारी किसी दीन पर अत्याचार नहीं कर सकता। इस्लाम तथा शरा के शत्रु इस प्रकार अपमानित, अनादृत तथा तिरस्कृत रहते हैं। इस्लाम के समुदायों में बादशाह के गौरव के कारण उसकी आज्ञाओं का पालन होता है और न्याय को शोभा प्राप्त होती है। न्याय के द्वारा से इस्लाम की उन्नति होती है और धर्म के आदेशों के चालू हो जाने के कारण संसार सुव्यवस्थित तथा सुशासित होता है। समस्त उपकार तथा कल्याण सम्बन्धी एवं अन्य कार्य न्याय के कारण दृढ़ रहते हैं। मुहम्मद साहब ने कहा है, कि "बादशाह का एक दिन का न्याय जो संसार के सुव्यवस्थित करने के लिए होता है, 70 वर्ष की उपासना से बढ़ कर तथा लाभदायक होता है। धर्म के किसी कार्य का इतना उत्कृष्ट फल नहीं होता और न किसी अन्य कार्य के विषय में इतना अधिक पुण्य बताया गया है। इसका कारण यह है कि इसके द्वारा संसार सुव्यवस्थित होता है।...

वह कहता है कि बादशाह, बादशाही जैसे अद्‌भुत देन का मूल्य नहीं समझते और इसका प्रयोग भोग विलास तथा संसार का आनन्द उठाने में करते हैं। इस प्रकार वे वन पशुओं के समान जीवन व्यतीत करते हैं।....न्याय द्वारा उन्हें इतने अधिक पुण्य प्राप्त होते हैं कि वे भूमि तथा आकाश में भी नहीं समाते।.....

स्वाभाविक न्याय

बादशाही का अनिवार्य गुण न्याय है। यदि बादशाह में स्वाभाविक रूप से न्याय के गुण विद्यमान हों और उसमें इस गुण की प्रधानता हो तो नबी होने के गुण के उपरान्त बादशाह होने के गुण से श्रेष्ठ कोई गुण नहीं।.... यदि बादशाह में स्वाभाविक रूप से न्याय के गुण न हों तो न्याय को उसके समस्त गुणों में प्रधानता प्राप्त नहीं होती।

अत्याचार का समूलोच्छेदन

इस इस गुण का बादशाह की संतान, सम्बन्धियों, दासों, मित्रों, वालियों, काजियों तथा आमिलों में, जो शासन प्रबन्ध में उसके सहायक होते हैं, होना परमावश्यक है। जब तक बादशाह के सभी वाली, काजी, आमिल तथा आज्ञा प्रदान करने वाले न्यायकारी नहीं होते उस समय तक सर्वसाधारण के व्यवहार में न्याय नहीं होता तथा अत्याचार का अन्त नहीं होता। बादशाह उसी समय न्यायकारी हो सकता है जब उसके राज्य में अत्याचार न हो और अत्याचारियों का विनाश न हो। यदि बादशाह के राज्यों में एक व्यक्ति भी अत्याचार करता है और अत्याचार उसके ज्ञान में स्थापित रहता है तो वह न्यायकारी नहीं होता।

न्याय का प्रसार एवं स्वाभाविक न्याय

बादशाह के वालियों, काजियों, अमीरों तथा आमिलों के न्याय का प्रसार इस प्रकार होना चाहिए कि उसके राज्य में कष्ट तथा उपद्रव कम हो और आकाश से आशीर्वाद की निरन्तर वर्षा होती रहे, अतः बादशाह में स्वाभाविक रूप से न्याय विद्यमान रहना चाहिये। वह स्वाभाविक रूप से अत्यधिक न्याय करता हो और उसके राज्य के खास व आम पर अत्याचार न होता हो।

सिकन्दर से अरस्तु ने पूछा कि "न्याय तथा अत्याचार विरोधाभासी गुण है जो एक स्थान पर तथा एक गोष्ठी में एकत्र नहीं हो सकते। कुछ बादशाहों तथा शासकों की गोष्ठी में दोनों एक स्थान पर देखे गये हैं। इसका क्या कारण है?" अरस्तू ने उत्तर दिया कि "यदि किसी बादशाह में स्वाभाविक रूप से न्याय पाया जाता हो तो वह किसी भी दशा में तथा कदापि अत्याचार न करेगा।"

व्यय सम्बन्धी सावधानी

बादशाह बैतुलमाल से अपने सहायक एवं मित्रों के लिए जो कुछ व्यय करता है वह उसके लिये आवश्यक होता है। यदि बादशाह अपने आपको तथा अपने सहायकों एवं मित्रों को शक्तिशाली नहीं बनाता तो उसे बादशाही करना प्राप्त नहीं होता। बादशाह को इस व्यय में आवश्यकता पर दृष्टि रखनी चाहिये। यदि बादशाह अपने सहायकों तथा मित्रों के व्यय में वासना से प्रेरित हो जाता है तो उसके कार्य खतरे में पड़ जाते हैं।

बे हिम्मत बादशाह

बे हिम्मत बादशाह बादशाही के योग्य नहीं होता। प्रजा के लिये कम हिम्मत बादशाह की आज्ञाकारिता उचित नहीं और न उसे खराज तथा जजिया अदा करना चाहिये। यदि बादशाह अपने व्यवहार में प्रजा से पृथक् नहीं होता और यदि उसका आदर तथा सम्मान संसार वाले नहीं करते तो प्रजा को उसकी आज्ञाओं का पालन करने में लज्जा आती है। बादशाह में गौरव, श्रेष्ठता तथा आतंक इस प्रकार होना चाहिये कि यदि वह जंगल में यात्रा कर रहा हो तो वन पशु उसे सिज्दा करें।

बादशाह के कार्यों में संतुलन

राज्य के सहायकों तथा स्तम्भों अपितु राज्य के समस्त विशेष व्यक्तियों में संतुलन के विषय में सुल्तान महमूद ने परामर्श किया है कि हे महमूद के पुत्रों तथा हे पृथ्वी के बादशाहो! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि राज्य–व्यवस्था सम्बन्धी उत्तम कार्य दो प्रकार के होते हैं:—

1. सर्वधारण के हकों का अदा करना अर्थात् प्रजा के प्रति कृपा, दया, न्याय तथा उसकी सहायता।
2. शासक द्वारा दूसरे प्रकार का हक अदा करना राज्य के विशेष व्यक्तियों के प्रति होता है। यह नाना प्रकार के होते हैं। सैयिद होने के कारण, ज्ञान के कारण बुद्धि के कारण, पवित्रता के कारण, वंश की शुद्धता के कारण, चरित्रवान होने के

कारण, उदाहरणार्थ वीरता, व्यापार, कलाकौशल के कारण। बादशाह के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक गुण का उचित बदला दे। अपने सहायकों तथा मित्रों की निष्ठा का हक अदा करे तथा राज्य के विशेष व्यक्तियों के गुण का हक अदा करे। इनाम इकराम देते समय संतुलन का ध्यान रखे और प्रत्येक के हक को उसकी योग्यतानुसार अदा करे।

पूर्णरूप से बुद्धिमान ऐसे बादशाह को कहा जा सकता है जिसे विशेष व्यक्तियों तथा सर्वसाधारण से जो व्यवहार करे तथा अपने पुत्रों, भाइयों, सम्बन्धियों दरिद्रियों, सेवकों इत्यादि से जो व्यवहार करे वह संतुलन के बिना न हो। उसका दान पुण्य तथा उसके दरबार वालों के सम्मान में कोई बात बेजोड़ न हो। उसके कार्यों से जो सहायता पाने के अधिकारी हों, वे उससे वंचित न रह जायें। उसका प्रेम लोगों के हृदय में आरूढ़ हो जाये।

सेना की दृढ़ता सम्बन्धी नियम

1. सेना की की रसद का विवरण प्रत्येक वर्ष बादशाह के समक्ष प्रस्तुत किया जाय और राज– सिंहासन के समक्ष (इस बात का उल्लेख हो) कि क्या प्राप्त हुआ तथा कहां से प्राप्त हुआ।
2. बादशाह को यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होनी चाहिये कि सेना के लिये क्या व्यवस्था की गई और वे किस प्रकार अपने परिवार की ओर से निश्चित रहे।
3. घोड़ों तथा अस्त्र–शस्त्र के विषय में दो बार पूछताछ करानी आवश्यक है। यह पूछताछ ऐसे व्यक्तियों द्वारा होनी चाहिये जिनके विषय में झूठ तथा अपहरण की आशंका न की जा सके ताकि युद्ध के समय सेना द्वारा कोई अनुचित सम्पन्न न हो सके। इस प्रकार की जांच दो दिन तक होनी चाहिये ताकि एक साथ समाप्त हो जाये।
4. गाजियों मुसलमान योद्धाओं तथा मुजाहिदों (जेहाद करने वाले) की घुड़ सवारी में परीक्षा होनी चाहिये ताकि जो इसकी योग्यता न रखता हो तथा अन्य व्यवसाय से सम्बन्धित हो वह उनके मध्य में न आ जाय क्योंकि अन्य समूह के गाजियों में प्रविष्ट हो जाने के कारण बड़ा खड़ा हो जाता है।
5. सेना के सरदार को चुना हुआ, उच्च वंश से सम्बन्धित, वीर तथा शुद्ध आत्मा का होना चाहिए।

महमूद यथासम्भव इन पांचों नियमों पर आचरण करता था और उसने अन्य अधिनियम भी बनाये थे। इस प्रकार उसने 30,000 अश्वारोही तथा एक लाख पदाति, वेतन पाने वाले एकत्र कर लिये थे। 30 हजार सवार दासों में से सुव्यवस्थित किये थे। महमूद कुछ सेना वालों को दूर की अक्तायें कुछ को नगर के निकट के ग्राम, कुछ को कृषि के योग्य, कुछ को अपितु आधी सेना को खजाने से सुव्यवस्थित रखता था। वह सर्वदा सेना की देख रेख में प्रयत्नशील रहता था और उनकी देख भाल किया करता था।

दासों की सेना

महमूद 12 वर्ष तक प्रयत्न करता रहा और उसने 30,000 सवार दासों को एकत्र किया और उनको सुव्यवस्थित किया। इनमें से 15,000 हिन्दू दास थे तथा 15000 अश्वरोही चीन तथा खता के थे। यदि उनके सम्बन्धित छोटे बड़े सभी की गणना की जाय तो एक लाख से अधिक व्यक्ति हो जायेंगे। महमूद को दासों की सेना से बहुत से लाभ दृष्टिगत हुये तथा हानियां भी।

लाभ यह है कि दासों की अधिकता से बादशाह शक्तिशाली तथा वैभव वाला प्रतीत होता है। हाथियों तथा घाड़ों की अधिकता से बादशाह वैभवशाली तथा शक्तिशाली प्रतीत होता है और इससे दूर तथा निकट के शत्रु भयभीत रहते हैं और दासों की अधिकता से बादशाह का महत्व लोगों की दृष्टि में बढ़ जाता है।

दूसरा लाभ यह है कि दास अपनी विशेषता के लिये सेना के युद्ध तथा किलें की विजय हेतु प्रयत्न प्रारम्भ करने के पूर्व प्रयत्न आरम्भ कर देते हैं। अपने नाम तथा प्रसिद्धि एवं अपने आप को स्वामि–भक्त प्रदर्शित करने के लिए तथा सेवकों से अपने आप को बढ़ कर प्रमाणित करने के लिए वे हृदय से युद्ध के लिये प्रयत्न करते हैं और बहते हुये जल तथा धधकती हुई अग्नि में कूद पड़ते हैं। समस्त सेना के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे भी उसी मार्ग पर चलें। इसमें बड़ा लाभ होता है

तीसरा लाभ यह है कि उनको देखकर सेना वालों का अभिमान कम हो जाता है। उनके अत्यधिक हो जाने से किसी भी समूह के हृदय में उनके भय के कारण विरोध का विचार नहीं होता। सेना वाले यह समझते हैं कि दास समूह से सम्बन्धित हैं और वे न मिल सकते हैं और न अनुसरण कर सकते हैं। यह लाभ थोड़ा नहीं है।

उनके एकत्र करने तथा एक साथ रखने से यह हानि होती है कि उनमें से अधिकार निर्लज्ज होते हैं तथा भविष्य के विषय में

नहीं सोचते। यद्यपि वे वर्षों से मुसलमानों के साथ छोटी अवस्था से बड़ी अवस्था को प्राप्त होते हैं तथापि मुसलमानों के हृदय में जो ईश्वर का भय होता है वह उनमें उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि मुगलों को वर्षों तक आश्रय प्रदान किया जाय तब भी उनमें स्वामि–भक्ति नहीं उत्पन्न होती और उनके हृदय में अपनी शक्ति बढ़ाने, जंगलीपन तथा विश्वासघात के अतिरिक्त कोई अन्य बात बड़ी कठिनाई से आती है। उनको एकत्र रखने तथा उनकी अधिकता के विचार से महमूत को सर्वदा कष्ट होता था। उनके संगठित हो जाने तथा अपनी शक्ति के बढ़ा लेने का भय बहुत बड़ा भय होता है।

सेना रखने से सम्बन्धित आवश्यक बातें

महमूद के पुत्रों तथा मुसलमान बादशाहों को सेना रखने की गूढ़ बातों का ज्ञान परमावश्यक है। प्रथम आवश्यकता यह है कि जो 100 अश्वारोहियों के योग्य हो और 100 सवार सुव्यवस्थित रख सकता हो उसे 1000 तथा 2000 सवार का अधिकारी न नियुक्त करना (72 ब) चाहिये। जो कोई 1000 तथा 2000 सवारों की व्यवस्था करने के योग्य हो उसे 100 अथवा 50 अश्वारोहियों का अधिकारी न बना देना चाहिये। इससे उसे निराशा होती है और सेना नायकों को किसी प्रकार निराश न करना चाहिए। यदि कोई योग्य व्यक्ति किसी अयोग्य व्यक्ति को किसी उच्च स्थान पर देखता है तो उसकी निष्ठा में कमी आ जाती है और वह सर्वदा अप्रसन्न रहता है।

सेना रखने की शर्तों में एक यह शर्त कि बादशाह के राज्य के लिए 50,000 अश्वारोही पर्याप्त हों तो उसे केवल 50,000 सवारों से संतुष्ट न हो जाना चाहिये। जितने पर्याप्त हों उनसे कम से कम आधे और भी सुव्यवस्थित रखने चाहिये ताकि ये 50,000 सुव्यवस्थित रहें और यदि कोई दुर्घटना हो जाये तो उस समय नये अनुभव–शून्य सवार न रखने पड़ें। अकस्मात् आवश्यकता पड़ने पर अनुभव–शून्य सरदार किसी कार्य के योग्य नहीं होते अपितु कठिनाई के समय उनसे हानि होती है।

सेना की अधिकता से लाभ

सेना की अधिकता से राज्य–व्यवस्था में बहुत से लाभ होते हैं। एक लाभ तो यह है कि सेना की अधिकता से बादशाह का आतंक उसके बराबर वालों के हृदय में आरूढ़ हो जाता है। दूसरे यह कि यदि बादशाह को अन्य इकलीमों तथा प्रदेशों पर अधिकार जमाने की आक्श्यकता पड़ जाती है तो अधिक सवार उस स्थान पर काम आते हैं और राज्य व्यवस्था हेतु जितनी सेना की आवश्यकता है उसमें न्यूनतम नहीं होती। भविष्य के विषय में इस प्रकार सोचना दूरदर्शी बादशाहों का कार्य है। हे पुत्रो तथा हे बादशाहो! तुम्हें सहस्रों बार यह आवश्यक है कि जो कोई तुम्हारे समक्ष यह कहे कि इतने अश्वरोही ही रखने चाहिये और बिना आवश्यकता के इतना धन व्यय करना अनुचित है और सेना में वृद्धि करने के स्थान पर उसे कम करने के लिये कहे तो तुम्हें उसको अपने धर्म तथा राज्य का शत्रु समझना चाहिये, यद्यपि वह तुम्हारा भाई अथवा पुत्र ही क्यों न हो।

सेना की दीवान की जांच

सेना के दीवान की अपने समक्ष दो बार जांच करनी चाहिये और संस्था के विषय में पूछताछ करनी चाहिये। यदि संख्या में वृद्धि न हो तो समझना चाहिये कि सेना का कार्य भली भांति नहीं हो रहा है। तुम्हें समझना चाहिये कि यदि तुम्हारे आरिजों, सेनानायिकों तथा विलायत के वालियों को किसी प्रकार यह पता चल जाए कि तुम सेना की वृद्धि में अधिक प्रयत्न नहीं करते अथवा तुम धन अधिक व्यय हो जाने पर ध्यान देते हो तो तुम समझ लो कि इस प्रकार सेना में कदापि वृद्धि नहीं हो सकती और जो कुछ सेना है भी वह सुव्यवस्थित नहीं हो सकती और नित्य प्रति कम होती रहेगी।

सेना को बेकार न रखना चाहिए

इस सम्बन्ध में तीसरी गूढ़ बात यह है कि सेना को बेकार न रखना चाहिये अपितु धन एकत्र करने, सीमा की रक्षा, जंगलों के विनाश, किलों को विजय करने तथा शिकार में लगाये रखना चाहिये, विशेष रूप से उन लोगों को जो सेनापति बनने की इच्छा रखते हों तथा उनसे उपद्रव का भय हो। यदि बादशाह का हृदय अपने राज्य के (आंतरिक) युद्धों से मुक्त हो, उसका राज्य दृढ़ हो चुका हो तो उसे अन्य देशों के विजय करने की ओर ध्यान देना चाहिये। प्रतयेक व्यवसाय तथा कार्य से सम्बन्धित व्यक्ति अपने कार्य में व्यस्त रहे बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार यदि सेना अपने कार्य में व्यस्त न रहे तो उसके मस्तिष्क में अन्य प्रकार के विचार उत्पन्न होने लगते हैं।

सेना को सन्तुष्ट रखना

सेना को सन्तुष्ट रखने में भी बहुत से लाभ हैं, किन्तु इसकी भी एक सीमा होनी चाहिए। उन्हें इतना भी सन्तुष्ट न होना चाहिए कि उनके मस्तिष्क में अन्य प्रकार के विचार आने लगें।

बरीद

यदि बादशाह को अपने राज्य वालों के अच्छे बुरे की सूचना न हो तो वह उनके कार्य सम्पन्न कराने के विषय में किस प्रकार प्रयत्न कर सकता है? कयामत में बादशाह से प्रत्येक व्यक्ति के विषय में प्रश्न किया जायगा। यदि उसे प्रजा के अच्छे बुरे सुव्यवस्था तथा अव्यवस्था की सूचना न हो तो वह किस प्रकार उत्तर दे सकता है? यदि ईश्वर द्वारा बादशाह से प्रजा के विषय में कोई प्रश्न किया जाय और बादशाह अपने आपको अनभिज्ञ बताये तो बादशाह का उत्तर कदापि न सुना जाएगा। उसे उतना ही राज्य पर अधिकार प्राप्त करना चाहिये जितने की उसे सूचना रह सके। अतः बादशाहों के लिए बरीद नियुक्त करना आवश्यक तथा अनिवार्य है। हे पुत्रो! यदि कोई मूर्ख तुम से यह कहे कि कुरान में यह लिखा है कि लोगों के विषय में छान–बीन मत करो तो तुम्हें उसका यह उत्तर देना चाहिये कि यह निषेध, लोगों के एक दूसरे के मामले के विषय में है किन्तु बादशाह प्रजा के अच्छे बुरे हाल, आज्ञाकारिता तथा अवज्ञा के विषय में पूछताछ करते रहें।..... आजकल अपहरण, बेईमानी, बेवफाई, झूठ, हरामखोरी, अत्याचार, अन्याय, दूसरों का बूरा चाहना, इतना अधिक बढ़ है तथा लोभ एवं ईर्ष्या इतनी अत्यधिक हो चुकी हैं और मुहम्मद साहब की सुन्नत बिदअत में इतना परिवर्तित हो गई है कि इसका उल्लेख सम्भव नहीं। बादशाहों के लिये सच्चे समचार लिखने वाले बरीद, सच्ची बात कहने वाले गुप्तचर, तथा सतर्क मुशरिफ नियुक्त करने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं। यदि वे ऐसा न करें तो संसार का कार्य छिन्न–भिन्न हो जाएगा और नित्य अशान्ति होने लगेगी।

बरीद नियुक्त करने से यह लाभ है कि यदि राज्य में कोई विद्रोह होने वाला होता है और उसकी सूचना बादशाह के कानों तक पहुंच जाती है तो बादशाह उसके निराकरण हेतु इस प्रकार प्रयत्नशील हो जाता है कि दुर्घटना के उपरान्त मुसलमानों का रक्तपात हो वह बच जाता है। जब उपद्रव करने वालों को यह ज्ञात रहता है कि बादशाह से कोई बात छिपी नहीं रह सकती तो वे अधिकांशः भय करते रहते हैं और किसी प्रकार का संगठन नहीं करते और यदि उनके हृदय में किसी प्रकार की दुर्भावनायें रहती हैं तो वे उसे व्यक्त नहीं करते।

बरीदों के नियुक्त करने की आवश्यकता इस कारण से है कि ईश्वर ने अपने दासों को विभिन्न प्रकार की प्रकार की प्रवृत्ति प्रदान की है। कुछ को अच्छा बनाया है और कुछ को बुरा। कुछ में अच्छाई तथा बुराई मिश्रित है। कुछ आज्ञाकारी रहते हैं, कुछ पाप करते हैं। यदि बादशाह को राज्य के अच्छे बुरे का ज्ञान रहता है तो बादशाह धर्म–पालन तथा दूसरों के अधिकार प्रदान करने का इस प्रकार प्रयत्न करता रहता है जिससे अच्छे लोगों के गुणों में वृद्धि होती रहती है और अन्य लोग उनका अनुसरण करते हैं और अपनी दुष्टता को त्याग देते हैं और दूसरे लोग दुष्टता नहीं करते।

हे पुत्रो ! तुम्हें जानना चाहिये कि बरीद, मुशरिफ तथा मुखबिर नियुक्त करने में बादशाह प्रजा के परोपकार का ध्यान रखने के उनके नियुक्त करने का प्रथम उद्देश्य यह है कि जब दूर तथा निकट के काजियों, वालियों तथा आमिलों को यह ज्ञात होता है कि उनके अच्छे बुरे हाल की जानकारी बादशाह को हो जायेगी तो वे प्रजा पर अत्याचार नहीं करते, घूंस नहीं लेत तथा पक्षपात नहीं करते। उत्कृष्ट कार्यों को त्याग कर दुराचार तथा व्याभिचार में ग्रस्त नहीं हो जाते और अपने विशेष मामलों में भी भय करते तथा कांपते रहते हैं। जब प्रजा को भी यह विश्वास हो जाता है कि सर्वसाधारण तथा विशेष व्यक्तियों की अच्छी बुरी बात बादशाह को ज्ञात होती रहती हैं और इसके लिये पदाधिकारी नियुक्त हैं तो वह अच्छा जीवन व्यतीत करते हैं और उपद्रव तथा अशान्ति नहीं उत्पन्न करते।

यदि आमिलों तथा मुतसर्रिफों को यह ज्ञात होता है कि उनकी बातें बादशाह तक पहुंचेंगी तो वे चोरी नहीं करते तथा बेईमान नहीं होते।

बरीदों की नियुक्ति सम्बन्धी शर्तें

बरीदों को नियुक्त करते समय धर्मनिष्ठ बादशाह बहुत सी शर्तों का ध्यान रखते हैं। सबसे आवश्यक शर्त बरीद का गुण है। बरीद को सच बात कहने वाला, सच बात लिखने वाला, ईमानदार, शुद्ध वंश का, विश्वास के योग्य तथा आदर सम्मान वाला होना चाहिये। उसकी सत्यता के कारण बादशाह ऐसे कार्य करेगा जिससे उसका कल्याण तथा प्रजा का लाभ होगा। यदि बरीद बेईमान, कमअसल, कृपण, हरजाई, हरदरी, लालची तथा भविष्य के विषय में नहीं सोचता तो प्रजा की उन्नति तथा बादशाह के

भलाई का मामला उलटा हो जाता है। यदि कोई बेईमान तथा बदअसल व्यक्ति बुद्धिमान हो तो वह इस प्रकार झूठ बोलने लगेगा जो सच सा प्रतीत होगा और जहां हानि पहुंचानी आवश्यक है वहां लाभ होगा और जहां लाभ पहुंचाना आवश्यक होगा वहां हानि होगी.....

बादशाह को ऐसे व्यक्तियों को बरीद, मुशरिफ तथा गुप्तचर नियुक्त करना चाहिये जो शुद्ध आत्मा के तथा सच्चे हों, जिन्हें संसार का लोभ न हो और जिन्होंने पद की लिप्सा में ईश्वर से मुख न मोड़ लिया हो। यदि बादशाह पद के इच्छुकों में उत्कृष्ट गुणों का अभाव पाये किन्तु एक की अपेक्षा दूसरे में नेकी की अधिकता हो तो जिसमें नेकी की अधिकता हो और जो अपनी नेकी के लिए अधिक प्रसिद्ध हो उसकी को महत्वपूर्ण तथा उत्कृष्ट पद प्रदान करने चाहिये और उसी पर विश्वास करना चाहिये ताकि कार्य में विघ्न न पड़े।

बाजार के भाव का सस्ता होना

सुल्तान महमूद ने कहा है कि—हे महमूद के पुत्रो! तथा हे मुसलमान बादशाहो! तुम्हें यह समझना चाहिए कि राज्य–व्यवस्था सम्बन्धी कार्य एक दूसरे से सम्बद्ध है। जिस प्रकार सेना बिना खजाने के सुव्यवस्थित नहीं रहती उसी प्रकार भाव के सस्ता हुये बिना सेना के सामान तैयार नहीं होते। जीविका सम्बन्ध सामग्री के सस्ते हुये बिना प्रजा के कार्यों में उन्नति तथा दृढ़ता नहीं होती तथा सर्वसाधारण की सुख–सम्पन्नता दृष्टिगत नहीं होती और न बादशाह के दरबार को ऐसी प्रसिद्धि प्राप्त होती है जहां सभी लोग पहुंचने की इच्छा करे। जब तक बादशाह के दरबार में सभी लोग पहुंचने की इच्छा न करें उस समय तक उसकी जहांदारी की प्रतिष्ठा दूर तथा निकट वालों के हृदय में आरूढ़ नहीं होती। सभी खास व आम इस बात से सहमत है कि जीविका सम्बन्धी सामग्री के मंहगा होने से देश की प्रजा भी परेशान हो जाती है और सभी अथवा अधिकांश नष्ट हो जाते हैं और अपने देश तथा प्राचीन घरों को त्याग कर इस इकलीम की ओर मुख नहीं करते, अतः जहांदारों के लिये यह अनिवार्य है कि वे सेना से सम्बन्धित सामग्री—घोड़ों अस्त्र–शस्त्र तथा अन्य वस्तुओं और खास व आम से सम्बन्धित सामग्री, अनाज तथा कपड़ों का मूल्य सस्ता रखने के लिये अत्यधिक प्रयत्न करें। अपने राज्य की दृढ़ता को सेना तथा सर्वसाधारण की दृढ़ता से सम्बन्धित समझना चाहिये।

अकाल तथा समृद्धि के समय बादशाह के कर्त्तव्य

अकाल के समय जोकि दैवी दुर्घटना है और जब वर्षा नहीं होती तथा कृषि एवं अनाज में अत्यधिक हानि दृष्टिगत होने लगती है तो ऐसी स्थिति में बादशाह के लिए प्रजा की सहायता के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं होता। बादशाह के लिए खराज तथा जिज़्ये में कमी करने तथा खजाने से सहायता करने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं होता। बादशाह के लिये मंहगाई रोकने के लिये मूल्य निश्चित करना सम्भव नहीं होता। वह विवश होता है किन्तु उत्पत्ति अच्छी तथा वर्षा होने पर भी जब कारवान वाले तथा व्यापारी अधिक मूल्य पर चीजें बेचना अपनी आदत बना लें तथा एहतेकार करें तो बादशाह का यह कर्तव्य है कि जिस प्रकार सम्भव हो मूल्य निश्चित करने का प्रयत्न करे और भाव सस्ता कराने का यथासम्भव प्रयास करे। दुष्टता जिन लोगों की आदत बन चुकी हो और जो अधिक मूल्य पर क्रय–विक्रय के आदी हो चुके हों तो उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता न होनी चाहिये। समस्त मूल्य राजसिंहासन के समक्ष निश्चित करने चाहिये। कठोर रईस, हाकिम तथा मुंसिफ नियुक्त करने चाहिये। क्रय–विक्रय सम्बन्धी कार्यों को उचित रूप से सम्पन्न कराना चाहिये। तत्सम्बन्धी कार्यों की पूछताछ का अत्यधिक प्रयत्न करते रहना चाहिये।

राज्य–व्यवस्था एवं शासन सम्बन्धी कार्यों में अनाज तथा कपड़े की सुगमता का प्रयत्न करते रहना चाहिये, अपने राज्य की सुन्दर व्यवस्था तथा न्याय को सामग्री के सस्ते होने से सम्बन्धित समझें। मण्डियों के गुमाश्तों, शहर के शहनों तथा कोतवालों को आदेश दें कि वे राजधानी में एहतेकार कदापि न होने दें। एहतेकार करने वालों के अनाज को जलवा डालें। मुहम्मद साहब एहतेकार करने वालों का अनाज जलवा डालते थे। जो कोई एहतेकार करता है और जिसे एहतेकार की आदत पड़ जाती है उससे ईश्वर के दासों की जीविका बन्द हो जाती हैं। ईश्वर की अपने दासों के प्रति देन रूक जाती हैं। यदि कोई बादशाह के आदेश से एहतेकार से बाज न आये तो उसे निर्वासित कर देना चाहिये ताकि अन्य लोग इससे शिक्षा ग्रहण करें।

क्रय विक्रय पर नियंत्रण

रईसों को आदेश दे देना चाहिये कि वे बाजार वालों को अपने नियंत्रण में रखें और बाजार का भाव बाजार वालों के अधिकार में न रहने दें। भाव के निश्चित करने तथा क्रय विक्रय सम्बन्धी कार्यों में अत्यधिक प्रयत्नशील रहना चाहिये। इस महान् कार्य में जिसमें खास व आम को लाभ प्राप्त होता रहता है, कमी न करनी चाहिये और किसी प्रकार का लोभ न करना चाहिये। मूल्य

निश्चित करने का कार्य साधारण कार्य न समझना चाहिये। अनभिज्ञ, नाबालिग, ग्रामीण, निःसहाय तथा वृद्ध क्रय–विक्रय करने वालों की सहायता करते रहना चाहिये। क्रय–विक्रय में न्याय करते रहें। अधिक मूल्य पर चीजें बेचने वालों तथा उन लोगों को जो कहते कुछ हों और बेचते कुछ हों, नाना प्रकार से अपमानित करके दण्ड दें। बाजारियों, नक्कालों, शिल्पकारों को दीन–दुखियों, बालकों, अनभिज्ञ लोगों पर अत्याचार न करने दें।

जो लोग अपनी कौड़ी को रत्न तथा रत्न बेचने वालों को कौड़ी बेचने वाला बताते हों उन्हें यदि बादशाह अपने अधिकार तथा शक्ति के बावजूद, दीन दुखियों, दरिद्रियों तथा शक्तिहीनों, बालकों तथा अनभिज्ञ लोगों पर अत्याचार करने से नहीं रोक सकता और इन लोगों को इस बात की अनुमति देता रहता है तथा न्याय नहीं करता तो उसे ईश्वर की छाया नहीं कहना चाहिये। बादशाह क्रय विक्रय से सम्बन्धित जो मार्ग निश्चित कर देता है, सभी उसी मार्ग पर चलते हैं, राज्य के अधिकारी तथा प्रजाजन उसी का अनुसरण करते हैं।

नबूवत तथा बादशाही

नबूवत पूर्णतः धर्मनिष्ठता है तथा बादशाही पूर्णतः सांसारिक वस्तु है। दोनों गुण एक दूसरे के विरुद्ध हैं और दोनों का एक स्थान पर एकत्र होना सम्भव नहीं। दीनदारी के लिए दासता और दासता के लिये नम्रता एवं दीनता परमावाश्यक है। बादशाही के लिए जो पूर्णतः संसार है अभिमान, आतंक, शान व शौकत, दूसरों की ओर ध्यान न देना, ऐश्वर्य तथा वैभव परमावश्यक है। ये सब ईश्वर के गुण हैं। बादशाही खुदा की न्याबत (प्रतिनिधि होना) तथा खिलाफत है। दासता के गुणों के साथ बादशाही सम्भव नहीं। अतः खलीफायों तथा इस्लाम के सुल्तानों के लिए यह आवश्यक है कि इस्लाम के प्रभुत्व, शत्रुओं के विनाश तथा दीन (इस्लाम) के सिद्धान्तों की प्रसिद्धि के लिए वे अपनी समस्त शक्ति दीन–पनाही, व कुफ्र के विनाश और धर्म के शत्रुओं की हत्या में लगा दें।

ईरान के सुल्तानों की प्रथा

ईरान के सुल्तान राजसिंहासन तथा राजमुकुट के कारण अभिमान तथा आतंक प्रदर्शित करते हैं। वे भव्य भवनों के निर्माण कार्य करने, लोगों को अपने समक्ष सिज्दा कराने, खजाना एकत्र करने, लोगों करने, लोगों को धन प्रदान करने, जवाहरात तथा वस्त्र धारण करने तथा दूसरों को पहनाने, अपने राज्य में हित के लिए लोगों की हत्या कराने, अत्यधिक स्त्रियों के रखने, अपार धन व्यय करने तथा अन्य जितनी बातें आतंक तथा अभिमान के लिए आवश्यक हैं, उनमें व्यस्त रहते हैं। इन बातों के बिना (ईरान के ये) बादशाह को बादशाह नहीं समझते। धर्मनिष्ठ बादशाहों के लिये यह आवश्यक है कि वे रात्रि में ईश्वर के समक्ष दीनता प्रदर्शित करते हुये विलाप करते रहें और राज्य–व्यवस्था की समस्त प्रथाओं को मुहम्मद साहब की सुन्नत के विरुद्ध समझें।

मुसलमान बादशाहों के गुण

हे पुत्रो ! तुम्हें यह समझ लेना चाहिये कि ईरान के बादशाहों की प्रथाओं का अनुसरण किये बिना राज्य–व्यवस्था सम्भव नहीं। सभी आलिमों को यह बात ज्ञात है कि ईरान के सुल्तानों की प्रथायें मुहम्मद साहबब की सुन्नत के विरुद्ध हैं। यदि प्रत्यक बादशाह तो ईरान के बादशाहों की प्रथाओं का अनुसरण करता है और अपना वैभव तथा ऐश्वर्य इस्लाम के कलमे को उत्कृष्ट रखने तथा जिन बातों की ईश्वर अनुमति है उनके पालन का प्रयत्न करने तथा जिन बातों का निषेध है उनको रोकने, दिन रात काफिरों तथा मुशरिकों के विनाश में तल्लीन रहने, समस्त बिदअतों तथा बिदअतको और चलाने वालों का विच्छेदन कराने, शरीअत के विरोधियों तथा दीन (इस्लाम) एवं राज्य के शत्रुओं को जड़ से उखाड़ फेंकने तथा इस्लाम के 72 समुदायों को शरा का आज्ञाकारी बनाने का प्रयत्न न अपने आपको नहीं लगाता और एक काफिर अथवा मुशरिफ को आवश्यकतानुसार भी सम्मान प्रदान करता है और सच्चे दीन की सहायतार्थ समस्त शक्ति नहीं लगाता, अपने आप को ईश्वर के लिये जेहाद हेतु वक्फ नहीं कर देता, अल्लाह के शत्रुओं से युद्ध के समय अपने शहीद हो जाने की अभिलाषा नहीं करता और न्याय नहीं करता और इस्लाम के समस्त मामलों में न्याय तथा सच्चाई से कार्य नहीं करता तो वह किस प्रकार अपने आप को मुसलमान समझ सकता है तथा मुसलमान कहला सकता है?

यदि बादशाह इस्लाम के 72 समुदायों से सम्बन्धित कार्य में आतंक द्वारा न्याय तथा सत्यता नहीं पैदा करता तो फिर उसके सभी कार्य व्यर्थ है। हे महमूद के पुत्रो! यदि तुम संसार की थोड़े समय की सुव्यवस्था एवं कयामत में सुर्खरूई चाहते हो तो अन्न जीविका सम्बन्धी वस्तुओं के सस्ता करने का प्रयत्न करते रहो। एहतेकार तथा बाजार वालों, एवं व्यापारियों के क्रय विक्रय सम्बन्धी अत्याचार को अपने राज्य से अन्त करा दो।

बादशाह को अपने समय की रक्षा करना तथा उसके मूल्य का पहचानना

सुल्तान महमूद का कथन है कि 'हे महमूद के पुत्रों तथा हे मुसलमान बादशाहो ! तुम्हें समझना चाहिये कि बादशाही को संसार में सबसे उत्कृष्ट उत्पन्न किया गया है।..... यदि बादशाह इस उत्कृष्ट देन का मूल्य न समझे और उसे दीन पनाही में व्यय न करे और इस देन का उपयोग भोग विलास में करे और ईश्वर तथा मुहम्मद साहब की आज्ञाओं का पालन न करे तो संसार में उसके समान कोई भी कृतघ्न नहीं कहा जा सकता। इस विचित्र देन के महत्व को समझने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि बादशाह अपने समय तथा अपनी अवस्था का मूल्य समझे और अपने समय को व्यर्थ नष्ट न करे। उसे जहांबानी तथा जहांदारी में इस प्रकार व्यय करे कि इस बात से वह ईश्वर के निकट पहुंच सके।

जब तक बादशाह अपने समय का विभाजन नहीं करता तथा प्रत्येक कार्य में व्यस्त रहने का समय नहीं निकालता और निश्चित कार्य को निश्चित समय पर नहीं करता तथा अन्य कार्यों में हाथ डालता है उस समय तक उसके जहांबानी के कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते।

बादशाहों द्वारा समय विभाजन

बादशाह अपने समय तथा प्रत्येक क्षण की रक्षा दो प्रकार से करते हैं। प्रथम इस प्रकार कि कुछ बादशाह सच्चे दीन का अनुसरण करते हुये अपनी समस्त आयु का मूल्य समझते हैं। वे प्रत्येक क्षण की रक्षा करते हैं। वे धर्म तथा राज्य के कार्य हेतु अपने समय का विभाजन करते हैं। वे अपनी अवस्था का एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट नहीं करते हैं। इस प्रकार बादशाह मुसलमानों में बड़े महत्वपूर्ण समझे जाते हैं।

द्वितीय इस प्रकार की सफलता तथा सम्पन्नता के बावजूद वे राज्य–व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों को न भूलते हैं। राज्य–व्यवस्था को वे सफलता तथा सम्पन्नता के बावजूद भलीभांति करते हैं। भोग विलास के साथ–साथ राज्य–व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों में व्यस्त रहते हैं।

महमूद कुछ चीजों को सर्वोपरि समझता था।

1. वह किसी भी गोष्ठी में इतनी अधिक मदिरा न पीता था कि नमाज छूट जाय। महमूद ने अपने जीवन–काल में कभी भी जमाअत की नमाज न त्यागी थी।
2. राज्य–व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों को भोग विलास से सर्वोपरि समझता था। जिस (110 ब) समय तक उन कार्यों को सम्पन्न न कर लेता था, मदिरापान न करता था और किसी प्रकार का संगीत तथा परिहास उसे अच्छा न लगता था।
3. यदि धर्म सम्बन्धी तथा सांसारिक कार्य दोनों एक साथ ही पेश आ जाते तो वह धर्म के कार्य के सर्वोपरि समझता था। जब तक दोनों कार्य सम्पन्न न कर लेता, भोग विलास, शिकार तथा गेंद खेलने की ओर प्रवृत्त न होता था।

महमूद अपनी गोष्ठियों में व्यर्थ के कार्यों में तल्लीन न होता था अपितु प्राचीन बादशाहों के इतिहास सुनने अथवा उत्कृष्ट एवं दुष्ट बादशाहों के कथन सुनने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य न करता था। महमूद उनके कथनों द्वारा शिक्षा ग्रहण करता था। शिकार के समय भी जिस बात की अभिलाषा महमूद के रोम रोम में थी। वह राज्य व्यवस्था एंव शासन सम्बन्धी बातों पर याद विवाद करने की होती थी। वह बादशाही के सम्मान की भोग विलास की गोष्ठियों में भी पूर्ण रक्षा किया करता था।

सत्य का केन्द्रीय स्थान ग्रहण करना

सत्य के केन्द्रीय स्थान ग्रहण करने का अर्थ यह है कि सत्य को असत्य पर विजय प्राप्त हो। सत्य को उस समय तक असत्य पर विजय नहीं प्राप्त होती जब तक कि तौहीद को सम्मान तथा इस्लाम को गौरव नहीं प्राप्त होता और कुफ्र अपमानित नहीं होते। जब तक बादशाह अपनी समस्त शक्ति कुफ्र तथा शिर्क के विनाश, काफिरों के नेताओं की हत्या [कुफ्र के नेता ब्राह्मण हैं], काफिरों तथा मुशरिकों को दास बनाने और अपमानित तथा लज्जित करने में नहीं लगा देता और अपना समस्त ऐश्वर्य मुसलमान मुजाहिदों को खुदा की राह में जेहाद कराने में इस्लाम के कलमे को उत्कृष्ट बनाने में नहीं लगा देता उस समय तक सच्चे दीन (इस्लाम) को झूठे धर्मों के मुकाबले में सम्मान प्राप्त नहीं होता और तौहीद तथा इस्लाम को इज्जत नहीं हासिल होती।

काफिरों का विनाश तथा अपमान

यदि बादशाह अपने गौरव, आतंक तथा अधिकार के बावजूद केवल खराज तथा जिज़या लेने से संतुष्ट हो जाता है और कुफ्र, काफरी, तथा मुशरिकों के विनाश का प्रयत्न नहीं करता और कुफ्र तथा काफरी, शिर्क तथा मुशरिकों के विनाश का प्रयत्न नहीं

करता और कुफ्र तथा काफरी को सुरक्षित रहने देता है तो ऐसी अवस्था में मुसलमान बादशाहों तथा कुफ्र के धर्मों में क्या भेद रह जाएगा? काफिरों के राय भी समस्त हिन्दुओं से जिज़या तथा खराज वसूल करते हैं अपितु इसके अतिरिक्त सैकडों अन्य कर प्राप्त करते हैं। वे हिन्दुओं के धन से, जो उन्हीं के धर्म के अनुयायी होते हैं, अपने खजाने को भरते हैं। यदि मुसलमान बादशाह अपने ऐश्वर्य तथा वैभव के बावजूद काफिरों तथा मुशरिकों से जिज़या तथा खराज लेकर संतुष्ट हो जाते हैं तो कुफ्र तथा काफिरी तथा मुशरिकी का विनाश नहीं हो सकता है जिसके लिए 1,24000 पैगम्बर भेजे गये और जिसके लिये इस्लाम के नबी का भेजा गया।

यदि मुसलमान बादशाह काफिरों तथा मुशरिकों के विनाश एवं उनको अपमानित करने में अपनी समस्त शक्ति नहीं लगाते और इस कार्य में तल्लीन नहीं होते और हिन्दुओं से, जोकि मूर्ति तथा गोबर की पूजा करते हैं, जिज़या तथा खराज लेकर संतुष्ट हो जाते हैं तो वे कुफ्र एवं काफिरी को उन्नति प्रदान करते हैं। इस प्रकार सत्य को किस तरह केन्द्रीय स्थान प्राप्त हो सकता है? यदि मुसलमान बादशाह मुसलमानों की राजधानी तथा नगरों में कुफ्र तथा काफिरी की शर्तों की प्रथाओं को चलन दें, मूर्तियां की खुल्लमखुल्ला पूजा होने दें और कुफ्र तथा काफरी की रियायत करें, और उन लोगों को अपने झूठे धर्म के सिद्धान्तों का निर्भय होकर प्रचार करने दें, मन्दिरों को सुरक्षित रहने दें, मूर्तियों को सजाने दें और संगीत वादन तथा नृत्य के साथ खुशी–खुशी उन धर्म का पालन करने दें और कुछ सिक्के जिज़ये के रूप में प्राप्त करके कुफ्र तथा काफिरी की प्रथाओं को चलने दें उन्हें अपने झूठे धर्म की पुस्तकों की शिक्षा प्रसारित करने की अनुमति दे दें तो सच्चे दीन को अन्य धर्मों पर किस प्रकार प्रभुत्व प्राप्त हो सकता है और इस्लामी प्रथाओं को किस सम्मान प्राप्त हो सकता है तथा ईश्वर द्वारा जिन बातों का आदेश दिया गया है उनका पालन किस प्रकार हो सकता है और जिन बातों का निषेध हुआ है उन्हें किस प्रकार रोका जा सकता है?

अत्यचारियों का विनाश

हे महमूद के पुत्रो तथा संसार के बादशाहो! तुम्हें चाहिये कि सप्ताह में एक दिन भोग विलास, शिकार तथा सवारी त्याग कर के खुले मैदान में आम दरबार करो। एक उच्च स्थान पर बैठ कर जिन पर अत्याचार हुआ हो उनके प्रार्थनापत्र स्वयं प्राप्त करो। ऐसा न हो कि बादशाही वैभव, स्वभाव, की कोमलता तथा राज्य का ऐश्वर्य, जोकि ऐसे कार्यों में पाप तथा कुफ्र के समान हैं, तुम्हें किसी बात से रोक दें। अत्याचार पर दृष्टिपात करो। यदि यह सिद्ध हो जाये कि अत्याचार प्रथम बार भूल के कारण किया गया है तो पीड़ित का हक अत्याचारी को अपमानित करके उसे दिलवा दो और उससे तोबा करवा कर उसे क्षमा कर दो। यदि उसने कई बार अत्याचार किया हो और अत्याचार उसके स्वभाव में प्रविष्ट हो गया हो तो पीड़ित का हक दिलवा कर उसे अपने राज्य से निकाल दो। यह बात भली भांति समझ लोकि जब तक अत्याचारी का विनाश नहीं हो जाता अत्याचार का राज्य से अन्त नहीं होता

न्याय हेतु अधिकारियों की नियुक्ति

अपने राज्य के समस्त पदों के लिए ऐसे व्यक्ति नियुक्त करें जिनमें धर्म की इच्छा संसार से अधिक हो ताकि उनके कारण बादशाह को संसार में सफलता तथा कयामत में मुक्ति प्राप्त हो।.... कठोर मुतफहहिस तथा सख्त अमीन नियुक्त करने चाहिये और उन्हें आदेश दे देना चाहिये कि सामानों के मूल्य इस प्रकार निश्चित करें जिससे विक्रेता का अधिक लाभ न हो। क्रय करने वालों तथा विक्रेताओं को बाजार में जो कुछ बिकता हो उसका हाकिम न रहने दें। दीवाने रयासत जो मूल्य निश्चित कर दें यदि कोई उसका उल्लंघन करे तो उसको कठोर दंड दिया जाय।

क्षमा तथा दण्ड

हे महमूद के पुत्रो! क्षमा, माफी, तथा टाल जाना राज्य–व्यवस्था के लिये परमावश्यक है। यदि बादशाह अपनी प्रजा के अपराधों को क्षमा न करे और अपने राज्य के सहायकों एवं मित्रों के अपराधों को न छिपाये तो उसके राज्य को दृढ़ता नहीं प्राप्त हो सकती। इसी प्रकार यदि अपराधियों उपद्रव मचाने वालों, चोरों, लुटेरों, अपहरणकर्ताओं, धृष्टों, निर्लज्ज लोगों को कठोर दण्ड न दे, बन्दीगृह में न डलवाये, मृत्यु दंड न प्रदान करे, तो आदमी, आदमी को खा जाएगा। किसी की धन सम्पत्ति, स्त्री तथा बालक सुरक्षित न रह सकेंगे। अतः बादशाह के लिए क्षमा तथा दंड दोनों परमावश्यक हैं।

यदि बादशाह सर्वदा कृपा तथा दया करता रहे तो राज्य के आज्ञाकारी विद्रोही बन जाते हैं। यदि वह सर्वदा कठोर दण्ड दिया करे तथा कठोरता प्रदर्शित किया करे तो उसके स्त्री–बालक, हितैषी तथा मित्र सभी उसके शत्रु हो जायेंगे और राज्य नष्ट हो जायगा। इस प्रकार बादशाह की कोई भी महत्वकांक्षा पूरी नहीं हो पाती है। प्रजा उसकी शत्रु और वह प्रजा का शत्रु हो जाता है। प्रजा की सुख–सम्पन्नता, कठोर–दण्ड के कारण अव्यवस्था में परिवर्तित हो जाती है। कठोर–दण्ड का उद्देश्य संसार के

सुव्यवस्थित करना है। जब तक संसार सीधे मार्ग पर नहीं आता और संसार वाले न्याय के मार्ग पर दृढ़ नहीं होते, तब तक सत्य केन्द्रीय स्थान ग्रहण नहीं करता।

बादशाह के प्रजा के प्रति व्यवहार की कई किस्में हैं। उनमें से कृपा, प्रोत्साहन, दान, पुण्य हैं जिनसे राज्य के बहुत से लोग सुव्यवस्थित हो जाते हैं। कठोर–दण्ड भी प्रजा को सुव्यवस्थित करने का एक साधन है। कठोर–दण्ड, अपमान, पदच्युत करने तथा धन के जब्त कर लेने से कौमें सुव्यवस्थित हो जाती हैं।

कठोर-दण्ड की किस्में

कठोर दण्ड कई प्रकार के हैं। उनमें से एक किस्म बन्दी बनाना है। इससे राज्य के कार्य सुव्यवस्थित होते हैं और अन्य लोग भयभीत रहते हैं।

दूसरी किस्म निर्वासन है। यह कई प्रकार से सम्भव है।

अपनी राजधानी से देश के अन्य भाग में निर्वासित कर दें और आवश्यकतानुसार अदरार तथा ग्राम निश्चित कर दें। किसी के लिये समय निर्धारित कर दें और विश्वासपात्र न रहने दें। दूर तथा निकट के किसी स्थान पर भेजे दें। कुछ दूर के स्थानों पर भेज दें। तीनों प्रकार का निर्वास सयासते मुल्की कहलाता है। मुसलमानों तथा मोमिनों की हत्या का प्रयत्न न करना चाहिये। उन्हें बन्दीगृह में डालने, निर्वासन का तथा अन्य दण्ड देने चाहिये।

अत्यधिक मान से बचना

हे महमूद के पुत्रो तथा मुसलमान बादशाहो! राज्य–व्यवस्था कृपा तथा दया एवं सुगमता–पूर्वक कार्य करने पर निर्भर है। जो बादशाह अपने राज्य वालों में सुगमता पूर्वक कार्य कराने की व्यवस्था करता है राज्य सुव्यवस्थित रहता है और उसका गुणगान ब्रहुत समय तक संसार में होता रहता है।

ईश्वर ने मनुष्य को हीन, दरिद्र, भिखारी तथा अन्य लोगों पर आश्रित बनाया है। वह प्रत्येक कार्य को सुगमतापूर्वक तथा आसानी से सम्पन्न कराना चाहता है। वह कठिनाई तथा परिश्रम से सर्वदा बचने का प्रयत्न करता है। यदि बादशाह ऐसे आदेश देने लगे जिनकी आदत प्रजा को न हो तो उसे प्रजा को बड़ा कष्ट होता है। प्रजा को भी उन आदेशों का पालन करना बड़ा कठिन प्रतीत होता है और प्रजा आज्ञाओं का उल्लंघन करने का प्रयत्न करने लगती है। इस कारण बादशाह प्रजा का शत्रु हो जाता है तथा प्रजा बादशाह की दुश्मन हो जाती है। राज्य–व्यवस्था में विघ्न पड़ने लगता है और चारों ओर विद्रोह तथा पाप दृष्टिगत होने लगते हैं।

बादशाह को राज्य–व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों में ईश्वर का अनुसरण करना चाहिये कारण कि वह ईश्वर का प्रतिनिधि तथा खलीफा होता है। ईश्वर ने धर्म में अतिशय का निषेध किया है और ऐसे आदेश दिय हैं जिनका पालन कठिन नहीं होता।

यदि बादशाह सर्वदा प्रजा की इच्छाओं का पालन करने लगे तो उसके राज्य के कार्यों में विघ्न पड़ जाता है और वे बड़ी बुरी दशा की प्राप्त हो जाते हैं। यदि बादशाह सर्वदा प्रजा के कठोरता प्रदर्शित करता रहे और उससे अत्यधिक आशायें रखे तो प्रजा उससे घृणा करने लगती है और उसकी शत्रु बन जाती है अतः बादशाह को मध्य का मार्ग ग्रहण करना चाहिये और अत्यधिक कठोरता न प्रदर्शित करनी चाहिये। जहां मलहम की आवश्यकता हो वहां मलहम का प्रयोग किया जाय और जहां जलाने की आवश्यकता हो वहां जलाया जाय ताकि राज्य सुव्यवस्थित हो सके।

बादशाह में विरोधाभासी गुणों की आवश्यकता

राज्य–व्यवस्था तथा शासन प्रबन्ध में दृढ़ता के लिये बादशाह में विरोधाभासी गुणों का होना परमावश्यक है। सुल्तान महमूद का कथन है कि 'हे महमूद के पुत्रो तथा हे मुसलमान बादशाहो! तुम्हें यह बात समझनी चाहिये कि ईश्वर ने मनुष्य में विरोधाभासी गुण उत्पन्न किये हैं। यद्यपि ईश्वर ने मनुष्यों को बन–पशुओं के क्षेत्र से बाहर निकाल दिया है तथापि क्रोध, आतंक तथा अभिमान मनुष्य द्वारा भी प्रदर्शित होते रहते हैं। बादशाह में प्रत्येक गुण (विरोधाभासी) बहुत सीमा तक पाया जाता है और उन विरोधाभासी गुणों के होते हुये भी वह ईश्वर का प्रतिनिधि तथा खलीफा है। जिस प्रकार एक मनुष्य का रूप रंग से भिन्न होता है उसी प्रकार एक मनुष्य का स्वभाव भी दूसरे मनुष्य से भिन्न होता है। प्रत्येक के गुण तथा अवगुण अलग–अलग होते हैं। किसी मनुष्य में गुणों की प्रधानता हुई है तो किसी में अवगुणों की; किसी में अवगुणों की इतनी अधिक प्रधानता होती है कि उसमें गुण बिल्कुल नहीं रहते। इस प्रकार अनेकों उदाहरण है।

बादशाह, जो सभी का हाकिम तथा शासक है, में क्रोध तथा कृपा, ऐश्वर्य तथा दया, कठोरता तथा नम्रता, अभिमान तथा अनम्रता एक दूसरे के विरुद्ध गुण हैं, पूर्ण रूप से विद्यमान होने चाहिये। यदि बादशाह में केवल क्रोधा ही हो और दया न हो तो आज्ञाकारी प्रजा की क्या दशा हो जायगी। यदि उसमें केवल दया ही दया और कठोरता न हो तो विद्रोही, विरोधी, उपद्रवी तथा अवज्ञाकारी विरोध तथा विद्रोह एवं अवज्ञा से बाज नहीं आ सकते और आज्ञा–पालन नही कर सकते। कठोरता के स्थान पर बादशाह को दया न प्रदर्शित करनी चाहिये और न दया के स्थान पर कठोरता।

ईश्वर का प्रतिनिधि एवं खलीफा होने के योग्य वही व्यक्ति होता है जिसमें स्वाभाविक रूप से विरोधाभासी गुण पाये जाते हों। इस प्रकार यह गुण केवल ईश्वर की देन द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं।

हे महमूद के पुत्रो! तुम्हें समझना चाहिये कि बादशाहों को धर्म तथा संसार से सम्बन्धित जो कष्ट पहुंचते हैं वे उनके सहायकों, मित्रों तथा विश्वासपात्रों के कारण पड़ते हैं। वे अपने राज्य पर अभिमान करते हुए अयोग्य लोगों को पद प्रदान करने में सावधानी से कार्य नहीं करते। कमीने तथा बदअस्लों की निष्ठा के करण वे अंधे हो जाते हैं तथा अपने भविष्य के विषय में कोई विचार नहीं करते। ईश्वर की देन राज्य–व्यवस्था में अयोग्य लोगों को सम्मिलित कर लेते हैं; इससे उन्हें इस लोक तथा परलोक में कठिनाई होती है।

दार्शनिकों का कथन है कि बादशाह के सहायकों, निकटवर्तियों तथा विश्वासपात्रों के गुण एवं अवगुण बादशाह के गुणों तथा अवगुणों को प्रमाणित करते हैं। उत्कृष्ट बादशाह किसी पतित को अपना विश्वासपात्र तथा सहायक नहीं बनाता। इसी प्रकार तुच्छ बादशाह किसी गुणवान को अपना सहायक तथा विश्वासपात्र नहीं नियुक्त करता। गुण तथा अवगुणा एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं। गुणवान किसी कमीने को तथा कमीना किसी शरीफ को नहीं चाहता और दोनों एक दूसरे को अपना शत्रु समझते हैं।

बादशाह तथा प्रभुत्व

बादशाही का अर्थ प्रभुत्व है चाहे कोई व्यक्ति किसी इकलीम पर जबरदस्ती आक्रमण करके प्रभुत्व प्राप्त कर ले चाहे वह उसका अधिकारी हो, चाहे उसका कोई अधिकार न हो। प्रभुत्व के कारण वह बादशाह कहलाता है। यदि बादशाह के पुत्रों, विश्वासपात्रों, स्त्रियों तथा दासों–दासों में से कोई अधिकार प्राप्त कर ले और बादशाह के लिये उनकी बातों तथा इच्छाओं का उल्लंघन सम्भव न हो तो प्रभुत्व का विषय उलटा ही हो जाता है। आदेश देने वाला, आदेश पालन करने वाला तथा प्रभुत्वशाली, सेवक बन जाता है। राज्य में प्रजा के गुण उत्पन्न हो जाते हैं। यदि कोई बादशाह पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर ले तो इससे उसका अन्त नहीं हो जाता। बादशाह पर, धर्म तथा मजहब के विरुद्ध बातें सिखाने वालों, जादू, कीमिया, कामुद औषधियों की शिक्षा देने वालों का प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। बादशाहों को वे प्रभावित कर लेते हैं और अपने धर्म का प्रचार करने लगते हैं। बादशाह का भी मार्ग भ्रष्ट कर देते हैं।

बादशाह की रूचि

प्राचीन दार्शनिकों ने लिखा है कि बादशाह के गुणों तथा अवगुणों का प्रभाव उसकी प्रजा पर पड़ता है। बादशाह के गुणों का यह प्रभाव प्रजा पर पड़ता है चाहे वह आदेश दे अथवा न दे।..... यदि बादशाह किसी कला से विशेष रुचि रखता है तो राज्य के समस्त विशेष व्यक्ति उस कला में निपुणता प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगते हैं। यदि बादशाह स्वयं एबादत करता है तो समस्त व्यक्ति, जिनमें मनुष्यता होती है, एबादत करने लगते हैं। यदि बादशाह को सुलेख से रूचि होती है समस्त विशेष व्यक्ति सुलेख सीखने लगते हैं। यदि बादशाह को कविता से रूचि होती है तो सभी लोग कविता करने लगते हैं। यदि बादशाह आलिम होता है तो चाहे वह रोटी अथवा अदरार का प्रबन्ध करे या न करे, लोग इल्म हासिल करने लगते हैं। इसी प्रकार अवगुणों के विषय में भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है। यदि बादशाह झूठ बोलता तथा झूठ को पसन्द करता है तो उसके राज्य के समस्त व्यक्ति झूठ बोलने लगते हैं। यदि बादशाह मदिरापान करता है तो सभी लोग मदिरापान करने लगते हैं।

बादशाही के लिये शर्त

बादशाही के लिये न्यूनतम शर्त यह है कि वह दुराचार में ग्रस्त न हो। वास्तव में बादशाह खुदा का नायब तथा खलीफा होता है इतने उत्कृष्ट पद को दुराचार से मिश्रित न करना चाहिये।

झूठ बड़ा सरल कार्य है और वासना के अनुकूल है। बादशाही को सम्मान सत्य बोलने से ही प्राप्त होता है। प्रजा के गुण बादशाह के गुणों से बढ़ कर न होने चाहिये। सिकन्दर ने अपनी शिक्षा में बताया है कि वह भी कोई बादशाह है जो झूठ बोले अथवा कोई अन्य उसके समक्ष झूठ बोल सके?

दूसरा अवगुण जो बादशाही के गुणों से नहीं मिश्रित हो पाता परिवर्तन है। परिवर्तन का अर्थ अपने वचन तथा कर्म से फिर जाना है। आलिमों तथा बुद्धिमानों के अनुसार बादशाही के लिये दृढ़ता परमावश्यक है। यही बादशाहों का आभूषण है। परिवर्तन इसके विरुद्ध है क्योंकि दृढ़ता बादशाही का गुण है। अतः वह परिवर्तनशील बादशाहों के योग्य नहीं होता है।

यदि बादशाह किसी अधिकार के बिना राजसिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है तो प्रजा को उसके वचन तथा कर्म पर कोई विश्वास नहीं रहता। बादशाही केवल विश्वास का नाम है। विश्वास के समाप्त हो जाने के उपरान्त बादशाही का कोई मूल्य नहीं रहता। बादशाहों ने कहा है कि बादशाही का प्रभाव या तो वचन से होता है या कर्म से। यदि बादशाह अपने कर्म तथा वचन पर दृढ़ नहीं रहता तो उसकी बातें पर्वत के समान दृढ़ नहीं रहतीं।

तीसरा अवगुण जिसका मेल बादशाही के गुणों से नहीं हो पाता विश्वासघात तथा छल है। विश्वासघात ईश्वर के भय तथा नम्रता के अभाव से उत्पन्न होता है। छल, झूठ द्वारा उत्पन्न होता है। बादशाही विश्वासघात तथा छल द्वारा, जो बहुत बड़े अवगुण हैं स्थापित नहीं रह सकती। बड़े–बड़े बादशाह, शत्रुओं से युद्ध के समय विश्वासघात तथा छल करने या घात लगा कर बैठने तथा रात्रि में छापा मारने का आवश्यकतानुसार प्रयत्न किया करते हैं किन्तु वे उस गर्व नहीं करते।

वैधता
(Legitimacy)

बरनी कहता है कि राजतंत्र मानव इतिहास की एक सार्वभौमिक राजनीतिक घटना है तथा उसे इसमें संदेह नहीं है कि विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों पर आधारित राजतंत्र भी विभिन्न प्रकार के रहे हैं। उसने राजतंत्र के सिद्धांत को अत्यंत ही सरल बना दिया है। आदम के समय से इसलाम के उदय होने तक केवल कुछ ही शाही परिवारों ने समस्त पृथ्वी पर शासन किया है। पैगंबर और पवित्र खलीफा 'राजा' शब्द के साधारण अर्थ में राजा नहीं हैं। उनका उदय दैवी हस्तक्षेप के कारण हुआ था तथा उनकी व्यवस्था को जारी रखना संभव नहीं था। बरनी परवर्ती खिलाफतों या तथाकथित 'मुसलिम राज्य सिद्धांत' में विश्वास करने वाला व्यक्ति नहीं है। उमैयदों के समय में विश्व अपने पुराने ढर्रे पर लौट आया। बरनी की यह निश्चित धारणा है कि मुसलमानों के राजतंत्र और पुराने मूर्तिपूजक राजतंत्रों में एक मौलिक अंतर है, उदाहरण के लिए कोई भी मुसलमान राजा मिस्र के फराउनी राजाओं के समान देवत्व का दावा नहीं कर सकता था; फिर भी उसे इस अंतर का, जो वह केवल धार्मिक क्षेत्र तक सीमित रखता है, कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं है। फिर भी उसको यह विश्वास है कि शासन के मुसलिम–पूर्व नीति–तत्व अभी भी वैध हैं; और चूंकि मुसलिम राजाओं ने तथाकथित ससानी दरबारी प्रक्रिया अपना ली थी, बरनी का झुकाव ससानी और मुसलिम राजतंत्रों में जो आधारभूत भेद है, उसकी अपेक्षा कर देने का है। बरनी का विश्व इतिहास का ज्ञान, यहां तक कि आजम के इतिहास का ज्ञान न केवल सतही है, बल्कि अत्यंत भ्रामक है। चूंकि उसने **फतवा-ए-जहांदारी** से संबधित ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है कि वह सुलतान महमूद क शासन काल में लिखी गई थी, इस कारण दिल्ली के किसी भी शासक का संकेत करना उसके लिए वर्जित रहा।

किंतु वह जहांदारी में भारतीय सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की बहस करता है और उसके राजनीतिक विचारों का वास्तविक महत्व इस तथ्य में निहित है कि वह पंचानवे वर्ष से अधिक समय तक दिल्ली सल्तनत की संस्थाओं की कार्यप्रणाली के परीक्षण पर आधारित है। परंतु बिल्कुल भिन्न मूल के अन्य तत्व भी उसके मस्तिक को प्रभावित करते हैं और इन दोनों को अलग करना आवश्यक है।

यदि राजतंत्र के बारे में **बरनी** की अभिधारणाओं का सावधानी से परीक्षण किया जाए तो देखा जाएगा कि राजतंत्र के बारे में उसके एक नहीं बल्कि दो सिद्धांत हैं। उसका पहला सिद्धांत परंपरा (या अनुमानित परंपरा) सस्ते मुल्लाओ की अभिधारणाओं, प्रचलित ज्ञान और अत्यंत छिछली प्रचलित कहावतों पर आधारित है। यह सिद्धांत स्वाभाविकताः बरनी को परस्पर विरोधी बातों के ढेर में पटक देता है। उनका विस्तार से परीक्षण करना अनावश्यक है और उनमें से जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं केवल उनकी गणना करने की आवश्यकता है।

अ. राजा अपने पद की प्रकृति के अनुसार ही महान अपराधी होता है क्योंकि उसका पद कुरान और पैगंबर ने अनुमोदित नहीं किया है। फिर भी यदि वह **बरनी** के नीति वचनों के अनुसार कार्य करता है तो उसका स्थान संतों और पैगबरों के मध्य होगा। यह ऐसा कहने के समान है जैसे कि किसी मुसलिम लुटेरा को दैवी कृपा का पात्र होगा अगर वह अच्छा लुटेरा है, यदि वह धर्म के हितार्थ गैर–मुसलमानों को विस्तृत पैमाने पर लूटता है, और अपनी आय का समुचित प्रतिशत दान में दे देता है (जिसमें कि मुल्लाओं को मुक्तहस्त से दान शामिल है) और अपने तथा अपनी कार्य प्रणाली में धार्मिक नीतिवचनों से मार्गदर्शन प्राप्त करता है।

ब. राजा पृथ्वी पर ईश्वर का 'नायब' और 'प्रतिनिधि' है, वह 'ईश्वर की प्रतिच्छाया' (**जिल्लल्लाह**) है और उसके तथा उसके सलाहकारों के मस्तिष्क दैवी प्रेरणा से प्रेरित हैं। यह परिग्रह पूर्वोल्लिखित परिग्रह का खंडन करता है तथा तथ्य भी इसका प्रतिवाद करते हैं। व्यवहारिक रूप से मुसलमान यह मानने को तैयार नहीं थे कि राजा का मस्तिष्क दैवी प्रेरणा से प्रेरित है मुसलमानों में अधिकांश वंशानुगत राजा वंशानुगत गधे रहे हैं, जबकि बलापहारी सामान्यतः अत्याचारी रहे हैं। राजा की सत्ता केवल उतने ही समय तक विद्यमान रही जब तक कि वह उसे अपने प्रशासन की श्रेष्ठता और अपने तलवार की मार से कायम रख सका था। यदि वह असफल हुआ तो उसके प्रति उसके विरोधी उस पर दया नहीं करते थे। वे उसे कुत्ते के समान मार डालते थे और उसके शव को या उसके सर को भाले पर जनता में प्रदर्शित करते थे। अधिकाश मुसलिम शासकों का निर्मम वध हुआ है, और यह दुर्दशा मुतविक्कल के पश्चात् अब्बासी खलीफाओं की हुई है। जब तक कि मुसलिम राजा मिथ्या देवत्य के प्रभामंडल से अलंकृत रहता था तब तक लोग साक्षात दंडवत करते थे। किंतु जब उसकी शक्ति समाप्त हो जाती तो उसका देवत्व भी लुप्त हो जाता। मुसलिम राजनीतिक चेतना किसी भी राजा को नियामक प्रभु नहीं स्वीकार करती थी। अपदस्थ राजा का अंत सामान्यतः सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित छिन्न–मस्तक या लाश के रूप में होता था।

स. **बरनी** के अनुसार राजा ईश्वर के समान अपने परस्पर विरोधी गुणों द्वारा राज्य का शासन चलाता है तथा इस प्रकार कार्य करने में राजा ईश्वर का भागीदार होने का दावा करने की धृष्टता करता है और यह शिर्क है—अर्थात् कुरान के अनुसार एक अक्षम्य पाप है। तथापि प्रशासन के संचालन हेतु राजा में ये परस्पर विरोधी गुण होना राजा के लिए आवश्यक है। लेकिन यदि उसे दैवी क्षमा प्राप्त करना है तो उसे अपने कार्यों के लिए अपने हृदय में पूरा पश्चाताप करना चाहिए। अन्यथा उसका स्थान फराओं राजाओं के समकक्ष होगा। ईश्वर और राजा के परस्पर विरोधी गुणों के इस सिद्धांत में दोहरी भ्राति है। यह सत्य है कि कुरान में ईश्वर के जिन गुणों की चर्चा है वे संख्या में निन्यानवे माने जाते हैं, और शब्दकोष के अर्थ में वे पारस्परिक विरोधी हैं। किंतु सुनिश्चित रूप से यह कहना उचित नहीं है कि चिंतनशील मुसलमानों ने ईश्वर की कल्पना परस्पर विरोधी तत्वों के एक समूह के रूप में है। ईश्वर से संबंधित बुनियादी अवधारणा, दयावान (रहमत) ईश्वर की रही है। ईश्वर के भयकारी गुण वास्तव में उसकी दया के अंग हैं। क्योंकि उनका उद्देश्य दया है। इसी प्रकार राजा (या राजतंत्र) असंगत परस्पर विरोधी तत्वों का समूह नहीं है; राज्य का उद्देश्य (जैसा **बरनी** ने स्वयं स्पष्ट किया है।) राज्य–विधियों को लागू करके जनता का कल्याण करना है। दंड और पुरस्कार, नौकरी और पदच्युति, कर वसूली और व्यय दखने में ना विरोधी प्रतीत होती हैं; लेकिन वे वास्तव में परस्पर विरोधी नहीं है। यदि राज्य के अधिकारों का समुचित रूप से प्रयोग किया जाए, तो उनकी प्रमुख विशेषता होगी सामंजस्य न कि पारस्परिक विरोध। यह अवश्य है कि पारस्परिक विरोध को पूर्णतः विलुप्त करना संभव नहीं है; तथापि जनता के कल्याण के लिए कार्यवाही ही मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

ये मूर्खतापूर्ण विचार तो **बरनी** को परंपरा से विरासत में मिले थे। उसने केवल उनका विश्लेषण कर दिया है। इसलिए उनको दोष देना न्यायसंगत न होगा।

बरनी का दूसरा सिद्धांत जिसके लिए केवल वही उत्तरदायी है, राजतंत्र की संस्था को सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकताओं विशेषकर न्याय के निष्पादन पर आधारित करता है। समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकता एक केंद्रीकृत कार्यपालिका सत्ता कायम रखने की मांग करती हैं। बरनी को प्रजातंत्र के अस्तित्व का या यूनान और प्राचीन विश्व के दास–स्वामित्व वाले नगर–गणतंत्रों के अस्तित्व का कोई ज्ञान न था। उसके प्रयोजन के लिए बहरहाल, यह ज्ञान असंबद्ध होता। गणतंत्रीय राज्य केवल छोटे राज्यों में संभव थे। इसलाम में दास–स्वामियों का कोई प्रजातंत्र नहीं हो सकता था; क्योंकि जबकि एक ओर दास–व्यापारी देश में दास आते गए, दूसरी ओर काजियों की न्यायिक प्रणाली कारीगर वर्ग के समूहों के उन दासों को मुक्त करती जाती थी जो काजियों को यह आश्वासन दे सकते थे कि अपनी कमाई का एक तिहाई अपने स्वामियों को दे देंगे। दास प्रथा एक घृणित प्रथा है। लेकिन इसके जो भी दोष रहे हों। भारतीय समाज का आधार मजदूरी पाने वाला श्रमिक था कि दास श्रमिक; और अनुबंध के क्षेत्र में मुसलिम शरियत आधार पर किसी प्रकार का भेद करने की अनुमति नहीं देती। इसके अतिरिक्त मुसलिम राजनीतिक चेतना, अनेक कारणों से, विशाल प्रादेशिक राज्यों की मांग करती थी, और ये राज्यशक्ति के उस केंद्रीकरण के बिना शासित नहीं हो सकते थे जिसको कि मध्यकालीन परिस्थितियों में केवल राजतंत्र की संस्था ही संभव बना सकी थी।

यदि राजतंत्र को स्वीकार कर लिया जाए तो उसकी अन्य संस्थाएं अवश्यंभावी हैं। राजा को यह अधिकार होना चाहिए कि वह सभी के लौकिक और धार्मिक दोनों–अधिकारियों को नियुक्त, पदोन्नत और अपदस्थ कर सकें। यह कैसे किया जाना चाहिए, इस संबंध

में बरनी विस्तृत परामर्श देता है उसे विभिन्न प्रकार के गुप्तचरों, संवाददाताओं और जासूस अधिकारियों को नियुक्त करने का भी अधिकार होना चाहिए ताकि वे उसे यह अवगत करा सकें कि उसकी नौकरशाही कैसा कार्य कर रही है। राजा की सत्ता का एक आधार भौतिक सत्ता है। अतः राजा को सेना के बारे में सजग रहना चाहिए। सेना के संदर्भ में बरनी मितव्ययिता की सारी बातों को व्यर्थ समझता था। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि राजा में राज्य–विधियां (जवाबित) बनाने की सामर्थ्य होनी चाहिए, चाहे कुछ आत्यंतिक विषयों में उन्हें शरियत का उल्लघंन भी क्यों न करना पड़े। यदि ये नियम समुचित रूप से बना लिए जाएं एवं लागू कर दिए जाएं, तो जो सरकार के अन्तर्गत विशाल क्षेत्र हैं, उसके प्रशासकीय विभागों में एक समान कार्य संचालन निश्चित हो जाएगा तथा प्रजा को भी पता चल जायेगा है कि वह कितने पानी में हैं। "राज्य–विधि का प्रशासन की तकनीकी भाषा में अर्थ है कार्य की एक ऐसी प्रणाली का अनुगमन करना जो राजा अपने ऊपर एक अनिवार्य कर्तव्य के समान लागू करता है और जिससे वह कभी भी डिगता नहीं (परामर्श चौदहवां)।" इस परिभाषा में वे प्रशासकीय आदेश सम्मिलित हैं जिनका कि संबंध केवल शासकीय कर्मचारियों से है और इसके अतिरिक्त वे कानून सम्मिलित हैं जो सही अर्थों में कानून कहलाते हैं और जो कि कर्तव्य के बंधन में बांधते हैं तथा उसका अधिकार भी प्रदान करते हैं। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि बरनी के समय जब तक बहुत आवश्यक न हो तब तक राज्य से विभिन्न समुदायों के व्यक्तिगत मामलों में हस्तखेप करने की अपेक्षा नहीं की जाती थी।

लेकिन यदि कानून की संरचना व्यक्तिगत रूप से राजा को ही करना होता तो प्रत्येक रूपरेखा उसकी बुद्धि और चरित्र बल पर, उसके विवेक और इच्छाशक्ति पर निर्भर होगी। संभव है कि एक निर्बल राजा अवैध दबाव का प्रतिरोध करने में समर्थ न हो। किसी दशा में भी यदि सिंहासन के हर नए अधिकारी के साथ कानून बदलते रहे तो कानून बनाना निरर्थक होगा। दूसरे, कानून बनाना एक कठिन और नाजुक कार्य है। उसके लिए प्रचलित कानून का तथा विद्यमान परिस्थिति का ज्ञान आवश्यक होता है तो विवेक, संयम और दूरदर्शिता की भी। इन्हें और अन्य बातों को ध्यान में रखते हुए, और परामर्श लेने के बारे में कुरान के निर्देश पर अपना तर्क आधारित करते हुए बरनी राजा के परिषद को कानून और प्रशासकीय नियमादि बनाने का अधिकार देकर राजतंत्र को संस्थात्मक करना चाहता था (परामर्श तीसरा)। परिषद के सदस्यों को राजा को सावधानी से चुनना चाहिए। अनुमानतः उन्हीं नियमों के अनुसार जिनको कि स्वयं परिषद ने ही निर्मित किया है। राजा को विचार–विनिमय के समय प्रश्न करना चाहिए। लेकिन बिना राजा के मत के अवगत हुए भी परिषद को विषय के हर पहलू पर विचार करने की छूट होनी चाहिए। यदि सदस्य एकमत हो सकें तो उनकी राय राजा को मान्य होनी चाहिए; यदि उनमें मतभेद हों तो यह हितकर होगा कि विषय पर यथासंभव पुनः विचार कर लिया जाए। परिषद् में बहुमत का कोई अर्थ नहीं क्योंकि वह केवल एक नियुक्त सभा होती थी। किन्तु परिषद के कार्य के बारे में एक बुनियादी सिद्धान्त के रूप में बरनी साहस के साथ यह नीति निर्धारित करता है–"राजाओं के लिए मत का कोई महत्व नहीं।" **बरनी** ने जिस प्रकार के परिषद की व्याख्या की है उसका कभी भी परीक्षण नहीं हुआ। दिल्ली के सुल्तानों की मजलिस–ए–खास एक भिन्न संस्था थी। उसकी उपेक्षा की जा सकती थी; उसका विमोचन भी किया जा सकता था। यह सच है कि अन्य लोगों की भांति राजागण भी कठिनाई के समय परामर्श की शरण लेते हैं, ओर **बरनी** ने जो महान उपलब्धियां देखी थीं–अलाउद्दीन खिलजी के भूराजस्वय और अन्य सुधार और साथ ही उसके आर्थिक नियम–सुल्तान की मजलिस–ए–खास की सहायता से ही संभव हुए थे। लेकिन अलाउद्दीन ने बाद में मजलिस से परामर्श करना बंद कर दिया। मोहम्मद बिन तुगलक बहस में अपने विरोधियों को परास्त कर देता था; वह कभी परामर्श नहीं करना था। अलाउद्दीन खिलजी अपनी मजलिस से परामर्श करता था, लेकिन उसके (यदि **बरनी** का विश्वास किया जाए) बहुधा महान अधिकारीगण दरबारियों की तरह बात करते थे; सुल्तान ने हस्तक्षेप करते हुए अपने भतीजे अहमद चप को अभिभूत कर दिया। फलतः, मजलिस कभी सही निर्णय पर नहीं पहुंची। अन्य शासक या तो अपने कृपापात्रों से मार्गदर्शन प्राप्त करते थे या अलग से अपने अधिकारियों से पृथक–पृथक परामर्श करते थे।

राजतंत्र में निष्ठा रखते हुए भी, परन्तु जिन राजाओं को उसने देखा था उनके चरित्र से खिन्न होकर बरनी ने यह सिद्धान्त विकसित किया कि राजा की परिषद पद्धति या परंपरा से ही अर्थस्वतंत्र संस्था बनाई जानी चाहिए, जिससे प्रशासन की नीति सिंहासन के अधिकारियों या उनकी परिवर्तनशील मनोदशाओं से बदलती न रहे। इस योजना की कठिनाइयां स्पष्ट हैं। राजा उत्तरदायी होता था–उत्तरदायी इसलिए कि कुशासन के कारण उसे अपने सिर से हाथ धोना पड़ता था। 1206 से लेकर 1375 तक दिल्ली के सत्रह शासकों में से दस (खुसरो खां को मिलाकर) या तो मार डाले गए या उन्हें विष दे दिया गया या जेल में मरने के लिए छोड़ दिया गया। यदि राजाओं का उत्तरदायित्व मृत्युदंड द्वारा सुनिश्चित किया जाना उपयुक्त था तो यह निश्चित रूप से एक तर्कपूर्ण प्रतिशतता थी। लेकिन गुप्त रूप से चर्चा करने वाली और एकमत से कार्य करने वाली परिषद न तो जनता के प्रति

और न सरकारी अधिकारियों के प्रति उत्तरदायी हो सकती थी। इसके अतिरिक्त यह भी खतरा था कि परिषद शाही सत्ता को समाप्त कर देगी और उसके सदस्य चहलगानी तुर्कों के समान अराजकता का एक युग प्रारम्भ कर देंगे। जब भी कुछ [illegible] के सुल्तानों ने इस ओर तो ध्यान दिया ही कि मजलिस–ए–खास कभी स्वतंत्र रूप से कोई भी अपनी परम्परा [illegible] सके।

राजतंत्र का जो एक अन्य दोश, जिसको कि **बरनी** सुधारना चाहता था, राजनीतिक दंडों के क्षेत्र से संबंधित था। कुरान मुनाफिक (पाखंडी) लोगों का उल्लेख करती है जो या तो पैगम्बर के विरोधी थे या अपने कर्तव्यों के पालन में ढीले थे। लेकिन कुरान ने न तो उनका वर्णन ही किया और न पैगंबर ने उन्हें दंडित ही किया। प्रथम दो खलीफाओं के समय देशद्रोह का प्रश्न ही नहीं था तीसरे खलीफा के परवर्ती शासनकाल में अराजकता रही और चौथे खलीफा के शासनकाल में गृहयुद्ध हुआ। पवित्र खिलाफत जैसा कि **बरनी** ठीक ही इंगित करता है, 'लोगों के समझौते' पर आधारित थी न कि कुरान या पैगंबर के किसी आदेश पर देशद्रोह का अपराध, वस्तुतः कथाकथित, तभी संभव हो पाया जबकि उमैयदों ने वंशानुगत राजतंत्र के सिद्धान्त पर और पूर्ण रूप से कुलीन अरब कुलों से लिए गए शासक वर्ग के आधार पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली। कुरान या पैगंबर के नीति वचन में मुसलमान को ऐसे शासन की आज्ञा पालन करने का न तो आदेश ही है और न उसका विरोध करने से ही राकने का कोई उल्लेख है। उमैयदों के अपने गुण थे लेकिन उन्होंने अपना शासन 'शक्ति और आतंक' पर आधारित किया, जो कि पवित्र खलीफाओं के काल में अज्ञात थीं। अनेक विद्रोह हुए और अन्तिम को छोड़कर सभी विद्रोह कठोरता से दबा दिए गए। विरोधियों को निष्ठुर दंड देना ऐसी पद्धति थी जिसके द्वारा उमैयद अपनी सत्ता कायम रखना चाहते थे। जब अब्बासियों ने उमैयदो को परास्त कर दिया तब उन्होंने भी इसी प्रकार का व्यवहार किया।

सुन्नियों की शरियत का संकलन महान अब्बासियों के काल में हुआ। अतः उसने राजतंत्र और राजद्रोह दोनों के संबंध में मौन रहना ही उचित समझा।

केवल अल्पकालीन शासकों के अतिरिक्त दिल्ली सल्तनत के पंचानवे वर्षों के दौरान जिनका बरनी सर्वेक्षण करता है, सभी सरदारों ने अपने विरोधियों को निष्ठुरता से दंड दिया है। वह इन दंडों को बलबन के समय से लेकर तब तक अभिलिखित करता है जब वे सुल्तान मोहम्मद बिन तुगलक के शासन काल में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गए। यह दुःखद और हृदयविदारक कहानी है विशेष रूप से निपराध स्त्रियों और बच्चों का वध।

शासन की प्रतिष्ठा कायम रखने के उद्देश्य को सामने रखकर **बरनी** विवेकपूर्ण मात्रा में दंड का समर्थक है और उसकी सहानुभूति विरोधियों के साथ नहीं, बल्कि निरन्तर केन्द्रीय सरकार के साथ रही है। चाहे वह किसी राजा से घृणा क्यों न करता हो पर विद्रोहियों के प्रति कभी सहानुभूति प्रकट नहीं करता। वह जलालुद्दीन खिलजी के निर्बल और अति विनम्र शासन के खतरों से पूरी तरह परिचित है। वह कहता है, 'ये उपद्रवी हिंदुस्तानी एक कठोर और पाषाण स्वभाव वाले राजा के बिना किसी से भी नियंत्रित नहीं हो सकते। फिर भी उसने जो दंड और यातनाएं अपने आसपास देखीं, उनसे वह भयाक्रांत हो गया और वह अपनी **तारीख-ए-फीरोजशाही** में बारंबार उनकी निंदा करता है। **जहांदारी** (परामर्श तेरहवां) में वह राजद्रोह के एक नियम की सिद्धान्त की खोज प्रारम्भ करता है, जो शासन की स्थिरता कायम करते समय प्रजाजन के प्रति अनावश्यक रूप से कठोर न होगा और जो मानवीयता के सिद्धान्तों का पूर्णतः उल्लंघन ही करेगा। उसकी अनुशंसाएं मध्यकालीन भारत के सत्तारूढ व्यक्तियों के लिए भी विचार योग्य थीं। अतः यह खेदजनक है कि चूंकि **फतवा-ए-जहांदारी** कभी भी उचित रूप से प्रकाशित नहीं हुई इसका राजनीतिक अपराधों के प्रश्न पर बरनी के विवेकपूर्ण विचारों के साथ न्याय नहीं हो पाया।

यद्यपि बरनी राजतंत्र में विश्वास तो करता है, परनतु उसके दोषों के बारे में उसे कोई भ्रम नहीं है। जिन सुल्तानों का उसने परीक्षण किया है उनमें से गयासुद्दीन तुगलक के अतिरिक्त किसी भी एक नीति से वह संतुष्ट नहीं है। गयासुद्दीन को [illegible] खिलजी की शासन पद्धति का अनुसरण करना था। उसने उन आतंकपूर्ण साधनों का प्रश्रय नहीं लिया जिनके [illegible] थी। स्पष्टतः यह धारणा कि राजतंत्र की प्रणाली में अपने अपरिहार्य दोष होते हैं, और राजा एक राजा की [illegible] कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकता बरनी को उसके अंतिम परामर्श में यह संस्तुति करने के लिए प्रेरित किया [illegible] सदैव सदाशयतापूर्ण के प्रति विनम्रशील होना चाहिए और उसे सदैव दैवी दया और कृपा की आशा [illegible] चाहिए।

यद्यपि **फतव-ए-जहांदारी, तारीख-ए-फीरोजशाही** के बाद लिखी गई थी, फिर भी उसमें निहित सब विचार लेखक के मस्तिष्क में उस समय भी विद्यमान थे जब फीरोजशाही संकलित हुई थी। इस प्रकार एक उदाहरण लें तो, बरनी बलबन से अपने पुत्र सुल्तान मोहम्मद (खान–ए–शहीद) को एक लंबी सलाह (दस पृष्ठ लंबी) दिलवाता है। इस सलाह के सभी विचार जहांदारी में प्राप्त हैं। **फतवा-ए-जहांदारी** का उद्देश्य **बरनी** की योजनानुसार, दिल्ली सल्तनत की संस्थाओं की कार्यप्रणाली के लिए एक मानक निर्धारित करना और उसके अधिकारियों को आवश्यक निर्देश देना था। यह तो पहले ही इंगित किया जा चुका है कि विरोधाभासों और निरी मूरता से पूर्ण परंपरागत सिद्धान्त उस सिद्धान्त से घुलमिल गया जो स्वय बरनी के अनुभव और अवलोकन के प्रकाश मे विकसित किया था और जो बुनियादी रूप से धर्मनिरपेक्ष था। यदि प्रथम सिद्धान्त की पूर्ण उपेक्षा कर दी जाए, तो बचा हुआ दूसरा सेद्धान्त, स्वीकार किया जा सकता है, बशर्ते कि पहले चर्चित शर्तें ध्यान में रखी जाएं। मध्यकालीन भारत के इतिहासकार के लिए एक खतरा इस तथ्य में है कि उसका झुकाव मध्यकालीन संस्थाओं का मूल्यांकन करने में आधुनिक अवधारणाओं और आधुनिक मापदंडों की ओर होता है। **जहांदारी** का मूल्य इस बात में है कि उसमें हमें मध्यकालीन संस्थाओं के मूल्यांकन के लिए एक महान मध्यकालीन मस्तिष्क द्वारा निर्धारित मापदंड प्राप्त होता है।

इस कृति के दौरान ऐसी अनेक बातों की ओर संकेत करना आवश्यक रहा है जो बरनी के लिए निंदात्मक हैं—उसकी धूमिल होती हुइ स्मृति, जन्म के संबंध में उसका व्यर्थ का दंभ, जिसने अंशतः उसके विनाश में योगदान दिया, हिन्दुओं के विरुद्ध उसके अविवेकपूर्ण पूर्वग्रह, जिनके लिए इस्लाम कोई औचित्य नहीं प्रदान करता और जिनको सत्तारूढ़ व्यक्तियों ने स्वीकार भी नहीं किया और मुसलिम धर्म का उसका अत्यन्त उथला ज्ञान। जो कुछ बरनी ने स्वयं की कमी के संबंध में लिखा है उसे भी काफी मात्रा में उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत हुआ है। लेकिन इन सारी बातों के बाद भी **तारीख-ए-फीरोजशाही** सल्तनत काल के अवशेष के रूप में हमारे लिए एक महानतम पुस्तक बनी रहती है। इस संबंध में उसकी श्रेष्ठता को चुनौती नहीं दी जा सकती है। अमीर खुसरो या अमीर हसन की किसी भी कृति की तुलना इससे नहीं की जा सकती। वे अधिक प्रतिष्ठित और अधिक योग्य व्यक्ति थे, लेकिन उनकी उपलब्धियां एक विशेष विचारधारा और एक विशिष्ट भाषा से बंधी हैं। **तारीख-ए-फीरोजशाही** की महानता का सौभाग्य संभवतः इस तथ्य में है कि वह भारत के इतिहास से अभिन्न रूप से बंधी है। और जब तक भारत के इतिहास का अध्ययन होता रहेगा, बरनी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसकी कृति की पांडुलिपियां मध्यकाल में सुगमता से उपलब्ध नहीं थीं, बहुधा लोगों को उसके बारे में सारांशों के माध्यम से या सुनी–सुनाई बातों से जानकारी होती थी। अबुल फजल का कथन है, "शेरखां ने बंगाल को छोड़कर सारे हिन्दुस्तान को सैंतालीस इक्तों में विभाजित कर दिया। उसने घुड़सवारों के घोड़ों को दागना भी प्रारम्भ किया। उसने अलाउद्दीन खिलजी की योजनाओं के संबंध में भी सुना जो **तारीख-ए-फीरोजशाही** द्वारा वर्णित की गई हैं, और उनमें से कुछ को अपनाया भी। आज बलबन और अलाउद्दीन खिलजी की कब्रें अज्ञात हैं। सीरी में दो टीले वह स्थान बताते हैं जहां कभी हजारसतून महल स्थित था। लेकिन वृद्ध और घोर संकट में पड़े बरनी ने मृतकों को स्मृति के विलक्षण प्रयास द्वारा जीवित कर दिया और वह उनके साथ उचित रूप से रहता भी है। इतनी कठिन परिस्थितियों के अन्तर्गत और इतनी दीर्घ आयु में किसी इतिहासकार ने इतनी महान कृति की रचना नहीं की है।

अध्याय-6

अफगान राज्य का स्वरूप (Nature of Afghan State)

तुगलक वंश के पतन के बाद सैयद वंश (1414-1451 ई.) का उदय हुआ। जौनपुर के सुल्तानों से भयभीत होकर सैयदों ने अफगान नेता बहलोल लोदी से सहायता मांगी थी। बहलोल लोदी ने अनेक अफगान सरदारों के साथ स्वयं को पंजाब में स्थापित कर लिया। उसने नमक पहाड़ियों में रहने वाले लड़ाके कबीले खोखरों की बढ़ती हुई शक्ति पर अंकुश लगाया था। शीघ्र ही सम्पूर्ण पंजाब पर उसका आधिपत्य कायम हो गया। मालवा के सुल्तान द्वारा आसन्न आक्रमण के विरुद्ध दिल्ली सुल्तान की सहायता करने के लिए आमंत्रित किए जाने पर वह दिल्ली में आकर ठहर गया। शीघ्र ही उसके अनुयायियों ने दिल्ली पर नियंत्रण कर लिया। बहलोल ने औपचारिक रूप से सन् 1451 ई. में अपनी ताजपोश कराई।

यद्यपि व्यक्तिगत रूप से अफगान भारत में बहुत पहले ही आ गए होंगे किन्तु सुल्तान नसिरुद्दीन महमूद (1246-1266 ई.) के शासनकाल में वे सेना में भारी संख्या में भर्ती किए गए। 1260 ई. में जब उलुग खां (बल्बन) मेवातियों के विरुद्ध चला तो उसने तीन हजार सैनिक भर्ती किए। बाद में बल्बन ने दिल्ली, जलाली, कम्पिल, पटियाली और भोजपुरी आदि के निकट अफगान सैनिक चौकियां स्थापित कीं। इस अवधि में अफगानों ने जो महत्व प्राप्त किया उससे उन्हें भविष्य में अपने प्रभाव का विस्तार करने में यथेष्ठ सहायता प्रदान की और उनकी शक्ति के विकास के लिए प्रभावशाली आधार प्रस्तुत किया। मुहम्मद तुगलक के शासनकाल तक उन्होंने इतनी शक्ति अर्जित कर ली थी कि उन्होंने केन्द्रीय सत्ता के खिलाफ बगावत कर दी। परिणाम यह हुआ कि फिरोज तुगलक के शासनकाल में अफगानों का प्रभाव बढ़ना शुरू हो गया और उनमें से एक अफगान को बिहार का सूबेदार नियुक्त किया गया। संभवतः तैमूर के बाद खिज्र खां ने बड़ी तादाद में अफगानों की भर्ती की। इनमें एक सुल्तान शाह लोदी भी था जो लोदी वंश के संस्थापक बहलोल लोदी का चाचा था। यही समय था जबकि सूर, नुहानी, नियाज़ी और लोदी बड़ी संख्या में भारत आए। इस प्रकार पद्रहवीं शताब्दी में आने वाले अफगानों की एक बड़ी संख्या शक्तिशाली हो चुकी थी। दोआब के फौजदार के रूप में दौलत खां लोदी ने दो वर्ष (1412-1414 ई.) तक दिल्ली पर सही अर्थों में हकूमत की थी। सैयदों के शासनकाल में अफगानों ने महत्वपूर्ण पदों को प्राप्त कर लिया था। यही कारण था कि जब बहलोल गद्दी पर बैठा उस समय अफगान राज्य में छा चुके थे।

अनेक लोदी अफगान व्यापारी कारवाओं के साथ भारत आया करते थे। फिरोजशाह तुगलक के शासनकाल में बहलोल के पितामह मलिक बहराम भारत आए थे और मुल्तान में बस गए थे। मलिक बहराम के पांच पुत्रों में एक सुल्तान शाह भी था जिसे खिज्र खां ने उस समय अपनी सेवा में नियुक्त किया जब उसे मुल्तान का सूबेदार नियुक्त किया गया था। सुल्तान शाह ने अपना काम ईमानदारी से निभाया और उसे बतौर बख्शीश के सरहिंद की सूबेदारी दे दी गई। इसके साथ ही एक दूसरे पुत्र मलिक काला को दौराला का राज्यपाल बना दिया गया। दौराला में ही बहलोल का जन्म हुआ। बचपन में बहलोल के पिता का देहान्त हो गया। ऐसी स्थिति में उसका पालन उसके चाचा सुल्तान शाह ने किया। सुल्तान शाह ने भविष्य में अपने इस भतीजे के शासक बनने की संभावना देखी थी और अपने पुत्रों के दावों के बावजूद उसे अपना उत्तराधिकारी नामजद भी किया।

15वीं सदी के मध्य में ऊपरी गंगा घाटी एवं पंजाब पर शासन करना शुरू किया। दिल्ली के पूर्ववर्ती सुल्तान तुर्क थे, जबकि लोदी सुल्तान अफगानी थे। यद्यपि दिल्ली सल्तनत की सेना में भारी संख्या में अफगान लोग मौजूद रहते आए थे, किन्तु बहुत ही कम अफगान अमीरों को महत्वपूर्ण पद दिए गए थे। इसी कारण बख्तियार खलजी को बिहार व बंगाल में जाकर अपनी किस्मत आजमानी पड़ी थी। उत्तर भारत में अफगानों के बढ़ते हुए महत्व का आभास मालवा में अफगान शासन की स्थापना के समय से होने लगा था।

बहलोल लोदी की शक्ति मुख्यतया शर्की सुल्तानों के विरुद्ध संघर्ष में लगी हुई थी। अपने को कमजोर स्थिति में पाकर दिल्ली ने रोह के अफगानों को भारत आने के लिए आमंत्रित किया। **अब्बास खान शेरवानी** लिखता है कि "इन फरमानों के पहुंचने पर रोह के अफगान सुल्तान बहलोल की सेवा में शामिल होने के लिए टिड्डियों की भांति आए।" इसमें संदेह नहीं कि अफगानों के आने के कारण न केवल बहलोल ने शर्कियों को पराजित किया, अपितु भारत में मुस्लिम समाज का स्वरूप भी बदल दिया क्योंकि अब अफगान लोग दक्षिण और उत्तर भारत दोनों ही स्थानों पर मुस्लिम समाज के बहुसंख्यक एवं महत्वपूर्ण [illegible]

गए।

बहलोल लोदी के बाद सिकन्दर लोदी (1489-1517 ई.) सत्ता में आया। वह गुजरात के महमूद बेगढ़ा और मेवाड़ के राणा सांगा का समकालीन था। उसने इन राज्यों के साथ सत्ता हेतु आगामी संघर्ष के लिए दिल्ली सल्तनत को तैयार किया। उसने अफगान सरदारों का नियंत्रित करने का प्रयास किया जो कबीलाई स्वतंत्रता का सुदृढ़ भाव रखते थे एवं सुल्तान के समकक्षों में से प्रथम व्यक्ति से अधिक मानने के आदी नहीं थे। सिकन्दर लोदी ने उन्हें सुल्तान की श्रेष्ठ हैसियत का मान करवाया व अपने राज्य में कुशल प्रशासन स्थापित करने में सफल रहा। उसने न्याय पर काफी जोर दिया एवं साम्राज्य के सभी राजमार्गों को लुटेरों एवं डाकुओं से निरापद बनाया।

सिकन्दर लोदी एक रूढ़िवादी, यहां तक कि धर्मान्ध सुल्तान माना जाता है। उसने मुसलमानों के लिए शरीयत के प्रतिकूल रस्मों, जैसे—संतों की दरगाहों पर महिलाओं के जाने अथवा उनकी याद में जुलूस निकालने आदि की सख्त मनाही कर दी। उसने हिन्दुओं पर जजिया लगाया तथा एक ब्राह्मण को उसके इस विचार के लिए मृत्यु दण्ड दिया गया कि हिन्दू और मुस्लिम ग्रंथ समान रूप से पवित्र है। पर उसने विद्वानों, दार्शनिकों एवं कवियों व लेखकों को प्रचुर अनुदान दिया जिसके कारण अरब और ईरान समेत सभी देशों व क्षेत्रों के सुसंस्कृत लोग उसके दरबार में एकत्र हुए। उसके काल में बहुत से हिन्दुओं ने फारसी का ज्ञान प्राप्त करना शुरू किया जिन्हें विभिन्न प्रशासनिक पदों पर नियुक्त किया जाने लगा। इस प्रकार उसके काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सांस्कृतिक आदान—प्रदान और मेल—जोल की प्रक्रिया की गति तीव्र हुई।

सिकन्दर लोदी की मृत्यु के पश्चात् उसके ज्येष्ठ पुत्र इब्राहीम को 1517 ई. में सिंहासन पर बैठाया गया। किन्तु दरबारी अमीरों ने राजनीतिक सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित होना, जैसा कि सिकन्दर के शासनकाल में था, पसन्द न किया। इस कारण उन्होंने साम्राज्य को दो भागों में विभाजित करने की योजना बनाई। एक इब्राहिम के अन्तर्गत रखने के लिए और दूसरा उसके छोटे भाई जलाल खां के अधीन जो शर्कियों द्वारा शासित प्रदेश था। इस समझौते पर सहमति हो गई व तदनुसार साम्राज्य का विभाजन कर दिया गया।

दोनों भाईयों द्वारा साम्राज्य विभाजन पर विधिवत सहमत हो गई थी ओर यदि उसका सम्मान किया गया होता तो योजना सफल हो गई होती। किन्तु दरबार में रापरी के राज्यपाल खाने जहां लोदी के आगमन से व्यवस्था भंग हो गई। उसने सुल्तान इब्राहीम तथा अमीरों से कहा कि साम्राज्य का विभाजन अनुचित था और जितनी जल्दी उसे समाप्त कर दिया जाए, उतना ही अफगानों के हित में अच्छा होगा। खाने जहां की सम्मति में जैसा कि **मोहम्मद हबीब** कहते हैं 'राजनीतिक बुद्धिमानी होते हुए भी मौलिक रूप से यह कूटनीतिक चाल एक जघन्य विश्वासघात था। इब्राहीम ने खाने जहां की सम्मति के प्रति प्रतिक्रिया दिखाने में शीघ्रता की क्योंकि यह उसकी महत्वाकांक्षा के अनुरूप था।'

तत्पश्चात् दिसम्बर 1517 ई. को इब्राहिम ने दूसरा राज्याभिषेक मनाया। इस अवसर पर अमीरों तथा अधिकारियों को जागीरें, वस्त्र, पद आदि प्रदान किए गए। वास्तव में द्वितीय राज्याभिषेक पुरानी व्यवस्था रद्द करने और इब्राहिम की जलाल को दिए गए प्रदेशों पर सर्वसत्ताधारी होने के दावे की सार्वजनिक घोषणा थी।

अफगानों का राजत्व सिद्धान्त—बहलोल ने अड़तीस वर्ष से अधिक शासन किया जो किसी भी दिल्ली के सुल्तान से अधिक था और जिसने दिल्ली की राजसत्ता धारण की। देश की सामान्य राजनीतिक जलवायु को ध्यान में रखते हुए यह स्वयं में एक महान सफलता थी। बाद के तुगलक विकेन्द्रीकरण की ओर निरंतर प्रवृत्त थे। प्रान्तीय राज्यपालों से लेकर स्थानीय जमींदारों तक प्रत्येक सत्ता हथियाने और केन्द्र की अवज्ञा के लिए उत्सुक था। बहलोल ने स्थिति बड़ी कुशलता से संभाली। अपने विरोधियों से निपटने के लिए उसने अफगान सैनिक शक्ति का उपयोग किया परन्तु उसने अपनी शाही सत्ता उन्हें समर्पित नहीं की यद्यपि उसने अफगान भावनाओं के प्रति गहरे सम्मान का प्रदर्शन किया।

बहलोल का व्यक्तित्व अत्यन्त भद्र, न्यायी और उदार, सरल तथा आडंबर रहित था। वह प्रातः काल जल्दी उठ जाता था और लगभग दोपहर तक राजकीय कार्यों में लगा रहता था। अब्दुल्ला के अनुसार वह जनता के आवेदन स्वयं सुनता था और वह कार्य अमीरों और वजीरों के लिए नहीं छोड़ता था। दोपहर से रात के समय की नमाज ('अशा') के समय तक वह या तो 'उलमा' की संगत में रहता था या कुरान पढ़ने या सामूहिक प्रार्थनाएं अर्पित करने में अपना समय व्यतीत करता था। रात के समय की नमाज पढ़ने के पश्चात् वह अपने 'हरम' में जाता था और वहां कुछ समय रहता था। तब वह 'बलबतखाना' (निजी कक्ष) में चला जाता था जहां वह अपने पारिवारिक व्यक्तियों से मिलने में समय का बड़ा भाग देता था और 'उलमा' तथा तत्वज्ञों का यथेष्ट आदर करता था। हिन्दू वह अपने राज्य में उच्च पदों पर भी नियुक्त करता था जैसे कि उसके पुत्र सिकन्दर लोदी के क्रियाकलापों की विशेषता थी। उसने भारी संख्या में राजपूतों और अन्य हिन्दू जमींदारों का विश्वास प्राप्त किया और उन्हें दायित्वपूर्ण पद सौंपे। राय करन, राय प्रताप, राय

वीर सिंह, राय तिलोकचन्द और राय धंधू उसके कुछ विश्वासपात्र सरदार थे।

बहलोल की तानाशाही कबीली समानता की अफगान परम्पराओं से संयमित थी। **'तारीख दाऊदी'** का लेखक उसके बारे में कहता है:

> 'वह एक सरल और आडंबरहीन शासक था। भोजन करते समय वह दरबानों को द्वार से हटा देता था। जो भी उसके पास आता (उस समय) वह उसके साथ भोजन करता। वह कभी 'मजलिस' में सिंहासन पर नहीं बैठा और अमीरों को खड़े नहीं रहने दिया। 'दरबारे आम' (साधारण दरबार) में भी वह सिंहासन पर नहीं बैठा। वह एक छोटा कालीन उपयोग में लाता था। अपने 'फरमानों' में वह अमीरों को 'मसनदे आली' कह कर संबोधित करता था। यदि संयोगवश कोई अमीर उससे रूठ जाता था तो उसे शांत करने का वह भरसक प्रयत्न करता। वह उसके घर जाता, अपनी कमरबंद से तलवार निकाल कर उसके सामने रखता और क्षमा याचना करता: 'यदि तुम मुझे राजपद के योग्य नहीं समझते तो तुम किसी अन्य को इस कार्य के लिए नियुक्त करो और मुझे कोई अन्य जिम्मेदारी दो।'

उसकी निम्नलिखित प्रथाओं ने समकालीनों और भावी पीढ़ियों की कल्पनाओं का विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है

1. जब उसने दिल्ली के शासकों के कोष पर अधिकार किया तो उसने लूट का माल अपने सैनिकों में वितरित किया और अपने लिए केवल एक अनुपातिक भाग लिया। यह स्पष्ट नहीं है कि वितरण का यह नियम सभी लूट के माल पर लागू होता था जो उसकी लम्बी सैनिक जीवन–चर्या में उसके हाथ लगा। **डाक्टर हलीम** का यह विचार कि, 'उसने युद्धों में प्राप्त लूट का माल अपने सैनिकों में वितरित कर दिया और 'पवित्र खलीफा' के समान उसके साथ समान भाग लेना अधिक पसन्द किया, पूर्व विशेषज्ञों द्वारा समर्थित नहीं है और दिल्ली के कोष के संबंध में की गई कार्यवाहियों से केवल एक सामान्यीकरण प्रतीत होता है। संभव है कि उसने दिल्ली के सिंहासन पर बैठने के तुरंत पश्चात् सेना का विश्वास जीतने के लिए इस समान वितरण का आश्रय लिया हो।
2. उसने कोई व्यक्तिगत अंगरक्षक नहीं रखे। हालांकि वह अफगान परंपराओं के अनुकूल रहा होगा लेकिन यह उसके आत्मविश्वास और उसकी लोकप्रियता को दर्शाता है। सिकन्दर को रात में अपनी सुरक्षा के लिए एक विशेष अंगरक्षक रखना पड़ा था।
3. उसका भोजन उसके महल में नहीं बनता था बल्कि बारी–बारी से अमीरों द्वारा भेजा जाता था फरिश्ता कहता है कि भोजन घर में नहीं पकाया जाता था और न उसने कभी शाही अस्तबल के घोड़े की सवारी की। प्रतिदिन अमीर में से एक ने उसे भोजन भेजा और इसी प्रकार घुड़सवारी के समय उनमें से एक ने उसे सवारी उपलब्ध की।' यदि फरिश्ता उस प्रथा का अनुसरण किया था तो उसका उद्देश्य निश्चित ही अपने अफगान सरदारों को प्रशासन में भाग देने से था। अब्दुल्ला कहता है कि वह कहा करता था: 'इतना काफी है कि मेरा नाम राज्य के साथ रहे।'
4. **मुश्ताकी** कहता है: 'अमीरों की उपस्थिति में वह सिंहासन पर नहीं बैठा और उन्हें खड़े रहने से मना करता था। वह कालीनों पर एक साथ बैठा करते थे और सुल्तान प्रत्येक को 'मसनदे आली' कहता था। वह प्रतिदिन दरबार लगाता था और कालीन पर बैठता था। कुछ अमीरों को खड़े रहने का आदेश दिया जाता था। सभा में नहीं बैठते थे।'

बहलोल का शासन बिरादरी (कुल) की भावना पर आधारित और कार्यान्वित था। सिकन्दर लोदी एकदम सही था जब उसने 1494 ई. में अमीरों को शर्की सुल्तान से युद्ध के एक दिन पूर्व बताया : 'स्वर्गीय सुल्तान बहलोल के शासनकाल में तुमने जो हक बिरादरी' (कुल दायित्व) था उसे अदा कर दिया।'

इस प्रकार अफगानों के उदय के साथ दिल्ली की प्रभुसत्ता संबंधी मान्यताओं में एक नया मोड आ गया। अफगान जातीय (कबीलाई) स्वतंत्रता में अभिन्न विश्वास रखते थे और इस आधार पर वह स्वीकार करने को तत्पर नहीं थे कि प्रभुसत्ता अविभाज्य है जिसमें समस्त संबंध केवल राजा और प्रजा जैसे दो शब्दों में सीमित किये जा सकते हैं। अफगानों को तुर्कों, मंगोलों अथवा भारतीय मुसलमानों से किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं थी और ऐसी स्थिति में उन्हें केवल हम वतन लोगों की सहानुभूति पर ही निर्भर रहना था। इस आधार पर लोदी सुल्तानों के लिए पूर्वाग्रह को तिलांजली दे तुर्क अथवा ताजिकों की संस्थाओं को स्वीकार करना नीति संगत नहीं था। अफगानों का परिपाटियों में भी अटूट विश्वास है इसलिये बहलोल लोदी द्वारा शक्ति का अपहरण करने पर उन परिपाटियों को तोड़ना संभव नहीं था। उसने एक ऐसे राज्य सिंहासन का निर्माण करवाने का विचार किया कि जिस पर वह अपने समस्त बन्धु–बान्धवों के साथ बैठ सके। क्योंकि इस आकार का सिंहासन बनवाना संभव नहीं हो सका इसलिए वह 30 अथवा 40 अफगानों के बैठने लायक सिंहासन बनवाकर ही संतुष्ट हो गया।

बहलोल के गद्दी पर बैठने के बाद उसे शर्की शासकों की चुनौती का सामना करना पड़ा। ये न केवल धनी व शक्तिशाली थे अपितु इन्हें लोदी–विरोधी तत्वों का समर्थन भी प्राप्त था। बहलोल ने इस चुनौती के समाधान के लिए रोह के अफगानों को आमंत्रित किया जिससे कि वे राज्य वंश में भागीदार होने के साथ ही भारत में अफगान–सम्मान की रक्षा कर सकें। अनेक अफगान विभिन्न आशाओं को सजोये हुए बहलोल के निमंत्रण पर उसका साथ देने को तत्पर हो गये।

बहलोल ने अफगान परिपाटियों को ध्यान में रखते हुए स्वयं को अफगानों में से एक अमीर के समरूप ही स्वीकार किया। वह मात्र सुल्तान की उपाधि तथा अफगानों के नेतृत्व से संतुष्ट था। उसके समय में अफगान राज्य केवल कबीलों का एक संघ मात्र था जिसका नेता शासक था। राजत्व का यह विचार तुर्कों से बहुत कम मेल खाता था। वह बलबन और अलाउद्दीन के संकल्प का प्रतिवाद था, यहां तक कि यह इल्तुतमिश की विचारधारा से भी भिन्न था।

तुर्क निरंकुश थे और वे अपने सरदारों को अधीन कर्मचारी अथवा सलाहकारों से अधिक नहीं मानते थे। प्रभुसत्ता में बराबरी की दावेदारी अथवा साझेदारी में उनका विश्वास न था। वे प्रभुसत्ता में देवत्व की ओर सुल्तान में ईश्वरीय छाया स्वीकार करते थे। परन्तु लोदी सरदार सुल्तान को अपने में से ही एक सरदार स्वीकार करते थे और सुल्तान में देवत्व में अंश को मानने के लिए तत्पर न थे। उनका यह अनुभव था कि यदि उन्होंने अपने में से किसी एक को सुल्तान स्वीकार कर लिया तो उनकी स्थिति साधारण सेवकों जैसी ही जायेगी और उन्हें अपने ही परिवार के सदस्य के सम्मुख सिजदा और जमीपोश करने के लिए बाध्य किया जायेगा। इस जातीय परम्परा के अतिरिक्त इसमें उनका व्यक्तिगत स्वार्थ भी था। यदि सुल्तान उनकी शक्ति पर निर्भर न रहा तो उनके लिए बड़ी–बड़ी जागीरों का उपभोग करना अथवा अधिकारों को हथियाना भी संभव न हो सकेगा।

बहलोल ने अफगानों की इस जातीय विशेषता को ध्यान में रखते हुए उनके साथ स्वतंत्रता तथा समानता का व्यवहार किया और राजशक्ति में उन्हें साझेदार बनाया। वह दरबार में सिंहासन पर आसीन न होता था अपितु कालीन पर ही अफगान अमीरों के साथ बैठता था। अपने अमीरों को वह **मसनद-ए-आली** (Exalted Lordship) कह कर संबोधित करता था। **मुश्ताकी** ने लिखा है कि यदि कोई अमीर बीमार हो जाता अथवा उससे रुष्ट हो जाता तो वह स्वयं उसके घर जाता था, अपनी तलवार को अनुघत कर देता, और कभी–कभी अपनी साफे की पेटी को भी खोल देता था। अमीरों की सद्भावना को जीतने के लिए वह हर प्रकार से प्रयत्नशील रहता था।

बहलोल के संबंध में ये विचार **प्रो. इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी** को मान्य नहीं है। उनके अनुसार यह ठीक है कि बहलोल अपने अमीरों के साथ उदार व शिष्ट व्यवहार करता था परन्तु इसका कारण अफगानों का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त न होकर उस समय की परिस्थितियां थीं। बहलोल के लिए लोदी अभिजात की स्थापना में अफगानों का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था और उसने इस

[illegible] व्यवहार [illegible], क्योंकि इसके अतिरिक्त उसके पास कोई दूसरा चारा भी नहीं था। बहलोल के समय की घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब कभी उसे अवसर मिला उसने समस्त विरोधियों को कुचलने का प्रयत्न किया चाहे वे अफगान हों अथवा दूसरी जाति के जैसा कि सियालकोट, लाहौर और दीपालपुर के अमीरों के उदाहरण से स्पष्ट होता है। इसलिए यदि उसने यह नीति अपनाई तो वह केवल उसकी कूटनीतिज्ञता और दूरदर्शिता थी जिससे उसने अफगानों को एक शक्ति के रूप में संगठित पर लोदी वंश की स्थापना के लिए उपयोग किया।

प्रो. सिद्दीकी का मत तर्कसंगत है। बहलोल ने यदि अफगान सरदारों के साथ उदारता का व्यवहार किया तो इसका मूल कारण उस समय की राजनीति थी। बहलोल के इस आधार पर अफगान संघ राज्य की स्थापना की अथवा नहीं यह विवाद–ग्रस्त हो सकता है। परन्तु इतना निश्चय है कि उसने अफगान सरदारों की स्वतंत्रता और जातीय प्रकृति पर इतने अंकुश लगाये रखे कि उसकी मृत्यु पर अमीरों ने उसी के एक पुत्र को सुल्तान चुना और अपने में से किसी एक को सुल्तान बनाने की बात सोची भी नहीं। यही बहलोल की सफलता थी।

प्रो. त्रिपाठी के अनुसार बहलोल द्वारा इस प्रकार से एक संघ की स्थापना में लाभों की अपेक्षा हानियां अधिक थीं। यद्यपि इसने अमीरों द्वारा षड्यंत्र की संभावना को न्यूनतम कर दिया, परन्तु इसके साथ ही उन्हें अपने प्रभाव तथा शक्ति के संबंध में भी सतर्क कर दिया। बहलोल ने सुल्तान की कीमत पर अमीरों की शक्ति और सम्मान को बढ़ाया, ताज की प्रतिष्ठा को कम दिया तथा राजत्व को केवल एक उन्नत अमीर की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। उसकी इस कार्यवाही ने भले ही अफगानों को कुछ संतोष

दिया हो, परन्तु दूसरे वर्गों की शासन में सुनवाई न होने की वजह से वे असन्तुष्ट हो गये। इस प्रकार के राज–पद की उसकी धारणा अल्बारी तुर्कों की तुलना में गहरी अवज्ञय थी परन्तु उसकी धारणा अथवा संकल्पना उनकी तुलना में अधिक संकीर्ण थी

इस कमी के बाद भी उसका प्रयोग रूचिकर था। इसने अफगानों में स्वामिभक्ति की जो भावना उत्पन्न की उससे वे यह अनुभव करने लगे कि यद्यपि वे प्रत्यक्ष रूप से सुल्तान के लिये परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वे स्वयं अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिये ही कार्य कर रहे हैं। बहलोल ने निरंकुश राजत्व की भावना को मन्द करके वास्तविक रूप से इसे अमीरों की इच्छा के अनुकूल बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण पग उठाया था। अमीरों और सामन्तों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना निरंकुश व संवैधानिक राजत्व के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी थी। उसने एक ऐसा अवसर प्रदान किया जबकि मुस्लिम राजतंत्रवाद एक संवैधानिक रूप धारण कर सकता था। **डॉ. त्रिपाठी** के अनुसार अफगान अमीर आपसी द्वेषता, स्वार्थपरता, दलबन्दी, उदासीनता व अनभिज्ञता के कारण इसका लाभ न उठा सके।

बहलोल ने सिकन्दर को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। संभवतः अनुभव ने उसे अफगानों के प्रति अपनाय जाने वाले व्यवहार के लिए सतर्क कर दिया था। इसलिए उसने सिकन्दर को चेतावनी दी थी कि सूर और नियाजी अफगानों को उच्च पद न दे क्योंकि सूर अधिक महत्वाकांक्षी तथा नियाजी विश्वासघाती थे। यह इस बात का संकेत था कि अफगानों की एकरूपता अधिक समय तक बनाये रखना संभव न था।

सिकन्दर लोदी–सिकन्दर लोदी के लिये सतर्कता से कार्य करना आवश्यक हो गया क्योंकि छः जीवित भाइयों के होते हुए उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ना अवश्यम्भावी था। बहलोल लोदी ने स्वयं ही राज्य का बंटवारा कर बारबकशाह को जौनपुर का शासन दिया था। अफगान लोग यह मानने के लिये तैयार नहीं थे कि राज्य केवल एक ही व्यक्ति द्वारा सचालित हो। उनके अनुसार एक से अधिक व्यक्ति इसके साझेदार हो सकते थे। इसके अतिरिक्त सिकन्दर लोदी की मां सुनार जाति की थी, इसलिये इस आधार पर उसे शुद्ध अफगान स्वीकार करना भी असंभव था। अफगान जो कुतुबुखां का वंश परम्परा के आधार पर विरोध कर सकते थे वे सिकन्दर के भी किसी समय विरोधी हो सकते थे।

सिकन्दर विभाजित प्रभुत्व और संदिग्ध निष्ठा के परिणामों से सचेत था और इस आधार पर राजसत्ता में किसी के साथ साझेदारी करने को तत्पर नहीं था। यही नहीं अपितु वह मुस्लिम परम्परा व ईरानी विवेक से भी परे था। राज्य का विभाजन साम्राज्य के लिए ही नहीं अपितु अफगान शक्ति के लिए भी घातक था। इसके बाद भी उसने बारबकशाह को दो बार जौनपुर का शासक बनाया, परन्तु जब वह इससे भी संतुष्ट न हो सका तो उसने जौनपुर को अपने अधीन कर लिया। बारबकशाह पर विजय के पश्चात् उसके प्रमुख सहायक मुबारक को बंदी बना लिया गया। दुविधा में रखने हेतु उसने उसे दंडित करने की अपेक्षा सम्मान दिखाया यहां तक कि उसको अपनी [illegible] समर्पित कर प्रार्थना की कि वह स्वयं शासन के अयोग्य [illegible] में शासक बना सकता है। सिकन्दर [illegible] सहानुभूति से अधिक नहीं था। अन्त में सिकन्दर अफगानों द्वारा फतेह खां को शासक [illegible] को विफल कर साम्राज्य की एकता को बनाये रखा।

यद्यपि उसने अफगानों की भावुकता को यथोचित सम्मान दिया और अपने पिता की नीति में कोई मूलभूत परिवर्तन [illegible] परन्तु वह इस बात को समझता था कि भारतीय वातावरण में अफगानों की संस्थाएं अनुपयुक्त हैं। इसीलिए उसने अपनी प्रभुसत्ता की धारणा में परिवर्तन लाना प्रारम्भ किया। वह सरदारों को अधिक नियंत्रण में लाने के लिये तत्पर हुआ। उसकी नीति कठोरता, अनुशासन और सुल्तान के विशेषाधिकारों पर बल देने की थी, परन्तु इसका यह अर्थ लगाना कि वह अकारण ही सरदारों को अपमानित करने पर तुला बैठा हो नितांत भूल होगी। उसने सरदारों को सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए बाध्य किया, दरबार को नई साज–सज्जा प्रदान की तथा न्याय में छोटे–बड़े के भेद–भाव को समाप्त किया।

असाधारण शारीरिक सौन्दर्य तथा वाक्पटुता से सम्पन्न, कविता, संगीत और विनोदप्रिय सिकन्दर लोदी कुछ मानों में मध्यकालीन भारत का अत्यन्त असाधारण प्रतिभा वाला व्यक्ति था। उसने भारत में अफगान राजतंत्र के एक नवीन युग का सृजन किया और सुल्तान पद की महिमा और प्रतिष्ठा को भलीभांति ऊंचा उठाया। अफगान कुलीन वर्ग की अपनी अफगानी लोकतंत्रीय परम्परा में आसक्त होते हुए भी उन्हें राजा की श्रेष्ठ स्थिति स्वीकार करने पर बाध्य होना पड़ा। राजा की प्रतिष्ठा और सत्ता महत्वपूर्ण बनाने के लिए उसने अनेक उपाय किए।

1. बहलोल कालीन पर बैठता था किन्तु सिकन्दर ने सिंहासन पर बैठना आरम्भ किया। उसके सिंहासन में किसी अन्य सरदार के हिस्सा बटाने का कोई प्रश्न नहीं था। सुल्तान अब बराबरी के लोगों में प्रथम नहीं रहा था।
2. सुल्तान की श्रेष्ठ स्थिति कुलीनों और जनता के मस्तिष्क में स्थापित करने के लिए उसने राज्य के दूरस्थ भागों में शाही फरमानों का स्वागत करने के लिए सुपरिचित नियम बनाए। राज्यपालों को दरबार से भेजे गए संदेशवाहक से [illegible] न

मुख्यालय से लगभग छः मील की दूरी पर भेंट करना था। शाही दूत एक विशेषरूप से निर्मित मंडप में बैठकर राज्यपाल को फरमान देता था जो बड़े आदर से उसे अपने सर पर रखता और उसे मस्जिद में मंच से पढ़ने के लिए ले जाता।

3. अमीरों को यह अनुभव कराया जाता था कि वे सुल्तान के नौकर थे और यह कि उनका पद और अधिकार पूर्णतः उसकी स्वेच्छा पर निर्भर थे। जिनके पास जागीर थीं उन्हें नियमित रूप से 'दीवाने विजारत' में हिसाब देना होता था। भ्रष्टाचार, कुप्रबंध, दुर्व्यवहार या घूसखोरी के सभी मामले कठोरता से निपटाए जाते थे।

4. अत्यंत कुशल गुप्तचर व्यवस्था ने सुल्तान को राज्य की सभी घटनाओं से और मुख्य रूप से अमीरों की गतिविधियों से सूचित रखा। सुल्तान स्वयं गुप्त रूप से राज के मामलों का प्रत्यक्ष और आंतरिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए निकला करता था। जनसाधारण की गतिविधियों तक का ज्ञान होने पर आश्चर्यचकित होकर जनता अपने भोलेपन में सोचती थी कि कोई रहस्यमयी अलौकिक शक्ति उसे उसके प्रदेश से घटित घटनाओं से सूचित रखती है।

सिकन्दर एक योग्य प्रशासक, स्थितियों के विश्लेषण में सुबुद्ध और अपने आदेश कार्यान्वित करने में दृढ़ था। अपने राजपद के कर्तव्यों को निभाने के लिए उसने महान दायित्व का प्रदर्शन किया। ऐसा कहा जाता है कि वह प्रातःकाल से रात में देर तक कार्य करतार था। प्रातः नमाज तथा कुरान का पाठ करने के पश्चात् प्रतिदिन प्रशासनिक मामलों में व्यस्त होना उसका नित्यक्रम था। उसकी व्यक्तिगत सभा रात में आरम्भ होती थी और उसी समय वह सामान्यतः अपने आदेश तथा संदेश राज्यपालों तथा शाकसों को भेजता था। उसका भोजन आधी रात को परोसा जाता था। कुछ उलमा जो उसके अंतरंग साथी थे उसके पास बैठते थे किन्तु उसकी उपस्थिति में उन्हें कुछ खाने की आज्ञा नहीं थी। शाही रात्रि भोजन का अपना भाग वे अपने घर पर खाते थे।

सिकन्दर के प्रभावशाली प्रशासन ने शांति और समृद्धि सुनिश्चित की और जनता के लिए न्याय की गारंटी की। साम्राज्य के सभी रापथ डाकुओं और लुटेरों से सुरक्षित थे और जनता में सुरक्षा की भावना उत्पन्न करने के प्रयत्न किए गए।

उसकी न्याय व्यवस्था मियां भुवा की अधीनता में अत्यन्त कुशलतापूर्वक संगठित की गई थी। सुल्तान स्वयं अपने पास लाए गए मामलों पर विचार करता और उनका निर्णय करता था। दरिया खां नूहानी को स्वयं दरबार में प्रातःकाल से बहुत रात गए तक आवेदन प्राप्त करने तथा शिकायतों की जांच करने के लिए उपस्थित रहना पड़ता था।

सभी इतिहासकार सिकन्दर के समय में राज्य की समृद्धि और अमीरी का उल्लेख करते हैं। प्रत्येक प्रातःकाल बाजार की मूल्यसूची की सूचना उसे दी जाती थी। आवश्यक वस्तुओं के मूल्य सामान्यतः सस्ते थे। **डॉ. एम.ए. हलीम** लिखते हैं: 'किन्तु हम इस कठोर सत्य से अपनी आंखें बन्द नहीं कर सकते कि यह सस्तापन सोने चांदी की कमी तथा माल एक स्थान से दूसरे स्थान लाने और ले जाने [illegible] क्योंकि राज्य का कोई भी भाग समृद्धता तक नहीं पहुंचता था। [illegible] और सुल्तान की अधिकार राशि [illegible]

1496 के अतिरिक्त, जब फसलें नष्ट हुई थीं, कृषि उत्पादन साधारणतः अच्छा था। सुल्तान स्वयं कृषि के विकास में बड़ी व्यक्तिगत रुचि लेता था। उसने अनाज से जकात (आय कर) समाप्त कर दिया और 'गजे सिकन्दरी' नामक एक प्रमाणिक माप प्रचलित की जो मुगलकाल तक चलती रही। उसके शासन काल में बनाई गई लगान तालिकाएं उसके उत्तराधिकारियों के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुईं, **एडवर्ड टामस** टीका करता है : 'बाबर के समय के सांख्यकीय विवरण स्पष्टतः बाद के सभी भारतीय राजस्व प्रणालियों की कुशलता के उस अस्वीकृत अंशदाता सिकन्दर बिन बहलोल की प्राचीन लगान तालिकाओं पर आधारित थे। बाबर की तालिका में एक मंद स्वीकृति करने के लिए पर्याप्त है।'

सिकन्दर लोदी ने दिल्ली के आरम्भिक सुल्तानों की परम्परानुसार सेना संगठित करने की आवश्यकता पूर्णतः अनुभव की। उसने सैनिकों से घनिष्ठ संबंध रखा और कहा जाता है कि जब सेना यात्रा पर होती तो वह प्रतिदिन दो 'फरमान' अपनी सेना में भेजा करता था। प्रातःकालीन 'फरमान' सेना को उस दिन तय की जाने वाली यात्रा का निर्देश देता था और संध्याकालीन 'फरमान' उसे रात में शिविर लगाने के स्थान के विषय में सूचना देता था।

सुल्तान के कुछ लोकोपकारी तथा खैराती कार्यों ने विशेष रूप से जनता की प्रशंसा प्राप्त की। उसके पास प्रतिदिन राजधानी में निर्धन जनता में वितरित करने के लिए पके तथा कच्चे भोजन की व्यवस्था रहती थी। उसे राज्य के गरीब तथा असहाय व्यक्तियों को अर्धवार्षिक, साप्ताहिक तथा दैनिक भत्ते और वृत्तियां निश्चित की गई थीं। जब वह अपने वस्त्र और बिस्तर बदलता था तो उन्हें बेच दिया जाता था और प्राप्त धन अनाथ कन्याओं के विवाह में दहेज के रूप में दिया जाता था।

समाज में अनैतिक प्रवृत्तियां रोकने के लिए सिकन्दर लोदी ने कुछ उपाय किए। **मुश्ताकी** ने लिखा कि, 'जिस किसी ने भी [illegible] आज्ञाओं का विरोध किया उसने उसका सिर कटवा दिया अथवा उसे राज्य से निष्कासित कर दिया।' जिन [illegible] अमीरों ने सिंहासन से हटाकर उसके छोटे भाई फतह खा को सुल्तान बनाने का षड़यन्त्र किया था, उसने उन सबका वध करवा दिया अथवा उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया।

परन्तु इस प्रकार व्यवहार करते समय न तो वह अन्यायी था और न ही अंधाधुंध काम करता था। उसने अफगान अमीरों को [illegible] उसी समय दंडित किया जबकि उनका अपराध सिद्ध हो जाता था अथवा अमीरों को उसने उसी समय अपदस्थ किया जब उनका विश्वासघाती दृष्टिकोण पूर्णतया निखर उठता था। अपनी इस नीति के आधार पर उसने सुल्तान की प्रतिष्ठा को बढ़ाया। [illegible] सिद्दीकी ने लिखा है कि सिकन्दर लोदी पहला अफगान सुल्तान था जिसयने एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न शासक की भांति व्यवहार किया और अपने सरदारों से पूर्ण आज्ञा–पालन और अविभाजित स्वामिभक्ति की मांग की। उसकी चतुरता, उदारता, निरन्तर सफलताओं ने उसके सरदारों को पूर्ण वफादार और सुल्तान के प्रति आज्ञाकारी बना दिया। सुल्तान से बराबरी करने की उसकी भावना भी दब गयी।

इब्राहीम लोदी–सिकन्दर की इस व्यवस्था का भार उसके पुत्र इब्राहीम लोदी पर पड़ा। वह सर्वसम्मति से शासक चुना गया था और उसके पराक्रम, योग्यता आदि में कोई शंका नहीं थी। उसके शासक बनने पर साम्राज्य के विभाजन की नीति की इतिश्री हो गई थी। फतह खां और खान–ए–जहां आदि प्रभावपूर्ण नेताओं ने साम्रासज्य के विभाजन की नीति को अनुचित ठहराया था। उसके भाई जलाल खां ने इसका विरोध किया परन्तु इब्राहीम ने उसको बन्दी बनाकर उसका वध करवा दिया।

अपने प्रतिद्वन्द्वी को समाप्त कर इब्राहीम ने अफगान सरदारों की ओर ध्यान दिया जो कि उसकी नीति के विरोधी हो सकते थे। उसने यह स्पष्ट कर दिया कि राजा का कोई संबंधी नहीं होता तथा समस्त लोग केवल उसके सेवक मात्र हैं। संभवत उसका अभिप्राय था कि कोई भी व्यक्ति जाति, कबीले अथवा शासक का संबंधी होने के नाते किन्हीं विशेष अधिकारों की मांग नहीं कर सकता है। अप्रत्यक्ष रूप में यह उसकी प्रभुसत्ता के संबंध में स्पष्ट धारणा थी। ये धारणाएं न केवल बलबन, अलाउद्दीन अथवा मुहम्मद तुगलक की विचारधारा के सामीप्य रखती थीं अपितु उनसे भी अधिक विकसित थीं क्योंकि इसने कबीले के आधार पर मान्य समस्त मांगों को समाप्त कर दिया था। यह बहलोल लोदी के विचारों के पूर्ण विरोध में थी और अफगान सरदारों के लिए अप्रिय होने पर भी ठोस सिद्धान्त पर आधारित थीं।

इस आधार पर उसने एक अत्यन्त सुशोभित सिंहासन पर बैठना आरम्भ किया तथा आदेश दिया कि सुल्तान के दरबार में उपस्थित रहने के समय कोई अमीर आसन ग्रहण नहीं करेगा। दम्भी अफगान सरदार जो बहलोल के साथ बराबरी का दावा करते थे वे इस आदेश से स्तम्भित थे। सम्पूर्ण वातावरण बदल गया था और अमीरों को यह अनुभव होने लगा कि सुल्तान उनमें एक अमीर न होकर कहीं अधिक श्रेष्ठ है। दम्भी अमीरों को इससे शिकायत थी परन्तु सुल्तान ने उनकी कोई परवाह न की और पुराने अमीरों के प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए उसने नियाजियों को फरमूलियों की तुलना में प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई। पुराने अफगान सरदारों ने इस नीति का सशस्त्र विरोध आरम्भ किया। सैयद खां लोदी, इस्लाम खां व फतह खा के विद्रोहों को निर्दयता से कुचल दिया गया। यद्यपि इस संघर्ष में सुल्तान सफल अवश्य हुआ परन्तु अकेले इस्लाम खां के विद्रोह को दबाने में ही उसे 15,000 श्रेष्ठ अफगान सैनिकों की बलि देनी पड़ी। इब्राहीम इसके बाद और अधिक उद्दण्ड हो गया और सन्देहास्पद परिस्थितियों में की गई आजम हुमायूं और मियां भाऊ की हत्या ने अफगान अमीरों को और अधिक विरोधी बना दिया। अफगान अब उसका खुले रूप में विरोध करने लगे। उनको यह विश्वास होने लगा कि वे किसी प्रकार सुल्तान के विरुद्ध सफल नहीं हो पायेंगे। बिहार में नूहानी अत्यधिक दुविधा में थे और पंजाब के लोदियों ने अफगानों के प्रतिद्वन्द्वी मुगलों को आमन्त्रित करने में कोई झिझक अनुभव नहीं की। स्वार्थपरता तथा बदले की भावना के नशे में वे अपने हितों को आंकने में असमर्थ रहे जिसका अन्तिम परिणाम अफगान सत्ता की समाप्ति तथा एक नये राजवंश की स्थापना में हुआ।

अमीरों से संबंध

इब्राहीम अपने अमीरों और मलिकों से अच्छे संबंध बनाए नहीं रख सका। उसके उद्दंड स्वभाव ने उन्हें उससे विमुख कर दिया और उसके उद्देश्यों के प्रति उनके मन में शंका उत्पन्न कर दी।

मियां भुवा लोदी सुल्तान का वयोवृद्ध और प्रतिष्ठित अमीर था। सिकंदर लोदी द्वारा वह अत्यन्त सम्मानित था और [illegible] के अध्यक्ष के रूप में उसने कार्य किया था। वृद्धावस्था के कारण वह अपना कर्तव्य पहले की भांति कुशलतापूर्वक नहीं कर सका। सुल्तान ने उसे बंदीगृह में डाल दिया और उसे मलिक अदम काकर की निगरानी में रखा और उसके कर्तव्य और सम्मानसूचक प्रतीक उसके पुत्र को हस्तांतरित कर दिए गए। बन्दीगृह में मियां भुवा की मृत्यु ने उसके परिवार में [illegible]

उत्पन्न किया और पुराने अफगान अमीरों को भी रुष्ट कर दिया।

धीरे–धीरे इब्राहीम का विश्वास वृद्ध अमीरों से हट गया और उन्हें एक के बाद एक उसने बन्दीगृह में डाल दिया। आजम हुमायूं सरवानी, जो ग्वालियर दुर्ग का घेरा डाले था और उस पर लगभग विजय प्राप्त कर ली थी, अकस्मात आगरा वापस बुला लिया गया और बन्दीगृह में डाल दिया गया। जब आजम हुमायूं के पुत्र इस्लाम खां को यह ज्ञात हुआ तो उसने कड़ा मानिकपुर में विद्रोह की पताका फहराई। उसने अपने पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति अपने अधिकार में कर ली और अहमद खां को उसका कार्यभार संभालने नहीं दिया। अहमद खां ने उसे चुनौती दी किन्तु वह पराजित कर दिया गया। सुल्तान ने उसे दंड देने के लिए एक सेना भेजने का विचार किया किन्तु उस समय आजम हुमायूं लोदी और सय्यद खां लोदी लखनऊ की ओर अपनी जागीरों में भाग गए। उन्होंने इस्लाम खां से पत्र व्यवहार आरम्भ किया और सुल्तान के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही की योजना बनाई। शाही सेना पर आक्रमण किया और उसे अस्तव्यस्त कर दिया।

इस पराजय की सूचना से इब्राहीम अशांत हो गया और उसने घोषणा की कि विद्रोहियों द्वारा पराजित अमीर उस समय तक निंदनीय रहेंगे जब तक वे इस्लाम खां के नेतृत्व में विद्रोही मलिकों को पराजित कर अपने सम्मान को वापस नहीं लेते उसने उनकी शक्ति बढ़ाने के लिए अतिरिक्त सेना भेजी। विद्रोही सेना में लगभग चाली हजार सवार और पांच सौ हाथी थे। किन्तु इन सेनाओं में युद्ध आरम्भ होने के पूर्व एक प्रसिद्ध **संत शेख राजू बुखारी** ने हस्तक्षेप किया और इस शर्त पर समझौता हो गया कि यदि सुल्तान इब्राहीम आजम हुमायूं सरवानी को मुक्त कर दे तो वे उसका विरोध नहीं करेंगे और किसी अन्य प्रदेश में चले जाएंगे। जब यह समझौता हो गया तो दोनों सेनाएं अलग हो गईं। किन्तु सुल्तान ने इस समझौते का समर्थन नहीं किया। उसे बिहार के राज्यपाल दरिया खां नूहानी, नसीर खां नूहानी और शेखजादा फरमुली को विद्रोहियों के विरुद्ध प्रस्थान करने तथा उनसे स्पष्टीकरण मांगने के आदेश प्रचारित किए। फलस्वरूप एक रक्तरंजित युद्ध लड़ा गया और दोनों ओर से बहुतेरे सैनिक मारे गए। अन्त में शाही सेना विजयी हुई। इस्लाम खां रणभूमि में मारा गया। दरिया खां नूहानी के एक दास ने सय्यद खां लोदी को बंदी बना लिया। विशाल लूट का माल दिल्ली सेना के हाथ लगा। सुल्तान ने इस विजय के उपलक्ष में समारोह मनाया और यथेष्ट धन दान और भिक्षा में वितरित किया। विद्रोहियों पर यह एक महान विजय थी।

इसी समय आजम हुमायूं सरवानी और मियां भुवा की बंदीगृह में मृत्यु हो गई और बिहार के राज्यपाल **दरिया खां नूहानी, अमीरूल उमरा खाने जहां लोदी** और **हुसेन फरमुली** ने विद्रोह कर दिया। सुल्तान के इशारे पर चंदेरी के राज्यपाल हुसेन फरमुली का वध कर दिया गया। इससे अमीर और अधिक विरोधी बन गए क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि सुल्तान हर प्रकार से उन्हें समाप्त करने पर तुला है।

[illegible] बहादुर खां विद्रोहियों का केन्द्र बिन्दु [illegible] बहादुर खां ने [illegible] एकत्रित हो गए। उसने सुल्तान मुहम्मद की उपाधि धारण कर स्वतन्त्रता घोषित कर दी। उसके नाम का खुत्बा पढ़ा गया तथा सिक्के चलाए गए। सुल्तान इब्राहीम की सेना से पराजित होकर गाजीपुर का राज्यपाल नसीर खां नूहानी भी बिहार के बहादुर खां से आ मिला। इस प्रकार बहादुर की स्थिति और अधिक दृढ़ हो गई। उससे निपटने के लिए इब्राहीम ने एक विशाल सेना भेजी।

सुल्तान ने अपने अमीरों में संदेह उत्पन्न कर दिया और आत्मरक्षा के लिए उनके पास विद्रोह के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। लाहौर के राज्यपाल दौलत खां लोदी का एक पुत्र, जो इस समय सुल्तान के पास आया था, यह जानकर शंकित हो गया कि सुल्तान राज्य के सभी प्रतिष्ठित अमीरों के विरुद्ध कार्यवाही करने का विचार कर रहा है। बंदीगृह में डाल दिए जाने के भय से भयभीत होकर वह अपने पिता के पास भाग गया और उसे स्थिति से अवगत किया। दौलत खां ने इब्राहीम के विरुद्ध आन्दोलन संगठित करना आरम्भ किया और पंजाब के सभी अमीरों और जागीरदारों का सहयोग प्राप्त किया।

इस प्रकार सुल्तान इब्राहीम लोदी के समय में राजसत्ता के लिए जो संघर्ष चला उसमें सिद्धान्त कम और व्यक्तिगत आकांक्षाएं, भय और हठ अधिक था। सुल्तान ने अकुशलता और अव्यवहारिकता से उन अमीरों को भी अपना विरोधी बना लिया जो सिकन्दर लोदी के समय में स्वामिभक्त थे। इब्राहीम भी तुर्कों के समान एक निरंकुश राजतंत्र की स्थापना करना चाहता था परन्तु अफगान सरदार समय की इस मांग को पहचानने में असमर्थ रहे। **आर.पी. त्रिपाठी** का मत है कि जिस सिद्धान्त के लिए इब्राहीम ने संघर्ष किया वह ठोस था परन्तु अवसर और साधन नितान्त त्रुटिपूर्ण थे। इस प्रकार लोदी वंश के समय में बहलोल ने जिन परिस्थितियों में राज्य के स्वरूप की स्थापना की, उसमें इब्राहीम ने आमूल परिवर्तन कर एक नए स्वरूप को सामने रखा जो ठोस होते हुए भी अफगानों द्वारा बाबर को आक्रमण का निमंत्रण देने से न रोक सका।

अध्याय-7

प्रशासनिक संस्थाओं का विकास (Evolution of Administrative Institutions)

दिल्ली सल्तनत की प्रकृति एवं प्रशासन व्यवस्था को समझने के लिए आवश्यक है कि इन संस्थाओं के उद्भव एव विकास का अध्ययन किया जाय, जिनके आधार पर हमें इस विषय को समझने में बहुत सहायता मिलती है। तेरहवीं शताब्दी में तुर्क शासकों द्वारा उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् जिस राज्य पद्धति को लागू किया गया उसमें यद्यपि कई नूतन विशेषताएं थी तो भी यह भारतीय राजनीतिक व्यवस्था से अनमेल नहीं थी। इसलिए ईरान एवं तुर्किस्तान में मुस्लिम शासन के अन्तर्गत विकसित राजनीतिक सिद्धान्तों को तुर्क सुल्तानों द्वारा भारत के नव–विजित क्षेत्रों में लागू किए जाने पर राजनीतिक स्तर पर किसी तरह के असामान्य विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। यह ठीक है कि शासन के प्रारम्भिक वर्षों में इन नवीन सिद्धान्तों की समाज के निचले स्तर तक पहुंच नहीं हो पाई, किन्तु शासन के परवर्ती काल में सम्भवतः भारतीय समाज की समन्वयकारी प्रवृत्ति के कारण ही इसके प्रति किसी प्रकार का विरोध दृष्टिगत नहीं हुआ।

इस्लामी संस्थाओं का उद्भव एवं विकास

तेरहवीं शताब्दी में तुर्क विजेताओं द्वारा मुस्लिम राज्य की स्थापना से पूर्व इस्लाम एवं मुस्लिम राज्य–संस्थाओं को अनेक स्तरों से गुजरना पड़ा और राज्य के विस्तार के साथ ही विविध अनुभवों को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं का विकास हुआ। मुस्लिम राज्य में शासक (**खलीफा**) कुरान एवं पैगम्बर की शिक्षाओं से तथा **शरीयत** एवं मुस्लिम समाज के प्रतिनिधियों के परामर्श से प्रेरणा प्राप्त करता था। पवित्र खलीफाओं के शासनकाल में सभी वर्ग एवं पदाधिकारियों को मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता थी तथा उन्हें समान अधिकार एवं समान न्याय प्राप्त था। **शुरा** (सलाहकार समिति) का आयोजन [illegible] मस्जिद में होता था, जहां पैगम्बर के सभी साथी इकट्ठे होकर सामाजिक विषयों पर होने वाले विचार–विमर्श में [illegible] किन्तु राजनीतिक एवं सामाजिक विषयों पर इस तरह का सामूहिक निर्णय मुस्लिम राज्य के विस्तार के साथ [illegible] गया था। 661 ई. में उमैय्यद वंश (मक्का का बानू–उमैय्या परिवार) द्वारा खलीफा का पद प्राप्त करने के पश्चात् [illegible] राज्य की कार्य विधि एव व्यवस्था में समयानुसार परिवर्तन प्रारम्भ हुए। साथ ही ये परिवर्तन राजनीतिक व्यवस्था में भी [illegible] हुए उमैय्यदों ने खिलाफत को राजतंत्र में परिवर्तित कर दिया। प्रथम उमैय्यद खलीफा मुआविया ने अपने पुत्र यजीद [illegible] उत्तराधिकार के रूप में नियुक्त किया। इसके पश्चात् ही खलीफा द्वारा अपने उत्तराधिकारियों को नियुक्त करने तथा बाद में [illegible] के प्रमुख अमीरों से इस नियम की स्वीकृति प्राप्त करने की परम्परा का प्रारम्भ हुआ जिसका बाद के खलीफाओं ने भी अनुकरण किया।

उमैय्यद शासन काल (661-750 ई.) में न केवल इस्लामी राष्ट्र की सीमा का विस्तार हुआ। अपितु इस काल में राज्य द्वारा शक्ति के केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई। इस्लामी राज्य के विस्तृत क्षेत्र पर नियंत्रण तथा नवविजित क्षेत्रों की नवीन सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं के साथ नीति–निर्धारण कुछ ऐसी समस्याएं थीं, जिनसे निबटना पूर्ववर्ती सरल इस्लामी नीतियों के बल पर संभव नहीं था। उमैय्यद शासन का राजनीतिक ढांचा एवं व्यवहार उन सिद्धान्तों पर आधारित नहीं थे जिनका पवित्र खलीफाओं ने अनुकरण किया था। इस काल में मिस्त्र, सीरिया, ईराक, ईरान आदि में असीमित संख्या में धर्म परिवर्तन हुए तथा एक नवीन वर्ग शासकीय प्रभाव के अन्तर्गत आया। शासक वर्ग में शुद्ध अरब लोग ही शामिल थे। समाज में इनके अतिरिक्त ऐसे लोगों की भी बहुत संख्या थी, जिन्होंने स्वेच्छा से अथवा अन्य कारणों से इस्लाम स्वीकार कर लिया था। सैद्धान्तिक रूप से इन्हें इस्लामी नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। इस्लामी शिक्षाओं के आधार पर सभी मुसलमानों में समानता का अधिकार होने के कथन को यह नया वर्ग व्यवहारिक रूप में देखना चाहता था। **मवाली** जो अधिकांशतः ईरानी मूल के थे, राज्य में अपनी निम्न स्थिति एवं अपने अरब मालिकों के अंहकारपूर्ण व्यवहार से बड़े ही असन्तुष्ट थे। वे अपने नेता मुख्तार को ध्यान से सुनते थे जिसने **महदी** (उचित मार्ग दर्शक) के आगमन का आश्वासन दिया था। **मवाली** लोग सम्भवतः समृद्धि तथा विद्वता में अरब लोगों से बढ़-चढ़ कर

थे। इस तरह मवाली एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आए, जिन्होंने अरब शासकीय वर्ग की उत्कृष्टता को चुनौती दी। ईरान के अमीर हल्लाज द्वारा इन पर जजिया लगाने के निर्णय से (यह कर गैर मुस्लिम लोगों पर ही लगाया जाता था) मवाली लोगों का विरोध और तेज हो गया। उमैय्यद शासनकाल मे अरबों की विशेषाधिकारपूर्ण स्थिति तथा समाज में उच्च सैनिक कुलीनता की प्रतिष्ठा ने राजनीतिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टियों से असह्य परिस्थितियां पैदा कर दी थीं। अब मुस्लिम खुरासानी के नेतृत्व में उमैय्यद श्रेष्ठता के विरुद्ध सैनिक अभियान का संचालन हुआ तथा कूफा (ईराक) में प्रवेश करने के पश्चात् अबुल अब्बास को स्वामिभक्तों के सेवा के रूप में गद्दी पर बैठाया गया।

इस तरह 750 ई. में अब्बासिद खिलाफत की स्थापना हुई तथा सीरिया के स्थान पर ईराक, इस्लाम का राजनीतिक केन्द्र बन गया। अब्बासिदों ने इस्लाम में नवीन व्यवस्था तथा राज्य की स्थापना पवित्र मुस्लिम सिद्धान्तों के आधार पर करने की घोषणा की। वास्तव में सीरिया के स्थान पर ईराक का राजनीतिक केन्द्र के रूप में परिवर्तन होना निरकुंश राजतंत्र की व्यवस्था की प्रक्रिया को आगे बढ़ाना था जिसके तत्व उमैय्यद शासनकाल में परिलक्षित होने लग गए थे। अब्बासिद शासनकाल में राजनीतिक सत्ता के सृजन के लिए दैवीय सिद्धान्त का विकास हुआ। इसमें इस्लामी राज्य के सिद्धान्तों को परिस्थितियों के अनुसार ढाला गया था।

दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक एक अब्बासिद राज्य के विघटन के लिए वे सभी आवश्यक तत्व उद्भव हो चुके थे जिनसे छोटे–छोटे मुस्लिम राज्य अस्तित्व में आए। इन राज्यों में तहरीद (820-872 ई.) सफविद (863-903 ई.) समानिद (874-999 ई.) तथा बुआहिद (945-1055 ई.) के नाम विशेष प्रमुख हैं। प्रारम्भ में इन राज्यों ने खलीफा को मान्यता दी, किन्तु व्यवहार में यहां के शासक सर्वशक्तिमान थे। कालान्तर में खलीफा का नाम भी लुप्त हो गया। इन राज्यों के अदृश्य होने पर तुर्की–फारस साम्राज्यों का उदय हुआ, जिनमें गज़नी (999-1040 ई.); सैल्जुक (1037-1157 ई.) तथा ख्वारिज साम्राज्य के (1157-1231 ई.) के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने मध्यकालीन भारतीय संस्थाओं को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में प्रभावित किया। सैल्जुक साम्राज्य के विघटन से उदित गौर–राज्य के शासक शिहाबुद्दीन के छोटे भाई, गज़नी के शासक, मुईजुद्दीन को था, जिसे मुहम्मद, बिन–साम के नाम से जाना जाता है।

वस्तुतः गौरी शासक मुईजुद्दीन की भारत में विजय तथा उसके द्वारा विजित क्षेत्रों पर 1206 ई. में उसकी मृत्यु के उपरांत उसके दास शासकों का नियंत्रण रहा। शिहाबुद्दीन गोरी के कोई पुत्र न था वह अपने दासों को ही अपने पुत्रों के समान समझता था। उसका कहना था कि उसके ये तुर्क गुलाम ही उसके मरणोपरांत उसके नाम पर उसके साम्राज्य पर शासन करेंगे। इस तरह से प्रारम्भिक तुर्क शासक वर्ग का उद्भव हुआ जिसने मध्यकाल में दिल्ली सल्तनत को संगठित किया। इस संदर्भ में यह बताना उचित होगा कि गज़नी साम्राज्य का प्रभाव दिल्ली सल्तनत की राजनीति एवं प्रशासनिक संस्थाओं पर अवश्यम्भावी था विशेषकर इसलिए भी कि गौरी शासकों ने अपने प्रशासन तंत्र में गज़नी का अनुकरण किया था वस्तुतः गौरी अधिकृत क्षेत्रों में यह विशिष्टता देखने को मिलती है कि उन्होंने गज़नी परम्परा का अनुकरण करते हुए भी स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों को यथावत्, रखा तथा गौर प्रदेश में रहने वाले गैर–मुस्लिम की अपेक्षा अधिक व्यापक था।

गज़नी साम्राज्य के इतिहास के अध्ययन से दो महत्वपूर्ण तथ्य उभर कर सामने आते हैं। प्रथम यह कि, सत्ताकांक्षी किसी भी व्यक्ति की योग्यता का मापदण्ड वंशानुगत अधिकार का दावा अथवा पद प्राप्ति उसकी प्रशासनिक क्षमता पर निर्भर थी। किन्तु सुबुक्तगीत के शासनकाल, विशेषकर महमूद के बाद, जैसा कि **आर. पी. त्रिपाठी** लिखते हैं, वंशानुगत अधिकार निर्णायक तथा योग्यता गौण तत्व बन चला। वास्तव में महमूद गज़नी की प्रतिष्ठा उसके वंश के शासकीय अधिकार को स्थापित करने में सफल हुई थी। किन्तु शासक के पुत्रों एवं अन्य परिजनों में उत्तराधिकारी पद का निर्णय नहीं किया गया था। ऐसी स्थिति में जिस युवराज के साथ सर्वाधिक अनुयायी होते, राज्याधिकार प्राप्ति की सम्भावना उसके पक्ष में प्रबल होती थी। द्वितीय महत्वपूर्ण प्रयोग साम्राज्य के बंटवारे से संबंधित नीति का है। महमूद गज़नी अपने भाई का क्षेत्र शासन के लिए सौंपने का विचार रखता था, किन्तु साम्राज्य विभाजन के इस विचार का गज़नी में कोई प्रोत्साहन नहीं मिल सका। इस धारणा को गोरी शासकों ने सफलता के साथ क्रियान्वित किया। इतिहास प्रसिद्ध गौरी बन्धु गियासुद्दीन एवं मुईजुद्दीन ने सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों के साथ विशाल साम्राज्य पर शासन किया। सिक्कों पर दोनों भाइयों के नाम अंकित हुए। गज़नी में पूर्णतः स्वतन्त्र होते हुए भी मुईजुद्दीन ने अपने भाई की सर्वोच्चता स्वीकार की तथा अन्तिम समय तक उसके प्रति वफादार बना रहा इन दोनों के सम्बन्धों का आधार व्यक्तिगत था। अपने भाई गियासुद्दीन के मरणोपरांत यद्यपि मुईजुद्दीन ने गियासुद्दीन द्वारा नियंत्रित क्षेत्र उसके दामाद को देकर उत्तराधिकार की समस्या एवं राज्य–विभाजन की नीति का सूत्रपात किया किन्तु स्पष्टतः यह व्यवस्था उत्तराधिकार के सिद्धान्त के लिए कोई स्वस्थ परम्परा

नहीं थी। मुईजुद्दीन की मृत्यु के उपरांत उसके दासों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में उत्तराधिकार के रूप मे दावे प्रस्तुत करने हुए विभिन्न क्षेत्रों पर अपना अधिकार कर लिया गया था। इस तरह महमूद गज़नी द्वारा राजसत्ता पर वंशानुगत अधिकार की परम्परा मुईजुद्दीन की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो चला और शक्ति एवं निर्वाचन द्वारा शासक बनने बनाने की परम्परा प्रतिष्ठित हो गई। इस तरह सुल्तान द्वारा अपने उत्तराधिकारी को निर्वाचित करने की व्यवस्था जो गजनी एवं गौरी दोनों शासनकालों में प्रचलित थी सदैव के लिए समाप्त हो गई। यही कारण है कि भारत में सल्तनत काल इतिहास राजसत्ता के लिए निरन्तर संघर्ष का इतिहास बना रहा।

दिल्ली सल्तनत के आधीन प्रशासनिक संस्थाओं का विकास

1000 ई. में राजपूतों के सामाजिक और राजनीतिक ढांचे के कारण सम्पूर्ण उत्तरी भारत में जो शून्यता व्याप्त हो गई थी उसे तुर्कों राजनीतिक ढांचे के द्वारा बहुत हद तक भरने का प्रयत्न किया गया। तुर्की आक्रमणकारी निजी सिद्धान्तों के प्रति अपनी निष्ठा और पवित्रता को बनाए रखकर ही अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे। भारत में उनके बस जाने के बावजूद शासकों और जनता ने उन्हें तब तक मान्यता प्रदान नहीं की जब तक उन्होंने शक्ति का प्रदर्शन करते हुए अपनी सैनिक कुशलता को सिद्ध नहीं किया। इन परिस्थितियों में सम्पूर्ण प्रशासकीय उत्तरदायित्वों को अपने ऊपर ले लेना और उन्हें अपने ढंग से लागू करना उनके लिए सम्भव नहीं था ऐसी स्थिति में उनके लिए केवल यही सम्भव था कि वे कुछ स्थानीय व्यक्तियों को अपने पक्ष में कर ले व स्थापित ढांचे को ज्यों का त्यों बना रहने दें। तुर्कों द्वारा स्थापित सरकार एक ऐसी सरकार थी जिसमें एक ओर तो राजनीतिक सिद्धान्त एवं अनुभवों को स्थान मिला व दूसरी ओर राजपूतों द्वारा स्थापित भारतीय प्रशासनिक संस्था के बीच एक समझौता भी हुआ

दिल्ली सल्तनत के संगठनकर्त्ताओं को विस्तार व प्रतिरक्षा की समस्याओं में अधिकतर व्यस्त रहना पड़ता था। वास्तव में सैनिक समस्याएं पूरी शताब्दी भर बनी रही। इन परिस्थितियों में राज्य को संगठन में अधिपत्य सेना के समान होना पड़ा अतएव वह मुख्यतया सैनिक हो गया। उसके असैनिक (Civil) कार्यों का विकास केवल शनैः शनैः और सुरक्षा समस्याओं के विलोम अनुपात में हुआ। जैसा कि **हबीबुल्ला** लिखते हैं, सल्तनत की मूल संरचना में कोई नियोजन नहीं दृष्टिगोचर होता था विजेता अपनी मातृभूमि और फारस से संस्थायें लाए थे जिनमें से अधिकतर गजनवियों के पंजाब में पहले से प्रचलित थी और जो, नाम के अतिरिक्त भारतीय प्रथा में ज्ञात थी। मलूकों ने उस समय की प्रचलित शासकीय धारणाओं और आदतों में अल्पमत हस्तक्षेप के साथ अपना राज आरम्भ किया। विजय द्वारा प्रेरित परिवर्तन राजनीतिक अधिक था और प्रशासनिक कम। स्थानीय सरकार और राजस्व प्रथा के जिन ब्यौरों में नई सरकार आरम्भ में विजित लोगों को प्रभावित करती है उनमें अमल ममलूकों ने कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया। जो मामले न्यूनाधिक केवल विजेताओं से सम्बन्धित थे जैसे केन्द्रीय प्रशासन, सेना और न्यायिक सगठन, उनमें अपनी परिचित संस्थाओं और प्रथाओं को प्रारम्भ करना उनके लिए स्वभाविक था। ज्यों–ज्यों समय बीतता गया, विजेताओं का अपनी मातृभूति से सम्बन्ध टूटता गया और भारतीय जीवन से उनका सम्पर्क बढ़ता गया और ज्यों–ज्यों उनकी प्रभुता गावों की ओर फैलती और स्थायी होती गई त्यों–त्यों यह अनुभव होने लगा कि इस प्रकार का कामचलाऊ शासन बहुत अपर्याप्त है। उनके अपने समाज में नई समस्याएं उठीं और बदलती हुई सैनिक परिस्थिति के लिए नये संमजनों की आवश्यकता थी तथापि न तो कोई प्रशासनिक नियोजन किया जा सकता था और न उसका कार्यान्वयन किया जा सकता था परिस्थिति ऐसी थी कि केवल कामचलाऊ समाधान सम्भव हो सकता था। अतएव ममलूक प्रशासनिक संस्थाएं प्रयोगों एवं प्रवृत्तियों का एक क्रम था जिसने कैसी व्यापक प्रणाली का रूप नहीं धारण किया जब तक एक नया राजवंश सत्तारूढ़ नहीं हुआ।

तेरहवीं शताब्दी की मुस्लिम प्रशासनिक संस्थाओं का विवरण है उसका अभिप्राय इस मध्य मार्ग व कामचलाऊ स्वरूप को स्पष्ट करना है। इतिहासकार सैनिक घटनाओं के वर्णन करने में इतने व्यस्त थे कि उन्होंने संस्थाओं और क्रियाविधियों का पूर्ण विवरण नहीं दिया है जिससे हमें उनका पूर्ण ज्ञान नहीं है। इन संस्थाओं के अभारतीय वातावरण का अध्ययन करके हमें उपरोक्त कमी की पूर्ति करनी पड़ेगी। जो भारतीय मुस्लिम (Indo-Muslim) प्रशासन का प्रारम्भ बिन्दु रहा होगा।

भारतीय शासन परम्परा के अनुरूप मुस्लिम राज्य का आधार भी धर्म शास्त्र हैं। मुसलमानों का विश्वास है कि कुरान में अल्लाह की जो शिक्षाएं और आदेश सचित हैं, उनमें सर्वकाल एवं सर्व देशों के लिए उपयुक्त निर्देश हैं। उन्हीं के आधार पर इस्लामी राज्य व शासन का संगठन हुआ है अथवा होना चाहिए था। समय बीतने पर जब केवल कुरान की शिक्षाओं के अनुसार सभी समस्याओं को सुलझाना सभव नहीं हुआ तब पैगम्बर हजरत मुहम्मद के प्रामाणिक कार्यों एवं कथनों का सहारा लिया गया। इन्हें **हदीस** कहा जाता है। **कुरान** और **हदीस** के आधार पर विभिन्न अवस्थाओं एवं देशों मे उपस्थित समस्याओं का समाधान करने तत्कालीन धार्मिक वर्ग उलमा वर्ग ने व्यवस्थाओं दी हैं। वे व्यवस्थाए भी इस्लामी कानून में मान्यता पा गई हैं।

मुसलमानों में **अबू हनीफा, शफी, मलिक हनबल, अबू युसुफ, मावर्दी** आदि प्रकाण्ड विद्वान हुए, जिन्होंने मुस्लिम धर्मशास्त्र तथा उस समय तक के मुस्लिम इतिहास एवं साहित्य के आधार पर शासन संबंधी अपने विचार प्रकट किए हैं। इन सबको मिलाकर ही मुस्लिम राजनीतिक सिद्धान्तों की व्याख्या की जा सकती है।

कुरान के अनुसार अखिल विश्व का वास्तविक मालिक और सम्राट अल्लाह है इसलिए सभी का कर्तव्य है कि अल्लाह की आज्ञा का पालन करें। अल्लाह ने अपनी आज्ञाएं व्यक्त करने के लिए सभी देशों में और सभी कालों में अपने दूत भेजे। हजरत मुहम्मद उसके भेजे हुए अंतिम दूत हैं इस्लाम में आज्ञापालन का बहुत महत्व दर्शाया गया है। पैगम्बर की आज्ञा मानना अल्लाह की आज्ञा मानने के तुल्य है परन्तु पैगम्बर के लिए अल्लाह की आज्ञा मानना अनिवार्य बनाया गया। पैगम्बर के बाद इस्लामी समाज के शासक खलीफा हुए। उनके लिए भी यह आवश्यक था कि वे लोकहित का ध्यान रखते हुए धर्मिक निर्देशों के अनुसार शासन करें। मुस्लिम विचारकों ने यह मत व्यक्त किया कि यदि इमाम (राजनीतिक नेता) अपने दायित्व का पालन न करे तो जनता का कर्तव्य है कि उसे पदच्युत कर दे। इस्लाम मानता है कि जिस प्रकार ईश्वर एक है, उनका पैगम्बर एक है, उनकी शिक्षा का संकलन एक पुस्तक में है, उसी भांति समस्त इस्लामी समाज का शासक भी एक होना चाहिए। इस्लाम में पहले चार खलीफाओं, **अबू बक्र, उमर, उसमान** व **अली** का शासनकाल पवित्र खिलाफत काल कहलाता है, जबकि अल्लाह व पैगम्बर के आदेशों, निर्देशों के साथ विधिवत शासन चलाया गया पर परवर्ती खलीफाओं—उमैय्यद व अब्बासी—के समय शासन के स्वरूप में परिवर्तन प्रारम्भ हो गए व राज्य का स्वरूप खिलाफत से राजतंत्र में परिवर्तित हो गया। बाद के तुर्क सुल्तानों ने अब्बासी खलीफाओं के समय की संस्थाओं का अनुकरण करते हुए राज्य का संगठन किया।

हिन्दुस्तान में मुस्लिम साम्राज्य की नींव तुर्की शासकों द्वारा **सुल्तान** की उपाधि धारण करने के साथ शुरू होती है। इस उपाधि का चलन तब तक रहा जब तक बाबर द्वारा **पादशाह** की उपाधि को धारण नहीं किया गया था कुरान में इसका उल्लेख शक्ति, प्रभुत्व आदि के संदर्भ में किया गया है किन्तु परवर्ती कालों में इस शब्द का अर्थ रूढ़िवादी होता गया और धीरे–धीरे सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त किसी एक व्यक्ति को ही सुल्तान कहा जाने लगा। यह भी सत्य है कि जब खिलाफत का विघटन शुरू हुआ तब विभिन्न प्रदेशों के स्वतन्त्र मुस्लिम शासकों ने सुल्तान उपाधि को धारण किया यह तथ्य है कि महमूद गजनवी पहला स्वतंत्र शासक था जिसने अपने आप को सुल्तान उपाधि से विभूषित किया था। किन्तु जब मुसलमानों ने हिन्दुस्तान में विजय प्राप्त की तब सुल्तान शब्द हर स्वतन्त्र शासक की एक मान्य उपाधि बन गया।

खलीफा व दिल्ली सल्तनत--सुल्तान व खलीफा के सम्बन्धों को लेकर विद्वानों में प्रश्न उठते रहे हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि [illegible] आधारित है कि सल्तनत काल के सभी सुल्तान [illegible] का प्रतिनिधि था। बिना खलीफा के आज्ञापत्र के मुस्लिम जगत का कोई शासक सुल्तान की उपाधि धारण नहीं कर सकता था।

दसवीं शताब्दी में अब्बासी खिलाफत इस्लाम की केवल मूलभूत ईकाई के प्रतीक के रूप में जीवित थी और प्रत्येक मुस्लिम शासक पर खलीफा की प्रतीकात्मक राजभक्ति का आभार था। 1258 ई. में मंगोल नेता हलाकू खां ने अंतिम अब्बासी खलीफा अल–मुस्तसिम का वध कर दिया और इस प्रकार खिलाफत का अन्त हो गया। अल–मुस्तसिम वंश के बचे हुए व्यक्तियों ने मिस्र के ममलूक सुल्तान के दरबार में आश्रय ले लिया और ममलूक सुल्तान ने उन्हें आध्यात्मिक अधिकारी के रूप में स्वीकार भी कर लिया। मिस्र के खलीफाओं का वंश क्रम 1517 ई. तक चला और सोलहवीं शताब्दी से कुस्तुनतुनिया के ऑटोमन सुल्तानों ने खलीफा की उपाधि को धारण किया। बगदाद के पतन के बाद खलीफा राजनीतिक क्षमता तो खो बैठे थे किन्तु उन्होंने अपने सम्मानित राजनीतिक अधिकार को नहीं त्यागा था।

सामान्य मुस्लिम जनता यह समझती थी कि खलीफा के प्रति आदर दिखाना सुल्तान का कर्त्तव्य है और जिस सुल्तान को खलीफा की स्वीकृति प्राप्त हो अथवा जो खलीफा का सहायक अथवा नायक हो, उसका विरोध करना धर्म विरुद्ध है। इस भ्रम से लाभ उठाने के लिए ही अधीनता का दिखावा किया जाता था किन्तु सच यही है कि उसे आंतरिक शासन में कोई हस्तक्षेप करने का अवसर नहीं मिलता था।

सल्तनत काल में इल्तुतमिश प्रथम सुल्तान था जिसने बगदाद के खलीफा द्वारा मान्यता प्राप्त की। खलीफा ने इल्तुतमिश को उन सारे क्षेत्रों के शासक के रूप में मान्यता दे दी थी जिन्हें उसने जीता था। **त्रिपाठी** लिखते हैं कि इस स्वीकृति ने न केवल सल्तनत

को खिलाफत की कल्पना से बांध दिया अपितु कानूनी रूप में खलीफा द्वारा स्वीकृति को मान्य ठहराया। इसका यह अर्थ नहीं उचित न होगा कि उसने अपने राज्य को खिलाफत का एक अंग अथवा खलीफा को अधिराज स्वीकार कर लिया। इसका कारण यह है कि बंगाल के शासक ग्यासुद्दीन, जिसे इल्तुतमिश की तरह ही खलीफा से मान्यता प्राप्त थी, के ऊपर उसने आक्रमण करने में हिचकिचाहट नहीं की व बंगाल को दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत ले लिया। कानूनी रूप से ये दोनों ही खलीफा के नायब रहे हैं अतः दोनों की स्थिति भी एक ही है।

खलीफा के पद का मान सदा बना रहा। अधिकांश सुल्तान खलीफा को ही वैधानिक शासक मानने का दिखावा करते रहे व स्वयं को उसका नायब अथवा प्रतिनिधि स्वीकार करते रहे। प्रायः सभी सुल्तान खलीफा के नाम को **खुतबे** व **सिक्के** में स्थान देते थे। इल्तुतमिश, अलाउद्दीन और ग्यासुद्दीन तुगलक अपने को '**नासिर-अमीर-उल-मोमनी**' (खलीफा का सहायक) कहते थे। अलाउद्दीन खिलजी की दूसरी उपाधि थी '**यामीन उल-खिलाफत**' (खलीफा का दाहिन हाथ) बल्बन ने यद्यपि स्वयं को '**जिल्ले अल्लाह**' (ईश्वर की छाया) व '**नियाबते खुदाई**' (ईश्वर का प्रतिनिधि) माना पर वह भी खलीफा की राजनीतिक सत्ता को मान्यता देता था। अपनी राजनीतिक शक्ति के प्रयोग के लिया वह खलीफा की अनुमति प्राप्त करने की चर्चा करता था। मंगोलों ने खिलाफत को नष्ट कर दिया था तथा खलीफा की हत्या की जा चुकी थी फिर भी खलीफा के स्मरण के लिए अपने सिक्कों पर उसने खलीफा का नाम अंकित किया व खुतबे में उसका नाम पढ़ा जाता था। मुहम्मद तुगलक ने प्रारम्भ में खलीफा के नाम की कहीं चर्चा तक नहीं की परन्तु अपने शासनकाल के अंतिम दिनों में उसने खिलाफत से अपने पद के लिए मान्यता प्राप्त करने की प्रार्थना की थी। सिर्फ यही नहीं, उसने सिक्कों से अपना नाम हटाकर उसके स्थान पर खलीफा का नाम खुदवाया परन्तु इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि सुल्तान ने एक वर्ग को सन्तुष्ट कने के लिए यह चेष्टा की हो। जब मुहम्मद तुगलक ने देखा कि उसकी दमन नीति बावजूद राज्य में अशांति है तो उसने अशांति को समाप्त करने के लिए खलीफा का नाम सिक्के पर खुदवाया और खुतबे में खलीफा का नाम भी पढ़ा जाने लगा। परन्तु इससे भी मुहम्मद तुगलक अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ। फिरोज तुगलक ने **मिस्र** के नाममात्र के खलीफा के प्रति श्रद्धा प्रकट की। ऐसा प्रतीत होता है कि खलीफा के नाम को सिक्कों में अंकित करना अथवा उनका अन्य गुणसूचक शब्द का व्यवहार में लाना एक परम्परा बन गई थी। अलाउद्दीन का पुत्र मुबारक खिलजी पहला सुल्तान था जिसने खिलाफत की कल्पना को तोड़ा और साथ ही साथ यह घोषणा भी की थी कि दिल्ली सल्तनत स्वयं प्रभु है इसके साथ ही उसने स्वयं को खलीफा घोषित किया।

सैयद वंश (1414-51 ई.) तथा लोदी वंश (1451-1526 ई.) के सिक्कों पर जो उपाख्यान मिलते हैं उनका कोई विशेष अर्थ नहीं है ऐसा लगता है कि उनको सुशोभित करने के लिए इनका व्यवहार किया गया है। विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि खिलाफत व्यवहारिक या सैद्धान्तिक रूप में दिल्ली सल्तनत के ऊपर कोई प्रभाव न डाल सकी।

इस प्रकार सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि सुल्तान खलीफा के प्रति श्रद्धा प्रकट करते थे व उसके इस विशेषाधिकार को स्वीकार करने का दिखावा किया जाता था परन्तु इससे खलीफाओं को कभी सल्तनत के कार्यों में हस्तक्षेप करने का अवसर प्राप्त नहीं होता था। अब्बासी खलीफाओं के साथ सम्बन्ध जोड़ने का केवल यही कारण था कि मुस्लिम के अन्य मुस्लिम दिनों का स्मरण किया जा सके। इस संबंध को घोषित करने का मतलब यह नहीं है कि अब्बासी खलीफा की प्रभुता को उन्होंने स्वीकार किया।

विजारत—विजारत ऐसी संस्था थी जिसे इस्लामी संविधान में मान्यता दी गई थी। मुस्लिम शासकों के अधीन मन्त्री–परिषद अथवा मन्त्री–गोष्ठी के लिए जो नाम व्यवहार में लाए गए थे उन्हें विजारत की संज्ञा दी गई थी। किन्तु उन शासकों के समय विजारत का अर्थ एक ही मंत्री था जो सम्राट का परामर्शदाता बन सकता था। वजीर उन लोगों को कहा जाता है जो राजा तथा प्रजा के बीच की कड़ी बन जाते थे। अतः उनके लिए आवश्यक था कि वे राजा की प्रकृति के बारे में जानकारी रखें एवं जनता की प्रकृति के बारे में जाने ताकि वे दोनों पक्षों को भली–भांति संभाल सके। **अल-मावर्दी** ने वजीरों को दो श्रेणियों में विभक्त किया--(1) **वजीर-तफवीद** और (2) **वजीर तनफीज**। प्रथम वजीर तफवीद (असीमित अधिकारों वाले) बजीर खलीफा द्वारा अपना उत्तरदायित्व मनोनीत करने की शक्ति को छोड़कर उसकी समस्त शक्तियों का उपभोग करते थे। उनसे केवल यह अपेक्षा की जाती थी कि वह जो कुछ भी करे, उसकी सूचना खलीफा को दें। वह केवल खलीफा द्वारा नियुक्त पदाधिकारी को पदच्युत नहीं कर सकता था। दूसरी ओर वह खलीफा के नाम पर किसी पदाधिकारी को नियुक्त करने की शक्ति थी।

वजीर **तनफीज** अर्थात् सीमित अधिकारों वाले वजीर की शक्तियां उतनी व्यापक व विस्तृत न थीं। वह केवल खलीफा के आदेश के पालन एवं उनके अनुपदेशों के अनुसार काम करने का अधिकार रखता था। वजीरों से यह अपेक्षा भी की जाती थी कि उन्हें प्रशासन और कराधान तथा प्रान्तों की स्थानीय स्थितियों की पूरी जानकारी हो।

विजारत को एक संस्था के रूप में अपनाने की प्रेरणा अब्बासी खलीफाओं ने फारस से ली ओर उनके अधीन यह एक महत्वपूर्ण संस्था बन गई। स्वयं बीतने पर जब खलीफाओं ने भोग विलास का जीवन व्यतीत करना शुरू किया और उनके पास प्रशासन को देखने का समय न रहा तब वजीर ने सम्पूर्ण दायित्व अपने अपर लेकर खलीफा को परेशान किए बिना शासन व्यवस्था की देखभाल अपने हाथ में ले ली। जब गजनी ने फारस के राजवंश से अपने आपको स्वतंत्र कर लिया तब महमूद ने स्वतंत्र व शक्तिशाली सुल्तान की नींव डाली। उसके काल में अब्बास फजल बिना अहमद प्रथम वजीर हुए जो शासन व्यवस्था चलाने में निपुण थे। महमूद ने इनके अपर राज्य शासन तथा सैनिक विभाग का शासन–भार सौंपा था। गजनवी के प्रारम्भिक काल में वजीर का पद सबसे ऊंचा व समानित पद था। महमूद के उत्तराधिकारी के काल में वजीर केन्द्रीय सरकार में राजस्व तथा आर्थिक विभाग की देखभाल करता था एवं साथ–साथ प्रादेशिक शासन–व्यवस्था की भी देखभाल करता था।

शासनतंत्र को सुव्यवस्थित करना, राज्य के वैभव को बढ़ाना धन संग्रह करना, अधिकारियों की नियुक्ति करना, हिसाब किताब की जानकारी प्राप्त करना, कारखानों में वस्तुओं का प्रबंध करना, शाही जानवरों के पंजीकरण का निरीक्षण, शाही सेवकों के लिए वेतन क प्रबंध करना, विद्वान व असहाय व्यक्तियों की देख–रेख आदि वजीर के प्रमुख कार्य थे। सल्तनतकाल में वजीरों के अधिकर एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि होती रही तथापि प्रशासन व वित्त प्रमुख के रूप में वजीर का पद कायम रहा। यद्यपि वजीर पर सैनिक नेतृत्व का भार सौंपने का उल्लेख भी मिलता है तथापि सैनिक नेतृत्व का कार्य वजीर के निर्धारित कार्यों में नहीं था। आधारभूत रूप में उसका कार्य नागरिक प्रशासन था। **बरनी** कहता है "इमामत (नेतृत्व) बादशाओं का कार्य है, विजारत वजीरों का कार्य है।" वजीर की शक्ति का आधार युद्धरत सैनिकों में नहीं अपितु सुल्तान की विश्वसनीयता तथा स्वयं की प्रतिष्ठा व चातुर्य में निहित था।

प्रारम्भिक मुस्लिम सुल्तान सामान्य शासन व्यवस्था तथा सैनिक व्यवस्था के बीच कोई स्पष्ट अन्तर नहीं रख सके। **फखरूल मुल्क इमामी** जो तीस साल तक बगदाद के दरबार में ऊंचे पद पर रह चुका था उसे इल्तुतमिश ने कुछ समय के लिए वजीर के रूप में नियुक्त किया था। इससे ज्ञात होता है कि इल्तुतमिश की चेष्टा थी। कि अच्छे योद्धा की अपेक्षा योग्य व्यक्ति को वजीर के पद पर नियुक्त किया जाए। जबकि उसका प्रथम वजीर जैसा कि **मिनहाज** बताते हैं निजामुल्मुल्क की संज्ञा से संबोधित किया जाता था और वह सैनिक अभियानों में विशेष रूप से सक्रिय था। इस आधार पर **आर. पी त्रिपाठी** का मत है कि इल्तुतमिश के समय में वजीर का स्वरूप स्पष्टतः प्रमाणित नहीं हो पाया था।

इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय वजीर ने अधिक शक्ति ग्रहण की। वजीर ख्वाजा मुहज्जब शक्ति के इस केन्द्रीय करण का प्रमाण है। बहरामशाह (1240-42) व अलाउद्दीन मसूदशाह (1242-46 ई.) के राज्यकाल में उसने अत्यधिक शक्ति प्राप्त की। **मिनहाज** कहता है कि "सुल्तान की इच्छा के विरुद्ध भी अपने पद पर बने रहना उसकी कूटनीति की पराकाष्ठा थी।" फिर बल्बन के समय वजीर की शक्तियां निम्नतम बिन्दु पर जा पहुंची। इसका कारण यह था कि सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के नायब के रूप में उसने इतनी अधिक शक्तियों का उपयोग किया कि वह सुल्तान व वजीर दोनों पर छा गया। **यू. एन. डे.** कहते हैं कि उसकी स्थिति अब्बासी, खलीफाओं के वजीर **तफवीद** के समान हो गई थी। ऐसी स्थिति में जैसा कि **बरनी** बताता है कि सुल्तान के रूप में बल्बन ने यह विचार पसन्द नहीं किया कि वजीर अधिक शक्तियों का उपभोग करें। इसलिए ख्वाजा हसन बसरी वजीर के रूप में नियुक्त होने पर भी उभर न सका। त्रिपाठी का मत है कि वजीरों की बढ़ती आकांक्षाओं को देखते हुए ही बल्बन ने ख्वाजा हसन जैसे औसत श्रेणी के व्यक्ति को वजीर नियुक्त करना अधिक उपयोगी समझा।

जलालुद्दीन खलजी ने वजीर पद को पुनः प्रतिष्ठित बनाने की चेष्टा की। जैसा कि **बरनी** बताता है ख्वाजा खातिर को वजीर के रूप में नियुक्त किया। वह बल्बन के समय में नायब (सहायक वजीर) था वह अलाउद्दीन के राज्यरोहण के बाद भी वजीर के पद पर रहा। अलाउद्दीन ने इसके बाद नुसरत खां को वजीर के पद पर नियुक्त किया। उसकी मृत्यु के बाद मलिक काफूर को नायब के पद पर आमंत्रित किया गया। ऐसी स्थिति में वजीर पद की विशिष्टता नहीं रही। एक शक्तिशाली सेनानायक ताजुलमुल्क काफरी को सुल्तान के वजीर के रूप में जाना जाता रहा। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वजीर पद के लिए सैनिक सफलता का होना अति आवश्यक समझा गया।

तुगलक काल में ग्यासुद्दीन तुगलक ने एक नया प्रयोग किया। उसने राज्यारोहण के पश्चात् मलिक शादी को वजीर बनाया पर **त्रिपाठी** के अनुसार वह दिन–प्रतिदिन के कार्यों को देखता तथा जबकि नए प्रयोग के अन्तर्गत परामर्श के लिए भूतपूर्व वजीरों–ख्वाजा खातिर, ख्वाजा मुहज्जब व निजामुल्मुल्क जुनैदी को सम्मानपूर्वक आमंत्रित किया गया। वह न केवल इनसे महत्वपूर्ण मामलों पर सलाद लेता बल्कि उनके विचारों को महत्व देता था।

ग्यासुद्दीन की नीति का कुछ भी अनुभव रहा हो, परन्तु इतना स्पष्ट है कि मुहम्मद तुगलक ने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को लागू किया। उसन एक कुशल व्यक्ति ख्वाजा जहा को वजीर बनाया जो उसके सम्पूर्ण शासन--काल मे वजीर बना रहा। बरनी बताते हैं कि तुगलक काल में वजीर पद का न केवल महत्व बढ़ा, बल्कि फिरोज तुगलक के समय चरम शिखर पर पहुंच गया। बरनी बताता है कि सुल्तान उसके कार्य से इतना प्रसन्न था कि वह अक्सर कहा करता था कि खान--ए--जहां मकबूल ही वास्तविक रूप से शासक हैं। **यू. एन. डे** की मान्यता है कि खान--ए--जहां मकबूल की विजारत सम्पूर्ण सल्तनत काल म वजीर के शक्ति की परकाष्ठा बिन्दु है। परवर्ती तुगलक काल में सुल्तानों की निर्बलता के कारण वजीर और भी शक्तिशाली होने लगा यहां तक कि वे सामान्यतः शासन विभाग व सैनिक विभाग दोनों के ही प्रधान बन बैठे। अंतिम तुगलक सुल्तान नासिरूद्दीन महमूद के शासनकाल में **वकील-ए-सल्तनत** नामक नए पद की उत्पत्ति हुई। इस पद के अधिकारी को सामान्य शासन--व्यवस्था तथा राजकीय व्यवहार की देखभाल करनी पड़ती थी। इस पद की उत्पत्ति के समय उससे यह आशा की जाती थी कि वह वजीर की सहायता करेगा लेकिन धीरे--धीरे उसने वजीर की समस्त शक्तियां अपने हाथों में केन्द्रित कर लीं। यद्यपि यह नया कार्यालय कुछ दिन के लिए ही टिका था।

सैय्यदों के समय वजीर मुख्य रूप से एक सैनिक अधिकारी के रूप में उभरा परन्तु इसके बाद भी वह वित्तीय उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हुआ। इस समय वजीर सेनाध्यक्ष के साथ ही वित्त मंत्री व आडिटर--जनरल भी था। **फरिश्ता** बताता है कि शक्ति के एक ही हाथ में केन्द्रीयकरण होने के कारण वित्त व्यवस्था को नुकसान पहुंचा होगा और इसलिए मुबारक शाह ने अलग से ही आडिटर--जनरल की नियुक्ति कर वजीर को एकमात्र वित्त--व्यवस्था का उत्तरदायित्व सौंपा।

सैय्यदों के उत्तराधिकारी लोदी सुल्तान कबीले तथा प्रजातंत्रीय परम्पराओं में पाले गए थे। वे वजीर की अपेक्षा विभिन्न कबीलों के प्रमुखों से मिलकर शासन चलाने में विश्वास करते थे। इसलिए लोदियों ने तुर्की राज्यों के आडम्बरों को पसन्द नहीं किया। सम्भवतः प्रथम लोदी शासक बहलोल लोदी ने किसी वजीर की नियुक्ति नहीं की। **त्रिपाठी** के अनुसार बहलोल का ये विचार समकालीन भारतीय परिस्थितियों के लिए उतना ही प्रतिकूल था जितना कि साम्राज्य को शासित करने के लिए अपर्याप्त शासन--मशीनरी थी। इसलिए उसके पुत्र सिकन्दर लोदी ने अपने पिता से भिन्न नीति अपनाई व मियां मुआ को अपना वजीर बनाया जो इब्राहीम लोदी के राज्यारोहण के बाद तक इस पद पर बना रहा लेकिन अपने अंहकारी रुख के कारण वह पतन का शिकार बना। इधर अफगानों के अधीन वजीर का कार्यालय विशिष्टिता प्राप्त करने में असफल रहे।

इक्ता प्रणाली

अर्थ एवं पृष्ठभूमि--तुर्कों की राजनीतिक व्यवस्था अपने पूर्वगामी राजपूत सामंतों से भिन्न थी। मूलतः यह बातों में भिन्न थी (1) इक्ता अर्थात हस्तांतरणीय लगान अधिन्यास और (2) शासन वर्ग का स्वरूप। मध्यकालीन भारत के प्रारम्भ में तुर्की शासन की राजनीति दो मूलभूत तत्वों पर आधारित थी और ये दोनों ही तत्व स्वतंत्र रूप से विकसित हुए थे। इनमें से प्रथम तत्व इक्ता और दूसरा खराज (गैर--मुसलिम जनता पर लागू भूमि कर) है। इक्ता के प्रशासकीय ढांचे के अंतर्गत किसी क्षेत्र से स्थायी सबध न होते हुए भी शासक वर्ग के लिए वहां से आय की व्यवस्था हो जाती थी। साथ ही यह प्रणाली शासक वर्ग की सामाजिक स्थिति तथा उनके राजनीतिक प्रभाव के निर्धारण का आधार भी बनी रहती थी।

यहां पर यह समझ लेना आवश्यक है कि 'इक्ता' एक अरबी शब्द है जिसे एक प्रकार के प्रशासकीय अधिकार प्रदान करने के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था। किंतु अक्सर इस शब्द को भ्रामक अनुवाद के कारण यूरोप में प्रचलित 'फीफ' (जागीर) शब्द के अर्थ म प्रयुक्त किया जाता रहा है। मुस्लिम राज्य के अस्तित्व में आने के बाद प्रारंभिक कुछ शताब्दियों में राज्य के अतर्गत विभिन्न भू--भागों को विशिष्ट खंडों में वितरित किया जाता रहा। इस विशिष्ट खंड को 'कता' (kata) कहा जाता था। राज्य के भू भाग वास्तव में अर्धस्वमित्वशाली उस्र (tithe) अदा करने की शर्तों पर प्रदान किए जाते थे। मुसलिम दुनिया के विस्तार के साथ ही राज्य का सैनिक उत्तरदायित्व भी बढ़ गया। शक्तिशाली सेना रखने के लिए अधिकाधिक भू--भाग की आवश्यकता पड़ने लगी। इसके परिणामस्वरूप एक नई व्यवस्था ने जन्म लिया, जिसे अक्ता कहा गया। विद्वान मानते हैं कि अक्ता शब्द की उत्पत्ति इसी अरबी धातु से हुई जिससे कताईया शब्द बना है। इस प्रकार इस्लाम धर्म के प्रारंभ से ही राज्य की सेवा करने के पुरस्कारस्वरूप इक्ता प्रदान करने का प्रचलन हो चुका था। सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि अब्बासी खलीफाओं (754--8 ई.) के अतर्गत आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तन ने वह पृष्ठभूमि प्रस्तुत की जिससे दसवीं शताब्दी में मुस्लिम दुनिया मे भूमि प्रदान की प्रथा का आविर्भाव हुआ। इसके बाद अब्बासी खलीफाओं की शक्ति का ह्रास हो जाने के कारण छोटे राज्यों ने भी इस प्रणाली को अपनाया। खलीफा ने राज्य के असैनिक अधिकारियों को वेतन देने तथा अपने सैनिक अभियान के

करने के लिए अक्ता प्रणाली विकसित की। अधिकारी वर्ग तथा सेना का वेतन देने के लिए धन प्राप्ति की कठिनाई इतनी अधिक बढ़ गई की अंततोगत्वा प्रशासकीय ढांचा ही लड़खड़ा गया। इस वित्तीय कठिनाई के निदान के लिए सैनिकों एवं सैनिक अधिकारियों को वे भू–खंड बांटे जाने लगे, जो अक्ता कहलाते थे। इक्ता प्राप्त व्यक्ति उक्त भू–खंडों के मालिक नहीं थे। वे केवल उसके लगान का ही उपयोग कर सकते थे। इसके परिणामस्वरूप आगे चलकर आबंटन व्यवस्था (Farming of taxes) भी स्थापित हुई। खलीफा **अल-मजमून** के शासनकाल (833 ई.) में सेनानायकों को उनके वेतन के बदले विशेष भू–खंड का राजस्व या लगान आबंटित किया जाने लगा।

किसी सेनानायक को एक बड़े इलाके की कर–वसूली का अधिकार प्राप्त होने पर वह अधिक आसानी से अपने को अर्थ–स्वतंत्र रूप में स्थापित करने का अवसर पा जाता था। इस वजह से राजस्व–प्राप्ति अनियमित होने पर भूमि–संबंधी अधिकार ही उसे प्रदान किया जाने लगा। दूसरे शब्दों में, करों में, लाभांश देने की प्रथा इतने व्यापक स्तर पर चल पड़ी कि भू–राजस्व–प्रणाली में यही एकमात्र व्यावहारिक परिपाटी बन गई। सैनिकों को (भूमि–संबंधी) विशेष अनुदान देने की यह प्रथा **इक्ता** नाम से विख्यात हुई। बुइदों (945-1055 ई.) के अन्तर्गत केवल ईराक तथा इसके निकटवर्ती क्षेत्रों में ही राज्य का सैन्यीकरण नहीं हुआ वरन् पूर्व में समानी (874-999 ई.) तथा विशेष रूप से गजनवी (999-1040 ई.) शासकों ने इसे और भी अधिक प्रश्रय दिया।

बूइदों के समय में जिस व्यक्ति को सैनिक अक्ता प्रदान की जाती थी वह अपने क्षेत्र–विशेष में नहीं रहता था, बल्कि वह अपने एजेंटों (प्रतिनिधि) को ही कर वसूली के लिए भेजता था। सैद्धांन्तिक रूप से यह इक्ता–प्रणाली वंशानुगत प्रणाली नहीं थी। समय–समय पर इन अक्ताओं का पुनर्वितरण होता था तथा पदाधिकारी को सैनिक सेवा के लिए प्रस्तुत रहना पड़ता था। सिद्धांतः विस्तृत नियमों का पालन करना उसके लिए आवश्यक था और उसका निरीक्षण भी किया जाता था। इक्ता के अधिकारी अमीर सैनिकों को वेतन देने की जिम्मेदार से मुक्त थे, क्योंकि ये सैनिक राज्य से वेतन अथवा अक्ता प्राप्त करते थे। कानून के अनुसार मुक्ता (इक्ता–प्राप्त अधिकारी) को वहां के निवासियों के संबंध में न्यायिक अधिकार नहीं मिलता था किंतु बूइदों के अंतर्गत व्यवहार में सभी ने इस अधिकार को हथिया लिया था। प्रांतीय शासक सैनिक कमांडर, राजस्व वसूल करने तथा उससे लाभाश प्राप्त करने वाले अधिकारी और अक्ता के विभिन्न कार्य–भार एक ही व्यक्ति में सन्निहित होने के कारण वास्तविक रूप से सरकार से स्वतंत्र एक विशाल भू–स्वामित्व वर्ग का आविर्भाव हुआ। अपने ही प्रांत के किसी क्षेत्र में अक्ता प्राप्त होने के कारण भी मुक्ताओं के वास्तविक अधिकार की वृद्धि में सहायता मिली। जहां कहीं भी इस तरह की स्थिति होती थी वहां मुक्ता के आर्थिक अधिकार तथा प्रांतीय शासन की शक्ति एक ही व्यक्ति में केंद्रित हो जाती थी और ये शासक व्यवहारतः दोनों प्रकार के अधिकारों का संपूर्ण प्रांत [illegible] उदाहरण मिलते हैं कि मुक्ता को अपने पद विशेष के अतिरिक्त प्रांतीय [illegible] दिए जाते थे। किंतु ऐसा लगता है कि समय में अधिकार रूप में ही मिलते थे। ऐसा लगता है कि सल्जुक काल के पहले इसका प्रचलन व्यापक स्तर पर नहीं [illegible] गया था।

सल्जुक साम्राज्य में इस प्रथा में पर्याप्त व्यावहारिक भिन्नता के साथ–साथ इसके लिए प्रयुक्त शब्दावली भी भिन्न–भिन्न थी। यहां मूल स्रोतों में भी अक्ता शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार के अनुदानों के लिए किया गया है। इस शब्द का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में हुआ है जैसे : 1. राजस्व का अनुदान या भूमि प्रदान करना जिसे (क) सैनिक सेवा तथा (ख) वेतन के एवज में प्रदान किया जाता था। 2. किसी प्रदेश विशेष का अनुदान जिस पर अनुदान–प्राप्त व्यक्ति का पूरा अधिकार रहता था। इस प्रकार उस व्यक्ति को पूरा प्राप्त हो जाता था, 3. राजस्व का लाभांश 4. (क) व्यक्तिगत भू–संपत्ति; (ख) भत्ता (अलाउंस) या पेंशन (निवृत्तिवेतन) संबंधी अनुदान प्रदान करना।

सल्जुकों के समय में (1037-1157 ई.) 'सैनिक तथा प्रशासनिक' अक्ता में स्पष्ट रूप से भेद कर पाना कठिन है। ईरान में सल्जुकों समय में अक्ता–भूमि के आम प्रचलन का प्रमाण मिलता है। सल्जुकों ने अपने समय में पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा अक्ता का प्रचलन व्यापक स्तर पर किया। इक्ता पाने वाला अधिकार प्राप्त भू–भाग का सारा लगान अपने उपयोग के लिए रखता था और केंद्रीय शासन के प्रति उसका एकमात्र कर्तव्य सेना में अपनी व्यक्तिगत सेवा प्रदान करना था। अक्ता संबंधी नियुक्ति यदि महत्वपूर्ण होती थी तो उसे सैनिक का एक दस्ता भी रखना पड़ता था। सल्जुकों के आंतरिक संघर्ष के दौरान (जैसा कि इस वंश के अंतिम समय में घटित हुआ।) अक्ता प्राप्त करने वाले अधिकारियों की संख्या तथा उनके क्षेत्र में वृद्धि अवश्य हुई होगी। उनका कार्यकाल लंबा होने से वंशानुगत उत्तराधिकार की प्रवृत्ति भी बढ़ी और वंशानुगत अक्ता एक सामान्य नियम बन गया। पहले छह इल–खानों के अंतर्गत भी सैनिकों को इक्ता भूमि दी गई। किंतु यह साधारण सैनिकों को न दी जाकर मुख्य रूप से उच्च पदाधिकारियों को ही प्रदान की जाती थी। सामान्य सैनिक वर्ग को (जो अधिकांश खानाबदोश होते थे) वेतन के रूप में केवल अनाज दिया जाता था और 'जामगी' नाम से कुछ नकद धन भी उन्हें मिलता था। गजान के अंतर्गत उच्च पदाधिकारियों में वंशानुगत अक्ता कानूनी रूप

से स्थापित प्रथा हो चुकी थी। उसके काल में आम तौर पर भरती किए गए लड़ाकू मंगोलों को अक्ताए दी गई और रशीदुद्दीन के अनुसार 'प्रत्येक विलायत' मकें पूरा क्षेत्र अक्ता से भर गया। इस प्रकार सल्जुकों के समय में अक्ता प्रथा तुर्क के सम्मान स्तर का एक प्रमुख माध्यम बन गई। इसी प्रकार तेरहवीं सदी के बाद मंगोल–तुर्की खानाबदोश सैनिको क अभिजात वग न अपने प्राधान्य के विस्तार के लिए भी इस व्यवस्था का उपयोग किया।

इस्लाम के भौगोलिक विस्तार के आधार पर इक्ता–व्यवस्था को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है--पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी इक्ता–प्रथा उसे कहा जाात है जो बूइदों, हम्दानियों, उत्तरी सीरियाइयों तथा सल्जुकों में प्रचालित थीं जब कि समानिद तथा गजनवियों के अंतर्गत खुरासन, अत्रक मुर्गाब तथा ऊपरी आमू प्रदेश में प्रचलित प्रथा को पूर्वी अक्ता–प्रणाली कहा गया है। ध्यान देने की बात यह है कि पश्चिमी तथा पूर्वी इक्ता–प्रथाओं में स्पष्ट अंतर है। पश्चिमी प्रथा में सैनिक शासन का मुख्य आधार प्रत्येक सैनिक को दिया गया राजस्व अनुदान था जो सिद्धांत रूप में केवल उसके जीवन काल तक सीमित होता था। उसकी वसूली एजेंटों द्वारा की जाती थी क्योंकि अक्ता अधिकारी स्वयं उस क्षेत्र में नहीं रहते थे। सल्जुकों ने बिना किसी परिवर्तन के इस अक्ता–प्रथा को पश्चिमी ईरान के प्रदेशों में लागू किया। यही वह प्रथा है जिसकी व्याख्या **सियासतनामा** (शहजादों के लिए रचित) में **निजाम-उल-मुल्क अबू अली हसन बिन अली तुसी** (1017-1092) ने प्रस्तुत की है। इस ग्रंथ में तूसी का मुख्य उद्देश्य मुक्ता के अनुचित कार्यों के विरुद्ध लोगों को सतर्क करना तथा अक्ता के रूप में हस्तांतरित की गई भूमि राज्य के नियंत्रण से बाहर निकल के सके इसकी व्यवस्था प्रस्तुत करना था। परिणामस्वरूप, उसने संपूर्ण पर सुल्तान के मूलभूत अधिकार का प्रबल समर्थन किया है। संभवतः शासक द्वारा अपने राज्य पर पूर्ण स्वामित्व का सामानी–सिद्धांत इसका आधार रहा हो अथवा लेखक का उद्देश्य किसानों पर सुल्तान के अधिकार की वृद्धि करना भी हो सकता है, जिससे किसानों के प्रति मुक्ताओं के स्वेच्छाचारी व्यवहार को शासकों द्वारा रोका जा सके। **निजामुद्दीन तूसी** ने इस प्रकार के सुरक्षा के अन्य उपाय भी निर्दिष्ट किए हैं, जैसे दरबार मे किसानों की उपस्थिति निर्बाध हो, मुक्ता निर्धारित धनराशि से अधिक राजस्व न वसूल करें और वसूली पैदावार के अनुरूप उपयुक्त समय पर हो। साथ ही अनुचित व्यवहार को रोकने के लिए हर तीसरे वर्ष नियुक्ति में परिवर्तन करना चाहिए।

खुरासान, अत्रक, मुर्गाब, ऊपरी आमू क्षेत्रों में प्रचलित अक्ता प्रथा की व्यवस्था भिन्न थी। **निजामुद्दीन तूसी** ने विशेष रूप से स्पष्ट किया है कि सामानियों तथा गजनवियों ने अपने सैनिकों को आम तौर पर भूमि अनुदान के रूप में नहीं दी क्योंकि खुरासान के आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होने के कारण खुरासानी सुल्तानी नकद वेतन देने में समर्थ थे। इसके अतिरिक्त खुरासान अनेक धन संपन्न भारत के निकट स्थित था, जिसके आर्थिक स्रोतों का उपयोग वह सैनिकों को वर्ष की निश्चित अवधि में नकद रूप में वेतन देने के लिए कर सकता था। खुरासान में तुर्की जाति पशुपालक लोगों (Pastoralists) की संख्या अधिक की अपरिवर्तनशील भूमि अनुदान प्रथा में इसका तालमेल बैठाना संभव नहीं था। आरामतलब ताजिक आबादी के फैल होने के करण केंन्द्रीय वित्त–व्यवस्था के सामने अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुई। गजनवियों के समय भूमि के बजाए इन पशुचारण करने वाले लोगों के सामूहिक रूप से पशु चराने का अधिकार दिया गया। सल्जुक काल में इस के कारण ही तुर्कों का जीवन–यापन तथा भरण–पोषण संभव हुआ।

खुरासान तथा ऊपरी आमू क्षेत्र सैनिक महत्व के स्थल थे, इसी कारण इन प्रदेशों की भूमि को सामान्यतः सल्जुक परिवार के लोगों को ही प्रदान किया जाता था। प्रत्येक नए शासन के प्रारंभ होते ही उनके प्रदेशों के गवर्नरों को नए सिरे से आबंटन किया जाता था। पर प्रशासकीय निरतरता और प्रतीक्षा–व्यवस्था के स्थायित्व को ध्यान में रखते हुए प्रशासकीय परिवर्तनों से दूर रहने के यथासंभव प्रयास किया जाता था। उक्त परिस्थितियां शासकीय पदों को वंशानुगत बनाने में काफी सहायक थी। उस समय सबंधित अधिकांश स्रोतों में—जो समकालीन नहीं हैं–राजकुमारों के निर्वाह के लिए प्रदत्त भूमि (aappanges) को प्रायः अक्ता कहा गया है। इस प्रकार की व्याख्या बहुत भ्रामक है, क्योंकि ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी दुनिया की भू–व्यवस्था पूर्वी दुनिया से संबंधित भिन्न थी।

धीरे–धीरे इक्ता–प्रथा की विचारधारा एवं तत्संबंधी व्यवस्था में परिवर्तन आने लगा। आम तौर पर इस प्रथा की विशेषता थी–सुल्तान का मुक्ता पर यथेष्ट प्रशासकीय तथा आर्थिक नियंत्रण जिसकी वास्तविक रूप में स्वतंत्र स्थिति नहीं थी और जिसमें वह सेवा के बदले वेतन पाता था। वरिष्ठ अधिकारियों को जो अक्ता प्रदान की जाती थी, उसके बदले उन्ह अपने अधीन एक सैनिक टुकड़ी रखनी पड़ती थी जिसकी व्यवस्था वह अक्ता से प्राप्त आय के द्वारा करता था। इसी कारण मूल स्रोतों में 'दस की अक्ता', 'सौ की अक्ता' आदि की चर्चा है। किंतु सुल्तान के अधीन सेना के जितने बड़े सैनिक दस्तों का यह संचालन करता था उसकी अपेक्षा उसकी सैनिक टुकड़ी छोटी होती थी। सैनिक दायित्वों की पूर्ति के लिए बड़े कठोर अनुशासन का प्रयोग किया

जाता था। इस प्रकार राज्य द्वारा व्यक्ति विशेष के प्रदत्त भू–संपत्ति को इक्ता कहा जाता था। सामान्यतः इसे भू–अधिन्यास सूचक माना जाने लगा। वास्तव में यह भूमि से प्राप्त होने वाले भू–राजस्व का अनुदान था। मुसलिम राज्यों में अक्ता शब्द का इसी विशिष्ट अर्थ में प्रयोग होता था।

दिल्ली सल्तनत में इक्ता प्रथा

1. हिन्दुस्तान (उत्तरी भारत) में जैसे ही तुर्क विजय का प्रथम चरण समाप्त हुआ, तुर्क सुल्तानों को अनेक प्रशासनिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। अधिकृत क्षेत्र की तुलना में उनके साधन सीमित थे। पराजित राजपूत शासकों के अन्तर्गत सामन्त व्यवस्था के कारण अनेक स्थानीय समस्याएं उभर कर सामने आयीं। तुर्क सुल्तानों को इस तथ्य को समझने में अधिक समय नहीं लगा कि अधिकृत क्षेत्र पर प्रभावपूर्ण शासन स्थापित तब ही किया जा सकता है, जबकि क्षेत्रीय इकाइयों के साथ केन्द्र का तालमेल हो तथा ये इकायां केन्द्र को सुदृढ़ तथा राज्य–स्रोतों को समन्वित करने में सहयोग दें। तेरहवीं शताब्दी में भारत में इक्ता–व्यवस्था के अन्तर्गत जो प्रावधान था वह सामयिक आवश्यकताओं की मांग थी। वस्तुतः यहां यह उल्लेखनीय है कि सेनापतियों एवं सैनिक–संबंधियों के बीच विजित क्षेत्र का बंटवारा करने की व्यवस्था भारतीय समाज के लिए कोई नवीन प्रयोग नहीं था। चूंकि राजपूत राज्यों के अन्तर्गत यह व्यवस्था किसी न किसी रूप में विद्यमान थी, अतः भारतीय समाज द्वारा इनकी मान्यता स्वाभाविक थी।

   कुतुबद्दीन ऐबक एवं इल्तूतमिश ने हिन्दुस्तान के विभिन्न क्षेत्रों को केन्द्र के साथ जोड़ने तथा भारतीय सामन्ती–व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ करने में एक साधन के रूप में इसका पूरा–पूरा उपयोग किया। इसके प्रयोग से वह तुर्क शासक वर्ग की आकांक्षा की सन्तुष्टि कर सका। इसके द्वारा शान्ति व व्यवस्था एवं नवविजित क्षेत्रों से भू–राजस्व संकलन की समस्या का भी तत्काल समाधान कर लिया गया।

   इस व्यवस्था के अन्तर्गत दिये जाने वाले क्षेत्र (इक्ता) दो प्रकार के थे—छोटे तथा वृहद। यद्यपि इन दोनों को ही इक्ता से सम्बोधित किया जाता था और गुणों के आधार पर इन दोनों इक्ताओं में भिन्नता दर्शाना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि छोटे इक्ता दोआब क्षेत्र में हजार तुर्क सैनिकों को प्रदान किये गये थे जिनका केन्द्र के प्रति न तो कोई प्रशासनिक उत्तरदायित्व था और न की केन्द्र के खजाने पर अतिरिक्त भार। अपनी सैनिक सेवा के बदले छोटे इक्तादारों को इन क्षेत्रों से राजस्व वसूल करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया था। बड़े इक्ता प्रमुख व्यक्तियों को प्रदान किये गये थे जो प्रशासनिक उत्तरदायित्व भी रखते थे। अपने क्षेत्र में शान्ति व व्यवस्था के अतिरिक्त आवश्यकता के समय केन्द्र को सैनिक सहायता प्रदान करन की इनसे अपेक्षा की जाती थी।

   इल्तुतमिश के शासनकाल में इक्ता–व्यवस्था प्रशासन का आधार थी। उसके छब्बीस वर्ष के शासनकाल में सुल्तान से लेकर लखनौती तक की सल्तनत को छोटे व बड़े क्षेत्रों (इक्ता) में **मुक्ताओं** के बीच बांट दिया गया था। इस तरह इल्तुतमिश ने अमीर वर्ग की आकांक्षा का तत्कालीन समाधान ढूंढ़ निकाला। इस व्यवस्था में निहित खतरे को प्रशासन में सतर्कता से नियंत्रित रखा गया। वस्तुतः इल्तुतमिश की मृत्युपरान्त कमजोर उत्तराधिकारियों के काल में स्वाभाविक रूप से मुक्ता केन्द्र के प्रति अलगाव की नीति रखते हुए स्वयं की शक्ति को प्रबल करने को आतुर हो चले थे। इस तरह जिस व्यवस्था की स्थापना केन्द्र की शक्ति के केन्द्रीकरण के उद्देश्य से की गई थी, वह अब अलगाव व विकेन्द्रीकरण की शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने लगी थी। वस्तुतः यह स्थिति बल्बन के लिए असह्य थी तथा उसके राजनय के सिद्धान्त के प्रतिकूल भी। बल्बन ने एक जांच आयोग की नियुक्ति की जिसका कार्य दोआब क्षेत्र में दो हजार सैनिकों को दिये गये इक्ता की प्रकृति व शर्तों का निरीक्षण करना था। उस समय तक बहुत से मूल इक्तादार या तो मर चुके थे अथवा इतने वृद्ध हो चुके थे कि वह कोई भी सैनिक उत्तरदायित्व निभाने से असमर्थ थे। उन्होंने इन क्षेत्रों पर वंशानुगत अधिकार का दावा करते हुए अपना अधिकार बना रखा था।

   मुक्ताओं के वंशानुगत अधिकार के प्रति राज्य का दृष्टिकोण भिन्न था। बल्बन का कहना था कि ये इक्ता सैनिक सेवा के बदले प्रदान किये गये थे। इस तरह मुक्ता जब तक शाही सेवा का पालन करे तब तक ही वह इक्ता पर अधिकार का दावेदार था। सम्भवतः इक्तादार वंशानुगत अधिकार के प्रति सेल्जुक परम्परा से प्रेरित थे। किन्तु बल्बन इक्ताओं से सम्बन्ध में इस परम्परा को मानने को तैयार नहीं था। बरनी के अनुसार सुल्तान ने इक्तादारों को तीन श्रेणी में विभाजित किया।

1. **प्रथम श्रेणी** में वे लोग थे जो पूर्णतया वृद्ध तथा निर्बल हो चुके थे एवं युद्ध के योग्य न रह गये थे। उनके लिए चालीस से पचास तनका वजीफा निश्चित किया गया। उनके गांवों को खालसा में सम्मिलित कर लिया गया। इस श्रेणी में जवान और युवक मुक्ता सम्मिलित थे, उनका वेतन उनकी योग्यतानुसार निश्चित किया गया और [illegible] गई।

2. **द्वितीय श्रेणी** के लोगों के पास जो गांव हैं, उनके कर में से वेतन निकाल कर जो शेष रहे, उसे प्रत्येक वर्ष [illegible] द्वारा वसूल कर लिया जाय। परन्तु उनके गांव जब्त न किये जायें।

3. **तीसरी श्रेणी** में अनाथ बच्चे तथा वे लोग सम्मिलित थे जिनके पास गांव थे और जो अपने दासों के द्वारा [illegible] अस्त्र–शस्त्र आदि जो कुछ हो सकता था दीवाने अर्ज में पेश कर देते थे। उनके विषय मे आदेश दिया गया कि अनाथों एवं विधवाओं के भोजन एवं वस्त्र का प्रबन्ध उनके गांवों से करा दिया जाय। उनके गावों का राजस्व भी दीवानी में जमा करा दिया जाय और गांव इनसे ले लिये जायें।

बल्बन के आदेश ने अमीरों के लिए दयनीय स्थिति पैदा कर दी, तथा अंततः दिल्ली के कोतवाल, मलेकुल–अमरा फखरुद्दीन के हस्तक्षेप के कारण बल्बन ने कुछ रियायतें दे दीं। किन्तु वंशानुगतता का सिद्धान्त बल्बन ने पूर्णतः अस्वीकार कर दिया था, साथ ही इक्तादार के क्रिया–कलापों पर निगाह रखने के लिए एक ख्वाजा को नियुक्त किया गया।

इक्ता व्यवस्था के विकास एवं स्वरूप को समझने के लिए इसे तीन चरणों में बांटा जा सकता है।

प्रथम चरण में तुर्क सल्तनत की स्थापना के प्रारम्भ में यह स्वाभाविक था कि तुर्क सुल्तान अपने सैनिक अधिकारियों को विभिन्न क्षेत्र इक्ता के रूप में प्रदान करे। यह मुक्ता (इक्तादार) अपने–अपने क्षेत्रों में वहां के राजस्व पर अपने एवं अपने सैनिकों का खर्चा चलाने के लिए उत्तरदायित्व थे। इस तरह इक्ता राजस्व के अधिकार तथा प्रशासनिक उत्तरदायित्व दोनों के लिए लागू होता था। मुक्ता राज्यपालों के रूप में कार्य करते थे। इक्ता अक्सर हस्तांतरित होते रहते थे। वरतुतः हस्तांतरित होने के इस स्वभाव के कारण मोरलैण्ड ने इसे 'फीफ' के समकक्ष समझने की भूल की है।

मुक्ता क्षेत्र विशेष से प्राप्त राजस्व के जरिये सैनिक रखते थे। इसके अलावा सुल्तान के पास अपने व्यक्तिगत सैनिक भी होते थे जिन्हें 'कल्ब' कहा जाता था, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, तेरहवीं शताब्दी में शाही घुडसवारों को वेतन राजधानी के पास के कुछ गांवों का भू–राजस्व के रूप में प्रदान कर दिया जाता था। इन्हें भी 'इक्ता' कहा जाता था, किन्तु ये अर्द्ध स्थायी तथा वंशानुगत बनते जा रहे थे। इस प्रक्रिया पर बल्बन ने अपने शासनकाल में अवश्य अंकुश लगाया।

2. **खलजी शासनकाल एवं प्रारम्भिक तुगलक सुल्तानों के शासनकाल** (1290-1351 ई.) **में इक्ता व्यवस्था**– जैसे–जैसे प्रशासनिक व्यवस्था सुदृढ़ होने लगी, पहले की सीधी–सादी व्यवस्था में महत्वपूर्ण सुधार किये गये। इक्ताओं का हस्तान्तरण अधिक सामान्य हो गया। साथ ही अब 'मुक्ता' पहले की तरह इक्ताओं के राजस्व के सर्वेसर्वा नही रहे उन्हें अब अपनी आय एवं खर्च का लेखा–जोखा पेश करना पड़ता था तथा बकाया राशि शाही खजाने में जमा करनी पडती थी। अलाउद्दीन के समय में प्रत्येक क्षेत्र की राजस्व क्षमता (जमा) का मूल्यांकन किया गया तथा प्रत्येक राज्याधिकारी के वेतन को [illegible] में तय किया जाता था।

व्यक्ति विशेष के वेतन के बराबर राजस्व की आय वाला क्षेत्र उसे इक्ता के रूप में प्रदान किया जाता था। मुक्ता के अधीन रहने वाले घुडसवारों के वेतन का भुगतान शाही खजाने से किया जाता था, न कि सैनिक अधिकार की आय से। मुक्ता को अपने सैनिकों के वेतन के लिए इक्ता के राजस्व का एक भाग अलग रख दिया जाता था। इक्तादारों के अधिकारों पर इन पाबन्दियों से इक्ताओं में सुल्तान के कर्मचारियों की नियुक्ति आवश्यक हो गई। वास्तव में इस प्रथा का प्रारम्भ बल्बन के शासनकाल (1266-1286) में ही हो गया था। इक्ताओं के अतिरिक्त मामलों में शाही हस्तक्षेप की प्रवृत्ति सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में चरमसीमा पर पहुंच गई थी। अनेक अवसरों पर उसने इक्ता के राजस्व को एकत्रित करने का अधिकार ठेके अथवा अपने कृपापात्र अफसरों को दे दिया था। इक्ताओं में नियुक्त शाही सैनिक अधिकारी अपना वेतन संभवतः शाही खजाने से लेते थे तथा शाही जमा से उनका कोई सम्बन्ध नही था।

शाही घुड़सवारों को उनके वेतन के बदले में इक्ता देने की व्यवस्था को अलाउद्दीन ने समाप्त कर दिया था। सैनिकों को उनके एवं उनके उत्तराधिकारियों के समय में शाही खजाने से वेतन प्राप्त होता था।

फीरोज तुगलक के सिंहासनरूढ़ (1351 ई.) होने के साथ ही इक्तादारों के सम्बन्ध में उदार नीति का पुनः प्रादुर्भाव हुआ। सर्वप्रथम जमा अथवा निर्धारित राजस्व आय को स्थायी कर दिया गया जिससे राजस्व प्राप्तकर्ताओं को वास्तविक राजस्व संकलन में वृद्धि का लाभ मिल सके। यद्यपि इक्ता के हस्तान्तरण का प्रावधान बना रहा किन्तु यह क्रिया बहुत कम हो गई थी। फीरोज की यह घोषित नीति कि प्रशासनिक कार्य पूर्णतः अधिकारियों की संतानों को ही दिऐ जायें, इक्ताओं के प्रति भी इसी तरह के दृष्टिकोण को अंकित करती है अर्थात् इक्तादार की मृत्युपरान्त उसके पुत्र को वह इक्ता दे दिया जाता था। फिरोज ने सैनिकों को उनके वेतन का भुगतान इक्ता के राजस्व के रूप में प्रदान करना प्रारम्भ किया और इसी तरह पुरानी व्यवस्था को नवीन नाम देकर पुनः लागू किया। इस प्रकार उसने दोनों तरह के इक्ता सैनिकों के पदों को वंशानुगत कर दिया।

फीरोज तुगलक द्वारा प्रस्तावित ये सुविधायें दीर्घकालीन सिद्ध हुईं। लोदी शासनकाल (1451-1526 ई.) में प्रशासनिक पदों एवं राजस्व इकाइयों को शामिल कर दिया गया जिससे इक्तादार सरकार एवं परगना, प्रशासनिक इकाइयों एवं इक्ताओं दोनों का प्रतिनिधित्व कर सके। फीरोज की तरह सिकन्दर लोदी (1489-1517 ई.) ने भी इक्तादारों से उनके क्षेत्र की बढी हुई आय पर राज्य का दावा नहीं किया और साथ ही इक्तादार की मृत्यूपरांत वह क्षेत्र उसे पुत्र को प्रदान करने की नीति का अवलम्बन किया। लोदी काल की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि प्रमुख सेनापतियों ने अपने अधीन क्षेत्र (इक्ता) को अपने सैनिकों में वितरित करने (उप–खण्डन) की प्रथा प्रारम्भ की और इसी तरह सैनिकों को वेतन के रूप में विशेष का राजस्व प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि सल्तनतकाल में इक्ता व्यवस्था को विभिन्न चरणों से गुजरना पड़ा। तेरहवीं शताब्दी में पेशकशी गवर्नरों के मध्य साम्राज्य का सरल रूप में बंटवारा था। इसके पश्चात् चौहदवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में राजस्व मांग में वृद्धि हुई, परिणामस्वरूप इक्ता की आय में वृद्धि हुई तथा राज्य का इक्ताओं पर काफी प्रभाव बढ़ गया। अंत में चौहदवीं शताब्दी के मध्य से सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक इक्ता व्यवस्था की पूर्ववर्ती सरल पद्धति का पुनः उत्थान हुआ। वस्तुतः अब इक्तादार अनुबद्ध किस्तों के साथ ही उत्पादन का अधिकांश भाग स्वयं अपने पास रखने लगे थे। इक्ता–व्यवस्था में इन परिवर्तनों ने सल्तनतकालीन अमीर वर्ग की संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये।

इरफान हबीब द्वारा प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सल्तनतकालीन इक्ता–व्यवस्था के करण अमीर वर्ग का स्वरूप शहरी हो गया। इक्तादारों के अधिकृत क्षेत्र में परिवर्तन के कारण किसी एक स्थान विशेष (ग्रामीण क्षेत्र) पर अपनी इक्ता [illegible]

[illegible] आदेश था, यह व्यवस्था लागू थी कि प्राप्त अनाज व्यापारियों को राज्य द्वारा निश्चित कीमतों के अनुसार बेचा जाए। चूंकि भू–राजस्व का अधिकांश भाग किसान के अतिरिक्त उत्पादन से प्राप्त होता था, अतः ग्राम व शहरों के बीच बड़ी मात्रा में व्यापार होना इसका स्वाभाविक परिणाम था। व्यापार की इस प्रकृति के फलस्वरूप ऊंचे किस्म की व्यावसायिक फसलों के विस्तार का क्रम प्रारम्भ हुआ।

सर्वप्रथम चौदहवीं शताब्दी में निम्न किस्म की फसलों के स्थान पर उच्च किस्म की व्यावसायिक फसलों का उत्पादन प्रारम्भ हुआ। यह परिवर्तन राज्य की नीति का परिणाम था। राजस्व–प्राप्ति की इस व्यवस्था के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में बड़ी मात्रा में अनाज आने लगा जिसे सतत् बनाये रखने के लिए अनाज के व्यापारियों का वर्ग उभर कर सामने आया। इसके साथ ही कहा जाता है कि दिल्ली के मुल्तानी (हिन्दु व्यापारी) एवं साह (उधार देने वाले) इतने धनाढ्य हो गये थे कि वे तुर्क अमीरों को बड़ी मात्रा में पैसा उधार देने लगे थे और इसके बदले में उनके इक्ता से राजस्व प्राप्ति का अधिकार प्राप्त कर लेते थे। इस तरह इक्ता से राजस्व प्राप्ति के अधिकार ने मध्यकालीन वाणिज्य के उत्थान में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

राजस्व के रूप में ग्रामीण उत्पादन के शहरों की ओर प्रवाह ने कस्बाई व शहरी जनसंख्या में काफी वृद्धि की। कस्बों व शहरी दस्तकारी में विकास हुआ। बहुत से गुलामों को विभिन्न प्रकार की दस्तकारी का प्रशिक्षण दिया गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि शहरी जनसंख्या में दस्तकारी की चीजों की मांग काफी विकसित हो रही थी।

तुर्क विजय के पश्चात् तथा सल्तनतकाल में नवीन तुर्क राजवंशों के सिंहासनारूढ़ होने के परिणामस्वरूप पूर्ववत् हिन्दू राजकीय वर्ग के अधिकारों एवं प्रतिष्ठा में गिरावट आना स्वाभाविक था। वस्तुतः जिन क्षेत्रों में इनका सामाजिक एवं राजनीतिक आधार था

वहां सुल्तान को पेशकश देकर वे अपनी स्थिति को बनाये हुए थे तथा केन्द्र के दुर्बल होने की स्थिति में परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए अपने को स्वतन्त्र करने में देर नहीं करते थे। राजनीतिक शक्ति के प्रभाव से राजपूत शासकों को जिस नवीन स्थिति का सामना करना पड़ा, उसके परिणामस्वरूप राजपूत वंशानुगत अधिकारों से युक्त वर्ग एक संगठित जाति के रूप में उभर कर आया जिसे 16वीं शताब्दी में फारसी लेखकों ने जमींदार शब्द से सम्बोधित किया। सर्वप्रथम जब 14वीं शताब्दी में जमींदार शब्द का उल्लेख किया गया, उस समय इसका तात्पर्य केवल बड़े राव व राजाओं से था। परन्तु इसी शताब्दी में ही यह शब्द एक वृहद अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा जिसमें उच्च एवं निम्न दोनों प्रकार के प्रमुख शामिल थे। हिन्दू (राजपूत) राव एव राजा बड़े-बड़े प्रमुख के रूप में सामने आये जबकि निम्न सामाजिक स्तर में चौधरी, रावत एवं मुकद्दम का नाम उल्लेखनीय है। इस द्वितीय श्रेणी से सम्बन्धित लोगों—जिनमें से कुछ छोटे राव व राजा भी शामिल रहे होंगे—के पास अपना स्वयं का क्षेत्र था जो सामान्यतः राजस्व-निर्धारण के बाहर खा जाता था। इस विशेष अधिकार-प्राप्ति के बदले ये ग्रामीण प्रमुख सुल्तान अथवा राज्य की तरफ से किसानों से भू-राजस्व वसूल करते थे।

ग्रामीण क्षेत्र में विशेषाधिकार प्राप्त स्थानीय भू-स्वामियों द्वारा राज्य की भू-राजस्व मांग की अदायगी से आनाकानी करना इस काल में स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, जबकि दूसरी तरफ स्थिति का लाभ उठाते हुए ये लोग किसानों पर अतिरिक्त दस्तूरों का लाद कर अपनी आय बढ़ाते रहते थे। परिणामस्वरूप इनका राज्य से टकराव होना एक साधारण बात हो चली थी।

इस प्रकार प्रारम्भिक तुर्की राज्य इस्लामी संस्थाओं व सिद्धान्तों के संपर्क में आया। दिल्ली सल्तनत का स्वरूप ऐतिहासिक रूप में विस्तृत इस्लामी विश्व या व्यवस्था का एक भाग होने से बना और साथ ही तेरहवीं शताब्दी में अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के कारण इसका स्वरूप बदला। सुरक्षा व राज्य विस्तार के लिए एक विशाल सेना रखने की आवश्यकता तथा प्रशासनिक तंत्र रखने की जरूरत ने इसकी कई संस्थाओं को निश्चित रूप दिया। इक्ता इसमें से एक महत्वपूर्ण संस्था थी। अधिक केन्द्रीकरण से प्रशासनिक नियंत्रण की प्रकृति में कई परिवर्तन आए।

अध्याय-8

केन्द्रीय व प्रान्तीय प्रशासन
(Central and Provincial Administration)

1192 ई. में मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज चौहान के बीच तराइन का द्वितीय युद्ध निर्णयात्मक कहा जा सकता है, क्योंकि इससे भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना सुनिश्चित हो गयी। परन्तु विजय को स्थायी बनाने के लिये एक व्यवस्थित शासन की भी आवश्यकता थी और भारत की तत्कालीन परिस्थिति में इसकी मांग और अधिक अनुभव की जाने लगी थी। तुर्कों द्वारा दिल्ली सल्तनत की स्थापना तक ऐसे देश में की गयी थी जिसकी संस्कृति, शासन–तन्त्र और शासन की अनेकों समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण यहां की मान्यताओं से बिल्कुल भिन्न था और इसलिए एक उचित प्रशासन की स्थापना और भी अधिक आवश्यक हो गई थी। समस्या का समाधान यहीं पर नहीं था अपितु उन्हें एक ऐसे देश में शासन की व्यवस्था करनी थी जो उनके लिये सर्वथा नया था। यदि ऐसे समय में एक ऐसे देश में प्रशासन स्थापित करने का प्रश्न होता जो पूर्णरूप से इस्लामी मान्यताओं पर आधारित हो तो सम्भवतः उनको प्रशासन में कोई कठिनाई नहीं होती, परन्तु यहां तो ऐसा नहीं था। अतः अब इस क्षेत्र में उनके पास केवल दो ही विकल्प थे–राजपूतों के आदर्शों अथवा स्वयं की परम्परागत मान्यताओं के आधार पर प्रशासन की व्यवस्था करना।

यदि वे जल्दी में न होते तो सम्भवतः पूर्ण–व्यवस्था में समयानुकूल रद्दोबदल कर लागू कर सकते थे। परन्तु क्योंकि वे नये थे, यहां की शासन व्यवस्था से अपरिचित थे और साथ ही उन्हें इस प्रशासन के आदर्शों पर आधारित प्रशासन तन्त्र को स्थापित करने में समय लगता इसलिए उन्होंने इस्लाम पर आधारित प्रशासन–व्यवस्था को लागू करना ही अधिक उचित और उपयुक्त समझा।

इस्लामी मान्यतों के आधार पर प्रशासन करने के विकल्प को चुनने के बाद समस्या का पूर्ण समाधान न हो सका। यह अनुभव किया जा रहा था कि पैगम्बर अथवा उसके तत्कालीन उत्तराधिकारियों के आदर्श पर चलकर शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने सम्भव नहीं था। इसके विरोध में ईरान के सम्राटों के आधार पर शासन को व्यवस्थित कर जन–साधारण को सुल्तान की आज्ञाओं के अनुसार चलाना अधिक सरल दीखता था। इस आधार पर स्थिति अत्यधिक दुविधापूर्ण थी। क्योंकि यदि उन्होंने पैगम्बर की परम्पराओं का पालन किया तो राजतन्त्र और शासन–व्यवस्था को एक साथ मिलाना सम्भव न हो सकेगा। इसके विपरीत ईरानी सम्राटों के आदर्शों पर शासन को व्यवस्थित किया तो पैगम्बर विरोधी होगा। इस्लामी देशों के शासकों ने इन दो विकल्पों में से ईरानी आदर्शों को ही चुना। इस तरह वे स्वयं की शक्ति की स्थापना के प्रति भी निश्चिन्त हो गये। इस्लाम में इस तरह राजतन्त्र अथवा राजपद के विचार का समावेश हो गया जो कि पैगम्बर के आदर्शों के विरोध में था।

शासक वर्ग के रूप में तुर्कों की उत्पत्ति का श्रेय खलीफा मुतासिम (832-42 ई.) को है जिसने बगदाद में तुर्क–गुलामों को इतनी अधिक संख्या में रख छोड़ा था कि बगदाद उनके लिये छोटा पड़ने लगा। शीघ्र ही तुर्कों की शक्ति अत्यधिक बढ़ गई और ये राज्य के लिये अहितकर समझे जाने लगे। ऐसी स्थिति में बाहरी विजयों की ओर इनका ध्यान आकर्षित कर न केवल आन्तरिक संकट को टाला जा सकता था अपितु इस्लाम का प्रचार भी सुविधा से हो सकता था। क्योंकि तुर्की गुलामों को प्रशासन के साथ ही अपेक्षित सैनिकों गुणों की शिक्षा भी दी गयी थी, इसलिए वे शीघ्र ही सैनिक–प्रशासन के रूप में उभर आये। मुहम्मद गोरी की भारत विजय के पश्चात् शासन का उत्तरदायित्व इन्हीं तुर्क–गुलामों के कन्धों पर पड़ा और स्वाभाविक रूप से इन्होंने शासन के उसी स्वरूप को अपनाया जिसमें उन्होंने पहले से ही प्रशिक्षण प्राप्त कर रखा था। परन्तु भारत में उनके सम्मुख मुख्यतः दो समस्याएं थीं, प्रथम वे विदेशी थे और इसलिए यहां के रीति–रिवाज व परिपाटियों से अनभिज्ञ थे तथा दूसरे शासित वर्ग और उनका धर्म बिल्कुल भिन्न था। उनके लिये यह नितान्त असम्भव थे कि वे यहां की परम्परागत परिपाटियों को पूरी तरह समाप्त कर दें। इसलिए आरम्भिक काल में उनका विजित प्रदेशों पर आधिपत्य केवल सैनिक रूप में ही रहा। समयानुसार उनके प्रभाव क्षेत्र में बढ़ने के साथ ही साथ उनके सम्मुख अनेकों प्रशासनिक समस्याएं खड़ी हुई।

अपनी स्थापना के प्रारंभिक दौर और आगे के काल में भी सल्तनत की सर्वाधिक गंभीर समस्या जीते हुए प्रदेशों को संघटित करने की थी। इस उद्देश्य की प्राप्ति में शासक वर्ग ने धुरी के रूप में कार्य किया। संसाधनों पर इस वर्ग का संयुक्त स्वामित्व था। तुर्क

अपने साथ इक्ता नामक व्यवस्था लाए जिसने काफी हद तक केंद्रीकरण में सहायता की। जब अधिक केंद्रीकरण हुआ तो इक्ता व्यवस्था और शासक वर्ग के संयोजन में कई परिवर्तन आए।

तुर्की आक्रमण के समय शासक वर्ग

(मुहम्मद) गौरी के आक्रमण के समय उत्तर भारत छोटे–छोटे अनेक ऐसे राज्यों में बंटा हुआ था जिन पर राय और राना (या राजा) शासन कर रहे थे। गांव के स्तर पर खोत और मुकद्दम (ग्राम प्रमुख) ग्रामीण अभिजात वर्ग थे। इस दोनों के बीच (राय और खोत, मुकद्दम) चौधरी का माना जा सकता है, जो 100 गांवों का प्रमुख था।

कुल मिलाकर गौरी के आक्रमण से पूर्व के शासक वर्ग उस वर्ग के रूप में परिभाषित किए जा सकते हैं, जो किसानो के अधिशेष (उनकी अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादन) पर अधिकार करता था। यह वर्ग किसानों के अधिशेष पर अधिकार करने के लिए भूमि पर अपने उच्च अधिकारों का दावा करते थे। सल्तनत के शासक वर्ग के संघटन का विश्लेषण करने में इससे जुड़े कई प्रश्न सामने आते हैं : पुराने शासक वर्ग को किस प्रकार हटाकर नए शासक वर्ग ने उसका स्थान ले लिया? इस नए शासक वर्ग ने अधिशेष पर अधिकार करने के लिए कौन–से तरीके अपनाए? यह वर्ग पुराने हटाए गए शासक वर्ग से किस प्रकार भिन्न था?

शासक वर्ग की संरचना

लगभग सम्पूर्ण शताब्दी में तुर्की सैन्य शक्ति ने उत्तर भारत पर नियंत्रण स्थापित किया। चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक इसका विस्तार दक्कन में भी हो गया। अब एक विशाल प्रतिकूल क्षेत्र को शांत रखना और शासित करना था। इस कार्य के लिए एक शासक वर्ग को बनाए और जारी रखना था। प्रारंभिक तुर्की शासक वर्ग का राजनीतिक और वित्तीय सत्ता पर अधिकार का स्वरूप सुल्तान के साथ हिस्सेदारी का था। प्रारम्भिक काल में दूर–दराज के नवविजित प्रांतों में भेजे गए अमीर लगभग पूर्ण स्वतंत्र थे। यह अमीर या कुलीन इन प्रदेशों में गवर्नर के रूप में भेजे जाते थे। यह अमीर मुक्ती या वली कहलाते थे और इनके अधीन प्रदेश को इक्ता कहा जाता था। समय के साथ, मुक्तियों को एक इक्ते से दूसरे इक्ते में स्थानांतरित करने की प्रथा प्रारम्भ हुई। संभवतः गौरी के आक्रमण से पूर्व की राजनीतिक व्यवस्था जारी रही। इस व्यवस्था में राय और रानाओं से अंशदान या निश्चित राशि मांगी जाती थी तथा इनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि पहले की भांति ही कर वसूल करें।

समकालीन इतिहासकार **मिन्हाज-उस सिराज** और **बर्नी** के अनुसार सल्तनत की स्थापना के प्रारंभिक वर्षों में अधिकाश महत्वपूर्ण कुलीन और सुल्तान गुलाम परिवारों से संबंध रखते थे। प्रारंभिक काल में बहुत से तुर्की कुलीन और सुल्तानों ने अपने सैनिक अथवा राजनीतिक जीवन का आरंभ एक गुलाम के रूप में किया था। परन्तु सुल्तान बनने से पहले ही उन्होंने अपना दास्य मुक्ति पत्र (**खत-ए आजादी**) प्राप्त कर लिया था। ऐसा ही एक सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक था। सन् 1210 में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका एक कृपापात्र इल्तुतमिश ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया। उसने गुलामों का अपना एक दल तैयार किया, जिन्हें शम्सी मलिक (शम्सी–शमसुद्दीन इल्तुतमिश के नाम पर) कहा गया। **बर्नी** इन्हें **तुरकान-ए-चिहिलगानी** (चालीस का दल) कहता है। इल्तुतमिश के अमीरों में बहुत से ताजिक या जन्म से स्वतंत्र (गुलाम के विपरीत) अधिकारी भी थे। **मिन्हाज-उस सिराज** के अनुसार, नासिरूद्दीन महमूद के सिंहासनारोहण के समय (1246 ई.) शासक वर्ग में अग्रवासी (बाहर से आए हुए) स्वतंत्र अमीर भी थे। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के संघर्ष ने अमीरों के मतभेदों को उजागर किया।

शासक वर्ग में आपसी मतभेदों के बावजूद इनमें एक बुनियादी भाईचारा था, जिसकी झलक इस वर्ग से बाहर के व्यक्तियों के विरुद्ध शत्रुता में दिखाई देती है। रजिया (1236-1240 ई.) ने जब एक हब्शी (एबीसीनियन) गुलाम जमालुद्दीन याकूत को अमीर आखूर ("शाही घोड़ों के विभाग का प्रधान") का पद दिया तो अत्यधिक असंतोष उभरा। इसी प्रकार का विरोध इमादउद्दीन रैहान (सुल्तान नासिरूद्दीन महमूद के काल में) को एक महत्वपूर्ण पद देने का हुआ, क्योंकि वह एक हिन्दू था, जो धर्म–परिवर्तित करके मुसलमान हो गया था। इस प्रकार, कुलीन होना या शासक वर्ग में स्थान कुछ विशेष वर्गों का विशेषाधिकार समझा जाता था। कभी–कभी यह कार्य "कुलीन जन्म" के सिद्धांत के आधार पर किया जाता था, जैसा कि बलबन की नीतियों से दिखाई देता है। **बर्नी** इन नीतियों का श्रेय बलबन को देता है।

इस प्रकार समझा जा सकता है कि समान हितों के कारण कैसे प्रभावशाली गुट एकजुट रहते थे। शासक वर्ग के भीतर ही प्रजाति और सभवतः धर्म भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। वास्तव मे, शासक वर्ग एक एकाश्म या समरूपी संगठन नहीं था। कई तरह के दल और गुट थे तथा प्रत्येक गुट ईर्ष्यापूर्वक अपने विशेष हितों की रक्षा करता था। गौरी के आक्रमण के समय

तुर्की अधिकारी या सेना नायक उसके साथ थे, वे प्रारंभिक तुर्की शासन वर्ग के केंद्र में थे : इन्हीं लोगों ने अधिकांश महत्वपूर्ण केन्द्रीय और प्रांतीय पदों पर अधिकार जमा लिया।

इलबारी

मुहम्मद गौरी द्वारा विजित भारतीय क्षेत्रों पर कुतुबुद्दीन ऐबक ने अधिकार प्राप्त किया। इन क्षेत्रों पर उत्तराधिकार प्राप्त करने का ऐबक को उतना ही अधिकार था, जितना यलदूज या कुबाचा जैसे अमीरों को था जिन्होंने क्रमशः गजना और सिंध पर अपनी स्वतंत्रता और स्वायत्तता घोषित की। यही सल्तनत के प्रारंभिक इतिहास की विशेषता रही। स्वयं को सिंहासनारूढ़ करने और सत्ता में बने रहने के लिए सुल्तान को अमीरों के समर्थन की आवश्यकता रहती थी। उदाहरण के लिए इल्तुतमिश ने दिल्ली के अमीरों की सहायता से सिंहासन पर अधिकार किया। सिंहासन प्राप्त करने के प्रयासों में अथवा सुल्तान न बनाने में तुर्की अमीरों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती थी। **बर्नी** के अनुसार, अनुभवी तुर्की अमीर एक–दूसरे से कहते थे कि "तुम क्या हो जो मैं नहीं हूं और तुम क्या बनोगे जो मैं नहीं बन सकूंगा।"

प्रारंभिक तुर्की कुलीन वर्ग शासन करने के अपने विशिष्ट एकाधिकार पर बहुत अधिक बल देते थे। उनके इस एकाधिकार को जब अन्य सामाजिक दल चुनौती देते थे तो यह वर्ग नाराज हो जाता था और वे उसका विरोध करते थे। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद उसके अमीरों के दल **तुर्कान-ए-चिहिलगानी** ("चालीस का दल") के हाथ में काफी शक्ति आ गई। यह वर्ग काफी महत्वपूर्ण था। जब सुल्तानों ने अन्य दलों को सत्ता में भागीदार बनाने का प्रयास किया, तो इस गुट ने तीव्र विरोध किया। जब रजिया ने एबीसीनिया के एक गुलाम याकूत को **अमीर-ए आखूर** का पद दिया तो तुर्की अमीरों ने विरोध किया। जब नासिरूद्दीन महमूद (1246-1266 ई.) ने इस गुट की शक्ति का दमन करने के लिए बलबन (जो चालीस के गुट में था) को महत्पूर्ण पद से हटाकर इमादउद्दीन रेहान, जो एक धर्म–परिवर्तित मुस्लिम था, को उसके स्थान पर बैठाया तो सफलता नहीं मिली। समकालीन इतिहासकार **मिन्हाज** तुर्कों का पक्ष लेते हुए कहता है कि वह "हिन्दुस्तान की प्रजाति के इमादउद्दीन रेहान का अपने ऊपर शासन करना कैसे सहन कर सकते थे।" तुर्की अमीर वर्ग के विरोध के समाने असमर्थ सुल्तान ने रेहान को हटाकर बलबन को पुनर्स्थापित कर दिया।

जब बलबन स्वयं सुल्तान बना (1266-1286 ई.) तो उसने तुर्कान–ए–चिहिलगानी की शक्ति का दमन करने के लिए कई कदम उठाए। वह स्वयं ऐसे अमीरों की सहायता से सत्ता में आया था जो उसके प्रति वफादार थे। **बर्नी** के अनुसार, बलबन ने अनेक [illegible] का प्रयास था।

खलजी

सन् 1290 ई. में खिलजी वंश ने इलबरी वंश को उखाड़ फेंका। खिलजियों का सत्ता में आना समकालीन इतिहासकारों के लिए एक बिल्कुल नई बात थी। बर्नी कहता है कि खलजी तुर्कों से भिन्न एक अलग "नस्ल" के थे। **सी. ई. बोसवर्थ** जैसे आधुनिक इतिहासकार उन्हें तुर्क ही मानते है, परन्तु तेरहवीं शताब्दी में उन्हें कोई तुर्क नहीं मानता था। इसलिए उनका सत्ता में आना एक विलक्षण और नवीन घटना के रूप में देखा गया, क्योंकि वह अमीर और शासक वर्ग के महत्वपूर्ण अंग नहीं थे। अलाउद्दीन खलजी ने तुर्की अमीरों की शक्ति का अंत करने के लिए अपने कुलीन या अमीर वर्ग में नए लोगों को सम्मिलित किया। इनमें प्रमुख थे मंगोल (नव या नए मुस्लिम), भारतीय और एबीसीनियावासी (मलिक काफूर एबीसीनियाई वर्ग का सुप्रसिद्ध उदाहरण है) अमीर वर्ग की संरचना में विस्तार की यह प्रक्रिया तुगलक वंश के काल में भी जारी रही।

अलाउद्दीन खलजी और बलबन के काल में दिल्ली में कोतवालियान (कोतवाल का बहुवचन) नामक अमीरों का एक छोटा सा गुट था। वास्तव में, यह एक परिवार का गुट था, जिसका प्रमुख दिल्ली का कोतवाल फखरूद्दीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि बलबन की मृत्यु के बाद के काल में इस गुट की भी एक राजनीतिक भूमिका थी।

तुगलक

मुहम्मद तुगलक के काल में भारतीय और अफगान अमीरों के प्रवेश के अतिरिक्त अमीर वर्ग में अभूतपूर्व विषमता आ गई। इसमें काफी संख्या में विदेशी तत्व, विशेषकर खरासानी, सम्मिलित हो गए जिन्हें सुल्तान अइज्जा (प्रिय) कहता था। इनमें से बहुत से

अमीर सादह ("एक सौ के नायक") के रूप में नियुक्त किए गए। **बर्नी** इस बात के लिए शोक प्रकट करता है कि सुल्तान ने "नीच कुल में जन्मे" व्यक्तियों को ऊंचे पद प्रदान कर दिए है। वह कहता है कि गाने–बजाने वाले, नाई और रसोइया को उच्च पद दे दिए गए। वह नामों के साथ कुछ उदाहरण देता है जैसे पीरा माली को दीवान–ए विजारत दिया गया। धर्म (इस्लाम) में नए परिवर्तित अजीजउद्दीन खम्मार (अर्क निकालने वाला या आसवक) और कवामूल मुल्क मकबूल, तथा मलिक मख और मलिक साह लोदी अफगान जैसे अफगानों; और साई राज धारा तथा मीरन राम जैसे हिन्दुओं को इक्ता और पद दिए गए।

फीरोज तुगलक के काल में कुलीनों की सामाजिक पृष्ठभूमि के विषय में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलते। ऊपरी तौर पर सुल्तान और अमीरों के बीच अस्थिर शांति प्रतीत होती है।

अमीरों के लिए खान, मलिक और अमीर जैसे पदनामों का प्रयोग किया जाता था। अफगान कुलीनों के लिए बहुधा खान पदनाम प्रयोग किया जाता था, अमीर का तात्पर्य नायक से था; मलिक का उपयोग राजा, शासक या प्रधान के अर्थ में होता था। सम्मान सूचक उपाधियों के अतिरिक्त अमीरों को कुछ वैभव तथा सम्मान के प्रतीक चिन्ह भी दिए जाते थे, जिन्हें मरातिब कहत थे और जो अमीरों के विशेषाधिकार के प्रतीक थे। जैसे–खिलत (सम्मान सूचक वस्त्र), सुल्तान द्वारा तलवार या कटार भेंट करना शोभा यात्रा में घोड़े और हाथी प्रयोग करने का अधिकार, राजचिन्ह–युक्त छतरी, राजचिन्ह धारण करने और नगाड़ा तथा नक्कारा बजाने का अधिकार।

यह तथ्य विशेष ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक सुल्तान अमीरों का एक ऐसा गुट संगठित करने का प्रयास करता था, जो स्वयं उसके प्रति वफादार हो। इस नीति के द्वारा सुल्तान को पहले से मौजूद उस अमीरों वर्ग पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहती थी जिसकी वफादारी संदेहास्पद होती थी। समकालीन इतिहासकारों के विवरणों में हमें इसीलिए अमीरों के सदर्भ कुतुबी (कुतुबुद्दीन ऐबक के), शम्सी (शमसुद्दीन इल्तुतमिश के), बलबनी (बलबन के) और अलाई (अलाउद्दीन खलजी के) अमीरों के रूप में मिलते हैं। यहां पर स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि चाहे सुल्तान शक्तिशाली हो या कमजोर, अमीरों का प्रत्येक गुट उसकी कृपा–दृष्टि प्राप्त करने का भरसक प्रयास करता था क्योंकि सभी विशेषाधिकार और शक्तियों का स्त्रोत सुल्तान ही था। अगर सुल्तान दृढ़ इच्छा शक्ति का स्वामी होता था तो उसकी यह स्थिति उसकी सत्ता को मजबूत करने में बहुत सहायक सिद्ध होती थी।

दिल्ली सल्तनत के इस सामती अधिकारी वर्ग में अफगान काफी संख्या में शामिल रहते थे। लोदी वंश [illegible] आने से अमीर वर्ग में अफगानों की प्रधानता स्थापित हो गई।

खिलाफत

कुरान के अनुसार राज्य खुदा की बादशाहत है जो खुदा के आदेशानुसार खलीफा के द्वारा शासित की जाती है। सुन्नी [illegible] व्यवस्था की बागडोर प्रत्यक्ष रूप से पुरोहित–वर्ग में नहीं अपितु एक व्यक्ति खलीफा में निहित है जो सद्धान्तिक आधार पर मुस्लिमों के द्वारा चुना गया हो। चुनाव की व्यावहारिक कठिनाइयों ने नामजदगी की परिपाटी को प्रतिस्थापित (Substitute) किया और इसमें खलीफा को इसके लिये उत्तरदायी स्वीकार किया। खलीफा ने इसे अपने वंशजों तक ही सीमित कर दिया। यह स्वाभाविक था क्योंकि खलीफा में भी मानव होने के नाते मानवीय कमजोरियां होना निश्चित था। मुस्लिम दर्शन के एक विचारधारा के अनुसार राजसत्ता समस्त मुस्लिमों में निहित है परन्तु व्यावहारिक रूप में चुनाव के आधार पर इसे एक व्यक्ति के सुपुर्द कर दी गई। दूसरी विचारधारा के अनुसार शरा ही प्रभुसत्ता की अधिकारिणी है और खलीफा मात्र उसका सेवक अथवा सहायक है। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप में खलीफा मुस्लिम वर्ग का प्रतिनिधि था और इस वर्ग के द्वारा व्यक्त विश्वास के आधार पर वह पवित्र कानून को क्रियावित्त करता था। वह साधारण रूप से मुस्लिम वर्ग द्वारा प्रदत्त शक्ति को उनकी इच्छानुसार लागू करने वाला एक धर्म–निरपेक्ष शासक नहीं था अपितु वह ईश्वरीय इच्छा के द्वारा चुना हुआ एक व्यक्ति था जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार एक विशिष्ट कानूनी व्यवस्था को लागू करने का एकमात्र साधन था। पवित्र कानूनों के अनुसार चलने की आवश्यकता ने इसे उलेमा–वर्ग के प्रति विनम्र बना दिया। उलेमा–वर्ग यद्यपि एक अभिषेष्य (Ordained) पुरोहित वर्ग नहीं था, परन्तु फिर भी वह इसका सर्वमान्य व्याख्याता था, और इस आधार पर साधारण रूप से पुरोहित वर्ग के अत्यधिक निकट था। इसलिये खलीफा इस पुरोहित वर्ग के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को ईश्वरीय इच्छा के अनुसार लागू करने वाला शासक था। आरम्भ में वह ईश्वर का डेप्युटी समझा जाता था, और इसलिए उसमें समस्त सांसारिक व आत्मिक शक्तियां निहित थीं।

डॉ. कुरैशी की मान्यता है कि जहां तक इसके कार्य का सम्बन्ध है खिलाफत एक राजनीतिक संस्था थी यद्यपि इसका आधार और अनुमोदन धर्मवैधानिक, (Canonical) था। वे इस बात को स्वीकार नहीं करते कि खलीफा एक मूलभूत पुरोहित था जिसके स्वभाव व गुण 'पोप' से मिलते–जुलते थे, क्योंकि उनके अनुसार इस्लाम में पुरोहित–वर्ग की कोई कल्पना ही नहीं है। राजनीतिक सत्ता से आकस्मिक परित्याग को वे नितान्त महत्वहीन मानते है। इस परित्याग का समय कई शताब्दियों तक चलता रहा परन्तु फिर भी खलीफा मुस्लिम वर्ग के धर्म–वैधानिक आज्ञाकारिता का उपभोग करता रहा। यह स्वयं में एक महत्वपूर्ण तथ्य है जो कि राज्य के धर्म–पेक्ष स्वभाव को स्पष्ट करता है। वे इस्लामी संसार को मूलभूत एकता की ओर कोई ध्यान नहीं देते जिसका एकमात्र जीवित प्रतीक खिलाफत थी।

खलीफा की शक्ति का द्वैधात्मक स्वरूप स्वयं अरब–इतिहास की उपज थी क्योंकि अरबों ने कभी भी धर्म तथा राजनीतिक में भेद नहीं किया, इसीलिए आरम्भ से ही राजनीतिक शक्ति पुरोहित–वर्ग से संलग्न रही। **कुक** ने लिखा है कि, "सत्ता राजनीतिक विचारों की अपेक्षा धार्मिक विचारों पर आधारित रही.....तथा राजनीति ने लगातार धार्मिक स्वरूप ही अपनाया।"

इसलिये यद्यपि खिलाफत अनेक बार राजनीतिक अधिकारों से वंचित रही परन्तु उसके बाद भी धार्मिक अधिकारों और उससे सम्बन्धित सम्मान का उपभोग करती रही। प्रत्येक मुसलमान पैगम्बर के उत्तराधिकारी खलीफा के प्रति ही स्वयं को उत्तरदायी मानता रहा क्योंकि समस्त राजनीतिक शक्ति का वह मूल स्रोत था। यदि दुर्भाग्यवश खलीफा तथा राजनीतिक शक्ति में कोई विरोध उठ खड़ा हो तो मुसलमान के लिए खलीफा के प्रति अपनी आस्था दिखाना एक पवित्र कर्तव्य है। इसी आधार पर शासक खलीफा से किसी प्रकार का बैर मोल लेने के लिए तत्पर न थे।

अरबों की सिन्ध विजय का भारत पर कोई श्लाघनीय प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु जब तुर्कों ने पंजाब के प्रदेश पर अधिकार किया तब ही से तुर्कों ने भारतीय साम्राज्य का भाग्य खिलाफत के साथ जोड़ दिया, खलीफा ने महमूद गजनवी को प्रथम–बार खिलअत प्रदान करी। **मिनहाज-उस-सिराज** ने लिखा है कि पहली बार उसे खलीफा ने इस्लामी दुनिया में सुल्तान की संज्ञा से सम्बोधित किया। यह स्पष्ट नहीं है कि महमूद ने स्वयं इसी मांग की थी अथवा पतनशील अब्बासिद वंश ने खलीफा की गिरती हुई शक्ति को पुनर्जीवित करने के लिये ये पहल की थी। यह परम्परा उसके पुत्र मसूद के समय भी दोहरायी गयी और दिल्ली सल्तनत की स्थापना तक यह पूरी तरह से स्थापित हो गई।

सल्तनत के अधीन सुल्तान तथा खलीफा

सुल्तान तथा खलीफा के सम्बन्धों को लेकर विद्वानों में अधिक मतभेद हैं। वे ये स्वीकार करते हैं कि सैद्धान्तिक आधार पर सल्तनत खिलाफत का एक अंग थी। इस संदर्भ में सुल्तानों द्वारा खलीफा के नाम के सिक्कों को ढलवाने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। **प्रो. अरनाल्ड** ने लिखा है, 'जिस प्रकार पैगम्बर खुदा का प्रतिनिधि, उसी प्रकार खलीफा पैगम्बर का प्रतिनिधि, और सुल्तान खलीफा का प्रतिनिधि था।' बगैर खलीफा के प्रतिज्ञापत्र के मुस्लिम जगत का कोई शासक सुल्तान की उपाधि धारण नहीं कर सकता था। **प्रो. कुरैशी** भी यही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इस्लाम की पूर्वी सीमाओं में अब्बासी खिलाफत की स्थिति असन्दिग्ध थी और कोई शासक बगैर खलीफा की स्वीकृति प्राप्त किये हुए स्वयं को वैधानिक शासक नहीं कह सकता था। **अजीज अहमद** की भी यह मान्यता है कि सल्तनत काल में खलीफा की सत्ता को व्यावहारिक रूप में स्वीकार किया जाता रहा। उसकी स्वीकृति सुल्तान की वैधानिक मान्यता के लिए आवश्यक थी।

यह धारणायें बताती हैं कि मुगल राज्य के उत्थान के पहले समस्त भारत के राजनैतिक संगठन का एकमात्र आधार खलीफा की प्रभुता थी तथा भारत में 'पैन–इस्लाम' का विचार विद्यमान था। इस संदर्भ में हमारे सामने यह समस्या है कि दिल्ली सुल्तानों ने अपनी वैधानिक संप्रभुता के लिये अब्बासी खिलाफत की सत्ता को कहां तक स्वीकारा और किस सीमा तक उन्होंने अपने राज्य को खलीफा के राज्य का एक अंग–मात्र माना।

ममलूक वंश तथा खलीफा

सल्तनत काल में इल्तुतमिश प्रथम सुल्तान था जिसने बगदाद के खलीफा से खिलअत (साम्राज्य को वैधानिकता प्रदान के लिये स्वीकृति–पत्र) प्राप्त की थी। 1229 ई. को खलीफा (अबू जफर मन्सूर अल मुस्तनसिर–बिल्लाह) के प्रतिनिधि दिल्ली आये और सुल्तान को खिलअत देने के साथ ही उसके सम्बन्धियों और मन्त्रियों को भी सम्मानित किया। **डॉ. त्रिपाठी** ने लिखा है, 'इस स्वीकृति ने केवल सल्तनत को खिलाफत की कल्पना से बांध दिया अपितु कानूनी रूप में खलीफा द्वारा स्वीकृति को मान्य ठहराया।' इल्तुतमिश ने '**नासिर-अमीर-उल-मोमीन**' की नयी उपाधि धारण की जिसका अर्थ था कि वह स्वयं का

अमीर-उल-मोमीन (अब्बासी खिलाफत) का सहायक स्वीकार करता है। इसका य अथ लगाना उचित न होगा कि [illegible] अपने राज्य को खिलाफत का एक अंग अथवा खलीफा को अपना अधिराज (Suzerain) स्वीकार कर लिया था। बगाल के [illegible] जिसको कि उसके समान ही खलीफा से खिलअत मिली थी, आधीन करने में उसने कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। इसका [illegible] था कि **नासिर अमीर-उल-मोमीन** की उपाधि धारणा करना केवल एक औपचारिकता से अधिक नहीं था जिसको कि [illegible] महमूद गजनवी के समय से अपना लिया था। ये मात्र पुराने समय की एक स्मृति थी जबकि वास्तव में तुर्क खलीफा [illegible] थे और खिलाफत अपने अस्तित्व के लिये उन पर निर्भर थी।

दास वंश के अन्य शासकों के व्यवहार से भी इसकी पुष्टि होती है। एक पुरानी स्मृति को जीवित रखने के लिये [illegible] प्रकार की नीति अपनाई थी। यदि ऐसा न होता तो हलाकू द्वारा 1258 ई. में खलीफा और खिलाफत को असम्मानित करने [illegible] भी उसका भारत में भव्य स्वागत न किया जाता। यदि खलीफा को वास्तव में मुस्लिम जगत का अधिराज स्वीकार किया गया होता तो उसके विध्वंसक को निश्चित ही दिल्ली सुल्तान शत्रु मानते तथा उसका स्वागत नहीं करते। सुल्तानों में खलीफा के प्रति कोई लगाव नहीं था इसलिए उन्होंने भावनाओं की अपेक्षा राजनैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को अधिक उपयोगी समझा। खलीफा का नाम केवल मुद्राओं में अंकित किया जाता रहा।

खल्जी वंश तथा खलीफा—जलालुद्दीन खल्जी के राज्यकाल में भी इसी प्रकार की मुद्रायें ढाली जाती रहीं। खलीफा मुस्तसिम की मृत्यु हो चुकी थी परन्तु फिर भी उसका नाम उसी प्रकार से मुद्राओं पर अंकित किया जाता रहा। स्वयं के लिए उसने सुल्तानों की परम्परागत उपाधि को ही चुना। उसके समय में घटित सिद्दी मौला की घटना में खिलाफत की मिथ्या–भावना को और अधिक स्पष्ट कर दिया। सिद्दी मौला और उसके समर्थकों ने जलालुद्दीन के विरुद्ध षड़यन्त्र रच उसे अपदस्थ करने की योजना बनाई। सिद्दी मौला स्वयं शासक बनाने का इच्छुक था परन्तु उसके समर्थक उसे खलीफा बनाना चाहते थे। यदि अब्बासी खिलाफत को वास्तव में सुल्तानों की प्रेरणा व शक्ति का स्त्रोत समझा जाता तो निश्चित ही सिद्दी मौला के समर्थक उसको खलीफा बनाने की नहीं सोचते। **बरनी** भी ऐसे लोगों की भर्त्सना करने से नहीं चूकता। उसने इसके विरोध में जलालुद्दीन द्वारा सिद्दी मौला के [illegible] की कटु आलोचना की है। इसका अर्थ था कि खलीफा कभी भी भारत का वैधानिक शासक स्वीकार नहीं किया गया था। साधारण वर्ग के लिये खलीफा भारतीय राजनीतिक में अर्थहीन था।

अलाउद्दीन खल्जी ने '**यामिन-उल-खिलाफत-अमीरूल-उल-मोमीन**' की उपाधि धारण की, परन्तु वास्तविकता यह है कि उसके काल तक इस प्रकार की उपाधि धारण करना एक सामान्य सी बात हो गई थी। यह केवल तुर्कों के उज्ज्वल अतीत की प्रतीक थी। यद्यपि अलाउद्दीन ने कभी भी खलीफा की उपाधि धारण करने का विचार नहीं किया, परन्तु अमीर खुसरो उसे अपने युग का खलीफा ही सम्बोधित करता है। **अमीर खुसरो** इस्लामी परम्पराओं से पूर्णतया भिज्ञ था। वह उसे कभी भी अपने युग का खलीफा नहीं कहता यदि वास्तव में भारत का राज्य खिलाफत का एक अंग होता अथवा खलीफा सुल्तानों का अधिराज तथा समस्त शक्ति का स्रोत समझा गया होता। यह उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है जबकि अलाउद्दीन न अब्बासी खिलाफत के घातक [illegible] रस के खान से कूटनीतिज्ञ सम्बन्धों को बनाये रखने में अधिक उत्सुकता दिखाई। इससे स्पष्ट होता है कि सुल्तान भावनात्मक [illegible] ठन की अपेक्षा राजनीतिक मांगों को अधिक महत्त्व देते थे।

कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खल्जी ने तो स्वयं को खलीफा घोषित किया। उसने '**खिलाफत उल्लाह, अमीर-उल-मा मीन, ईमाम-उल-आजम**' आदि की उपाधियां धारण कीं। वह केवल इससे ही सन्तुष्ट नहीं हुआ अपितु उसने राजधानी दिल्ली को '**दारूल खिलाफत**' की संज्ञा भी दे डाली। लेकिन इस सब के बाद भी उलेमाओं ने उसकी किसी प्रकार से निन्दा नहीं की और **अमीर खुसरो** ने दिल्ली को दारूल खिलॉफत कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। फीरोज तुगलक जैसे धार्मिक प्रवृत्ति के शासक ने उसके मकबरे की मरम्मत करवायी तथा मुहम्मद तुगलक ने उसकी तीर्थ–यात्रा कर उसके पादुकों को चूमा यह नहीं अपितु उसने **इब्न बतूता** को इसकी समुचित व्यवस्था के लिए नियुक्त किया। यदि खिलाफत वास्तविक रूप में सुल्तान का अधिराज अथवा उनकी शक्ति का एकमात्र स्रोत होती तो इन समस्त घटनाओं का घटना नितान्त असम्भव होता। अलाउद्दीन खल्जी की इस नीति के लिए सम्भवतः मध्य एशिया की राजनैतिक स्थिति ही निर्णयात्मक तत्व थी।

तुगलक वंश तथा खलीफा—तुगलक शासकों के खलीफा से सम्बन्धों का विवेचन करने से पहले यह अधिक उचित [illegible] भारत में शिया मत की गतिविधियों का अध्ययन करें क्योंकि तुगलकों की नीति इससे अधिक प्रभावित थी। भारत में [illegible] पदार्पण खलीफा मुअतमिद (872-892 ई.) के काल में हुआ और तब से लेकर तुगलकों के काल तक शिया तथा सुन्नी [illegible] होता रहा। इस संघर्ष में शिया मतावलम्बियों की सफलता ने सुन्नी सम्प्रदाय के सदस्यों को अधिक सतर्क कर दिया [illegible]

गतिविधियों के कारण ही तुगलक शासकों ने अनेक बार अब्बासी खिलाफत का समर्थन किया जो कि कट्टर सुन्नी पक्ष का प्रतीक थी।

गयासुद्दीन तुगलक जिसने नासिरूद्दीन खुशरब शाह के विरुद्ध कट्टर सुन्नी मत का पक्ष लिया था, स्वयं को खलीफा घोषित करने की सोच भी नहीं सकता था। सुल्तान बनने के लिए उसे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, उनसे वह पूरी तरह सजग था और वह यह भी जानता था कि यदि उसने स्वयं को खलीफा घोषित किया तो उसे भीषण संघर्ष का सामना करना पड़ेगा। इसलिए उसने केवल '**नासिर अमीर-उल-मोमीन**' की उपाधि ही धारण की।

विवेकी सुल्तान होने के नाते मुहम्मद तुगलक ने खलीफा के नाम की अर्थहीनता को भली प्रकार से जान लिया था। इसके अतिरिक्त क्योंकि वह मिस्र के ममलूक सुल्तान **अलनासिर**, फारस के **इलखनीद अबू** व ट्रान्स–आक्सीनिया के **चगताई तमाशिरिन** से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था इसलिए उसके लिए खलीफा से सम्बन्ध रखना सम्भव ही नहीं था। इन तीनों ही देशों में खलीफा का अर्थ विभिन्न और विरोधी रूपों में स्वीकार किया जाता था। इसलिए उसने अपने सिक्कों पर एक ओर कलमा दूसरी ओर '**अल-मुजाहिद-फी सबील अल्लाह**' तथा प्रथम चार खलीफाओं के नाम ही अंकित कराये। छोटे मूल्य के सिक्कों पर उसने '**अल-सुल्तान-जिल्ली अल्लाह**' अर्थात् सुल्तान ईश्वर की छाया है अथवा 'ईश्वर सुल्तान का समर्थक है' अथवा, जो सुल्तान की आज्ञा पालन करता है वह ईश्वर की आज्ञा–पालन करता है अंकित करवाये।

परन्तु इन सब पवित्र उद्घोषणाओं के बाद भी उसके विरुद्ध होने वाले विद्रोहों और षड़यन्त्रों में कोई अन्तर न पड़ा। इनमें प्रमुखतः दो वर्ग सक्रिय थे–अधिकारी वर्ग तथा उलेमा वर्ग। अधिकारी वर्ग उससे इसलिए असन्तुष्ट था क्योंकि वह शासन के केन्द्रीयकरण में विश्वास करता था जिसके फलस्वरूप उनके अधिकारों में कटौती हुई थी। उलेमा वर्ग उससे इसलिए असन्तुष्ट था क्योंकि उसने उन्हें दान आदि देकर सरकारी पदों को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया था। इस प्रकार उसकी अविवेकपूर्ण नीति ने इन विभिन्न वर्गों को उसके विरुद्ध संगठित होने का अवसर दिया।

उलेमाओं ने मुहम्मद तुगलक के विरोध मे घृणित प्रचार किया। उन्होंने कहा कि सुल्तान ने इस्लाम के विरुद्ध विद्रोह किया है और काफिरों का साथ देकर स्वयं अपने जीवन से वंचित हो गया है। बरनी के अनुसार सुल्तान की सुन्नी धर्म, पैगम्बर व कुरान में अविश्वास हो गया है। उलेमाओं का साधारण वर्ग पर अधिक प्रभाव था इसलिए चारों और सुल्तान का विरोध किया जाने लगा। आरम्भ में सुल्तान पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बरनी के अनुसार सुल्तान का कथन था, "मैं इन विद्रोहों से तनिक भी व्याकुल नहीं हूं। मुझे इस चर्चा का ज्ञान है कि मेरे द्वारा अत्यधिक रक्तपात की नीति के कारण ही ये विद्रोह हो रहे हैं, परन्तु मैं इस चर्चा

मानने को तत्पर हो जायेगा।

इस नीति के आधार पर उसने अब्बासी खलीफा की खोजबीन आरम्भ की जिससे कि साधारण वर्ग उसके विचारों से परिचित हो जाए। ईद और जुम्मे (शुक्रवार) की नमाज को एक बार बन्द कर दिया और फिर उन्हें पुनः चालू किया जिससे कि मुसलमान उसके नये विचारों से अवगत हो जायें। खलीफा के नाम से सिक्के ढलवाये व उसी के नाम में खुतबा पढ़ा गया। खलीफा से खिलअत (अभिषेक वस्त्र) भी प्राप्त की। इस अवसर पर जब खलीफा के प्रतिनिधि दिल्ली आये तो उसने अत्यन्त विनम्रता का व्यवहार किया तथा उनके प्रति अत्यधिक सम्मान दिखाया।

सुल्तान की ये समस्त कार्यवाहियां उसके विरोधियों से छिपी नहीं रही। उलेमा–वर्ग यह अनुभव करने लगा कि यह प्रतिकारक नीति है और जिस धर्म की आड़ में उन्होंने सुल्तान के विरुद्ध प्रचार किया था, सुल्तान उसी माध्यम से उन्हें विफल करने का प्रयास कर रहा है।

सुल्तान की इस नीति से उसकी राजनैतिक स्वतन्त्रता अथवा स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। यह मान लेना कि इस नीति के आधार पर सुल्तान पेन–इस्लाम (इस्लामी एकता) का समर्थक हो गया नितान्त भ्रमात्मक होगा। मुहम्मद तुगलक की इस नीति तथा इसकी प्रतिक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि पेन–इस्लाम का विचार कितना अधिक खोखला था। वह तो केवल खलीफा का नाम उलेमाओं द्वारा किये गये प्रचार के विरोध में काम लेने के लिए ही उत्सुक था। खलीफा के नाम का उपयोग करने के बाद भी विद्रोहों में किसी प्रकार की कमी नहीं आयी जिससे यह स्पष्ट है कि मुसलमान अब अब्बासी खिलाफत के प्रति कोई आस्था नहीं

रखते थे। यदि ऐसा होता तो खलीफा का समर्थक होने के बाद मुसलमानों के विद्रोहों में निश्चित ही कमी आ जाती।

मुहम्मद तुगलक ने अपनी जल्दबाजी और खलीफा के नाम की निष्फलता का अनुभव किया। तत्पश्चात् जब खलीफा का प्रतिनिधि गियासुद्दीन मुहम्मद दिल्ली आया तब सुल्तान ने सोचा कि उसे स्वयं खलीफा घोषित कर दिया जावे। इस प्रकार खलीफा को अपने आधीन कर मुस्लिम जगत को यह दिखाना चाहता था कि वह सुन्नी मत का कठोर समर्थक है। परन्तु इसमें वह असफल रहा। अपनी असफलता को देख उसने पुनः शक्ति से विद्रोहों को दबाने की नीति अपनाई।

मुहम्मद तुगलक ने खलीफा के सम्बन्ध में एक परिपाटी छोड़ी थी और फीरोज तुगलक अपना उत्तराधिकार-पक्ष कमजोर होने के कारण इसका परित्याग करने में असमर्थ था। उसके चुनाव में क्योंकि उलेमा वर्ग ने सक्रिय भाग लिया था इसलिए उसने यह अधिक उचित समझा कि खलीफा के साथ मधुर सम्बन्ध रखे जायें। उसका मत था कि बगैर खलीफा की अनुमति के कोई भी भारतीय शासक सुरक्षित नहीं है।

इस समय उत्तरी भारत में शिया मतावलम्बियों की गतिविधियां अधिक घातक हो गई थीं। फीरोज तुगलक ने, जो मुहम्मद तुगलक के विरुद्ध प्रचार के परिणामों से परिचित था, अधिक उचित समझा कि इनकी गतिविधियों को भयानक रूप धारण करने के पहले ही कुचल दिया जाए। इसके लिए उसने उलेमाओं को प्रसन्न रखना ही ठीक समझा। उसने उनसे अपने कार्यों की अनुमति प्राप्त की तथा सुन्नी धर्म को ही राज्य-धर्म के रूप में स्वीकार करने की नीति अपनाई।

फीरोज ने दो बार खलीफा से खिलअत प्राप्त की। खुतबे में पिछले सुल्तानों के नाम के साथ ही कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खल्जी का नाम भी लिया जाने लगा। यह आश्चर्यजनक है कि फीरोज जैसे धार्मिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति ने एक ऐसे सुल्तान का नाम खुतबे में रखा जिसने स्वयं को खलीफा घोषित किया था। यदि खिलाफत का कोई अस्तित्व अथवा प्रभाव शेष होता तो सम्भवतः फीरोज मुबारकशाह खल्जी का नाम खुतबे में नहीं रखता।

फीरोज द्वारा ढलवाये गये सिक्कों पर '**अल हकीम अल मुताजिद**' तथा '**अल मुतवाकिल**' के नाम अंकित हैं। अल मुताजिद व अल मुतवाकिल के नाम उनकी मृत्यु के बाद भी सिक्कों पर अंकित करवाये जाते रहे। खलीफाओं के नाम सिक्कों पर अंकित करने का अर्थ यह नहीं था कि फीरोज ने खलीफा को अपना अधिराज स्वीकार कर लिया है अपितु यह केवल एक परिपाटी का पालन था।

सैयदों और लोदियों के सिक्कों के लेख अर्थहीन हैं। इन लेखों का प्रयोग केवल सिक्कों की सजावट के लिए किया गया। उन्होंने अक्सर अपने पूर्वजों के ठप्पों के अनुभाग (ऊपरी हिस्सा) का उपयोग किया और इसलिए लेख अर्थहीन में मिल गये। इन दोनों ही वंश के शासकों ने कभी भी अब्बासी खलीफा के [illegible] का उल्लेख नहीं किया। [illegible] मुहम्मद तुगलक के आरंभिक से [illegible] प्रकार करवाये। यही शैली उसके उत्तराधिकारी [illegible] व मुहम्मद आदिल शाह के [illegible] केवल यही परिणाम निकलता है कि वे एक परिपाटी का ही पालन कर रहे थे।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सुन्नी सुल्तानों ने ही केवल अब्बासी खिलाफत के नाम को अपने साथ सम्बद्ध किया परन्तु इस सम्बद्धता के आधार पर इन्होंने न तो खलीफा को अपनी शक्ति का स्रोत अथवा अधिराज स्वीकार किया और न ही इस्लाम की एकता के विचार को ही घोषित किया। अब्बासी खिलाफत को उन्होंने केवल तुर्कों के उज्ज्वल अतीत के स्मरणार्थ ही अपने नाम के साथ सम्बद्ध किया था।

सुल्तान

प्रारम्भिक इस्लामी व्यवस्था में सुल्तान के पद का कोई अस्तित्व नहीं था। खिलाफत की शक्ति के क्षीण होने के साथ सुल्तान एक शक्तिशाली शासक के रूप में अस्तित्व में आया। वह एक स्वतंत्र राज्य के सार्वभौमिक शासक के रूप में था। शासन की कोई व्यापक व्यवस्था इस काल में विकसित नहीं हुई। कानून, परम्पराओं और समयानुकूल आवश्यकताओं ने सुल्तानों के राजनैतिक दृष्टिकोण को प्रभावित किया। इन्हीं तीनों तत्वों ने सुल्तानों के राजत्व संबंधी सिद्धान्त को निर्धारित किया। जहां तक वे अपने को **खलीफा का प्रतिनिधि** समझते थे, उनका दृष्टिकोण कानूनी आवश्यकता पर आधारित था परम्परा का तत्व उनके राजत्व में इस से लिया गया था। राजनीतिक परिस्थितियों ने उनकी राजनयिक संस्थाओं की निरकुंशता की अधिकता या कमी पर प्रभाव डाला।

प्रारम्भिक तुर्क सुल्तानों ने स्वयं को खलीफा का नायब घोषित किया। कुरान में **सुल्तान** या **सल्तनत** का कोई उल्लेख नहीं

इस पद को न्यायसंगत बनाने के लिए विभिन्न कदम उठाए गए थे। सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा स्वीकार की जाए, इसलिए खलीफा की अधीनता की घोषणा की गई। समकालीन इतिहासकारों ने राज्य को शरीर के समान बताते हुए सुल्तान को उसका सबसे महत्वपूर्ण या आवश्यक अंग बताया है।

सर्व सत्ताधिकारी होने पर भी अनेक सुल्तानों ने स्वयं को खलीफा का **नायब** घोषित किया। दसवीं शताब्दी के बाद खलीफा केवल इस्लाम की एकता का प्रतीक बनकर रह गया था, जिसको प्रत्येक मुस्लिम शासक नाममात्र के लिए अपना अधिपति मानता था। दिल्ली सुल्तान जनहित के लिए नागरिक और राजनीतिक नियम बनाते थे। **खुतबा** व **सिक्के** प्रभुसत्ता के प्रतीक समझे जाते थे। वे सिक्कों व खुतबे में खलीफाओं के नाम अंकित कराते थे परन्तु इससे उनकी व्यवहारिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। **खुतबा** एक औपचारिक धर्मोपदेश है जो शुक्रवार के समय पढ़ा जाता है। इसमें सुल्तान नाम समुदाय के प्रमुख के रूप में लिया जाता था। सिक्कों को जारी करना भी राजसत्ता को अधिकार था। सिक्कों पर सुल्तान का नाम खुदा रहता था। ऐसा करके वे अपनी सुन्नी प्रजा और उलेमा वर्ग की वफादारी प्राप्त करते थे परन्तु वास्वत में वे स्वतंत्र शासक थे।

आदि तुर्क शासकों के राजत्व में परम्परा का तत्व फारस से आया। उन्होंने फारसी राजत्व की परम्पराओं व विचारों को अपनाते हुए अपने पद की उच्चता पर बल दिया। उन्हीं के समान राजा को धरती पर ईश्वर की छाया घोषित किया गया। सुल्तान के प्रति वफादारी को ईश्वर के प्रति वफादारी बताया गया और सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह को पाप की संज्ञा दी गई। जनता द्वारा सुल्तान का आज्ञापालन करवाने के लिए कुरान के इस पद पर बल दिया गया कि 'ईश्वर की आज्ञा का पालन करो, खलीफा की आज्ञा का पालन करो और जिनके हाथ में शक्ति है, उनका आज्ञापालन करो।' फारसी परम्पराओं के अनुसार इस बात पर बल दिया गया कि सुल्तान के समान अन्य कोई नहीं है और कोई उसका संबंधी भी नहीं है। जनसाधारण के साथ निकटता का संबंध रखना सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा के विरुद्ध माना गया।

सुल्तान के अधिकार एवं कर्त्तव्य

सुल्तान की स्थिति की विवेचना के पश्चात् उसके अधिकार और उत्तरदायित्वों की विवेचना करना आवश्यक है। शासन के क्षेत्र में सुल्तान कार्यपालिका का अध्यक्ष, सर्वोच्च सेनाध्यक्ष, विधि निर्माता व मुख्य न्यायाधीश था। राज्य की समस्त शक्तियां उसके हाथों में केन्द्रित थीं और वह सम्पूर्ण प्रजा का शासक ही नहीं अपितु मुस्लिम वर्ग का धार्मिक नेता भी था। मुस्लिम विधिशास्त्रियों के अनुसार सुल्तान के निम्न कार्य थे :

1. इस्लाम की सुरक्षा करना;
2. प्रजाजनों के विवादों और मतभेदों को निपटाना;
3. इस्लाम के भू–प्रदेशों की रक्षा करना तथा यात्रियों के लिए यातायात के साधनों को सुरक्षित रखना;
4. फौजदारी कानूनों को लागू करना और उन्हें बनाए रखना;
5. मुस्लिम राज्य की सीमाओं को आक्रमणकारियों के विरुद्ध दृढ़ बनाना;
6. काफिरों के विरुद्ध जिहाद छेड़ना;
7. राज्य करों को एकत्रित करना;
8. सार्वजनिक कोष से सुपात्रों को भत्ता आदि देना;
9. ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति करना जो उसे न्यायिक व सार्वजनिक कार्यों को पूरा करने में सहयोग दें;
10. सार्वजनिक मामलों पर कड़ी निगरानी रखना और व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा लोगों की दशा की जानकारी रखना;
11. व्यक्तिगत रूप से प्रशासन का निरीक्षण व देखभाल करना;
12. प्रांतों में प्रशासन व राजस्व व्यवस्था के लिए विश्वसनीय व्यक्तियों और सलाहकारों को नियुक्त करना।

इस प्रकार सुल्तान के अधिकार अत्यधिक विस्तृत थे। सुल्तानों ने अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाचारी व निरकुंश सत्ता की स्थापना की। **कुरैशी** लिखते हैं कि "सुल्तान सार्वजनिक मामलों का नियन्त्रण करता है, अधिकारों की रक्षा करता है, दण्ड विधान को लागू करता है। वह एक ऐसा ध्रुवतारा है जिसके चारों और शासन चक्कर काटता है। अपने राज्य में वह ईश्वरीय संरक्षक है, उसकी छाया उसके सेवकों पर व्याप्त है, क्योंकि वह निषिद्ध बातों पर रोक लगाता हैं। वह अत्याचारियों का उन्मूलन करता है और कायरों अथवा भयग्रस्त लोगों को सुरक्षा प्रदान करता है।" यद्यपि सुल्तान के कानूनी अधिकार असीमित थे तथापि व्यवहारिक रूप में उस पर अनेक प्रतिबंध थे। तुर्कों की संख्या भारत में कम थी। भारतीय परम्पराओं और रीति रिवाजों को नजरान्दाज

करना उनके लिए कठिन था। उन्हें हिन्दुओं के विशेषज्ञों पर कुछ हद तक निर्भर रहना पड़ता था व साथ ही [illegible] स्वरूप को ध्यान में रखना पड़ता था। उसे अपने अधिकारों के प्रयोग में अपनी सैनिक शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता था। इसके अतिरिक्त सुल्तान को उलेमा वर्ग व अमीर वर्ग की शक्ति पर बराबर निगरानी रखनी पड़ती थी। इन वर्गों की [illegible] की स्थिति पर सुल्तान को अत्यन्त सावधानी बरतनी पड़ती थी। इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय [illegible] विकास राजनीतिक शक्ति के रूप में हो गया और वे विभिन्न राजनीतिक दलों के साथ मिल गए व राजनीति में [illegible] हस्तक्षेप किया। सुल्तान व अमीरों के बीच चलने वाले लम्बे संघर्ष में दोनों पक्षों ने मुस्लिम जनता पर उलेमा के प्रभाव का लाभ उठाने का प्रयत्न किया।

मूलतः इस्लामी राज्य का रूप लोकतांत्रिक था, तथापि परिस्थितियों के कारण दिल्ली सल्तनत की सरकार को एक केन्द्रीय संगठन का रूप धारण करना पड़ा। हिन्दू सामंतों के विरोधी मनोभाव व उत्तर–पश्चिमी सीमान्त पर मंगोलों के प्रसार के कारण शासन के केन्द्रीयकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई। सुल्तान राज्य में प्रत्येक वस्तु की चालन शक्ति था। खलीफा की भांति वह शरा का सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता व कार्यान्वयनकारी था। परन्तु सुल्तानों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने पथ–प्रदर्शन के लिए उलेमा वर्ग का निर्देश प्राप्त करें। किन्तु अधिकांश उलेमा प्रलोभन का त्याग नहीं कर पाते थे व सुल्तान की हां में हां मिलाकर उसको और निरकुंश बना देते थे। **बरनी** बताता है कि अलाउद्दीन खलजी जैसे सुल्तानों ने उलेमा वर्ग की गतिविधियों को सीमित किया क्योंकि गद्दी पर बैठने के बाद उसके हृदय में यह बात बैठ गई कि राज्य व्यवस्था तथा शासन–प्रबन्ध को शरीयत के आदेश के अनुरूप संचालित नहीं किया जा सकता है। वह मानता था कि राज्य सम्बन्धी बातें सुल्तान सम्बन्धित हैं वे शरीयत के आदेश काजियों व मुक्तियों के साथ। इससे प्रतीत होता है कि व्यवहार में सुल्तान अपनी मर्जी का मालिक था। अगर वह इनकी राय लेता था या राय को महत्व देता था तो यह तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की मांग थी। अलाउद्दीन खलजी व मुहम्मद तुगलक जैसे शक्तिशाली सुल्तानों ने कई अवसरों पर कुरान के नियमों की खुली अवहेलना की।

परन्तु इतना होते हुए भी सुल्तानों को इस्लाम धर्म का अंकुश मानना पड़ता था। सभी शासक अलाउद्दीन अथवा मुहम्मद तुगलक की भांति उलेमाओं के परामर्श की उपेक्षा करके शासन नहीं चला सकते थे क्योंकि मुस्लिम जनता पर मुल्ला मौलवियों का प्रभाव था।

इसके अतिरिक्त सुल्तान को लोकमत और विद्रोह का भय लगा रहता था। इसलिए वह कुछ सर्व स्वीकृत नियमों के अनुसार आचरण करने को बाध्य था। खलीफा की भांति उसकी भी विधायक शक्तियां बहुत सीमित थीं और प्रशासन जैसे नितांत धर्मनिरपेक्ष विषयों में भी शरा के नियमों का कम से कम औपचारिक रूप से पालन अनिवार्य था।

सुल्तान की शक्ति पर अमीर वर्ग का प्रभाव भी कुछ हद तक प्रतिबंधों के रूप में काम करता था। अयोग्य सुल्तानों के समय इन अमीरों का प्रभाव बहुत अधिक होता था जैसे इल्तुतमिश के निर्बल उत्तराधिकारी अमीरों के हाथ की कठपुतली थे किन्तु बलबन जैसे शक्तिशाली सुल्तानों के समय में अमीर वर्ग आज्ञाकारी से अधिक कुछ नहीं होते थे। बहुधा नवीन राजवंश के आरंभ के साथ–साथ अधिकांश पुराने अमीर मार डाले जाते थे या फिर छोटे पदों पर कर दिए जाते थे। इस प्रकार अमीर वर्ग को सल्तनत काल में गौरवशाली पद प्राप्त न हो सका। इस काल में अमीरों में प्रायः गुटबन्दी व पारस्परिक ईर्ष्या रहती थी। इस कारण इनका प्रभाव घटता–बढ़ता रहता था। सुल्तानों व अमीरों के पारस्परिक शक्ति संबंधों की जो स्थिति तुर्क सुल्तानों के समय रही वह लोदी कालीन अफगान शासन व्यवस्था के समय तक न बनी रह सकी। लोदियों ने अमीरों का सम्मान इतना बढ़ा दिया कि वे अपनी स्थिति 'सम्मानों में प्रधान' की हो गई। परन्तु इसकी असुविधाओं को अंतिम लोदी सुल्तानों ने अनुभव किया कि सुल्तान व अमीरों के बीच संबंधों की रूपरेखा वही होनी चाहिए जो तुर्ककाल में थी। इस प्रकार तत्कालीन सुल्तान पर असन्तुष्ट अमीरों के विद्रोह के डर का अंकुश हमेशा बना रहता था।

केन्द्रीय शासन पर सबसे अधिक प्रभाव सुल्तान के व्यक्तित्व का पड़ता था। सुल्तान की सहायता के लिए मंत्री होते थे जिन्हें सुल्तान इच्छानुसार नियुक्त करते थे। शक्तिशाली सुल्तान के समक्ष में मंत्री आज्ञापालक के रूप में कार्य करते थे परन्तु निर्बल सुल्तानों के समय मंत्री सारी शक्ति को अपने हाथ में लेकर सुल्तान को कठपुतली बना सकते थे सैद्धान्तिक रूप से सल्तनत में सुल्तान की सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद होती थी जिसे मजलिस–ए–खलवत कहते थे।

अमीर वर्ग

सल्तनत काल में प्रायः सभी प्रभावशाली प्रशासनिक पदों पर नियुक्त व्यक्तियों को 'अमीर' कहा जाता था अतः शासन पर इनका प्रभाव केंद्रीय था और कुछ सीमा तक वे सुल्तान की शक्तियों पर अंकुश भी लगा सकते थे। इन अमीरों का सर्वाधिक [illegible]

समय होता था जब सुल्तान अयोग्य, निर्बल अथवा अल्पवयस्क होता था। ऐसे समय पर सुल्तान के चयन और उसे सत्ता में बनाए रखने में अमीरों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती थी। जैसे इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी सुल्तान अमीरों के नियंत्रण में रहे। जबकि बल्बन और अलाउद्दीन के समय में अमीर वर्ग उनके प्रति आज्ञाकारी रहा। मुहम्मद तुगलक के राज्यकाल में हुए विद्रोहों में 'अमीरों' की भूमिका महत्वपूर्ण थी।

अमीरों की नियुक्ति या पद–मुक्ति पर सुल्तान का अधिकार था। प्रायः प्रत्येक राजवंश अथवा सुल्तान के साथ अमीर बदलते रहते थे जैसे कुतबी अमीर, शम्सी अमीर, बल्बन अमीर, जलाली अमीर इत्यादि। इस कारण उन्हें वंशानुगत महत्व प्राप्त करने का अवसर नहीं मिलता था और उनमें नए रक्त का संचार भी होता रहता था। इसके अतिरिक्त अमीरों को स्थानांतरित भी किया जाता था। इस प्रकार सामान्यतः अमीरों का महत्व सुल्तान की कृपा पर निर्भर होता था।

अमीर वर्ग के विभिन्न कार्यों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

1. सुल्तान के प्रादेशिक विस्तार के कार्यों में उसकी सहायता करना।
2. राजनीतिक संकट के समय सुल्तान को परामर्श देना।
3. सल्तनत के विभिन्न भागों में उभरों वाले विद्रोहों का दमन कर आन्तरिक शांति व्यवस्था स्थापित करना।
4. बाह्य आक्रमणों से सल्तनत की रक्षा करना।
5. राजनीतिक संकट व अस्थायित्व की स्थिति में सुल्तान के उत्तराधिकारी का चयन व नियुक्ति करना।
6. केंद्रीय प्रशासन में विभिन्न उत्तरदायी पदों को संभालना यथा नायब, वजीर, सेना प्रमुख, आरिज–ए–मुमालिक, विभागाध्यक्ष, शाही अधिकारी प्रांतीय शासक इत्यादि।
7. इक्तादार, वली, मुक्ता, व जागीरदार के रूप में प्रांतीय व नगरीय प्रशासन की देख–रेख करना।

दिल्ली सल्तनत में अमीर वर्ग राजनीति में महत्वपूर्ण अंग थे। **मिनहाज-उस सिराज** की पुस्तक '**तबकाते नासिरी**' और **जियाउद्दीन बरनी** की पुस्तक '**तारीखे फिरोजशाही**' से यह स्पष्ट जानकारी मिलती है कि केंद्रीय तथा प्रांतीय प्रशासन के सभी महत्वपूर्ण पदों पर तुर्क अधिकारियों का एकाधिकार था जिन्हें चिहिलगानी (Chahalgani) या 'चालीस' की उपाधि दी गई थी जो संख्या नहीं बल्कि उनकी शक्ति का सूचक थी। उच्च पदाधिकारियों को खां, मलिक या अमीर कहते थे। अमीर स्वयं को राजसत्ता का भी अधिकारी समझते थे अतः तेरहवीं शताब्दी में निरंतर सुल्तान और अमीरों के बीच कुछ न कुछ विवाद उत्पन्न होते रहे। शायद इसी कारण से बल्बन ने सुल्तान के पद और अधिकारों के विषय में विचारों को सैद्धांतिक स्वरूप प्रदान किया और यह विचार प्रकट किया कि 'सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसका स्थान पैगंबर के बाद है।' इस में यह अंतर्निहित था कि ईश्वर का प्रतिनिधि होने के कारण सुल्तान सर्वोच्च व निरंकुश शासनाधिकारी था।

लोदीकालीन अफगान शासक व्यवस्था के समय अमीरों की स्थिति इतनी महत्वपूर्ण बना दी गई थी कि उनका सुल्तान 'समानों में प्रमुख' (First Among Equals) की तरह रह गया था। इस व्यवस्था की असुविधाएं बाद में प्रकट होने लगीं और अंतिम लोदी सुल्तानों को यह अनुभव हुआ कि सुल्तान और अमीरों के बीच संबंधों की रूपरेखा वही होनी चाहिए जो तुर्ककाल में थी जबकि अमीरों का महत्व सुल्तान की कृपा पर निर्भर था यद्यपि तुर्क अमीर सुल्तानों को गद्दी पर बैठाने व हटाने वाली शक्तियों का नेतृत्व तब भी करते थे। कुल मिला कर सल्तनतकालीन सुल्तानों पर यदि कोई अंकुश था तो वह असंतुष्ट अमीरों के विद्रोह का ही था जो असामान्य परिस्थितियों में प्रभावशाली संरक्षक बन कर सारी शक्ति अपने हाथ में ले सकते थे। अन्यथा केंद्रीय शासन में सुल्तान की सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थिति थी। सुल्तान जिन मंत्रियों की नियुक्ति करते थे, वे सुल्तान को केवल परामर्श दे सकते थे। उसके नीति–निर्णयों को प्रभावित नहीं कर सकते थे।

सुल्तान और अमीरों के बीच संघर्ष

सल्तनत काल का राजनीतिक इतिहास दर्शाता है कि सल्तनत का संगठन और ह्रास मुख्यतः कुलीनों (अमीरों) की रचनात्मक ओर विनाशकारी गतिविधियों का परिणाम था। अमीरों की लगातार यह चेष्टा थी कि वे अधिकतम राजनीतिक एवं आर्थिक लाभ प्राप्त कर लें।

इलबरी वंश (1206-90 ई.) के दौरान संघर्ष के तीन प्रमुख मुद्दे थे—उत्तराधिकार, अमीर वर्ग का संघटन और सुल्तान तथा अमीरों के बीच आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियों का विभाजन। जब कुतुबुद्दीन ऐबक सुल्तान बना तो प्रभावशाली अमीरों ने उसकी सत्ता

को स्वीकार नहीं किया। इनमें प्रमुख थे कुबाचा (मुल्तान और उच्छ का गवर्नर), यल्दूज (गजनी का गवर्नर) तथा [illegible] (बंगाल का गवर्नर) इल्तुतमिश को भी यह समस्या उत्तराधिकार में मिली। उसने कूटनीतिज्ञता और शक्ति के प्रयोग से इस का समाधान किया। बाद में इल्तुतमिश ने अमीरों को तुर्कान–ए–चिहिलगानी ("चालीस का दल") नामक सामूहिक गुट में संगठित किया। यह गुट व्यक्तिगत रूप से उसके प्रति वफादार था। "चालीस के दल" के अमीरों की प्रतिष्ठा और विशेषाधिकार [illegible] रखना अमीरों के अन्य दलों के लिए स्वाभाविक ही था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि "चालीस के दल" में आंतरिक मतभेद और कलह नहीं था। केवल एक बात पर इनके विचारों में पूरी एकता थी–इस विशिष्ट गुट में गैर–तुर्की अमीरों के प्रवेश को रोकना। "चालीस के दल" लगातार यह कोशिश करता रहता था कि सुल्तान पर उसका प्रभाव बना रहे। सुल्तान भी इस दल को नाराज करना नहीं चाहता था, लेकिन सुल्तान अन्य दलों के अमीरों को उच्च पदों पर नियुक्त करने का अधिकार भी नहीं छोड़ना चाहता था। इस सबके बीच इल्तुतमिश ने एक अत्यन्त कौशलपूर्ण संतुलन बनाए रखा, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद यह संतुलन समाप्त हो गया। उदाहरण के लिए, इल्तुतमिश ने अपने जीवनकाल में ही अपनी पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद कुछ अमीरों ने रजिया को शासक स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसने "चालीस के दल" के बढ़ाव का मुकाबला करने के लिए गैर–तुर्की (एबीसीनियाई और भारतीय) अमीरों को संगठित करना शुरू किया।

इस दल (चालीस का दल) के काफी अमीरों द्वारा रजिया का विरोध करने का यही एक मुख्य कारण था। इन लोगों ने रुकनुद्दीन फीरोज को समर्थन दिया, क्योंकि वह अयोग्य और कमजोर था। उन्हें पूरी आशा थी कि वह उनकी शक्ति को नष्ट करने का प्रयास नहीं करेगा। नसीरूद्दीन महमूद (1246-66 ई.) के शासन काल में भी यही संघर्ष चलता रहा। बलबन का हटाया जाना इसका बड़ा शक्ति परीक्षण था। बलबन सुल्तान महमूद का नायब (उप) था और "चालीस के दल" का सदस्य था। सुल्तान ने उसे हटा कर उसके स्थान पर एक भारतीय मुसलमान इमादउद्दीन रेहान की नियुक्ति की। अमीरों के तीव्र विरोध के सामने सुल्तान को झुकना पड़ा। रेहान को हटाकर बलबन को पुनर्स्थापित किया गया।

बलबन के शासन काल (1266-87 ई.) में तुर्कान–ए–चिहिलगानी का प्रभाव कम हो गया। सुल्तान बनने से पहले बलबन स्वयं "चालीस के दल" का सदस्य था। इसलिए वह अमीरों की विद्रोही प्रवृत्ति से भली–भांति परिचित था। अतः बलबन ने इन्हीं से सर्वाधिक शक्तिशाली अमीरों को अपना निशाना बनाया और कई अमीरों की हत्या करा दी। उसने अपने रिश्ते के भाई को भी नहीं छोड़ा और उसे मरवा दिया। साथ ही उसने अपने प्रति वफादार अमीरों के एक गुट का गठन भी किया, जिन्हें "बलबनी" कहा गया। "चालीस के दल" के अनकों अनुभवी अमीरों के हटाए जाने से राज्य उनकी सेवाओं से वंचित रह गया। "बलबनी" गुट के अनुभवहीन अमीर इस कमी को पूरा नहीं कर पाए। इसके परिणामस्वरूप इलबरी वंश के शासन का अंत और खलजी वंश की स्थापना हुई।

अलाउद्दीन खलजी के शासन काल (1296-1316 ई.) में अमीरों के समूह की संरचना का विस्तार हुआ। अब अमीरों का कोई दल राज्य पर अपने एकाधिकार का दावा नहीं कर सकता था। अब नियुक्ति का मुख्य आधार स्वामीभक्ति और योग्यता था, किसी विशेष प्रजाति का मत नहीं। साथ ही, वह अमीरों पर विभिन्न प्रकार से नियंत्रण भी रखता था। इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन ने भू–राजस्व की दर को 50 प्रतिशत तक बढ़ाने से भी अमीरों को संतुष्टि हुई होगी क्योंकि इक्तों का आय बढ़ने से उनके वेतन भी बढ़ गए होंगे। सीमाओं के विस्तार के कारण संसाधनों में भी इतनी वृद्धि हो गई कि योग्यता के आधार पर नए व्यक्तियों को जगह मिल सके। मलिक काफूर नामक अबीसीनियाई गुलाम का उदारहण सुप्रसिद्ध है (वह गैर–तुर्की होते हुए भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण अमीर बन गया)। परन्तु यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक न चल सकी। अलाउद्दीन खलजी की मृत्यु के बाद अमीरों के बीच षड्यन्त्र और संघर्ष खुलकर होने लगे तथा खलजी वंश के शासन का अंत हो गया।

जहां तक तुगलक वंश का प्रश्न है तो मुहम्मद तुगलक ने घुमा–फिराकर बार–बार अमीरों को संघटित करने का प्रयास किया लेकिन उनपर नियंत्रण रखने के उसके सभी प्रयत्न विफल हुए। खूरासानी अमीरों, जिन्हें वह "**अइज्जा**" (प्रिय) कहता था, ने भी उसे धोखा दिया। अमीरों द्वारा उत्पन्न की गई समस्याओं का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उसके विरुद्ध लगभग 22 विद्रोह हुए और उसे अपना एक बड़ा क्षेत्र खोना पड़ा (दक्कन का यह क्षेत्र बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ)।

मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद समस्या नियंत्रण से बाहर हो गई। इन परिस्थितियों में फीरोज तुगलक से अमीरों के प्रति नरमी बरतने की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। उसके काल में अमीरों को बहुत–सी सुविधाएं दी गईं। अमीर अपने इक्तों को वंशानुगत बनाने में सफल हुए। सुल्तान की तृष्टिकरण की नीति अमीरों को प्रसन्न रख सकी परन्तु आगे चलकर यह विनाशकारी सिद्ध हुई। सेना अत्यन्त अयोग्य और अक्षम हो गई क्योंकि अलाउद्दीन खलजी द्वारा प्रारंभ की गई घोड़े दागने की प्रथा लगभग समाप्त हो गई

गई थी। अतः फीरोज तुगलक के बाद उसके उत्तराधिकारी और बाद के शासकों के लिए दिल्ली सल्तनत के पतन के प्रवाह को रोकना असभव थ।

सैय्यद (1414-51ई.) और लोदी वंश (1451-1526 ई.) के काल में स्थिति कुछ उत्साहवर्धक नहीं दिखाई देती। सैय्यद तो संकट में निबटने की न तो इच्छा ही रखते थे और न ही वह इस योग्य थे। सिकन्दर लोदी ने आते हुए विनाश को रोकने का अंतिम प्रयास किया। लेकिन अफगानों के आंतरिक मतभेद और उनकी असीमित व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं ने पतन की प्रक्रिया को और तीव्र कर दिया। अंततः दिल्ली सल्तनत पर अंतिम प्रहार बाबर के हाथों हुआ।

मंत्री-गण

शासन कार्य में सुल्तान की सहायता करने के लिए अनेक मंत्री होते थे। ऐसे मंत्रियों अथवा उनके अधीन सरकारी विभागों की संख्या निश्चेत नहीं रहती थी। एक अनुच्छेद में बरनी ने लिखा है कि बल्बन के पुत्र बुगरा खान ने दिल्ली में सुल्तान की गद्दी पर आसीन अपने पुत्र को किसी भी एक सलाहकार पर निर्भर न रहने की सलाह दी, यद्यपि वजीर उन सलाहकारों में प्रमुख था। वह चार विभागों का उल्लेख करते हुए चार प्रमुख सलाहकारों के बारे में बतलाता है। किन्तु चार की संख्या केवल प्रतीकात्मक थी। विभागें की संख्या बदल सकती थी और बदलती रहती थी और व्यवहार में सुल्तान ऐसे किसी भी व्यक्ति से सलाह ले सकता था जिस पर उसे विश्वास हो। इस प्रकार, फखरुद्दीन पर बलबन और फिर अलाउद्दीन खिलजी दोनों को विश्वास था जबकि वह मात्र दिल्ली का कोतवाल था। मंत्रियों की कोई परिषद नहीं होती थी क्योंकि सामूहिक जिम्मेदारी की अवधारणा उस काल में अज्ञात थी। प्रत्येक मंत्री सुल्तान द्वारा चुना जाता था और सुल्तान की मर्जी तक उस पद पर बना रहता था। वजीर को सुल्तान का प्रधान सलाहकार माना जाता था और वह अक्सर समस्त शासन तंत्र पर एक व्यापक नियंत्रण रखता था, किन्तु वह विशेष रूप से वित्त–प्रबंधन के लिए जिम्मेदार होता था।

वजीर

वजीर की भूमिका, शक्तियों और क्षमताओं के संबंध में काफी कुछ लिखा गया है। सल्जूकों के शासन काल में वजीर रह चुके **निजामुल मुल्क तूसी**, जिसकी पुस्तक **'सियासतनामा'** का मुस्लिम राजनीतिक सोच पर काफी प्रभाव पड़ा, के अनुसार, वजीर को **अहल-ए-कलम**, यानी योद्धा के बजाय विद्वान होना चाहिए। उसमें व्यापक अनुभव, विवेक और चातुर्य भी होना चाहिए क्योंकि सुल्तान किसी भी विषय पर उसकी सलाह ले सकता है। साथ ही, उसे एक व्यवहार कुशल व्यक्ति भी होना चाहिए क्योंकि उसे अमीरों को अप्रसन्न किए बिना ही उन पर नियंत्रण रखना होता है।

शक्तिशाली वजीर न केवल समस्त प्रशासन की देख–रेख करते थे, बल्कि सैनिक अभियानों का भी नेतृत्व करते थे। वस्तुतः जब तक सरकार के सैनिक स्वरूप पर जोर दिया जाता रहा तब तक ऐसा होना अपरिहार्य ही था। किन्तु 'एक शक्तिशाली शासक के अन्तर्गत वजीर उतनी ही शक्ति का प्रयोग करता था जितनी सुल्तान उसे अनुमति देता था।' मुस्लिम राजनैतिक विचारकों ने यह कहते हुए इस स्थिति को सामान्यीकृत रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की कि वजीर दो प्रकार के होते हैं–(क) **वजीर-ए-तफ्वीद** जिसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने की शक्ति को छोड़कर असीमित शक्तियां प्राप्त रहती हैं, एवं (ख) **वजीर-ए-तन्फीज** जो मात्र शासक की इच्छाओं को पूरा करता है। किन्तु इसके कारण संबंधित समस्या का हल नहीं निकल पाया। सुल्तान एक ऐसा वजीर चाहता था जो इतना प्रभावशाली हो कि सुल्तान शासन के दैनिक दायित्वों से मुक्त रहे, किन्तु इतना शक्तिशाली भी न हो कि सुल्तान को विस्थापित या महत्त्वहीन ही कर दे। इस समस्या को सुलझाने के लिए अनेक प्रयोग किए गए। कभी–कभी किसी भी व्यक्ति को वजीर पद पर नियुक्त नहीं किया गया अथवा उसके कर्त्तव्यों और अधिकारों को दो व्यक्तियों के बीच बांट दिया गया अथवा उसकी प्रतिस्पर्धा के लिए नए पदों का गठन किया गया अथवा उसे बहुत कम महत्व दिया गया। मोटे तौर पर कहा जाए तो ये प्रयोग 13वीं सदी और 14वीं सदी के प्रथम चतुर्थांश में किए गए। तुगलकों का शासन आरंभ होने पर वजीरों की शक्ति और प्रभाव में काफी वृद्धि हुई।

इल्तुतमिश का वजीर फखरुद्दीन इसामी था जो एक बूढ़ा आदमी था। उसने बगदाद में 30 वर्षों तक उच्च पदों पर कार्य किया था। उसके बाद शीघ्र ही वजीर पद पर मुहम्मद जुनैदी बैठा जिसे निजामुल मुल्क की उपाधि प्रदान की गई। मुहम्मद जुनैदी एक शक्तिशाली व्यक्ति था। किन्तु राजिया का विरोध करने के कारण उसे अपने पद और जीवन दोनों ही से हाथ धोना पड़ा। रजिया की मृत्यु के बाद कुछ समय के लिए मुहज्जब गनवी सुल्तान–निर्माता के रूप में उभरा। किन्तु बलबन के हाथों में शक्ति आने के बाद गनवी का सितारा गर्दिश में चला गया। सर्वाधिक शक्तिशाली अमीर के रूप में बलबन ने नायब–उस–सल्तनत अथवा सुल्तान अथवा सुल्तान के प्रतिशासक पद की मांग की और उसे यह पद दे भी दिया गया। अतः बलबन के हाथों में समस्त शक्ति आ गई

और वजीर उसके सामने महत्त्वहीन हो गया। जब नासिरूद्दीन महमूद की मृत्यु के बाद बलबन सुल्तान बना तो उसने नायब–उस–सल्तनत का पद समाप्त कर दिया। बलबन इतना अधिक प्रभावशाली एव दबंग व्यक्ति था कि उसने किसी भी शक्तिशाली वजीर को उभरने नहीं दिया। यद्यपि बलबन ने ख्वाजा हसन नामक व्यक्ति को वजीर पद पर नियुक्त किया किंतु यह नाममात्र का ही वजीर रहा होगा क्योंकि उसे राजस्व संबंधी विषयों की कोई जानकारी नहीं थी। बलबन ने अहमद अयाज नामक अपने एक प्रिय व्यक्ति को अरीज–ए–ममालिक नियुक्त का वजीर की शक्ति को और भी घटा दिया। अरीज–ए–ममालिक सेनिकों को वेतन देने एवं सेना की कुशलता बनाए रखने के लिए जिम्मेदार था। बलबन ने एक उप–वजीर भी नियुक्त किया।

अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल के अंत में वजीर का पद महत्त्वहीन बना रहा। बलबन के शासन काल में ख्वाजा खतीर एक उप–वजीर था जो एक राजस्व विशेषज्ञ था। जलाउद्दीन खिलजी के शासन में भी कुछ समय तक ख्वाजा खतीर ने वजीर पद पर कार्य किया। किन्तु शीघ्र ही उसके स्थान पर सुल्तान के भाई नुसरत खान को वजीर बनाया गया। नुसरत खान अपने युग का एक महान योद्धा था। उसकी मृत्यु के बाद वजीर का पद सुल्तान के प्रिय पात्र एवं एक अग्रणी सिपहासालार मलिक काफूर को दे दिया गया। उसे वजीर के साथ–साथ नायब–उस–सल्तनत भी बना दिया गया। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद नायब के रूप में मलिक काफूर ने सुल्तान–निर्माता की भूमिका अदा करने की कोशिश की किन्तु उसका स्थान खुसरो मलिक ने ले लिया जिसने नायब का पद भी ग्रहण कर लिया एवं उसके बाद सुल्तान की गद्दी हथिया ली।

इस प्रकार, नायब का पद काफी बदनाम हो चुका था एवं सत्ता में आने के बाद तुगलकों ने इसका अंत कर दिया। बाद में 15वीं सदी में सैयद शासकों ने इस पद को वकील–उस–सल्तनत नाम देकर पुनः आरंभ किया। यह पद थोड़े–बहुत उत्थान–पतन के साथ मुगलों के समय तक कायम रहा।

तुगलक शासन भारत में विजारत की संस्था के लिए चरमोत्कर्ष का काल माना जाता है गियासुद्दीन तुगलक द्वारा किए गए कुछ प्रयोगों के बाद मुहम्मद बिन तुगलक ने अहमद अयाज को खान–ए–जहां कि उपाधि के साथ वजीर नियुक्त किया। खान–ए–जहां एक बूढ़ा व्यक्ति था और उसने गियासुद्दीन तुगलक के शासन काल में लोक निर्माण विभाग में नायब के रूप में कार्य किया था। उसे एक अदम्य किन्तु सक्षम अधिकारी माना जाता था। सुल्तान उस पर इतना विश्वास करता था कि जब वह किसी अभियान में अथवा विद्रोहियों का पीछा करने के लिए बाहर जाता तो उसे दिल्ली में प्रशासन का दायित्व सौंप जाता था। वह मुहम्मद बिन तुगलक के 28 वर्षों के पूरे शासन काल में वजीर बना रहा, यद्यपि मुहम्मद बिन तुगलक और उसकी नीतियों पर उसके वास्तविक प्रभाव के बारे में जानकारी नहीं हो पाई है। उसने अपने समर्थकों का एक दल बनाने का प्रयास नहीं किया अथवा उसे ऐसा करने दिया गया जिसके कारण उसने जब मुहम्मद बिन तुगलक की मृत्यु होने पर दिल्ली में सुल्तान की गद्दी पर अपनी पसंद के व्यक्ति को बैठाने का प्रयास किया तो वह बुरी तरह असफल हो गया।

फिरोज तुगलक ने इस्लाम कबूल कर चुके एक तैलंग ब्राह्मण खान–ए–जहां मकबूल को वजीर नियुक्त किया जो पूर्ववर्ती सरकार का नायब रह चुका था। फिरोज जैसा रूढ़िवादी शासक एक धर्मांतरित हिन्दू को इतने उच्च पद पर नियुक्त कर इससे पता चलता है कि दिल्ली सल्तनत बलबन के समय से कितनी तरक्की कर चुकी थी। वजीर काफी योग्य और सक्षम व्यक्ति था और फिरोज ने बंगाल, उड़ीसा, थट्टा आदि जैसे स्थानों में सैनिक अभियानों के दौरान सभी सरकारी क्रियाकलापों के उचित प्रबंध के लिए उस पर भरोसा किया था। किन्तु यह सोचना गलत होगा कि फिरोज ने प्रशासन में स्वयं कोई रुचि नहीं ली और खान–ए–जहां मकबूल ही सर्वेसर्वा था। इस प्रकार, जब वजीर और महा–अंकक्षेक ऐन–ए–महारु के बीच काफी तनाव पैदा हो गया एवं वजीर ने उसे स्थानांतरित करने का प्रयत्न किया तो फिरोज ने हस्तक्षेप किया और उनके बीच एक सौहर्द्रपूर्ण समझौता कराया। यह तर्क उचित ही प्रतीत होता है कि खान–ए–जहां की सफलता प्रतिद्वन्द्वी शक्ति के रूप में कार्य करने में नहीं अपितु फिरोज के सहयोगी के रूप में कार्य करने में निहित थी।

जब अठारह वर्षों तक वजीर पद पर बने रहने के बाद सन् 1368-69 ई. में खान–ए–जहां मकबूल का निधन हुआ तो पूर्व समझौते के अनुसार उसके पुत्र जौना खान को अपने पिता के स्थान पर वजीर बनाया गया। उसे भी खान–ए–जहां की पदवी प्रदान की गई। खान–ए–जहां द्वितीय यदि योग्यता में अपने पिता से बढ़कर नहीं तो उसके बराबर ही था। किन्तु वह सैनिक नेता नहीं था एवं फिरोज के जीवन–काल में ही शुरू हुए उत्तराधिकार के एक संघर्ष में असफल हो गया था। उसे कैद कर लिया गया एवं उसकी हत्या कर दी गई। किन्तु आर. सी. त्रिपाठी जैसे कई आधुनिक इतिहासकार इस अरोप को सही नहीं मानते हैं कि वह सुल्तान की गद्दी पर अपनी पसंद के व्यक्ति को बैठाना चाहता था।

तुगलकों के शासन काल में वजीरों को न केवल अत्यधिक प्रतिष्ठा मिली, अपितु उन्हें बहुत अधिक वेतन भी दिए गए। मुहम्मद बिन

तुगलक के शासन काल में जबकि सल्तनत के सबसे बड़े सरदार यानी खान को वेतन के रूप में प्रति वर्ष कई लाख टंके मिलते थे, खान–ए–जहां का वेतन ईराक की वार्षिक आय के बराबर था। फिरोज तुगलक के शासन काल में खान–ए–जहां मकबूल को वेतन के रूप में 13 लाख टंके मिलते थे और उसकी सेना और सेवकों के खर्च के लिए अलग से रकम दी जाती थी। साथ ही उसके प्रत्येक पुत्र को 11,000 टंके एवं प्रत्येक दामाद को 15,000 टंके वेतन के रूप में दिए जाते थे। यही कारण है कि खान–ए–जहां सुल्तान को प्रति वर्ष चार लाख टंके के मूल्य के उपहार भेंट किया करता था।

दीवान–ए–विजारत अथवा वजीर के विभाग की आंतरिक संरचना धीरे–धीरे विकसित हुई। अब्बासी युग में भी एक मुशरिफ नामक अधिकारी व्यय के मद पर निगरानी रखता था। इसके अतिरिक्त दो अन्य अधिकारी मुस्तौफी, जो शायद आय का प्रभारी था, एवं कोषाध्यक्ष (खजांची) थे। ये पद भारत में इल्तुतमिश के शासन काल में कायम रहे; इल्तुतमिश ने वजीर को उसके भारी कार्यों में राहत पहुंचाने के लिए उसका एक नायब भी नियुक्त किया। बलबन के शासन काल में सेना की देखभाल करने के लिए एक अजीज–ए–ममालिक की नियुक्त के परिणामस्वरूप वजीर के विभाग का राजस्व विभाग के रूप में महत्व और अधिक स्पष्ट हो गया। तुगलकों के उदय तक वजीर राजस्व प्रशासन का प्रधान नहीं था। उसके बावजूद उस सैनिक युग में वजीर समेत किसी भी अमीर से आवश्यकता पड़ने पर किसी सैनिक अभियान का नेतृत्व करने में सक्षम रहने की अपेक्षा की जाती थी। इस प्रकार, धार्मिक और न्यायिक अधिकारियों के मामले को छोड़कर सैनिक एवं राजस्व से संबन्धित कार्यों के बीच कोई स्पष्ट अतंर नहीं था।

अलाउद्दीन खिलजी द्वारा दोआब को प्रत्यक्ष प्रशासन (खालिसा) के तहत लाए जाने के बाद राजस्व विभाग का तेजी से विस्तार हुआ एवं सैकड़ों आमिल व मुतसर्रिफ आदि नियुक्त किए गए। उन्हें नियंत्रित करने के लिए **दीवान-ए-मुस्तखराज** नामक एक नया विभाग बनाया गया। आमिलों से हिसाब लेने में तथा 'बकाया' वसूल करने में इसके द्वारा असर बरती गई सख्ती के कारण यह विभाग बदनाम हो गया। लगता है कि अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद इसका अंत कर दिया गया। किन्तु आमिलों का अस्तित्व बना रहा एवं मुहम्मद बिन तुगलक के शासन काल में उन्हें एक नया स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया गया। अब वे कृषि विकास के साथ सम्बद्ध हो गए। अतः एक पृथक अमीर की अध्यक्षता में **दीवान-ए-कोही** नामक एक नया विभाग गठित किया गया। जैसा कि हमने देखा है, यह विभाग भी असफल रहा और उसे समाप्त कर दिया गया।

फिरोज तुगलक के शासन काल में राजस्व विभाग की संरचना पूर्ण विकसित हुई। मुशरिफ एवं मुस्तौफी के कार्यों को स्पष्ट रूप से अलग–अलग कर दिया गया। मुशरिफ को मुख्य रूप से आय का प्रभारी बना दिया गया जबकि मुस्तौफी को व्यय का। मुख्य मुशरिफ एवं मुख्य मुस्तौफी उच्चाधिकारी थे जो सीधे सुल्तान द्वारा नियुक्त होते थे, यद्यपि वे वजीर के तहत कार्य करते थे। नियंत्रण एवं संतुलन की यह व्यवस्था वजीर को नहीं भाती थी, एवं सुल्तान को कभी–कभी हस्तक्षेप एवं मध्यस्थता करनी पड़ती थी।

फिरोज ने एक पृथक अधिकारी के तहत एक दास विभाग एवं सुल्तान की प्रत्यक्ष आय हेतु एक पृथक इमलाक विभाग का भी गठन किया।

दीवान-ए-अर्ज

अरीज–ए–ममालिक का विशेष दायित्व सैनिकों की भर्ती करना, उन्हें सुसज्जित करना एवं उन्हें वेतन देना था। सेना का प्रधान अरीज–ए–ममालिक नहीं, बल्कि स्वय सुल्तान होता था। किन्तु अरीज निश्चित रूप से एक अग्रणी अमीर एवं एक योद्धा होता था। अरीज को सैनिकों का मित्र एवं शुभेच्छु होने तथा अपने पुत्र की भांति उनकी देखभाल करने को कहा जाता था। अरीज का पद अब्बासी शासन काल में था और सियासतनामा में उसका उल्लेख मिलता है। संभवतः इल्तुतमिश के शासन काल में भी इसका अस्तित्व था क्योंकि बरनी ने लिखा है कि अहमद अयाज रावत–ए–अर्ज था, जिसे बलबन ने अरीज–ए–ममालिक नियुक्त किया था, तथा उसने शम्सी शासकों के अन्तर्गत तीस वर्षों तक इस पद पर कार्य किया। अहमद अयाज का महत्त्व इतना अधिक बढ़ गया था कि उसने घोषणा की : "यहां एकत्र हुए सभी लो सुनें कि शासन और प्रशासन तंत्र का (मुख्य) रक्षक एवं संबल 'मैं' हूं।"

तथापि, अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में ही घोड़े दागने की प्रथा की शुरुआत के समय इस विभाग की कार्य–विधि को उचित रीति से व्यवस्थित किया गया। दाग प्रथा के द्वारा यह सुनिश्चित करने की व्यवस्था हुई कि घटिया दर्जे के घोड़े पेश न किए जाएं क्योंकि एक कुलश और सक्षम घुड़सवार सेना पर तुर्क शासकों का अस्तित्व टिका था। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार अलाउद्दीन खिलजी ने यह सुनिश्चित करने के लिए बाजार नियंत्रण का सहारा लिया कि राज्य को निर्धारित और उचित मूल्यों पर उच्च दर्जे के घोड़े उपलब्ध हों। उसने सैनिकों का विवरण–पत्र (चेहरा) लेने की प्रथा भी शुरू की ताकि सेवकों एवं अन्य अप्रशिक्षित तथा अविश्वासनीय व्यक्तियों को हाजिर कर नकली वेतन न लिये जाएं। यह प्रथा फिरोज के काल तक जारी रही, किन्तु यह सभी प्रकार के छल–प्रपंच के विरुद्ध गारंटी नहीं थी। इसे फिरोज ने तब महसूस किया जब उसने एक सैनिक को सोने का सिक्का दिया ताकि वह अपने घटियां घोड़े को पास करने के लिए संबद्ध लिपिक को रिश्वत दे सके।

अमीर–ए–आरबुर अथवा शाही घुड़सालों का अधीक्षक (रजिया के शासन में इस पद पर मलिक याकूत था) एव **दारोगा-ए-पील** (अथवा शाही हाथियों का प्रभारी) अरीज पद के निर्माण के समय तक महत्त्वपूर्ण अधिकारी माने जाते थे। उसके बाद हमें उन दो के अधिकारी अमीरों के विषय में विवरण प्राप्त नहीं होता।

हमें यह ज्ञात नहीं है कि सेना में भर्ती का सुनिश्चित तरीका क्या था तथा सैनिकों को किस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता था। मुहम्मद बिन तुगलक के शासन काल में भारत आए इब्न बतूता के अनुसार, जब कोई व्यक्ति मुल्तान के हाकिम की सेना में एक तीरंदाज के रूप में शामिल होना चाहता तो उसे विभिन्न प्रकार के कठोर धनुष देकर उसकी ताकत की जांच की जाती थी। यदि वह एक घुड़सवार सिपाही के रूप में शामिल होना चाहता तो उसे अपने भाले से एक निर्धारित लक्ष्य को साधना होता था। यदि सरपट दौड़ते हुए घोड़े के पीठ पर बैठे हुए जमीन पर से अपने भाले से एक छल्ला उठाना पड़ता था। एक घुड़सवार तीरंदाज को अपने घोड़े को सरपट दौड़ाते हुए जमीन पर पड़े एक कन्दुक (गेंद) पर निशाना लगाना होता था। निश्चय ही आम तौर पर भी यही तरीका अपनाया जाता होगा तथा उपर्युक्त प्रशिक्षण भर्ती के बाद भी जारी रहता होगा।

लगता है कि एक केंद्रीय बल भी था जिसका एक भाग शाही अंगरक्षक बल था। इस बल की शक्ति के बारे में हमें ठीक–ठीक पता नहीं है। कहा जाता है कि अलाउद्दीन खिलजी की सेना में 3,00,000 सैनिक थे। मुहम्मद बिन तुगलक की सेना उससे भी बड़ी थी। ऐसा सम्भव नहीं हो सकता कि यह पूरी सेना दिल्ली में ही रही हो। बड़े–बड़े क्षेत्रों को प्रशासित करने वाले इक्तादार स्पष्टतः अपने लिए अलग से सेना रखते थे। सरदारों की अपनी अलग सेनाएं होती थीं। आवश्यकता पड़ने पर इन दोनों प्रकार की सेनाओं को शाही प्रचालन के तले लाया जा सकता था। जब बलबन बंगाल के विरुद्ध सैनिक अभियान के लिए चला तो पूर्वी भागों में हिन्दू सरदारों को अपनी–अपनी सेनाओं के साथ सुल्तान के साथ चलने को कहा गया। इस प्रकार बलबन ने इस इलाके से 2,00,000 लोगों को भर्ती कर अतिरिक्त सेना तैयार की। मंगोलों के उदय के बाद पश्चिम एशिया से संबंध विच्छेद हो जाने के कारण तुर्की शासकों को अपनी सेनाओं के लिए भारतीय मुसलमानों और अफगानों पर अधिकाधिक निर्भर होना पड़ा। परिणामतः तुर्क शासकों की सेना का चरित्र मिश्रित था जिसमें मूल तुर्क सैनिकों के वंशज, अफगान, हिन्दुस्तानी (भारतीय मुसलमान) एव हिन्दू–सरदारों के सैनिक शामिल थे।

इतनी विशाल सेना को वेतन देना एक अत्यंत कठिन दायित्व था। किसानों से भू–राजस्व वसूलने के अतिरिक्त निकटवर्ती राज्यों को लूटना एक काल–परीक्षित दस्तूर था जिसे तुर्कों ने भी अपनाया किन्तु उसे 'जिहाद' अथवा धर्म–युद्ध का नाम दिया। अलाउद्दीन खिलजी के समय से सैनिकों के वेतन का नगद भुगतान होने लगा। एक घोड़े वाले सैनिक के लिए अलाउद्दीन द्वारा निर्धारित 234 टंके का वेतन तुलनात्मक रूप से कम था। बाद में वेतन की राशि क्या रही, इस संबंध में हमें जानकारी नहीं मिल पाई है। स्पष्टतया इस केंद्रीय बल की क्षमता, कुशलता एवं वफादारी ने दिल्ली सल्तनत को स्थायित्व प्रदान करने में प्रमुख भूमिका निभाई।

इस प्रकार, आरिज एक बहुत महत्वपूर्ण अधिकारी था जिसके कारण वजीर की शक्तियों में कमी आई। फलतः बाद में जो कोई भी वजीर बना वह शक्तिशाली सैनिक नेता नहीं बन सका जो सिंहासन पर अपनी पसंद के किसी व्यक्ति को बैठा सकता अथवा स्वयं ही सुल्तान बन सके। यह स्थिति तभी आई जब फिरोज की मृत्यु के बाद एवं तैमूर के आक्रमण के बाद हुए परस्पर संघर्षरत युद्ध के कारण प्रशासन तंत्र में गतिरोध आ गया।

दीवान-ए-इंशा

दीवान–ए–इंशा कोई विदेश कार्यालय या विभाग नहीं था। उन दिनों राज्यों के बीच इतने स्थायी सबंध नहीं होते थे कि विदेश मामलों के लिए एक पृथक कार्यालय या मंत्री की आवश्यकता पड़े। किन्तु वजीर से निकटवर्ती राज्यों की घटनाओं का ज्ञान रखने एवं सुल्तान को उनसे अवगत कराते रहने की अपेक्षा की जाती थी। कभी–कभी सिंहासन पर नए व्यक्ति के बैठने की सूचना देने अथवा जीत जैसी किसी बड़ी घटना की घोषणा करने के लिए निकटवर्ती शासकों को औपचारिक संदेश–पत्र प्रेषित किए जाते थे। ये पत्र, जो अकसर अत्यंत अलंकृत शैली में लिखे जाते थे, दीवान–ए–इंशा द्वारा तैयार किए जाते थे, लिपिबद्ध किए जाते थे एवं प्रेषित किए जाते थे। दीवान–ए–इंश के प्रधान को दबीर या दबीर–ए–खास कहा जाता था। दबीर महत्त्वपूर्ण इक्तादारों एवं पड़ोसी राजाओं के नाम आदेश एवं अनुज्ञा तैयार करने के लिए भी उत्तरदायी होता था। यह पद महत्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण था क्योंकि इस पद पर आसीन व्यक्ति सुल्तान के काफी करीब होता था। सुल्तान का विश्वस्त व्यक्ति होने के कारण दबीर प्रस्तुत वजीर का एक प्रतिद्वंद्वी अथवा प्रतिपक्षी हो सकता था। दबीर–ए–खास का पद कभी–कभी वजीर पद पर पहुचने का साधन होता था।

दीवान-ए-रिसालत

बरनी द्वारा उल्लेख किए गए चार प्रमुख मंत्रालयों में से एक दीवान–ए–रिसालत भी था। किन्तु बरनी ने इस विभाग के कार्यों का उल्लेख नहीं किया है एवं इसके कार्यों के संबंध में आधुनिक इतिहासकारों के बीच मतैक्य नहीं है। कुछ लोग इसे विदेश मामलों का मंत्रालय मानते हैं, कुछ लोग मूल्य नियंत्रण एवं लोक नैतिकता का विभाग मानते हैं जबकि कई लोग इसे लोक शिकायतों की सुनवाई का विभाग भी मानते हैं। इसका नाम 'रिसालत' या रसूल अथवा पैगंबर से व्युत्पन्न हुआ लगता है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इसका धार्मिक चरित्र रहा होगा। मध्यकालीन राज्यों का एक कार्य मुस्लिम विद्वानों एवं संतों आदि को कर–मुक्त भूमि (इमलाक) प्रदान कर उनकी आजीविका का प्रबंध करना था। इस धार्मिक विभाग का प्रधान या तो सद्र–ए–जहां अथवा वकील–ए–दर होता था जिसे रसूल–ए–दर भी कहा जाता था।

सद्र–ए–जहां के अलावा एक अन्य महत्वपूर्ण पद प्रधान काजी अथवा काजी–उल–कुज्जात को होता था जो न्यायिक विभाग का प्रधान होता था। कभी–कभी एक ही व्यक्ति को सद्र–ए–जहां एवं प्रधान काजी दोनों पद दे दिये जाते थे।

आजीविका एवं राजस्व–मुक्त भूमि प्रदान करने के अलावा सद्र का विभाग मुहतासिबों अथवा लोक नैतिकाताओं के अभिवेचकों या सचेतकों की नियुक्ति के लिए भी उत्तरदायी था। ये अधिकारी जुआ, वेश्यावृत्ति एवं अन्य बुराइयों को रोकने एवं यह सुनिश्चित करने के निमित्त से होते थे कि मुसलमान लोग शरीयत में प्रतिबंधित कार्य जैसे मद्यपान आदि खुलेआम न करें एवं नमाज (सामूहिक प्रार्थना) और रोजा (रमजान के महीने में उपवास रखना) जैसे अनिवार्य कर्त्तव्यों का पालन करें। वे मापों और तोलों पर निगरानी एवं मूल्यों पर व्यापक नियंत्रण भी रखते थे।

दीवान–ए–रिसालत में कार्यों में वृद्धि की जा सकती थी अथवा अलग–अलग कार्यालय बनाए जा सकते थे। जब अलाउद्दीन बाजार नियंत्रण के कार्य में जुटा हुआ था तो उसने विभिन्न बाजारों को नियंत्रित करने के लिए शुहना नियुक्त किया था एवं उनके कार्य पर नजर रखने के लिए एक प्रमुख अमीर को मुस्तैद किया गया था। इसे दीवान–ए–रिसालत कहते थे। अलाउद्दीन की मृत्यु एवं बाजार नियंत्रणों को विलुप्त के बाद में हमें इस विभाग के बारे में सुनने को नहीं मिलता है।

फिरोज तुगलक, जिसने विद्वानों, उलमा एवं विद्यार्थियों की आजीविका और इमलाक (राजस्व–मुक्त भूमि) बढ़ा दिए थे, सजा के रूप में हाथ, पैर, कान, नाक आदि काटकर लोगों बदरूप बनाने हेतु शरीयत द्वारा निर्धारित अनुदेशों का अंत करने के लिए भी उत्सुक था। वह एक मानवीय और दयालु सुल्तान के रूप में भी प्रसिद्धि प्राप्त करना चाहता था। उसने सद्र एवं प्रधान काजी के पदों को अलग–अलग कर दिया। उसने लोक शिकायतों के लिए एक अलग विभाग भी गठित किया जिसे दीवान–ए–रिसालत की संज्ञा दी गई। इसका प्रधान एक प्रमुख अमीर (संभवतः वकील–ए–दर) होता था। वजीर और शाहशादे भी अपनी शिकायतों के निदान के लिए इस विभाग में आवेदन कर सकते थे।

इस प्रकार, विभिन्न सुल्तानों के शासन काल में दीवान–ए–रिसालत के भिन्न–भिन्न रूप रहे, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जरूरतमंद एवं उचित पात्रों को वजीफा (आजीविका) एवं राजस्व–मुक्त भूमि आबंटित करने का इसका मूल कार्य हमेशा जारी रहा।

राजदरबार एवं शाही कुटुम्ब

एक ऐसी स्थिति में जहां सुल्तान सत्ता का केंद्र रहा हो वहां राजदरबार और शाही कुटुम्ब (हरम) का संगठन अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय बन गया था। किन्तु मुगल काल के विपरीत दिल्ली सल्तनत काल में राजदरबार और शाही कुटुम्ब का कोई एक प्रभारी अधिकारी नहीं था।

वकील-ए-दर–इनमें सबसे प्रमुख वकील–ए–दर था जो शाही महल और सुल्तान के व्यक्तिगत सेवकों का प्रबन्ध करता था। सुल्तान के निजी सेवकों को वेतन चुकाना, शाही रसोईघर की व्यवस्था करना तथा शाही परिवार की समस्त सुख–सुविधाओं की देखरेख करना उसी का काम था। वकील–ए–दर ही घरेलू आवश्यकताओं की समस्त बातों को शाही स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता था और उसी के माध्यम से शाही आदेश दिये जाते थे। इसके लिए उसका एक पृथक सचिवालय होता था। यहां ही प्रत्येक आदेश पहले पंजीकृत किया जाता था तथा उस पर उसकी मोहर लगाई जाती थी। शाही परिवार का प्रत्येक अथवा घरेलू प्रबन्ध से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति उसके समर्थक में आता था। उसका प्रभाव अत्यधिक था। इसीलिए वह सुल्तान का नाइब समझा जाता था। उसका क्योंकि सदैव ही महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से सम्बन्ध रहता था इसलिए एक असाधारण चतुर और व्यावहारिक व्यक्ति ही इस पद का निर्वाह कर सकता था। उसे सुल्तान को अपने अन्तर्गत समस्त बातों से पूरी तरह सूचित रखना होता था। उसे अत्यन्त

सतर्क रहना पड़ता था, क्योंकि अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति जिनसे उसका काम पड़ता था उनका स्वयं सुल्तान से सम्पर्क में [illegible] सुल्तान की तनिक–सी नाराजगी अथवा सन्देह के कारण उसे न केवल अपने पद से अपितु प्राणों तक से भी हाथ धोना पड़ सकता था। उसकी सहायता के लिए अन्य उच्चाधिकारी होता था जिसे नाइब वकील–ए–दर कहा जाता था। नाइब वकील [illegible] हमीदुद्दीन की सूचना पर ही अलाउद्दीन खल्जी अकत खां के षड़यन्त्र से बच सकने में सफल हो पाया था।

विभिन्न कारखाने–घरेलू प्रबन्ध जैसी एक व्यापक संस्थान के लिए एक विशिष्ट आयोजन की आवश्यकता थी। इसके संचालन के लिए विभिन्न विभाग बनाये गये थे जिनको कारखाने की संज्ञा दी गई है। भिन्न–भिन्न सुल्तानों के समय में कारखानों की संख्या आवश्यकता के अनुसार भिन्न–भिन्न थी। अफीफ के अनुसार फीरोज तुगलक के समय में इनकी संख्या 36 थी जिनका रातिब (निश्चित वेतन वाले) व गैर रातिबी (अनिश्चित वेतन वाले) भागों में वर्गीकृत किया गया था। ऐसे कारखाने जो बिगड़न वाली अथवा विकारी (Perishable) वस्तुओं से संबंधित थे। रातिबी कहलाते थे तथा वे कारखाने जो कपड़ा, ड्रेस, खेमें, फर्नीचर आदि से सम्बन्धित थे गैर–रातिबी कहलाते थे।

अफीफ ने फीरोज तुगलक के कारखानों का वर्णन करते हुए लिखा है कि प्रत्येक वर्ष प्रत्येक कारखाने में अपार धन व्यय किया जाता था। 36 कारखानों में कुछ रातिबी थे और कुछ गैर–रातिबी। पीलखाना (गजशाला), पायगाह (अश्वशाला) मखतब (रसाई) शराबखाना, शमाखाना (रोशनी का प्रबन्ध करने वाला कारखाना) शुतरखाना (ऊंटखाना), संगखाना (कुत्ताखाना), आबदारखाना (जल के प्रबन्ध करने वाला) तथा इस प्रकार के अन्य कारखाने रातिबी थे। सुल्तान फीरोजशाह के राज्यकाल में प्रतिदिन इन रातिबी कारखानों पर अपार धन व्यय होता था। रातिबी कारखानों का व्यय (माल अस्बाब), हाशिए (निम्न वर्ग के कर्मचारी) तथा अन्य लोगों के अतिरिक्त 1,6,000 चांदी के टंके मासिक था। गैर–रातिबी कारखानों में जैसे जमादार खाना (वस्त्रों से सम्बन्धित विभाग), अकमखाना, (पताकाओं का विभाग), फर्राशखाना (फर्श आदि का विभाग), रकाबखाना (घोड़ों की जीवन आदि से सम्बन्धित विभाग) तथा इसी प्रकार के अन्य कारखानों में प्रत्येक वर्ष नये सामान की तैयारी का आदेश रहता था।

"ठण्ड के दिनों में पोशाकखाने में 6 लाख टंक खर्च होते थे। गर्मी और बसन्त ऋतु का खर्च अलग था। अल्मखाने पर 80 हजार टंके खर्च किये जाते थे। इसके अतिरिक्त इस विभाग में काम करने वाले तथा कारकूनों को वेतन अलग से था। फर्राशखाने पर 12 लाख टंक खर्च किए जाते थे।.....पोशाक के अफसर मलिक अली और मलिक ईशाक थे।.....जिन विविध कारखानों का मासिक वेतन मिलता था, उनमें बहुत से कारकून थे जिन्हें प्रति मास नियमानुसार वेतन मिलता था। शाही तबेले 5 अलग–अलग स्थानों पर थे। इनके अतिरिक्त हजारों घोड़े दिल्ली के समीप चरा करते थे और वे 'सीह पंज' कहलाते थे। ऊंटखाना इससे पृथक था और दबलाहन जिले में स्थित था। वहां ऊंटों के रेवाड़ियों के लिए गांव दिये हुए थे। इनकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती थी, क्योंकि जब बड़े–बड़े सरदार दरबार में जाते थे तो वे अपने साथ विविध प्रकार के ऊंट, भेंट–स्वरूप लाया करते थे।

प्रत्येक कारखाने को एक विशिष्ट अमीर के आधीन रखा गया था जो मलिक अथवा खान की श्रेणी में हुआ करता था। प्रत्येक कारखाने का एक मुतसरिफ (आकउन्टेन्ट) हुआ करता था, जो वरिष्ठ अधिकारियों को हिसाब आदि भेजता था। अन्तिम रूप से समस्त कारखानों का हिसाब, दीवान–ए–वजारत में लिपिबद्ध किया जाता था। फीरोज के समय में ख्वाजा अबुल हसन खां कारखानों का अधीक्षक था। उसके द्वारा ही विभिन्न कारखानों को आदेश दिये जाते थे।

फीरोज के शासन में जागीर के हिसाब की जांच की जाती थी। जब कोई जागीदार अपनी जागीर से दरबार में आता था तो उसका हिसाब लेखा–विभाग में उपस्थित किया जाता था। वहां उसकी जांच की जाती थी और जांच के परिणाम से सुल्तान को सूचित किया जाता था। जो भी बाकी निकलता उससे उसके विषय में पूछताछ की जाती थी। इसके पश्चात् उसे तुरन्त अपनी जागीर में लौटने का आदेश दे दिया जाता था। कारखानों के प्रबन्ध (मोहर्रिर) प्रतिवर्ष के अन्त में लेखा विभाग से उपस्थित होते और अपने–अपने विभाग का गोशेवार विवरण देते थे जिसमें बकाया रोशन और माल बनाया जाता था।

अमीर-ए-हाजिब

वकील–ए–दर के बाद परन्तु उसी श्रेणी का दूसरा अधिकारी अमीर–ए–हाजिब होता था जिसे अमीर–ए–हाजिब–ए–बारबक भी कहा जाता था। बारबक विधिनायक अथवा दरबारी औपचारिकता को लागू करता था। वह अमीरों और अधिकारियों को [illegible] श्रेणी के अनुसार क्रमबद्ध अथवा व्यवस्थित रखता तथा दरबारी उत्सवों की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखता था। वह [illegible] श्रेणी के पदाधिकारियों तथा जनता के मध्य मध्यस्थ का काम भी करता था। उसके सहायक, हाजिब, सुल्तान तथा [illegible] बीच खड़े रहते थे तथा प्रत्येक व्यक्ति हाजिब के माध्यम से ही सुल्तान से भेंट कर सकता था। जब तक वे सुल्तान के

परिचय न करा दें तब तक कोई भी सुल्तान से मिलने मे असमर्थ था। सुल्तान की आज्ञाओं को प्रार्थियों अथवा अधिकारियों तक पहुंचाने का काम भी इसी विभाग के अन्तर्गत था। सुल्तान के सम्मुख समस्त प्रार्थना–पत्र इसी विभाग के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते थे, क्योंकि अमीर–ए–हाजिब का पदर अत्यधिक सम्मानित था, इसलिये यह केवल किसी शहजादे अथवा सुल्तान के अनन्य विश्वासपात्र अमीर के लिये सुरक्षित रखा जाता था, यहां तक कि नाइब बारबक के पद पर भी सुल्तान के किसी सम्बन्धी अथवा मित्र को ही नियुक्त किया जाता था। उसका ये प्रमुख उत्तरदायित्व था कि प्रमुख दरबारी समारोहों अथवा उत्सवों की व्यवस्था करे। कभी–कभी सुल्तान की अनुपस्थिति में नाइब बारबक किसी अमीर के साथ राजधानी में सुल्तान के नायब के रूप में कार्य करता था। सदैव ही एक अथवा दो हाजिब सुल्तान की उपस्थिति में रहते थे। यहां तक कि जब वह अकेला हो अथवा अमीरों से विचार–विनिमय कर रहा होता तब भी एक या दो हाजिब उसकी सेवा में प्रस्तुत रहते थे। डॉ. कुरैशी के अनुसार सम्भवतः इनको खास हाजिब की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। कुछ प्रमुख हाजिबों को सैयद–अल–हुज्जाब आदि की उपाधि से विभूषित किया जाता था। हाजिब मुख्य रूप से प्रशिक्षित सैनिक होते थे और अक्सर उनको सैनिक अभियानों के नेतृत्व के लिये नियुक्त किया जाता था। जब सुल्तान स्वयं किसी अभियान का नेतृत्व करता था तो हाजिब उसके सेक्रेटरी के रूप में कार्य करता था। प्रमुख हाजिबों को सुल्तान युद्ध–समितियों में निमन्त्रित करता तथा उनकी सलाह को महत्त्व देता था। किसी एक हाजिब को सुल्तान को प्राप्त भेंटों की सूची बनाने का कार्य सौंपा जाता था।

नकीब

दरबारी समारोहों में नकीब नामक एक निम्न अधिकारी भी हुआ करता था। वे राजकीय शोभायात्रा (जुलूस) के आगे–आगे चलते थे और जोर–जोर से सुल्तान की उपस्थिति की घोषणा किया करते थे। इनका प्रमुख 'नकीब–उल–नकबा' कहलाता था। वह दरबार के मुख्य–द्वार पर एक ऊंचे चबूतरे पर बैठता था, और प्रत्येक नव–आगन्तुक की छान–बीन करता था।

सरजांदार

सरजांदर भी एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी था जो सुल्तान के अंगरक्षकों का प्रमुख था। उसके सहायक के रूप में अनेकों जांदार हुआ करते थे। ये अपने पौरुष, पराक्रम, बल तथा प्रभावपूर्ण डील–डोल के आधार पर चुने जाते थे। वे निश्चित ही कुशल सैनिक हुआ करते थे और जब कभी भी सुल्तान जनसाधारण के सम्मुख आता था तो वे उसके साथ उपस्थित रहते थे। सुल्तान साधारणतया दो सरजांदार रखते थे एक दायें तथा दूसरा बायें पक्ष के लिये और इन्हें क्रमशः 'सरजांदार–ए–मेमन' व 'सरजांदार–ए–मेसर' कहा करते थे। बलबन ने सिस्तानी सैनिकों को सरजांदार के पद पर नियुक्त किया था और वह उन्हें 61 से 70 हजार जीतल प्रतिवर्ष वेतन के रूप में देता था। वे सुल्तान के साथ नंगी, चमचमाती तलवारों को लिये उपस्थित रहते थे जो न केवल सुल्तान के वैभव को बढ़ाते थे, अपितु उसके व्यक्ति पर अचानक आक्रमणों से उसकी रक्षा करते थे। जांदार साधारणतया परिक्षित स्वामीभक्त दास हुआ करते थे।

बरीद-ए-मुमालिक

बरीद–ए–मुमालिक नामक अधिकारी सुल्तान के गुप्तचर विभाग का प्रधान अधिकारी होता था। उसके अधीन वाकीया–नवीस, खब्बर नवीस व वाकिया निगार नामक सहायक अधिकारी हुआ करते थे। ये बरीद के माध्यम से सुल्तान को सभी सूचनाओं और घटनाओं की जानकारी देते थे। राज्य के प्रत्येक केन्द्र में एक स्थानीय बरीद की नियुक्ति की जाती थी जो केन्द्र को हर घटना की जानकारी पहुंचाता था। क्योंकि उन दिनों में केन्द्रिय सत्ता के विरुद्ध दूरस्थ इलाकों के अधिकारियों द्वारा षड़यंत्र करने की सम्भावना अधिक बनी रहती थी और आवागमन के साधन अत्यंत सीमित और धीमी–गति के थे, ऐसी स्थिति में बरीदों की भूमिका को सहज ही में आंका जा सकता है। यदि बरीद किसी अधिकारी की अप्रिय घटना की सूचना देने में असफल रहता तो दण्ड के रूप में उसे अपने जीवन से इसका मूल्य चुकाना पड़ता था। सुल्तान बलबन इन बरीदों द्वारा भेजी गई सूचनाओं का आदर करता था और दोषी अधिकारियों के विरुद्ध सतर्क रहता था। बलबन ने अपने पुत्रों तक के लिए बरीदों की नियुक्ति की थी। यदि बरनी के कथन को स्वीकार किया जावे तो अमीर लोग इस विभाग से इतने अधिक आतंकित थे कि वे केवल इशारों में ही बात करते थे। यह यद्यपि अतिरंजित भी हो परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि यह विभाग अत्यधि सक्रिय था और सल्तनत युग में इसका महत्त्व अधिक था। ईमानदार तथा चरित्रवान व्यक्तियों को ही इस विभाग में नियुक्त किया जाता था। कभी–कभी विद्वानों को भी राजहित में उनकी इच्छा के विरुद्ध इस पद को स्वीकार करना पड़ता था।

ये समस्त पद यद्यपि मन्त्रियों की तुलना में गौण थे, परन्तु इनमें से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान अथवा [illegible] शासन से सम्बन्धित था। इसलिये ये सुल्तान के निकट सम्पर्क में आते थे। उसके विश्वासपात्र होने के कारण ये कभी-कभी मन्त्रियों से भी अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया करते थे।

दीवान-ए-बन्दगान

फीरोज तुगलक के समय में क्योंकि दासों की संख्या अत्यधिक थी, इसलिये उनकी व्यवस्था करने हेतु एक पृथक विभाग खोला गया था। इसका अध्यक्ष अशहब-ए-दीवान-ए-बन्दगान कहलाता था। (अ) दास आरम्भ के ही घरेलू प्रबन्ध से एक अभिन्न अंग थे और शासन चलाने में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। प्रत्येक दास को निम्नतम श्रेणी से उठकर अपनी बुद्धि और योग्यता के आधार पर संघर्ष कर अपने लिये उचित स्थान बनाना पड़ता था। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत उन्हें अनेक अनुभव प्राप्त होते थे। दासों के साथ क्योंकि उचित व सम्मानपूर्ण व्यवहार किया जाता था, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति किसी सम्मानित अमीर का दास होने में गर्व अनुभव करता था। इसके अतिरिक्त दास तथा स्वामी के मध्य एक व्यक्तिगत बाण्ड था जिसको परिपाटियों ने पवित्रता प्रदान की थी। इसलिये दासों को रखना मुस्लिम इतिहास में अब्बासिद खलीफाओं के समय से ही न्यायोचित माना जाता है।

अलाउद्दीन खल्जी की सफलता का एक कारण उसके पास लगभग 50 हजारों दासों को होना था जिनको उसने शासन के प्रत्येक भाग में नियुक्त कर तथा सैनिक प्रशिक्षण देकर एक संगठन का रूप दे दिया था। फीरोज के समय में दासों की संख्या 1,80,000 तक पहुंच गई थी। फीरोज ने अपने सेनाधिकारियों को आदेश दे रखा था कि वे युद्ध-बन्दियों के रूप में अधिक से अधिक संख्या में दासों बना कर तथा उनको प्रशिक्षित कर उसे प्रस्तुत करें।

फीरोज ने इनको विभिन्न कार्यों में लगा रखा था। व्यक्तिगत संरक्षक के रूप में इनकी काफी संख्या में खपत हो जाती थी। कोई भी प्रबन्ध अथवा प्रशासन का कोई ऐसा विभाग नहीं था, जिसमें दास न हो। (ब) इक्ताओं तथा राजधानी में भी इनकी संख्या कम न थी। अफीफ लिखता है, "जब सुल्तान फीरोजशाह किसी ओर जाता था तो धनुधोरी दास पृथक समूह बनाकर आगे-आगे चलते थे। हजार-हजार तलवार चलाने वाले, दास, बन्देगान आवर्द (युद्ध करने वाले दास) बाहुली (शिकार खेलने वाले दास) भैंसा पर सवार होकर कुछ बन्दगाने हजारा तुर्की तथा अरबी घोड़ों पर सवार परिजनों सहित हजारों की संख्या में पृथक-पृथक बादशाह के पीछे चलते थे। (स) परन्तु इसके बाद भी शासन इनको खपाने में असमर्थ रहा और इसलिये फीरोज ने इनको विभिन्न संस्थाओं में साधारण व धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेज दिया। अफीफ ने फिर लिखा है, "कुछ दास कुरान आदि धार्मिक पुस्तकों को कण्ठस्थ करने, अथवा अध्ययन, करने अथवा पुस्तकों की प्रतिलिपि बनाने में लगे रहते थे। लगभग 12,000 दासों को विभिन्न शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। कुछ दासों को मक्का भेज दिया गया था। जिससे वे वहां मनन, प्रार्थना आदि में अपना जीवन व्यतीत करें।"

दासों को खाना और कपड़े के अतिरिक्त वेतन रूप में 20 से 125 टंके नकद दिया जाता था। प्रो. कुरशी का मत है कि मुहम्मद तुगलक के निष्ठुर और अप्रिय व्यवहार के कारण सल्तनत में जो चारों ओर विद्रोहों ने अपना सर उठा रखा था, फीरोज इन्हीं दासों की सहायता से उनको शान्त करने में सफल हुआ। परन्तु डॉ. कुरेशी यह मत अधिक तर्क संगत नहीं है। फीरोज की दास-प्रथा ने उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के विनाश को सन्निकट ला दिया।

वित्त-व्यवस्था

मुस्लिम विधिवेत्ताओं ने वित्त व्यवस्था के संबंध में भी विस्तृत व्याख्या की है। यद्यपि सभी मुस्लिम विधिवेत्ताओं ने अपने सिद्धान्तों के लिए यद्यपि एक ही स्रोत को आधार बनाया है तथापि उन्होंने जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया है, उनमें से कुछ मे महत्त्वपूर्ण विषयों में काफी मतभेद दृष्टिगत होते हैं। दिल्ली के सुल्तान मुख्यतः युद्ध में ही रत रहते थे, फलस्वरूप वे वित्त सबंधी सिद्धान्तों की जटिलता को अच्छी तरह नहीं समझ सके। सल्तनत युग की वित्त नीति सुन्नी विधिवेत्ताओं की हनीफी शाखा के वित्त सिद्धान्तों पर आधारित थी।

मुस्लिम विधिवेत्ताओं ने मुस्लिम राज्य के वित्त को दो वर्गों में विभाजित किया था-(क) धार्मिक (ख) धर्म निरपेक्ष प्रथम वर्ग में वह धन आता था जो केवल मुसलमानों को ही देना पड़ता था तथा द्वितीय वर्ग में जजिया, खराज व खम्स गैर-मुसलमानों को देना पड़ता था। ऐसा स्वीकार किया जाता था कि एक मुस्लिम निर्धन तथा दरिद्र के साथ अपनी सम्पत्ति के बंटवारे से स्वयं को भगवान के अभिशाप से मुक्त कर सकने में समर्थ हो सकेगा। हनीफी विचारधारा के विधिवेत्ताओं ने जकात की परिभाषा करते हुए लिखा है कि कानूनी रूप में निश्चित की हुई अपनी सम्पत्ति के भाग को निर्धन मुसलमानों में बांटना जिससे कि दाता स्वयं को किसी [illegible]

का आकांक्षी न माने, जकात है। जकात का अर्थ है शुद्धिकरण जकता की वसूली के लिए बल प्रयोग करना धर्म–विरुद्ध था।

जकात व सदका दोनों ही धार्मिक कर थे, अत. इन दोनों के एक सा होने के कारण प्राय. गड़बड़ी हो जाती है। परन्तु शफी व मावर्दी ने इन दोनों में किसी प्रकार का मतभेद स्वीकार नहीं किया। जकात में सम्पत्ति को पुनः प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रत्यख करों के अन्तर्गत पशु व कृषि से प्राप्त उपज और अप्रत्यक्ष में व्यापार की वस्तुएं, सोना, चांदी इत्यादि आते हैं।

सम्पत्ति के विषय में दो शर्तें पूरी होने पर ही कर देना पड़ता था–

1. संबंधित व्यक्ति ने उस सम्पत्ति का उपयोग पूरे एक वर्ष के लिए कर लिया हो।
2. यह सम्पत्ति एक निर्धारित परिमाण (निसाब) से अधिक हो। विभिन्न वस्तुओं के लिए विद्वानों ने पृथक्–पृथक् निसाब निर्धारित किए हैं। अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं पर जकात नहीं देना पड़ता था। इस श्रेणी में निवास–ग्रह, व्यवहार के वस्त्र, पठन–पाठन में उपयोग की जाने वाली पुस्तकें, परिवार के भरण–पोषण के लिए पर्याप्त अन्न। सेवा कार्य के लिए रखे गए दास आदि आते थें। इस्लाम मानता है कि जकात देने का पुण्य उसी को मिलेगा जो इसका महत्व समझता है और जिसकी सम्पत्ति कर अन्य किसी का अधिकार नहीं है।

कुरैशी लिखते है कि कुछ मुसलमान इस कर से स्वयं को बचाने के लिए वर्ष के अन्त होने से पूर्व ही अपनी समस्त सम्पत्ति को अपनी पत्नी अथवा परिवार के किसी सदस्य के नाम कर दिया करते थे और अगले वर्ष के आरम्भ में पुनः उसे अपने पक्ष में कर लिया करते थे। परन्तु यह कार्य निन्दनीय था क्योंकि जकात का फल केवल उन्हीं दाताओं को प्राप्त होता है जो इसके महत्व को स्वीकार करते हों।

यह कर सम्पत्ति का 2½% होता था। आयात–निर्यात कर के विषय में यह नियम था कि सभी वस्तुओं के मूल्य का 2½% कर दिया जाए। घोड़ों के ऊपर 4% कर लिया जाता था। मुस्लिम विधिवेत्ताओं के अनुसार धार्मिक कृत्यों, सम्पत्तिहीन मुस्लिमों, फकीर, जिहाद (धर्मयुद्ध) और कर्जदार आदि मदों पर इसे व्यय किया जा सकता था। हनीफी विचारधारा के अनुसार इस कर को एकत्रित करने का उत्तरदायित्व राज्य को सौंपा गया है क्योंकि राज्य ही सम्पत्ति को सुरक्षा प्रदान करता है। **त्रिपाठी** लिखते है कि प्रत्यक्ष सम्पत्ति पर जकात निश्चित दर के हिसाब से राज्य द्वारा उगाहा जाता था पर परोक्ष सम्पत्ति का स्वयं सम्पत्तिधारक द्वारा अपने विवेक के निर्णय के अनुसार दान कर दिया जाता था।

धर्म निरपेक्ष करों के अन्तर्गत जजिया, खराज एवं खम्स आते हैं।

जजिया–जजिया का सिद्धान्त कुरान की एक आयत पर आधारित है जिसमें कहा गया है 'जो लोग खुदा में विश्वास नहीं करते, खुदा एवं पैगम्बर द्वारा वर्णित बातों को नहीं मानते, सत्य धर्म (इस्लाम) स्वीकार नहीं करते। उनसे अन्तिम दिन तक जब तक कि वे अधीन होकर खुद जजिया न दें, लड़ो।' इसी आधार पर इस्लामी धर्मशास्त्र में जजिया की विवेचना जिहाद (धर्म युद्ध) के संदर्भ में की गई है। इसके अनुसार ऐसे धर्म के अनुयायी जिसमें मूर्तिपूजा स्वीकृत है, उन्हें धर्म युद्ध द्वारा या तो इस्लाम स्वीकार करना चाहिए अथवा उन्हें मार डाला जाएगा। क्योंकि यह असंभव था कि समस्त जनता से या तो इस्लाम स्वीकार करवाया जाए अथवा उन्हें मृत्यु के घाट उतार दिया जाए इसलिए उनके समाधान में ईश्वरीय आज्ञाओं की सहायता ली गई। इनके अनुसार गैर–मुसलमान, जो कि मुस्लिम राज्य के नागरिक हों, राज्य की सुरक्षा में अपने जीवन के अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए कुछ मूल्य चुकाएं अथवा जिम्मी की स्थिति को स्वीकार कर लें जिसमें उनका जीवन एक अनुबंध (ठेका) के आधार पर राज्य द्वारा मान्य होगा। इस आधार पर जजिया केवल उन्हीं व्यक्तियों पर लागू किया गया जिनको जिम्मी स्वीकार कर लिया गया। दूसरे शब्दों में प्रत्येक मुस्लिम के लिए सैनिक सेवा अनिवार्य है और गैर–मुसलमानों को इसके एवज में अपनी जान–माल की राज्य द्वारा रक्षा हेतु राज्य को जजिया देना पड़ता है। जो लोग सैनिक सेवा देते थे। जजिया नहीं देना पड़ता था। जजिया कितना वसूल करना चाहिए, किससे वसूल करना चाहिए, इत्यादि पर धर्मशास्त्रियों ने विस्तृत विवेचना की है। **डिक्शनरी आफ इस्लाम** के अनुसार बच्चे (14 वर्ष से कम आयु के), बूढ़े, अंधे, अपंग, भिखारी और साधु–सन्यासी इससे मुक्त थे लेकिन धनी महन्तों को यह कर देना पड़ता था यह कर सम्पत्ति के आधार पर लोगों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर अलग–अलग लिया जाता था। पहले वर्ग अर्थात् धनी वर्ग को 40 टका, मध्यम वर्ग को 20 टका तथा सामान्य वर्ग को 10 टका प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति के हिसाब से जजिया देना पड़ता था। सम्भवतया सल्तनतकाल में यह कर लोकप्रिय नहीं जान पड़ता क्योंकि समकालीन इतिहासकारों ने इस विषय में समुचित जानकारी नहीं दी कि इस कर के अन्तर्गत राज्य को वार्षिक कितना धन प्राप्त होता था व विभिन्न सुल्तानों ने किस दर से इसको लागू किया परन्तु **अफीफ** लिखता कि फिरोज तुगलक ने उपरोक्त वर्णित दरों के आधार पर प्रति व्यक्ति यह कर वसूल किया। **अफीफ** से यह भी पता चलता है कि फिरोज ने ब्राह्मणों पर जजिया लगाया। इससे राज्य में अव्यवस्था फैल गई व तब दिल्ली

निवासी धनी हिन्दुओं ने उनकी ओर से इस कर का भुगतान करने का भार वहन किया। समकालीन इतिहासकारों ने [illegible] किए जाने का भी कोई उल्लेख नहीं किया। निश्चित आंकड़े प्राप्त न होने की वजह से यह ठीक–ठीक अनुमान लगाना [illegible] कि वास्तव में कितना व किन क्षेत्रों से जजिया वसूल किया जाता था। फिरोजशाह के काल में ही जजिया एक [illegible] दिया गया। इसके पूर्व यह भू–राजस्व का अंग था।

खराज–गैर–मुस्लिम किसानों से जो भूमिकर लिया जाता था उसे खराज कहते थे। बाद में यह परिपाटी चल गई कि [illegible] वाली भूमि को यदि मुसलमान जोते तो उससे भी खराज लेना चाहिए। यह संभवतः इसलिए किया गया था जिससे बहुसंख्यक [illegible] परिवर्तनों के कारण राज्य की आय घट न जाए। भूमिकर प्रायः उपज के 1/3 से कम और 1/2 से अधिक नहीं लिया जाता [illegible] भूमिकर निश्चित करने का आधार क्षेत्रफल, उपज और सिंचाई तीनों साधनों पर निर्भर होता था। भूमिकर नकद एवं [illegible] हुई भूमि से शहर के बाजार की दूरी के लिए परिवहन के खर्च आदि को ध्यान में रखकर कर निर्धारित किया जाता [illegible]

खम्स–धर्म निरपेक्ष करों में खम्स तीसरा व अन्तिम कर था। युद्ध में प्राप्त लूट के माल को खम्स कहा जाता था। लूट का [illegible] सैनिकों में बांट दिया जाता था व 1/5 भाग राजकोष में जमा होता था। अलाउद्दीन ने इस नियम को उलट दिया व [illegible] सैनिकों में बांटा व शेष 4/5 राजकोष के लिए सुरक्षित रख लिया। फिरोजशाह तुगलक के समय तक यह नियम इसी तरह [illegible] रहा। **फतूहात-ए-फिरोजशाही** से पता चलता है कि उलेमाओं द्वारा इसे शरा विरोधी घोषित करने पर उसने पुन पुराने नियम [illegible] लागू कर दिया व लूट के माल के विभाजन के समय एक घुड़सवार को पैदल सैनिक की तुलना में दो अथवा तीन गुणा दिया जाता [illegible]

न्याय व्यवस्था

मुस्लिम कानून के चार स्रोत माने जाते हैं–कुरान, हदीस, इजमा तथा कयास। कुरान मुस्लिम कानून का प्रमुख स्रोत [illegible] इसमें ईश्वर की आज्ञाएं एवं इच्छाएं हैं। इसलिए मुस्लिम वर्ग इसे शाश्वत व असंशोधनीय मानता है और कुरान क्योंकि ईश्वर प्रदत्त [illegible] इसलिए इस्लामी कानून का मुख्य व आधारभूत स्रोत है। कुरान के पश्चात् हदीस अथवा सुन्ना (पैगम्बर की रीतियां व परम्पराएं) दूसरा प्रमुख आधार है। जब कुरान में किसी समस्या का हल न निकले तो हदीस का सहारा लिया जाता था। कानून क्योंकि मुस्लिम जाति के हित के लिए बनाए गए थे, अतः उक्त कानूनों की व्याख्या करने का अधिकार उन विधिवेत्ताओं को सौंप दिया गया जो मुजतहिद अथवा विधिशास्त्री कहलाते थे। इन विधिशास्त्रियों द्वारा व्याख्या किया गया कानून अल्लाह की इच्छा का ही रूप माना जाता था। कानून के इस स्रोत को इजमा कहते हैं। कयास अर्थात् तर्क अथवा विश्लेषण के आधार पर कानून की व्याख्या करना। यह व्यवस्था इस्लाम में बहुत पहले से ही प्रचलित थी। इस क्षेत्र में अबू हनीफा (688-766 ई.) द्वारा प्रतिपादित **हनीफी** विचारधारा के विचार हैं जिसमें कयास को प्रथम बार प्राथमिकता दी। हनीफी के पश्चात् **मलिकी** विचारधारा थी जिसकी स्थापना मलिक इब्न अन्स ने (715-775 ई.) की थी। तीसरी व चौथी विचारधारा **शफी** व **हनबली** के संस्थापक अश शफी (726-820 [illegible] व अहमद बिन हनबल (780-855 ई.) की थी। इन समस्त न्यायशास्त्रियों ने केवल उन्हीं बातों का स्पष्टीकरण किया जो कुरान व हदीस पर आधारित थी। उन्होंने किसी नए सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। इस्लामी विधि में परिवर्तन करने का न तो किसी को अधिकार था और न ही यह परिवर्तन किसी प्रकार से मान्य था।

क. इस्लामी धर्मशास्त्र संबंधी कानून केवल मुसलमानों पर ही लागू हैं और इस आधार पर जिम्मियों पर यह लागू नहीं किया जा सकता। किन्तु कानून के धर्म निरपेक्ष अंश जैसे–व्यापार, किसी चीज का सौदा करना आदि मामलों में मुस्लिम व गैर–मुस्लिमों पर समान रूप से लागू होते थे।

ख. गैर–मुसलमानों के धार्मिक तथा व्यक्तिगत कानून–जिसके अन्तर्गत हिन्दुओं और गैर–मुस्लिमों के सामाजिक मामलों में न्यूनतम हस्तक्षेप किया गया और जहां कहीं भी हिन्दुओं के मध्य कोई व्यक्तिगत कानून को लेकर विवाद खड़ा हो जाता था विद्वान, पंडितों की सहायता से विवाद का निर्णय किया जाता था।

ग. भूमि संबधी कानून जिसमें अरबों की कर–व्यवस्था को भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप संशोधन करके मुसलमानों व गैर–मुसलमानों पर एक समान रूप से लागू किया गया।

घ. फौजदारी कानून–यह कानून साधारणतया मुस्लिम व गैर–मुस्लिमों पर समान रूप से लागू था। जैसे [illegible] आदि अपराधों में दण्ड व्यवस्था दोनों वर्गों के लिए समान थी।

सुल्तान राजधानी में काजियों व मुफ्तियों की सहायता से न्याय करते थे और प्रान्तीय गवर्नर अपने–अपने क्षेत्र में [illegible] निभाते थे। काजी व मुफ्ती शरा में निपुण थे, इसलिए सुल्तानों को उनकी सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था।

सुल्तानों ने समुचित न्याय की ओर विशेष ध्यान दिया। **हसन निजामी** लिखता है कि "उसने ऐसी निष्पक्षता से न्याय–पद्धति अपनायी कि भेड़िया और बकरी एक ही घाट का पानी पीते थे।" बरनी लिखता है कि बल्बन सुल्तान के चार प्रमुख कार्यों में एक कार्य न्याय मानता था। उसका मानना था कि जब तक सुल्तान पूरी तरह न्याय नहीं करता तब तक अन्याय व अत्याचार से उसका देश मुक्त नहीं हो सकता। अलाउद्दीन ने बल्बन की तरह एक गुप्तचर विभाग की स्थापना की व गुप्तचर अमीरों के घरों, दफ्तरों, प्रान्तीय राजधानियों और बाजारों में नियुक्त किए गए। जो सुल्तान को प्रत्येक बात व घटना की सूचना देते थे। **बरनी** बताता है कि अलाउद्दीन इन प्राप्त सूचनाओं के आधार पर इतनी कठोरता से न्याय करता था कि राज्य में चोरी, डकैती का नामोनिशान ही मिट गया।

सुल्तान स्वयं नयाय की मुख्य अदालत था। उसके पश्चात् काजी–उल–कुजात था, जो साम्राज्य का मुख्य न्यायाधीश था। इसके अधीन नायब काजी होता था जो मुफ्ती की सहायता से न्याय किया करता था। मुफ्ती कानून का जानकार था और वही उसकी व्याख्या करता था। न्याय क्षेत्र में मुहतसिब का भी अपना विशिष्ट स्थान था। वह सार्वजनिक रूप में लोगों के नैतिक आचरण को बढ़ावा देता था।

दण्ड कठोर थे। मृत्यु दण्ड, साधारण रूप से शिरुच्छेद, अंग–भंग कोड़े लगाना, आंखों में सिलाई फेरना आदि प्रचलित थे।

राजस्व प्रशासन

तेरहवीं शताब्दी में राजस्व व्यवस्था किस प्रकार की थी, इस विषय में बहुत स्पष्ट जानकारी हमारे पास नहीं है। यहां तक कि इस काल में भूमि कर की सही दर के विषय में भी ज्ञात नहीं है। संभवतः पुरानी कृषि और भूमि कर व्यवस्था ही जारी रही। प्रमुख अन्तर यह था कि केन्द्र में भूमि की आय पर अधिकार करने वाला वर्ग बदल गया। पुराने शासक वर्ग के स्थान पर अब तुर्की शासक वर्ग भूमि की आय प्राप्त करने लगा। **बरनी** तीन ग्रामीण अभिजात या उच्च वर्गों के विषय में बताता है। यह वर्ग है खोत मुकद्दम और चौधरी, जो राज्य की ओर से किसानों से भूमि कर या खराज वसूल करते थे। यह लोग किसानों से कर वसूल करके दीवान–ए–विजारत के अधिकारियों के पास जमा कर देते थे। इस कार्य के बदले में अपने पारिश्रमिक के रूप में उन्हें इस वसूली का एक भाग प्राप्त करने का अधिकार था, जिसे **हक्क-ए-खोती** या खोती का अधिकार कहते थे। यह धन उन्हें नकद रूप में नहीं मिलता था, बल्कि कर–मुक्त भूमि के रूप में अर्थात् भूमि के एक भाग का कर वह स्वयं अपने पास रख सकते थे। इसके अतिरिक्त, यह किसानों से भी उनकी उपज का कुछ भाग अलग से लेते थे, जिसे **किस्मत-ए-खोती** कहा जाता था। भूमि कर के अतिरिक्त, प्रत्येक कृषक को **गृहकर** (घरी) और पशु या **चरागाह** कर (चराई) भी देना पड़ता था। यह भी संभव है कि शायद चौधरी सीधे कर इकट्ठा करने की व्यवसथा से जुड़ा हुआ नहीं था, क्योंकि इब्नबतूता के अनुसार, **चौधरी** सौ गांवों (परगनों) का प्रमुख होता था। इस अनुमान को और अधिक बल इस तथ्य से मिलता है कि **बरनी** हमेशा **हक्क-ए-खोती** या **मुकद्दमी** जैसे शब्दों का प्रयोग करता है, पर **हक्क-ए-चौधरी** की बात कहीं नहीं करता। **डब्ल्यू. एच. मोरलैण्ड** इन तीन वर्गों के लिए **मध्यस्थ** (Intermediaries) शब्द का प्रयोग करता है।

अलाउद्दीन खलजी ने इस मध्यस्थ वर्ग का दमन किया। **बरनी** ने अलाउद्दीन के इस कार्य के लिए उत्तरदायी कारणों का विस्तार से वर्णन किया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मध्यस्थ वर्ग हमेशा विद्रोह के लिए तैयार एक असाध्य वर्ग हो गया था। सुल्तान ने उनके विरुद्ध निम्न प्रमुख आरोप लगाए:–

1. मध्यस्थ वर्ग अपनी भूमि के उस भाग पर कर नहीं देते थे जो कर मुक्त नहीं थी, बल्कि वे अपने कर का बोझ किसानों पर डाल देते थे अर्थात् वे किसानों से राज्य द्वारा निर्धारित कर से अधिक वसूल करके उसमें से अपना कर देते थे।
2. वे **चराई** कर नहीं देते थे।
3. गलत तरीकों से प्राप्त अधिक धन ने उन्हें घमण्डी बना दिया। वे राजस्व अधिकारियों के आदेशों का पालन नहीं करते थे और जब उन्हें हिसाब देने के लिए राजस्व कार्यालय में बुलाया जाता, तो वे नहीं जाते थे।

इन परिस्थितियों में सुल्तान को उनकी आय के साधनों पर प्रहार करना पड़ा। इसके लिए सुल्तान ने जो कदम उठाए, वे निम्न थे:–

1. राज्य की ओर से राजस्व दर कुल उपज के आधे के बराबर निश्चित की गई अर्थात् उपज का आधा भाग राज्य कर के रूप में लेगा। भूमि की माप (मसाहत) की गई और उसकी प्रत्येक इकाई पर कर निश्चित किया गया इसके लिए **वफा-ए-बिस्वा** शब्द प्रयोग किया गया (वफा = उपज; बिस्वा = बीघे का 1/20 वां भाग) संभवतः पृथक–पृथक प्रत्येक किसान की भूमि पर

कर निर्धारित किया गया।

2. किसानों और मध्यस्थों पर कर की दर समान रखी गई (50 प्रतिशत) इसमें कोई भेद नहीं किया गया, चाहे वे मध्यस्थ हों या सामान्य किसान (बलाहार)।

3. मध्यस्थों के अनुलाभ (Perquisites) समाप्त कर दिए गए।

4. मध्यस्थों से भी **गृह कर** और **चराई** कर वसूल किए गए।

इस प्रकार इन आदेशों का एक उद्देश्य किसानों को मध्यस्थों की अवैधानिक वसूली से बचाना था। **बरनी** का कथन भी यही है कि सुल्तान की नीति का उद्देश्य यह था कि शक्तिशाली को बोझा कमजोर पर नहीं पड़ना चाहिए। एक ओर जहां किसान अब मध्यस्थों के अत्याचार से बच सके, वहीं अब उन्हें पहले की अपेक्षा कर भी अधिक देना पड़ा। चूंकि कर की दर सब लोगों के लिए समान थी, इसलिए यह प्रतिगामी कर था (अर्थात् अधिक गरीब के लिए कर का बोझ अधिक और कष्टदायी)। इस प्रकार राज्य ने तो मध्यस्थों का नुकसान करके अपनी आय बढ़ा ली, परन्तु किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ। उनकी स्थिति उसी प्रकार दयनीय रही।

यह सही है कि अब मध्यस्थों के हाथ से सीधे कर वसूलने का कार्य ले लिया गया लेकिन अब भी इनसे यह आशा की जाती थी कि अपने क्षेत्र में वे कानून और व्यवस्था बनाए रखेंगे तथा बिना किसी पारिश्रमिक के राजस्व अधिकारियों की सहायता करेंगे। राज्य द्वारा किसानों से सीधे सम्पर्क स्थापित किए जाने से राजस्व अधिकारियों की संख्या बहुत बढ़ गई है। यह अधिकारी विभिन्न नामों से जाने जाते थे जैसे—**उम्माल, मुतसर्रिफ, मुर्शरिफ, मुहासिलान, नवीसिन्दगान** आदि। कुछ ही समय बाद मध्यस्थों में भ्रष्टाचार बहुत बढ़ गया जिसके लिए नायब वजीर ने उन्हें दंडित भी किया। धोखाधड़ी पकड़ने की प्रक्रिया बहुत सरल थी। लेखा परीक्षक गांव के पटवारी की बही या खाते की सूक्ष्मता से जांच करते थे। किसानों द्वारा राज्य अधिकारियों को किए गए प्रत्येक वैधानिक या अवैधानिक भुगतान का विवरण **बही** में रहता था। इन भुगतानों की तुलना वसूली की प्राप्ति से की जाती थी और भ्रष्टाचार पकड़ा जा सकता था। अलाउद्दीन खलजी ने कर वसूलने वालों के वेतन बढा दिए थे, फिर भी भ्रष्टाचार जारी रहा।

ये नियम जिस क्षेत्र में लागू किए गए थे, बरनी उनकी ओर भी संकेत करता है। राज्य के केन्द्र को शामिल करते हुए यह एक विस्तृत क्षेत्र में लागू थे। परन्तु मालवा व राजस्थान के कुछ क्षेत्र और बिहार, अवध तथा गुजरात इसमें सम्मिलित नहीं थे। इस विषय में यह तथ्य ध्यान रखना आवश्यक है कि यह नियम केवल **खालसा** (शाही अथवा सुरक्षित) भूमि के लिए ही थे।

भुगतान की प्रणाली एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न है। **मोरलैण्ड** का विचार है कि तेरहवीं शताब्दी में नकद वसूली की प्रथा सामान्य प्रचलित थी और चौदहवीं शताब्दी तक इसका काफी विस्तार हो गया था। परन्तु अलाउद्दीन ने अनाज के रूप में वसूली को वरीयता प्रदान की। उसने आदेश दिया कि दोआब की सम्पूर्ण **खालिसा** भूमि से वसूली अनाज के रूप में ही की जाए और दिल्ली तथा उसके आसपास के क्षेत्र से केवल आधा राजस्व नकद रूप में वसूला जाए (शेष आधा अनाज के रूप में)। उसके द्वारा अनाज के रूप में वसूली को वरीयता देने का कारण दिल्ली और अन्य क्षेत्रों में अनाज का भण्डारण था जिससे आपात स्थिति (जैसे सूखा पड़ने या अन्य कारण से अनाज की कमी होने पर) में संगृहीत अनाज का उपयोग हो सके। साथ ही एक अन्य उद्देश्य यह था कि इस संगृहीत अनाज की सहायता से वह अनाज मंडी में अपनी कीमतों को स्थिर करने की नीति को सफल बना सकता था।

गियासुद्दीन तुगलक द्वारा दो महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए।

1. मध्यस्थ वर्ग को **हक्क-ए-खोती** का अधिकार वापिस दे दिया गया किन्तु **किस्मत-ए-खोती** का अधिकार नहीं दिया गया। उन्हें **गृह कर** व **चराई** कर से भी मुक्ति दे दी गई।

2. भूमि को नापने की व्यवस्था (मसाहत) तो जारी रखी गई परन्तु साथ ही अवलोकन या वास्तविक उपज के आधार पर भी कर का निर्धारण जारी रखा।

मुहम्मद तुगलक के कार्यों को लेकर कुछ अनिश्चितता है कि उसने भूमि कर की दर 50 प्रतिशत से भी अधिक बढा दी थी। यह भी कहा जाता है कि अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने कर की दर घटा दी जिसे मुहम्मद तुगलक ने फिर 50 प्रतिशत कर दिया यह दोनों ही दृष्टिकोण गलत प्रतीत होते हैं। अलाउद्दीन द्वारा निर्धारित की गई दर में कोई फेर-बदल नहीं हुआ। वास्तव में, मुहम्मद तुगलक ने कुछ नए कर (अबवाब) लगाए और साथ ही पुरानों को फिर जारी किया। उदाहरण के लिए मध्यस्थों पर फिर **घरी** व **चराई** कर लागू किए गए। इसके अतिरिक्त ऐसा भी प्रतीत होता है कि कर निर्धारित करने के लिए

केवल भूमि को नापने की प्रथा अपनाई गई। स्थिति उस वक्त अधिक बिगड़ी, जब अनाज के रूप में वसूली 'वास्तविक उत्पादन' के आधार पर न करके सम्पूर्ण नापी गई भूमि में राज्य द्वारा निर्धारित उपज के आधार पर की गई। साथ ही, नकद रूप में वसूली करने के लिए भी बाजार में अनाज के प्रचलित मूल्यों को आधार नहीं बनाया गया, बल्कि 'सुल्तान द्वारा निर्धारित मूल्य' को आधार माना गया और इसको ऊपर जैसा कि **बरनी** कहता है, इन सभी करों को अत्यन्त कठोरता से वसूल करने की कोशिश की गई। इन नियमों को दोआब की सम्पूर्ण **खालिसा** भूमि पर लागू किया गया। परिणाम प्रत्यक्ष थे—मध्यस्थों के नेतृत्व में किसानों का अभूतपूर्व विद्रोह। बाद में फिरोजशाह तुगलक ने लगभग तेईस प्रकार के उपकर या अबवाब समाप्त किए, जिसमें **घरी कर** व **चराई** कर भी शामिल थे।

राजस्व को ठेके पर देने की प्रथा एक अन्य प्रमुख कदम था, जो विशेषकर तुगलक काल में अपनाया गया। इस व्यवस्था के अनुसार, कुछ क्षेत्रों में राजस्व वसूल करने का उत्तरदायित्व ठेकेदारों को दे दिया गया। ठेकेदार संभवतः कुछ राशि अग्रिम रूप में देकर किसी क्षेत्र में एक निश्चित समय के लिए कर इकट्ठा करने का अधिकार प्राप्त कर लेते थे। फिरोजशाह के काल में एक सिंचाई कर (हक्क—ए—शर्ब) भी उन लोगों पर लगाया गया, जो राज्य द्वारा निर्मित नहरों से सिंचाई के लिए पानी लेते थे। जब फसल खराब हो जाती थी, तब राज्य द्वारा भूमि कर में छूट आदि दे दी जाती थी। मुहम्मद तुगलक के काल में किसानों को कृषि ऋण भी दिया जाता था।

दिल्ली सुल्तानों के काल में राज्य का अनुमानित राजस्व कितना था? इस विषय में फिरोज तुगलक से पहले के काल के विषय में ऐसा कोई अनुमान प्रस्तुत नहीं किया गया है। **अफीफ** के अनुसार सुल्तान फिरोजशाह के आदेश पर ख्वाजा हिसामुद्दीन जुनैदा ने राज्य की **जमा** (अनुमानित आय) 'जांच के नियम' के आधार पर निर्धारित की। इस कार्य को पूरा करने में छः साल लगे। इस गणना के अनुसार राज्य की आय लगभग छः करोड़ 75 लाख तंका (एक चांदी का सिक्का) आंकी गई। सुल्तान फिरोजशाह के सम्पूर्ण काल में राज्य की यही आय मान्य रही।

सैनिक संगठन

जिन राजनीतिक परिस्थितियों में तुर्क सुल्तानों को शासन करना पड़ा वे कठिनाइयों से परिपूर्ण थी। एक तरफ अपदस्थ शासक वर्ग राजपूत राजा व सरदार अपने खोए हुए राज्य एवं प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रत्यनशील थे, वहीं दूसरी तरफ मंगोलों के आक्रमण का आतंक सल्तनत पर निरन्तर बना रहता था। इन दो प्रमुख तथ्यों की अवहेलना कोई भी सल्तनतकालीन सुल्तान नहीं कर सकता था। समकालीन इतिहासकारों ने सशक्त एवं कुशल सेना पर बहुत अधिक जोर दिया। तुर्की विजेता स्वयं भी मुख्यतः सैनिक थे और समकालीन राजनीतिक व सैनिक आवश्यकताओं ने भी इस सैनिक संगठन को शक्तिशाली बनाने में अपना योगदान दिया। इसके अतिरिक्त दिल्ली सुल्तानों ने प्रायः विस्तारवादी नीति का अनुसरण किया, जिसका कुशल संरचना एक शक्तिशाली सेना के द्वारा ही हो सकता था।

सामान्यतः सुल्तान सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कुशल सेनानायक होता था और वैध रूप में वह प्रमुख सेनापति भी था। सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति, उनका स्थानान्तरण एवं पदोन्नति सुल्तान की इच्छा पर निर्भर करती थी। सल्तनत काल में सैनिकों की चार श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। इनमें **प्रथम** सुल्तान के सीधे नियंत्रण में रहने वाले नियमित सैनिक थे, जिनकी नियुक्ति स्थायी होती थी। **द्वितीय श्रेणी** में मुक्ता द्वारा रखे जाने वाले नियमित सैनिक थे, जिनकी नियुक्ति सुल्तान के सैनिकों के समान होती थी। **तृतीय श्रेणी** में वे सैनिक आते थे, जिन्हें युद्ध के समय अथवा सैनिक अभियानों के समय भर्ती किया जाता था। **चौथी श्रेणी** उन स्वयं सैनिकों की थी जो सैनिक साज—सामान से सुसज्जित होकर सेना में बिना वेतन के भर्ती होते थे तथा जिन्हें लूट में से हिस्सा प्राप्त होता था। प्रथम तीन श्रेणियों के सैनिकों का अस्तित्व आधारभूत रूप से सल्तनतकाल में बना रहा।

सल्तनकालीन सैन्य व्यवस्था का प्रारम्भ इल्तुतमिश के काल से होता है। उसके काल में सल्तनत की सेना को दश्म—ए—कल्ब (केन्द्रीय सेना) कहा जाता था। इसी में अलग से एक नए वर्ग का नाम बंदगान—ए—खास था। सुल्तान की सेना का संगठन गुलाम के रूप में भरती किए गए सैनिकों की शक्ति पर आधारित था। सुल्तान सेना में दासों को महत्व देकर तुर्की अमीरों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए इनका उपयोग करना चाहते थे क्योंकि इन दास सैनिकों की भारतीय भूमि में जड़े मजबूत नहीं थीं। अतः सुल्तान के प्रति उनका विश्वासपात्र बने रहना स्वाभाविक था। सुल्तान के समय प्रान्तों की सेना को हश्म—ए—अतरफ कहा जाता था। शाही घुड़सवार सेना को सवार—ए—कल्ब कहा जाता था। सेना को वेतन नकद न देकर उन्हें अक्ता प्रदान की जाती थी। इल्तुतमिश की घुडसवार सेना दो या तीन हजार थी। यह सुल्तान की व्यक्तिगत सेना थी जिन्हें शम्सी घुड़सवार कहा जाता था। इन घुड़सवारों को दिल्ली के आसपास के गांवों और दोआब के प्रदेश में अक्ता प्रदान कर दी गई थी—बरनी बताता है कि

दीवान–ए–अर्ज (सैनिक विभाग) शस्त्रधारी घुड़सवारों का निरीक्षण करता था। इस निरीक्षण से अश्व सैनिक किसी न किसी चालाकी से बचने का प्रयत्न करते थे। इस स्थिति से परेशान होकर ग्यासुद्दीन बल्बन ने अपने सैनिक सुधारों को क्रियान्वित किया। **बरनी** बताता है कि उसने अक्तादारों को तीन भागों में विभाजित किया। प्रथम श्रेणी में उन अक्तादारों को रखा गया जो शारीरिक दृष्टि से असहाय हो गए थे या वृद्ध थे। बल्बन ने उनके अधिकारों को यथावत् बनाए रखा। द्वितीय श्रेणी में शारीरिक रूप से समर्थ सैनिकों को रखा गया। उन्हें उनकी अक्ता से वंचित नहीं किया गया वरन् हासिल रकम को दीवान में जमा कराने के लिए दिए गए तीसरी श्रेणी में पेंशन या भत्ता सैनिकों व मृत सैनिकों के अनाथ बच्चों व उनकी विधवाओं को शामिल किया गया। इन परिवारों को पेंशन देने के संबंध में सरकारी फरमान जारी किए गए।

बरनी से पता चलता है कि राजनीतिक अनुभव से बल्बन ने सीखा था कि सेना शासन का मूल स्तम्भ है, इसलिए किसी विद्रोह से पूर्व उसका संगठन आवश्यक था। बल्बन ने सवार–ए–कल्ब (केन्द्रीय सेना) में निष्ठावान और अनुभवी अधिकारी नियुक्त किए। उनका वेतन बढ़ा दिया गया व वेतन के बदले उनके लिए गांव निश्चित किए गए। सैनिकों के वेतन में वृद्धि कर उन्हें सुखी व संतुष्ट रखना बल्बन की सामरिक नीति का एक आवश्यक अंग था। बरनी कहता है कि उसने अपने पुत्र बुगरा खां को यह परामर्श दिया था कि सेना के लिए कितना भी धन व्यय करना अधिक न समझो और अपने आरिज (सैनिक भर्ती करने वाले अधिकारी) को पूर्ण सैनिकों की व्यवस्था करने और नवीन सैनिकों की भर्ती करने में व्यस्त रहने दो।

विद्रोही तत्वों से निपटने के लए बल्बन ने दोआब में कंपिल, पटियाली, भोजपुर एवं दिल्ली के आसपास के स्थानों पर सैनिक चौकियां स्थापित कीं। इन चौकियों में उसने अफगान सैनिकों को नियुक्त किया।

यथार्थ में सल्तनतकाल में सैनिक व्यवस्था का निश्चित स्वरूप खिलजी काल में उभकर कर आता है। 1291 म जलालुद्दीन खिलजी के काल में अलगू के नेतृत्व में दिल्ली आए व यहीं बस गए। इन मंगोलों के दिल्ली में बस जाने का महत्वपूर्ण परिणाम यह भी कि ये मंगोल सल्तनत की सेना में शामिल हो गए। अब सल्तनत की सेना में मंगोलों में प्रचलित सैनिक वर्गीकरण के पद जैसे **अमीरान-ए-सदा, अमीरान-ए-हजारा** एवं **अमीरान-ए-तुमान** मिलने लगे।

मंगोलों की सैन्य व्यवस्था का वर्गीकरण दशमलव प्रणाली पर आधारित था। दस सैनिक **अमीर-ए-दह** के अधीन, **दस अमीर-ए-दह** का सेनानायक **अमीर-ए-सदा, दस अमीर-ए-सदा** का सेनापति **अमीर-ए-हजारा** व **दस अमीर-ए-हजारा** की इकाइयों का सेनापति **अमीर-ए-तूमान** होता था। अमीर–ए–तुमान के ऊपर खान या पादशाह होता था जो पदसोपानिक ढंग से हर इकाई के अधिकारी की जरूरतों को पूरा करता था।

बरनी ने इसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। सल्तनत कालीन सैनिक व्यवस्था का आधार तुर्की आदर्श था जो कि दशमलव प्रणाली पर आधारित था। बुगरा खां ने अपने पुत्र बैकुबाद को उदाहरण देते हुए अलग–अलग श्रेणियों का विवेचन किया है। इसके अन्तर्गत एक सारखेल के अधीन दस घुड़सवार, **दस सारखेल** एक **सिपहसालार** के अधीन, **दस सिपहसालार** एक **अमीर** के अधीन व **दस अमीर** एक **मलिक** के अधीन व **दस मलिक** एक **खान** के अधीन हुआ करते थे। **बरनी** का यह वर्गीकरण मंगोलों की दशमलव सैनिक प्रणाली पर आधारित था पर प्रारम्भिक तुर्की काल में सल्तनत की सेना को हम वर्गीकृत नहीं पाते।

यू.एन.डे. के अनुसार यह संख्या अधिकारियों द्वारा सैनिक की संख्या की अपेक्षा अमीर वर्ग के श्रेणी विभाजन को बताती है। **आई. एच.कुरैशी** का मत है कि सैनिक अधिकारी के रूप में मलिक शब्द का प्रयोग बड़े ही स्वच्छन्द रूप में किया गया है। खान एक आदरसूचक उपाधि होती थी। खान उपाधि का सैन्य वर्गीकरण से कोई संबंध नहीं था। इसी प्रकार सारखेल, सिपहसालार जैसे शब्दों का भी स्वतंत्र रूप में प्रयोग हुआ है। इस विषय में कुतुबद्दीन ऐबक का उदाहरण देते हुए कहा जा सकता है कि **मिनहाज** बताता है कि उसने सुल्तान की उपाधि हासिल करने से पहले मलिक व सिपहसालार की उपाधियां ग्रहण कीं।

यथार्थ में सल्तनतकाल में सैनिक व्यवस्था का निश्चित स्वरूप खिलजी काल में उभर कर आता है। अलाउद्दीन सैनिकों की नियुक्ति स्वयं करता था तथा उन्हें उनका वेतन शाही खजाने से सीधा दिया जाता था। **बरनी** के विवरण से स्पष्ट है कि अलाउद्दीन के शासनकाल में आकर एक अस्पा, दो अस्पा सैनिकों में अन्तर स्पष्ट हो गया था तथा इसी आधार पर उनका वेतन निर्धारित था। बरनी ने घुड़सवार सैनिकों के संदर्भ में मुरत्तब, एक अस्पा दो अस्पा शब्दों का प्रयोग किया है। वस्तुतः एक अस्पा सामान्य सैनिक था व इसके पास एक घोड़ा होता था। इसलिए इसे एक अस्पा कहा जाता था। **के.एस. लाल** के अनुसार दो घोड़ा रखने वाले अश्वारोही सैनिक का वार्षिक वेतन 234 टंका निश्चित हुआ व दूसरा घोड़ा रखने के लिए दो अस्पा सैनिक को 78 टंका वार्षिक अतिरिक्त प्रदान किया जाता था। यह वेतन शाही सेना पर लागू होता था। समकालीन स्रोतों के विवरण के आधार पर **आई.एच. कुरैशी** की यह मान्यता तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती कि अलाउद्दीन के शासनकाल में घुड़सवार सेना की तीन श्रेणियों में हो गया था। अलाउद्दीन ने अपनी सेना को वेतन देने के साथ साथ छह महीने का वेतन इनाम के रूप में देने

और उन्हें अक्ता देने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया। सेना में जब भर्ती होती थी तो दीवान–ए–अर्ज में उसे अपने घोड़ व साज–समान के साथ निरीक्षण के लिए उपस्थित होना पड़ता था। दीवाने अर्ज में सेना का एक विस्तृत वर्णन रहता था। सैनिक का **हुलिया** दर्ज किया जाता था व सेना के लिए खरीदे हुए हर घोड़े को **दागा** जाता था। ताकि निरीक्षण के समय किसी भी घोड़े को दुबारा प्रस्तुत न किया जा सके या उसके स्थान पर निकृष्ट घोड़ा न रखा जा सके। समय–समय पर घोड़ों व सैनिकों के शस्त्रों का निरीक्षण बारीकी से किया जाता था। अलाउद्दीन के बाजार नियंत्रण मूल्यों को लागू करने से **बरनी** बताता है कि घोड़े स्थायी रूप से सस्ते हो गए। इससे स्थायी सेना व दो अस्पा सैनिकों में बहुत बढ़ोत्तरी हुई। **कुरैशी** बताते हैं कि अलाउद्दीन के पास 70,000 घोड़े थे। घोड़ों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक ओर तो स्वयं केन्द्र तथा प्रान्तों में अच्छी नस्ल के घोड़ों को पाला जाता था, दूसरी ओर अरब, तुर्कीस्तान आदि से प्राप्त किए जाते थे। मंगोलों के आक्रमण के समय विदेशी नस्ल के घोड़ों का व्यापार काफी मंद पड़ गया और घोड़े केवल राजधानी में मिलते थे।

अलाउद्दीन द्वारा बनाए गए सेना संबंधी नियम कुतुबद्दीन मुबारकशाह के समय तक चलते रहे। पर 1320 में नासिरुद्दीन खुसरो के सत्ता में आने के बाद यह नियम एक–एक करके बिखर गए। इस प्रकार अलाउद्दीन की अत्यन्त सुसज्जित सेना उसके उत्तराधिकारियों के काल में नष्ट हो गई।

बरनी से पता चलता है कि तुगलक वंश का संस्थापक ग्यासुद्दीन तुगलक स्वयं एक सैनिक था और उसने सिंहासनारूढ़ होने पर अलाई सैनिक संगठन, वेतन, प्रशासन व्यवस्था वैसे की वैसे रखी। सिराजुल–मुक्ल ख्वाजा को आरिज–ए–मुमालिक नियुक्त किया व दीवाने अर्ज का प्रबंध, व्यवस्था एवं उत्तरदायित्व उस पर रखा। हुलिया व दाग प्रथा जिस पर सेना की दृढ़ता आधारित थी, के दृढ़ता के पालन के आदेश दिए। उसके आदेशों का पालन न करने वाले को कठोर दण्ड देने का हुक्म दिया। खुसरो खां के शासनकाल में सैनिकों को खुले हाथ से जो धन बांटा गया था, उसको वापिस लेने की व्यवस्था की गई और इसके लिए वर्ष भर के वेतन के अतिरिक्त धनराशि के रूप में समायाजित किया गया। इसके बावजूद जो रकम बच गई उसका तत्काल भुगतान नहीं किया गया। सैनिक आर्थिक मुश्किल में न पड़ें, इसलिए उसे किस्तों के रूप में काट लिया जाता था। नकद वेतन देने की प्रथा फिर से लागू की। **बरनी** बताता है कि ग्यासुद्दीन सैनिकों को दिए जाने वाले वेतन का बार–बार निरीक्षण करता था ताकि उन्हें निश्चित वेतन से कुछ कम न दिया जाए और मुक्ता उसमें से कुछ कमीशन न काट लें। बरनी लिखता है कि "ग्यासुद्दीन अपने अमीरों, मालिकों व अक्तादारों को कहा करता था कि सेना के वेतन में से एक दाम का भी लोभ मत करो। यह तुम्हारे हाथ में है कि अपने पास से सेना को कुछ दो अथवा न दो किन्तु सेना के लिए जो निश्चित हो चुका है, यदि उसमें से तुम आशा करते हो तो फिर अमीरी और मलिकी का नाम न लेना।"

मुहम्मद तुगलक ने सेना को वेतन नकद व अक्ता दोनों प्रकार से दिया। **मसालिकुल-अबसार** के लेखक **शिहाबुद्दीन अल उमरी** ने मुहम्मद तुगलक के वेतन का जिक्र किया है। प्रत्येक मलिक को 60,000 से 50,000 टका, प्रत्येक अमीर को 40,000 से 30,000 टका, सिपहसालार को 20,000 टंका व अन्य कर्मचारियों को 10,000 से 1,000 टका तक प्राप्त होते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें भोजन, वस्त्र एवं जानवरों के लिए चारा मुफ्त मिलता था। जो सैनिक सेनाध्यक्षों के अधीन होते थे, उन्हें सीधे शाही खजाने से वेतन का भुगतान किया जाता था। मुक्ता के अधीन सैनिकों का वेतन उनकी अक्ता से प्राप्त आय के एक भाग से दिया जाता था। मुहम्मद तुगलक ने प्रान्तों में फौजदार की नियुक्त की जो सेना संबंधी मामलों की देखभाल करता था। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक ने नकद वेतन व अक्ता दोनों प्रकार से वेतन दिया। विभिन्न कारणों के कारण फिरोजशाह तुगलक के काल में राज्य की सेना की संख्या व संगठन में गिरावट आयी। फिरोजशाह प्रचलित प्रथाओं–दाग, हुलिया, सैनिक निरीक्षण आदि को बनाए रखने का प्रयास किया पर उसकी कमजोर नीति के कारण सैनिक अनुशासन डगमगा गया। फिरोज ने अक्ता के रूप में वेतन की प्रणाली को पुनः लागू किया अब सैनिक नकद वेतन के स्थान पर भूमि या गांव के लगान के रूप में वेतन पाने लगे। वे वजहदार कहलाते थे। **अफीफ** लिखता है कि इस तरह सारे प्रदेशों, नगरों व गांवों को सैनिकों के बीच वेतन के रूप में बांट दिया गया। इसके अतिरिक्त फिरोज के समय सैनिक सेवा को भी वंशानुगत कर दिया गया। अयोग्य व वृद्धों को भी सैनिक सेवा में असमर्थ होने पर भी सेवा में बने रहने दिया गया। **अफीफ** बताता है कि सुल्तान ने यह नियम बना दिया कि यदि किसी सैनिक कर्मचारी की मृत्यु हो जाए तो उसकी जीविका उसके पुत्र को प्रदान कर दी जाए और यदि किसी के पुत्र न हो तो दामाद को दे दी जाए और यदि दामाद भी न हो तो उसके दास को दे दी जाए और यदि दास भी न हो तो उसके किसी संबंधी को प्रदान कर दी जाए। यदि वह भी न हो तो मृतक की स्त्रियों को दे दी जाए। परन्तु राज्य की ओर से अक्ता को वापिस नहीं लिया जाता था।

शांतिकाल में सेना को सक्रिय व चुस्त रखने के लिए अन्य उपाय नहीं निकाले गए सैनिक आलसी व निकम्मे बनने लगे। पहले यह नियम था कि वृद्ध सैनिकों के स्थान पर नवयुवक सैनिक भर्ती कर लिए जाते थे किन्तु जब वृद्ध लोगों के एक प्रतिनिधि मण्डल ने सुल्तान से यह निवेदन किया कि जीवन भर राजा की सेवा करने के बाद अब उन्हें मरने के समय असहाय अवस्था में छोड़ देना

कहां तक न्यायसंगत है तो **अफ़ीफ** बताता है कि सुल्तान ने आदेश निकाला कि किसी वृद्ध को सेना में से न निकाला जाए क्योंकि वह स्वयं सैनिक कार्य के लिए अनुपयुक्त है, इसलिए वह अपने स्थान पर अपने परिवार में से किसी दूसरे व्यक्ति को काम दे। इसके परिणामस्वरूप फिरोज तुगलक के काल में सेना बिल्कुल अयोग्य, अव्यवस्थित एवं पंगु हो गई। उसने सेना में दासों की भर्ती करना प्रारम्भ कर दिया। इसके बहुत भयंकर परिणाम निकले व वे राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करने लगे व दूसरे षड़यंत्रों में हिस्सा लेने लगे।

सल्तनत कालीन सैनिक संगठन में घुड़सेना का बहुत महत्व था। भारत में घोड़ों का आयात तुर्की तथा अन्य सुदूर देशों से किया जाता था। **शिहाबुद्दीन-उल-उमरी** लिखता है कि अरबी घोड़े बहरीन, यमन तथा इराक से लाए जाते थे यद्यपि हिन्दुस्तान के आन्तरिक भागों में अच्छी नस्ल के अरबी घोड़े मिल जाते हैं। जिनका मूल्य भी कम होता है। युद्ध के समय सेना के साथ अतिरिक्त घोड़े भेजे जाते थे जिससे युद्ध में काम आए घोड़ों की जगह इन्हें काम में लिया जा सके।

सेना में पदाति सेना का भी अपना ही स्थान था। प्रत्येक पैदल सैनिक तलवार, कटार व धनुष बाण से सुसज्जित रहते थे

अधिकारी--सेना का कोई स्थायी सेनापति नहीं होता था। सुल्तान ही स्वयं इसका अध्यक्ष व सेनापति था। प्रत्यक अभियान के समय एक सेनानायक की नियुक्ति की जाती थी। और उसका कार्यकाल युद्ध की समाप्ति तक ही रहता था।

सैन्य विभाग का अध्यक्ष दीवाने--आरिज होता था। आरिज द्वारा सेना की व्यवस्था, निरीक्षण, दागने, हुलिया रखने व अन्य प्रकार की व्यवस्थाएं की जाती थीं। सेना की भर्ती व प्रशासन को देखना, रसद का प्रबन्ध करना, लूट के माल को प्राप्ति करना इसी विभाग का काम होता था। वर्ष में एक बार सेना निरीक्षण के लिए सुल्तान के समक्ष उपस्थित की जाती थी।

सैनिक संगठन में दुर्गों का उस समय अत्यधिक महत्व था। दुर्ग साम्राज्य की रक्षा करने, शत्रुओं को रोकने में महत्वपूण भूमिका निभाते थे। दुर्ग के चारों ओर खाईयां खोदकर कांटेदार वृक्ष व झाड़ियां लगा दी जाती थीं ताकि शत्रु को शीघ्रता से अपने तक पहुचने से रोका जा सके। इन किलों (दुर्गों) में अनुभवी व विवेकशील सेनानायक नियुक्त किए जाते थे जो कोतवाल कहलाते थे। अलाउद्दीन के समय के किलों का वर्णन करते हुए **के.एस. लाल** लिखते हैं कि इन किलों में मंजनीक व अरादा यंत्रों के निर्माण के लिए कुशल यांत्रिकों की नियुक्ति व अनाज व चारे के भंडार रखने के आदेश दिए गए थे। कोतवाल के अलावा किले में मुफरिद होते थे जो संभवतः शस्त्र--अस्त्रों की देखभाल करते थे।

सल्तनत काल में बारुद, गोले या तोपखाने का निर्माण नहीं किया गया था। परन्तु तेरहवीं शताब्दी में तोप के बिगड हुए रूप का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त मगरिब, मंजनिक तथा अरादा का वर्णन मिलता है। इनका प्रयोग भारी पत्थर फेकने या धातु के गोले फेंकने में किया जाता था जिससे दुश्मनों के किलों की दीवारों को नष्ट किया जाता था। चर्ख (शिला तोड़ने वाला अस्त्र) व फलाखून (गुलेल) का भी प्रयोग किया जाता था। गरगच एक चलायमान मंच था जिस पर खड़े होकर घेरा डालने वाले किले की ऊंचाई पर पहुंचकर शत्रु पर आक्रमण कर सकते थे। साबात एक सुरक्षित गाड़ी थी जो दुश्मन के आक्रमण से उनकी रक्षा करती थी। घेरा डालने वाले सैनिक पाशेब बनाते थे जो ढलवां टीले जैसा होता था व किले की ऊंची दीवार की ओर जाता था।

प्रान्तीय शासन

दिल्ली सल्तनत अपने स्थापना काल के आरम्भिक वर्षों में मुख्य रूप से विस्तार और सुरक्षा की जटिल समस्याओं में उलझी रही। साम्राज्य के विस्तार के साथ ही वृहद साम्राज्य पर केन्द्र द्वारा सीधा नियंत्रण अव्यवहारिक था, विशेषकर मध्यकाल में जबकि शक्ति ही शासन का आधार था तथा द्रुतगति के आवागमन के साधनों का अभाव था। इसके अतिरिक्त नवस्थापित तुर्की राज्य की मानव शक्ति अत्यधिक सीमित थी और इसलिए समस्त साम्राज्य के विभिन्न भागों में एकरूप प्रशासन को लागू करना सम्भव नहीं था। समस्या के निराकरण हेतु केवल यही विकल्प सुल्तानों के सम्मुख था कि राज्य को छोटी--छोटी इकाइयों में विभाजित कर दिया जाए।

इन परिस्थितियों में तुर्कों ने अब्बासी खलीफाओं की संस्थाओं को अपनाकर राज्य को विभिन्न भागों में बांट दिया। साम्राज्य के अन्तर्गत विभिन्न प्रान्तों के प्रमुख को **अमीर** अथवा **वली** कहा जाता था। वे योग्यता तथा शासकों की शक्ति के अनुपात में अधिकारों का उपयोग करते थे। स्वभाविक है कि दूरस्थ प्रान्त के अधिकारी अधिक अधिकारों का उपयोग करते थे और साधारण रूप से उनका व्यवहार अर्ध--स्वतंत्र शासक के समान होता था अधिकारों के उपयोग की इस विभिन्नता को ध्यान में रखकर विधि शास्त्रियों ने गवर्नरों को दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम **इमारत-ए-खास** अर्थात् असीमित अधिकार वाले गवर्नर तथा **इमारत-ए-आम** अर्थात् सीमित अधिकार वाले गवर्नर।

असीमित अधिकार वाले गवर्नर का कार्यक्षेत्र इस प्रकार था:

1. प्रान्त के सैनिक काम–काज के प्रति उत्तरदायी थे।
2. काजियों का मनोनीत करना।
3. हाजियों के मक्का की यात्रा के लिए व्यवस्था करना।
4. शुक्रवार व ईद की सार्वजनिक नमाजों का नेतृत्व करना।
5. काफिरों के विरुद्ध जिहाद करना।
6. लूट की सम्पत्ति में से सरकारी भाग निकाल कर शेष सैनिकों में वितरित करना।
7. सार्वजनिक सुरक्षा का प्रबन्ध करना।
8. करों व चुंगी को लगाना व वसूलने की व्यवस्था करना।
9. शांति व्यवस्था तथा सार्वजनिक सदाचार को बनाए रखने के लिए पुलिस की व्यवस्था करना।

इस प्रकार इन गवर्नरों के अधिकारों की विवेचना से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे सर्वशक्तिशाली थे।

सीमित अधिकार वाले गवर्नर इतने विस्तृत अधिकारों का उपभोग नहीं करते थे। उन्हें केवल सैनिकों की देखरेख करना, विद्रोहियों तथा अपराधियों को दंडित करना तथा ग्रह सुरक्षा के अधिकार प्राप्त थे। उन्हें न्याय प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने अथवा करों की उगाही का अधिकार न था। फौजदारी मामलों में भी उनके अधिकार अति सीमित थे। अपील संबंधी मामलों में वह केवल उसी समय हस्तक्षेप कर सकते थे जब किसी प्रकार की घोषणा कर दी गई हो।

इन दो श्रेणियों के गवर्नरों के अतिरिक्त विधि–शास्त्रियों ने एक तीसरे प्रकार के गवर्नर **इमारत-ए-इस्तिला** अर्थात् वे गवर्नर जिन्होंने यह पद अनाधिकार रूप में प्राप्त कर लिया हो, की भी विवेचना की है। अपने अनाधिकार को वैध स्वीकार करने हेतु उन्हें निम्न शर्तों को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी:–

1. समस्त मुस्लिम सम्प्रदाय के धार्मिक नेता के रूप में खलीफा के सम्मान और वैभव को सुरक्षित रखना।
2. सार्वजनिक रूप में खलीफा के प्रति समर्पण प्रदर्शित करना।
3. इस्लाम के मामलों में सहायता करना।
4. धार्मिक पदों पर नियुक्त काजी व इमाम का सम्मान करना।
5. धार्मिक कानूनों के अन्तर्गत लगाए गए करों की न्यायोचित व निष्पक्षता की जांच करना।
6. सर्वसाधारण को सच्चे धर्म के प्रति निष्ठा तथा वर्जित चीजों को दूर रखना।

इस प्रकार विधिशास्त्रियों के गवर्नर की समस्त कार्यवाहियों के लिए कुछ कानूनी प्रतिबन्ध लगा रखे थे। परन्तु वास्तविक रूप में ये वर्गीकरण केवल सैद्धान्तिक था क्योंकि गवर्नरों के अधिकार उनकी व्यक्तिगत योग्यता, खलीफा की शक्तिहीनता अथवा प्रान्तों की केन्द्र से दूरी के आधार पर घट–बढ़ जाते थे।

सल्तनतकाल में तीनों ही प्रकार के गवर्नर विद्यमान थे। लखनौती अपनी दूरी के कारण अधिक समय तक एक स्वतंत्र गवर्नर के समरूप अधिकारी के हाथ में ही रहा। बल्बन ने तुगरिल खां के विद्रोह को दबाने के बाद भी बंगाल को प्रत्यक्ष रूप से अपने अधिकार क्षेत्र में नहीं लिया और अपने पुत्र बुगरा खां को एक अर्ध–स्वतंत्र गवर्नर के रूप में नियुक्त कर ही संतुष्ट रहा। अलाउद्दीन ने दक्षिण राज्यों से वार्षिक कर प्राप्त कर ही संतोष किया और उन्हें आन्तरिक शासन में स्वतंत्र छोड़ दिया। उसने बंगाल के कैकाउस द्वारा उसे अधिराज्य की स्वीकृति पर संतोष कर तीसरे वर्ग के गवर्नरों के पद को मान्यता दी।

प्रान्तों का वर्गीकरण–तथाकथित प्रान्तों की संख्या व सुल्तानों से सम्बन्ध उनके द्वारा अपनाई गई साम्राज्यवादी नीति तथा समकालीन परिस्थितियों का परिणाम थे। समस्त सल्तनत काल में राज्य–विस्तार की निरन्तर प्रक्रिया चलती रही और उसी के अनुसार प्रान्तीय व्यवस्था में परिवर्तन होता रहा। क्योंकि तुर्क सत्ता के विरुद्ध लगातार विद्रोह होते रहे इसलिए इल्बारी तुर्क मुख्य रूप से अपने अस्तित्व को सुरक्षित बनाये रखने के प्रयत्न में तल्लीन रहे। बलबन जैसे शासक को भी जो राज्य–विस्तार के लिए अधिक इच्छुक था, पूर्वी सीमा पर बुगरा खां को बंगाल का गवर्नर नियुक्त कर सन्तुष्ट रहना पड़ा। अपने राज्य में होने वाले विभिन्न उपद्रवों को दबाने में उसकी शक्ति का ह्रास हो गया। अलाउद्दीन के सत्ता प्राप्ति के साथ ही पुरानी नीति का बहिष्कार कर साम्राज्यवादी नीति को अपनाया गया और राजपूताना, गुजरात, मालवा आदि के कुछ भाग साम्राज्य के अन्तर्गत किये गये। दक्षिण

के हिन्दू शासकों से अपना आधिपत्य स्वीकार करवाकर तथा उन्हें करद राज्य बनाकर ही उसे सन्तोष करना पड़ा। मालिक काफूर को उसने स्पष्टतया आदेश दिया था कि वह दक्षिण से शासकों के वार्षिक कर प्राप्त करे तथा समुद्र और रामदेव के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करे। उसने राजा रामचन्द्र देव को एक प्रकार से दक्षिण के प्रदेशों का वाइसराय भी नियुक्त किया था। उसकी मृत्यु के बाद कुछ समय तक मलिक काफूर भी इसी रूप में रहा। मुबारक शाह खल्जी ने अपने पिता की नीति का पालन कर दक्षिण के राज्यों पर प्रभावपूर्ण अधिकार जमाने के लिए मुस्लिम गवर्नरों की नियुक्ति की थी।

प्रथम दो तुगलक शासकों ने मुबारक शाह की नीति का अत्यन्त कठोरता से पालन कर दक्षिण की प्रशासकीय व्यवस्था में आमूल–चूल परिवर्तन किया जो राज्य के लिए घातक सिद्ध हुआ। दक्षिण पर प्रभावपूर्ण अधिकार बनाये के लिए ही उसने देवगिरि को अपनी राजधानी बनाने का प्रयोग किया और इस प्रयोग की असफलता के साथ ही दक्षिण का प्रदेश उसके हाथों से निकल गया। जीवन–पर्यन्त वह अपने साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशों का दमन करने में असफल रहा। फीरोज तुगलक इस विघटन की गति पर अंकुश लगाने में असमर्थ रहा और उसका राज्य केवल पंजाब, मुल्तान और दोआब में ही सीमित होकर रह गया। उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों के समय में विघटन की प्रक्रिया पूर्ण हुई।

इस विवेचन से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि सल्तनत काल में प्रशासकीय प्रयोजन के लिए निम्न तीन प्रकार के प्रदेश थे–

1. मुल्तान, पूर्वी पंजाब तथा दोआब, 2. गुजरात, मालवा, बिहार व बंगाल, 3. करद राज्य जो नाम–मात्र के लिए सुल्तान के आधिपत्य को मानते थे।

तीन प्रकार के प्रदेशों ने तीन ही प्रकार के प्रान्तों को जन्म दिया–

1. प्रान्त जो छोटे थे तथा जिन पर सुल्तानो का निरीक्षण व नियन्त्रण अधिक था। इन तथाकथित प्रान्तों के गवर्नरों को दरे अथवा 'मुक्ति' कहते थे तथा वे इमारत–ए–आम के अधिकारों का उपभोग करते थे।
2. दूसरी श्रेणी में वे प्रान्त थे जो केन्द्र से दूर स्थित थे और इसलिए सुल्तानों के व्यक्तिगत निरीक्षण से मुक्त थ। इनके गवर्नरों की 'वली' व 'नायब' कहते थे तथा कभी–कभी उन्हें सुल्तान की संज्ञा से भी विभूषित किया जाता था। ये इमारत–ए–आम के अधिकारों का उपभोग करते थे। कभी–कभी दूरस्थ प्रदेशों में कोई शक्ति–सम्पन्न अमीर अथवा विद्रोही कभी गवर्नर के पद को हथिया लेते थे। ऐसे गवर्नर अपहरणकर्ता की श्रेणी में आते थे और क्योंकि सुल्तान के पास इनको गवर्नर स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था इसलिए वो इन्हें अपनी स्वीकृति दे देता था।
3. तीसरी श्रेणी में स्वायत्त राज्य थे जो सुल्तान को वार्षिक कर चुकाते थे।

दूसरी श्रेणी के प्रदेश वास्तविक रूप में राज्य के अन्तर्गत राज्य थे। बंगाल, दक्षिण व गुजरात इसी में थे। अलाउद्दीन के राज्यकाल में बंगाल एक ऐसा दण्डात्मक प्रदेश माना जाता था जहां ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी जिनको उनकी लोकप्रियता के आधार पर केन्द्र के निकट रखना खतरनाक था। अलाउद्दीन ने जफरखां को इसी आधार पर बंगाल भेजा था। कभी–कभी बंगाल के गवर्नर सुल्तान की उपाधि भी धारण कर लिया करते थे अथवा वे अर्ध–स्वतंत्र शासक के रूप में रहते थ जैसा कि बलबन के समय में बुगरा खां के उदाहरण से स्पष्ट है। बंगाल के शासन को व्यवस्थित करने के लिए इसे मुहम्मद तुगलक ने इस निम्न तीन भागों में बांटा था–

1. सतगांव 2. सोनारगांव 3. लखनौती

लखनौती में वायसराय समान अधिकारी था जो तीनों में श्रेष्ठ माना जाता था। दक्षिण के राज्य अलाउद्दीन खल्जी के समय में स्वायत्त राज्य थे परन्तु मुहम्मद तुगलक के समय में दक्षिण के प्रदेशों को चार भागों में विभाजित कर दिया था और इन चार भागों–देवगिरी, माबार, तेलगांना व द्वारसमुद्र–के लिए सुरूर–उल–मुल्क, मरबलिस–उल–मुल्क, युसूफ धारा बहर व अजीज खम्मार को नियुक्त किया गया था। देवगिरी को मुख्यालय बनाकर इसे एक वजीर के अन्तर्गत रखा गया, जिसकी सहायता के लिए एक नायब–वजीर नियुक्त किया था। इमादुल मुल्क सुल्तानी को वजीर व घराबहर को नायब वजीर बनाया गया। देवगिरि का प्रान्त चारों प्रदेशों के गवर्नरों में श्रेष्ठ था तथा लखनौती के समान ही वह वायसराय के समरूप था।

सल्तनत काल में छोटे प्रदेशों की ही संख्या अधिक थी जिस पर सुल्तान का पूर्ण प्रभुत्व था। 13वीं शताब्दी में दोआब में अमरोहा, मेरठ, बारां व करेल नाम प्रान्तों में विभाजित किया गया था परन्तु अलाउद्दीन ने इनको दिल्ली के समरूप ही शासन व राजस्व–विभाग के अन्तर्गत रख लिया। इनके पश्चात् कन्नौज और कड़ा थे। गंगा के पार जफराबाद सम्भल में अवध और अवध के दक्षिण–पूर्व में जोनपुर था। इनके अतिरिक्त गोरखपुर तिरहुत थे जिनमें अन्तिम प्रदेश बंगाल

के पश्चिम में सरहिन्द, समाना, हांसी, और लाहौर, दीपालपुर व मुल्तान के प्रदेश थे। ये तीन अन्तिम प्रदेश सीमाओं पर थे और इनको केवल अनुभवी और सैनिक प्रतिभा वाले मलिकों के अधीन ही रखा जाता था। गुजरात और मालवा के प्रदेशों को अधिकतर इमारत–ए–खास के अधीन रखा जाता था। इन प्रान्तों से लगी सीमाओं के गांवों की उचित व्यवस्था नहीं हो पाती थी।

समकालीन इतिहासकारों ने कहीं पर भी प्रान्त शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने "**इक्ता**' व '**विलायत**" शब्दों के द्वारा ही राज्य के विभाजन को दर्शाया है। **प्रो. हबीबुल्ला** का मत है कि इक्ता का शब्दिक अर्थ एक भाग अथवा अंश है जिसमें कोई प्रतीयमानतः (Seemingly) तकनीकी अर्थ निहित है और उसी के स्पष्टीकरण के आधार पर स्थानीय शासन का स्वरूप निश्चित करना सम्भव हो सकेगा।

राज्य के विभाजन के रूप में इक्ता शब्द का प्रयोग सम्भवतः मध्य एशिया में प्रचलित था जिसको कि तुर्कों ने अपना लिया था। **रेवर्टी** ने "**जागीर**" के रूप में इस शब्द का प्रयोग किया है। यह उचित नहीं है क्योंकि जागीरदार अपनी जागीर में अप्रत्यक्ष रूप से शासक होता था जबकि इक्ता में सुल्तान का प्रभावपूर्ण अधिकार रहता था। **प्रो. कुरेशी** का कथन है कि, "मुक्ति" (इक्ता का अधिकारी) शब्द का प्रयोग किसी भी गर्वनर के लिए किया जाता था, परन्तु वली शब्द केवल असाधारण शक्ति–युक्त गवर्नरों के लिए सुरक्षित था। ऐसे गवर्नरों की संख्या अत्यधिक सीमित थी क्योंकि सल्तनत काल में अधिकतर इक्ताओं का प्रबन्ध सीमित अधिकार वाले गवर्नरों के द्वारा ही किया जाता था।

प्रान्तीय अधिकारियों के कर्त्तव्य–सल्तनत काल में गवर्नर (मुक्ति) मौलिक रूप में परिक्षित सैनिक पटुता वाला व्यक्ति ही होता था तथा वह अपने प्रान्त के प्रशासन के लिए केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी था। प्रान्त के लोग गवर्नर के अत्याचारी व्यवहार के विरुद्ध सुल्तान से अपील कर सकते थे जो कि उस्की दुष्टता पर सबसे प्रभावशाली अंकुश था। सुल्तान गवर्नर को वापिस बुला सकता था। इस प्रकार से बुलाया जाना असम्मानजनक समझा जाता था और सुल्तान को शक्ति के आधार पर ही अपने इन आदेशों का पालन करवाना पड़ता था।

गवर्नर, (**मुक्ति**) साधारणतया अपने **इक्ता** में ही रहता था परन्तु राजधानी के निकट के इक्ताओं में अनुपस्थित–मुक्तियों के अनेकों उदाहरण हैं। ऐसे इक्ताओं में नाइबों के द्वारा प्रशासन चलाया जाता था जो कि कभी–कभी केन्द्रीय सरकार के द्वारा नियुक्त किये जाते थे। जैसे इल्तुतमिश ने कन्नौज के नाईब को नियुक्त किया था। हिन्दू खां अपने नाईब के द्वारा ही उच्छ के शासन की व्यवस्था करता था। बलबन जब **अमीर-ए-हाजिब** अथवा बाद में **नाइब-ए-ममालिकत** बन गया तो उसकी उपस्थिति केन्द्र में स्वाभाविक थी और ऐसी स्थिति में उसके हांसी और सिवालिक के इक्ताओं का प्रबन्ध नाइब के द्वारा ही किया जाता था। 1253 ई. में उसकी बरखास्तगी पर महमूद के अल्पायु पुत्र को हांसी का मुक्ति नियुक्त किया गया। ऐसी स्थिति में प्रशासन को चलाने के लिए किसी नाइब की अवश्य ही नियुक्ति की गई होगी।

बड़े क्षेत्रफल के इक्ताओं में स्वयं मुक्ति महत्वपूर्ण नगरों व सीमा–चौकियों पर नाइबों की नियुक्ति करता था। हिसामुद्दीन एवाज द्वारा बंगाल में गनगूरी की व्यवस्था करना इसकी पुष्टि करता है। मुक्ति को अपनी अधीन अधिकारियों को भूमि देने का अधिकार था जैसा कि अवध के मुक्ति ने वख्तियार को एक सैनिक इक्ता प्रदान किया था। सुल्तान की तरह की मुक्ति माफी की भूमि भी दे सकता था। **मिनहाज-उस-सिराज** को बलबन द्वारा इतने गांव प्रदान किये गये थे जिनसे 30,000 जीतल की आय थी।

यद्यपि मुक्ति के वेतन अथवा पारिश्रमिक का कोई विवरण नहीं मिलता है परन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि उसे राजस्व का कोई भाग मिलता रहा होगा। सल्तनत काल में अनेकों उदाहरण मिलते हैं जब मुक्ति ने निकट के हिन्दू प्रदेशों को जीत कर अपने इक्ता को बढ़ाने का प्रयास किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने निकट–स्थित इक्ताओं को विजित कर अथवा उनकी कुछ भूमि को अपने में मिला कर अपनी आमदनी को बढ़ाने का प्रयास भी किया था। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि मुक्ति का वेतन कुल राजस्व पर ही निर्भर था। गयासुद्दीन तुगलक ने ये आदेश दिये थे कि यदि कोई मलिक अथवा अमीर अपने पद के अनुलाभ के अतिरिक्त इक्ता अथवा विलायत के 1/10 या 1/15 आदि भाग को हथिया लेता है तो उसे इस आधार पर दण्डित नहीं किया जाये। इसी प्रकार मुहम्मद तुगलक के गवर्नर भी राजस्व का 1/20 भाग कमीशन के रूप में प्राप्त करते थे। इनसे यह स्पष्ट है कि मुक्ति का वेतन राजस्व के प्रतिशत के रूप में ही दिया जाता था।

मुक्ति के उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में हमें कुतुबद्दीन ऐबक के द्वारा दिये गये निर्देश उपलब्ध हैं जो सूक्ष्म रूप में इस प्रकार हैं–

1. कानूनों, परिपाटियों, नियमों तथा कानूनों को प्रवर्तित तथा सुरक्षित करे,
2. उलेमाओं, योद्धाओं तथा प्रशासनिक अधिकारियों की देखभाल करे,
3. जनता के करों में कमी करे तथा सम्पन्नता के साधनों को प्रोत्साहित कर सर्वसाधारण में सामंजस्य की भावना बढ़ाये,

4. कृषि क्षेत्र में वृद्धि कर उपज को बढ़ाये,
5. न्याय को स्थापित करे तथा कमजोरों को बलवानों की दुष्टता तथा लोभ से बचाये,
6. न्यायालयों के निर्णयों को लागू करवाये,
7. मृत्यु–दण्ड देने से दूर रहे, तथा
8. जनपथों की सुरक्षा करे, व्यापार को प्रोत्साहन दे तथा व्यापारियों को सुरक्षा प्रदान करे।

सल्तनत काल के आरम्भ में भी मुक्ति केवल सैनिक और राजस्व का विभाग ही उसके आधीन थे। धार्मिक अथवा न्यायिक मामलों में उसको किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त न थे। ये विभाग केन्द्र के निरीक्षण में ही कार्य करते थे। मोटे रूप से उत्तरकालीन सुल्तानों के समय में भी यही अधिकार बने रहे और आवागमन की बढ़ती हुई सुविधाओं से केन्द्र का उन पर प्रभाव और अधिक प्रभावशाली हो गया। इस सन्दर्भ में फतह खां को सिन्ध का गवर्नर नियुक्त करते समय फीरोज तुगलक ने निम्न निर्देश दिये थे जो इसकी पुष्टि करते हैं—

1. वह प्रमुख कार्यकारी के रूप में कार्य करे;
2. सर्वसाधारण तथा उनके स्वार्थों की रक्षा करे;
3. विद्वान व धार्मिक जनों की सहायता करे;
4. सैनिकों को प्रफुल्ल तथा सन्तुष्ट रखे;
5. सार्वजनिक अधिकारियों के काम की देखभाल करे; तथा
6. किसानों को अनुचित मांग से युक्त रखे तथा क्रूरता से उनकी रक्षा करे।

मुक्तियों की इस अधिकार सूची अथवा उत्तरदायित्वों से ऐसा अनुभव होता है कि उनके अधिकार असीमित थे परन्तु यह कथन सैद्धान्तिक था। उनके अधिकारों पर अनेक प्रकार के अंकुश लगे हुए थे। सैनिक अधिकारों के क्षेत्र में **प्रान्तीय आरिज़**, जो कि सेना की भर्ती और निरीक्षण के लिए उत्तरदायी था, की उपस्थिति प्रभावपूर्ण थी। वे **आरिज़-ए-मुमालिक** के अधीन थे तथा उन्हें नियमित रूप से मुख्यालय को रिपोर्ट भेजनी पड़ती थी। अलाउद्दीन ने **दाग** और **हुलिया** की प्रथा लागू कर तथा माफी की जमीन देने की व्यवस्था को हतोत्साहित कर मुक्तियों के अधिकारों को और अधिक सीमित कर दिया था। सैनिकों के वेतन नकद में भुगतान के कारण भी राज्य का सेना पर नियन्त्रण बढ़ गया था। जैसे–जैसे विद्रोही तत्वों में कमी आने लगी वैसे ही वैसे सैनिक गवर्नरों की अपेक्षा प्रशासनिक गवर्नरों का महत्व बढने लगा। अलाउद्दीन के समय तक प्रशासनिक अधिकारी इतने शक्तिशाली थे कि वे कई उग्र सुधारों को भी लागू करने में समर्थ थे। इसी प्रकार राजस्व अधिकारी यद्यपि मुक्ति के अधीन थे परन्तु **दीवान-ए-वजारत** उनके कार्यों का निरीक्षण करता था जिसको वे नियमित रूप से आय और व्यय का हिसाब भेजते थे। यदि मुक्ति वजीर को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहता था तो उसके साथ भद्र व्यवहार किया जाता जब तक कि वो गबन की हुई राशि का भुगतान न कर दे। मुहम्मद तुगलक ने इसके लिए **दीवान-ए-मुस्तखरिज** नामक अधिकारी की नियुक्ति की थी।

समकालीन लेखकों के विवरण से यह स्पष्ट नहीं है कि मुक्ति, इक्ता की आय से शासन तथा सैनिक व्यय निकाल कर अतिरिक्त धन केन्द्रीय कोष में जमा करता था अथवा नहीं। परन्तु सल्तनत काल में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह आभास होता है कि वह अतिरिक्त धन को केन्द्रीय कोष में भेजता था। लाहौर और सुल्तान के मुक्ति को मुइजुद्दीन ने 1204 ई. में आदेश भेजा कि वो अपने राजस्व का बकाया जमा करे। इसी प्रकार से बलबन का शाहजादा मुहम्मद (जो सिन्ध का वायसराय था) प्रति वर्ष अपने पिता के पास स्वयं राजस्व लाता था। अलाउद्दीन खल्जी ने भी जलालुद्दीन से अवध और कडा का अतिरिक्त आय से चन्देरी पर आक्रमण करने हेतु घोड़ों और नये सैनिकों को भर्ती करने की आज्ञा मांगी थी।

प्रान्तीय मुख्यालय के अधिकारी–प्रान्तों की वित्तीय–व्यवस्था का उत्तर दायित्व साहिब–ए–दीवान नामक अधिकारी के हाथ में था। उसे सुल्तान, वजीर की सिफारिश पर नियुक्त करता था। यद्यपि मुगल कालीन प्रान्तीय दीवान से उसकी तुलना नहीं की जा सकती है परन्तु उसके कर्त्तव्य उससे अधिक मेल खाते थे। उसका उत्तरदायित्व था कि वह लेखा बही (अकाउन्ट बुक) को तय करे तथा केन्द्र को इसका विस्तृत विवरण प्रस्तुत करे। उसकी सहायता के लए अनेकों अधिकारी थे जिनम "मुस्तौफी" "कारकून" प्रमुख थे। ख्वाजा नामक अधिकारी का विवरण भी हमें मिलता है परन्तु ख्वाजा को प्रान्त के वित्त–प्रमुख के बराबर मानना अनुचित होगा। ख्वाजा की नियुक्ति इक्ताओं में की जाती थी जिनको किसी प्रकार से प्रान्त नहीं कहा जा सकता था। ख्वाजा इनकी आय का हिसाब रखता था जिससे कि सुल्तान अधिशेष (बढ़त) अनुमान लगाकर उसको केन्द्रीय कोष में जमा कराने का आदेश दे सके।

ख्वाजा की नियुक्ति वजीर की सिफारिश पर सुल्तान द्वारा की जाती थी। यद्यपि सैद्धान्तिक आधार पर वह मुक्ति के आधीन था परन्तु व्यावहारिक रूप में सुल्तान के द्वारा नियुक्त किये जाने से तथा वजीर से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण वह अधिक स्वतन्त्र था। इक्ता में उसकी उपस्थिति मुक्ति के अधिकारों पर एक प्रकार से अंकुश थी।

प्रान्तों की सैनिक व्यवस्था का उत्तरदायित्व प्रान्तीय आरिज के हाथों में था। वह आरिज–ए–मुमालिक के अधीन था तथा प्रान्तीय गवर्नर का सहायक अधिकारी था। मुख्यालय का काजी प्रान्त के मुख्य काजी के रूप में कार्य करता था। वह राज्य के काजी के अधीन था। न्याय की व्यवस्था को देखने के अतिरिक्त वह प्रान्त की मस्जिदों और मदरसों की देखभाल करता था।

प्रान्तीय वित्त

प्रान्त में वित्त सम्बन्धी व्यवस्था के मूल में दो महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिनके आधार पर ही इस व्यवस्था का अध्ययन सम्भव है। प्रथम प्रान्त तथा केन्द्र के बीच के सम्बन्ध, तथा दूसरा कृषकों के साथ सम्बन्ध। बरनी के विवरण से स्पष्ट है कि प्रान्त केन्द्र को एक निश्चित धन–राशि प्रेषित करता था। गयासुद्दीन तुगलक ने यह स्पष्ट आदेश दिये थे कि वित्त मंत्रालय अधिशेष राजस्व (बढ़ोत्तरी) में 1/10 अथवा 1/11 से अधिक बढ़ोत्तरी नहीं करे। इस आदेश से स्पष्ट है कि बढ़ोत्तरी की राशि निश्चित थी और इसलिये उसमें वृद्धि की जा सकती थी। उस समय की परिस्थितियों में यही उचित व्यवस्था थी। यदि गवर्नरों से एक निश्चित धन–राशि की मांग नहीं की जाती तो वे सम्भवतः समस्त वसूल धन को खर्च कर देते और ऐसे में अधिशेष (बढ़ा हुआ राजस्व) या तो नाम–मात्र का अथवा बिल्कुल ही नहीं होता।

अलाउद्दीन के समय भी यही व्यवस्था प्रचलित थी। मुहम्मद तुगलक के शासन के आरम्भिक वर्षों में प्रान्तों की आय तथा व्यय का विस्तृत लेखा जोखा लिया जाता था परन्तु बाद में प्रान्तों के राजस्व को निश्चित कर दिया गया था। फीरोज तुगलक के समय में भी यही व्यवस्था बनी रही।

कृषकों तथा प्रान्त के बीच सम्बन्धों के बारे में हमें गयासुद्दीन तुगलक के आदेश से कुछ जानकारी मिलती है। सुल्तान ने आदेश दिया था कि गवर्नर राजस्व अधिकारियों तथा मुखियाओं को सचेत कर दे कि वे सुल्तान द्वारा निर्धारित राजस्व से अधिक वसूल न करें। इसका अर्थ था कि कृषकों से लिया जाने वाले राजस्व एक निश्चित धन–राशि थी और इससे अधिक वसूल न करने पर बल दिया जाता था। अलाउद्दीन के राज्यकाल को छोड़कर जबकि ऐसे समस्त प्रान्तों के कृषकों को जहां उसके अधिनियम प्रचलित थे केन्द्रीय राजस्व अधिकारियों के अन्तर्गत कर लिया गया था, सम्भवतः शेष सल्तनत युग में कृषकों से निश्चित राजस्व ही वसूल किया जाता रहा था।

प्रान्तीय सेना–गवर्नर तथा इक्ता के स्वामी अपने पास एक सैनिक टुकड़ी रखते थे। केन्द्र के द्वारा इसकी मांग किये जाने पर उनसे ये आशा की जाती थी कि वे इसे प्रस्तुत करेंगे। इसकी पूर्ति न किये जाने पर यह विद्रोह समझा जाता था और सुल्तान इसके विरुद्ध उचित कार्यवाही के लिये बाध्य हो जाता था। यद्यपि यह ठीक है कि प्रत्येक गवर्नर अथवा मुक्ति के लिए सैनिक सेवा करना अनिवार्य था परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसी सेवा के लिये केन्द्र के निकट के प्रदेशों से ही सैनिक टुकड़ियां आमन्त्रित की जाती थीं।

इसके अतिरिक्त प्रान्त में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के लिये तथा विद्रोही हिन्दुओं पर अंकुश रखने के लिये सैनिक टुकड़ी की आवश्यकता थी। प्रान्तों के क्षेत्रफल व केन्द्र से उनकी दूरी के अनुपात में ही सैनिकों की संख्या निश्चित करना स्वाभाविक था। परन्तु एकमात्र इसी कसौटी के आधार पर प्रान्तीय सैनिक व्यवस्था करना आवश्यक नहीं था क्योंकि सीमा के प्रान्तों की रक्षा के लिये बड़ी सैनिक टुकड़ियां रखना आवश्यक था। सुल्तानों ने ये आदेश दे रखे थे कि न तो सैनिक के वेतन में से किसी प्रकार की कटौती की जाये और न ही उनको कम वेतन ही दिया जाये।

बरीद–एक वृहद राज्य को सुव्यवस्थित रूप में चलाने के लिये तथा सुल्तान को इक्ताओं और स्थानीय अधिकारियों की गतिविधियों से अवगत रखने के लिये बरीदों का होना आवश्यक था। ये बारीद अथवा खबर–नबीसों को मोटे रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–एक वे जो वर्तमान पत्रिकाओं के रिपोर्टर के अनुरूप थे जो राज्य को नियमित पत्र प्रेषित करते रहते थे तथा दूसरे वे जिनको विशेष रूप से किसी मिशन के लिये नियुक्त किया जाता था।

सूचनाओं के संचारण हेतु उचित व्यवस्था विद्यमान थी जिसकी कि विदेशी यात्रियों ने भूरी–भूरी प्रशंसा की है। **इब्नबतूता** ने लिखा है कि सिन्ध से दिल्ली तक सरकारी कागज पहुंचने में केवल पांच दिन का समय लगता था जिसको पार करने में साधारण यात्री लगभग पन्द्रह दिन लिया करते थे। संरचना की व्यवस्था दो प्रकार की थी–

1. प्रसारण (रिले) केन्द्र प्रत्येक चार कुरूह पर स्थापित थे।

2. प्रत्येक कुरूह की एक चौथाई दूरी पर चौकियां स्थित थीं। प्रत्येक चौकी पर आदमी तैनात रहते थे। [illegible] चौकी पर उसे शीघ्रताशीघ्र पहुचा देते थे। प्रत्येक डाक ले जाने वाले के पहुंचने की घोषणा उसके [illegible] घण्टियों से मिल जाती थी। इस प्रकार के दस व्यक्तियों के समूह को जो प्रत्येक चौकी पर तैनात [illegible] घुड़सवारों के माध्यम से भी डाक पहुंचने की व्यवस्था थी, जिसे 'उलाघ' कहते थे। दोनों में से चावाह अधिक [illegible] डाक पहुंचाते थे और सुल्तान इसी माध्यम को वरीयता देते थे।

सुल्तान के **बरीद** जो समस्त राज्य मे फैले हुए थे उसे प्रत्येक प्रकार की सूचना से अवगत कराते रहते थे। विदेशियों के आगमन से लेकर बाजार में प्रचलित गप्प की सूचना वे सुल्तान तक पहुंचाते थे। राज्य के सैनिक अभियानों के संचारण के लिए विशेष व्यवस्था की जाती थी। मुहम्मद तुगलक ने इसके अतिरिक्त संकेतों के संचरण की व्यवस्था कर रखी थी जिसके अन्तर्गत बड़े-बड़े ढोल बजाकर दूरस्थ प्रदेश सुल्तान को संकट की सूचना दूरस्थ प्रदेशों में शीघ्रताशीघ्र पहुंच सके। इसके साथ ही एजेंटों के गुप्तचरों की व्यवस्था कर रखी थी जो केन्द्रीय सरकार को प्रत्येक प्रकार की सूचना पहुंचाते थे। हम यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि इस संचारण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिगत पत्रों को ले जाने की व्यवस्था थी अथवा नहीं। इस सम्पूर्ण व्यवस्था से एक परिणाम स्पष्ट है कि समस्त अधिकारी, मुक्ति से लेकर कारनून तक इन बरीदों की उपस्थिति से आतकित रहते थे तथा उनके अधिकारों पर ये एक सक्रिय अंकुश था। सुल्तान मुक्तियों की नियुक्ति करते समय साधारणतया बरीदों की भी नियुक्ति करते थे। बलबन ने बुगरा खां को समाना के इक्ता में नियुक्त करते समय बरीदों की नियुक्ति भी की थी जिससे कि वे वहा की स्थिति के बारे में उसे जानकारी भेज सकें।

प्रान्तीय न्यायतन्त्र—प्रान्तीय न्यायतन्त्र में प्रान्त व परगना के मुख्यालय में स्थित न्यायालय व ग्राम पंचायत प्रमुख थे। ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई थी और इसकी व्यवस्था स्वयं ग्रामवासियों के हाथों में ही थी। कई गांव एक **पंचायत** के आधीन रख दिए जाते थे। **पंचायत** में गांव के पांच प्रयुक्त व्यक्ति हुआ करते थे। पंचायत के मुखिया, सरपंच की नियुक्ति **वली, मुक्ति** अथवा **फौजदार** के द्वारा की जाती थी। पंचायत अपने क्षेत्र के **दीवानी** व **फौजदारी** मुकदमों की सुनवाई करने के अतिरिक्त शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी थी। पंचायत के निर्णय के विरुद्ध **काजी-ए-सूबा** अथवा गवर्नर के न्यायालय में अपील की जा सकती थी।

पंचायत के ऊपर **काजी-ए-परगना** तथा **कोतवाल** के आधीन परगना का न्यायालय होता था। परगने का **फौजदार** भी साधारण मुकदमों की सुनवाई करता था। परगना के ऊपर प्रान्तीय मुख्यालय में **गर्वनर, काजी-ए-सूबा, दीवान-ए-सूबा व सदर-ए-सूबे** के न्यायालय होते थे। इनमें गवर्नर का न्यायालय वरिष्ठ था जो अपील तथा प्रारम्भिक मुकदमों की सुनवाई करने की अधिकारी था। **काजी-ए-सूबा** प्रान्त के न्यायालय के लिये पूर्णतया उत्तरदायी था तथा **दीवान-ए-सूबा** राज्य के राजस्व सम्बन्धी मुकदमा की सुनवाई करता था।

भारत पर मुस्लिम सत्ता के नियन्त्रण के सुदृढ़ होने के साथ ही सल्तनत कालीन सुल्तानों ने प्रशासन को कार्यशील व सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से नवीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे। इस सम्बन्ध में इक्ता जैसी प्रशासनिक इकाइयों के अतिरिक्त चौदहवीं शताब्दी सल्तनत के विस्तार के कारण प्रान्तों को जिलों में बांट दिया गया था। इन्हें **शिक** कहा जाता था। शिक का अध्यक्ष **शिकदार** कहलाता था। शिक का शाब्दिक अर्थ इकाई से है। (**बरनी** द्वारा दिए गए अवतरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिक एक प्रशासनिक इकाई थी जिसकी सीमाएं इक्ता की तरह निश्चित होती थी। शिकदार के अधीन अनेक शासकीय कर्मचारी होते थे। जिलों को परगने में बांटा गया था। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गांव थी और गांव में शासन कार्य चलाने के लिए **मुकदम, खूत** और **चौधरी** होते थे। परगने कई गांवों से मिलकर बनते थे। **इब्नबतूता** 'सादी' अथवा सौ गांवों के समूह को शासन की इकाई के रूप में उल्लेख करता है।

सल्तनत के शासनकाल की एक विशेषता यह थी कि उन्होंने जनता के व्यक्तिगत रीति–रिवाजों अथवा स्थानीय शासन प्रणाली में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। गांव की स्थानीय स्वतंत्र सत्ता सुरक्षित रही। राज्य के कर्मचारी लोगों के आन्तरिक जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करते थे। गांव पंचायत अपना शासन करने में पूर्ण रूप से स्वतंत्र थी। वह भूमि वितरण सम्बन्धी कार्य स्वयं किया करती थी और स्थानीय झगड़ों पर भी निर्णय देती थी। इसके साथ ही पंचायत के लोगों से कर वसूल करके उसे राजकीय खजानों में जमा कराती थी।

सल्तनत कालीन शासन प्रबन्ध तथा शासकों के प्रशासकीय दृष्टिकोण में निरन्तर प्रगति होती रही। तुर्कों के सल्तनत स्थापित करने व हिन्दुस्तान में रहना प्रारम्भ करने पर उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया। यद्यपि उनसे जजिया भी वसूल किया जाता था तथापि हिन्दुस्तान के मुसलमान प्रशासक समझने लग गए थे कि प्रशासन के कार्यों में हिन्दुओं को भी स्थान देना होगा और उनकी योग्यता से लाभ उठाने में वस्तुतः उनका अपना ही लाभ होगा।

यूनिट-III

अध्याय-9

दिल्ली सल्तनत का विघटन (Disintegration of the Sultanate)

तुर्क क्यों मध्य एशिया से आए थे इसलिए प्रारम्भिक काल में वे भारत की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था से पूर्णतया परिचित नहीं थे। इसलिए दिल्ली सुल्तानों (1206-1526 ई.) को अनेक राजनीतिक व प्रशासनिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। उन्होंने कई प्रशासनिक व्यवस्थाएं प्रारम्भ कीं जो कुछ परिवर्तनों के साथ काफी समय तक प्रचलन में रहीं। उस काल के इतिहास से पता चलता है कि शासकों को बहुत सी आन्तरिक व बाह्य समस्याओं का सामना करना पड़ा। ये समस्याएं समय के साथ–साथ इतनी गहन हो गईं कि उन्होंने राजनीतिक संकट को जन्म दिया जो अन्त में राजवंशों को पतन की ओर ले गईं।

उत्तराधिकार के नियम का अभाव

सुल्तानों के समक्ष एक प्रमुख समस्या उत्तराधिकार के संबंध में थी। सल्तनत में किसी स्पष्ट और परिभाषित उत्तराधिकार के नियम का विकास नहीं हुआ। अमीर वर्ग किसी सफल सुल्तान की संतानों में से ही किसी को उसका उत्तराधिकारी मानने के लिए तैयार होने की स्थिति में होते भी थे तो ऐसा कोई नियम नहीं था जिसके आधार पर ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी प्राप्त हो। इसलिए उत्तराधिकार का युद्ध शुरू हो जाता था जिसमें महत्वकांक्षी अमीर अपने ही हित साधने का अवसर तलाशते थे। सैनिक शक्ति ही गद्दी का हकदार बनने का मुख्य तरीका था। मुस्लिम भारत में अमीर वर्ग राजनीति के मुख्य अंग थे। वे न तो किसी वंश परम्परा पर निर्भर थे, न ही किसी वंशीय परम्परा में विश्वास करते थे। **मिनहाज-उसे-सिराज** व **जियाउद्दीन बरनी** ने अपनी पुस्तकों में यह सिद्ध किया कि सारे महत्वपूर्ण ओहदों पर तुर्क अधिकारियों का एकाधिकार था। वे सब तथाकथित गुलामवंश के अधिकारी थे। परन्तु कोई भी गुलाम तब तक शासक नहीं बन सकता था जब तक कि वह अपनी दासता का मुक्ति–पत्र न प्राप्त कर ले। ममलूक काल में इन्हें **चहलगानी** या 'चालीस' की उपाधि दी गई थी जो संस्था एवं संख्या की नहीं, अपितु उनकी शक्ति का सूचक थी। उच्च अधिकारियों को **खान**, मलिक या अमीर कहते थे। वास्तव में जिस रूप में उत्तराधिकार सल्तनत में प्रचलित था, उस विषय में कहा जा सकता है, जिसकी जितनी लम्बी तलवार उसका उतना ही अधिक अधिकार। इस प्रकार उत्तराधिकार के नियम के अभाव के कारण आरंभ से ही सत्ता पर अधिकार करने के लिए षड़यन्त्र होने लगे। ऐबक की मृत्यु के बाद उसका पुत्र आराम शाह नहीं बल्कि ऐबक का दामाद और गुलाम इल्तुतमिश पदारूढ़ हुआ। इल्तुतमिश की मृत्यु (1236) के बाद भी लम्बे समय तक सत्ता का संघर्ष और संकट चलता रहा। अंततः 1266 ई. में इल्तुतमिश के गुलाम बलबन ने जो "चालीस के दल" का सदस्य भी था, गद्दी पर अधिकार कर लिया। बलबन ने राजत्व के विचार को एक नया रूप दिया और सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया। लेकिन बलबन की मृत्यु के बाद हुए सत्ता के संघर्ष ने एक बार फिर दिखा दिया कि उत्तराधिकार का फैसला "तलवार" ही कर सकी। बलबन द्वारा नामांकित कैखुसरो की जगह केकुबाद गद्दी पर बैठा दिया गया। बाद में खलजी अमीरों ने उसकी भी हत्या कर दी और खलजी वंश की नींव डाली। सन् 1296 में अलाउद्दीन खलजी ने अपने चाचा जलालुद्दीन खलजी की हत्या करके सत्ता पर अधिकार कर लिया। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद भी गृह युद्ध और सत्ता छीनने का संघर्ष शुरू हो गया। अमीरों के विद्रोहों के कारण मुहम्मद तुगलक का शासन कमजोर हुआ। फीरोज तुगलक की मृत्यु के बाद सत्ता की स्पर्धा ने तुगलक वंश का अंत करके सैय्यद वंश (1414-1451) की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

लोदी वंश (1451-1526) की स्थापना के साथ एक नया तत्व–अफगान सामने आया। प्रभुसत्ता या राजतंत्र के विषय में अफगानों के विचार बहुत भिन्न थे। वे अपने ऊपर सुल्तान की सत्ता मानने को तो तैयार थे, परन्तु पूरे राज्य को अपने प्रजातीय **दलों** या **कुल** (फरमूली, सरवानी, नियाज़ी आदि) में बांटना चाहते थे। सिकन्दर लोदी की मृत्यु के बाद (1517 ई.) साम्राज्य का बंटवारा इब्राहीम और जलाल के बीच हो गया। शाही विशेषाधिकार और सुविधाओं का भोग भी कुल के सदस्य समान रूप से बांटते थे।

उदाहरण के लिए, हाथी रखना सुल्तान का विशेषाधिकार था, परन्तु कहा जाता है कि आजम हुमायूं सरवानी के पास लगभग 500 हाथी थे।

इसके अतिरिक्त अफगान अपनी प्रजातीय सेना रखने के सिद्धांत में भी विश्वास करते थे। इसने आगे चलकर केन्द्रीय सरकार की सैनिक क्षमता को हानि पहुंचाई। सिकन्दर लोदी ने अफगान अमीरों पर नियंत्रण रखने की चेष्टा की, परन्तु अफगान विचारधारा का झुकाव विकेन्द्रीकरण की ओर था। इस विचार ने अंत में राज्य में दरार पैदा कर दी।

सुल्तान और अमीरों के बीच संघर्ष

सल्तनत काल का राजनीतिक इतिहास दर्शाता है कि सल्तनत का संगठन और ह्रास मुख्यतः कुलीनों (अमीरों) की रचनात्मक और विनाशकारी गतिविधियों का परिणाम था। अमीरों की लगातार यह चेष्टा थी कि वे अधिकतम राजनीतिक एवं आर्थिक लाभ प्राप्त कर लें।

इलबारी वंश (1206-90 ई.) के दौरान संघर्ष के तीन प्रमुख मुद्दे थे—उत्तराधिकार, अमीर वर्ग का संघटन और सुल्तान तथा अमीर के बीच आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियों का विभाजन। जब कुतुबुद्दीन ऐबक सुल्तान बना तो प्रभावशाली अमीरों ने उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं किया। इनमें प्रमुख थे कुबाचा (मुल्तान और उच्छ का गर्वनर) यल्दूज, (गजनी का गर्वनर) तथा अली मर्दान (बंगाल का गवर्नर)। इल्तुतमिश को भी यह समस्या उत्तराधिकार में मिली। उसने कूटनीतिज्ञता और शक्ति के प्रयोग से इसका समाधान किया। बाद में इल्तुतमिश ने अमीरों को **तुर्कान-ए-चिहिलगानी** ("चालीस का दल") नामक सामूहिक गूट में संगठित किया। यह गुट व्यक्तिगत रूप से उसके प्रति वफादार था। "चालीस के दल" के अमीरों की प्रतिष्ठा और विशेषाधिकारों का संरक्षण रखना अमीरों के अन्य दलों के लिए स्वाभाविक ही था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि "चालीस के दल" में आंतरिक मतभेद और कलह नहीं था। केवल एक बात पर इनके विचारों में पूरी एकता थी—इस विशिष्ट गुट में गैर–तुर्की अमीरों के प्रवेश को रोकना। "चालीस का दल" लगातार यह कोशिश करता रहता था कि सुल्तान पर उसका प्रभाव बना रहे। सुल्तान भी इस दल को नाराज करना नहीं चाहता था लेकिन सुल्तान अन्य दलों के अमीरों को उच्च पदों पर नियुक्त करने का अधिकार भी नहीं छोड़ना चाहता था। इस सबके बीच इल्तुतमिश ने एक अत्यन्त कौशलपूर्ण संतुलन बनाए रखा, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद यह संतुलन समाप्त हो गया। उदाहरण के लिए, इल्तुतमिश ने अपने जीवनकाल में ही अपनी पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद कुछ अमीरों ने रजिया को शासक स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसने "चालीस के दल" के दबाव का मुकाबला करने के लिए गैर–तुर्की (अबीसीनियाई और भारतीय) अमीरों को संगठित करना शुरू किया।

इस दल (चालीस का दल) के काफी अमीरों द्वारा रजिया का विरोध करने का यही एक मुख्य कारण था। इन लोगों ने रुक्नुद्दीन को समर्थन दिया, क्योंकि वह अयोग्य और कमजोर था। उन्हें पूरी आशा थी कि वह उनकी शक्ति का नष्ट करने का प्रयास नहीं करेगा। नसीरूद्दीन महमूद (1246-66 ई.) के शासन काल में भी यही संघर्ष चलता रहा। बलबन का हटाया जाना इस बड़ा शक्ति परीक्षण था। बलबन सुल्तान महमूद का नायब (उप) था और "चालीस के दल" का सदस्य था। सुल्तान ने उसे हटाकर उसके स्थान पर एक भारतीय मुसलमान इमादउद्दीन रेहान की नियुक्ति की। अमीरों के तीव्र विरोध के सामने सुल्तान को झुकना पड़ा। रेहान को हटाकर बलबन को पुनर्स्थापित किया गया।

बलबन के शासन काल (1266-87 ई.) में **तूर्कान-ए-चिहिलगानी** का प्रभाव कम हो गया। सुल्तान बनने से पहले बलबन स्वयं "चालीस के दल" का सदस्य था। इसलिए वह अमीरों की विद्रोही प्रवृत्ति से भली–भांति परिचित था। अतः बलबन ने उनमें से सर्वाधिक शक्तिशाली अमीरों को अपना निशाना बनाया और कई अमीरों की हत्या करा दी। उसने अपने रिश्ते के भाई को भी नहीं छोड़ा और उसे मरवा दिया। साथ ही उसने अपने प्रति वफादार अमीरों के एक गुट का गठन भी किया, जिन्हें 'बलबानी' कहा गया। "चालीस के दल" के अनेकों अनुभवी अमीरों के हटाए जाने से राज्य उनकी सेवाओं से वंचित रह गया। 'बलबनी' गुट के अनुभवहीन अमीर इस कमी को पूरा नहीं कर पाए। इसे परिणामस्वरूप इलबरी वंश के शासन का अंत और खलजी वंश की स्थापना हुई।

अलाउद्दीन खलजी के शासन काल (1296-1316 ई.) में अमीरों के समूह की संरचना का विस्तार हुआ। अब अमीरों का कोई एक दल राज्य पर अपने एकाधिकार का दावा नहीं कर सकता था। अब नियुक्ति का मुख्य आधार स्वामीभक्ति और योग्यता थी न कि विशेष प्रजाति या मत नहीं। साथ ही, वह अमीरों पर विभिन्न प्रकार से नियंत्रण भी रखता था। इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन ने भू–राजस्व की दर को 50 प्रतिशत तक बढ़ाने से भी अमीरों को संतुष्टि हुई होगी क्योंकि इक्तों की आय बढ़ने से उनके वेतन में

बढ़ गए होंगे। सीमाओं के विस्तार के कारण संसाधनों में भी इतनी वृद्धि हो गई कि योग्यता के आधार पर नए व्यक्तियों को स्थान मिल सके। मलिक काफूर नामक अबीसीनियाई गुलाम का उदाहरण सुप्रसिद्ध है (वह गैर–तुर्की होते हुए भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण अमीर बन गया)। परन्तु यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक न चल सकी। अलाउद्दीन खलजी की मृत्यु के बाद अमीरों के बीच षड़यंत्र और संघर्ष खुलकर होने लगे तथा खलजी वंश के शासन का अंत हो गया।

जहां तक तुगलक वंश का प्रश्न है तो मुहम्मद तुगलक ने घुमा–फिराकर बार–बार अमीरों को संघटित करने का प्रयास किया लेकिन उन पर नियंत्रण रखने के उसके सभी प्रयत्न विफल हुए। खुरासानी अमीरों, जिन्हें वह "**अइज्जा**" (प्रिय) कहता था, ने भी उसे धोखा दिया। अमीरों द्वारा उत्पन्न की गई समस्याओं का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उसके विरुद्ध लगभग 22 विद्रोह हुए और उसे अपना एक बड़ा क्षेत्र खोना पड़ा (दक्कन का यह क्षेत्र बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ)।

मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद समस्या नियंत्रण से बाहर हो गई। इन परिस्थितियों में फीरोज तुगलक से अमीरों के प्रति सख्ती बरतने की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। उसके काल में अमीरों को बहुत–सी सुविधाएं दी गईं। अमीर अपने इक्तों को वंशानुगत बनाने में सफल हुए। सुल्तान की तुष्टिकरण की नीति अमीरों को प्रसन्न रख सकी, परन्तु आगे चलकर यह विनाशकारी सिद्ध हुई। सेना अत्यन्त अयोग्य एवं अदाम हो गई। अतः फिरोज तुगलक के बाद उसके उत्तराधिकारी और बाद के शासकों के लिए दिल्ली सल्तनत के पतन के प्रवाह को रोकना असंभव था।

सैय्यद (1414-1451 ई.) और लोदी वंश (1451-1526 ई.) के काल में स्थिति कुछ उत्साहवर्धक नहीं दिखाई देती। सैय्यद तो संकट से निबटने की न तो इच्छा ही रखते थे और न ही इसके योग्य थे। सिकन्दर लोदी ने आते हुए विनाश को रोकने का अंतिम प्रयास किया लेकिन अफगानों के आंतरिक मतभेद और उनकी असीमित व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं ने पतन की प्रक्रिया को और तीव्र कर दिया। अंततः दिल्ली सल्तनत पर अंतिम प्रहार बाबर के हाथों हुआ।

सैन्य व्यवस्था

सेना में भर्ती को लेकर भी समस्या पैदा हुई। दिल्ली के सुल्तानों का पश्चिम और मध्य एशिया से संबंध टूट जाने के बाद वे उस क्षेत्र से तुर्की एवं अन्य सैनिकों को अपनी सेना में भर्ती करने की आशा नहीं कर सकते थे। अतः उन्हें (क) अफगानों पर जिनमें से अनेक भारत में बस चुके थे; (ख) मुख्यतः भारत पर कब्जा करने के समय आए तुर्की सैनिकों के वंशजों पर; (ग) मंगोलों और मुस्लिम धर्मांतरितों पर; (घ) एवं तथाकथित योद्धा समुदाय (राजपूत, जाटों आदि) के हिन्दुओं पर भरोसा करना पड़ा। इनमें से प्रत्येक वर्ग की अपनी–अपनी समस्याएं थीं। फिरोज ने तुर्कों और मंगोलों के वंशजों के आनुवांशिक स्वरूप प्रदान कर उन्हें वरीयता देने की कोशिश की। उसने अपने दासों के दल में धर्मांतरित मुसलमानों को भी भर्ती किया। उसका कोई भी प्रयास सफल नहीं हो पाया। आनुवांशिक सैनिक अकुशल और दासों का समूह स्थायी एवं निष्ठाहीन साबित हुआ। ये सब समूह एक दूसरे से बैर–भाव रखते थे।

भूमि-कर अधिन्यास

अफीफ दावा करता है कि फीरोजशाह जीवनयापन (नान) के लिए भूमि–कर के अधिन्यास में उदार था और यह कि उसने दस हजार, पांच हजार और दो हजार 'टंकों' के अधिन्यास निश्चित किए। संपूर्ण सेना को वेतन भूमि–कर अधिन्यास ('**वजेह**') द्वारा दिया जाता था। फीरोजशाह की यह विलक्षण कार्यप्रणाली थी। दिल्ली के पूर्व सुल्तानों ने इसकी अनुमति नहीं दी थी। वह कहता है कि, 'सुल्तान अलाउद्दीन ने घोषणा की थी कि वेतन के लिए कोई गांव निर्धारित नहीं करना चाहिए। एक गांव में दो सौ या तीन सौ व्यक्ति रहते होंगे और वह किसी प्रतिनिधि ('वजेहदार') के अंतर्गत रहते होंगे। यदि कुछ प्रतिनिधि मिल जाएं तो वे कठिनाई उत्पन्न कर सकते हैं। इस कारण अलाउद्दीन ने किसी को कभी एक गांव भी अधिन्यास में नहीं दिया बल्कि अपनी संपूर्ण सेना को नकद भुगतान किया। **अफीफ** यह कहता जाता है कि फीरोज ने 'राज्य के सभी गांव, जिले और नगर सेना के लिए' निर्धारित कर दिए थे और तत्पश्चात् राज्य का उत्तम आर्थिक जीवन फीरोजशाह के एक संत होने की विशेषता के कारण संभव बताता है। यह सब अतिशयोक्ति मात्र है। 'यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि फीरोजशाह के शासनकाल की परंपरा बल्कि कानून, यह था कि जब किसी उत्तराधिकारी को भूमि–कर प्रलेख द्वारा निश्चित किया जाता था तो राजस्व वसूल करने वाले सरकारी अधिकारी उसे निर्धारित रकम का आधा ही देता था। राजस्व वसूल करना शासन का ही कार्य रहा। इसके अतिरिक्त यह निर्धारण अवश्य टंकों तथा ज़ीतलों में किए जाते रहे होंगे। इसलिए कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ–साथ राजस्व का आधा भाग भी बढ़ता रहेगा।' अधिकांश सैनिकों को नकद भुगतान किया जाता था जैसा कि अफीफ स्वयं अन्यत्र स्वीकार करता है।

जिन सैनिकों और सैनिक अधिकारियों को अधिन्यास मिलते थे वे या तो अपने अधिन्यास आज्ञापत्र सहित गाव न जा सके थे वहां नियुक्त कार्याधिकारी उन्हें अधिन्यास आज्ञापत्र में उल्लिखित राशि का आधा (नकद का आधा) धन देता था' या विकल्प वे अधिन्यास आज्ञापत्र नगर में दलालों को बेच सकते थे उनसे इस धन का 'तिहाई' प्राप्त कर सकते थे अनेक अधिन्यास आज्ञापत्र अर्थात् 'इत्लाक' खरीद कर धनवान बन गए। सैनिक अधिकारियों को गावा का प्रशासनिक अधिकार न दिया जाता था। तथापि आइने माहरू हमें एक घटना के विषय में बताता है जिसमें अधिन्यासियों ने जियाउद्दीन नामक की ओर से, जो लखनोती में सैनिक सेवा के कारण अनुपस्थित था, एक गांव पर अवैधानिक रूप से अधिकार कर लिया था। माहरू उनके विरुद्ध गंभीर दोषारोपण करता है। उन्होंने बिना किसी शासकीय अधिकार के हिंदुओं पर 'जजिया' तक लगाया।

असैनिक अधिन्यासों के संबंध में सरकारी अधिकारियों का गांव तथा उनके अधिकार क्षेत्र में राजस्व के निर्धारण का अन्य व्यक्ति जैसे सूफी, 'उलमा', पेंशन पाने वाले इत्यादि के अधिन्यासों से स्पष्टतः भिन्न समझना चाहिए।

'फीरोजशाह की प्रणाली में अपने अधिकारियों को उनकी अधिन्यस्त भूमि में किसानों से अधिक कर वसूल कर समृद्ध बनने से राज्य को देय धन हड़पने से रोकने के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी।' **अफीफ** ने इस प्रकार भ्रष्टाचार द्वारा भारी धन एकत्रित करने के कुछ उदाहरण बड़े खेद से लिखे हैं।

अन्य अधिन्यासियों के विषय में स्थिति भिन्न थी। **आइने माहरू** हमें बताता है कि मुल्तान के राजस्व से तीन लाख तक वार्षिक अनेक व्यक्तियों के लिए निर्धारित थे। उसने अधिन्यासियों को बताया कि वह उनके नाम बसे हुए गांव उनमें स्थित कृषियुक्त तथा कृषिहीन भूमि सहित निश्चित कर सकता है। कृषियुक्त भूमि से निर्धारित उनकी जीविका के लिए पर्याप्त होगा। कृषिहीन भूमि उनका दावा बनाए रखने में सहायक होगी। 'यह संभव है किंतु यदि वे प्रत्येक वस्तु नकद मांगते हैं तो यह नितात असंभव है।

वंशानुगत अधिन्यास

अफीफ लिखता है कि, 'समस्त राज्य की आय अधिन्यास ('वजेह') में सेना को देने के पश्चात् फीरोजशाह ने एक अन्य नियम बनाया। यदि कोई सैनिक मर जाता था तो उसका पद उसके पुत्र को स्थाई रूप से दिया जाता था। यदि उसके कोई पुत्र न तो उसके जामाता को यह पद दिया जाता था। यदि वह भी न हो तो स्थाई रूप से उसके दास को और यदि उसके कोई दास भी न हो तो उसकी महिलाओं को यह मिलता था।' यह नियम फीरोजशाह के चालीस वर्षीय शासनकाल में बना रहा। कई वर्ष पश्चात् फीरोज ने एक और 'फरमान' जारी किया जिसके अनुसार कोई सैनिक जो 'घुड़सवारी के लिए बहुत वृद्ध हो' सेवा से रोका जाता था किंतु उसे अपने स्थान पर सेवा के लिए अपना पुत्र 'प्रतिनिधि' के रूप में भेजना न था। यदि पुत्र न हो तो जामाता और यदि वह भी न हो तो उसका दास होता।

इसके अतिरिक्त जबकि **अफीफ** केवल सेना में पद वंशानुगत बनाने का उल्लेख करता है फीरोज अपनी '**फुतूहात**' में दावा करता है कि उसने यह सिद्धांत अपने सभी अधिकारियों पर लागू किया। 'जब कोई व्यक्ति पदासीन रहते हुए मरा तो मैंने उसका पद प्रतिष्ठा उसके पुत्र को हस्तांतरित कर दिया और पद का स्तर, विशेषाधिकार तथा प्रतिष्ठा किसी प्रकार घटाई नहीं गई

अंतिम, यदि किसी सरकारी कर्मचारी के मरने के पश्चात् एक से अधिक पुत्र होते थे तो उसकी व्यक्तिगत संपत्ति उसकी मृत्यु पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों में बांट दी जाती थी किंतु इसका निर्णय, कम से कम उच्च पदों के विषय में, राज्य करता था कि उसका कौन पुत्र पद पर नियुक्त किया जाए। इन तथा अन्य 'सुधारों' के पश्चात् जिनका उल्लेख किया जाएगा, राज्य के समस्त कर्मचारियों के पास फीरोज की दीर्घ आयु तथा उत्तम स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करने का अच्छा कारण था। उसने उन्हें बड़ी आय दी थी किंतु उसकी मृत्यु के पश्चात् उनकी समाप्ति निश्चित थी।

सेना का पतन

कुतुबुद्दीन ऐबक के समय से ही दिल्ली के सुल्तानों के प्रयास ने दिल्ली की सेना को अत्यन्त शक्तिशाली बना दिया था। अलाउद्दीन खलजी ने सभी असंगत विचार त्याग कर केवल सैनिक योग्यता और अनुशासन के जरिए इसके आधार को विस्तृत बनाया। उसके तथा उसके पुत्रों की अधीनता में सेना अजेय बन गई थी। दिल्ली के सुल्तानों के पास उत्तर–पश्चिम सीमा पर कुछ दुर्ग थे 'किंतु रायों के विपरीत सुल्तान अपने दुर्गों की शक्ति पर निर्भर नहीं रहे बल्कि अरक्षित क्षेत्र का नियत्रण करने के लिए विरोध समाप्त विरोध समाप्त करने के लिए अपनी सेना की प्रहार शक्ति पर आक्रामक अस्त्र के रूप में सन्निर्भर करते थे। शासकों के विपरीत दिल्ली के सुल्तानों ने तुगलकाबाद के दुर्ग के अतिरिक्त जो पूरा नहीं हुआ था, कोई विशेष

दिल्ली सेना की शक्ति 'अर्ज' अर्थात अश्वारोहियों के वार्षिक निरीक्षण का नियम का कठोरता से पालन करने के कारण थी। शासन के पास अपने अश्वारोही प्रशिक्षित करने का कोई संगठन नहीं था। यह उन्हें सेवा में केवल उसी समय रखता था जब उन्हें उचित प्रशिक्षण दिया गया हो। जो लोग सेना में जिसमें अश्वारोही उसका मुख्य अंग थे, भर्ती होना चाहते थे उनको अपने लिए एक, और यदि संभव हो तो दो घोड़ों की और साथ ही अन्य अस्त्र–शस्त्रों की व्यवस्था करनी पड़ती थी जिसमें उन्हें प्रशिक्षण प्राप्त हो। प्रशिक्षित तथा सुसज्जित होने के पश्चात् वे अर्ज के लिए उपस्थित हो सकते थे जहां उनके घोड़े सज्जा तथा हथियारों के उपयोग की क्षमता का युद्ध मंत्री या उसके द्वारा नियुक्त अधिकारी द्वारा सावधान परीक्षण किया जाता था। यदि शासन को उसकी सेवाओं की आवश्यकता होती और वे अपेक्षित स्तर के होते तो उन्हें उनके घोड़े और अस्त्र–शस्त्रों का मूल्य एक वर्ष के वेतन सहित दे दिया जाता था। यह दर्शाने के लिए कि यह सरकार की संपत्ति हैं घोड़ा चिन्हित ('दाग') कर दिया जाता था और घुड़सवार का विवरण (हुलिया, चेहरा) उसे पहचानने के लिए अभिलेखों में रख लिया जाता था। यदि सैनिक अपना घोड़ा सरकारी सेवा में खो देता तो उसकी पूर्ति सरकार द्वारा कर दी जाती थी अन्यथा नहीं। यह 'अर्ज' एक कठोर वार्षिक विषय बन गया था जिस पर सेना की कुशलता और वास्तव में देश में प्रभावशाली सरकार निर्भर थी।

अलाउद्दीन इस विषय में अत्यंत कठोर रहा था और उन अश्वारोहियों को, जो अपना घोड़ा और वेतन लेकर 'अर्ज' के लिए उपस्थित नहीं होते थे, उचित दंड देता था। वह सैनिकों को नकद वेतन देता था। इस प्रकार नियंत्रण और पदच्युति की शक्ति अपने सुरक्षा मंत्री के हाथों में केन्द्रित कर दी थी जिससे सामान्यतः प्रत्यक्ष प्रभारी अधिकारी की सिफारिश मानने की आशा की जाती थी। अलउद्दीन की सेना का स्तर मुबारकशाह और तुगलकशाह ने बनाए रखा। सुल्तान मुहम्मद ने दक्षिण खो दिया किंतु वह एक पेशेवर सैनिक था और वह सैनिक अनुशासन में कोई ढील सहन नही करता था।

फीरोज के राज्यारोहण के साथ सब कुछ बदल गया। अंतर का अनुभव करने के लिए हमें केवल फीराजशाह के अभियानों की तुलना मलिक काफूर के अभियानों से करनी है। यदि अलाउद्दीन के किसी अधिकारी ने फीरोजशाह के समान अयोग्यता से अभियानों का संचालन किया होता तो उसे पदच्युत कर कठोर दंड दिया गया होता। फीरोजशाह के नियमों ने जिनका वर्णन किया जा चुका है, सेना को अधःपतन की ओर अग्रसित किया। जब फीरोजशाह ने घुड़सवारों तथा उनके अधिकारियों के पद वंशानुगत कर दिये तो उसने सैनिकों की योग्यता जांचने का शासन का मौलिक अधिकार त्याग दिया। परिणाम तुरंत अनुभव नहीं किए गए किंतु सैनिक और उसके वंशजों की आर्थिक सुरक्षा का कोई विचार जिन्हें **अफीफ** प्रस्तुत करता है, ऐसी स्पष्ट मूर्खतापूर्ण और जड़बुद्धि कार्रवाई को उचित सिद्ध नहीं कर सकते। **अफीफ** द्वारा सुरक्षा मंत्री इमादुलमुल्क बशीर पर आरोपित एक कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि अस्सी प्रतिशत घुड़सवारों का भुगतान भूमि–कर निर्धारण द्वारा किया जाता था। सरकारी अभिलेखों में राज्य का संपूर्ण भूमि कर सेना के नाम निर्धारित था। **अफीफ** के इस आशय के बार–बार वर्णन 'कल्पित सत्य' हैं। किंतु जब अधिकारी या घुड़सवार (अधिन्यास आदेश) भूमि–कर वसूल करने वाले स्थानीय अधिकारी के पास ले जाते थे तो उसे निर्धारित राशि का पचास प्रतिशत ही मिलता था। हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि शेष आधा भाग शासन के अन्य व्यय के लिए रख लिया जाता था। यदि सैनिक व्यक्ति दिल्ली या अन्य स्थान पर काम पर होते थे तो वह अपना अधिन्यास आदेश तुरंत भुगतान के लिए उनके कल्पित मूलय के तीस प्रतिशत पर दलालों को बेच सकते थे। जो सामान्यतः अपने प्रतिनिधियों द्वारा पचास प्रतिशत प्राप्त कर लेते थे जिसके सैनिक व्यक्ति अधिकारी होते थे। इसलिए यह माना जा सकता है कि घुड़सवारों का निर्वाह–वेतन उनके 'इत्लाकनामा' में निर्धारित काल्पनिक धनराशि का एक तिहाई था। व्यवस्था किसी प्रकार के सामंतवाद की ओर नहीं ले गई। इसके दुष्परिणाम इस सत्य में निहित थे कि सैनिक व्यक्तियों के वंशज सैनिक नहीं रहे और पेंशनभोगी अर्थात निश्चित गांवों से भूमि कर प्राप्त करने के अधिकारी बन गए।

इस युग की महान विशेषता यह थी कि फीरोज की मृत्यु के पश्चात् यह भूमि–कर दिल्ली द्वारा विद्रोही राज्यपालों, मुकद्दमों और हिंदू सरदारों के कारण वसूल नहीं किया जा सका क्योंकि सेना, जिसके भय ने उन्हें राजस्व और कर देने में आज्ञाकारी बना रखा था, पूर्णतः नष्ट हो गई थी। पेंशनभोगियों के हाथों में इत्लाक रद्दी कागज के टुकड़ें बन गए जो सभी सैनिक विशेषताएं खो चुके थे और कंगाल केन्द्रीय सरकार जिनका कोई भुगतान नहीं कर सकी।

थट्टा से लौटने के पश्चात् सेना का प्रकट रूप सविघटन आरंभ हुआ और बीस वर्षों की शांति ने यह विघटन प्रायः अदृश्य व्यतीत होने योग्य बनाया। केंद्रीय शाही सेवा में लगभग अस्सी हजार घुड़सवार रहे होंगे किंतु अधिकारी जानते थे कि सल्तनत के बाहर कोई सेवा उनसे नहीं ली जाएगी। इसलिए बेकार घोड़े निरीक्षण के लिए लाए जाते थे और घूस देकर उन्हें उपयुक्त स्वीकृत कराया जाता था। हथियारों के विषय में वही ढीले मानदण्ड अवश्य अपनाए गए होंगे। एक और कठिनाई यह थी कि संपूर्ण वर्ष

व्यतीत हो जाता था और सैनिकों के पास 'अर्ज' में प्रस्तुत करने के लिए घोड़े नहीं होते थे। फीरोज ने उन्हें लगभग इक्यावन दिन की मियाद देने का आदेश दिया क्योंकि अधिकारी शुक्रवार को काम नहीं करते थे। जब यह अवधि पर्याप्त नहीं हुई तो फीरोज ने दो महीनों की अतिरिक्त मियाद दी। जब यह समय भी व्यतीत हो गया तो उप सुरक्षा मंत्री मलिक राजी ने स्थाई बहाना खोज लिया। उसने निवेदन किया कि घुड़सवारों ने अपने 'इत्लाक' गांवों में भेज दिए हैं और वे उसे समय तक अपने घोड़े 'अर्ज' में नहीं ला सकेंगे जब तक वे अपना बकाया वेतन नहीं पा जाते। किंतु निस्संदेह वे अपने घोड़े अगले वर्ष 'अर्ज' के लिए लाएंगे। तत्पश्चात अर्ज केवल उसके कारण संभव हो गए भ्रष्टाचार के लिए चलता रहा।

वास्तव में सेना का संपूर्ण संगठन भ्रष्टाचार से भरा था। फीरोजशाह को वास्तविक स्थिति की सूचना दी गई किन्तु उसने आंख बंद रखना अधिक पसंद किया। अफीफ एक घुड़सवार का मामला बताता है जिसे सुल्तान ने एक सोने का टंका दिया ताकि वह संबंधित लिपिक को घूस देकर अपना घोड़ा 'अर्ज' में स्वीकृत करवा ले। अवर वर्गीय सरकारी अधिकारियों में यह सामान्य प्रथा होती है कि घूस में लिए गए धन का कुछ भाग थे वरिष्ठ अधिकारियों को देकर दंड के विरुद्ध सुरक्षित हो जाते हैं। बेईमान वरिष्ठ अधिकारियों की यह रीति है कि वे उस स्थिति के अतिरिक्त जहां भारी धनराशि हो सीधे घूस नहीं मांगते। किन्तु से कार्य दूसरे अधीनस्थ कर्मचारियों के लिए छोड़ देते थे और एक निश्चित राशि या प्रतिशत उपहार के रूप में मांगते है। **अफीफ** बताता है कि फिरोजशाह की सरकार की अनुमानित आय छः करोड़ पचहत्तर लाख टंके थी जबकि सुरक्षा मंत्री **इमादुलमुल्क बशीर** ने अपनी जीवनचर्या फिरोजशाह को उत्तराधिकार में प्राप्त दास के रूप में आरम्भ की थी, द्वारा संचित संपत्ति का मूल्य तहर करोड़ अर्थात् सम्पूर्ण राज्य की दो साल की सम्पूर्ण आय से कुछ कम थी। **रापरी** की इक्ता उसे दी गई थी किन्तु उसके सम्मानार्थ दीवान के कार्यालय ने रापरी में उसके प्रतिनिधि से लगान की मांग नहीं की। नियुक्तियों तथा पदच्युति, भूमि अनुदान निधारण में **बशीर** की सभी संस्तुतियां फिरोज द्वारा स्वीकृत होती थी। फिरोज के अन्य अधिकारियों की तरह **बशीर** ने भी आवेदकों से उपहार तथा घूस ली होगी। इस तरह उसने तेरह लाख टंके इकट्ठे किए होंगे, जो केवल सैनिक बजट को आश्चर्यजनक सीमा तक कटौती पर ही संभव हो सका होगा और इस प्रकार दिल्ली साम्राज्य की विशाल तथा ऐतिहासिक सेना जैसा कि **हबीब** कहते हैं, धीरे धीरे नस्ट हो गई।

इस प्रकार सल्तनत के पतन के प्रमुख कारणों में फिरोजशाह की अधिन्यास प्रणाली तथा सरकारी भ्रष्टाचार थे, जिसकी रक्षा की जाती थी व अन्य महत्वपूर्ण कारण सभी पद वंशानुगत घोषित करना था।

दासों का शक्तिशाली होना

तुर्क सुल्तानों ने इन विघटनकारी तत्वों को प्रतिबाधित करने के लिए कई तरीके अपनाये, जेसे दासों का शक्तिशाली दल का गठन करना या एक अमीर वर्ग की संरचना करना जो पूर्ण रूप से सुल्तान पर आश्रित है। किन्तु सुल्तानों को शीघ्र ही यह आभास हो गया कि इस सीमित समूह के बीच भी शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी अमीरों पर नियंत्रण रखना कठिन है जिनमें से कई स्वयं अलग स्वतन्त्र सत्ता कायम करने की फिराक में रहते हैं। इस प्रकार बंगाल, सिंध, गुजरात, दौलताबाद आदि जेसे दुरवर्ती स्थानों के हाकिमों पर नियंत्रण सदैव कठिन लगता था। जातिमूलक प्राथमिकता (बल्बन) अथवा व्यक्तिगत वफादारी जिस पर गुप्तचरों द्वारा बराबर निगरानी की जाती थी (अलाऊद्दीन खलजी) अथवा विभिन्न जाति मूलन पर आधारित अमीर वर्ग की संरचना (मुहम्मद तुगलक) के कारण एक के बाद एक सभी सुल्तानों के प्रयास विफल हो गए। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि काफी हद तक आनुवंशिकता के सिद्धान्त पर आधारित एक छोटा अमीर वर्ग बनाने का फिरोज का प्रयास भी विफल हो गया।

इस स्थिति में धर्म शायद ही कोई सहायता कर सकता था क्योंकि सल्तनत का अस्तित्व सुदृढ़ हो जान के बाद मुख्य संघर्ष हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच नहीं बल्कि मुसलमानों और मुसलमानों के बीच था फिर भी धर्म के नारे का प्रयोग हिन्दू राज्य और किसानों को लूटने के कृत्यों को उचित ठहराने के लिए किया जाता रहा।

'दासों' का संग्रह

जिस स्फूर्ति से फीरोज ने दासों का संग्रह किया उस विषय में **अफीफ** कुरान के पद्य उद्धृत करता है: 'यह संभव है कि आप कोई वस्तु अच्छी समझते हों पर वह आप के हानिकारक हो।' सर्वप्रथम उसने अपने राज्यपालों को आदेश दिए कि जब कभी वे लगान वसूल करने के लिए किसी स्थान पर आक्रमण करें तो 'चुने हुए सुंदर कुलीन बालक' उसके पास भेजें। राज्यपालों ने इस बात का ध्यान रखा कि वे स्वच्छ, प्रस्तुत करने योग्य और सुंदर वस्त्र पहने हों। पूर्वकाल में राज्यपाल सुल्तान को ऐसे उपहार दिया करते

थे जो दे सकते थे और राजा से यह आशा की जाती थी कि वह उनके स्थानांतरण तथा पदोन्नति करते समय इन्हें ध्यान में रखेगा। फीरोज ने अब यह सामान्य नियम बनाया कि राज्यपालों द्वारा लाए गए उपहारों का मूल्य आंका जाए और उनसे की जानेवाली माग में उसे मुजरा किया जाए। किंतु चूंकि फीरोजशाह उपहार के रूप में दासों को अधिक पसंद करता था इसलिए राजपाल उसके पास दास तब तक लाते रहे जब तक शाही दासों की संख्या 1,80,000 हो गई। संभव है कि सभी पद वंशानुगत बनने के पश्चात् फीरोज ने एक ऐसे जनसमूह की आवश्यकता समझी हो जो उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के स्वामिभक्त रहे। किंतु यह एक कल्पना मात्र है। हम केवल फीरोजशाह की इस इच्छा के विषय में निश्चित हैं कि वह अपने प्रत्येक दास को उसकी योग्यतानुसार वेतन तथा पद देना चाहता था। इन परिस्थितियों में उनके पिता अपने पुत्र फीरोजशह द्वारा पालन पोषण के लिए अर्पित करने के इच्छुक रहे होंगे क्योंकि यह दास किसी भांति कानूनी नहीं थे। अत्यधिक भाग्यशाली दास अमीरों को दिए जाते थे जिन्हें आदेश थे कि वे 'उन्हें अपने पुत्रों की भांति पालें और वर्ष में एक बार सिंहासन के सामने प्रस्तुत करें।' द्वितीय भाग्यशाली समूह शिक्षा के लिए छांटा जाता था और वे हज के लिए भी भेजे जाते थे।

दासों के लिए विराजत के प्रत्यक्ष नियंत्रण से बाहर से बाहर एक पृथक विभाग का संगठन किया गया ताकि उनका अपना कोष, 'मजमुआदार' और अधिकारी रहे। कुछ समय पश्चात् कुछ दास प्रांतीय राजधानियों में भेज दिए गये थे और अन्य दिल्ली में रंखे गए। दासों के लिए या तो सैनिकों की भांति भूमि निर्धारण या नकद वेतन द्वारा भुगतान किया गया। उनका वेतन दस से सौ टंके तक था। किंतु दस 'टंके' से कम कोई दास नहीं आता था। उनका प्रत्येक तीसरे, चौथे या छठे मास कोष से अवश्य किया जाता था। लगभग बारह हजार दास विभिन्न दस्तकारियों में प्रशिक्षित किए गए थे। दास सभी मंत्रालयों, विभागों और 'कारखानों' में पाए जाते थे किंतु संपूर्ण संगठन का केंद्र चालीस हजार दास थे जो शाही महल में घुड़सवार प्रहरी थे। उन्होंने राज्य के स्वामी के प्रति निष्ठारहित एक शक्तिशाली संघभक्ति विकसित कर ली। **अफीफ** कहता है, 'ईश्वर प्रशंसनीय है। चूंकि नियति ने आरंभ से यह निश्चय किया था कि फीरोज की मृत्यु के पश्चात् मुस्लिम संप्रदाय एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करेंगे इस दुर्भाग्य ने जनता को दासों द्वारा पीड़ित किया....। अंत में दास इतने निडर हो गए कि उन्होंने बिना झिझक फीरोज के परिवार के राजकुमारों के सर धड़ से अलग कर दिए और उन्हें दरबार के द्वार पर लटका दिया।'

संकीर्ण धार्मिक दृष्टिकोण

इल्तुतमिश के गद्दी पर बैठने के बाद से ही राज्य और गैर–मुसलमानों के प्रति अपनाई जाने वाली नीति को लेकर सुल्तानों व धार्मिक वर्ग के बीच संघर्ष चल रहा था। इल्तुतमिश और फिर विशेषकर अलाऊद्दीन खलजी व मुहम्मद तुगलक जैसे शासकों ने धार्मिक वर्ग को राज्य की नीति निर्धारण का आदेश नहीं दिया था। यद्यपि इस वर्ग को खुश करने के लिए न्याय विभाग व शिक्षा–व्यवस्था में कुछ ऊंचे पद दिए गए। बाहरी दिखावे के होते हुए भी फिरोजशाह ने अपने पूर्ववर्ती सुल्तानों की नीति का अनुसरण किया।

किन्तु समय के साथ–साथ फिरोजशाह अपने धार्मिक दृष्टिकोण में अधिकाधिक संकीर्ण और यहां तक कि धर्मांध हो गया। यद्यपि वह उदारवादी सूफी संत **अजोधन** के **फरीदुद्दीन गंज शकर** के अनुयायी के रूप में प्रसिद्ध था किन्तु धीरे–धीरे वह कट्टरपन्थी होता गया। जब सन् 1374-75 ई. में बहराईच स्थित संत सालार मसूद गाजी के मकबरे का दर्शन करने गया तो **अफीफ** बताता है कि संत सालार सपने में उसके सामने प्रकट हुए तो उनसे अत्यंत प्रभावित होकर फिरोज ने उनके प्रति अपना आत्मसमर्पण करते हुए सिर का मुंडन करा लिया। कई अमीरों ने भी सुल्तान का अनुकरण करते हुए सिर मुड़वा लिया। उसके बाद सुल्तान ने शरीयत के विरुद्ध सारे दस्तूरों पर रोक लगा दी, शरीयत द्वारा अनुमोदित सारे करों का अंत कर दिया एवं राजस्व अधिकारियों को ऐसे किसी भी कर की वसूली न करने की चेतावनी दी। उसने अपनी महल के ऐसे सारे चित्रों के नष्ट किए जाने का आदेश दिया जिनमें मानव आकृतियां बनी हों एवं भोजन हेतु सोने और चांदी के बर्तनों के प्रयोग की मनाही कर दी। उसने शुद्ध रेशमी अथवा जरीदार वस्त्रों एवं मानव आकृतियों के चित्र बने हुए वस्त्रों पर भी रोक लगा दी।

इस समय फिरोज की धर्मांधता का सबसे प्रमुख उदाहरण यह कि उसने इस आरोप के आधार पर एक ब्राह्मण को खुलेआम जला दिया कि उसने अपने घर पर खुले तौर पर मूर्तिपूजा की जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ही ने भाग लिया था एवं उसने एक मुस्लिम महिला को हिन्दू बना लिया था। उसने ब्राह्मणों से जजिया वसूल करने पर भी जोर दिया जो उस समय तक इस कर से मुक्त रखे गए थे। दिल्ली के चारों नगरों के ब्राह्मणों द्वारा भूख हड़ताल किए जाने पर भी यह टस से मस नहीं हुआ। अंत में दिल्ली के हिन्दुओं ने ब्राह्मणों के हिस्से का जजिया स्वयं देने का निर्णय लिया। यह ज्ञात नहीं है कि यह व्यवस्था अन्य शहरों में भी अपनाई गई या नहीं।

'**फुतूहात**' में फिरोज कहता है कि यद्यपि जजिया देने वाले हिन्दू रक्षित लोग (जिम्मी) थे तथा उन्हें अपनी सम्पत्ति की [illegible] पूजा करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी, उन्होंने नए मंदिर बनाने शुरू कर दिए जो शरीयत के विरुद्ध था। उसने ऐसे मंदिरों [illegible] करा दिया था। ध्वस्त कराए गए मंदिरों की सूची में उसने दिल्ली के निकट मालवा गांव के एक मंदिर को भी शामिल [illegible] यह मंदिर इसलिए ध्वस्त कराया गया था कि हिन्दुओं ने वहां एक तालाब (हौज) बनाया था जहां एक उत्सव [illegible] पुरुषों और महिलाओं के अलावा मुसलमान भी भाग लेते थे। इसी प्रकार उसने सालेहपुर गांव और गोहना के [illegible] मंदिरों को नष्ट कर दिया।

शरीयत के अनुसार चलने की अपने उत्साह में फिरोज ने शिया समुदाय के इस्माइली समूह के नेताओं को मृत्यु–दंड दिया [illegible] अनेक ऐसे मुसलमानों को भी मृत्यु दण्ड दिया जो सूफी तौर–तरीकों पर अमल करते हुए रूढ़िवादी मत से दूर हो गये थे। [illegible] रूढ़िवादिता में उसने दिल्ली के बाहर स्थित दरगाहों पर मुस्लिम महिलाओं के जाने पर भी रोक लगा दी क्योंकि उन पर भी [illegible] कामुक दृष्टि पड़ती थी।

किन्तु यह दर्शाने का कोई प्रमाण नहीं है कि असहिष्णुता के चन्द कृत्यों के बावजूद फिरोज जिम्मी अथवा रक्षित हिन्दुओं को [illegible] गई व्यापक धार्मिक स्वतंत्रता की संकल्पना के विरुद्ध चला। फिरोज के युग को बढ़ती हुई असहिष्णुता का युग माना जा सकता है। वस्तुतः इसी युग में संगीत, औषधि आदि पर लिखी गई संस्कृत पुस्तकों का सबसे अधिक संख्या में फारसी में अनुवाद किया गया। फिरोज ने हिन्दू सरदारों के साथ आदरभरा बर्ताव किया और उनमें से तीन को तो उसके दरबार में फर्श पर भी बैठने दिया गया जिसे एक दुर्लभ सम्मान माना जाता था।

फिर भी, कभी–कभी फिरोज के असहिष्णुतापूर्ण व्यवहार तथा धर्मशास्त्रियों और धार्मिक गतिविधियों में सम्बद्ध लोगों को दूसरों के तुलना में महत्व दिये जाने के कारण रूढ़िवादी उलेमा की स्थिति मजबूत हुई। इसके कारण जन–कल्याण एवं व्यापक धार्मिक स्वतंत्रता पर आधारित परोपकारी नीति की संकल्पना कमजोर हुई। फिरोज ने एक समन्वित शासक वर्ग के निर्माण की [illegible] मुहम्मद बिन तुगलक द्वारा बढ़ाए गए कदमों को भी पीछे खींच लिया। इसे लोदियों ने जरा सावधानी बरतते हुए पुनः शुरू किया किन्तु वास्तविक अर्थ में इसका पुनरारंभ अकबर के आने पर ही हुआ।

राजस्व प्रशासन का संकट

सल्तनत–काल की स्थापना के साथ–साथ भू–राजस्व का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया क्योंकि राजस्व ही राज्य की आय का मुख्य साधन था। भारत युग–युग से कृषि–प्रधान देश रहा है। सल्तनत–काल में भूमि की काश्तकारी का ढंग पहले से अधिक भिन्न न था। वास्तव में सल्तनतकालीन भूमि–व्यवस्था मुसलिम विचारधारा और पूर्व प्रचलित देशी संस्थाओं का सम्मिश्रण थी। सुल्तानों ने इस प्रकार भू–राजस्व संबंध नियम स्थापित किए थे, जिनके द्वारा अधिशेष उत्पादन (Surplus) मुख्यतः अक्ता–प्रणाली द्वारा प्राप्त किया जाता था। इस उत्पादन से दो वर्ग लाभान्वित होते थे—अक्तादार एवं जमींदार। मूलतः ये दोनों ही शासक वर्ग थे।

सामान्य रूप से तुर्कों ने इस्लामी अर्थव्यवस्था संबंधी सिद्धांतों को अपनाया। यह व्यवस्था बगदाद के मुख्य काजी अबू याकूब द्वारा लिखित **किताब-उल-खराज** (kitab-ul-kharaj) में लिपिबद्ध है। इस व्यवस्था का आधार खराज और उश्र है जो जमीनों की किस्म या भूमि की उत्पादनशीलता पर निर्भर करता है। उश्र मुसलमानों से लिए जाने वाला कर था। जिस भूमि की सिचाई प्राकृतिक साधनों से होती थी वहां यह पैदावार का 1/10 प्रतिशत था, और जहां कृत्रिम साधनों से होती थी वहां यह उपज का 1/5 भाग लिया जाता था। खराज वह भूमि–कर था जो हिंदू–जमींदारों और किसानों से वसूल किया जाता था। इसकी दर निश्चित नहीं थी और इसे प्रायः अनुमान से अथवा पुराने हिंदू युग के राजस्व आलेखों के आधार पर तय किया जाता था। खराज कभी भी उपज का 1/3 से कम और 1/2 से अधिक नहीं लिया जाता था। केवल अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक के समय सल्तनत के कुछ भाग से उपज का 1/2 भाग भूमि–कर के रूप में लिया गया।

भूमि की किस्में—सल्तनत काल में भूमि की व्यवस्थापक स्थिति को ठीक रखने की दृष्टि से उसे चार भागों में विभाजित किया [illegible] गया है: 1. प्रशासन में भाग लेने वाले उच्च पदाधिकारियों (अक्तादार, मुक्ता) में बंटी हुई भूमि, 2. खालसा भूमि, 3. वह भूमि व्यक्तियों को दान के रूप में दी जाती थी, जैसे मिल्क, वक्फ और इनाम जिस पर राज्य कोई लगान नहीं लेता था 4. वह भूमि जो अधीनस्थ हिंदू–राजाओं के आधिपत्य में थी।

इस प्रकार के कृषक–समाज में तीन बातों की प्रधानता दृष्टिगत होती है

1. जो जमींदार तुर्की शासकों द्वारा दबाए गए थे उनमें विद्रोह की भावना बराबर रहती थी।

2. कृषक–वर्ग की बदलती हुई परिस्थितियां।

3. शासक वर्ग के मध्य अधिशेष उत्पादन (surplus produce) को अधिक–से–अधिक हड़पने के लिए आपस में लगातार संघर्ष।

अक्ता भूमि

तुर्कों के आक्रमण के समय भारतीय राजनीति में अधिकांशतः राजपूत राज्यों का प्रभुत्व था। तुर्क शासकों ने अधिक–से–अधिक राजपूत राजाओं हटाकर जैसे–जैसे केंद्रीकरण किया वैसे–वैसे भिन्न–भिन्न स्थानों पर राजपूत जमींदारों के स्थान पर अक्तादार नियुक्त किए जाने लगे। अक्ता–प्रथा भूमि से संबंधित स्थिति का एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है जिसे विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से परिभाषित किया है। अक्ता की परिभाषा निजाम–उल–मुल्क तूसी ने अपनी किताब सियासतनामा में दी है। उनकी दृष्टि में अक्ता राजस्व वसूल करने का प्रमुख माध्यम था, जिसके द्वारा अक्तादार अपनी सेना का व्यय उठाते थे। साथ–साथ अक्ता–इलाके में कानून और व्यवस्था बनाए रखने के संबंध में भी अक्तादार का ही उत्तरदायित्व होता था। अक्तादार अपनी जमीन का मालिक न था और उसका एक स्थान से दूसरे स्थान पर तबादला हो सकता था अर्थात् अक्तादार को सुल्तान का आज्ञापालक होना पड़ता था। वह सुल्तान की स्वीकृति के बिना किसी भी जमीन के हिस्से पर अपना दावा नहीं कर सकता था।

अक्ता जमीन में सुल्तान अलाउद्दीन ने अपने कर्मचारियों को राजस्व इकट्ठा करने का काम सौंपा। सुल्तान का उद्देश्य था कि अधिशेष–राशि सरकारी कोष में ही जमा की जाए। किंतु अलाउद्दीन के इस सुधार से दूरस्थ प्रांतों पर कोई प्रभाव न पड़ा। उदाहरणार्थ, गुजरात, मालवा, पंजाब इत्यादि इस नियम से अप्रभावित रहे। अपनी व्यवस्था को लागू करने के लिए अलाउद्दीन ने हजारों की संख्या में आमिल, मुतशर्रिफ, मुहासिल, गुमाश्ता, नवसिंद एवं सरहंग नाम के पदाधिकारियों की नियुक्ति भी की। रिश्वत और बेईमानी को रोकने के लिए उसने लगान–अधिकारियों के वेतन में वृद्धि की। इतिहासकार बरनी के अनुसार, "कोई अधिकारी किसी व्यक्ति से एक टंका भी रिश्वत के रूप मे लेने का साहस नहीं कर सकता था। प्रजा भी इतनी भयभीत हो गई थी कि एक साधारण लगान अधिकारी खूत और चौधरियों को पीटकर उनसे लगान वसूल कर सकता था और सभी व्यक्ति लगान–अधिकारियों से इतनी घृणा करते थे कि कोई भी व्यक्ति अपनी पुत्री का विवाह भी उनके साथ करने को तैयार नहीं होता था।" मुहम्मद तुगलक के समय में अक्ता में सुल्तान का हस्तक्षेप चरम सीमा तक पहुंच गया था। सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने बहुत बार अक्ता के वसूल करने का अधिकार मुक्ताओं से लेकर या तो मालगुजारी देने वाले किसानों के हाथों में दे दिया या अपने राजस्व–विभाग के किसी अधिकारी के हाथ में। इब्ने बतूता के अनुसार अमरोहा में वाजी–उल–खराज और मुक्ता दोनों अलग–अलग अधिकारी थे और एक–दूसरे से स्वतंत्र थे।

समकालीन स्रोतों से इस बात का ज्ञान होता है कि ठेके पर जमीन देने की मुकाता प्रथा मौजूद थी। बरनी ने अपनी पुस्तक **तारीख-ए-फिरोजशाही** में इसका संकेत किया है। मुहम्मद तुगलक ने बीदर की अक्ता शिहाब नामक व्यक्ति को एक करोड़ टंके में ठेके पर दी थी परंतु यह प्रतिनिधि निश्चित राशि का 1/3 और 1/4 हिस्सा भी इकट्ठा करने में असफल रहा। दौलताबाद का क्षेत्र एक साहूकार को 13 करोड़ रुपयों में ठेके पर दिया गया था। वह राजस्व संग्रह करने के कार्य में असफल रहा और उसको जिंदा मार देने की सजा दी गई। इन उदाहरणों से हम देखते हैं कि भूमि का राजस्व उन लोगों को दिया जाता था जिनका राजस्व–प्रशासन में कोई हाथ नहीं था। ऐसे मामलों को देखते हुए हम सोच सकते हैं कि इस स्थिति में किसानों का किस प्रकार और कितना शोषण हुआ होगा।

यह भी ज्ञात होता है कि जो जमीन अन्य जमीन के मुकाबले अधिक उपजाऊ समझी जाती थी उसको प्राप्त करने के लिए काफी प्रतिस्पर्धा थी। उदाहरण के लिए फिरोजशाह तुगलक के समय गुजरात की नियाबत को प्राप्त करने के लिए **अबूरजा** व **शम्स-ए-दमगानी** में कड़ी प्रतियोगिता चलती रही। दमगानी ने औसत से अधिक राजस्व देने की शर्त मंजूर की और इसके अतिरिक्त हाथी, घोड़े और गुलाम देने की शर्त को मान लिया।

इल्तुतमिश ने अक्ता व्यवस्था के रूप में एक ठोस राजस्व अनुदान की नीति आरम्भ की थी। इस व्यवस्था के द्वारा एक विशाल प्रशासनिक तंत्र के रख–रखाव की व्यवस्था की जाती थी। **फिरोज तुगलक** के काल में इस व्यवस्था के कार्यान्वयन में विकृति आ गई। उसके शासन काल में राजस्व अनुदान या अक्ता वंशानुगत और स्थायी हो गए। **अफीफ** के अनुसार "किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसका पद स्थायी रूप से उसके पुत्र को मिल जाता था। अगर कोई पुत्र न हो तो उसके दामाद को मिलता। अगर दामाद न हो उसके गुलाम को मिलता। अगर कोई गुलाम भी नहीं होता तो उस परिवार की महिलाओं को मिलता था। इस प्रकार फिरोजशाह के समय इक्ता प्रथा आनुवांशिक हो गई। इस दशा में जमीन का स्थानान्तरण समाप्त हो गया। **सिकन्दर लोदी** (1489-1517 ई.) ने अक्ता धारकों से बचा हुआ अतिरिक्त धन (फवाजिल) खजाने में जमा कराना बन्द कर दिया। उसके काल में

इक्ता धारकों द्वारा अपने अनुदान को पुनः अपने आधीन अन्य लोगों को अनुदानित करने की प्रथा भी बढ़ गई।

इन सबका बहुत गंभीर प्रभाव पड़ा। इससे राज्य को केवल राजस्व की भारी हानि ही नहीं हुई, बल्कि स्थायी अनुदान प्राप्त अनुदान–धारकों ने अपने क्षेत्रों में अपनी जड़े भली–भांति जमा लीं जिससे भ्रष्टाचार व विद्रोहों को बढ़ावा मिला। इससे केन्द्र का नियंत्रण दुर्बल हो चला व इक्तादारों में अपने–अपने क्षेत्र में जमीन के वास्तविक अधिकारी बनने की भावना बढ़ने लगी। फिरोज के उत्तराधिकारी इतने बड़े साम्राज्य को संभालने में असमर्थ थे और इसका परिणाम भी सल्तनत के लिए घातक हुआ।

मुहम्मद तुगलक की प्रशासक वर्ग में परिवर्तन की नीति एवं विद्रोह

मुहम्मद तुगलक सुल्तान की छवि निखारने के लिए एक के बाद एक परियोजनाएं शुरू करता रहा जिसके कारण खजाना खाली हो गए और असंतोष एव विद्रोह फूटते रहे जिन्हें नियंत्रित करने में सुल्तान असफल रहा।

ऐसा प्रतीत होता है कि 1345 ई. के बाद तो सुल्तान के विरुद्ध विद्रोहों का सिलसिला बन गया, वैसे तो इस समय से पहले भी विद्रोह हुए थे। **मेहदी हुसैन** कुछ ऐसे ही विद्रोहों का जिक्र करते हैं जिनमें प्रमुख हैं–दक्षिण में बहाउद्दीन गुरशास्प सुल्तान से बरामकिशलू खां तथा बंगाल में ग्यासुद्दीन के विद्रोह। किन्तु 1335 ई. में माबर में अहसान खां के विद्रोह से अमीरों द्वारा सुल्तान का खुला विरोध स्पष्ट हो गया क्योंकि विद्रोह को दबाने के लिए जो सेना भेजी गई वह भी विद्रोहियों के साथ हो गई। इसके बाद हुए चौदह विद्रोहों में कुछ–कुछ अमीरों तथा धर्माचार्यों की सांठ–गांठ विद्यमान थी। दक्षिण में **अमीरान-ए-सदा** भी असन्तोष प्रकट कर रहे थे। ऐसी निराशाजनक स्थिति उत्तर से दक्षिण तक फैली हुई थी। कुछ प्रान्तीय गवर्नर तथा नर्मदा नदी के दक्षिण में हिन्दू अफसर भी सुल्तान के विरुद्ध हो गए थे। फलस्वरूप इसी काल में दक्षिण में सल्तनत से स्वतन्त्र विजयनगर के स्वतन्त्र हिन्दू साम्राज्य तथा गुलबर्गा मे स्वतन्त्र बहमनी राज्य आदि का उदय हुआ।

विद्रोहों के लिए जिम्मेदार दो मुख्य वर्गों उलेमा व अमीर वर्ग पर नियंत्रण रखने के लिए विशेष कदम उठाए गए। उलमा वर्ग से निपटने के लिए कूटनीति तथा कभी–भी शक्ति का भी प्रयोग किया गया। मुहम्मद तुगलक ने मिस्र के अब्बासी खलीफा से मान्यता पत्र प्राप्त किया तथा खुतबा एवं सिक्कों में अपने नाम के बदले खलीफाओं का नाम लिखवाया। **बरनी** के अनुसार मुहम्मद तुगलक ने अंतिम 11 वर्षों में अब्बासी खलीफाओं से मान्यता प्राप्त करने का भरसक प्रयास किया। ऐसे प्रयास के दो मुख्य कारण थे। प्रथम, सुल्तान ने जिस खलीफा का नाम सिक्कों पर अंकित किया था उसकी 1339 ई. में मृत्यु हो चुकी थी और उसकी सही जिज्ञासा रही कि सही अब्बासी वंशज के खलीफाओं का पता लगाया जाए। विशेष रूप सन् 1258 में हलाकू द्वारा अंतिम अब्बासी खलीफा की हत्या के बाद स्थिति कुछ अस्पष्ट हो गई थी। दूसरे, 1335 ई. के बाद मुहम्मद तुगलक के विरुद्ध जो विद्रोह का सिलसिला चला उसमें दो मुख्य बातें उभरकर सामने आईं। पहली बात तो यह है कि विद्रोही प्राय मुसलमान धार्मिक एवं अर्धधार्मिक सरकारी अधिकारी तथा अन्य व्यक्ति, जैसे काजी, खतीब, फकीह तथा मशैख थे जो किसी भी कीमत पर सुल्तान से समझौता नहीं चाहते थे। इनमें कई सुल्तान के राजधानी बदलने के प्रश्न पर शाही आज्ञाओं के उल्लंघन के फलस्वरूप कड़ी सजाओं के कारण नाराज थे जब कि अन्य सुल्तान की विशेष इस्लामी विचारधारा (इजतेहाद) के कारण रुष्ट थे। इजतेहाद के मुहम्मद तुगलक के विचार सुल्तान की आत्मकथा तथा **इसामी** के लेखों में व्यक्त किए गए विचारों मे मिलते है सुल्तान इस्लाम इतिहास तथा इस्लामी कानून में विशेष दिलचस्पी रखता था और उलेमा वर्ग की त्रुटियों के प्रति सजग था। इस वर्ग ने जानबूझकर अपने स्वार्थ एवं हितों के लिए इस्लाम की सही व्याख्या नहीं की, यह मानकर सुल्तान इस वर्ग के विरुद्ध हो गया था। इसके अनुसार उलेमा वर्ग ने खलजी वंश तथा खुसरो खां जैसे सुल्तानों को गद्दी पर बैठने से रोकने तथा उनके निरकुश शासन के विरुद्ध कोई ठोस कदम नहीं उठाया, इसलिए वह वर्ग स्वार्थी तथा चापलूस हो चुका था और इसमें सुधार की अत्यंत आवश्यकता थी। **इब्नेबतूता** लिखता है कि सुल्तान इस वर्ग के प्रति इस सीमा तक विरुद्ध हो गया था कि उसने इनसे सामान्य लोगों जैसा व्यवहार करना शुरू कर दिया और उन्हें सैनिक, अर्धसैनिक तथा वेतनभोगी बनाने के लिए विवश किया। अपने विशेषाधिकार का हनन उलेमा वर्ग के लिए असहनीय हो उठा। उन्होंने सुल्तान को काफिर की संज्ञा दी और लोगों को सुल्तान के विरुद्ध के लिए भड़काना शुरू कर दिया। **इसामी** ने सुल्तान द्वारा हिंदूओं का पक्ष लेने तथा जोगियों के साथ मेल को काफिराना कार्यवाई बताया है जब कि इजतेहाद को वह काजियों के विशेष स्वरूप का हनन समझता है। फिर भी **इब्ने बतूता** सुल्तान को इस्लाम से भ्रष्ट नहीं मानता। उलेमा का विरोध मुहम्मद तुगलक के लिए परेशानी का कारण बना, इसलिए सुल्तान द्वारा खलीफा के प्रति सम्मान दिखाना तथा अब्बासी खलीफा से मान्यता प्राप्त करना एक राजनीतिक कदम था। इस मत में कोई औचित्य नहीं लगता कि सुल्तान शायद अपने बाप गयासुद्दीन तुगलक की कथित हत्या के पाप का प्रायश्चित कर रहा था। सच्चाई तो यह है कि उलेमा के विरोध को समाप्त करने के अतिरिक्त सुल्तान ने कुछ ऐसे कदम उठाए थे जिनके वह शायद खलीफा की मान्यताओं के विरुद्ध

रखना चाहता था। **मेहंदी हुसैन** के अनुसार खलीफा से स्वीकृति–पत्र प्राप्त करने का उद्देश्य प्रजा से विश्वास तथा सहयोग लेना था। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित कार्यों के लिए कानूनी स्वीकृति लेनी पड़ती थी: (क) उश्र तथा जकात को छोड़कर शेष सभी कर समाप्त कर देना, (ख) एक नए कृषि विभाग (दीवान–ए–अमीर कोही) की स्थापना करना ताकि अकाल की स्थिति से निपटा जा सके और कृषि–उपज को बढ़ाकर लगान बढ़ाया जा सके, (ग) न्याय–प्रबंध के लिए सप्ताह में दो बार विशेष सुनवाई करना अर्थात् दीवान–ए–मजलिस द्वारा दोषी व्यक्तियों को सजा देना, (घ) सेना को सशक्त बनाना, और ङ. दक्षिण के प्रशासनिक में प्रशासन में सुधार करना जहा सदैव गड़बड़ी की आशका बनी रहती थी।

अमीरों तथा अफसरों को वफादार बनाने एवं प्रशासन में सुधार के लिए मुहम्मद तुगलक ने उन पुराने अफसरों तथा कर्मचारियों को पदच्युत कर दिया जिन पर उपद्रव फैलाने या किसी विद्रोह में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भाग लेने का संदेह था। उने स्थान पर नए लोगों वो नियुक्त किया गया। इन लोगों की नियुक्ति पुराने अफसरों के लिए ईर्ष्या का कारण बनी। यहां तक कि **बरनी** इन नव–निर्युक्त अफसरों को व्यंग्यपूर्वक 'छिछोरा' अथवा 'दीनावस्था से बने नए रईस' कहता है तथा उन्हें निम्नवर्ग का कहकर उनकी निंदा करता है। वह किसी को शराबी (खुम्मार), किसी को गाने–बजाने वाले का लड़का (मुतरीब बच्चा) तो किसी को नाई, रसोइया माली, जुलाहा तथा शेष सबको दुर्जन समझाता है। आज **बरनी** के कथन को स्वीकार करना कठिन है क्योंकि कोई भी अनुभवी सेनापति तथा असाधारण व्यक्तित्व वाला सुल्तान ऐसे लोगों को उच्च सैनिक पद नहीं दे सकता था। **तारीख-ए-फिरोजशाही** की भूमिका में **बरनी** स्पष्ट रूप से बताता है कि जिस शासक वर्ग को वह संबोधन कर रहा है वह असलियत में वैसा नही था। **बरनी** अपने लेखों में वंशानुगत अथवा खानदान को समाज का महत्वपूर्ण अंग समझता है तथा बार–बार इसको अहमियत देता है। इसलिए ऐसी सभी अमीर जो नए थे अथवा पुराने अमीरों के वंशज न होकर दूसरी जातियों से संबंधित थे, **बरनी** की दृष्टि में निम्न तथा घृणास्पद थे। इस तर्क की पुष्टि **इरफान हबीब** ने भी की है। मुहम्मद तुगलक के अमीर वर्ग में खानदारी अमीरों के अतिरिक्त कई जातियों के लोग थे जिनमें मुख्यतः मंगोल, अन्य विदेशी तथा हिंदू भी थे। **बरनी** के लिए ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति, जो प्रशासनिक सुधार करने के लिए की गई थी, असहनीय थी। इसलिए वह इस वर्ग को निम्न तथा अपमानजनक समझता है, इन्हें कपटी, बेवफा तथा शरारती करार देता है। वस्तुतः नए वर्ग के अमीर ऐसे नहीं थे क्योंकि एक स्थान पर बरनी बताता है कि सुल्तान ने अपनी विजयों का सिलसिला इसी वर्ग द्वारा पूर्ण किया था। सुल्तान की केंद्रीय शक्ति को दृढ़ करने में इस वर्ग का महत्वपूर्ण योगदान रहा। दूर–दराज से इतनी धन–दौलत पहले कभी भी नहीं आई। सुल्तान दयालु तथा दानशील था किंतु बरनी जब नए अमीर वर्ग का वर्णन करता है तो पारंपरिक उच्च वर्ग को दृष्टि में रखते हुए इस नए वर्ग की दिल खोलकर भर्त्सना करता है। **बरनी** जब फिरोजशाह तुगलक के समय का वृत्तांत लिखता है तो इस नए शासक वर्ग की आलोचना नहीं करता, शायद इसलिए कि निम्नलिखित दो बातों ने इस वर्ग को शायद अच्छा बना दिया: 1. मुहम्मद तुगलक के त्रास के युग की समाप्ति, और 2. फिरोज तुगलक द्वारा सभी अमीरों के पदों को वंशानुगत बना देना। इसके अतिरिक्त बड़े–बड़े हिंदू व्यापारी (मुल्तानी सौदागर) तथा साहूकार उच्च अमीर वर्ग की तरह धनवान हो रहे थे तथा फिरोजशाह के गद्दी पर आने से ये लोग सुल्तान का स्वागत करने लग गए थे। सचाई तो यह थी कि विद्रोही अमीर वर्ग में परिवर्तन लाने के लिए मुहम्मद तुगलक योग्यता के आधार पर नया वर्ग बनाना चाहता था जिसे पुराने लोग सहन नहीं कर सके तथा सुल्तान के प्रयास को उन्होंने अपने ऊपर प्रहार समझा। यह कहना भी ठीक नहीं है कि केवल योग्यता को ही आधार बनाया गया था क्योंकि मध्य युग में जातीय कड़ी से संबद्ध होना तथा उच्च खानदान का होना भी प्रायः आवश्यक–सा था। इस दिशा में **यहया बिन अहमद सरहिंदी** द्वारा दी गई सूची अधिक विश्वसनीय लगती है। **सरहिंदी** के अनुसार सुल्तान के अमीर तथा अफसरशाही निम्नलिखित तत्वों से निर्मित थे:

क. उन अमीरों के परिवार जो अलाउद्दीन खलजी के समय से सेवा में थे। नए लोगों को शामिल करने से इनका रौब समाप्त होने लगा,

ख. इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने के बाद बने अफसर। सुल्तान को इन पर बहुत विश्वास था। इनमें से एक को शाही शरबत–खाने का निरीक्षक बनाया गया,

ग. विदेशी। इनको प्रशासन में उच्च पद दिए गए तथा सुल्तान इन पर मेहरबान था। इन्हें प्रायः न्याय विभाग तथा दानवृत्ति दिया गया।

घ. धार्मिक वर्ग (उलेमा) से लिए गए लोग। सुल्तान का विचार था कि खलीफाओं के समय में भी धार्मिक वर्ग के लोग सरकारी सेवाए करते थे। शेख मुइजुददीन को गुजरात का गवर्नर सैयद कमालुद्दीन अमीर किरमानी को सेना में तथा दिल्ली के प्रसिद्ध सूफी शेख शिहाबुद्दीन को दीवान–उल–मुस्तखराज (लगान की बकाया राशि वसूल करने वाला) नियुक्त किया गया। कुछ धार्मिक वर्ग के लोगों में अनुशासन लाने तथा उन्हें सरकारी प्रभाव में नियत्रित करने के लिए और पद–ग्रहण करने के

लिए विवश भी किया गया। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि जो लोग प्रशासन में योग्य सिद्ध न हो सके उनमें से कई सुल्तान के विरुद्ध हो जाए

ङ पठान,

च अमीर ए सादा। स्वतंत्र बहमनी राज्य को बनाने में इन अमीरों का हाथ रहा,

छ हिंदू अफसर। इनमें सुल्तान का एक वज़ीर साईराज, दक्षिण का उपवज़ीर तथा गुलबर्गा का गवर्नर भी शामिल थे।

इस प्रकार की अफसरशाही सुल्तान के लिए शक्ति तथा कमजोरी दोनों का ही स्रोत थी। जिन अमीरों ने साम्राज्य का विस्तार करने में योगदान दिया उन्हीं में से कुछ ने इसके विघटन में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। भिन्न–भिन्न तत्वों के अतिरिक्त नए अमीर पुराने अमीरों का विश्वास प्राप्त न कर सके, सहयोग का स्थान आपसी ईर्ष्या ने ले लिया जिसने सुल्तान के प्रशासनिक सुधारों पर पानी फेर दिया। नया अमीर वर्ग अनुभवहीन होने के कारण बिगड़ती स्थिति पर काबू न पा सका। सुल्तान के विरुद्ध चुनौतियां बढती गईं तथा उसके साथ उसकी सजाएं भीं। उसका पुराने अमीरों से विश्वास उठ गया। जब धार के गवर्नर (मुक्ता) बहाद्दुर अजीज को नियुक्त किया गया तो सुल्तान ने उसे विशेष रूप से पुराने अमीरों से बचकर रहने को कहा। इसी तरह सुल्तान गुजरात तथा दौलताबाद के पुराने अमीरों से सदा जूझता रहा। इन अमीरों में एक वर्ग ऐसा भी था जो दंड प्राप्त अमीरों के प्रति सहानुभूति रखने लगा। उलेमा वर्ग को इन्होंने अपनी शक्ति का आधार बनाया। **शेख नसीरुद्दीन चिराग-ए-दिल्ली** भी सुल्तान के विरोधियों में से एक था। जब फिरोजशाह तुगलक गद्दी पर बैठा तब किसी सूफी ने विरोध नहीं किया क्योंकि उनको नए सुल्तान से मुंहमांगी रियायतें मिलने का वायदा प्राप्त हो गया था।

उलेमा द्वारा विरोध के संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि क्या मुहम्मद तुगलक अधर्मी था या क्या उसने इस्लाम के विरुद्ध प्रचार किया? **बरनी** तथा **इसामी** उसे अधर्मी कहते हैं जब कि कुछ इतिहासकार यह दोषारोपण करते हैं कि उसने सुन्निया तथा सूफिया का निरादार किया था और उन्हें कई यातनाएं दी थीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रशासनिक सुधारों के अंतर्गत उन्हें भी अमीर वर्ग में शामिल किया गया ताकि वे अनुशासन सीखें तथा सुल्तान के विरुद्ध झूठा प्रचार बंद कर दें, किंतु कहना निराधार है कि वह अधर्मी था। उसके सिक्के इस बना का प्रमाण हैं कि वह पक्का मुसलमान था। **फरिश्ता** स्वीकार करता है कि सुल्तान ने इस्लामी उपाधियां प्राप्त की हुई थीं। वह न्याय के लिए हमेशा तत्पर रहता था तथा इस उद्देश्य से कई काजी तथा मुफ्ती उसके साथ रहते थे। सुल्तान कट्टरता का विरोधी तथा उलेमा वर्ग को अनावश्यक विशेषाधिकार देने के पक्ष में नही था। अपनी विचारधारा में उसे परंपराओं की बजाय कर्तव्य–परायणता (rationalism) में अधिक विश्वास था। उसके उदारवादी विचारों का प्रमाण हमे कुछ जैन परंपराओं में मिलता है जिसके अनुसार उसने जैन विद्वान **जिनप्रभा सूरी** का 1328 ई. में स्वागत किया। **मेहंदी हुसैन** नारायण ग्राम (दिल्ली) से मिले ऐसे फरमानों का प्रमाण देते हैं जिनमें लिखा है कि सुल्तान ने हिंदू परिवारों को धार्मिक अनुदान दिए। हो सकता है ऐसे उदारवादी दृष्टिकोण को उलेमा वर्ग ने सहन न किया हो। अमीरों द्वारा विद्रोहों का उलेमा वर्ग ने लाभ उठाया और इसके साथ–साथ अन्य कारणों ने समन्वित रूप से मुहम्मद तुगलक के विशाल साम्राज्य को उसके जीते जी ही विघटित करना प्रारंभ कर दिया। सुल्तान एक भाग से उपद्रव को रोकने के लिए बढ़ता था तो दूसरी दिशा में उपद्रव आरंभ हो जाता था। अंततः 1351 में सिंध के विद्रोह को दबाते हुए सुल्तान की मृत्यु हो गई।

मंगोल

मंगोल आक्रमणों ने भी परिस्थितियों में बदलाव उत्पन्न किए जिसका असर मौजूदा संस्थाओं और नीतियों पर भी पड़ा। दिल्ली सुल्तानों के लिए उत्तर–पश्चिमी सीमा को नियंत्रण में रखना आवश्यक था क्योंकि इससे उनको मध्य एशिया व मध्य पूर्व के साथ व्यापार संपर्क बनाए रखने में मदद मिलती थी। इसके प्रभाव दूरगामी भी पड़ सकते थे। उपजाऊ क्षेत्रों का नाश हो गया हो जिससे इस क्षेत्र का सामाजिक–आर्थिक ढांचा नष्ट हो जाता। अंततः दिल्ली के सुल्तानों को अपनी राजनीतिक शक्ति और क्षेत्र सुरक्षित करनी थी।

प्रारंभिक अवस्थाओं में मंगोल आक्रमण लूटने के उद्देश्य से होते थे। लेकिन मंगोल साम्राज्य के विभाजन और विघटन के उनकी लूटने की इच्छा शासन करने की इच्छा में बदल गई। ममलूक शासकों में सुल्तान गयासुद्दीन बल्बन के मंगोलों से लडाई करने का काफी अनुभव था। उसने ईरान के **इलखानों** के साथ भी अपने राजनयिक संबंध बनाए रखे थे। इसी तरह बल्बन ने भी अपनी स्थिति सुदृढ करने के लिए अपने वंश को ईरान के अफारमियाब विख्यात वीरों से जोड़ दिया। "शम्सी" अमीरों के एकाधिकार को तोड़ने के लिए उसने उच्च परिवारों के उन सदस्यों को भी विभिन्न पदों पर नियुक्त किया जो अपने–अपने कार्यों में निपुण थे और साथ ही सुल्तान के प्रति भी वफादार थे। उसने दरबार के नियमों और कार्यवाही को

मानदण्ड निर्धारित किया और निष्पक्ष न्याय पर विशेष जोर दिया। अपने सैनिकों को चुस्त रखने और उनकी तैयारी के लिए वह नियमित रूप से शिकार अभियानों पर जाता था। अपने योग्य अफसरों के अंतर्गत घुड़सवार एवं प्यादों को रखकर उसने सेना का पुनर्गठन किया। आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उसने व्यापारिक मार्गों को डाकुओं की लूट से मुक्त कराया। साथ ही जीते हुए क्षेत्रों में सेना के लिए मजबूत किलेबंदी की और नियमित तथा सही सूचना के प्रवाह को बनाए रखने के लिए खुफिया सिपाहियों को नियुक्त किया। अपनी आंतरिक स्थिति मजबूत करने के बाद उसने सीमा क्षेत्रों में किलों का पुनर्निर्माण करवाया, अपनी सेना में मंगोल सैनिकों और अफसरों को शामिल किया तथा जिन शहरों में और जिन लोगों ने भी उसका विरोध किया उन्हें वह वैसे ही तबाह करने में नहीं हिचकिचाया जैसे चंगेज खां और उसके उत्तरदायित्वों ने किया था।

खलजी और तुगलक सुल्तानों ने भारतीय समाज के सभी तत्वों को धर्म जाति से ऊपर उठाकर उनकी योग्यता और सुल्तान के प्रति वफादारी के आधार पर राज्य का अंग बनाया। नई शासक श्रेणी ने एक केंद्रबद्ध राज्य का ढांचा स्थापित करने में मदद की। इस तरह मंगोलों के विरुद्ध राज्य की सुरक्षा के लिए यह सभी तत्वों का एक संगठित और सफल प्रयास था। इल्तुतमिश से मुहम्मद तुगलक तक, इन सभी शासकों में एक चीज सामान्य थी : और वहलथी मंगोलों से संघर्ष करने का उनका प्रत्यक्ष अनुभव। मंगोलों के ऊपर विजय से न केवल उनकी स्थिति सुरक्षित हुई बल्कि इस सफलता ने उनको उच्चतर स्थिति में भी पहुंचाया।

शासक वर्ग की उन्नति अथवा अवनति लड़ाई में उनके प्रदर्शन पर निर्भर करती थी। मंगोलों के ऊपर विजय का अर्थ था सूबेदारी और अक्ता की प्राप्ति। उनमें से कुछ अमीरों ने ज्यादा अधिकार और सुविधाओं की मांग की भी थी; और जब वह मांग मंजूर नहीं हुई, तो उनके पास खुद को स्वतंत्र घोषित करने या मंगोलों से मदद मांगने का विकल्प खुला था। जफर खां जैसे अमीरों की लगातार विजयों ने अलाउद्दीन को उसे अपना प्रतिस्पर्धी मानने के लिए बाध्य किया और उसने उसे मार डालने की योजनाएं भी बनाईं : हालांकि वह मरा मंगोलों से लड़ते हुए ही।

मंगोल आक्रमण के फलस्वरूप भारत में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में इजतिहाद (Ijtihad) विचारधारा का पदार्पण हुआ। इसने भी कुछ हद तक विविध परिवर्तन का मार्गदर्शन किया। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात थी इजतिहाद विचारधारा के भारत में पदार्पण से स्वतंत्र तर्कवाद (spirit of free enquiry) की राजनीतिक विचारधाराओं के पनपने में सहायता मिली।

इस तरह दिल्ली सल्तनत के पतन के लिए मंगोल आक्रमण कहां तक उत्तरदायी थे? सबसे पहले इल्तुतमिश ने कूटनीति से सल्तनत पर छाए हुए मंगोलों के खतरें को टाला। फिर थोड़े--थोड़े अन्तराल के बाद यह आक्रमण मुहम्मद तुगलक के शासनकाल तक जारी रहे। बल्बन, अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक मंगोलों के आक्रमण के प्रात सजग थे और उन्हें रोकने में पूर्णतया सफल रहे। मंगोल आक्रमणों का सामना करने में दिल्ली सुल्तानों को काफी धन व्यय करना पड़ा और बड़ी संख्या में सैनिक मारे गए। परन्तु ऐसा नहीं लगता कि इससे सल्तनत की शक्ति विशेष कमजोर हुई। परन्तु कभी--कभी इससे लगे आघात बड़े थे, कुल मिलाकर इन्होंने सल्तनत की अर्थव्यवस्था और राज्य तंत्र को नुकसान ही पहुंचाया।

क्षेत्रीय राज्यों का उदय

सल्तनत की स्थापना के समय से ही दिल्ली के सुल्तानों और उनके अमीरों के बीच संघर्ष चल रहे थे। लेकिन जब केन्द्रीय शक्ति मजबूत थी तो विद्रोह सफलतापूर्वक दबा दिए गए। मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में 1347 ई. में **बहमनी** राज्य की स्थापना के समय पहली बार राज्य के विघटन के लक्षण दिखाई दिए परन्तु अगले काफी वर्षों तक सल्तनत सलामत बनी रही। फिरोज तुगलक की मृत्यु होने से पूर्व ही दिल्ली सल्तनत का विघटन होने लगा। सबसे पहले तो फिरोज के सबसे बड़े शहजादे मुहम्मद और वजीर खान--ए--जहां द्वितीय के बीच सत्ता हेतु संघर्ष चल रहा था शहजादा मुहम्मद सुल्तान फिरोज को अपने पक्ष में करने में कामयाब हो गया और उसने खान--ए--जहां को हटा दिया। उसे फिरोज ने सभी शाही प्रतीक प्रदान कर दिए एवं सुल्तान पद में साझीदार बना लिया किन्तु सुल्तान के दासों ने जिनकी संख्या बहुत अधिक थी, इस व्यवस्था को पसन्द नहीं किया। जो संघर्ष शुरू हुआ उसमें फिरोज ने अपने दासों का साथ दिया और शहजादे मुहम्मद को हटा दिया गया। शीघ्र ही फिरोज (1388 ई.) की मृत्यु हो गई एवं उसके पुत्रों और पौत्रों के बीच राजगद्दी हथियाने के लिए संघर्ष शुरू हो गया।

दासों के समूह ने सुल्तान निर्माता की भूमिका निभाने की कोशिश तो की लेकिन वह सफल नहीं हुआ। कई शहजादे थोड़े–थोड़े समय के लिए सुल्तान बनते रहे और अंत में नासिरूद्दीन महमूद ने 1394 ई. में राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। वह राजगद्दी पर तब तक बना रहा जब तक कि सन् 1412 ई. में तुगलक राजवंश का सफाया न हो गया। इस बीच इक्तों में स्थित हाकिमों ने अपनी–अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करनी शुरू कर दी। यद्यपि यहां प्रत्येक राज्य का विस्तारपूर्वक उल्लेख कर पाना संभव नहीं, तथापि संपूर्ण परिदृश्य के चित्र को स्पष्ट रूप से स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि इस तरह के राज्यों में घटी महत्वपूर्ण

घटनाओं की जानकारी को प्रकाश में लाया जाए। यहां पर दिल्ली सल्तनत के विघटन के समय जौनपुर, बंगाल, मालवा, गु[illegible] व कश्मीर के मुस्लिम राज्यों का लेखा–जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास मात्र है।

जौनपुर राज्य–अपनी सांस्कृतिक विरासत के लिए मशहूर नगर जौनपुर की नींव फिरोज तुगलक ने डाली थी। 1394 ई. में मुहम्मद तुगलक द्वितीय ने अपने दरबार के ख्वाजा जहान नाम से प्रसिद्ध प्रभावशाली किन्नर को मलिक–उश–शर्क (अर्थात पूर्व का अमीर) बनाया और जौनपुर को उसका मुख्यालय बनाया गया। इन दिनों दिल्ली सल्तनत का नियंत्रण इतना कमजोर पड़ गया था कि राज्यों में हर सूबेदार व्यावहारिक रूप से स्वतंत्र हो गया था। 1398 ई. में तैमूर लंग की मारकाट ने जिस समय दिल्ली सरकार को मटियामेट कर दिया उस समय ख्वाजा जहान के दत्तक पुत्र ने मौके का फायदा उठाया और सन् 1399 ई. में मुबारक शाह शर्की के नाम से अपने को स्वतंत्र घोषित कर लिया। नए बने सुल्तान का उत्तराधिकार जल्द ही 1400 ई. में उसके छोटे भाई इब्राहीम को मिल गया और उसने चालीस साल तक इस समृद्ध राज्य का शासन अच्छी तरह से चलाया। इब्राहीम के पुत्र महमूद की गणना भी सफल शासकों में की जाती है। स्वतंत्र सुल्तानों में अंतिम शासक हुसैनशाह को सन् 1476 में या उसके आस–पास बहलोल लोदी ने पराजित किया और उसे भगाकर बंगाल में अपने ही नामधारी व्यक्ति के पास पनाह लेने को मजबूर कर दिया।

सिकंदर लोदी के शासनकाल के आरंभ में इस बात की कोशिश की गई कि उसके बड़े भाई बारबकशाह को संपूर्ण प्रभुतासंपन्न रूप में जौनपुर दे दिया जाए लेकिन यह प्रयास नाकाम रहा। इसी मामले को लेकर लड़ाई भी हो गई। जिसमें कामयाबी दिल्ली के हाथ लगी।

इब्राहीम लोदी के राज्यारोहण के समय यह प्रयोग पुनः दुहराया गया और वह फिर असफल रहा। इब्राहीम के भाई जलाल खां को जौनपुर का सुल्तान बनाया गया पर उसे शीघ्र ही हराकर मार डाला गया। उस समय से इस 'पूर्वी राज्य' ने फिर कभी अपने स्वतंत्र अस्तित्व का दिखावा नहीं किया।

जौनपुर वंश के सभी शासकों ने फारसी–अरबी साहित्य को संरक्षण प्रदान किया। विविध हिंदू स्थापत्य शैलियों के समावेश से विशेष शैली में जौनपुर में बनी मस्जिदों का समूह समकालीन प्रमुख स्मारक है। ये इमारतें प्रायः भारी–भरकम हैं, उनमें मीनार नहीं है और उनकी विशेषता ढलवां के साथ राजसी दरवजों का निर्माण है। इन इमारतों का निर्माणकाल इब्राहीम, महमूद और हुसैनशाह काल ठहरता है।

बंगाल का राज्य

बंगाल के स्वतंत्र होने का समय सन् 1340 से माना जा सकता है और यह मुहम्मद तुगलक के खिलाफ फखरूद्दीन की बगावत का सीधा नतीजा था। कुछ वर्षों बाद फिरोजशाह तुगलक ने बागी राज्यों के प्रति दिल्ली की प्रभुसत्ता को तिलांजलि दे दी। बंगाल सन् 1576 तक एक पृथक शासन के रूप में तब तक कायम रहा जब तक कि अकबर के सेनापतियों ने अंतिम अफगान शासक दाऊदशाह को पराजित कर मौत के घाट नहीं उतार दिया। सन् 1340 से 1526 के बीच दिल्ली सल्तनत का राजनीतिक रूप से जाने और बंगाल में शासन करने वाले विभिन्न वंशों के उतार–चढ़ाव से संबंधित कुछ ऐसी घटनाएं घटित हुईं जिनमें से कुछ के विशेष महत्व है।

अलाउद्दीन हुसैन शाह

बंगाल के मुस्लिम सुल्तानों में श्रेष्ठ और विख्यात अलाउद्दीन हुसैन शाह (1493-1518 ई.) को माना जाता है। वह अरबी मूल का सैयद था और शमसुद्दीन मुजफ्फरशाह के शासनकाल में वजीर था। मुजफ्फरशाह को जब गद्दी से उतारकर मार डाला गया तब मुखिाओं ने सर्व–सम्मति से हुसैन शाह को शासक चुन लिया और उसने इस चुनाव को ठीक साबित भी किया। यही कारण है कि उसका नाम आज भी समूचे बंगाल में जाना जाता है। यह अजीब संयोग रहा है कि चौबीस साल तक उसके शासनकाल के दौरान एक भी विद्रोह नहीं हुआ। "प्रजा के प्रिय और आसपास के प्रदेशों में सम्मानित शासक के रूप में शांतिपूर्वक सुख भोग कर उसने गोर में अंतिम सांस ली।

नुसरत शाह

हुसैन शाह के अठारह पुत्र थे। अमीरों ने उसके सबसे बड़े बेटे नुसरत शाह को उसका उत्तराधिकारी चुना। उसने अपने भाइयों के प्रति स्नेह और उदारता का व्यवहार किया। उसने तिरहुत पर अधिकार कर लिया और बाबर से सम्मानपूर्वक शांति संधि की। कहा जाता है कि अपने आखिरी वर्षों में वह दुष्ट और अत्याचारी हो गया था।

गौर और बंगाल के अन्य पुराने नगरों की मस्जिदें पुरी तरह एक विशिष्ट शैली में ईंटों से बनाई गई हैं। इनमें गौर का हुसैन शान का मकबरा, उसके शासनकाल में बनी सुनहरी मस्जिद, और नुसरत शाह के समय बनी बड़ी सुनहरी मस्जिद तथा कदम रसूल समकालीन विशिष्ट स्मारक हैं। गौर से बीस मील दूर पांडुआ की विशाल अदीना मस्जिद सिकंदर शाह ने सन् 1368 में बनवाई थी। उसमें करीब चार सौ गुंबद हैं और वह बंगाल की सबसे उल्लेखनीय इमारत मानी जाती है। गौर के विस्तृत खंडहर बीस से तीस वर्गमील के बीच के इलाके में फैले हुए हैं।

बंगला साहित्य के एक प्रसिद्ध पुराने इतिहासकार दिनेशचद्र सेन ने कहा है कि बगला मे सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रथ सस्कृत रामायण की कृतिवास द्वारा अनूदित बंगला–रामायण है। कृतिवास का जन्म सन् 1346 में हुआ था तथा इस ग्रंथ को बंगला की 'बाइबिल' कहा जाता है। बंगाल में इस ग्रंथ का वही स्थान है जैसा कि द्वारा रचित रामचरितमानस का उत्तर भारत में है। बंगाल के सुल्तान ऐसे भी थे जो भारतीय साहित्य के सौष्ठव के प्रति उदासीन नहीं थे। नुसरत शाह के हुक्म से महाभारत का एक बंगला संस्करण भी तैयार कराया गया था। इस काव्य का आरंभिक वर्णन चौदहवीं सदी का माना जाता है और दूसरा हुसैन शाह के समय का जो सेनापति परागल खां के हुक्म से तैयार किया गया था। पुराने बंगला साहित्य में इस बात के पर्याप्त उल्लेख हैं कि सुल्तान हुसैन शाह की प्रति हिंदू बहुत अधिक आदर और निष्ठा रखते थे। वस्तुतः सच्चाई यह है कि "हिंदू राजाओं के दरबारों में बंगला भाषा को मान्यता मिलने से पूर्व मुस्लिम सुल्तानों ओर सरदारों ने सबसे पहले बंगला को अपना संरक्षण एवं समर्थन प्रदान किया जब कि हिंदू राजा ब्राह्मण अध्यापकों को प्रेरणावश संस्कृत भाषा का अधिक प्रोत्साहन देना चाहते थे।'

मालवा राज्य

इल्तुतमिश ने तेरहवीं सदी के आरंभ में मालवा पर हमला किया था। सन् 1310 में अलाउद्दीन खलजी के एक अधिकारी ने उसे कमोबेश अपने अधिकार में कर लिया और फिर दिल्ली सल्तनत का पतन होने तक मालवा मुस्लिम सूबेदारों के शासन में बना रहा।

सन् 1398 में तैमूर के हमले के थोड़े ही समय बाद गौर के सूबेदार शिहाबुद्दीन मुहम्मद ने सुल्तान शिहाबुद्दीन गोरी का नाम अपनाया और वह नया सुल्तान बन बैठा। किंतु वह अपनी नई स्थिति का उपभोग कुल चार साल तक ही कर पाया। यह विचार भी व्यक्त किया गया है कि उसने सबसे बड़े पुत्र ने उसे जहर देकर मार डाला। इस तरह स्थापित स्वतत्र राज्य सन् 1401 से 1531 तक चल सका और बाद में गुजरात ने उसे अपने कब्जे में ले लिया। चार साल बाद हुमायूं ने यह देश अस्थायी तौर पर अपने अधीन कर लिया। लेकिन मुगल साम्राज्य का हिस्सा वह पूरी तरह से अकबर के शासनकाल के आरंम्भिक वर्षों (1561-64) में ही बन पाया। मालवा के मुस्लिम राज्य के राजनीतिक वृत्तांतों में स्थायी दिलचस्पी के तत्व बहुत थोड़े हैं—जिनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं मांडू की शानदार इमारतें।

धार या धारानगरी मालवा की परमार–कालीन राजधानी थी। मालवा के प्रसिद्ध विद्वान और विद्याप्रेमी शासक भोज के शासनकाल में धार एक प्रसिद्ध नगर था। लेकिन होशंगशाह की पदवी धारण करने वाले मालवा के एक मुस्लिम ने अपना दरबार मांडू स्थानांतरित कर लिया। यहां उसने अनेक उल्लेखनीय स्मारक बनवाए। इसी बीच गुजरात के साथ लड़े एक युद्ध में वह पराजित हुआ और साल भर तक गुजरात में बंदी भी बना रहा। लेकिन उसे फिर गद्दी पर बैठा दिया गया। गुजरात के शासकों के अनुग्रह से प्राप्त इस सत्ता पर वह सन् 1432 तक बना रहा। बाद में उसका पुत्र और गौरी वंश का तीसरा अंतिम शासक सुल्तान महमूद उसकी जगह गद्दी पर बैठ गया।

खलजी वंश

सन् 1436 में सुल्तान महमूद गोरी को उसके वजीर खलजी तुर्क महमूद खां ने जहर देकर मार डाला और तख्त पर कब्जा करके खलजी वंश की नींव डाली जो करीब एक शताब्दी तक चलता रहा। वह मालवा के समकालीन सुल्तानों में सबसे अधिक विख्यात हुआ और उसने अपना अधिकांश जीवन गुजरात के सुल्तानों, राजस्थान के विभिन्न राजाओं और बहमनी सुल्तानों जैसे अपने पडोसियों से युद्ध करते रहने में बिताया। फरिश्ता ने महमूद द्वारा अवैध और अनियमित तरीके से गद्दी हासिल करने को नजरअंदाज करके उसके न्याय को प्रशंसनीय बताते हुए उसका सामान्य चरित्र अच्छा बताया है। उसके अनुसार "सुल्तान महमूद विनम्र, साहसी, न्यायप्रिय और विद्वान था और उसके शासन में उसकी मुस्लिम और हिंदू, दोनों ही प्रजाएं सुखी थीं उनमें आपस में दोस्ताना मेल–जोल कायम रहता था। ऐसा कोई वर्ष मुश्किल से ही जाता होगा जब कि वह मैदान में न उतरता हो। इस तरह शिविर उसका घर बन गया था और युद्ध का मैदान उसके लिए आरामगाह था। वह अपने फुरसत के क्षण दुनिया के विभिन्न राजदरबारों के इतिहासों और संस्मरणों को सुनने में व्यतीत करता था।" उसके समय में हिंदुओं के साथ सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार किया जाता था। आगे चलकर

उसी सदी में यही विवेकपूर्ण नीति हुसैन शाह ने बंगाल में अपनाई थी। चित्तौड़ के राणा के महमूद खलजी का युद्ध स्मरण [illegible] रहा होगा, क्योंकि राणा ने अपनी तथाकथित विजय की स्मृति में चित्तौड़ में विजय–स्तंभ बनवाया था। सुल्तान ने भी [illegible] का दावा करते हुए मांडू में एक सात मंजिली उल्लेखनीय मीनार बनवाई। यह स्मारक दुर्भाग्य से गिर गया और इतनी बुरी [illegible] से ध्वस्त हो गया कि उसका वास्तविक स्थान निश्चित करने में पुरातत्व विभाग को काफी दिक्कत का सामना करना पड़

सुल्तान नासिरुद्दीन

अगले सुल्तान गयासुद्दीन (1469-1501 ई.) के पुत्र नासिरुद्दीन ने उसे जहर दे दिया। नया सुल्तान जब सत्ता में आया [illegible] साबित हुआ किंतु वह 1512 ई. में बुखार से मर गया और उसकी जगह पर इस वंश का अंतिम सुल्तान उसका पुत्र महमूद द्वितीय गद्दी पर आसीन हो गया। कुछ समय बाद उसे गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने पराजित करके मार डाला। शाही परिवार के अन्य पुरुषों को देश निकाला दे दिया गया और उनमें सिर्फ एक सदस्य शेष रह गया जो सौभाग्यवश उस समय हुमायू के दरबार में था। 1531 ई. में मालवा को गुजरात में शामिल कर लिया गया।

मांडू का ध्वस्त किला नगर की ऊंची पहाड़ी के ऊपर लंबे–चौड़े मैदान में फैला है और करीब पच्चीस मील या इससे भी ज्यादा [illegible] परकोटे की दीवार से घिरा है। यहां मांडू में अभी अनेक सुपरिचित विशाल इमारतें हैं, जिनमें वास्तुकला के श्रेष्ठ नमूने मौजूद एक भव्य जामा मस्जिद, हिंडोला महल, जहाज महल, होशंगशाह का मकबरा और बाजबहादुर एवं रानी रूपमती के महल के अलावा बलुआ पत्थर और संगमरमर से बने अन्य अनेक उल्लेखनीय स्मारक शामिल हैं।

गुजरात का राज्य

हमारे अध्ययन–काल का गुजरात, उत्तर में राजस्थान के अंतर्गत सिरोही के पड़ोस और भिन्माल से लेकर दक्षिण में दक्कन के और पूर्व में मालवा की हदों से लेकर पश्चिम में समुद्र और कच्छ के रन तक फैला हुआ माना जा सकता है।

इस राज्य की मुख्य भूमि अनेक असामान्य प्राकृतिक सुविधाओं से परिपूर्ण थी। गुजरात में बहुत अधिक उपजाऊ जमीन, तैयार माल की भरपूर आपूर्ति और अनेक बंदरगाह थे। यहां अत्यंत प्राचीन काल से समृद्ध समुद्री व्यापार होता आ रहा था। उत्तर और पश्चिम भारत पर विजय प्राप्त करने वाले सभी राजवंशों का ध्यान ऐसे धन–धान्य से संपन्न प्रदेश की ओर आकर्षित हो जाना स्वाभाविक ही था। 1024 या 1025 में सुल्तान महमूद गजनवी ने अपने प्रसिद्ध सोमनाथ अभियान के दौरान सोमनाथ के मंदिर को ध्वस्त करके अपनी सेना को लूट का काफी माल बांटा था। लेकिन उस समय भी स्थायी विजय का कोई प्रयास नहीं किया गया। बारहवीं सदी के उत्तरार्ध में हुए अन्य मुस्लिम आक्रमण भी किसी प्रकार का स्थायी नतीजा प्रदान करने में असफल रहे और इस देश पर हिंदू राजवंशों का शासन बना रहा। सन् 1297 में अलाउद्दीन खलजी ने इसे दिल्ली सल्तनत में मिला लिया। इसके बाद दिल्ली सल्तनत के स्थायित्व तक दिल्ली से गुजरात में मुस्लिम सूबेदारों का नियुक्त होना जारी रहा।

सन् 1391 में नियुक्त सूबेदार जफर खां ने जो कि व्यावहारिक रूप से स्वतंत्र रहता आया था, सन् 1401 में औपचारिक तौर पर दिल्ली सल्तनत की अधीनता त्याग दी और अपने पुत्र तातार खां को नासिरुद्दीन मुहम्मद शाह की पदवी देकर सुल्तान के रूप में गुजरात के स्वतंत्र राज्य के सिंहासन पर बैठा दिया। तत्कालीन तथ्यों की छानबीन करने का ऐसा प्रतीत होता है कि इस नए सुल्तान को 1407 ई. में उसके पिता ने ही जहर दे दिया। लेकिन चार साल बाद ही इस बूढ़े आदमी को जो कि सुल्तान मुजफ्फरशाह बन बैठा था, उसके पौत्र अलप खां ने जहर दे दिया और स्वयं अहमदशाह नाम से पर आसीन हो गया

अहमदशाह

अहमदशाह ने सन् 1411 से 1441 अर्थात तीस साल तक शासन किया और उसे ही गुजरात के स्वतंत्र राज्य का वास्तविक संस्थापक माना जा सकता है। अहमदशाह ने अपनी शक्ति और कौशल को अपने साम्राज्य की सीमाए बढ़ाने और अपने [illegible] प्रशासन सुधारने में लगाया। अपने पूरे शासकाल में उसने कभी भी पराजय का मुंह नहीं देखा। उसकी सेनाओं ने [illegible] सल्तनत और असीरगढ़ तथा राजपूताना के राजाओं तथा आस–पास के अन्य प्रदेशों पर विजय प्राप्त की सुल्तान [illegible] सुल्तान फिरोजशाह बहमनी का अत्यंत करीबी मित्र था। अहमदशाह ने गुजरात में स्थापत्य के विकास में भी महान योग [illegible] और असावल के निकट अहमदाबाद नगर बसाया। नव–स्थापित अहमदाबाद नगर इतना सुंदर था कि समकालीन [illegible] अनुसार इतना सुंदर और आकर्षक नगर उन्होंने सारी दुनिया में अन्यत्र कहीं नहीं देखा।

सुल्तान महमूद बेगड़ा

अहमदशाह का पौत्र सुल्तान महमूद बेगड़ा तेरह साल की उम्र में सन् 1459 में गद्दी पर बैठा और उसने 1511 तक लगभग आधी शताब्दी तक यशस्वी ढंग से शासन चलाया। वह अपने वंश का सबसे प्रतापी शासक ही नहीं था वरन् समकालीन भारत के सर्वाधिक प्रमुख शासकों में उसकी गणना की जाती थी। उसकी उपलब्धियों और व्यक्तिगत गुण इतने उल्लेखनीय हैं कि समकालीन पर्यटक उसकी कीर्ति–कथाओं को गाथाओं के रूप में अपने साथ यूरोप ले गए। अपने राज्यारोहण के समय यद्यपि वह बालक मात्र था तथापि ऐसा लगता है कि उसने शासन के आरंभ से ही बहुत समझदारी और योग्यता से शासन करना प्रारंभ किया और अपने संरक्षक को अलग कर देने में समर्थ हो गया। उसने गुजरात के राज्य को गौरव और महानता प्रदान की। वह गुजरात के अपने पूर्ववर्ती शासकों में सर्वश्रेष्ठ था। वह न्याय के निर्वाह, उदारता के प्रदर्शन, युद्ध में विजय और इस्लामी कानूनों आदि सबके क्रियान्वयन में शक्ति, साहस और संकल्प की प्रतिमूर्ति था और बचपन से वृद्धावस्था तक उसके श्रेष्ठ व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं आया। अपने अधिकांश युद्धों में वह सर्वत्र सफल रहा। उसने बड़ौदा के पूर्वोत्तर में स्थित चांपानेर के मजबूत किले और काठियावाड़ से जूनागढ़ तक फैले विशाल भूभाग पर विजय पाई। उसने कच्छ पर सकल आक्रमण किया और अहमद नगर के निजामशाही सुल्तान के साथ–साथ अन्य अनेक समकालीन नरेशों को भी पराजित किया।

अपने शासन काल के अंतिम दिनों में उसकी पुर्तगालियों से लड़ाई हो गई थी, किंतु उसने पुर्तगालियों के खिलाफ तुर्की के सुल्तान से संधि कर ली। इस तरह उसने यूरोप के राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रसिद्धि प्राप्त की। 1507 ई. में एक गुजराती अधिकारी ने पुर्तगालियों पर हमले के लिए कुछ तुर्क सेनाओं और दस जहाजों की सहायता प्राप्त की। तुर्की की आटोमन सरकार पुर्तगालियों को भारतीय सामुद्रिक प्रदेशों से बाहर खदेड़ने के लिए बहुत उत्सुक थी। पुर्तगालियों के विरुद्ध पिछले आक्रमण के दौरान गुजराती सेनाओं को सफलता मिल गई थी और उन्होंने बंबई के दक्षिण में चोल के पास कीमती माल से लदे एक विशाल पुर्तगाली जहाज को डुबो दिया था। लेकिन दो साल बाद 1509 ई. में काठियावाड़ में दीव के पास (जो कि उस समय गुजरात में शामिल था) हुए एक युद्ध में एक गुजराती जहाजी बेड़ा नष्ट कर दिया गया। इसके बाद 1510 ई. में बीजापुर से गोआ छीन लेने के बाद पुर्तगाली, भारतीय शक्तियों के प्रतिरोध के बावजूद, अपना प्रभुत्व बनाए रखने में सफल हो गए हालांकि 1535 ई. तक वे दीव का किला नहीं जीत पाए। पुर्तगालियों के विरुद्ध महमूद बेगड़ा का प्रतिरोध इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है कि अकबर अपने तमाम प्रयासों के बावजूद पुर्तगालियों का पूरी तरह दमन नहीं कर पाया।

महमूद की व्यक्तिगत विशेषताओं को उसके समकालीन शासकों द्वारा बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता था और उसका नाम यूरोप में जाना जाने लगा था। इतालवी यात्री लुदोविको दि वारथेमा (Ludovico Di Varthema) ने उसकी कीर्ति को यूरोप तक पहुंचाया।

सुल्तान बहादुर शाह

महमूद बेगड़ा के पौत्र बहादुरशाह ने सन् 1526 के उत्तरार्ध से 1537 तक शासन किया और उसके बाद ही पुर्तगालियों के हाथों दुःखद मौत से उसके बेचैनी से भरे जीवन का अंत हो गया। मालवा के सुल्तान महमूद द्वितीय खलजी को पराजित कर सन् 1531-32 में मालवा का गुजरात में विलय करके उसने अपने महान सैनिक गौरव की स्थापना की। 1534 ई. में उसने चित्तौड़ पर आक्रमण किया जिसका विवरण इतिहास से सर्वविदित है।

अगले साल (1535 ई. में) मुगल बादशाह हुमायुं ने बहादुरशाह को पूरी तरह से पराजित करके उसे गुजरात के बाहर खदेड़ दिया और मालवा में पनाह लेने को मजबूर कर दिया। चांपानेर के किले पर हुमायूं ने बड़ी वीरता के साथ अधिकार किया पर अपने अफगान प्रतिद्वंद्वी शेरखां (बाद में शेरशाह) की आक्रामक गतिविधियों के कारण हुमायूं को पश्चिमी भारत की अपनी इस विजयस्थली से शीघ्र ही वापस जाना पड़ा। परिणामस्वरूप बहादुरशाह अपने राज्य में लौट आने में सफल हो गया।

पुर्तगालियों और गुजरात की सरकार के बीच आपसी संबंध आमतौर पर शत्रुतापूर्ण रहे, लेकिन बाद में मुगलों के दबाव के कारण बहादुरशाह को इस बात के लिए विवश होना पड़ा कि वह बेसिन के क्षेत्र का समर्पण करके पुर्तगालियों से मुगलों के विरुद्ध सहायता का वायदा कराने के लिए विदेशियों के साथ समझौता कर ले। इसी संबंध में उसे व्यापारिक केंद्र के रूप में दीव के अत्यंत महत्वपूर्ण बंदरगाह और किले के विषय में समझौते के प्रसंग में उसे पुर्तगाली गवर्नर नुनो दा कुन्हा (Nuno da Cunha) से समझौता–वार्ता के लिए पुर्तगाली जहाज पर जाना पड़ा। उक्त जहाज पर घटित घटना के बारे में कम–से–कम आठ तरह के अलग–अलग वृत्तांत मिलते हैं जिनमें चार पुर्तगाली हैं और चार मुस्लिम। इनमें एक विवरण लगभग स्वीकार किया जाने लगा है कि

गुजरात का सुल्तान जहाज से उस समय गिर गया जब कि वह समुद्र में जा रहा था। उसी समय एक नाविक ने उसके सिर पर प्रहार किया। सुल्तान की उम्र उस समय कुल इकत्तीस साल की थी। दीव के बंदरगाह के कप्तान मैनुअल डिसूजा (Manuel de Souza) को भी इसी समय अपनी जान से हाथ धोना पड़ा।

सन् 1537 में बहादुरशाह की मृत्यु के समय से लेकर 1572-73 ई. में अकबर द्वारा राज्य को हथिया लिए जाने तक का गुजरात का इतिहास जटिल घटना–चक्रों का दस्तावेज है जिसका वर्णन करना यहां उपयुक्त नहीं होगा।

हमारे अध्ययन–काल में गुजरात में एक विशिष्ट कला–विधि का विकास हुआ। यह कलात्मक उपलब्धि थी वास्तुकृतियों में प्रयुक्त लकड़ी पर बहुत सुंदर नक्काशी। इस नक्काशी से भवन अपूर्व सुंदर हो गए। गुजरात के मुस्लिम शासकों ने थोड़े–बहुत परिवर्तनों के साथ गुजरात की पुरानी हिंदू और जैन वास्तुकला के आकर्षक रूप को अपनाया और अहमदाबाद, खंभात तथा अन्य अनेक नगरों को ऐसी इमारतों के समूहों से भर दिया, जो वास्तु सौंदर्य की दृष्टि से अद्वितीय थे और जिन्हें पत्थर की अत्यंत बारीक जाली एवं अन्य अलंकरणों के द्वारा सुसज्जित किया गया था। इन उत्कृष्ट इमारतों की दृष्टि से अहमदाबाद विशेष रूप से समृद्ध है और अपनी स्थापना से लेकर अठारहवीं सदी तक लगभग तीन शताब्दी लंबे अपने गौरवशाली अस्तित्व काल में वह निर्विवाद रूप से दुनिया के सबसे खूबसूरत नगरों में से एक रहा है।

कश्मीर का राज्य

चौदहवीं सदी के आरंभ में ही शाहमिर्जा अथवा मीर नामक स्वात के साहसकर्मी मुसलमान ने (जो कि कश्मीर के राजा का मन्त्री रह चुका था) कश्मीर के सिंहासन पर अधिकार कर लिया और वहां एक मुस्लिम वंश की स्थापना की जो लगभग सवा सौ शताब्दी के मध्य तक स्थायी रहा। अल्पकालिक चाक वंश को अकबर ने 1586 में नष्ट कर दिया।

सुल्तान सिकंदर

सन् 1398 में हुए तैमूर के आक्रमण के समय कश्मीर पर इस वंश का छठा सुल्तान सिकंदर (लगभग 1386-1410) शासन कर रहा था। सिकंदर के शासन की सबसे महान सफलता तैमूर के संभावित आक्रमण से कश्मीर की रक्षा थी। सिकंदर सांवले रंग का क्रूर प्रकृति का रौबीला व्यक्ति था।

सुल्तान जैनुल आबिदीन

सन् 1417 तक लगभग आधी सदी का लंबा और समृद्धिपूर्ण शासन चलाने वाला आठवां सुल्तान जैनुल आबिदीन बिल्कुल दूसरी किस्म का व्यक्ति था। उसने सर्वव्यापी सहिष्णुता की नीति अपनाई, कश्मीर के निर्वासित ब्राह्मणों को वापस बुलवा लिया और नए मंदिरों के निर्माण की अनुमति प्रदान की। वह मांस खाने से दूर रहा और उसने गौ हत्या पर रोक लगा दी। उसे संतों के समान आदर प्राप्त हुआ जो उसके व्यक्तित्व को देखते हुए उचित ही था। उसने साहित्य विकास को भारी प्रोत्साहन दिया तथा संस्कृत, अरबी और अन्य भाषाओं की महत्वपूर्ण रचनाओं के अनेक अनुवाद कराए। इन बातों में अकबर से काफी समानता थी।

कश्मीर के अन्य सुल्तानों के शासनकाल इतने महत्वपूर्ण नहीं है कि यहां उनके शासन की घटनाओं को शामिल किया जाए। इसके कुछ समय बाद ही मिर्जा हैदर दुगलत नामक हुमायूं के एक रिश्तेदार ने कश्मीर घाटी पर हमला किया और ग्यारह वर्ष (1541-52) तक हुमायूं की ओर से केवल नाममात्र के लिए सूबेदार के रूप में (लेकिन व्यवहार में स्वतंत्र राजा के समान) कश्मीर पर शासन करता रहा। किंतु कुछ ही वर्ष बीते थे कि वहां के सिंहासन पर चौक वंश ने अधिकार कर लिया।

तैमूर का आक्रमण (1398-99 ई.)

दिल्ली सल्तनत के विघटन की परिणति तैमूर के हाथों हुई जिसने 1398-99 ई. में दिल्ली और उसके समीपवर्ती इलाकों को लूटा और तबाह कर दिया। यद्यपि तैमूर के पुत्र ने 1396-97 ई. में उच्छ एवं दीपालपुर को जीत लिया था तथा मुल्तान को घेर लिया था, किन्तु दिल्ली के शासकों ने इस खतरे का मुकाबला करने के लिए अथवा तैमूर के आक्रमण का सामना करने की कोई तैयारी नहीं किया था।

तैमूर अप्रैल 1398 में समरकंद से रवाना हुआ और उसने मार्ग में सूचना पाई कि मई 1398 में पीर मुहम्मद ने मुल्तान और उच्छ पर अधिकार कर लिया है। मार्ग में दुर्गों का निर्माण तथा समरकंद से अपना संबंध अविच्छिन्न रखने की व्यवस्था करता हुआ तैमूर सितंबर मास में सिंधु तट पर पहुंचा। सिंधु पार करके उसने स्थानीय शासक शहाबुद्दीन मुबारकशाह को पराजित किया और झेलम पार कर इसके बाद वह तलम्बा पहुंचा वहां के नागरिकों ने धन देने का वचन देकर अभयदान पाया। परंतु जब धन एकत्रित किया जा रहा

था तब किसी बात पर झगडा हो गया और तैमूर ने समस्त जनता की हत्या का आदेश निकाल दिया। इसके पश्चात् उसने खोखरों को पराजित करके उत्तरी मार्ग को सुरक्षित बनाया और पीर मुहम्मद के आने पर उसे दक्षिण पार्श्व का संचालक नियुक्त किया।

अब तैमूर वेगपूर्वक आगे बढ़ने लगा। सीमा की रक्षा का कोई समुचित प्रबंध नहीं था। दिल्ली का सुल्तान मल्लू खां के हाथ की गुडिया मात्र था। सेना जर्जर एवं दुर्बल थी। अस्तु, तैमूर को मार्ग में विशेष बाधा नहीं हुई। पाकपट्टन, दीपालपुर, सिरसा, फतेहाबाद, समाना कैथल, पानीपत आदि नगरों और मार्ग के ग्रामों को रौंदता तथा नष्ट करता हुआ वह दिसंबर के प्रारंभ में दिल्ली के समीप पहुंच गया। तैमूर का साधारण नियम यह था कि वह पहले नगर पर आक्रमण करता था। जब वहां की जनता रक्षा के लिए प्रार्थना करती तब वह धन की मांग करता। इस आधार पर समझौता हो जाने के पश्चात् उसके सैनिक नगर में प्रवेश करते और किसी-न-किसी बहाने झगड़ पड़ते। उसी को बहाना बनाकर सारा नगर लूट लिया जाता और नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाता था। कहीं तैमूर के शत्रुओं को छिपाने का अभियोग लगाया जाता, कहीं सैनिकों के अपमान की बात कही जाती और कहीं समझौता तोड़ने का अपराध मढ़ा जाता। परंतु होता सर्वत्र वही था। नगर में बहुत से स्त्री-पुरूष पकड़ भी लिये जाते थे और उनको दास बनाकर सैनिकों में बांट दिया जाता था।

दिल्ली के निकट आने पर जब उसका अधिकार लोनी पर हुआ तो उसने बिना कारण वहीं वहां की हिन्दू जनता का वध करा दिया। परंतु मार्ग के नगरों में उसने हिन्दू मुसलमान का भेद किये बिना सभी को समान रूप से लूटा था और अपमानित किया था एवं वध किया था।

दिल्ली की सेना से पहली मुठभेड़ में तैमूर की पराजय हुई। इसको देखकर वे एक लाख बंदी जो तैमूर की सेना में विद्यमान थे हर्षित हुए। यह देखकर तैमूर ने इन सबके वध का आदेश निकाल दिया और मौलाना नासिरूद्दीन उमर जिन्होंने कभी एक चिड़िया भी नहीं मारी थी पंद्रह मनुष्यों की हत्या करने के लिए बाध्य हुए। तैमूर के निकट मानव-जीवन का जैसे कोई मूल्य ही नहीं था।

17 दिसंबर को महमूद की सेना और तैमूर में युद्ध हुआ। दिल्ली की सैना शीघ्र ही तितर-बितर हो गई और सुल्तान प्राण बचाकर गुजरात की ओर भागा। उसका संरक्षक बरन की ओर भागा और राजधानी की जनता तैमूर के अत्याचारों की कल्पना मात्र से थर्रा गई। दिल्ली में भी वही हुआ जो अन्य नगरों में हुआ था। कई दिन तक लूट, बलात्कार और हत्या का ताण्डव नृत्य होता रहा। दिल्ली-वासियों ने यथा-साध्य विरोध किया परंतु असंगठित नागरिक जनता सैनिकों का सामना किस प्रकार कर सकती। फलतः भीषण हत्याकांड हुआ। **सीरी**, **जहां-पनाह** तथा **पुरानी दिल्ली** की बस्तियां उजड़ गईं, स्थान-स्थान पर मृत व्यक्तियों के मुण्डों के स्तम्भ खड़े हो गये और सभी कारीगार पकड़ कर तैमूर के मध्य एशियाई साम्राज्य में भेज दिये गये।

दिल्ली की लूट में तैमूर को अतुल संपत्ति प्राप्त हुई। उसे लेकर वह फीरोजाबाद, वजीराबाद, मेरठ, हरिद्वार, जम्मू आदि होता हुआ मार्च 1399 में लाहौर पहुंचा। प्रायः सभी स्थानों में उसे विरोध का सामना करना पड़ा परंतु विजय सदा उसी की हुई और लूट-मार हत्या आदि का क्रम वैसा ही रहा जैसा कि आने के समय रहा था। मार्ग में खिज्र खां और बहादुर नाहिर ने उससे भेंट की तथा उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। लाहौर में तैमूर ने एक दरबार किया और खिज्र खां को लाहौर, मुलतान और दिपालपुर का शासक नियुक्त किया। इसके बाद उसने सब सरदारों को अपने-अपने प्रांतों में जाने का आदेश दिया और वह स्वयं भी समरकंद लौट गया।

तैमूर के मार्ग में पड़ने वाला समस्त क्षेत्र वीरान और उजाड़ हो गया और वहां बहुत अव्यवस्था फैल गई। दिल्ली में कोई स्वामी नहीं था। नगर बिल्कुल उजड़ गया, अनेक भव्य इमारतें नष्ट हो गईं तथा मृत शरीरों के सड़ने के कारण महामारी फैल गई। आग और लूट के कारण अन्न भी नष्ट हो गया और कृषि के जला देने के कारण अकाल फैल गया। इस दशा में दिल्ली का दृश्य बड़ा भयावह हो गया और कुछ समय तक वहां बस सकना कठिन हो गया।

भारतीय जनता और विशेषकर हिन्दुओं को धन-जन की अपार क्षति सहन करनी पड़ी। तैमूर यहां से केवल धन-सामग्री ले ही नहीं गया वरन् जो ले जाना संभव नहीं था उसे नष्ट करता गया। इस क्षति को पूरा करने में अनेक वर्ष लग गये। हिन्दुओं के मन में इस्लाम के प्रति जो अश्रद्धा फीरोज के कृत्यों के कारण उत्पन्न हुई थी वह सौ-गुनी बढ़ गई क्योंकि तैमूर ने यह सब अनाचार और हत्याकाण्ड धर्म-प्रसार के नाम से किया था।

1398 ई. में समरकंद के अमीर तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया। तैमूर बर्लास तुर्कों में से एक था और उसने अपने व्यक्तिगत शौर्य द्वारा चगताई तुर्कों की अध्यक्षता प्राप्त कर ली थी। उसकी इच्छा भारत पर आक्रमण करने की हुई। आक्रमण का वास्तविक कारण था साम्राज्य लिप्सा तथा भारत की राजनैतिक विशृंखलता। परंतु तैमूर ने अपने सरदारों तथा अमीरों के सामने इसे धार्मिक कर्तव्य का रूप देने की चेष्टा की।

उसने पहले सन् 1397 में अपने पौत्र पीर मुहम्मद को भारत पर आक्रमण करने के लिए भेजा। पीर मुहम्मद ने सिंधु पार किया और मुल्तान का घेरा डाला। वहां पर उस समय सारंग खां का अधिकार था। पीर मुहम्मद ने जब सारंग खां के पास तैमूर की अधीनता

स्वीकार करने का संवाद भेजा तब उसने इसे अस्वीकार किया और कहला भेजा कि भिक्षा मागने से साम्राज्य प्राप्त [illegible] उसके लिए चाहिए बाजू में ताकत और तलवार में धार। पीर मुहम्मद ने तैमूर को उसकी शक्ति और प्रतिक्रिया का विव[illegible] भेजा। अब तैमूर ने स्वयं भारत की ओर आने का निश्चय किया।

उसने अपने मंत्रियों और सेनापतियों को एकत्रित किया और उनके सामने अपनी गाजी बनने की इच्छा का जिक्र किया। [illegible] कहा कि मेरी इच्छा है कि मैं विर्धमियों पर आक्रमण करके गाजी का पद प्राप्त करूं। मैंने जब कुरान का फाल (शकुन निकाल) तो उसमें भी इसका समर्थन मिला। अस्तु मैं चाहता हूं कि आप लोग निश्चय करें कि भारत पर आक्रमण करना उचित होगा [illegible] वीन पर।

इस पर एक व्यक्ति ने कहा कि भारत की विजय तभी संभव हो सकती है जब मार्ग की चार विकट बाधाओं का प्रतिकार कि जा सके। भारत–विजय में पहली प्रधान बाधा है वहां की पांच विशाल नदियां जो काश्मीर के पहाड़ों से निकलकर अरब सागर गिरती हैं और जिनको नाव और पुल के बिना पार नहीं किया जा सकता। जहां की दूसरी बाधा है घने जंगल जिनको भेद कर आगे बढ़ना बहुत दुष्कर है क्योंकि पेड़ और लताएं इस प्रकार चिपटी रहती हैं कि मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। तीसरे, भारत के वन प्रदेशों में अनेक सुन्दर दुर्ग हैं और वहां के सैनिक, भूमिपति तथा राजे दुर्घर्ष योद्धा हैं। चौथे, वहां एक भीमकाय पशु होता है सैनिक और खुडसवार दोनों को एक साथ पकड़ कर इस प्रकार घुमाकर पटकता है कि उनके चीथड़े निकल आते हैं

एक दूसरे वर्ग ने इसका प्रतिवाद किया और कहा कि सुल्तान महमूद ने केवल तीस हजार अश्वारोहियों की सहायता से इन सभ बाधाओं पर विजय प्राप्त कर के भारत की संपत्ति प्राप्त की थी तब अमीर को इन बाधाओं से क्या भय हो सकता है क्योंकि उसके पास तो एक लाख सैनिक प्रस्तुत हैं। भारत–विजय द्वारा जो विपुल धनराशि प्राप्त होगी उसे सैनिक समृद्ध हो जायंगे, राजकोष भर जाएगा तथा अन्य विजयें सुगम हो जायेंगी।

राजकुमार शाहरुख ने कहा कि भारतवर्ष एक समय फारस के साम्राज्य का अंग रहा था। अमीर ने फारस को वश में कर लिया है इसलिए उसे भारत पर अधिकार करके अपना यश बढ़ाना चाहिए। राजकुमार मुहम्मद सुल्तान ने कहा कि भारत में विधर्मियों का निवास है इसलिए उस पर आक्रमण करना हमारा धार्मिक कर्त्तव्य है। साथ ही वहां पर सोने–चांदी, हीरे–मोती आदि के विपुल भण्डार है तथा वहां की भूमि अत्यंत उर्वर है। इस कारण भारत–विजय आर्थिक दृष्टि से भी हितकर है। इस बात के समर्थन करते हुए, वजीरों ने कहा कि भारत की वार्षिक आय 6 अरब है।

परंतु कुछ सरदारों ने इसका विरोध किया। उन्होंने कहा कि यह ठीक है कि ईश्वर की कृपा से हम भारत पर विजयी हो सकते हैं। परंतु यदि विजय के पश्चात् हम वहां स्थायी रूप से बस गये तो हमारी जाति पतित हो जाएगी और कुछ पीढियो के बाद हमारे वंशधर भी अपनी शक्ति और शूरता खो बैठेंगे और वे भी वहां के निवासियों के समान हो जायेंगे। यह सुनकर कुछ निराशा सी छा गई। तब तैमूर ने कहा,

"भारत पर आक्रमण करने में मेरा उद्देश्य यह है कि हम लोग विधर्मियों के विरुद्ध सेना ले जाकर मुहम्मद के सिद्धान्त के अनुसार उनको सद्धर्म में दीक्षित करें और देश को कुफ्र तथा बहु–ईश्वरवाद के कलुष से मुक्त कर और उनके देवालयों तथा मूर्तियों का विध्वंस करके खुदा के समक्ष गाजी और मुजाहिद के रूप में प्रगट हों।"

उलेमा ने भी कहा कि तैमूर का उद्देश्य धर्मानुकूल है और उसमें सहयोग करना प्रत्येक में मुसलमान का कर्त्तव्य है। अस्तु विरोध समाप्त हो गया और आक्रमण की तैयारी होने लगी।

इस विवरण से विदित होता है कि तैमूर अपनी साम्राज्य–विस्तार की योजना को धर्म का स्वरूप देना चाहता था। परंतु जब उसने सेनापतियों का विरोध देखा तो

तैमूर ने दिल्ली व उसके आस पास के क्षेत्र में मृत्यु व विनाश का तांडव ही नहीं किया, अपितु भारतीय संग–तराश राजमिस्त्रियों समेत भारी संख्या में दासों को भी पकड़कर अपने साथ ले गया ताकि वह समरकंद में अपने भवना का अलकरण कर सके। उसने लाहौर, दीपालपुर एवं मुल्तान को अपने राज्य में शामिल भी कर लिया। बाद में बाबर ने इसी को भारत पर [illegible] दावे का आधार बनाया दिल्ली सल्तनत को इस आक्रमण से बहुत हानि पहुंची। उसका तो एक प्रकार से विनाश ही [illegible] राजधानी ध्वस्त, राजकोष रिक्त, राजा व वजीर पलायनकारी। इस स्थिति में सल्तनत विघटन के कगार पर आ खड़ी हुई

इस प्रकार दिल्ली सल्तनत के पतन के लिए किसी एक सुल्तान को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। मध्यकालीन विघटन के क्षेत्रीय कारक बहुत मजबूत थे, साथ ही, ऐसे बहुत से सरदार थे जिनको या तो अपने कुल–जाति का समर्थन अथवा किसी क्षेत्र विशेष से मजबूत संबंध थे और वे जब कभी भी केन्द्रीय सरकार से तनिक सी भी कमजोरी [illegible] करने को तत्पर हो जाते थे।

अध्याय-10

क्षेत्रीय राज्य : जौनपुर; मालवा; गुजरात (Regional States : Jaunpur; Malwa; Gujarat)

1398 ई. में दिल्ली पर तैमूर के आक्रमण ने तुगलक राजवंश के पतन और दिल्ली सल्तनत के अंत की प्रक्रिया को तीव्र कर दिया। तैमूर के आक्रमण के पूर्व भी दिल्ली सल्तनत की कमजोरी प्रगट हो चुकी थी, क्योंकि सल्तनत के दो सुल्तान हो चुके थे। एक सुल्तान फिरोजाबाद से शासन कर रहा था और दूसरा दिल्ली से। इसके अलावा कई क्षेत्र दिल्ली सल्तनत के नियन्त्रण से स्वतंत्र हो चुके थे। दक्खन के राज्य, पूर्व में बंगाल एवं पश्चिमी में सिन्ध व मुल्तान मुहम्मद तुगलक के शासन के अंतिम दिनों में दिल्ली सल्तनत से अलग हो गए थे और कुछ मामूली प्रयासों के बाद फिरोजशाह तुगलक ने उनके अलगाव को स्वीकार लिया था। तैमूर के आक्रमण के बाद गुजरात, मालवा और जौनपुर (पूर्वी उत्तर प्रदेश में) के हाकिमों ने स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर लिया जबकि पंजाब में खिज्र खां ने सारी शक्ति अपने हाथों में ले ली। अजमेर से मुस्लिम हाकिम के खदेड़ दिए जाने के बाद राजपूताना के विभिन्न राजाओं ने भी अपनी-अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। यहां तक कि दिल्ली के अंन्तर्गत भी सुल्तानों को अपना नियंत्रण कायम रखने में कठिनाई हो रही थी।

यद्यपि ये विभिन्न क्षेत्रीय राज्य एवं राजपूत राज्य एक दूसरे के विरुद्ध लड़ते रहे, किन्तु पन्द्रहवीं सदी के उत्तर भारत में अपकर्ष व पतन का काल मानना जैसा कि **सतीश चन्द्र** कहते हैं, गलत होगा। राजनीतिक दृष्टि से विभिन्न राज्यों के बीच होने वाला युद्ध शायद ही कभी सीमावर्ती क्षेत्रों से आगे बढ़ा जिसमें विभिन्न क्षेत्रों—पूरब, पश्चिम और उत्तर में स्थित राज्यों के बीच शक्ति संतुलन का एक निश्चित प्रकार उभरकर सामने आया। पश्चिम में गुजरात, मालवा और मेवाड़ ने एक दूसरे की शक्ति की वृद्धि पर अंकुश बनाए रखा और संतुलन कायम रखा। पूर्व में बंगाल पर उड़ीसा के गजपति नरेश ने तथा जौनपुर के शर्की सुल्तानों ने अंकुश लगाए रखा। उत्तर में यद्यपि कश्मीर अलग-अलग रहा किन्तु पन्द्रहवीं सदी के मध्य में दिल्ली में लोदियों के उदय में कारण गंगा-यमुना दोआब पर प्रभुत्व हेतु लोदियों और जौनपुर सुल्तानों के बीच दीर्घ काल तक संघर्ष चलता रहा।

[illegible] पंजाब से बंगाल की [illegible] मालवा [illegible] पर अपना शासन कायम करने के लिए स्थिति का लाभ उठाने को आतुर थे। इस प्रकार मालवा एक बार फिर उत्तर भारत पर प्रभुत्व हेतु संघर्ष का मुख्य केन्द्र बन गया।

जौनपुर

अफीफ हमें सूचित करता है कि गोमती नदी के किनारे जौनपुर नगर की स्थापना फिरोजशाह तुगलक द्वारा 1359 ई. में उस समय की गई थी, जब वह अपने दूसरे बंगाल अभियान पर था। यह शहर सत्ता का एक मजबूत केन्द्र हो गया और शीघ्र ही इसका विकास दिल्ली के एक विरोधी नगर के रूप में हुआ। 1359 ई. में नए नगर का नाम फिरोजाबाद रखा गया किन्तु नगर उस नाम से प्रसिद्ध नहीं हुआ। एक रात फिरोजशाह ने मुहम्मद तुगलक को जैसा कि **अफीफ** कहता है, स्वप्न में संभवतः यह सुझाव देते हुए देखा कि नए नगर का नाम उसके नाम पर रखा जाए और फिरोज ने उसका नाम जौनपुर रखा। इस प्रकार जौनपुर की स्थापना हुई। किन्तु यह सोचना कि फिरोज ने यह नगर केवल विचार के आधार पर स्थापित किया, गलत होगा। भू-राजनीतिक कारणों से भी यह निर्णय प्रभावित हुआ। यह स्थान बंगाल और उड़ीसा के अभियानों के लिए अति उत्तम केन्द्र बन सकता था।

मलिक सरवर-सुल्तान-उस-शर्क (1394-99 ई.)

जौनपुर राज्य की स्थापना फिरोज तुगलक के एक ख्वाजा सरा (हिजड़े) मलिक सरवर ने की थी। समकालीन अभिलेखों में उसके प्रारम्भिक जीवन का कोई उल्लेख नहीं है किन्तु फिरोज की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के संघर्ष में उसने जो प्रमुख भूमिका निभाई, उससे यह सिद्ध होता है कि वह अवश्य ऐसी महत्वपूर्ण स्थिति में था जिससे वह उस समय के राजनीतिक आन्दोलनों में

भाग ले सका। ऐसा प्रतीत होता है कि फिरोज के छोटे पुत्र मुहम्मद शाह से उसे सहानुभूति थी जिस फिरोज ने अपने जीवनकाल में सुल्तान की उपाधि सहित समस्त शासन का सर्वेसर्वा बना दिया था किन्तु अपने दासों के प्रबल प्रभाव से घबरा कर, जो मुहम्मदशाह से घृणा करते थे, फिरोज ने उससे यह सम्मान छीन लिए और अपने पौत्र तुगलक शाह द्वितीय को उसके स्थान पर नियुक्त किया लेकिन मुहम्मदशाह सिंहासन के लिए षडयंत्र रचता रहा व मलिक सरवर ने फिरोज के पुत्र के बीच उत्तराधिकार के लिए हुए संघर्ष का भरपूर लाभ उठाया और सुल्तान मुहम्मदशाह के अधीन वह वजीर के पद तक पहुंच गया। मलिक सरवर ने सुल्तान–उस–शर्क की उपाधि के साथ–साथ पूर्वी जिलों का नियंत्रण प्राप्त कर लिया।

शीघ्र ही जौनपुर और उसके निकटवर्ती प्रदेशों में विद्रोह के चिन्ह दिखाई देने लगे और सुल्तान मुहम्मद ने पूर्वी क्षेत्र में शांति स्थापित करने के लिए मलिक सरवर को चुना। 1394 ई. में वह जौनपुर का राज्यपाल नियुक्त किया गया। मलिक सरवर ने अपने दत्तक पुत्र मलिक मुबारक को दिल्ली के सब मामले सौंप दिए और उसे मलिकुश्शर्क कहकर सम्मानित किया तत्पश्चात् विप्लवी तत्वों के विरुद्ध उसने जौनपुर की ओर कूच किया। उसने डलमऊ (रायबरेली जिले में), इटावा, सडीला (बाराबंकी जिले में), कन्नौज और बहराइच के विद्रोहियों का दमन किया और फिर बिहार और तिरहुत की ओर बढ़ा। दक्षिण बिहार के महाराज हर राज तथा महाराज कुमार गजराज, जिनके षड्यंत्रकारी कार्य समस्त क्षेत्र की शांति भंग कर रहे थे, गऊघाट के युद्ध में पराजित हुए और मारे गए। महाराज कुमार गजराज और देवराज ने जब मलिक सरवर की सेना के विषय में सुना तो वे भाग गए। मलिक सरवर के दृढ़ और ओजस्वी उपायों ने षड़यंत्रों और विप्लवों से आतंकित उस क्षेत्र में शांति स्थापित की।

तत्पश्चात् मलिक सरवर जौनपुर लौटा और अपने दत्तक पुत्र मलिक मुबारक को जाज नगर के उद्दंड राय का दमन करने के लिए भेजा। मुबारक को जो कार्य सौंपा गया था उसे उसने सफलतापूर्वक पूर्ण किया और राय का दमन किया।

दिल्ली में परिस्थिति सुल्तान मुहम्मद के विरुद्ध होती जा रही थी। मल्लू इक्बाल खां सर्वेसर्वा हो गया था और सुल्तान उसके हाथ की कठपुतली बन गया था। तदुपरांत तैमूर के आक्रमण ने महमूद को विवश कर दिया और वह शरण लेने के लिए दिल्ली से भाग कर गुजरात के जफर खां के पास चला गया। फिर वह मालवा से दिलावर खां के पास चला गया। फलस्वरूप मलिक सरवर को अवसर मिल गया। उसने जौनपुर में स्वतंत्रता घोषित कर अपने नाम के सिक्के चलाए और खुतबा पढ़वाया।

देश की बिगड़ती हुई स्थिति का लाभ उठाते हुए मलिक सरवर अपने राज्य का विस्तार करने लगा। उसने कोइल (अलीगढ़), संभल (मुरादाबाद में) और रापरी (मैनपुरी जिले में) पर विजय प्राप्त कर ली। समस्त उपलब्ध विवरणों का विश्लेषण करने के पश्चात् डॉ एम. एम. सईद ने उसके अधिकार क्षेत्र के विषय में निम्न विचार प्रकट किए हैं :

हमारे सभी आधार इस बात पर सहमत हैं कि उत्तर में उसकी सीमा आधुनिक उत्तर प्रदेश के समस्त उपजाऊ क्षेत्र में कोयल से आरंभ होती थी और उत्तरी बिहार के उत्तरपूर्वीय जिले तिरहुत तक फैली थी और नेपाल की सीमा और हिमालय की तराई स्पर्श करती थी। पश्चिम में वह समस्त क्षेत्र जिसका केंद्र कन्नौज था और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों सहित अवध, महाराज हर राज और महाराज कुमार गजराज की राजधानी भोजपुर और उज्जैन की सीमा तक का क्षेत्र उसके अधीन था। दूसरे शब्दों में उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त भोपाल राज्य सहित बधेलखंड और बुंदेलखंड के क्षेत्र उसके राज्य में सम्मिलित थे। उत्तरी और दक्षिणी बिहार का समस्त प्रदेश भी उसके राज्य में सम्मिलित था और जाजनगर के राय तथा बंगाल के शासक उसके आधीन थे।

यदि परिस्थितियों ने साथ दिया होता तो शर्कियों ने दिल्ली पर भी अपना अधिकार कर लिया होता।

पांच वर्ष और छः मास के शासन के पश्चात् कुछ दिन बीमार रह कर नवंबर 1399 में मलिक सरवर का निधन हो गया।

मलिक सरवर का व्यक्तित्व तुगलक सुल्तानों के महान अधिकारियों की कार्यकुशलता का प्रतिनिधित्व करता था। उसकी प्रशासनिक योग्यताएं और उसकी कटु राजनीतिक वास्तविकता और सैनिक क्षमता ने उसका स्तर अत्यंत ऊंचा बनाया। उसने अशांत क्षेत्रों में शांति और व्यवस्था स्थापित की और विद्रोही जमींदारों को आज्ञाकारी बनाया। उसी से जौनपुर के इतिहास का गौरवपूर्ण युग आरंभ होता है। उसने जौनपुर नगर का विस्तार किया। नए भवन निर्मित किए और पुराने भवनों को मरम्मत कराई। उसी ने जौनपुर को 'दारूस्सरूर' का विरुद प्रदान किया और उसे एक सांस्कृतिक केंद्र बनाया जहां साहित्यकार, कवि, विद्वान और संन्यासी एकत्र हुए और राजधानी को प्रसिद्ध बनाया।

मुबारक शाह शर्की (1399-1401)

मलिक सरवर की मृत्यु के पश्चात् उसका दत्तक पुत्र मलिक मुबारक करनफल अमीरों और मलिकों द्वारा सिंहासन पर बिठाया गया। **याह्या सरहिंदी** के अनुसार वह सैय्यद वंश के संस्थापक खिज्र खां का भतीजा था किंतु जिन विद्वानों ने मुबारक को अफ्रीका मूल का बताया है उनके अनुसार यह कथन सत्य प्रतीत नहीं होता।

मुबारक शाह के आरंभिक जीवन के विषय में बहुत कम सूचना मिलती है किंतु सिंहासनारोहण के तुरंत पश्चात् उसे दिल्ली के एक आक्रमण का सामना करना पड़ा। नुसरत शाह को सिंहासनच्युत करने के बाद मल्लू इकबाल खां ने जौनपुर की ओर ध्यान दिया। जनवरी-फरवरी, 1400 में मल्लू ने जौनपुर की ओर कूच किया। जब वह 'आबेसियाह' (अर्थात काली नदी) के किनारे पटियाली पहुंचा तो उसे प्रदेश के जमींदारों ने उसे ललकारा और उसका विरोध किया किंतु वे पराजित हुए और इटावा तक उनका पीछा किया गया। फिर मल्लू खां कन्नौज की ओर बढ़ा और गंगा नदी के किनारे डेरे लगाए। मुबारक ने परिस्थिति का यथोचित सामना किया। राजपूतों, अफगानों, मंगोलों और ताजीकों की एक विशाल सेना सहित वह तीव्र गति से बढ़ा, मल्लू खां को आगे बढ़ने से रोका और गंगा नदी के दूसरे किनारे पर अपने डेरे लगाए। दो मास तक दिल्ली और जौनपुर की सेनाएं गंगा नदी के दोनों किनारों पर डटी रहीं किंतु अंत में दोनों ने अभियान त्याग दिया। इसके थोड़े ही दिन पश्चात् सुल्तान महमूद शाह तुगलक गुजरात और मालवा से दिल्ली लौट आया और मल्लू खां सहित उसने मुबारक शाह के विरुद्ध आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए कूच किया किंतु मार्ग में ही अकस्मात मर गया।

इब्राहीम शाह शर्की (1401-40)

सुल्तान इब्राहीम जो मुबारक शाह के बाद सिंहासन पर बैठा उसका छोटा भाई था। सिक्कों से प्राप्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वह 1400-1 में सिंहासनरूढ़ हुआ। सिंहासनारोहण के वर्ष ही इब्राहीम को मल्लू इक्बाल और सुल्तान महमूद शाह के संयुक्त आक्रमण का सामना करना पड़ा। दोनों सेनाओं का कन्नौज के पास सामना हुआ और कुछ दिनों तक उनमें छिटपुट मुठभेड़ हुई। चूंकि सुल्तान महमूद को मल्लू इक्बाल के चरित्र और स्वामिभक्ति पर संदेह था इसलिए उसने सुल्तान इब्राहीम से गुप्त भेंट की किंतु बाद में उससे घृणात्मक व्यवहार किया। सुल्तान महमूद कन्नौज की ओर बढ़ा और वहां के शर्की राज्यपाल शाहजादा फतेह खां हरवी को मार भगाया और नगर पर अधिकार कर लिया। मल्लू इक्बाल ने अपनी स्थिति कमजोर देखी और दिल्ली लौट आया।

सुल्तान महमूद शाह ने दिल्ली में अपनी स्थिति पुनर्संगठित कर ली जहां उसके अधिकार का दिल्ली की जनता ने सामान्य स्वागत किया। 1404-5 में मल्लू इक्बाल ने उसे उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया किंतु वह असफल रहा। इस संघर्ष से सुल्तान महमूद और अधिक शक्तिशाली हो गया। सुल्तान इब्राहीम ने भी उसे कन्नौज से मार भगाने का प्रयत्न किया और दुर्ग घेर लिया किंतु वह भी असफल हुआ और उसे महमूद तुगलक से संधि करनी पड़ी।

दरभंगा, मुजफ्फरपुर, चंपारन तथा नेपाल की तराई की पट्टी का प्रदेश जिसे तिरहुत कहते थे, एक हिंदू शासक के अधीन था जो मलिक सरवर के समय से, जिसने राय गनेश्वर को 1394 में पराजित किया था जौनपुर को वार्षिक खराज भेजा करता था। 1402 में गनेश्वर को मलिक अर्सलान ने मार डाला और प्रदेश पर अधिकार कर लिया। गनेश्वर के पुत्र और उत्तराधिकारी कीर्ति सिंह ने सुल्तान इब्राहीम शर्की से सहायता मांगी। शर्की सुल्तान ने तुरंत उसकी सहायता की और उसकी सेना ने मलिक अर्सलान को पराजित कर उसे मार डाला। कीर्ति सिंह के सिंहासनारोहण का, जिसमें सुल्तान इब्राहीम भी सम्मिलित हुआ, विद्यापति ठाकुर ने अपनी 'कीर्तिलता' में बड़ा सजीव चित्रण किया है।

इब्राहीम शर्की की कन्नौज पर विजय—नवंबर 1405 में मल्लू खां की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली के अमीरों के आमंत्रण पर सुल्तान महमूद ने दिल्ली के लिए प्रस्थान किया और कन्नौज मलिक महमूद तुर्मती के अधिकार में छोड़ दिया। सुल्तान इब्राहीम कन्नौज की हानि अभी भूला न था। यह उसके लिए एक आदर्श अवसर था और अक्तूबर, नवंबर 1406 में उसने कन्नौज के विरुद्ध कूच किया। दिल्ली से सुल्तान महमूद उसकी सुरक्षा के लिए बढ़ा। दोनों सेनाओं ने गंगा के विपरीत किनारे पर डेरे लगाए किंतु असफल वापस हुई। इब्राहीम की वापसी धोखा मात्र थी। जैसे ही महमूद दिल्ली पहुंचा और उसके 'इक्तादारों' के सैनिक दस्ते अपने प्रदेश में लौट गए तो इब्राहीम कन्नौज की ओर झपटा और दुर्ग घेर लिया। मलिक महमूद तुर्मती ने चार मास तक घेरे का सामना किया और फिर आत्मसमर्पण कर लिया। इब्राहीम ने इख्तियार खां को दुर्ग का राज्यपाल नियुक्त किया और वहां सैन्य व्यवस्था की। इब्राहीम की कन्नौज विजय से उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और उसे अन्य महान उद्देश्यों की उपलब्धि के लिए प्रोत्साहन मिला।

अक्तूबर 1407 में सुल्तान इब्राहीम शर्की ने दिल्ली के विरुद्ध कूच किया। सुल्तान महमूद के कुछ अमीर जैसे सारंग खां का पुत्र तातार खां, नुसरत खां इत्यादि अपने स्वामी का साथ छोड़ कर इब्राहीम से मिल गए। मार्ग में संभल और बरन पर विजय प्राप्त हुई और उन्हें क्रमशः तातार खां और मलिक मरहबा के लिए निश्चित किया गया। किंतु जब इब्राहीम की विजयी सेना यमुना नदी के किनारे पहुंची तो उसे सुल्तान मुजफ्फर गुजराती के जौनपुर के विरुद्ध कूच की सूचना मिली। इब्राहीम शाह शीघ्रता से जौनपुर वापस लौटा जबकि सुल्तान महमूद तुरंत अपने खोए हुए प्रांत संभल और बरन पर पुनः अधिकार करने के लिए बढ़ा। मलिक मरहबा ने आत्महत्या कर ली और तातार खां कन्नौज भाग गया।

कालपी का राज्य—जालौन नगर से बाइस मील की दूरी पर यमुना की घाटियों में कालपी के नए किंतु छोटे राज्य का उदय हुआ था। चारो ओर से दिल्ली, जौनपुर और मालवा के राज्यों से घिरा हुआ कालपी बड़ी विषम परिस्थिति मे जी रहा था क्योंकि पड़ोसी राज्य उसे हड़पना चाहते थे।

1411 में कालपी के शासक कादिर शाह (1411-32) ने भोगांव पर आक्रमण किया और उसका निकटवर्ती प्रदेश लूटा। इब्राहीम इन गतिविधियों का चिंतित निरीक्षण कर रहा था। कादिर शाह जनता में अलोकप्रिय हो गया था। इससे इब्राहीम की स्थिति दृढ़ प्रतीत हुई फिर भी इब्राहीम शाह ने अवरोध त्याग दिया और जौनपुर लौट आया। यह बनावटी वापसी थी। वह पुनः उपस्थित हुआ और महोबा तथा राठ पर अधिकार कर उन्हें जहीरूद्दीन के भाई दाऊद खां के पुत्र जलाल खां के अधिकार में दे दिया। तदुपरांत शाहपुर पर अधिकार कर लिया गया और फिर शर्की सेना मलिकुश्शर्क मकबूल के नेतृत्व में ईरज की ओर बढ़ी। '**तारीखे मुहम्मदी**' का लेखक **मुहम्मद बिहामद खानी** इस समय ईरज का राज्यपाल था। ईरजपर विजय प्राप्त हुई और उसे दाऊद के पुत्र जाफर के अधिकार में रखा गया। तत्पश्चात् इब्राहीम मकबूल से आ मिला और शेखपुर दुर्ग की ओर कूच किया जहां कादिर खां ने उसे ललकार। इब्राहीम ने नैफ्था और गुलेलों का प्रयोग कर दुर्ग की रक्षक सेना में हाहाकार मचा दिया। रक्षक सेना ने इब्राहीम से दया की शिक्षा मांगी और जब कादिर ने इब्राहीम का आधिपत्य स्वीकार कर लिया तो उसे कालपी पर शासन करने की अनुमति दे दी गई। किंतु कादिर खां ने अपनी निष्ठा त्याग दी और अपनी पूर्व स्थिति प्राप्त करने के लिए सक्रिय हो गया। उसने जुनैद खां पुत्र दौलत खां को शर्की राज्यपाल जाफर से ईरज छीनने के लिए भेजा। जाफर ने दृढ़ सुरक्षा का प्रयत्न किया किंतु दो साल पश्चात् जाफर की हत्या कर दी गई और ईरज कालपी के शासक जिसकी राजधानी महमूदबाद थी द्वारा विजित हुआ।

बंगाल के गनेश के विरुद्ध अभियान—1414 में **शेख नूर कुत्बे आलम** विख्यात चिश्ती संत थे और पंडुवा मे रहते थे। उनका जनता पर बड़ा प्रभाव था। उन्होंने इब्राहीम शर्की को आमंत्रित किया। दीनाजपुर के राजा गनेश ने इस समय बंगाल पर अधिकार कर लिया था और मुसलमानों पर अत्याचार कर रहा था। दो मुस्लिम शासकों सैफुद्दीन हम्जा शाह और शम्सुद्दीन पूर्णरूपेण उसके नियंत्रण में थे। शेख नुर कुत्बे आलम ने किछौछा के सैय्यद अशरफ जहांगीर समनानी को पत्र लिखा कि वह इब्राहीम के गनेश के विरुद्ध को कूच करने के लिए मनाया। इब्राहीम एक दृढ़ सेना लेकर निकला और मार्ग में तिरहुत पर अधिकार कर राजा शिव सिंह को मार भगाया। गनेश घबरा गया और शेख नूर कुत्बे आलम के पास समझौता कराने और शांति स्थापित कराने के लिए आया। संत इस शर्त पर उसकी प्रार्थना स्वीकार करने के लिए तैयार हो गए कि उसका छोटा पुत्र इस्लाम स्वीकार कर ले और गनेश इस बात का निश्चित आश्वासन दे कि वह मुसलमानों को आतंकित नहीं करेगा। गनेश का पुत्र जादु ही आगे चलकर जलालुद्दीन के नाम से सिहासनारूढ़ हुआ। इब्राहीम जौनपुर लौट आया।

कादिर शाह के अपनी जनता के प्रति कठोर और क्रूर व्यवहार से असंतोष उत्पन्न हो गया जिसके फलस्वरूप सुल्तान इब्राहीम शाह शर्की को महमूदाबाद के विरुद्ध 1427 में कुच करने का प्रोत्साहन मिला। कादिर शाह ने दिल्ली के सुल्तान मुबारक शाह से सहायता मांगी किंतु उस समय मुबारक बयाना के राज्यपाल मुहम्मद खां के विरुद्ध अभियान संगठित करने मे व्यस्त था। मुहम्मद खां ने सुल्तान इब्राहीम शर्की से कुमक प्राप्त करने के लिए जौनपुर की ओर प्रस्थान किया और जिस समय मुबारक शाह कूच कर रहा था उसे अपने विरुद्ध शर्की शासक के कूच की सूचना मिली। याहिया सरहिंदी के अनुसार मुबारक ने बयाना का अभियान स्थगित कर दिया और सुल्तान इब्राहीम शर्की से जिसकी सेना भोगांव पर अधिकार कर चुकी थी और बदायूं की ओर बढ़ रही थी निपटने के लिए बढ़ा। मुख्तस खां के नेतृत्व में एक सेना दिल्ली की सेना पर आक्रमण करने के लिए भेजी गई। मुबारक शाह ने यमुना नदी पार की ओर अतरौली पर आक्रमण किया। मलिकुश्शर्क महमूद हुसन मुख्तस खां का सामना करने के लिए भेजा गया। मुख्तस खां ने देखा कि उसकी स्थिति दृढ़ नहीं है। वह वापस चला आया और अब वह से जा मिला।

सुल्तान इब्राहीम इटावा के निकट बुरहानाबाद पहुंचा। सुल्तान मुबारक की सेना भी आगे बढ़ी और फरवरी–मार्च, 1427 में माली कोटा के निकट युद्ध हुआ। इब्राहीम ने देखा कि उसकी स्थिति कमजोर है और वह रापरी की ओर चल पड़ा। मुबारक ने उसका पीछा किया और चंदवार के निकट दोनों सेनाओं में मुठभेड़ आरंभ हो गई। दोनों सेनाओं को बिना किसी उपलब्धि के भारी क्षति पहुंची। इब्राहीम जौनपुर लौट आया और मुबारक दिल्ली चला गया। कालपी का शासक कादिर 1432 में मर गया। अमीरों ने उसके सबसे बड़े पुत्र जागीर खां आजम हुमायूं अवहलेना की और उसके दूसरे पुत्र जलाल खां को सिंहासन पर बिठाया। जगीर ने इब्राहीम से सहायता की याचना की। इब्राहीम ने उसका समुचित स्वागत किया और उसे 'खानेजहां' की उपाधि प्रदान की। जलाल ने अमीरों और जनता दोनों को ही खिन्न कर दिया। उसे बंदी को कर चंदेरी भेज दिया गया जिसे उसके चाचा मालवा के सुल्तान हुशंग शाह ने उसे जागीर में दिया था। तत्पश्चात् अमीरों ने फीरोज खां को कालपी के सिंहासन पर बिठाया।

अब सुल्तान ने जागीर खां की सहायता करने का निश्चय किया और महमूदाबाद का घेरा आरंभ किया। जब हुशंग शाह को इन प्रगतियों की सूचना मिली तो वह महमूदाबाद की ओर बढ़ा। इब्राहीम शर्की ने घेरा उठा लिया। हुशंग ने जलाल खां को सिंहासन पर आरूढ़ किया और मालवा लौट आया। सुल्तान इब्राहीम शर्की ने जो जगीर के हित में कुछ करने के लिए उत्सुक था शाहपुर का दुर्ग उसे दे दिया जिसे उसने कुछ समय पूर्व कालपी के शासक से जीता था। जलाल खां अपने उन अमीरों और जनता की निष्ठा प्राप्त न कर सका जो उसके अत्याचारों से खिन्न हो चुके थे। उनमें से कुछ सुल्तान इब्राहीम शर्की के पास गए और उससे सहायता मांगी। इसी समय मालवा का हुशंग शाह जलाल खां की सहायता के लिए चला और शर्की सेना पर आक्रमण किया। किंतु युद्ध का कोई निर्णय न हो सका। दोनों पक्ष इससे ऊब चुके थे। इसलिए हुशंग शाह मालवा के लिए चल पड़ा और इब्राहीम जौनपुर की ओर। किंतु कालपी दरबार के जो अमीर जौनपुर में शरणार्थियों की भांति रह रहे थे उन्होंने इब्राहीम को पुनः महमूदाबाद पर चढ़ाई करने के लिए उकसाया। इस बार जलाल खां पराजित हुआ और भांडेर की ओर भाग गया। इब्राहीम ने महमूदाबाद पर अधिकार कर लिया और उसे जगीर खां को सौंप दिया।

मुहम्मद बिहामिद खान ने इब्राहीम का बंगाल पर आक्रमण 1435 में बताया है किंतु इसके अतिरिक्त कि शर्की सुल्तान ने इक्दला के दुर्ग पर घेरा डाला अन्य विवरण नहीं दिए हैं। 1437 में इब्राहीम शर्की ने दिल्ली के मुहम्मद शाह के विरुद्ध कूच किया। 'रौजतुत्ताहिरीन' और 'जौनपुरनामा' के लेखकों ने इस अभियान का उल्लेख किया है जिसकी अन्य लेखकों ने या तो अवहेलना की है या उसके विषय में बहुत कम तथ्य लिखे हैं। इब्राहीम ने दिल्ली पर घेरा डाला और कुछ निकटवर्ती परगनों पर अधिकार कर लिया। सुल्तान मुहम्मद ने अपनी स्थिति बड़ी कमजोर देखकर संधि की प्रार्थना की। वैवाहिक संबंध भी स्थापित किए गए और इब्राहीम के पुत्र महमूद खां ने सुल्तान मुहम्मद शाही की पुत्री बीबी राजी से विवाह कर लिया। सुल्तान इब्राहीम की मृत्यु के विषय में बड़ा मतभेद है। मुहम्मद बिहामिद खानी का कथन है कि उसने चालीस वर्ष तक शासन किया। इसका यह तात्पर्य हुआ कि वह 1440 में मरा। कुछ हद तक इसकी पुष्टि सिक्कों में उपलब्ध प्रमाणों से भी होती है। उसके अब तक प्राप्त सिक्के 1440 के हैं।

महमूद शाह शर्की (1440-57)

सुल्तान इब्राहीम शाह शर्की का सबसे बड़ा पुत्र महमूद खां सुल्तान महमूद शाह का विरुद धारण कर 1440 ई. में सिंहासनरूढ़ हुआ। सिंहासनारोहण के दो वर्ष के भीतर ही उसने बंगाल पर आक्रमण का संगठन किया। इस आक्रमण के लिए हमारा पूर्वतम आधार **अब्दुर्रज्जाक** है। उसके अनुसार बंगाल के शासक सुल्तान शम्सुद्दीन ने अपनी गंभीर स्थिति देखते हुए हिरात के शाहरूख से सहायता की अपील की। शाहरूख ने शेखुल इस्लाम करीमुद्दीन अबुल मुकर्रम जामी द्वारा एक संदेश भेजा जिसमें शर्की सुल्तान को बंगाल पर आक्रमण न करने का उपदेश दिया गया था। यदि शासक ने इस प्रार्थना की अवहेलना की तो उसे उसके साम्राज्य पर आक्रमण किए जाने की धमकी दी गई थी। संदेश का यथोचित प्रभाव पड़ा और सुल्तान महमूद ने अपेक्षित आक्रमण त्याग दिया।

कालपी से युद्ध–1443 में सुल्तान महमूद शर्की ने कालपी के शासक नवीर खां (कादिर खां का पुत्र) द्वारा शाहपूर में की गई तबाही का समाचार सुना। चूंकि नसीर खां का मालवा के सुल्तान महमूद खल्जी से सहबंध था इसलिए शर्की सुल्तान ने मामले की सूचना उसे दी ओर नसीर खां की गतिविधियों की शिकायत की। मालवा के शासक ने शर्की शासक के दूत का आदर–सत्कार किया और विषय पर उसके विचारों से सहमति प्रकट की किंतु अपनी सेना भेजने से शिष्ट इन्कार कर दिया क्योंकि 'वह मेवात के विद्रोहियोंका दमन करने में व्यस्त थी।' इस प्रकार जब उसे यह आश्वासन मिल गया कि मालवा का शासक नसीर खां की सहायता के लिए नहीं आएगा तो उसकी सद्भावनों के प्रतिदान स्वरूप सुल्तान महमूद शर्की ने उसके पास 29 हाथी भेंट में भेजे। शर्की सेवाओं का सामना करने में असमर्थ होने के कारण नसीर खां महमूदाबाद छोड़कर चंदेरी भाग गया और मालवा के शासक

की अधीनता स्वीकार करते हुए उससे सहायता की याचना की। मालवा के खल्जी शासक ने शर्की शासक के पास यह संदेश भेजा कि वह उसे पुनर्स्थापित कर दे क्योंकि उसने सद्व्यवहार का आश्वासन दिया था। परिस्थिति द्रुतगति से बदलने लगी और नसीर खां के आग्रह से 8 जनवरी, 1444 ई. को खल्जी सेनाएं महमूदाबाद की ओर कूच करने लगीं। महमूद शर्की उसका सामना करने के लिए चल पड़ा। ईरज का जागीरदार मुबारक खां महमूद शर्की से मिल गया।

यमुना नदी के तट पर अनिर्णायक युद्ध हुआ। तत्पश्चात् राठ के निकट दोनों सेनाओं का पुनः युद्ध हुआ जिसमें शर्की पराजित हुए। निकटवर्ती प्रदेश में ही तीसरा युद्ध हुआ जिसमें दोनों पक्षों को भारी हानि उठानी पड़ी। शर्की सुल्तान ने शेखुल इस्लाम शेख जैलदा से जिसका महमूद खल्जी भी बड़ा आदर करता था संधि कराने के लिए मध्यस्था का आग्रह किया। उसने नसीर खां के पास भी एक मौखिक संदेश भेजा और उसे राठ सहित ईरज तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश तुरंत समर्पित करने का प्रस्ताव रखा जो खल्जी सुल्तान के चले जाने के चार मास पश्चात् शर्कियों के नियंत्रण में आ गए थे। नसीर खां यह प्रस्ताव स्वीकार करना चाहता था किंतु खल्जी शासक ने तुरंत कालपी समर्पित कर देने का आग्रह किया। अंत में खल्जी शासक ने भी यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और मालवा चला आया।

महमूद खल्जी को शीघ्र ही चुनार के विद्रोहियों का सामना करना पड़ा। उसने विद्रोहियों का दृढ़तापूर्वक दमन किया और जनता के मन में भय और आतंक उत्पन्न करने के लिए समस्त प्रदेश रौंद डाला। उसने उस प्रदेश में रक्षक सेना की व्यवस्था की और राजधानी लौट आया।

दिल्ली से संबंध—सुल्तान महमूद शर्की दिल्ली की राजनीति में पर्याप्त रूचि लेता था क्योंकि दिल्ली का शासक अलाउद्दीन अलामशाह (1445-78) उसकी पत्नी का भाई था। दिल्ली के अमीरों की महत्वकांक्षी चालबाजियों ने उसे कठपुतली मात्र बना दिया था। हमीद खां ने राजधानी पर वास्तविक अधिकार कर लिया था और अलाउद्दीन को बदायूं में शरण लेनी पड़ी। अंत में अलाउद्दीन ने सरहिंद से बहलोल लोदी को आमंत्रित किया और बहलोल ने राजसत्ता ग्रहण की। महमूद शर्की की पत्नी ने अपने पति से दिल्ली पर आक्रमण कर बहलोल को मार भगाने का आग्रह किया। सुल्तान अलाउद्दीन के कुछ अमीर भी जौनपुर आए और उसे दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए उकसाया।

1452 ई. में शर्की सुल्तान ने 1,70,000 सैनिकों और 1,400 लड़ाकू हाथियों की एक विशाल सेना सहित कूच किया और दिल्ली पर घेरा डाला। सुल्तान शाह लोदी की माता और बहलोल की सास बीबी माटो ने एक चाल चली क्योंकि उस समय शत्रु का सामना करने के लिए दुर्ग में सेना अधिक नहीं थी। उसने अपनी महिलाओं को मर्दाने कपड़े पहना कर दुर्ग की मुंडेर पर नियुक्त कर दिया। अफगान तीरंदाज घेरा डालने वाली सेना पर बाण चलाने लगे अंत में उन्हें अपने हथियार डालने पड़े। दिल्ली का एक अमीर सैयद शम्सुद्दीन दुर्ग की कुंजियां लाया और उन्हें शर्की सेना के सेनापति दरिया खां लोदी को सौंप दिया। यह भी निश्चित हुआ कि दुर्ग की अफगान सेना तुरंत दुर्ग खाली कर देगी। किंतु परिस्थिति संभालने के लिए सैयद शम्सुद्दीन ने एक युक्ति सोच निकाली। उसने एकांत में दरिया खां लोदी की जातीय निष्ठा भड़काई और उससे प्रार्थना की कि दुर्ग में रहने वाले अफगान स्त्री बच्चों के सम्मान को वह कोई हानि न पहुंचाए। इस अपील से दरिया खां का हृदय पिघल गया और इस प्रकार बड़ी चतुरता से सैयद शम्सुद्दीन ने उसे अपनी ओर मिला लिया। दरिया खां दुर्ग की कुंजियां महमूद शर्की के पास ले गया और उससे कहा कि यद्यपि दुर्ग की कुंजियां मिल गई हैं किंतु बहलोल एक विशाल सेना लेकर दिल्ली की ओर आ रहा है। यदि सुल्तान युद्ध में विजयी हुआ तो न केवल नगर बल्कि समस्त दिल्ली साम्राज्य उसके चरणों में होगा। दरिया खां लोदी द्वारा चतुरता से बिछाए गए जाल में सुल्तान सरलता से फंस गया।

इसी बीच बहलोल ने एक विशाल सेना सहित कूच किया और अनेक अफगान अमीरों का सहयोग प्राप्त कर दिल्ली से लगभग 17 मील दूर नरेला के निकट पहुंचा। शर्की सुल्तान ने 30,000 अश्वरोहियों और 30 हाथियों की एक सेना दरिया खां लोदी और फतेह खां हरवी के नेतृत्व में बहलोल का सामना करने के लिए भेजी। नरेला के निकट हुए युद्ध में शर्की सेना के सेनापति फतेह खां हरवी को पीछे हटना पड़ा क्योंकि उसका हाथी कुतुब खां लोदी द्वारा बुरी तरह घायल कर दिया गया था। तभी ही वह रणक्षेत्र से निकल कर आया कुतुब खां लोदी दरिया खां के पास आया और अफगान स्त्रियों के सम्मान की रक्षा करने के लिए उसकी भावनाएं भड़काईं। दरिया खां इतना प्रभावित हुआ कि वह शर्की सेना से भाग गया। जैसा कि अवश्यभावी था शर्की सेना में भीषण अस्तव्यस्तता फैल गई। फतेह खां हरवी जिसे बंदी बना लिया गया था बाद में खोर के राय कर्ण द्वारा मार डाला गया जिसके भाई राय पिथौरा को उसने मार डाला था। फतेह का सर बहलोल के पास लाया गया। जब महमूद शर्की को नरेला में हुई घोर दुर्घटना तथा फतेह खां की मृत्यु का समाचार मिला तो वह जौनपुर लौट आया।

सुल्तानुश्शर्क मलिक सरवर के शासनकाल में उज्जैन ने जौनपुर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। ईश्वर सिंह के आधिपत्य में उज्जैन की स्थिति ने महमूद शर्की को 1454 ई. में उज्जैन पर विजय पाने के लिए एक सेना भेजने पर विवश कर दिया। ईश्वर सिंह भाग गया और शर्की सेनाओं ने उज्जैन की राजधानी दावा पर अधिकार कर लिया। दिल्ली से शर्की सेनाओं की शर्मनाक वापसी और उसके प्रतिभाशाली सेनापतियों फतेह खां की मृत्यु तथा दरिया खां के पलायन से बहलोल को हिम्मत मिली कि वह शर्की शासक के हितों की परवाह किए बिना अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ले। जब बहलोल के अधिकारी रटावा पहुंचे और वहां से 1455 में शर्की राज्यपाल भगा दिया गया तो सुल्तान महमूद शर्की ने लोदियों को आगे बढ़ने से रोकने का निश्चय किया। दोनों सेनाओं का इटावा के निकट सामना हुआ किंतु कुतुब खां लोदी और राय प्रताप की मध्यस्थता से संधि हो गई। यह निश्चित हुआ कि नरेला में जिन सात हाथियों पर बहलोल ने अधिकार कर लिया था उन्हें वापस कर देगा और यह कि सुल्तान इब्राहीम शर्की और दिल्ली के मुबारक शाह के अंतर्गत रहने वाले क्षेत्रों के आधार पर शर्की और दिल्ली के शासकों के बीच क्षेत्रीय समझौता होगा। इसके अतिरिक्त यह भी तय हुआ कि वर्षा ऋतु के बाद बहलोल को शम्साबाद वापस मिलेगा।

यह संधि अल्पाकलिक थी और 1456 में फिर युद्ध छिड़ गया। जब बहलोल ने शर्की राज्यपाल जौना खां से शम्साबाद खाली करने की मांग की तो उसने विलंब किया और हिचकिचाया। फलस्वरूप बहलोल ने उसे मार भगाया और दुर्ग राय कर्ण को सौंप दिया। जौना ने जौनपुर से सहायता की अपील की और सुल्तान महमूद ने शीघ्र शम्सबाद पहुंचकर राय कर्ण पर आक्रमण का दिया। द्रिया खां लोदी और कुतुब खां लोदी ने शर्की शिविर पर रात्रि आक्रमण किया। कुतुब खां लोदी अपने घोड़े से गिर पड़ा और बंदी बनाया गया। बहलोल को अपने चचेरे भाई और पत्नी के भाई के बंदी बनाए जाने का बड़ा दुख हुआ। जलाल खां और राजकुमार सिकंदर को राय कर्ण की सहायता के लिए छोड़कर बहलोल ने सुल्तान महमूद का सामना करने के लिए प्रस्थान किया। किन्तु इसी समय सुल्तान महमूद अकस्मात बीमार पड़ा और 1457 में उसकी मृत्यु हो गई।

मुहम्मद शाह शर्की

सुल्तान महमूद शर्की मत्यु के पश्चात् उसकी रानी बीबी राजी ने अमीरों के समर्थन से उसके सबसे बड़े पुत्र भीखन खां को सिंहासनारूढ़ किया। भीखन ने सुल्तान मुहम्मद शर्की का विरुद धारण किया। शर्की प्रशासन का एक रोचक अपवाद यह था कि अपनी मृत्यु को दो वर्ष पूर्व शर्की शासक महमूद शाह ने अपने पुत्र के नाम के सिक्के प्रचलित किए थे।

सिंहासनारोहण के तुरंत पश्चात् सुल्तान मुहम्मद को जिस समस्या का सामना करना पड़ा वह बहलोल से विरोध था। अपनी स्थिति की मौलिक कमजोरी समझते हुए उसने संधि करने का निश्चय किया। बहलोल के पास वे सभी क्षेत्र रहने थे जो पहले ही से उसके अधिकार में थे और सुल्तान मुहम्मद का अपने पिता के क्षेत्रों पर नियंत्रण बना रहा।

मुहम्मद शर्की के समक्ष दूसरी समस्या उसके भाई थे जिनसे उसे विद्रोह का संदेह था। उसने हसन खां और कुतुब खां लोदी को बंदी बना लिया और कुछ अमीरों की हत्या कर दी। फिर भी मुहम्मद शाह की समस्याएं सुलझ न पाईं। इसके अतिरिक्त अमीरों और अपने भाइयों के प्रति उसके कठोर व्यवहार ने विस्तृत असंतोष उत्पन्न कर दिया। बहलोल ने जौनपुर के विरुद्ध कूच किया। बहलोल की पत्नी शम्स खातून ने जो कुतुब खां लोदी की बहन थी उसके पास यह संदेश भेजा कि 'जब तक कुतुब खां सुल्तान मुहम्मद के कारागार में रहेगा उसके लिए नींद और आराम हराम होगा।' इस संदेश के फलस्वरूप बहलोल ने अपने वचनों की परवाह नहीं की और दनकौर से जौनपुर की ओर चल पड़ा। इस बार सुल्तान मुहम्मद चुनौती का सामना करने से नहीं हिचकिचाया। उसने राय कर्ण को शम्साबाद से मार भगाया और वहां जौना खां की पुनर्नियुक्ति की। इटावा का राय प्रताप सुल्तान मुहम्मद की ओर मिल गया। दोनों सेनाओं का सरसुती के निकट सामना हुआ। सुल्तान मुहम्मद को अपनी स्थिति कमजोर जान पड़ी और उसने यह सोचा कि यह अमीरों के असहयोग के कारण है। उसने जौनपुर के कोतवाल के पास यह आदेश भेजा कि वह कुतुब खां लोदी और हसन खां को मार डाले। कोतवाल ने उत्तर दिया कि उसकी माता बीबी राजी के कारण शाही आदेश का पालन असंभव है। सुल्तान मुहम्मद ने चालाकी से बीबी राजी को जौनपुर से हटा दिया और हसन खां को मरवा डाला।

सुल्तान मुहम्मद के निष्ठुर व्यवहार ने उसके भाइयों हुसेन खां और जलाल खां का क्रोध भड़काया और अमीरों में असंतोष उत्पन्न कर दिया। हुसेन खां और जलाल खां और जलाल खां ने अपनी सुरक्षा के लिए एक चाल चली। उन्होंने यह अफवाह उड़ा दी कि बहलोल रात्रि आक्रमण का विचार कर रहा है और इस प्रकार मुहम्मद शाह को उनके अधीन तीन हजार अश्वारोही और एक हजार हाथी रखने के लिए मना लिया। इस सेना ने झिरना पदी के तट पर जो यमुना की एक छोटी उपनदी थी पर अपने डेरे लगाए। चूंकि जलाल खां पीछे रह गया था इसलिए हुसेन खां ने उसे अपनी छावनी में बुला लिया। बहलोल को इसकी सूचना मिल

गई और उनके विरुद्ध एक सेना भेजी। हुसेन खां और शर्की अमीर सुल्तान शाह सुरक्षा हेतु कन्नौज की ओर चले किंतु जला खां जिसे इसकी सूचना नहीं थी झिरना की ओर चला जिस पर लोदी सेनाएं पहले ही अधिकार कर चुकी थीं। यह समझाक कि वह उसके भाई हुसेन खां का डेरा है वह लोदी डेरे में चला गया और तुरंत बंदी बना लया गया।

इन परिवर्तनों से सुल्तान मुहम्मद घबरा गया और उसने कन्नौज के लिए कूच किया। बहलोल ने पीछे हटती हुई सेना का पीछा किया और उसे लूटा।

इसी बीच बीबी राजी ने अमीरों की सलाह से हुसेन खां को सिंहासनारूढ़ करने का निश्चय किया। यह भी निश्चय हुआ कि सुल्तान मुहम्मद से छुटकारा पा लिया जाए जिसने कन्नौज से दक्षिण–पूर्व तीन मील की दूरी पर काली नदी के राजगीर नामक घाट पर अपना डेरा डाला था। जैसे ही यह नई शर्की सेना सुल्तान मुहम्मद की छावनी के निकट पहुंची उसके अमीर और अधिकारी जो उसकी कठोरता और क्रूरता से खिन्न हो चुके थे उसका साथ छोड़कर हुसेन खां की सेना से आ मिले सुल्तान मुहम्मद घबरा गया और एक बाग में छिप गया। जब हुसेन खां के सैनिकों ने उसका पीछा किया तो उसने अपना धनुष खींच लिया और पीछा करने वालों पर बाण चलाने लगा। किंतु उसका दुर्भाग्य था कि बीबी राजी ने उसके अंगरक्षक को रिश्वत देकर उसके बाणों की लोहे की नोक हटवाकर उन्हें बेकार करवा दिया था। सुल्तान मुहम्मद पक्का निशानेबाज था किंतु इससे वह निस्सहाय हो गया। उसने अपनी तलवार खींच ली और गर्दन में बाण लगकर मरने के पहले अनेक सैनिक मार डाले। उसे रायबरेली जिले में डलमऊ में दफन कर दिया गया। हुसेन शाह ने उसकी कब्र पर एक मकबरा बनवाया।

हुसेन शाह शर्की (1458-1505)

सुल्तान मुहम्मद शाह की मृत्यु के पश्चात् हुसेन शाह के सामने मैदान साफ हो गया किंतु बहलोल फिर भी मौजूद था। हुसेन शाह ने उससे संधि का निश्चय किया और दोनों ने चार वर्ष के लिए युद्ध विराम का समझौता कर लिया। उसने कन्नौज से जौनपुर के लिए प्रस्थान किया और कुतुब खां लोदी को सम्मानपूर्वक लाए जाने के लिए जौनपुर एक अग्रिम संदेश भेजा। हुसेन ने कुतुब खां को बहलोल के पास भेज दिया जिसने बदले में राजकुमार जलाल को जौनुपर भेज दिया।

जौनपुर पहुंचने के पश्चात् हुसेन शाह की प्रथम चिंता यह थी कि किस प्रकार शांतिपूर्ण वातावरण स्थापित किया जाए उसने उन अमीरों को दंड दिया जो राजकुमार हसन के वध में शामिल थे।

सुल्तान मुहम्मद शर्की के समय में उड़ीसा एक अधीनस्थ प्रदेश बन गया था। किंतु बाद में वहां के शासक ने खराज देना बंद कर दिया था। समस्त विप्लवी तत्वों का दमन करने के लिए अपनी सेना का पुनर्संगठन करने के पश्चात् हुसेन शाह ने तिरहुत के रायों को दंड दिया और उनसे देय भूमिकर वसूल कर उसने उड़ीसा की ओर कूच किया। उड़ीसा के शासक रूद्र प्रताप देव (1435-67) ने समर्पण किया और शर्की शासक को तीस हाथी और सौ घोड़े भेंट किए। विजयी और अपनी उपलब्धियों से प्रफुल्लित होकर सुल्तान हुसेन अपनी राजधानी लौट आया।

1465 में सुल्तान हुसेन ने बनारस के दुर्ग की मरम्मत की जिसका बड़ा सामरिक महत्व था। उसने दुर्ग में रक्षक सेना भी रखी।

1466-67 में सुल्तान हुसेन ने ग्वालियर के राजा मानसिंह के विरुद्ध एक सेना भेजी। दीर्घकालीन अवरोध का सामना करने में असमर्थ होकर राजा ने जौनपुर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

बहलोल ओर सुल्तान हुसेन शर्की के बीच चार वर्ष के लिए युद्ध विराम संधि हुई थी। इस अवधि में हुसेन ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी और उड़ीसा और ग्वालियर के सफल अभियानों द्वारा उसे बहुत ख्याति और आत्मविश्वास प्राप्त हुआ था अब एकमात्र शक्ति जिसे शर्की सत्ता का प्रतिद्वंद्वी समझते थे दिल्ली का सुल्तान था।

1468 में जब बहलोल सुल्तान कुछ उपद्रवों का दमन करने जा रहा था हुसेन शर्की ने दिल्ली पर आक्रमण की योजना बनाई यद्यपि शर्की सुल्तान की साम्राज्यवादी भावनाएं बहलोल के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त थीं किन्तु शम्साबाद के शर्की राज्यपाल जौना खां के निष्कासन ने दिल्ली पर आक्रमण का आवश्यक नैतिक औचित्य उपलब्ध कर दिया

जब हुसेन शर्की ने दिल्ली की ओर कूच किया तो अहमद खां मेवाती तथा कोयल के राज्यपाल रुस्तम खां आदि कुछ अफगान अमीरों ने बहलोल का साथ छोड़ दिया और उससे आ मिले। बहलोल आक्रमणकारी का सामना करने लौट पड़ा और दोनों सेनाओं का चंदवार के निकट सामना हुआ। लगभग एक सप्ताह तक अनिर्णायक युद्ध होता रहा। पुनः दोनों पक्षों के बीच तीन वर्ष के युद्ध विराम का समझौता हो गया और शर्की शासक को अपनी राजधानी लौटना पड़ा।

दिल्ली के विरुद्ध अपने प्रथम अनिर्णायक अभियान से लौटने पर हुसेन शर्की ने अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने की ओर ध्यान दिया। अपनी सैनिक क्षमता बढ़ाने के लिए उसने अपने अधीनस्थ सरदारों और जमींदारों से सहायता मांगी। एक तोपखाने का भी संगठन किया गया। कुछ संश्रित शासकों और समर्थकों को अपनी ओर मिलाने का भी प्रयास किया गया। बयाना का राज्यपाल अहमद खां जिलवानी उसकी ओर मिल गया और बयाना में उसके नाम का 'खुत्बा' पढ़वा दिया। सुल्तान ने मेवात के अहमद खां की सद्भावनाएं और संश्रय भी प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार अपनी स्थिति पुनर्संगठित कर शर्की सुल्तान ने दिल्ली पर दूसरे आक्रमण की तैयारी की। मलिक शम्स नामक एक लब्धप्रतिष्ठ अमीर ने उसे सलाह दी की वह एक वर्ष के लिए अभियान स्थगित कर दे और इस बीच जनता का अधिक समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करे और सीमा पर अपनी तैयारियों तेज कर दे। बीबी खुन्जा इस सुझाव से सहमत नहीं हुई। उसने अपने पति से आग्रह किया कि शीघ्र ही उसके पिता अलाउद्दीन आलमशाह के सिंहासन पर अधिकार कर ले। अस्तु 1469 में सुल्तान हुसेन शर्की ने एक सेना सहित जिसमें 1,40,000 अश्वरोही और 1,400 लड़ाकू हाथी थे, दिल्ली की ओर कूच किया।

बहलोल ने स्थिति की गंभीरता महसूस की और विशाल शर्की सेना का सामना करने के लिए मालवा के शक्तिशाली शासक सुल्तान महमूद खल्जी का समर्थन और संश्रय प्राप्त करना चाहा। राजनीतिक सौदेबाजी के तौर पर बहलोल ने खल्जी शासक को बयाना और उसके अधीनस्थ प्रदेश देने का प्रस्ताव रखा। किंतु इसके पूर्व कि इस समझौते की शर्तों पर अमल हो 3 मई 1469 को सुल्तान महमूद की मृत्यु हो गई और बहलोल को शर्की शासक का सामना करने के लिए अपने साधनों पर ही निर्भर करना पड़ा।

मार्ग में स्थित मुख्य नगरों जैसे कोयल और बुलंदशहर पर अधिकार करते हुए हुसेन यमुना के किनारे पहुंचा और उसके पूर्वी तट पर अपना शिविर लगाया। दूसरे किनारे पर बहलोल ने केवल 18,000 घुड़सवारों की सेना सहित अपना शिविर लगाया। दिल्ली और जौनपुर की सेनाओं के बीच यमुना नदी थी जो उनकी सीधी मुठभेड़ में बाधक थी। हुसेन ने अपने सैनिक दस्ते निकटवर्ती प्रदेश लूटने के लिए भेजे। बहलोल ने इसका लाभ उठाया और अपनी सेनाओं को दोपहर के समय यमुना नदी पार करने की आज्ञा दी। इस अप्रत्याशित आक्रमण से शर्की सेना में हाहाकार मच गया और हुसेन को अपना हरम छोड़कर, जिसमें महिलाएं जहां बीबी खुन्जा भी थी, भागना पड़ा। मलिक शम्स मार डाला गया। बहलोल ने हुसेन के हरम से सद्–व्यवहार किया और मलिक शम्स का सर तथा बीबी खुन्जा को सुल्तान हुसेन के पास भेज दिया। सुल्तान हुसेन के दिल्ली के इस दूसरे अभियान का यह विध्वंसात्मक परिणाम हुआ।

हुसेन शर्की एक हठीले और दृढ़ स्वभाववाला व्यक्ति था और वह किसी प्रकार दिल्ली पर अधिकार करने की महत्वकांक्षा त्यागना नहीं चाहता था। 1471 में उसने तीसरी बार एक लाख अश्वारोहियों और एक हजार हाथियों की सेना लेकर दिल्ली के विरुद्ध कूच किया। बहलोल उसका सामना करने आया किंतु युद्ध होने के पूर्व उसने हुसेन शर्की के पास एक विनय संदेश भेजा कि वह 'उसकी भूल क्षमा कर दे' उसे अकेल छोड़ दे क्योंकि हो सकता है कि वह कभी उसके काम आए। महत्वकांक्षी हुसेन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बुलंदशहर के भटवारा नामक ग्राम के पास दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ। अंत में खाने जहां लोदी ने मध्यस्थता की और संधि हो गई तथा हुसेन इटावा लौट आया।

नुकसान की परवाह न करते हुए, दिल्ली पर विजय पाने के उत्सुक हुसेन ने चौथी बार उसके विरुद्ध कूच किया। दिल्ली से पच्चीस मील दूर सिखारा के निकट हुए युद्ध में वर्षा के कारण वह अपनी महत्वाकांक्षा पूरी न कर सका और बहलोल से संधि कर इटावा लौट आया।

1478 में सुल्तान अलाउद्दीन आलम शाह की बदायूं में मृत्यु हो गई। हुसेन अपने ससुर की मृत्यु पर संवेदना प्रकट करने के लिए बदायूं गया था किंतु उस पर अधिकार करने का निश्चय कर लिया। उसने तातार खां के मुबारक खां को संभल से मार भगाया और उस पर भी अधिकार कर लिया।

बदायूं और संभल अपने राज्य में मिलाने के पश्चात् हुसेन ने पांचवी बार दिल्ली के विरुद्ध कूच किया और फरवरी–मार्च 1478 ई. ग्रमुना नदी के किनारे संभल सरकार में कच्छ के घाट के निकट अपना शिविर लगाया। बहलोल शीघ्रतापूर्वक दिल्ली से चला। युद्ध में हुसेन शर्की की विजय हुई। बहलोल की सेना संख्या में भी कम थी और हेरफेर में भी मात खा गई। किंतु हुसेन को इतनी कठिनाई से प्राप्त विजय का फल चखना बदा नहीं था। कुतुब खां लोदी की छलयुक्त योजना ने उसका पासा पलट दिया। कुतुब ने हुसेन के पास उसकी माता बीबी राजी का अपने प्रति स्नेह का उल्लेख करते हुए यह संदेश भेजा कि वह दिल्ली न लूटे। हुसेन बहलोल से संधि करने के लिए तैयार हो गया जिसके अनुसार गंगा नदी के पूर्वी क्षेत्र पर हुसेन का और पश्चिमी क्षेत्र पर बहलोल का शासन होना था।

सुल्तान हुसेन को जिसने बारंबार संधियों और युद्ध विरामों की अवहेलना की थी, इस बार अपना वचन भग करने के भीषण परिणाम भोगने पड़े। एक रात हुसेन ने बड़ी सजधज सहित एक दावत का आयोजन किया। वहां उपस्थित कुतुब खा ने दावत की प्रशंसा की और यह सुझाव दिया कि यदि वह नदी के भव्य किनारे पर आयोजित हो तो और अधिक रमणीय होगी। हुसेन ने सुझाव का अनुमोदन किया और स्थान नदी के किनारे बदल दिया गया। इसी समय बहलोल की सेना ने हुसेन पर आक्रमण कर दिया। हुसेन की विजय पूर्ण विनाश में बदल गई। उसके अनुभवी सेनानी बंदी बना लिए गए। उसकी साज–सज्जा सामग्री और खजाना लूट लिया गया। बहलोल ने हुसेन का भी पीछा किया किंतु वह किसी प्रकार भाग निकाला। उसकी पत्नी बीबी खुन्जा पुनः बंदी बना ली गई। कंपिल, पटियाली, कोयल, शम्सबाद, मारहरा और जलली पर बहलोल ने शीघ्र अधिकार कर लिया। उसने हुसेन का भी पीछा किया। अत्यंत कठिन परिस्थिति होने पर हुसेन वापस हुआ और फर्रूखाबाद से सोलह मील दूर रझोहर गांव के निकट बहलोल से युद्ध किया। हुसेन बड़ी वीरता से लड़ा और बहलोल संधि करने पर विवश हो गया। यह निश्चित हुआ कि दोनों शासकों का अपनी पुरानी सीमाओं पर अधिकार रहेगा।

सुल्तान हुसेन शर्की सुस्ताने वाला व्यक्ति नहीं था और न वह अपने वचनों पर दृढ़ रह सकता था। 1480-81 ई. में अपनी पत्नी के उकसाने पर उसने छठी बार दिल्ली के विरुद्ध कूच किया। दिल्ली की सेना ने उसे सोनहार के निकट रोका और उसे करारी हार दी। बहलोल ने उसकी साज–सज्जा, सामग्री और खजाना आदि लूट लिया। हुसेन रापरी चला आया और बहलोल धूपामऊ में रहा।

हुसेन और बहलोल दोनों अभी युद्ध के परिणाम से संतुष्ट न थे। 1482 में रापरी के निकट सिरसा में एक और युद्ध हुआ और शर्की सुल्तान को बुरी तरह पराजित होकर लड़ाई के मैदान से भागना पड़ा। यमुना नदी पार करते समय उसके परिवार के कुछ लोग डूब गए। अत्यंत दीन अवस्था के कारण हुसेन ने अपने अधीनस्थ सरदार ग्वालियर के राजा से सहायता मांगी। वह क्षेत्र डाकुओं और लुटेरों से भरा था और हटकंठ के निकट भदौरियों लुटेरे ने उसका शिविर लूटा। राजा कीरत सिंह ने उसे कई लाख रुपए खराज में दिये और उसे घोड़े तथा सज्जा भी दी। हुसेन गंगा नदी के तट पर रनगांव में ठहरा और बहलोला ने उसे निपटने के लिए उधर कूच किया। कई मास तक छुटपुट निष्फल लड़ाइयां होती रहीं क्योंकि दोनों सेनाओं के बीच गंगा नदी थी। बक्सर (उन्नाव जिले की तिरवा तहसील के डौंडिया खेरा पर गने में) के राज्यपाल तिलोक चंद की सहायता से बहलोल नदी पार करने में सफल हो गया और हुसेन को भट्टा (रीवा) में शरण लेनी पड़ी। बहलोल ने उसका पीछा किया और जौनपुर जाने के बजाय वह कन्नौज चला गया। बहलोल ने उसका पीछा किया और 1481-82 ई. में काली नदी के किनारे युद्ध हुआ जिसमें हुसेन पराजित हुआ। उसकी पत्नी बीबी खुन्जा बहलोल द्वारा बंदी बनाई गई किंतु वह मुक्ति पाने में सफल हुई।

बहलोल का जौनपुर पर अधिकार

अपनी विजयी सेना सहित बहलोल आगे बढ़ा और 1483-84 ई. में जौनपुर पर अधिकार कर उसने वहा अपने सिक्के चलाए। जौनपुर और निकटवर्ती प्रदेशों में सैनिक चौकियां स्थापित की गईं और मुबारक खां नूहानी नगर का अधिकारी नियुक्त किया गया। किंतु हुसेन सरलता से यह सब स्वीकार करने वाला व्यक्ति नहीं था। उसने अपनी अस्त–व्यस्त सेना एकत्रित की और जौनपुर की ओर चला। लोदी राज्यपाल मुबारक नूहानी को मिझाली में शरण लेनी पड़ी जहां बहलोल ने एक सैनिक छावनी स्थापित की थी। बहलोल ने अपनी घिरी हुई सेना की सहायता के लिए अपने पुत्र बारबकशाह को भेजा। बाद में बहलोल ने स्वयं जौनपुर की ओर कूच किया और हुसैन को बिहार भागना पड़ा। उसका पीछा किया गया किंतु वह अफगान सेना से बच निकला। पराजित शत्रु के प्रति उदारता प्रदर्शित करते हुए बहलोला ने उसे चुनार के निकट के कुछ क्षेत्र जो कभी उसकी जागीर थी उसके पास रहने दिए। बारबकशाह पुनः जौनपुर में सिहांसनरूढ हुआ। शर्की राज्य समाप्त हो गया और लोदी सम्राट ने अपने सिक्के प्रचलित किए। शर्की प्रदेशों पर अधिकार कर लिया गया और शासन के लिए अफगान अधिकारी नियुक्त किए गए।

जौनपुर से लोदी सत्ता उखाड़ने के लिए हुसेन ने पुनः प्रयत्न किया और बारबकशाह को आत्मसमर्पण के लिए विवश कर दिया। किंतु बहलोल वहां पहुंचा गया। उसने अपनी सेना दो दलों में विभाजित की, एक अहमद खां और कुतुब खा के नेतृत्व में, जिसमें पंद्रह हजार अश्वारोही थे, और दूसरी दौलत खां के नेतृत्व में जिसमें पांच हजार अश्वारोही थे घात लगा कर अचानक आक्रमण की नीति अपनाई गई। सेना के दूसरे दल को शर्कियों से लड़ना था और प्रथम दल को शर्की सेना को

अस्तव्यस्त करने के उद्देश्य से बाद में रणक्षेत्र में आना था। हुसेन पुनः पराजित हुए और एक बार फिर उसे बिहार में शरण लेनी पड़ी। बारबकशाह पुनः अधिष्ठित हुआ।

1488-89 में बहलोल की मृत्यु हो गई और सिंकर लोदी सिंहासनरूढ़ हुआ किंतु कुछ अमीर बारबकशाह को सिंहासन पर बिठाना चाहते थे। बारबक ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। बारबकशाह का ध्यान दिल्ली की ओर मोड़ने के लिए और जौनपुर में अपनी सत्ता पुनर्संगठित करने के लिए हुसेन शर्की ने यह सुअवसर समझा। किंतु सिकंदर लोदी ने डटकर स्थिति का सामना किया। बारबक का दमन करने के पश्चात् उसने उसे पुनः जौनुपर में स्थापित करना अधिक नीतिसम्मत समझा।

यद्यपि हुसेन जौनपुर से निकल चुका था और शर्की सत्ता ध्वस्त कर दी गई थी किंतु प्रदेश के जमींदारों और सरदारों की हुसेन के प्रति निष्ठा ऐसी थी कि उसने कई वर्षों तक बल्कि जीवन पर्यंत अपने खोए हुए राज्य की प्राप्ति की आशा नहीं छोड़ी। राजपूत सरदारों में सबसे शक्तिशाली सरदार बचगोती राजपूत जोगा था जिसने लोदी सत्ता के अंतर्गत क्षेत्रों में अराजकता उत्पन्न कर हुसने का समर्थन किया था। बारबकशाह और सिकंदर लोदी को बहुत परेशान करने के पश्चात् वह सुल्तान हुसेन के पास भाग गया और जौंद के दुर्ग में उससे आ मिला। सिकंदर ने हुसने के पास संदेश भेजा कि या वह जोगा को उसे समर्पित कर दे या उसकी ओर से उसे दंड दे। हुसेन ने उसे यह उत्तर दिया, 'जोगा मेरा नौकर है। तुम्हारा पिता एक सैनिक था जिससे मैं तलवार तौल रहा था। मेरे लिए तुम एक मूर्ख बालक हो। यदि तुम बकवास करोगे तो मैं अपने जूतों से तुम्हारी धुनाई करूंगा तलवार से नहीं।' सिकंदर के पास हुसेन के विरुद्ध कूच करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प न रह गया। 1492 में कठगढ़ के निकट सेनाओं का सामना हुआ। हुसेन बुरी तरह पराजित हुआ। उसे बिहार भागना पड़ा किंतु कुछ समय तक चुनार, चेरंद और बिहार उसके अधिकार में रहे।

जब सिकंदर जौनपुर से चला गया तो स्थानीय सरदार पुनः बारबक के विरुद्ध उठ खड़े हुये और उसे जौनपुर से मार भगाया। सिकंदर ने इसका अर्थ लगाया कि बारबक अयोग्य है और उसे बंदी बना लिया।

सिकंदर को यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि जब तक हुसने बिहार में है जौनपुर में शांति नहीं रह सकती। इसलिए वह हुसेन के दुर्गों की ओर बढ़ा। उसके आदेशानुसार मुबारक खां ने चुनार घेर लिया। दुर्ग के शर्की अधिकारी ने हुसैन से सहायता मांगी। जिसने एक राजपूत सरदार उसकी सहायता के लिए भेजा। 1493 में चुनार की लड़ाई में सिकंदर की सेनाएं पराजित हुई और मुबारक खां बंदी बना लिया गया।

तत्पश्चात् सिकंदर ने स्वयं चुनार दुर्ग के विरुद्ध कूच किया किंतु उसे कोई सफलता नहीं मिली। फिर उसने भट्टा के राजा भेद की ओर रुख किया जिसने मुबारक खां को बंदी बना रखा था। राजा घबरा गया। उसने मुबारक को छोड़ दिया और हुसेन के पास भाग गया। 1494 में सिकंदर ने पुनः राजा भेद के विरुद्ध कूच किया और उसे पराजित कर दिया।

तदुपरांत सिकंदर ने फफूंद की ओर कूच किया जो भट्टा के अधीन था। रसद की कमी, परिवहन के घटिया साधनों और दुर्गम मार्गों के कारण कारण सेना के सामने बड़ी कठिनाइयां आईं। निजामुद्दीन बख्शी के अनुसार उसके नब्बे प्रतिशत घोड़े नष्ट हो गए। हुसेन के सहायकों और समर्थकों ने उसके पास संदेश भेजा कि वह अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करे। सुल्तान हुसेन चल पड़ा और मार्ग में राजपूत तथा अन्य सरदार उससे आ मिले। 1494 में सिकंदर ने बनारस से छत्तीस मील दूर हुसेन की सेना का सामना किया। भयंकर युद्ध हुआ और हुसैन पूर्णरूपेण पराजित हुआ। वह भट्टा प्रदेश की ओर भागा किंतु सिकंदर ने उसका पीछा किया। विषम परिस्थिति होने पर हुसेन ने बिहार का किला मलिक कंडू के अधिकार में सौंपा और स्वयं कुलगांव की ओर चला जो लखनौती के अधीन प्रदेश था। लखनौती के शासक सुल्तान अलाउद्दीन हुसेन शाह (1493-1518) ने उसका स्वागत किया और उसे सभी सुविधाएं देते हुए उसे कुलगांव परगना दे दिया। उसे अपने सिक्के चलाने का भी अधिकार दे दिया गया।

सिकंदर ने मलिक कंडू के विरुद्ध एक सेना भेजी। वह 1495 में दुर्ग छोड़कर भाग गया। दुर्ग पर अधिकार कर लिया गया और मुबारक खां नूहानी को उसकी सुरक्षा का कार्यभार सौंपा गया। तत्पश्चात् सिकंदर ने बंगाल के शासक से निपटने का निश्चय किया जिसने शर्की शासक को शरण दी थी। उसने सीमा के अनेक महत्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया और अपनी स्थिति इस प्रकार सुदृढ़ कर ली कि अलाउद्दीन हुसेन शाह उसकी गतिविधियों को चुनौती न दे सका। उसने अपने पुत्र दानियाल के नेतृत्व में एक सेना लोदी सुल्तान से निपटने के लिए भेजी। सुल्तान ने महमूद खां लोदी और मुबारक खां नुहानी को उसके विरुद्ध भेजा। दोनों सेनाएं पटना जिले में बाढ़ के निकट मिलीं इससे पूर्व कि युद्ध हो, संधिवार्ता आरंभ हो गई और दोनों पक्षों ने एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता का आदर करना और एक दूसरे के शत्रुओं को शरण न देना स्वीकार किया।

सिकंदर जौनपुर लौट आया और वहां छः मास तक विश्राम किया। उसने सभी शर्की भवन और स्मारक, महल, बाग आदि नष्ट कर दिए। उसने शर्कियों द्वारा निर्मित मस्जिदें भी नष्ट कर दी होतीं किंतु 'उलमा' ने उसे इस सीमा तक विनाश से रोका।

शर्की सत्ता जिस प्रकार अफगानों द्वारा नष्ट की जा रही थी उससे सुल्तान हुसेन बड़ा दुखी हुआ। इससे पूर्व कि वह भी हो उसने अपना सिहासन प्राप्त करने का एक और प्रयास किया। बंगाल के शासक अलाउद्दीन हुसेन ने उसे सनिक सहायता स्थगित करने की सलाह दी किन्तु 1500 ई. में हुसेन तीव्र गति से आगे बढ़ा और बिहार पहुंच कर दुर्ग घेर लिया। कि अफगान राज्यपाल दरिया खां की सहायता के लिए सुल्तान सिकन्दर की ओर घुड़सवारों की सेना के आगमन स हुसेन की स्थिति संकटपूर्ण हो गई और उसे निराश होकर लौटना पड़ा व 1505 ई. में उसकी मृत्यु हो गई और उसके साथ ही शर्की व के अंतिम अवशेष भी समाप्त हो गए।

मालवा

सल्तनत के पतन ने मालवा के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के मार्ग को प्रशस्त किया। मालवा के तुगलक गवर्नर दिलावर ख ने सन् 1406 ई. में स्वतंत्रता प्राप्त कर ली और स्वयं को मालवा का राजा घोषित कर दिया। उसने **निमार, सैमार, दशोह** तथ **चन्देरी** पर अधिकार करके अपने राज्य की सीमाओं का प्रसार किया। दिलावर खां ने अपनी पुत्री का विवाह खानदेश मलिक राजा फारूकी के बेटे अली शेर खल्जी के साथ किया और फारूखी की बेटी का विवाह अपने पुत्र अल्प खा के साथ इन वैवाहिक संबंधों द्वारा उसे अपने राज्य की दक्षिण–पूर्वी सीमाओं की रक्षा करने में मदद मिली। गुजरात के शास मुजफ्फरशाह के साथ मित्रतापूर्ण संबंध बनाए रखते हुए उसने सफलतापूर्वक मालवा को आक्रमणों से बचाया लेकिन शीघ्र ही 1407 ई. में उसकी मृत्यु हो जाने के कारण मालवा गुजरात के शासक मुजफ्फर की साम्राज्यवादी अभिलाषाओं का शिकार ह गया लेकिन 1408 ई. में होशंक शाह (1406-35 ई.) ने मालवा की सत्ता पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त कर ली।

मालवा का राज्य नर्मदा और ताप्ती नदियों के बीच के उच्च पठार पर स्थिति था यह गुजरात और उत्तरी भारत के बीच एवं उत्तर और दक्षिण भारत के बीच के मुख्य मार्गों का नियंत्रण और उपयोग करने की स्थिति में था। जब तक मालवा मजबू बना रहा तब तक उसने गुजरात मेवाड़, बहमनियों एवं दिल्ली के लोदियों की महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश बनाए रखा। उत्तर भारत में भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि यदि इस क्षेत्र के शक्तिशाली राज्यों में से कोई भी मालवा पर अपना नियंत्रण कायम कर लेता तो वह समस्त उत्तरी भारत पर अपना प्रभुत्व जमाने की बात सोच सकता था।

पन्द्रवीं सदी के दौरान मालवा राज्य अपनी शक्ति के उत्कर्ष पर बना रहा। राजधानी को धार से हटाकर माडू ले जाया गय मांडू एक ऐसा स्थान था जो अत्यन्त रक्षात्म था। यहां मालवा के सुल्तानों ने अनेक इमारतें बनवाईं। मांडू के भवन अत्यन्त विशाल थे एवं उनकी विशालता को और अधिक दर्शाने के लिए भवनों का आधार काफी ऊंचा बनाया।

आरम्भ से ही मालवा राज्य आंतरिक कलहों से ग्रसित था। राजगद्दी के विभिन्न दावेदारों के बीच उत्तराधिकार के युद्ध के साथ–साथ चलती रहती थी। गुजरात और मेवाड़ जैसे पड़ौसी राज्य इस गुटबंदी का लाभ उठाने की चेष्ट में हमेशा लगे रहते थ

होशंग शाह–मालवा के प्रारम्भिक सुल्तानों में से दिलावर खां का पुत्र अलप खां था जिसने 1406 ई. में होशग खा की उपा धारण की व मालवा के सिहांसन पर बैठा। उसने धार्मिक सहिष्णुता की व्यापक नीति अपनाई। कई राजपूतों के, जिनम कुछ आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश के थे, मालवा में बसने के लिए प्रोत्साहित किया गया और उन्हें अच्छी जागीरें प्रदान की गई इनमें से एक राय सिल्हदी था। मेवाड़ के राणा मोकल के दो बड़े भाई, को भी मालवा में जागीरें दी गई। होशंग शाह मालवा की सत्ता पर अधिकार करने के शीघ्र बाद ही खेरला और गगलौत पर अधिकार कर लिया। उसकी दृष्टि ग्वालियर प भी लगी थी लेकिन मुबारकशाह की शक्ति को महसूस करने पर ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ नुकसान पहुंचाने के बाद 14[illegible] ई होशंग शाह ने ग्वालियर से अपनी सेनाओं को वापिस लौटा लिया। होशंग शाह ने कालपी के मुस्लिम शासक के [illegible] वैवाहिक संबंध स्थापित किए और उसने कालपी का उपयोग जौनपुर, मालवा तथा दिल्ली मालवा के बीच मध्यवर्ती [illegible] रूप में किया।

इस काल में निर्मित ललित मंदिर के अभिलेख से पता चलता है कि मंदिरों के निर्माण पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाय [illegible] होशंग शाह ने जैनों को अपना संरक्षण प्रदान किया जो इस क्षेत्र के प्रमुख वाणिज्यिक व्यापारी एवं महाजन थ [illegible] नरदेव व सोनी जोकि एक सफल व्यापारी था, होशंग शाह का खजांची और उसके सलाहकारों मे स एक थ।

होशंग शाह का उत्तराधिकारी मोहम्मद शाह अयोग्य साबित हुआ। मोहम्मद शाह के संक्षिप्त शासनकाल में मालवा का दरबार आंतरिक षड्यंत्रों का अखाड़ा बन गया और इसके गंभीर परिणाम हुआ। इसकी अंतिम परिणति 1436 ई. में उसकी हत्या के रूप में हुई और यह हत्या उसके ही कुलीन वर्ग के एक सदस्य महमूद खल्जी द्वारा की गई।

महमूद खल्जी (1436-69 ई.)—महमूद खल्जी को गौरी अमीरों द्वारा चुनौती दी गई। उसने प्रारम्भ से ही तुस्टीकरण की नीति का अनुसरण किया और उनको जागीरें तथा उच्च पद प्रदान किए, लेकिन वे उनका समर्थन प्राप्त न कर सका। उसके उच्च कुलीनों द्वारा किए गए अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। अंत में, उसने इन विद्रोही कुलीनों की समस्या का सफलतापूर्वक हल कर लिया। अपनी आंतरिक स्थिति को सुदृढ़ करने के बाद महमूद खल्जी को अपने राज्य के प्रसार करने का समय प्राप्त हो गया।

महमूद खल्जी एक महत्वाकांक्षी सुल्तान था उसने लगभग अपने सभी पड़ोसियों—गुजरात के सुल्तानों, गोंडवाना और उडीसा के शासकों, बहमनी सुल्तानों एवं यहां तक कि दिल्ली के सुल्तानों के साथ युद्ध किया। किन्तु उसकी शक्ति मुख्य रूप से दक्षिण राजपूताना को रौंदने ओर मेवाड़ को अधीन कराने के प्रयास में लगी हुई थी।

पड़ोसी राज्य से महमूद खल्जी के संबंध

क. **मेवाड़**—पड़ोसी राज्यों से अपने संबंधों में महमूद खल्जी ने पहले मेवाड़ की ओर ध्यान दिया। महाराणा कुंभा के राज्यारोहण और रणमल राठोर के संरक्षण में मेवाड़ के राज्य ने एक आक्रामक विदेशी नीति के युग का श्रीगणेश किया। मेवाड़ ने हाड़वती दसूर (मंदसोर) तथा मालवा की सीमा पर अन्य राजपूत सरदारों पर जिन्होंने किसी समय होशंग शाह की सत्ता स्वीकर की थी, अपनी सत्ता का दावा किया।

महमूद खल्जी के राज्यारोहण के समय मेवाड़ ने राजकुमार उमर खां को भी शरण दी। बाद में जब महमूद शाह आंतरिक विद्रोह कुचलने और अहमद शाह के आक्रमण का सामना करने में व्यस्था था तो उसने मालवा का सिंहासन प्राप्त करने के प्रयास में उसकी सहायता की। इस कारण महमूद खल्जी के लिए मेवाड़ की ओर से खतरा और कठिनाई उपस्थित हुई। किंतु उसके शासन के आरंभिक वर्ष आंतरिक कठिनाइयों से पूर्ण थे और उसने स्वयं को मेवाड़ के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए यथेष्ट शक्तिशाली नहीं पाया। किंतु 1442 तक घटनाओं के क्रम ने स्थितियां यथेष्ट रूप से उसके अनुकूल बदल दी थीं। जिस समय महमूद ने अपना राज्य संगठित किया और उसके साधनों में वृद्धि हुई, मेवाड़ अनेक आंतरिक कठिनाइयों से गुजर कर निकला था जैसे 1438 में रणमल की हत्या, तदुपरांत सिसोदिया और राठौर की हत्या और महाराणा कुंभा और उनके भाई खेमकरण के बीच युद्ध। 1441 के अंत या 1442 के आरंभ तक खेमकरण महाराणा द्वारा बड़ी सेना से निकाल दिया गया। तत्पश्चात् वह महाराणा का प्रकट शत्रु बन गया। उसने महमूद खल्जी के दरबार में मालवा की ओर अपना प्रदेश पुनः प्राप्त करने के लिए उससे सहायता मांगी। महमूद खल्जी ने सिसोदिया राजकुंवर का स्वागत किया और रामपुरा—भानुपुरा के निकट उसे जागीर दी। खेमकरण के आगमन से महमूद को आक्रमण करने का एक बहाना मिल गया। खेमकरण और उसके राजपूत अनुयायी भी इन आक्रमणों में महमूद के भलीभांति सहायक हुए। वास्तव में महमूद के मेवाड़ पर आक्रमण में खेमकरण का अधिक हाथ था।

12 अगस्त 1442 को अहमद शाह की मृत्यु ने भी महमूद को गुजरात की ओर से भय से छुटकारा दिला दिया। 30 नवंबर 1442 को सुल्तान महमूद ने मेवाड़ की ओर कूच किया और पहले किलवाड़ा पर आक्रमण कर विनाश की नीति का अनुसरण करते हुए वह अंत में कुंभलगढ़ पहुंचा। दीर्घकालीन घेरे के लिए दुर्ग बहुत दृढ़ था। इसलिए उसकी घेरेबंदी मे समय नष्ट करने के बजाय महमूद ने बनमाता मंदिर पर आक्रमण कर दिया जो लगभग उसके तल पर स्थित था और किलेबंदी द्वारा सुरक्षित था। किलेबंदी का अधिकारी दीपसिंह सात दिन तक लड़ा, किंतु जब वह लड़ाई में मारा गया तो मंदिर पर महमूद का अधिकार हो गया जिसने उसे नष्ट कर दिया। मंदिर के विनाश का सामरिक उद्देश्य था क्योंकि उसमें मुख्य दुर्ग की रक्षा के लिए अस्त्रों का भंडार भी था। वास्तव में वह स्वरक्षा का अंग था यद्यपि बाहर से मंदिर दिखाई देता था। तत्पश्चात् महमूद चित्तौड़ की ओर चला और मार्ग में पनकरा लूटने के आदेश दिए। किंतु इससे पूर्व कि वह चित्तौड़ पर आक्रमण करता उसे अपने पिता की मृत्यु का समाचार प्राप्त हुआ जो उस समय मंदसोर में विद्रोह का दमन कर रहा था। पिता की मृत्यु महमूद के लिए एक महान क्षति थी और शोक तथा दुख में डूबा वह तुरंत मंदसोर लौटा। मातम के सभी क्रियाकर्म समाप्त करने के बाद उसे मंदसोर की देखरेख के लिए ताज खां को नियुक्त किया और स्वयं चित्तौड़ पर चढ़ाई के लिए कूच किया।

26 अप्रैल 1443 को महाराणा कुंभा ने महमूद के शिविर पर रात्रि आक्रमण किया। यद्यपि आक्रमण विफल कर दि गया फिर भी महमूद को किसी महत्वूर्ण सफलता की आशा न रही और इसलिए वह अपनी राजधानी लौट आया। यु अनिर्णायक होने के कारण दोनों पक्षों के इतिहासकारों ने अपने–अपने शासकों की विजय का दावा किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि महमूद यह समझ गया था कि मेवाड़ की समस्या को सुगमता से हल नहीं किया जा सकत था। इसलिए उसने विशाल मेवाड़ के उन क्षेत्रों को, जिन पर महाराणा कुंभा केवल सत्ता ही स्थापित कर पाए जीतकर उसे कमजोर बनाने का प्रयास किया। इस दृष्टि से उसने 25 नवंबर 1443 को गागरून की ओर कूच किय महमूद की कठिनाइयों के दिनों में गागरून का दुर्ग मालवा के अधिकार से निकल गया था और अचल दास खींची पुत्र पाल्हन ने दुर्ग के मालवी राज्यपाल दिलशाद से उसे छीन लिया था। फरवरी 1444 को महमूद गागरून के निक पहुंचा और दुर्ग घेर लिया। घेरेबंदी के एक सप्ताह पश्चात् महाराणा कुंभा द्वारा भेजी गई कुमक का सरदार दाहि मारा गया। भागते समय पाल्हन भी मारा गया और दुर्ग के निवासियों ने जौहर किया। दुर्ग जीत लिया गया। सुल्ता ने उसका नाम मुस्तफाबाद रखा और खीचीवाड़ा पर नियंत्रण रखने के लिए उसे प्रदेश का मुख्यालय बनाया। किलेबं पुनः की गई और उसे अधिक शक्तिशाली बनाया गया।

गागरून से महमूद मांडलगढ़ की ओर चला। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले कुछ संधिवार्ता हुई थी किन्तु असफल रह इस आक्रमण के समय मांडलगढ़ में महाराणा कुंभा उपस्थित था। महमूद ने कोई लाभ न देखा और सभवत झड़प कुछ पराजय भी भुगतनी पड़ी होगी। इसलिए आने वाली वर्षा ऋतु के बहाने वह अपनी राजधानी लौट गया।

अक्तूबर 1446 को सुल्तान महमूद पुनः हाड़ावती और रणथंभोर की ओर चला। रणथंभोर में उसने नवीन प्रशासनिक व्यवस्था की और बहार खां के स्थान पर मलिक सैफुद्दीन दुर्ग का अधिकारी नियुक्त किया गया। उसने ताज खां औ इख्तियार खां को भी आल्हनपुर विजय पर रणथंभोर के अंतर्गत लाने के लिए भेजा। रणथंभोर की व्यवस्था करन पश्चात् उसने मांडलगढ पर आक्रमण किया किंतु पिछली बार की भांति इस बार भी उसे कोई सफलता नहीं मिल वह अपनी राजधानी लौट आया। राजधानी में थोड़े समय निवास के पश्चात् 1447-48 में वह पुनः बाहर निकला पहले ग्वालियर की ओर चला। किंतु ग्वालियर पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय उसने केवल कुछ युद्ध कि सेन को उसके घेरे में पीछे ढकेल कर वह स्वयं आगरा की ओर बढ़ा और वहां से वह बयाना गया।

बयाना के मुहम्मद खां ने महमूद के सामने तुरंत आत्मसमर्पण कर दिया और उसकी सर्वसत्ता स्वीकार कर ली खां हिंडवनी ने भी उसे समर्पण कर दिया और बयाना के मुहम्मद खां से अपना झगड़ा सुलझाने के लिए मध्यस्थता का अनुरोध किया। महमूद ने इन दोनों से आग्रह किया कि वे अपने क्षेत्रों रहे और एक दूसरे के हस्तक्षेप न करें। इन स्थानों पर अपनी सत्ता स्थापित करने के पश्चात् वह अपनी राजधानी लौटा। 1455 में गया जहां उसे अजमेर के मुसलमानों ने हिंदू राज्यपाल के विरुद्ध एक याचिका दी। इस याचिका के बहाने महमू तुरंत अजमेर के लिए प्रस्थान किया और **ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती** के मकबरे के सामने पड़ाव डाला। अजमेर के राज्यपाल गजाधर सिंह ने चार दिन तक दुर्ग की रक्षा की किंतु पांचवें दिन वह लड़ते हुए मारा गया और दुर्ग प अधिकार कर लिया गया। महमूद ने ख्वाजा नईमुल्ला को सैफखां की उपाधि सहित अजमेर का राज्यपाल नियुक्त किया और पवित्र स्थान के परिचारकों में उपहार और वृत्तियां वितरित करने के पश्चात् वह मांडलगढ़ की ओर लौट ओर उस पर आक्रमण कर दिया। किंतु उस समय दुर्ग में उपस्थित महाराणा कुंभा ने उसे खदेड़ दिया और उसे अपन राज्य लौटना पड़ा। अगले वर्ष महमूद ने पुनः मांडलगढ़ पर आक्रमण कर दिया। उसने 24 दिसंबर 1456 को कूच किय और राज्य के विभिन्न भागों में नियुक्त अपने सैनिक बुलवा भेजे। मांडलगढ़ की बनावट से वह पहले ही परिचित था न केवल पहाड़ी पर स्थित था बल्कि ऊबड–खाबड़ पथरीली भूमि और घने जंगलों से घिरा था। निकट पहुंचने प उसने पूर्व दिशा में एक 'करोह' की दूरी पर अपना शिविर लगाया और पश्चिमी की ओर स्थित ऊंच टीले के शीर्ष तक एक सड़क बनाने के आदेश दिए। उसके निकट पहुंचने के तुरंत बाद युद्ध आरंभ हो गया किंतु मालवा के सैनि सड़क बनाने में सफल हुए। इस टीले पर महमूद ने स्थान ग्रहण किया और वहां से दुर्ग की घेरेबन्दी का निर्देश किया। वह जलाशय के बांध तोड़ने और अधिकांश जल बाहर बहा देने में सफल हुआ। शेष जल कूड़ा–कर्कट फेंक गंदा और बेकार कर दिया गया। अंत में खाई का एक भाग भर कर महमूद ने दीवार में दरार बनाई। कुछ [illegible]

अंतिम क्षण तक लड़े किंतु शेष ने आत्मसमर्पण कर दिया। 20 अक्तूबर 1457 को दुर्ग पर विजय प्राप्त हुई और दुर्ग की सब चीजों पर महमूद ने अधिकार कर लिया। विजय के प्रमाणस्वरूप प्राचीन मंदिर का विनाश कर उसी सामग्री से मस्जिद बनाए जाने के आदेश दिए। वहां एक काजी, मुफ्ती, मोहत्सिब और 'खतीब' की नियुक्ति भी की। मांडलगढ़ पर नियंत्रण के लिए उचित व्यवस्था करने के पश्चात् अत्यंत संतुष्ट हो वह अपनी राजधानी लौट आया। महमूद इसलिए सफल हुआ कि कुंभा उस समय जोधा के नेतृत्व में राठौरों से युद्ध कर रहा था और मांडलगढ़ की सहायता के लिए सेना नहीं भेज सका।

मांडलगढ़ की विजय के पश्चात् 3 सितंबर 1457 को महमूद ने चित्तौड़ की ओर कूच किया। उसने मंदसोर के निकट खल्जीपुर में अपने शिविर लगाए और वहां से केलवाड़ा, दिलवाड़ा और छप्पन की दिशा में कुछ दंडात्मक अभियान भेजे। बूंदी में विद्रोह का दमन करने के लिए भी उसे अभियान भेजना पड़ा। इस विद्रोह का दमन कर वह मांडू लौटा। 1458-59 में महमूद ने महाराणा कुंभा के प्रदेश पर एक और आक्रमण किया और कुछ स्थान लूटने तथा हानि पहुंचाने के बाद वह लौट आया। महमूद खल्जी का मेवाड़ पर अंतिम आक्रमण 1466-67 में हुआ किंतु उसे कोई सफलता न मिली। इस प्रकार हम देखते हैं कि महमूद खल्जी ने वास्तव में अपना–संपूर्ण जीवन मेवाड़ की सत्ता के विरुद्ध लगा दिया। इस संघर्ष में हम सदैव महमूद को आक्रामक पाते हैं। एकबार भी महाराणा कुंभा ने मालवा पर आक्रमण नहीं किया। इन दोनों शासकों ने अपने संघर्ष अपने उत्तराधिकारियों को विरासत में सौंपे और मालवा के स्वतंत्र राज्य के अस्तित्व की संपूर्ण अवधि में यह संघर्ष चलता रहा।

ख. **जौनपुर**–कालपी की मसनद पर हुशंग शाह ने जलाल खां को बिठाया था और शाहपुर कस्बा नसीर खाने जहां के लिए निश्चित किया था। किंतु हुशंग शाह की मृत्यु के पश्चात् नसीर खाने जहां ने महोबा और राठ पर अधिकार कर लिया जबकि जुनैद खां और इस्माईल खां क्रमशः एरच और जाथरा में स्वतंत्र हो गए। जलाल खां इन स्थानों पर अधिकार करने में असमर्थ हो मुहम्मदाबाद–कालपी तक सीमित अपने अधिकार से संतुष्ट रहा। महमूद खल्जी, जो इन वर्षों में व्यस्त रहा, कालपी के मामलों से दूर रहा। किंतु 1442-43 में जलाल खां की मृत्यु और नसीर खाने जहां के कालपी की मसनद पर बैठने से स्थिति बदल गई। अपनी सत्ता के संगठन और प्रसार के लिए किए गए प्रयत्नों के कारण नसीर खां की जनता का एक वर्ग उसका शत्रु बन गया और उन्होंने इस्लाम विरोधी गतिविधियों का मिथ्या आरोप लगा कर उसका तख्ता उलटना चाहा। शर्की शासक ने समझा कि नसीर खाने जहां शर्कियों के प्रति जिन्होंने उसका समर्थन किया था और उसे खाने जहां की उपाधि दी थी, कृतघ्न था। महमूद खल्जी भी खाने जहां से अप्रसन्न था क्योंकि उसने कालपी से मालवा की सत्ता का अंत कर दिया था। इसलिए जब 1442 में महमूद शर्की ने महमूद खल्जी के दरबार में अपने दूत नसीर खाने जहां को दंड देने की अनुमति लेने के लिए भेजे और इस प्रकार कालपी पर मालवा की सत्ता स्वीकार की तो महमूद खल्जी ने स्वीकृति दे दी। किंतु महमूद खल्जी ने यह नहीं चाहा कि शर्की शासक कालपी पर अपना सीधा प्रशासन स्थापित करे। इसलिए जब नसीर खां कालपी से खदेड़ दिया गया और उसने मालवा के चंदेरी नगर में शरण ली तो महमूद खल्जी ने अनुभव किया कि उसे मालवा का संरक्षण त्यागने का उचित दंड मिल गया है और उसने महमूद शर्की से नसीर खाने जहां को कालपी वापस किए जाने का आग्रह किया। जब महमूद शर्की ने उसके बारंबार आग्रह की कोई परवाह नहीं की तो महमूद खल्जी ने जौनपुर के शासक के विरुद्ध कूच किया। वह 14 नवंबर 1444 को चंदेरी की ओर चला। वहां से वह एरच और भांडेर की ओर चला किंतु महमूद शर्की पहले ही वहां पहुंच गया था। कुछ समय तक छुटपुट युद्ध होते रहे किंतु डट कर लड़ाई नहीं हुई। महमूद शर्की के सैनिकों ने जो इन झड़पों में सफल नहीं हो रहे थे, शांति स्थापित करने के लिए उलमा की मध्यस्थता का सहारा लिया। संधि से चार मास के भीतर वह नसीर खाने जहां को कालपी सौंपने पर राजी हो गया। इस प्रकार दोनों राज्यों के बीच संधि स्थापित हो गई।

ग. **गुजरात**–हुशंग शाह के बंदी बनाए जाने के समय से मालवा और गुजरात के संबंध तनावपूर्ण थे। अहमद शाह ने मसूद खां का पक्ष लिया था। किंतु मालवा से लौटने के पश्चात् और शासन के अंतिम वर्षों में उसने जान लिया था कि महमूद खल्जी गुजरात के लिए भावी खतरा है और शांति और मैत्री स्थापित करने के लिए उसने दूत और उपहार भेजे थे। मित्रता की इस उत्सुकता का महमूद खल्जी ने स्वागत किया क्योंकि इससे वह गुजरात की ओर से सुरक्षित हो गया किंतु वह उस राज्य के प्रति पूर्णतः उदासीन नहीं रहा। 1442 मे अहमद शाह मर गया। उसका उत्तराधिकारी मुहम्मद शाह अयोग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने मुहमद शाह को गुजरात में असंतोष भड़काने का अवसर दिया। यद्यपि वह अन्यत्र व्यस्त था किंतु वह

शेख कमाल को नियमित उपहार भेजकर उससे अच्छे संबंध बनाए रहा और उस राज्य पर आक्रमण करने के अवसर की धैरता से बाट जोहता रहा। 1450-51 में जब चंपानेर के शासक गंगादस ने मुहम्मद शाह गुजराती के आक्रमण विरुद्ध उससे सहायता की याचना की तो उसे पहला अवसर मिला। मालवा के मुसलमानों की, जो एक मुस्लमान विरुद्ध किसी काफिर को सहायता देने के पक्ष में नहीं थे, आकांक्षाएं तुष्ट करने के लिए महमूद ने मुसलमान मौलवियों से 'फतवा' (निर्णय) चाहा जिन्होंने सर्वसम्मति से उसकी नीति के समर्थन में अपना निर्णय दिया।

सुल्तान महमूद ने गुजरात पर चढ़ाई की किंतु चंपानेर की ओर कूच करने के बजाय उसने राजधानी पर आक्रमण कर दिया। पहले वह दोहद से गोधरा की ओर चला जहां उसने अपना शिविर लगाया और तब बालासिनोर की ओर बढ़ा। महमूद की इस गतिविधि से मुहम्मद शाह गुजराती चिंतित हो गया और चंपानेर का घेरा उठा कर तुरत अपनी राजधानी की सुरक्षा के लिए लौट आया। इस प्रकार छुटकारा पाकर चंपानेर का गंगादास महमूद खल्जी के शिविर में आया कुछ अश्वों सहित तेरह लाख टंके भेंट किए। महेंद्री नदी से सुल्तान महमूद अपनी सेना के लिए नए साधन जुटाने लगा और गुजरात पर दूसरी ओर से आक्रमण करने का निश्चय किया। उसी समय उसे शेख कमाल से गुजरात पर आक्रमण करने का निमंत्रण प्राप्त हुआ और इससे यह स्पष्ट हो गया कि शेख ने महमूद के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर दिया था।

जनवरी, 1451 के अंत में सुल्तान महमूद ने कूच आरंभ किया और दक्षिणपूर्व की ओर से गुजरात पर आक्रमण कर दिया। पहले उसने सुल्तानपुर पर आक्रमण किया जिसने सात दिनों के घेरे के पश्चात् समर्पण कर दिया। सुल्तानपुर के गुजराती राज्यपाल मलिक अलाउद्दीन सोहराब ने महमूद की सेवा ग्रहण कर ली। फिर वह आगे बढ़ा और उसने नदुरबार (नंदबार) लूटा। जब महमूद नंदरबार में था तो उसे सुल्तान मुहम्मद के निधन का समाचार मिला और उसने तुरंत गुजरात के नए सुल्तान कुतुबुद्दीन को उसके पूर्वाधिकारी की मृत्यु पर शोक संदेश भेजा और उसे राज्यारोपण की बधाई दी। नंदरबार से वह भड़ोच की ओर चला किंतु भड़ोच पर अधिकार करना कठिन देखकर वह बड़ौदा गया और उसे लूटने के पश्चात् उत्तर की ओर बढ़ा। सुल्तान कुतुबुद्दीन भी आगे बढ़ आया था और पहले ही से वाकानेर–खानपुर में पड़ाव डाले था। इस कारण महमूद ने यह उचित समझा कि महेंद्री नदी के ऊपर की ओर जाकर कपरबंज के निकट पार करे। जब महमूद उत्तर की ओर नदी पार करने के लिए बढ़ रहा था अलाउद्दीन सोहराब मालवा की सेना से भागा और वाकानेर–खानपुर के निकट नदी पार कर सुल्तान महमूद के कपरबंज के पास नदी पार करने की योजना सुल्तान कुतुबुद्दीन को बता दी। फिर भी महमूद कपरबंज के निकट पहले पहुंच गया और वहां अपना शिविर लगाए। सुल्तान कुतुबुद्दीन भी तुरंत बाद पहुंचा किंतु उसे अपना शिविर कपरबंज से तीन 'करोह' दूर खानपुर में लगाना पड़ा।

जब दोनों सेनाएं इस प्रकार तैनात थीं तो महमूद खल्जी ने सफर की अंतिम रात (2 अप्रैल) को एक निरर्थक रात्रि आक्रमण किया। वास्तविक युद्ध अगले प्रातःकाल हुआ। चंदेरी के मुज्जफर खां ने पहला धावा किया और गुजरातियों सेना का दाहिना पक्ष पीछे ढकेल दिया किंतु अंत में वह मारा गया। तब गुजरातियों ने केंद्र पर धावा बोल दिया और वहां गड़बड़ी पैदा कर दी। जब सुल्तान महमूद अपनी सेना पुनर्संगठित करने में व्यस्त था तो उसकी सेना में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त निजाम मुलमुल्क ने शत्रु को उसकी कमजोरी बता दी और मालवा की सेना में उसके मरे का झूठा समाचार फैला दिया जिसके फलस्वरूप मालवा की सेना युद्ध में पराजित हुई।

युद्ध की हड़बड़ाहट में सुल्तान कुतुबुद्दीन अपने घोड़े से गिर पड़ा और उसका कमरबंद, तलवार और म्यान खां महमूद खल्जी को प्राप्त हुए और वह विजय के प्रतीक स्वरूप उन्हें मालवा ले आया। वापसी के पश्चात् महमूद ने राजकुमार गयास शाह को सूरत और रैंदर के समृद्ध बंदरगाहों के गुजराती नागरिकों को दंड देने के लिए भेजा। गयास ने सूरत के उपनगर पर छापा मारा, ग्रामीण क्षेत्रों का विनाश किया तथा लूट के माल सहित नाडू लौटा। अपने शासनकाल के आरंभ में ही महमूद ने यह अनुभव किया था कि राज्य विस्तार की अभिकल्पना के लिए गुजरात एक संकट था और इस पराजय ने उसे गुजरात की उत्तम सैन्य शक्ति का निश्चय करा दिया था। परंतु एक कुशल राजनीतिज्ञ के समान उसने कूटनीति द्वारा वह प्राप्त करने की आशा की जिसे वह सैनिक शक्ति से प्राप्त न कर सका। इसलिए संधि के लिए सीधे वार्तालाप की बजाय उसने गुजरात पर इस आशा से आक्रमण किया कि सैनिक कार्रवाई से संधि की बातचीत सरल बन जाएगी। 30 दिसम्बर, 1451 को उसने ताज खां को सेना सहित सोमनाथ

कूच करने का आदेश दिया। ताज खां के सरताबा पहुंचने पर सुल्तान कुतुबुद्दीन घबरा गया और अपने मंत्रियों से सलाह लेने के पश्चात् शांतिपूर्ण समझौते के लिए उसने एक दूत भेजा। सुल्तान महमूद ने, जो वास्तव में गुजरात से संधि का इच्छुक था, शेख महमूद, काजी दानियाल और मलिक लाला को चंपानेर भेजा। वहां गुजरात की ओर से काजी हुसामुद्दीन और हरिहर ब्राह्मण पहले ही पहुंच चुके थे। विचार–विमर्श के पश्चात् क्षेत्रीय सीमाओं के पारस्परिक सम्मान के आधार पर संधि हुई और प्रत्येक पक्ष की कार्रवाई के लिए मेवाड़ राज्य दो भागों में विभाजित किया गया। इस संधि से मालवा और गुजरात के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हुए परंतु अपने धार्मिक रंग के कारण वह महमूद खल्जी के उद्देश्य पूर्ण न कर सकी। बहमनी राज्य के कुछ भाग छीनने के उसके प्रयास महमूद बेगढ़ा द्वारा दक्षिण राज्य की सामयिक सहायता के कारण दो बार असफल हुए।

घ. **बहमनी राज्य**–यद्यपि महमूद अन्यत्र व्यस्त था किंतु उसने बहमनी राज्य के मामलों पर सतर्क दृष्टि रखी और अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करता रहा। यह अवसर उस समय आया प्रतीत हुआ जब बहमनी सुल्तान अलाउद्दीन अहमद द्वितीय के बहनोई जलाल खां ने नलकुंडा में विद्रोह कर दिया और वहां अहमद द्वितीय द्वारा घेरे जाने पर उसने अपने पुत्र सिकंदर खां को महमूद खल्जी से सहायता मांगने भेजा। सिकंदर ने महमूद खल्जी से कहा कि बहमनी सुल्तान की मृत्यु हो चुकी है, प्रदेश गंभीर संकट में है और महमूद को उसे बचाना चाहिए। यदि वह शीघ्रतापूर्वक आए तो बरार तथा तेलगांना के क्षेत्र सरलता से उसके अधिकार में आ जाएंगे। इस सूचना के आधार पर महमूद हुशंगाबाद से जनवरी–फरवर 1453 में चला। किंतु जब वह महूर की सीमा पर पहुंचा तो उसे ज्ञात हुआ कि अलाउद्दीन अहमद जीवित है और विशाल सेना सहित स्वयं उससे युद्ध के लिए आ रहा है। चूंकि महमूद उससे युद्ध के लिए भली भांति तैयार न था इसलिए वह शीघ्रता से मालवा लौट आया।

सुल्तान महमूद ने 1461 में पुनः बहमनी राज्य पर आक्रमण किया 25 अक्तूबर को अपनी राजधानी से कूच कर वह पहले खानदेश की ओर चला और वहां से उसने बालापुर के लिए प्रस्थान किया। बालापुर से वह और आगे बढ़ा और मंजार नदी पर स्थित महेसकर गांव में 12 फरवरी 1462 को पहुंचा। यहां बहमनीसेना पहले ही पहुंच गई थी। उसके महेसकर पहुंचने के तुरंत बाद युद्ध आरंभ हो गया। मालवा की सेना विजयी नहीं हुई किंतु भाग्य ने महमूद पर कृपा की। मालवा की सेना संकटग्रस्त देख दक्षिण सेना ने उस पर पचास हाथी दौड़ा दिए किंतु बाणों की बौछार ने हाथी उन्हीं की ओर मोड़ दिए। इससे उनकी सेना में भगदड़ मच गई और अवयस्क सुल्तान के प्राण संकट में देख कर निजाम शाह उसे युद्धस्थल से दूर सीधे बीदर ले गया।

हाथियों के कारण मची गड़बड़ी और अवयस्क सुल्तान के गायब हो जाने से दक्षिण सेना हतोत्साहित हो गई। उसी क्षण महमूद ने अपने व्यक्तिगत नियंत्रणवाली सेना से उन पर आक्रमण कर दिया और उन्हें करारी पराजय दी और वे घबरा कर बीदर की ओर भागे। समस्त बहमनी सेना को तेजी से भागते देख महमूद को आश्चर्य हुआ। अपनी विजय संघटित करने के लिए महमूद बहमनी राजधानी बीदर की और आगे बढ़ा। महमूद गावां की सहमति से राजमाता ने बीदर दुर्ग मल्लू खां के नियंत्रण में रखा और अवयस्क सुल्तान सहित फीरोजपुर चली गई। इसी अवधि में महमूद बीदर पहुंचा और निकटवर्ती प्रदेश पर अधिकार करने के पश्चात् दुर्ग घेर लिया। जब महमूद बीदर घेरे था तो राजमाता ने महमूद बेगढ़ा से सहायता की याचना की जिसने तुरंत कूच किया और सुल्तानपुर पहुंचा। महमूद बेगढ़ा की गतिविधियों से दक्षिणी प्रोत्साहित हुए। महमूद गावां बीर की ओर से महमूद खल्जी पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया जहां बीस हजार गुजराती सैनिकों की कुमक से वह और शक्तिशाली हो गया। ख्वाजाए जहां भी बीदर की ओर कूच के लिए भेजा गया। यह देख कि वह तीन ओर से घेरा जा रहा है महमूद तुरंत लौट पड़ा। चूंकि सामान्य मार्ग उन शत्रुओं द्वारा बंद था इसलिए उसे बरार की असमतल भूमि से होकर लौटना पड़ा। इस प्रकार जब वह बीदर पर अधिकार करने वाला ही था तो गुजराती हस्तक्षेप ने उसे किसी प्रकार का लाभ उठाने से वंचित कर दिया।

मांडू में थोड़े समय विश्राम के बाद महमूद ने दक्षिणी राज्य पर फिर आक्रमण कर दिया और 19 दिसंबर 1462 को उसने कूच किया। वह खानदेश होता हुआ चला और दौलताबाद घेर लिया। अल्पकालीन घेरे के पश्चात् दौलताबाद के राज्यपाल मलिक परवेज ने, जिसके महमूद गावां से संबंध संभवतः मैत्रीपूर्ण नहीं थे, दुर्ग समर्पित कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि महमूद दौलताबाद में कुछ समय रहा और अपने अधिकारियों को इधर–उधर जाने की अनुमति दी क्योंकि हम उसके कोषाध्यक्ष संग्रामसिंह सोनी को गोदाबरी पर स्थित पैठान तीर्थयात्रा के लिए जाता पाते हैं। इस अवधि में महमूद ने शेख बुरहानुद्दीन तथा शेख जैनुद्दीन के मकबरों के भी दर्शन किए और फकीरों को दान दिया।

जिस समय महमूद खल्जी दौलताबाद में था बहमनी शासक ने महमूद बेगढ़ा से पुनः सहायता मांगी जो सहर्ष उसकी सहायता के लिए आया। इसलिए अप्रैल 1463 में महमूद को गुजराती सुल्तान के नंदरबार में आगमन की सूचना मिली और उसने तुरंत मालवा लौटने का निश्चय किया। किंतु खानदेश का मार्ग गुजराती सेना ने रोक रखा था इसलिए उसे गोंडवाना होकर लौटना पड़ा। वह 20 मई 1463 को मांडू पहुंचा।

इन तीन प्रयासों से महमूद ने भलीभांति जान लिया कि दक्षिणी प्रदेशों पर कूच करने से कुछ प्राप्त न होगा। इस कार अब उसने बरार मोर्चे पर अपना ध्यान केंद्रित किया और खेरला को मजबूत कर एलिचपुर के विरुद्ध दण्डात्मक अभियान भेजना शुरू किया। उसने खेरला के शासक को निकाल फेंका और सिराजुलमुल्क को वहां का राज्यपाल नियुक्त किया और उसका नया नाम महमूदाबाद रखा। उसने बैरागढ़ की ओर कूंच कर उस पर अधिकार कर लिया जबकि ताज खां ने कालम लूटा। महमूद की उन कार्रवाइयों से बहमनी शासक मुहम्मद शाह चौकन्ना हो गया और उसने निजामुलमुल्क तुर्क को खेरला पर आक्रमण कर उसे नष्ट करने का आदेश दिया। निजामुलमुल्क ने 1465-66 में खेरला पर सरलतापूर्वक विजय प्राप्त की और उस पर अधिकार कर लिया। किंतु शीघ्र ही दो राजपूतों ने उसकी हत्या कर अपने संबंधियों की हत्या का बदला लिया। निजामुलमुल्क की मृत्यु ने खेरला पर बहमनी सत्ता कमजोर कर दी और ताज खां ने दुर्ग पर पुनः अधिकार कर लिया जिसे मकबूल खां के नियंत्रण में रखा गया। मकबूल खां ने एलिचपुर पर छापा मारना शुरू किया और कुछ वर्षों तक शत्रुता चलती रही जिससे मालवा को लाभ पहुंचा। इन आक्रमणों और प्रत्याक्रमणों ने अशांत वातावरण उत्पन्न कर दिया और तब शेख जियाउद्दीन बियाबानी ने मध्यस्थता की।

चूंकि दोनों राज्यों में कोई भी अनिश्चित काल तक शत्रुता बनाए रखने की स्थिति में न था इसलिए वे शेख बियाबानी द्वारा शांति समझौतों के वार्तालाप के लिए सहमत हो गए। बीदर से काजी उस कार्य के लिए भेजा गया। कपट वाद–विवाद तथा विलंब के पश्चात् अंत में संधि और यह तय हुआ कि एलिचपुर दोनों राज्यों की सीमा माना जाएगा। एलिचपुर का प्रदेश मालवा का प्रदेश बन गया और महमूद ने दक्खन राज्य की शांति भंग न करने का वचन दिया। संधि से अच्छे मैत्री संबंध स्थापित हुए और बहमनी राज्य के अंत तक यह प्रभावक रहे।

यद्यपि महमूद लगातार युद्ध में व्यस्त रहा किंतु उसने राज्य के आंतरिक मामलों की उपेक्षा नहीं की। उसकी सतर्कता और रुचि के कारण उसके शासनकाल में मालवा गौरव के शिखर पर पहुंचा। व्यक्तिगत जीवन में महमूद एक धर्मनिष्ठ और धार्मिक मुसलमान था किंतु वह धर्मांध नहीं था। इसमें संशय नहीं कि हमें उसके द्वारा मंदिरों के विध्वंस के उदाहरण मिलते हैं किंतु उसने ये कार्य केवल अपने शत्रुओं के क्षेत्र में किए। उसके अधीन राज्य में हिंदू और मुसलमान साथ–साथ शांतिपूर्वक रहे और मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रहे।

गैर–मुस्लिम प्रजा के प्रति महमूद ने उदारता की नीति अपनाई और उन्हें अपने शासन में सम्मिलित किया। संग्रामसिंह सोनी को कोषाध्यक्ष तथा रायरायान शिवदास को महत्वपूर्ण दरबारी अमीरों की भांति कार्य करता हुआ पाते हैं।

कृषि का विकास करने के लिए महमूद ने अपने अभियानों के समय इसका सदैव ध्यान रखा कि किसानों की फसल नष्ट न हो और जहां हानि अपरिहार्य थी वहां उसने क्षतिपूर्ति की। अपने राज्य में व्यापार और व्यवसाय प्रोत्साहित करने के लिए उसने जैन पूंजीपतियों को संरक्षण प्रदान किया और उन्हें मालवा में बसने के लिए प्रोत्साहित किया। उसने विदेशी शासकों जैसे अबू सईद मिर्जा से भी मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किए। माल के आवागमन में बाधाएं हटाने के लिए उसने मार्गों को लुटेरों और जंगली जानवरों से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया।

प्रजा के स्वास्थ्य के लिए उसने मांडू में एक विशाल औषधालय स्थापित किया जहां औषधियों का एक बड़ा भंडार था। रोगियों के उपचार के दिनों में वहां ठहरने की उचित व्यवस्था की गई थी और पागलों के निवास के लिए पृथक् व्यवस्था की गई थी। इस विशाल प्रतिष्ठान का व्यय सरकारी अनुदानों से वहन किया जाता था। शिक्षा की प्रगति के लिए उसने मांडू में शिक्षकों और विद्यार्थियों के मुफ्त ठहरने की सुविधा सहित एक महाविद्यालय स्थापित किया। उसने मुस्लिम परंपराओं (हदीस) के अध्ययन के लिए एक विभाग भी स्थापित किया।

गत प्रणाली में परिवर्तन कर उसने लेखा विभाग पुनर्संगठित किया। प्राचीन प्रणाली में प्राप्ति सौर पंचांग के अनुसार की जाती थी और भुगतान चंद्र पंचांग के अनुसार। महमूद ने प्राप्ति और भुगतान दोनों के लिए चंद्र पंचांग अपनाया। उसने एक समान नियम बनाकर राजकीय सेवाएं भी पुनर्संगठित कीं।

इस प्रकार महमूद ने मालवा राज्य को सजीव बनाया और उसे एक नया जीवन प्रदान किया। पड़ोसी राज्यों से संधिया करने की बुद्धिमान नीति द्वारा उसने अपने पुत्र के लिए उत्तराधिकार में एक शांतिपूर्ण मालवा छोड़ा। खीचीवारा के एक अभियान से लौटते समय वह अस्वस्थ हो गया और 31 मई 1469 को अडसठ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।

गयास शाह

सुल्तान महमूद की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र गयासुद्दीन शाह का विरुद धारणा कर मालवा के सिंहासन पर बैठा। वह परिपक्व अनुभवी व्यक्ति था और अपने पिता के शासनकाल में पहले ही प्रशासनिक मामलों तथा रणभूमि दोनों में अपनी योग्यता का परिचय दे चुका था। अपने पिता द्वारा संपादित अनेक शांति संधियों का उसने लाभ उठाना चाहा और इस कारण आक्रामक विदेशी नीति नहीं अपनाई। उसने चाहा कि उसकी प्रजा और उसका राज्य शांति, समृद्धि और संपन्नता का उपभोग करे जिससे सभी सुखी जीवन व्यतीत करें। अपने शासन के प्रथम बीस वर्षों में उसने अधिकांश ध्यान राज्य के प्रशासनिक कर्तव्यों में अर्पित किया किंतु बाद में उसने कम या अधिक अवकाश प्राप्त जीवन व्यतीत किया और राज्य का प्रशासन अपने ज्येष्ठ पुत्र अब्दुल कादिर नसीर शाह पर छोड़ दिया। किंतु अवकाश प्राप्ति के पश्चात् भी उसने सार्वजनिक दर्शन देना जारी रखा और राज्य की समस्याएं सुलझाईं।

अपनी अंतर्राजकीय समस्याओं से अलग रहने की नीति से होते हुए भी गयास शाह मेवाड़ के मामलों में उलझ गया। 1473 के पश्चात् किसी समय उसने उदय सिंह का पक्ष लिया और यद्यपि उदय सिंह मारा गया उसने महाराजा रायमल के विरुद्ध सूरज मल और सहस मल को सहायता देने के लिए मेवाड़ पर आक्रमण किया। किंतु वह पराजित हुआ और मार भगाया गया। इसके परिणामस्वरूप रायमल ने मालवा पर धावा बोल दिया और राज्य को कुछ हानि उठानी पड़ी।

1482 में जब महमूद बेगढ़ा तथा रावल जयसिंह द्वारा चंपानेर का घेरा डाला गया तो चंपानेर के शासक ने गयास शाह से सहायता मांगी। वह उसकी सहायता के लिए तैयार हो गया और नालचा की ओर चला। किंतु नालचा में उसे समाचार मिला कि मालवा की सेना का सामना करने के लिए महमूद बेगढ़ा ने पहले ही मोर्चा संभाल लिया है और गयास शाह अंतिम परिणाम सोचकर इस झूठे बहाने लौट आया कि वरिष्ठ 'उलमा' तथा प्रतिष्ठत काजियों ने जिन्हें उसने आमंत्रित किया था, उसे लौट जाने की सलाह दी। फिर भी गयास शाह बहलोल लोदी को खदेड़ने में सफल हुआ जिसने आल्हनपुर पर छापा मारा था।

गयास शाह की नीति के फलस्वरूप मालवा ने शांति का भोग किया और जनता आर्थिक व्यवसायों में लगी। उसका शासन समृद्धि का युग था। उसने जैनियों को शासन में सम्मिलित करने तथा उन्हें उपाधियां देने की परंपरा बनाए रखी। इस प्रकार मुंजा या पुंजराज को मुफर्रिहुल मुल्क और संग्रामसिंह सोनी को नक्दुल मुल्क की उपाधि दी गई।

गयास खां का व्यक्तिगत जीवन कुछ अंतर्विरोध प्रस्तुत करता है। यद्यपि वह बड़ा पवित्र था और धार्मिक उपासना में तत्पर रहता था किंतु वह बड़ा इंद्रियलोलुप था और उसने भारी संख्या में महिलाएं हरम में एकत्रित की थीं। वह बड़ा शिष्ट था और अभद्र होने के स्थान पर धोखा तक खा लेता था। सुल्तान के निजी व्यसनों ने उसकी प्रजा की नैतिकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। इसके अतिरिक्त अपनी बढ़ती हुई आयु के साथ–साथ उसकी क्षमता में भी कमी आने लगी जिससे उसके दोनों पुत्रों में राज्य पर अधिकार के लिए परस्पर संघर्ष होने लगा। गयास शाह ने अब्दुलकादिर नसीर शाह को अपना उत्तराधिकारी बनाया था और अपने अधिकांश प्रशासनिक कर्तव्य उसे सौंप दिए थे। किंतु नसीर का छोटा भाई अलाउद्दीन शुजाअत खां उससे ईर्ष्या करने लगा और अपनी माता रानी खुरशीद के उकसाने पर वह नसीर खां के विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगा। सुल्तान ने जो वृद्ध हो गया था, सहनशीलता का बर्ताव अपनाया और पुत्रों की कार्रवाई की ओर ध्यान न देते हुए उन्हें शांत करने का प्रयास किया और प्राय नसीर शाह के आदेश रद्द कर आदेश जारी किए। ऐसी स्थिति से गड़बड़ी उत्पन्न हुई और कुछ अनावश्यक रक्तपात हुआ।

अपनी महत्कांक्षा और निराशा से प्रेरित नसीर ने विद्रोह कर दिया और एक सेना एकत्र कर मांडू पर आक्रमण कर दिया और उस पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् उसने अपने भाई शुजाअत खां को फांसी दे दी और रानी खुरशीद को बंदी बना लिया। उसने वृद्ध सुल्तान को भी सरसती महल में बंद कर दिया और फिर 20 नवंबर 1500 को उसने सुल्तान बनने की घोषणा की। गयास शाह ने राज्यत्याग की वैधानिक कार्रवाई 4 जनवरी, 1501 को संपन्न की और अपना ताज, शाही वस्त्र और राजकोष की कुंजिया नसीर को दे दीं और बधाई तथा अभिनंदन के उपरांत उसे विदा किया। वह बहुत दिन जीवित नहीं रहा। 29 मार्च, 1501 को उसकी मृत्यु हुई। गयास शाह की मृत्यु ने नसीर शाह के विरोधी कुछ अधिकारियों के मन में यह संदेह उत्पन्न किया कि उसकी मृत्यु प्राकृतिक नहीं थी। किंतु यह संदेह निराधार प्रतीत होता है।

नसीर शाह

नसीर शाह विद्रोह के फलस्वरूप सिंहासनारूढ़ हुआ था इस कारण उसके द्वारा उठाए गए तूफान का तत्काल दमन नहीं किया जा सका। राज्यारोहण के पश्चात् उसने अनेक दरबारी अमीरों को जो विद्रोह के समय गत शासन के प्रति निष्ठावान थे, प्राण दंड दिया। इससे शेष भूतपूर्व अमीर सतर्क हो गए। और चंदेरी के शेर खां तथा मंदसोर के मकबूल खा बिना शाही आज्ञा अपने–अपने प्रदेश चले गए। इन अमीरों पर अनुशासन स्थापित करने के लिए नसीर शाह को स्वयं कूच करना पड़ा उसने चंदेरी के शेर खां का चंदेरी तक पीछा किया किंतु शेर खां मालवा की सीमा के बाहर बच निकला। तब नसीर खा ने चंदेरी के शेखजादों को शेर खां को झूठी खबर देकर मालवा लौटने के लिए फुसलाने पर राजी कर लिया। योजना सफल हुइ और एक भीषण युद्ध में शेर खां मारा गया। शेर खां के साथियों को चेतावनीपूर्ण दंड देने तथा बहजत खां को चंदेरी का राज्यपाल नियुक्त करने के पश्चात् नसीर शाह 18 फरवरी 1502 को मांडू लौटा।

लौटने के पश्चात् वह महमूद बेगढ़ा की मालवा पर आक्रमण की योजना का समाचार पाकर थोड़ा सतर्क हुआ। उसने तुरत उपहारों सहित एक शिष्टपत्र भेजा और उसकी नम्रता से गुजराती सुल्तान तुष्ट हो गया। 1503 में स्थानीय सरदारों का विद्रोह कुचलने के लिए उसे खीचीबारा जाना पड़ा और आगरह में निवास के समय उसने एक महल बनवाया। लौटने पर उसन मेवाड़ की ओर कूच कर चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। किंतु उसे कोई सफलता न मिली और संभवतः थोड़ी पराजय का सामना करने के पश्चात् उसे लौटना पड़ा।

कुछ अमीरों के भड़काने पर उसके शासन के अंतिम काल में उसके पुत्र शिहाबुद्दीन ने विद्रोह कर दिया। 1510 मे उसने विद्रोह की पताका फहराई और मांडू से बाहर निकल कर धार पर अधिकार कर लिया। यह देख कि घटनाओं की गति वही है जिसके फलस्वरूप उसका राज्यारोहण हुआ था, नसीर शाह अपने पुत्र को नियंत्रित करने के लिए मांडू से बाहर आया धार में शिहाबुद्दीन पराजित हुआ और चंदेरी की ओर भागा किंतु नसीर शाह ने उसका पीछा किया। तब उसने अपने पुत्र को, जो इसी बीच नवर चला गया था, संतुष्ट करने का विचार किया क्योंकि वह यह नहीं चाहता था कि उसक पुत्र सिकंदर लोदी के शिविर में जाए। किंतु प्रयास असफल हुआ। शिहाबुद्दीन को अटल पा कर नसीर शाह ने अपने तीसरे पुत्र आजम हुमायू को रणथंभोर से बुलाया और महमूदशाह के विरुद्ध से उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। नसीर शाह अभी सीपरा नदी पर स्थिति वशिष्टपुर गांव के निकट ही था कि वह बहुत बीमार हो गया। अपना अंत निकट देख उसने महमूद शाह को शासक के कर्तव्यों के विषय में कुछ परार्मा दिए और दिसंबर 1510 में प्राण त्याग दिए।

नसीर शाह स्वभाव से ही क्रूर था और उसके मन में किसी भी के लिए दयाभाव नहीं था। वह बड़ा हठीला और कठोर था किंतु वृद्धावस्था में अपने पिता को पहुंचाए गए क्लेश और यातनाओं ने उसके मन पर गहरा प्रभाव डाला और जैसे–जैसे वह वृद्ध होता गया परिणामों के भय ने निरंतर उसे व्यथित किया। तथापि राज्य से संबंधित मामलों में उसने अपने पिता तथा पितामह की नीति जारी रखी और राज्य की अमुस्लिम जनता को पूर्ण स्वतंत्रता और सहिष्णुता दी।

महमूद खल्जी द्वितीय

नसीर शाह की मृत्यु के पश्चात् महमूद शाह द्वितीय सुल्तान बनाया गया और उसका प्रथम राज्याभिषेक बष्टिपुर में सपन हुआ। किंतु उसके भाई शिहाबुद्दीन और साहिब खां उसका राज्यारोहण निर्विवाद स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे अभी महमूद शाह बशिष्टपुर में ही था कि शिहाबुद्दीन राजधानी की ओर चला। किंतु वह उसमें प्रवेश न कर सका और यह देख कि महमूद शाह लगभग उसके निकट ही है वह खानदेश चला गया। महमूद शाह ने खानदेश में प्रवेश किया और उसका औपचारिक राज्याभिषेक 3 जून 1511 को संपन्न हुआ। नया सुल्तान ऐसे समय मालवा के सिहांसन पर बैठा जब अमीरों की दलबंदी ने राज्य नष्ट कर दिया था और एक दृढ़ संकल्प, अटल निश्चय तथा अथक शक्तिवान शासक की आवश्यकता थी महमूद शाह में इन सभी गुणों का अभाव था जिसके फलस्वरूप राज्य शीघ्र ही विरोधी दलों का अखाड़ा बन गया।

मुसलमान अमीरों में दो दल थे। एक में इक्बाल खां, मुख्तस खां, सद्रखां तथा अफजल खां थे और दूसरे का नेतृत्व मुहाफ्ज खां, खवास खा और जवश खां करते थे। महमूद शाह का अस्तित्व इन दलों के समर्थन पर ही निर्भर था किंतु दुर्बल नीति अपना कर वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें इस्तेमाल करने के बजाय उनके हाथ की कठपुतली बन गया। इक्बाल खां तथा मुखतस खां ने संकट आरंभ कर दिया जब उन्होंने शाही दरबार में वजीर बसंत राय का वध कर दिया। उन्हे दंड देने के बजाय महमूद शाह ने उनके अपराध की ओर ध्यान नहीं दिया और उन्हें अधिक प्रसन्न करने के लिए उसने सग्राम सिंह और

को निर्वासित कर दिया। सुल्तान के इस रवैये ने उन्हें निडर बना दिया और उनकी शक्ति में वृद्धि की जिसके फलस्वरूप मुहाफिज खां और खवास खां ईर्ष्यालु हो गए। मुहफिज खां ने सुल्तान को इक्बाल खां और मुखतस खां के विरुद्ध भड़काया। जब इन दोनों अमीरों को ज्ञात हुआ कि उनका जीवन संकट में है तो वे मांडू से निकल कर शिहाबुद्दीन से मिलने के लिए खानदेश की ओर चले। किंतु शिहाबुद्दीन की आकस्मिक मृत्यु से उनकी आशाओं पर पानी फिर गया। इसी बीच मुहाफिज खां वजीर नियुक्त किया गया और वह अत्यधिक शक्तिशाली हो गया। महमूद शाह शीघ्र ही अपना धैर्य खो बैठा किंतु मुहाफिज खां से छुटकारा पाने के पूर्व ही उसे उसी के महल में घेर लिया गया और उसका भाई साहिब खां मुहम्मद शाह के विरुद्ध सहित सिंहासन पर बिठाया गया। महमूद शाह मांडू से निकल भागने में सफल हुआ और उज्जैन की ओर चला। जब महमूद शाह उज्जैन में था तब मुहम्मद शाह अपनी सेना सहित उस पर आक्रमण करने चला। संकटपूर्ण स्थिति देख कर महमूद शाह चंदेरी की ओर चला और वहां के राज्यपाल बहजत खां से सहायता की याचना की किंतु उसने यह कह कर कि वह उस शासक की आज्ञा–पालन के लिए बाध्य है जो राजधानी मांडू का स्वामी है, शिष्ट इन्कार कर दिया। इस प्रकार जब महमूद शाह बशिष्टपुर में था तो वह एक परित्यक्त शासक था जिसका कोई समर्थक न था।

ऐसे संकट के समय रायचंद पुरबिया और उसके राजपूत महमूद शाह की सहायता के लिए आए। राजपूतों के आगमन से उसकी स्थिति यथोचित सुधर गई और उसकी आशाओं को पुनर्जीवन मिला। उसने रायचंद पुरबिया को मेदिनी राय की उपाधि दी और उसे अपना मुख्य परामर्शदाता बनाया। महमूद शाह ने फिर साहिब खां (मुहम्मद शाह) पर आक्रमण कर दिया और राजपूतों की सहायता से उसे बुरी तरह पराजित किया। साहिब खां शरण के लिए मांडू भाग गया जिसे महमूद शाह ने तुरंत घेर लिया। साहिब खां मांडू पर अधिकार न रख सका और मुहाफिज के साथ गुजरात भाग गया जहां मुजफ्फर शाह द्वितीय ने उसका स्वागत कर उसे शरण दी।

महमूद शाह पुनः मालवा का शासक बना और मेदिनी राय की सेवाओं की सराहना करते हुए उसे वजीर नियुक्त किया। मेदिनी राय ने कुशल प्रशासन स्थापित किया और अनेक महत्वपूर्ण पदों पर अपने व्यक्ति नियुक्त किए। इसी बीच साहिब खां, जिसे गुजराती सुल्तान से कोई सहायता नहीं मिली, मालवा लौटा। उसके आगमन से कुछ गड़बड़ी उत्पन्न हुई क्योंकि उन अमीरों ने जो मेदिनी राय के विरोधी थे, उसका पक्ष लिया, कुछ ने खुल्लमखुल्ला और अन्य ने गुप्त रूप से। सतवास के सिकंदर खां ने 1512 के मध्य विद्रोह कर दिया और चंदेरी के बहजत खां ने भी सुल्तान की आज्ञापालन से इन्कार कर दिया। इन विद्रोहों के दमन के लिए सुल्तान ने मेदिनी राय को भेजा। मेदिनी राय ने सिकंदर को अधीनता के लिए विवश कर दिया किंतु उसने सुल्तान से उसके लिए क्षमा प्राप्त कर पुनः सतवास में उसे स्थापित किया। तत्पश्चात् महमूद शाह और मेदिनी राय चंदेरी की ओर बढ़े। आरंभ में बहजत खां अवज्ञाकारी रहा। उसने सुल्तान सिकंदर लोदी से सहायता की बातचीत शुरू की और 'गवलिगढ़' से साहिब खां को आमंत्रित कर उसे सुल्तान घोषित किया। मुज्फ्फर शाह द्वितीय के मालवा पर आकस्मिक आक्रमण से महमूद शाह की सफलता में किंचित रुकावट आई। किंतु मुजफ्फर शाह को मालवा की राजधानी यथेष्ठ सुरक्षित लगी और वह फुर्ती से गुजरात लौट गया।

चंदेरी का मामला सुव्यवस्थित करने तथा साहिब खां को पूरी तरह भगाने में लगभग दो वर्ष लगे। इस अवधि में अमीरों का दुविधाग्रस्त चरित्र भलीभांति स्पष्ट हो गया। सिकंदर लोदी ने भी साहिब खां को सैनिक सहायता देकर चंदेरी जीतने और उसे अपने राज्य में मिलाने का असफल प्रयास किया। इन चिंता और भय के समस्त महीनों में मेदिनी राय तथा उसका राजपूत दल महमूद शाह के प्रति निष्ठावान रहा और अंत में उनकी सहायता से उसने 12 जुलाई 1514 को चंदेरी पर अधिकार कर उसमें प्रवेश किया। चंदेरी के अधिकारियों तथा जनता को क्षमा का आश्वासन देने के लिए महमूद शाह ने सामान्य क्षमा प्रदान की तथा कुछ 'खिलत' और इनाम भी वितरित किए। चंदेरी पर शासन के लिए आवश्यक प्रबंध करने के पश्चात् महमूद शाह मांडू लौटा।

महमूद शाह की विद्रोही अमीरों को अधीनस्थ करने और अपने प्रतिद्वंद्वियों को पराजित करने में सफलता मेदिनी राय के समर्थन और उसके सैनिकों की वीरता से संभव हो सकी थी। इस कारण महमूद शाह मेदिनी राय पर अधिकाधिक भरोसा करने लगा जिसके फलस्वरूप वह अत्यंत शक्तिशाली बन गया। इसका परिणाम अवश्यंभावी था। मेदिनी राय ने धीरे–धीरे सभी महत्वपूर्ण पद अपने अनुयायियों से भर दिए और अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली। सभी प्रशासनिक अधिकार मेदिनी राय के अधिकार में चले जाने से महमूद ने देखा कि वह उसके हाथ की कठपुतली मात्र बन गया है। समर्थ शासक न होने पर भी महमूद शाह किसी का प्रभुत्व स्वीकार नहीं कर सकता था। ऐसा प्रतीत होता है मेदिनी राय की स्वामिभक्ति और उसकी अपनी लाचारी ने उसके समाने कोई विकल्प नहीं छोड़ा। अंत में उसने मेदिनी राय पर तीन प्रतिबंध लगाए। प्रथम यह है कि भूतपूर्व मुसलमान अधिकारियों की पुनर्नियुक्ति, द्वितीय प्रशासनिक मामलों से मेदिनी राय के अनुयायियों का अलग रहना और तृतीय अपने हरम में मुसलमान महिलाएं न रखना। मेदिनी राय सुल्तान के आदेशों का पालन करने के लिए तुरंत तैयार हो गया किंतु उसका साथी सालबाहन पूर्ववत व्यवहार करता रहा और उसने अपने हरत में मुसलमान स्त्रियां रखीं।

यह देखकर कि उसके स्पष्ट आदेशों के पश्चात् भी स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ सुल्तान महमूद ने मेदिनी राय का सालबाहन से पीछा छुड़ाने का निश्चय किया। किन्तु उन्हें सेवा से निकालने के बजाय उसने अपने सैनिकों को उनका रक्षा करने की आज्ञा दी। उन पर घातक प्रहार किया गया। सालबाहन मारा गया किंतु मेदिनी राय के कुछ घाव लग और वह घायल हो गया। परिणामस्वरूप तुरंत पुरबिया राजपूतों ने विद्रोह कर दिया किंतु सुल्तान ने उसे कुचल दिया और मेदिनी राय ने राजपूतों को संतुष्ट किया। फिर महमूद शाह ने मेदिनी राय को मनाने का प्रयत्न किया और उससे कहा कि वह पुन: अपना पद ग्रहण करे। उसे पांच सौ अंगरक्षकों सहित अपने पदीय कार्य करने की अनुमति दी गई। मेदिनी राय से पीछा छुड़ाना असंभव देख कर महमूद शाह ने मालवा छोड़ने तथा मेदिनी राय को हटाने के लए मुजफ्फर शाह द्वितीय से सहायता मांगने का निश्चय किया। इस योजना के अनुसार वह 1517 के अंत में किसी समय मांडू दुर्ग से निकला और फुरती से गुजरात की ओर बढ़ा। दोहद के राज्यपाल ने उसका समुचित स्वागत किया और गुजरात के सुल्तान को शाही अतिथि के आगमन की सूचना दी। मुजफ्फर शाह तुरन्त उसे भेंट के लिए आया और 29 दिसंबर 1517 को उसका स्वागत समारोह किया। महमूद शाह को पवित्र आश्वासन देने के पश्चात् उसने जनवरी 1518 में धार की ओर कूच दिया।

इस बीच मेदिनी राय ने न केवल कानून और व्यवस्था बनाए रखी अपितु शाही हरम की महिलाओं से भी महमूद शाह को वापस बुलवाने की प्रार्थना की और उन्हें शत्रू को लाने के अनर्थकारी परिणाम भी बताए। जब उसे मुजफ्फर शाह के आक्रमण की सूचना मिली तो उसने मांडू की रक्षा का समुचित प्रबंध किया। उसने मुजफ्फर शाह से भी वार्तालाप आरंभ किया कि मांडू पर आक्रमण अवश्यंभावी देख वह दुर्ग की सुरक्षा का भार अपने सैनिकों पर छोड़ कर स्वयं राजपूतों की सहायता प्राप्त करने महाराणा सांगा के दरबार आया।

6 जनवरी, 1518 को महमूद शाह द्वितीय ने मांडू दुर्ग घेर लिया किंतु दुर्ग की रक्षक सेना की प्रार्थना पर उसने कृपापूर्वक दुर्ग से निकल जाने के लिए एक मास का समय दिया। किंतु रक्षक सेना ने एक मास के भीतर दुर्ग खाली नहीं किया और मुज्जफर शाह को यह समाचार भी मिला कि महाराणा सांगा और मेदिनी राय मालवा की ओर आ रहे हैं। फलस्वरूप उसने 6 जनवरी को मांडू का घेरा फिर से आरंभ कर दिया और 13 फरवरी को दुर्ग पर विजय प्राप्त कर ली। यद्यपि राजपूतों ने जौहर किया था तथापि मुजफ्फर शाह ने सामान्य नर संहार के आदेश दिं तत्पश्चात् उसने महमूद शाह को मालवा के सिहासन पर पुन: प्रतिष्ठित किया और 16 फरवरी को नालंदा लौट गया। उसकी इस उदारता का कारण महाराणा सागा के संभावित आगमन की फिक्र थी। नालंदा से वह महाराणा सांगा की ओर मुड़ा किंतु मांडू के पतन का समाचार सुन कर महाराणा चित्तौड़ लौट गए। महमूद शाह ने 26 फरवरी को अपने उद्धारक का शाही सत्कार किया। महमूद शाह को प्रतिष्ठित कर और एक गुजरात सेना उसकी रक्षा के लिए छोड़ कर मुजफ्फर शाह गुजरात लौटा।

मांडू से राजपूतों को निकाल फेंकने का एक तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि वे राज्य के विभिन्न भागों में फैल गए। नर संहार से वे पूर्णतः विरोधी हो गए थे और सहायता के लिए महाराणा सांगा की ओर देखने लगे थे। मुजफ्फर शाह के प्रस्थान के पश्चात् मेदिनी राय ने गागरून पर अधिकार कर लिया था और वहां राजपूत एकत्रित करने लगा था। मेदिनी राय को अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के पूर्व ही महमूद शाह ने गागरून पर आक्रमण कर दिया। किंतु जब महमूद शाह गागरून को घेरा डाले था, मेदिनी राय ने महाराणा सांगा से प्रार्थना की और महाराणा तुरंत उसकी सहायता के लिए आए। महमूद ने घेरा उठा लिया और आक्रमणकारी सेना को गागरून पहुंचने से पूर्व रोकने के लिए आगे बढ़ा। किंतु सेना सुव्यवस्थित करने से पूर्व ही उसकी महाराणा से मुठभेड़ हो गई और युद्ध में महमूद की सेना बुरी तरह पराजित हुई। वह घायल अवस्था में बंदी बना लिया गया। उसे चित्तौड़ ले जाया गया और स्वस्थ होने पर महाराणा ने उसे छोड़ दिया और उसे सिहासन पर पुनर्स्थापित किया। किंतु महाराणा ने महमूद शाह का एक पुत्र ओल में रखा ताकि भविष्य में मैत्रीपूर्ण रवैया बना रहे। अपनी विजय के स्मारक स्वरूप उससे हुशंग शाह का ताज भी ले लिया। इस प्रकार महमूद शाह अब अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए मुजफ्फर शाह के अतिरिक्त महाराणा सांगा का भी एहसान मंद हो गया।

मांडू में गुजराती प्रभाव के विनाश से आशंकित मुजफ्फर शाह ने महमूद शाह के लौटने के पश्चात् तुरंत उस सात्वना हेतु एक विशाल सेना भेजी। स्पष्ट रूप से इस सेना का उद्देश्य महमूद की सहायता करना था किंतु वह मालवा पर गुजरात नियंत्रण भी बनाए रख सका। जहां तक महमूद शाह का संबंध था उसने मालवा में गुजराती सेना की उपस्थिति पसंद नहीं की और जैसे ही उसने यह जाना कि वह पर्याप्त रूप से सशक्त है उसने गुजराती सुल्तान से उसे वापस बुलाने की प्राथना की मुजफ्फर शाह ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए अपनी सेना वापस बुला ली।

गुजराती सेना के प्रस्थान के पश्चात् मालवा प्रदेश का पतन होने लगा। मंदसोर तथा उसके अधीनस्थ प्रदेश महाराणा सांगा के अधिकार में चले गए। हाड़ावती और खीचीवाड़ा स्वतंत्र हो गए। चंदेरी पर मेदिनी राय ने अधिकार कर लिया। सारंगपुर, भिलसा और रायसीन सिलहदी के अधिकार में आ गए और सिकंदर खां के अधीन सतवास स्वतंत्र हो गया। 1519-20 में महमूद ने अपनी सत्ता पुनस्थार्पित करने का प्रयास किया और सिलहदी के विरुद्ध कूच किया। सारंगपुर के निकट दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ। यद्यपि उसकी सेना पराजित हुई महमूद ने अपने पराक्रम से स्थिति संभाल ली और अंत में सारंगपुर पर अधिकार कर लिया। किंतु भिलसा और रायसीन से वह सिलहदी को हटा नहीं सका।

इसके बाद महमूद ने शांतिपूर्वक शासन करना चाहा किंतु उसने अपने ही कृत्यों से अपने लिए कठिनाइयां उत्पन्न कर ली। वह गुजरात से उलझा गया और उसके नए शासक बहादुरशाह के भाई चांद खां को शरण देकर उसे रुष्ट कर दिया। उसने बाबर को यह संदेश भेजा कि वह अपने एक केन्द्र के रूप में मांडू को प्रयोग करे। बहादुरशाह के विरोध पर भी उसने गतिविधियां जारी रखीं। बहादुरशाह इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने महमूद शाह को दण्ड देने का निश्चय किया व 1530 ई. में मांडू के विरुद्ध कूच किया व 1531 ई. में बहादुरशाह ने मांडू दुर्ग पर अधिकार कर लिया किन्तु महमूद निकल भागा व मालवा पर गुजराती शासन स्थापित हो गया।

महमूद वीर और साहसी था किन्तु वह बड़ा हठधर्मी था और जटिल राजनीतिक परिस्थितियां समझने में समर्थ था उसकी बारंबार भयंकर राजनीतिक भूलों ने उसका राज्य नष्ट करने के साथ–साथ खल्जी वंश भी समाप्त कर दिया उसके पश्चात् मालवा कभी अपना भूतपूर्वक गौरव प्राप्त नहीं कर सका।

गुजरात

अपने आकार, समृद्ध एवं उपजाऊ क्षेत्रों और अनुकूल जलवायु के कारण गुजरात को हमेशा बहुमूल्य उपलब्धि माना जाता था। गुजरात अपने उत्कृष्ट हस्तशिल्पों एवं उन्नतिशील बंदरगाहों के लिए प्रसिद्ध था। उसके बंदरगाहों से उत्तर भारत का अधिकांश समुंद्री व्यापार संचालित होता था। मालवा एवं राजस्थान महत्वपूर्ण पारगमन केन्द्र थे जो गंगा–घाटी के उत्पादों को गुजरात के बंदरगाहों से जोड़ते थे। अतः मालवा और गुजरात तथा राजस्थान से होकर इनको संयुक्त करने वाले मार्ग पर नियंत्रण स्थापित करने की उत्तर अथवा दक्षिण की किसी भी साम्राज्यवादी शक्ति का हमेशा सपना रहता था।

तेरहवीं शताब्दी में सल्तनत की स्थापना के बाद भी गुजरात में चालुक्यों का नियंत्रण रहा। 1297 ई. में अलाउद्दीन खल्जी के सेनापतियों ने उलुग खां तथा नुसरत खां ने चालुक्य राजा कर्ण बघेला को पराजित किया व इस प्रकार गुजरात में सल्तनत राज्य की नींव रखी। इसके बाद दिल्ली सल्तनत के स्थायित्व तक दिल्ली से गुजरात में मुस्लिम सूबेदारों का नियुक्त होना जारी रहा। संपूर्ण चौहदवीं शताब्दी में दिल्ली के सुल्तानों की गुजरात पर सर्वोच्चता बनी रही। 1391 ई. में गुजरात में नियुक्त अंतिम सूबेदार जफर खां ने जो कि व्यवहारिक रूप से स्वतंत्र रहता आया था, सन् 1401ई. में औपचारिक तौर पर दिल्ली सल्तनत की अधीनता त्याग दी और अपने पुत्र तातार खां को नासिरूद्दीन मुहम्मद शाह की पदवी देकर सुल्तान के रूप में गुजरात के स्वतंत्र राज्य के सिंहासन पर बैठा दिया। किन्तु 1407 ई. में ही जफर खां ने मुजफ्फरशाह की उपाधि के साथ स्वयं को औपचारिक रूप से गुजरात का सुल्तान घोषित किया लेकिन चार साल बाद ही उसके पौत्र अलप खां ने उसे जहर दे दिया और स्वयं अहमदाबाद के नाम से तख्त पर आसीन हो गया।

अहमदशाह–अहमदशाह ने 1411 से 1441 ई. अर्थात् तीस साल तक शासन किया और उसे ही गुजरात के स्वतन्त्र राज्य का वास्तविक संस्थापक माना जा सकता है। अहमदशाह ने अपनी शक्ति और कौशल को अपने साम्राज्य की सीमाएं बढ़ाने और अपने राज्य का प्रशासन सुधारने में लगाया। उसकी सेनाओं ने मालवा की सल्तनत और असीरगढ़ तथा राजपूताना के राजाओं तथा आस–पास के अन्य प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। सुल्तान अहमदशाह, सुल्तान फिरोजशा बहमनी का अत्यन्त करीबी मित्र था। अपने दीर्घ शासन काल के दौरान उसने अमीरों को अपने वश में किया, प्रशासन को व्यवस्थित किया एवं अपने राज्य को विस्तृत और सुदृढ़ किया उसने अपने राजधानी पाटन से हटाकर अहमदाबाद नामक एक नए नगर में स्थापित की जिसकी आधारशिला उसने 1413 ई. में रखी गई थी। वह एक महान भवन–निर्माता था और उसने उस नए नगर को भव्य महलों और बाजारों, मस्जिदों और मदरसों से अलंकृत किया। उसके काल में जो वास्तुशैली विकसित हुई वह दिल्ली से सर्वथा भिन्न थी तथा उसमें गुजरात के जैनों की समृद्ध वास्तु–परंपरा से बहुत कुछ ग्रहण किया था। इस वास्तुशैली की कुछ विशेषताएं हैं: छरहरें बुर्ज, उत्कृष्ट पत्थर–नक्काशी, एवं अत्यंत अलंकृत तोड़े। तीन दरवाजा एवं अहमदाबाद की जामा मस्जिद इस काल की वास्तु–शैली के उत्तम उदाहरण हैं। अहमद् शाह ने सौराष्ट्र क्षेत्र के एवं गुजरात–राजस्थान सीमा पर स्थित राजपूत राज्यों पर अपना नियंत्रण कायम

करने का प्रयास किया। सौराष्ट्र में उसने गिरनार के मजबूत किले पर कब्जा कर लिया, किन्तु वहां के राजा द्वारा नजराना देने का वादा किए जाने पर उसे वह किला वापस कर दिया गया। उसके बाद उसने प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ–स्थल सिधपुर पर आक्रमण किया एवं वहां के कई सुंदर मंदिरों को ध्वस्त कर दिया। पेशकश अथवा वार्षिक नजराने के अतिरिक्त उसने गुजरात के हिन्दू शासकों पर जजिया आरोपित किया जो उनपर इसके पूर्व कभी भी आरोपित नहीं किया गया था। फिर भी जिस प्रकार दिल्ली सल्तनत में व्यक्तियों से भू–राजस्व (खराज) के भाग के रूप में जजिया वसूल किया जाता था, उसी प्रकार से गुजरात के राजपूत राजाओं से जजिया और पेशकश की एक साथ वसूली की जाती होगी। इन सभी कार्रवाइयों के कारण कई मध्यकालीन इतिहासकारों ने अहमद शाह को काफिरों का घोर शत्रु बताया, जबकि अनेक आधुनिक इतिहासकारों ने उसे एक धर्मांध शासक माना है। किन्तु सच्चाई कहीं अधिक जटिल प्रतीत होती है। जहां अहमद शाह ने हिन्दू मंदिरों को ध्वस्त किए जाने का आदेश देकर अपनी धर्मांधता का परिचय दिया, वहीं उसने शासन–कार्य में हिन्दुओं को शामिल करने में किंचित संकोच भी नहीं किया। बनिया अथवा वाणिक समुदाय के माणिकचंद एवं मोतीचंद उसके मंत्री थी। वह न्याय करने में इतना सख्त था कि एक बारे उसने अपने दामाद को ही एक हत्या के अपराध के लिए बाजार में सरेआम मृत्यु–दंड दे दिया। उसने बहुत से हिन्दू शासकों के विरुद्ध युद्ध किए, किन्तु अपने समय के मुस्लिम शासकों के विरुद्ध भी कम युद्ध नहीं किए। ऐसे मुस्लिम शासकों में मालवा, खानदेश एवं दक्कन के मुस्लिम शासक प्रमुख थे। उसने ईडर के शक्तिशाली किले को अपने अधीन कर लिया एवं झालावार, बूंदी, डूंगरपुर आदि राजपूत राज्यों पर अपना नियंत्रण स्थापित किया।

आरंभ से ही गुजरात और मालवा राज्य एक दूसरे के घोर प्रतिद्वंद्वी थे और वे प्रायः हरेक अवसर पर परस्पर विरोधी खेमा में होते थे। किन्तु जिस प्रकार विजयनगर और बहमनी राज्य के बीच युद्धों के कारण उनकी सीमाओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, ठीक उसी प्रकार गुजरात और मालवा के बीच हुए युद्धों के कारण उनकी सीमाओं में कोई विशेष या स्थाई परिवर्तन नहीं हुआ।

दिलावर खान के बाद होशंग शाह मालवा का सुल्तान बना था। मुजफ्फर शाह ने होशंग शाह को पराजित कर कैद कर लिया था। मालवा को नियंत्रित करने में कठिनाई महसूस कर उसने कुछ वर्षों के बाद होशंग शाह को रिहा रिहा कर दिया एवं उसे पुनः मालवा का सुल्तान बना दिया। इस कृत्य से वैमनस्य की खाई भरी नहीं, अपितु इसके कारण मालवा के सुल्तान गुजरात की शक्ति के प्रति आंशकित हो गये। वे हमेशा गुजरात के असंतुष्ट तत्त्वों को, भले ही वे विद्रोही अमीर हों अथवा गुजरात के सुल्तान के विरुद्ध युद्धरत हिन्दू राजा हों, सहायता एवं प्रोत्साहन देकर गुजरात को कमजोर करने की ताक में रहते थे। गुजरात के सुल्तानों ने मालवा की राजगद्दी पर अपने मनोनीत व्यक्ति को बैठाने का प्रयास कर मालवा की चाल को निष्फल करने का प्रयास किया। इस घोर प्रतिद्वंद्विता ने दोनों राज्यों को दुर्बल बना दिया एवं उत्तर भारत की राजनीति में उनके लिए अधिक बड़ी भूमिका निभाना असंभव बना दिया।

महमूद बेगढ़ा–अहमद शाह के उत्तराधिकारियों ने उसकी विस्तार और समेकन की नीति को जारी रखा। गुजरात का सर्वाधिक प्रसिद्ध सुल्तान महमूद बेगढ़ा था जिसने गुजरात पर 50 वर्षों से भी अधिक समय (1459-1511 ई.) तक शासन किया। उसे बेगढ़ा इसलिए कहा जाता था कि उसने दो सर्वाधिक शक्तिशाली किलों (गढ़ों)–सौराष्ट्र में गिरनार (जिसे अब जूनागढ़ कहा जाता है) एवं दक्षिण गुजरात में चांपानेर–पर कब्जा कर लिया था। गिरनार के शासक ने नियमित रूप से नजराना दिया था, किन्तु महमूद बेगढ़ा ने सौराष्ट्र को अपने पूर्ण नियंत्रण में लाने की अपनी नीति के भाग के रूप मे उसके राज्य को समामेलित करने का निर्णय लिया। सौराष्ट्र एक धनी और खुशहाल क्षेत्र था और उसमें कई उपजाऊ भूखंड तथा उन्नतिशील बंदरगाह थे। दुर्भाग्य से, सौराष्ट्र क्षेत्र भी लुटेरों और समुद्री डाकुओं से ग्रसित था जो व्यापार और पोतचालन पर हमला किया करते थे। गिरनार के शक्तिशाली किले को ने केवल सौराष्ट्र पर प्रशासित करने के लिए, अपितु सिंध के विरुद्ध सैनिक कार्रवाईयों के केन्द्र के रूप में भी उपयुक्त समझा गया।

महमूद बेगढ़ा ने एक विशाल सेना लेकर गिरनार को घेर लिया। यद्यपि राजा के पास किले में कुछ ही तोपें थीं, किन्तु उसने डटकर बहादुरी के साथ मुकाबला किया। फिर भी, राजा की बहादुरी कोई काम न आई। कहा जाता है कि इस अगम्य किले पर महमूद बेगढ़ा का कब्जा विश्वासघात एवं राजद्रोह के कारण हुआ। गिरनार के शासक ने अपने कामदार मंत्री/एजेंट से उसकी पत्नी छीन ली थी। प्रतिशोध में उसने गुप्त रूप से अपने स्वामी के पतन की साजिश की। किले के पतन के बाद उसने इस्लाम कुबूल कर लिया और सुल्तान की सेवा में सम्मिलित हो गया। सुल्तान ने पहाड़ी की तराई में मुस्तफाबाद नामक एक नया नगर बसाया। उसने वहां कई ऊंची–ऊंची इमारतें बनवाईं और अपने अमीरों से ऐसा ही करने को कहा। इस प्रकार यह नगर गुजरात की दूसरी राजधानी बन गया।

बाद में इस क्षेत्र में महमूद बेगढ़ा ने द्वारका को तबाह कर दिया जिसका मुख्य कारण यह था कि वहां समुद्री डाकुओं के अड्डे थे जो व्यापारियों को लूटते व परेशान करते थे। इस प्रकार, महमूद के आक्रमण का तात्कालिक कारण मौलाना महमूद समरकन्दी की शिकायत थी कि उसे हुरमुर्ज लौटते समय समुद्री डाकुओं ने समुद्र तट की ओर खदेड़ दिया तथा उसकी सारी सम्पत्ति लूट ली गई; इन समुद्री डाकुओं को स्थानीय शासक ने आश्रय दे रखा था किन्तु इस सैनिक अभियान के दौरान वहां के प्रसिद्ध हिन्दू मंदिरों का भी ध्वस्त किया गया।

चंपानेर का किला खानदेश और मालवा को अपने नियंत्रण में लाने की सुल्तान की योजनाओं के लिए बहुत महत्व रखता था। गुजरात के अधीन होने के बावजूद चंपानेर के शासक ने मालवा के सुल्तान के साथ निकट संबंध बना रखे थे।

सुल्तान के निरंतर अभियानों तथा चंपानेर के अपेक्षित अभियान ने अमीरों में असंतोष उत्पन्न कर दिया जिन्होंने खुदावंद खां के नेतृत्व में अपनी स्वामी को सिंहासन से हटाकर उसे 4 दिसंबर 1480 को, जब वह जुलूस में ईदुलफितर के त्योहार पर ईदगाह जाता था, राजकुमार अहमद को सुल्तान बनाने का षड्यन्त्र रचा। प्रमुख हिंदू अमीर राय–रायान के कारण षड्यंत्र का पता चला गया जिसने अपने मित्र इमादुलमुल्क को षड्यंत्रकारियों की गतिविधियों की सूचना दी, इमाद ने गुप्तरूप से अपनी 'इक्ता' से सेना बुला ली और कैसर खां फारूकी ने चुपचाप सुल्तान को सारे मामले की सूचना दे दी। षड्यंत्रकारियों पर विश्वासघात का अभियोग लगाने के बजाय महमूद बेगढ़ा ने अपने अमीरों की निष्ठा परखने का निश्चय किया और यह सार्वजनिक घोषणा की कि वह अपने पुत्र राजकुमार अहमद को अपना रीजेंट बनाकर मक्का की तीर्थयात्रा पर जाना चाहता है। सुल्तान ने तीर्थयात्रा की सभी आवश्यक तैयारियां कीं। तत्पश्चात् अपने अमीर बुलाकर मामले पर अंतिम निर्णय उन पर छोड़ दिया और कहा कि वह उनके निर्णय के पूर्व न तो खाना खाएगा और न पानी पिएगा। यह देख कि उनके षड्यंत्र का पता चला गया है अमीर बड़ी उलझन में फंस गए। कुछ विचार–विमर्श के पश्चात् उन्होंने निजामुलमुल्क को सुल्तान के पास भेजा और उससे प्रार्थना की कि मक्का की तीर्थयात्रा करने के पूर्व वह चंपानेर पर विजय प्राप्त करे। यह सलाह स्वीकार की गई किंतु 1482 तक चंपानेर पर आक्रमण नहीं किया जा सका।

1482 में रसूलाबाद के 'खासाखेल' सूंघा ने भीषण अकाल से अनाज की कमी के कारण रसद की खोज में चंपानेर पर लूट के लिए छापामार आक्रमण किया। किंतु चंपानेर के रावल गंगादास के पुत्र रावल जयसिंह ने उसे मार भगाया। वह तेजी से झपटकर बाहर आया और सुल्तान के क्षेत्र में लूटमार की। सुल्तान इस घटना से आगबबूला हो गया और अपनी सेनाएं एकत्रित करने के पश्चात् 12 दिसंबर 1482 को उसने चंपानेर की ओर कूच किया। जयसिंह अपने शत्रु का सामना करने के लिए बाहर आया किन्तु उसे पावागढ़ के पहाड़ी दुर्ग में शरण लेने के लिए विवश होना पड़ा जिसे सुल्तान ने निकट से घेर लिया। घेरे की अवधि में रावल ने अपना मंत्री सूरी मालवा के महमूद खल्जी के पुत्र तथा उत्तराधिकारी सुल्तान गयासुद्दीन से सहायता प्राप्त करने के लिए मांडू भेजा। गयासुद्दीन सहर्ष तैयार हो गया और नालचा तक बढ़ आया। घेरा जारी रखने के लिए अपने अधिकारी छोड़ कर महमूद बेगढ़ा गयासुद्दीन खल्जी का सामना करने के लिए दोहद की ओर बढ़ा। गयासुद्दीन मांडू लौट गया और घेरा जारी रखने के लिए बेगढ़ा चंपानेर लौट आया। दुर्ग पर अधिकार किए बिना घेरा न उठाने के निश्चय के फलस्वरूप उसने अपनी छावनी में एक मस्जिद के निर्माण का आदेश दिया। इसी बीच सुल्तान की एक तोप से चलाए गए गोले से दुर्ग की दीवार में छेद हो गया तथा गढ़ की रक्षक सेना में खलबली मच गई। घबराहट में उन्होंनें बारूद के हुक्के चलाए जो सुल्तान की सेना में गिरने के बजाय रावल के महल में गिरे। अंत समय देखकर राजपूतों ने जौहर किया। उन्होंने अपने स्त्री, बच्चों को आग में डाल दिया और तलवारें लेकर शत्रु पर आक्रमण किया और अंत तक लड़ते रहे। इस प्रकार गुजरात में राजपूत गौरव के अंतिम गढ़ चंपानेर का 21 नवबंर 1484 को पतन हो गया। महमूदबेगढ़ा ने चंपानेर में अपने निवास का एक मुख्य महल बनाया और उसका नाम मुहम्मदाबाद रखा।

1486 में जब महमूद बेगढ़ा चंपानेर के पास शिकार खेल रहा था तो समरकंदी व्यापारियों के दल ने उसे शिकायत की कि आबू के राजा ने चार सौ घोड़े तथा कुछ मन तातारी कस्तूरी, जो वे गुजरात ला रहे थे, लूट लिए हैं। सुल्तान ने उनकी हानि पूरी कर दी और उन्हें राजा को संबोधित एक 'फर्मान' दिया जिसमें उनकी संपत्ति उन्हें वापस देने की मांग की गई थी। इससे राजा भयभीत हो गया जिसने व्यापारियों का माल ही नहीं लौटाया बल्कि महमूद बेगढ़ा के लिए बहुमूल्य उपहार भी भेजे जो उसने व्यापारियों को दे दिए।

1490 में महमूद बेगढ़ा से यह शिकायत की गई कि बहमनियों के एक विद्रोही अमीर बहादुर जीलानी ने गुजराती तट के पास अनेक समुद्री डकैतियां की हैं और दूरस्थ माहिम तथा कैम्बे द्वीप तक लूटमार की है। लुटेरे को दंड देने के लिए महमूद बेगढ़ा ने कमाल खां तथा सफदर खां को भेजा किंतु वे पराजित हुए और बंदी बनाकर दाबुल भेज दिए गए। तत्पश्चात् महमूद बेगढ़ा ने मलिकुश्शर्क

कवामुलमुल्क की अधीनता में एक विशाल सेना भेजी जिसे यह ज्ञात हुआ कि दक्खिन पर आक्रमण किए बिना [illegible] जीलानी तक नहीं पहुंच सकेगा। अतः महमूद बेगढ़ा ने बहार खां के हाथ महमूद बहमनी के पास एक पत्र भेजा जिसमें [illegible] उसके राजवंश पर गुजरात की कृतज्ञता का स्मरण कराया गया था और उससे प्रार्थना की गई थी कि वह विद्रोही से [illegible] मांगे। इस पत्र के उत्तर में बहमनी सुल्तान ने अपने मंत्री कासिम 'बरीदुल मुमालिक' को भेजा जो अहमद निजाम शाह [illegible] सहायता से समुद्री डाकू के विरुद्ध गया किंतु 1495 तक ही बहादुर जीलानी पराजित कर मारा जा सका और गुजरात को [illegible] क्षतिपूर्ति की गई।

बहादुर जीलानी के संकट से छुटकारा पाकर महमूद बेगढ़ा खानदेश के राजा आदिल खां द्वितीय की ओर मुड़ा जिसने बहुत समय से खराज नहीं भेजा था। वास्तव में आदिल खां द्वितीय खानदेश का अत्यंत शक्तिशाली शासक था। उसने अपनी शक्ति [illegible] ही नहीं संगठित कर ली थी बल्कि गोंडवाना तथा गढ़ामांडला तक अपनी सत्ता का विस्तार कर लिया था। उसने काला [illegible] भीलों की लूटमार समाप्त कर दी थी और असीर की मोर्चाबंदी दृढ़ कर उसका विस्तार किया था। ताप्ती पर एक दुर्ग बनाकर बुरहानुपुर की किलेबंदी की थी। विपुल शक्ति संगठित करने के फलस्वरूप उसने 'झरकंडी सुल्तान' अर्थात–जंगल का [illegible] का विरुद्ध धारण कर लिया था। अपने पूर्वजों के व्यवहार के प्रतिकूल उसने न केवल गुजरात के सुल्तान का देय वार्षिक [illegible] खराज रोक दिया बल्कि खुल्लमखुल्ला यह घोषणा की कि वह सम्राट के अधीन नहीं है। फलस्वरूप 1498 में महमूद बेगढ़ा ने [illegible] खानदेश में प्रवेश किया और उसे उजाड़ा। किंतु महमूद बेगढ़ा की शक्ति का सामना करने में असमर्थ हो उसके बकाया खराज [illegible] देने पर बाध्य होना पड़ा। तत्पश्चात् ही गुजराती सेना अपने देश लौटी। इसके बाद आदिल ने गुजरात के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखे और अपने स्वामी के दरबार भी गया।

28 सितंबर 1501 को खानदेश का राजा आदिल द्वितीय सिंहासन अपने छोटे भाई दाऊद खां के लिए छोड़ कर मर गया। दाऊद खां हुसाम अली तथा यार अली नामक दो भाइयों की मुट्ठी में था और हुसाम अली को हुसामुद्दीन की उपाधि देकर अपने राज्य का वजीर नियुक्त किया। हुसामुद्दीन के उकसाने पर दाऊद किसी बहाने अहमद नगर के अहमद निजाम शाह से उलझ गया जिसने खानदेश पर आक्रमण कर दिया और उसे उस समय तक निकाला नहीं जा सका जब तक कि दाऊद ने मालवा के नासिरूद्दीन खल्जी के नाम का खुत्वा पढ़वाने की अपमानजनक शर्त मानकर उसकी सहायता प्राप्त नहीं की।

28 अगस्त 1508 को उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका लज्जास्पद शासन समाप्त हुआ। उसका पुत्र गाजी खां उसका उत्तराधिकारी हुआ किंतु दस दिन पश्चात् हुसामुद्दीन ने उसे विष दे दिया।

इसी बीच महमूद बेगढ़ा को पुर्तगालियों की विशाल नौसैनिक शक्ति का सामना करना पड़ा जिनकी 1498 में अंतरीप मार्ग की खोज ने मिस्र तथा लाल सागर के मसालों के व्यापार का अधिकांश दस वर्ष के भीतर ही अंतरीप मार्ग की ओर मोड़ दिया। इस प्रकार मिस्र तथा तुर्की यूरोप तथा पूर्व के बीच लाभदायक व्यापार से वंचित कर दिए गए और गुजरात की [illegible] आमदनी को भी भारी हानि पहुंची। उस समय गुजरात महाद्वीप का व्यापार–वाणिज्य केंद्र था। इसके फलस्वरूप मिस्र तुर्की तथा गुजरात के बीच उनके एकाधिकार में पुर्तगाली घुसपैठियों के विरुद्ध एक संधि की गई।

संघर्ष उस समय आरंभ हुआ जब 1507 में मिस्र के अंतिम ममलूक सुल्तान कन्सौह अलगोरी ने पुर्तगालियों को भारतीय समुद्र से उखाड़ फेंकने के लिए गुजराती तट पर एक अभियान भेजा। मिस्री नौसेना अमीर हुसैन के अधीन रखी गई जो [illegible] जद्दा का राज्यपाल था। उसके साथ उस्मानी शासक सुल्तान सलीम द्वारा भेजा गया सलमान रायूस भी मिस्री बेड़े की सहायता करने तथा महमूद बेगढ़ा के अधीन जूनागढ़ तथा डीव के प्रसिद्ध राज्यपाल मलिक अयाज द्वारा संगठित गुजराती बेड़े से संयोजन करने आया था। संयुक्त नौसेना ने चौल में लंगर डाला। जब महमूद बेगढ़ा को नौसेना के आगमन का समाचार मिला तो पहले वह माहिम गया और फिर डीव। इसी बीच उसे हुर्मुज के वली से पुर्तगालियों द्वारा किए गए अत्याचारों का उल्लेख करते हुए एक पत्र मिला। इससे महमूद बेगढ़ा और अधिक उत्तेजित हो गया और उसने गुजरात की नौसेना के [illegible] मलिक अयाज को अपने सामूहिक शत्रुओं के विरुद्ध मित्र नौसेनाओं की सहायता करने भेजा।

पुर्तगाली नौसेना का संचालन पुर्तगाली वाइसराय फ्रांसिस्को डि अल्मीडा (1505-09) का पुत्र जेम्स लोरका कर रहा था। जनवरी 1508 में चौल के निकट घमासान युद्ध हुआ जिसमें लगभग चार सौ रूमी मारे गए और दो से तीन हजार तुर्क काम आए। मित्रों द्वारा चलाए गए एक तोप के गोले ने लोरेंको का जहाज ध्वस्त कर दिया जो पुर्तगाली नायक के [illegible] डूब गया। मित्रों की यह विजय बड़े उल्लास का अवसर था। कहते हैं कि महमूद ने मलिक अयाज की सेवाओं के आभार स्वरूप उसे खिलत भेंट की।

पुर्तगाली पराजय तथा अपने पुत्र की मृत्यु का बदला लेने के लिए फ्रांस्किो डि अल्मीडा ने स्वयं एक नौसेना का संचालन किया और वह अठारह जलपोत तथा बारह सौ नौसैनिकों सहित भारत के पश्चिमी तट पर 12 दिसंबर 1508 को आया। उसने डीव के निकट मिस्री बेड़े तथा गुजराती 'फुस्टास' को एकत्र पाया। 3 फरवरी 1509 को भयंकर नौसैनिक युद्ध हुआ जिसमें अल्मीडा ने मित्र नौसेना पर विजय पाई। अमीर हुसेन का बेड़ा पूर्णतः नष्ट कर दिया गया और मलिक अयाज ने चौल में पकड़े गए बंदी वापस कर और उसके बेड़े के लिए रसद की व्यवस्था कर संधि कर ली। 18 मार्च 1509 को पुर्तगाली कुछ हानि उठाकर विजयी हो कोचीन लौटे।

चौल तथा डीव में पुर्तगालियों से हुए युद्ध का महत्व महमूद बेगढ़ा ने भलीभांति समझा और उसने नए पुर्तगाली राज्यपाल अलबुकर्क (1509-1515) के पास एक राजदूत भेजा। दूत ने सितंबर 1510 में राज्यपाल से कन्नानौर में भेंट की और उसे सुल्तान की शांति और संधि की इच्छा से अवगत कराया। उसने उसे दो पत्र भी दिए, एक गुजरात में निःसहाय ईसाइयों की ओर से और दूसरा महमूद बेगढ़ा के हिंदू मंत्री, मलिक गोपी की ओर से जिसे पुर्तगाली गोपीकैका कहते हैं। मलिक गोपी के पत्र ने गुजरात के सुल्तान तथा पुर्तगालियों के बीच संधि का प्रस्ताव रखा और पुर्तगालियों से यह आश्वासन चाहा कि उनके जहाज गुजरात का समुद्री व्यापार नष्ट करने के लिए समुद्री गश्त नहीं लगाएंगे। बदले में मलिक गोपी ने ईसाई बंदी मुक्त कराने तथा पुर्तगाली जहाजों को गुजराती बंदरगाहों में आने–जाने की स्वतंत्रता प्राप्त कराने का वादा किया।

उपर्युक्त प्रस्तावों से अलबुकर्क की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई और उसने दूत को बुला कर संधि की शर्तें निर्धारित करनी चाहीं। उसने अपनी सेना तथा नौसेना महमूद बेगढ़ा की सेवा में रखी और उसके दरबार में ईसाई बंदियों की मुक्ति के लिए प्रार्थना की। मलिक गोपी को लिखे गए अपने 16 सितंबर के पत्र में अलबुकर्क ने गुजराती सुल्तान तथा पुर्तगाल के राजा डी. मैनुएल के बीच संधि की आशा व्यक्त की जिसके अंतर्गत सुल्तान के बंदरगाह सुरक्षित होंगे और उसके जहाज समुद्री यात्रा के लिए स्वतंत्र होंगे। इस वार्तालाप के तुरंत पश्चात् अलबुकर्क ने 25 नवंबर 1510 को बीजापुर के इस्माईल आदिल शाह 1510-34) से गोवा छीन लिया। गोवा के पतन से पुर्तगालियों की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और उनके प्रति भारतीय शासकों का रवैया बहुत बदल गया। महमूद बेगढ़ा ने अपने दरबार में बंदी पुर्तगाली मुक्त कर दिए और सुल्तान की आज्ञा प्राप्त कर, मिस्री नौसेनापति अमीर हुसेन ने कैम्बे से यमन के लिए प्रस्थान किया। इस प्रकार पुर्तगालियों के विरुद्ध मिस्र, तुर्की तथा गुजरात का भयंकर संघ भंग हो गया।

जून 1508 में सुल्तान सिकंदर लोदी (1489-1517) की ओर से एक शिष्टमंडल गेंडा के एक जोड़ें, तीस घोड़ों तथा महमूद बेगढ़ा के लिए अन्य बहुमूल्य उपहारों सहित मुहम्मदाबाद–चंपानेर आया जिसने बदले में राजदूत को एक बहुमूल्य खिलत दी तथा सिकंदर लोदी के लिए कुछ तोते, बगुले और अरबी घोड़े उपहारस्वरूप भेजे। **निजामुद्दीन** तथा **फरिश्ता** के अनुसार ये उपहार मित्रता करने के लिए भेजे गए थे। सिकंदर का चाहे जो उद्देश्य रहा हो यह निश्चित है कि पहली बार दिल्ली के शासक ने गुजराती शासक को उपहार भेजे और इस कारण इसका राजनीतिक महत्व था।

गजनी खां का कोई पुरुष उत्तराधिकारी नहीं था। उसकी मृत्यु के पश्चात् खानदेश के सिंहासन के लिए हुए उत्तराधिकारी युद्ध में महमूद बेगढ़ा को हस्तक्षेप करना पड़ा। कुछ दरबारियों ने फारूकी वंश के आलम खां को चुना जिसका अहमद नगर का निजाम शाह भी कर रहा था। अहसान खां के पुत्र आदिल खां ने भी सिंहासन के लिए दावा किया और उसका समर्थन उसका नाना महमूद बेगढ़ा कर रहा था। खानदेश भी दो दलों में विभाजित था एक अहमदनगर के आश्रित का समर्थन कर रहा था और दूसरा गुजरात के दावेदार का समर्थक था। आलम खां के अनुयायी मलिक हुसामुद्दीन के नेतृत्व में बुरहानपुर में स्थापित हो गए जहां अहमद निजाम शाह तथा बरार के इमाद शाह आकर उसकी ओर मिल गए। गुजराती दल का नेता मलिक लद्दन खल्जी असीर में सुरक्षित हो बैठ गया जहां आलम खां के सैनिकों ने उसे घेर लिया। महमूद बेगढ़ा अपने पौत्र आदिल खां सहित थलनेर की ओर चला। जब उसके आगमन का समाचार बुरहानपुर पहुंचा तो अहमद निजाम शाह तथा इमाद शाह लौट गए और अपना दावेदार साथ लेते गए। मलिक हुसामुद्दीन को महमूद बेगढ़ा के सामने झुकना पड़ा। महमूद बेगढ़ा ने 10 अप्रैल 1509 को थलनेर में दरबार किया और अपने आश्रित को आजम हुमायूं आदिल खां तृतीय की उपाधि देकर सिंहासन पर बिठाया। मलिक लद्दन को खानेजहा की उपाधि दी गई तथा मलिक हुसामुद्दीन को शहरयार की।

खानदेश के सिंहासन पर स्थापित हो जाने पर आदिल खां तृतीय ने महमूद बेगढ़ा के पुत्र खलील खां की पुत्री से, जो मुजफ्फर शाह का विरुद्ध धारण कर अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ, विवाह कर गुजरात से अपने संबंध और दृढ़ कर लिए। तत्पश्चात् आदिल खां अपनी राजधानी बुरहानपुर से थलनेर ले आया और मलिक हुसामुद्दीन शहरयार की, जो पुनः अहमदनगर के निजाम शाह से षड्यंत्र कर रहा था, हत्या करवादी। किंतु उससे असंतोष समाप्त नहीं हुआ। 1510 में शेर खां तथा सैफ खां ने अहमद

निजाम शाह से मिलकर षड्यंत्र रचा। उन्होंने असीर में विद्रोह की पताका फहराई और अहमदनगर से दावेदार आलम खां को आमंत्रित किया। आदिल खां ने परिस्थिति की सूचना तुरंत महमूद बेगढ़ा के पास भेजी जिसने दिलावर खां, कद्र खां, सफद खां, तथा अन्य अमीरों को बारह लाख टंके तथा समुचित सेना सहित अपने पौत्र के बचाव के लिए भेजा। अब गुजराती सेना नंदरबार पहुंची तो विद्रोही भाग गए और कोविल पहुंचे। राज्य सुरक्षित देखकर आदिल खां ने गुजराती अमीरों को वापस जाने की आज्ञा दी और वह स्वयं 1510 के अंत में बुरहानपुर लौटा।

आगामी वर्ष आरंभ होते ही महमूद बेगढ़ा बीमार पड़ा और उसने अपने पुत्र राजकुमार खलील खां को बड़ौदा से बुलवाकर पैतृक सलाह दी। किंतु चूंकि उसकी स्थिति कुछ सुधर गई इसलिए उसने राजकुमार को बड़ौदा लौटने की अनुमति दे दी। इसी समय फरहतुलमुल्क ने सुल्तान को सूचित किया कि फारस से शाह इस्माइल सफावी ने यादगार बेग किजिलबाश के अधीन एक शिष्टमंडल सुंदर उपहारों सहित भेजा है। सुल्तान ने शिष्टमंडल के स्वागत के लिए सभी आवश्यक व्यवस्था करने का आदेश दिया। किंतु राजदूत के राजधानी पहुंचने के पूर्व ही सोमवार 23 नवंबर 1511 को महमूद बगढ़ा ने अंतिम सांस ली और उसे सरखेज में मकबरे में दफन किया गया जिसे उसने अपने जीवनकाल में अपने लिए बनवाया था।

महमूद बेगढ़ा को न केवल गुजरात का सबसे महान शासक माना जाता है बल्कि भारत के महान योद्धा शासकों में भी उसका उच्च स्थान है। यद्यपि वह एक छोटे क्षेत्र का शासक था किंतु वास्तव में वह अपने समकालीन, दिल्ली के सिकंदर लोदी से अधिक शक्तिशाली था। उसके लिए यह बड़े संतोष का विषय रहा होगा कि उसकी मृत्यु के कुछ दिन पूर्व दिल्ली के सम्राट ने उसे उपहार भेजे और इस प्रकार गुजराती सुल्तान की स्वतंत्र स्थिति को मान्यता दी। प्रसिद्ध बोलोगी यात्री बरथेमा ने यह कहकर महमूद का एक अनोखा रूप प्रस्तुत किया है कि उसकी फहराती हुई दाढ़ी उसकी कमर तक पहुंचती थी और उसकी मूछें इतनी लंबी थीं कि वह उन्हें अपने सर पर बांधता था। बारबूसा के अनुसार बचपन से ही महमूद किसी विष से पाला गया था जिसके फलस्वरूप यदि कोई मक्खी उसके हाथ पर बैठती थी तो वह तुरंत सूजन से मर कर गिर जाती थी। कहते हैं कि उसकी भयंकर भूख कहावत बन गई थी। अपनी भूख शांत करने के लिए वह एक मन गुजराती खाना तथा पाच सेर भुना चावल दही चीनी साथ खाता था। रात में दो तश्तरियों में समोसे उसकी खाट के दोनों ओर रखे जाते थे ताकि वह सोने के बाद चाहे जिस करवट उठे उसे कुछ खाने के लिए मिल जाए। कलेवा में वह एक प्याला शहद एक प्याले मक्खन के साथ और सौ–पचास पके केले खाता था। बरथेमा तथा बारबूसा की रचनाओं का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद किया गया था और फलस्वरूप महमूद बेगढ़ा बहुत बदनाम हो गया।

महमूद एक वीर सुल्तान था जिसने लगातार पड़ोसी राजाओं के विरुद्ध अभियानों का नेतृत्व किया। यह अभियान धार्मिक जोश से अधिक विजय की महत्वाकांक्षा से प्रेरित थे। उसने सफलतापूर्वक पड़ोसी राजपूत राजाओं तथा मुस्लिम शासकों से भी युद्ध किए। उसने अपने प्रशासन में कुछ उच्चतम पदों पर हिंदू नियुक्त किए। उदाहरण के लिए एक ब्राह्मण मलिक गोपी सुल्तान का मुख्यमंत्री था।

इसके अतिरिक्त जैसा उसके द्वारा दो विद्रोहों के सफल दमन से सिद्ध होता है महमूद में दृढ़ कार्यवाही की प्रचुर क्षमता थी। वह एक बुद्धिमान और न्यायी प्रशासक भी था। हमें बताया गया है कि शक्तिशाली अमीर बहाउलमुल्क के किसी संबंधी ने एक हत्या कर दी। अपराधी को बचाने के लिए इमादुलमुल्क तथा अजदुलमुल्क ने एक निर्दोष व्यक्ति फुसला कर अपराध स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया और फलस्वरूप उसे उस हत्या के लिए फांसी दे दी गई उसने नहीं की थी। कुछ समय पश्चात् जब सुल्तान ने वास्तविकता जानी तो उसने इमादुलमुल्क और अजदुलमुल्क को उनके जघन्य अपराध के लिए मृत्युदंड दे दिया।

न्यायी शासक होने के अतिरिक्त महमूद एक परोपकारी सम्राट भी था जो सदैव अपने लोगों की भलाई का ध्यान रखता था। उसने सूदखोर साहूकारों से अपने सैनिकों की रक्षा की और ऐसे सैनिकों को धन देने के लिए खजांची नियुक्त किए जिन्हें धन की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त उसने स्वयं उन लोगों के परिवार को सांत्वना दी जो युद्ध में मारे गए थे। गिरनार के विरुद्ध अपने सफल अभियान से लौटने पर अहमदाबाद में प्रवेश करने के पूर्व सुल्तान तीन दिन तक सरखेज में ठहरा। इन तीन दिनों में प्रायः उसकी आंखें आंसुओं से डबडबा जाती थीं और उसके चेहरे पर दुख के चिन्ह उभर आते थे। जब अहमदाबाद का काजी नज्मुद्दीन नगर के बाहर सुल्तान का स्वागत करने तथा उसे बधाई देने गया तो कहते हैं कि उसने कहा 'हे काजी मैं कुशलपूर्वक हूं किंतु तुम्हें मुझे उनके विषय में बताना चाहिए जिनके पुत्र तथा भाई पिछले पांच सालों में मारे गए हैं।

सुल्तान अपने अन्य अधीनस्थों का भी उतना ही ध्यान रखता था। उसने अपनी प्रजा के पुराने घरों की मरम्मत तथा पुनर्स्थापना के लिए तथा जो सड़क के किनारे छायादार वृक्ष लगाये थे उनके लिए कुएं खुदवा कर सहायता की। उसने यात्रियों के आराम के लिए सराय तथा ढाबे बनवाए। व्यापारी संतुष्ट थे क्योंकि यातायात के लिए मार्ग सुरक्षित थे। सुल्तान महान निर्माता था। उसने जूनागढ़ में मुस्तफाबाद की स्थापना की तथा चंपानेर के निकट मुहम्मदाबाद बसाया और उन्हें भव्य भवनों तथा सुंदर उद्यानों से सुज्जित किया। बागे फिदौस (स्वर्ग वाटिका) की स्थापना उसके शासनकाल में की गई जो लगभग दस मील लंबा और दो मील चौड़ा था। उसने विद्वानों के लिए उत्तम मस्जिदें तथा मदरसे बनवाए।

यद्यपि महमूद ने नियमित शिक्षा नहीं पाई थी किंतु उसने विद्वानों की संगति से यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसके संपर्क में आने वाला कोई व्यक्ति उसे अशिक्षित नहीं कह सका। इब्ने अफंरश ने काजी अयाज की 'शिफा' नामक पुस्तकं के अपने अनुवाद में सुल्तान द्वारा कानून के अनेक प्रश्नों के तात्कालिक निर्णय का उल्लेख किया है। वह धार्मिक, ऐतिहासिक तथा अन्य विषयों पर इतनी सतर्कता से वार्तालाप करता था कि वह इन शाखाओं के विद्वान सुगमता से पछाड़ देता था। उसने अरबी रचनाओं के फारसी अनुवादों में विशेष रूचि ली। इसी प्रकार उसने संस्कृत को भी संरक्षण दिया। उसके दरबारी कवि, उदयराज ने सुल्तान की प्रशंसा में 'महमूदचरित' नामक एक कविता लिखी। कवि अपने संरक्षक का वर्णन शाही वंश के सर्वोत्तम रत्न के रूप में इस तरह करता है मानो वह क्षत्रिय था। वह बहुत बढ़ा–चढ़ा कर लिखता है :

> युद्ध में महमूद भीम के बराबर है, परोपकार में वह कर्ण से आगे है, क्रीड़ा में वह नारायण के समान है, दया में वह राम के सदृश है, ज्ञान में वह वृहस्पति से उत्तम है और सौंदर्य में मन्मथ से अधिक है।

मुजफ्फर शाह द्वितीय

महमूद बेगढ़ा का उत्तरधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार खलील खां हुआ जो 24 नवंबर 1511 को सिंहासनारूढ़ हुआ और उसने अबू नस्त्र शम्सुद्दीन मुजफ्फर शाह द्वितीय का विरुद्ध धारण किया। 15 जनवरी, 1512 को उसने फारसी राजदूत यादगार बेग से मुलाकात की। वे राजधानी के निकट महमूद बेगढ़ा की मृत्यु के समय से प्रतीक्षा कर रहे थे। राजदूत ने सुल्तान के समक्ष एक अत्यंत मूल्यवान फीरोजी प्याला, रत्नों से भरी एक पेटी और तीस ईराकी घोड़े उपहारस्वरूप भेंट किए। मुजफ्फर ने राजदूत तथा उसके परिजनों को 'खिलत' दीं और तत्काल चंपानेर के मार्ग से बड़ौदा जाने के लिए अहमदाबाद से प्रस्थान किया। संभवतः फारसी दूत तथा उसका दल भी उसके पीछे राजधानी आया।

बड़ौदा में मालवा के सुल्तान नासिरूद्दीन खल्जी (1500-10) के बड़े पुत्र राजकुमार मुहम्मद उर्फ साहेब खां ने मुजफ्फर से भेंट की और उसे मांडू का सिंहासन, जो उसके छोटे भाई महमूद ने उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् छीन लिया था, पुनः प्राप्त करने में सहायता की याचना की। नासिरूद्दीन की मृत्यु के पश्चात् लंबे समय तक भाइयों में युद्ध हुआ। उसमें सिंहासन पर महमूद के दावे का समर्थन उसके बड़े भाई राजकुमार मुहम्मद के विरुद्ध शक्तिशाली राजपूत अनुयायी मेदिनी राय कर रहा था। मुहम्मद पड़ोसी गुजरात के दरबार में शरण लेने के लिए विवश हो गया जहां उसका सहर्ष स्वागत किया गया। मुजफ्फर ने उसके दावे की जांच करने का वादा किया और कैसर खां को मालवा की वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए सीमावर्ती नगर दोहद भेजा। इस बीच राजकुमार मुहम्मद अनुयायियों सहित चंपानेर में शाही मेहमान की भांति रखा गया।

चंपानेर में अपने आवास की अवधि में राजकुमार मुहम्मद और उसके अनुयायी फारसी राजदूत से झगड़ पड़े और उसका डेरा लूट लिया। जब मुजफ्फर को इस झगड़े की सूचना मिली तो उसने अपने मंत्री मलिकुश्शर्क इमादुलमुल्क को भेजा जिसने तुरंत झगड़ा शांत कर दिया और राजदूत को शाही महलों में ठहराया गया। उसके तुरंत बाद 23 नवंबर 1512 को खुरासान खां के संरक्षण में मुजफ्फर ने फारसी राजदूत तथा उसका दल समुद्र तट पर भेज दिया जहां दो विशाल जलपोत उन्हें ले जाने लिए दिए गए। उसके प्रस्थान के समय उसे घोड़ों के कुछ अद्भुत कवचों तथा बहुमूल्य वस्तुओं सहित सात हाथी; एक गेंडा तथा अन्य पशु और पक्षी दिए गए।

राजकुमार मुहम्मद जो संपूर्ण अप्रिय घटना के कारण अत्यंत लज्जित था। वह फारसी राजदूत के प्रस्थान के कुछ समय पूर्व मुजफ्फर से औपचारिक अनुमति प्राप्त किए बिना चंपानेर से चला गया । उसने पहले खानदेश के आदिल खां तृतीय के पास और फिर बरार के अलाउद्दीन इमाद शाह के पास शरण ली। गुजरात से राजकुमार मुहम्मद के प्रस्थान के कुछ समय पश्चात् मुजफ्फर को सूचना मिली कि मालवा के सुल्तान महमूद खल्जी ने अपने देश का समस्त प्रशासन मेदिनी राय के हाथों में सौंप दिया है और मेदिनी राय राज्य में सर्वशक्तिमान ही नहीं बर गया है बल्कि उसने अपने स्वामी को कठपुतली बना दिया है। चूंकि मेदिनी राय का बढ़ता हुआ प्रभाव मेवाड़ के राणा सांगा के पक्ष में शक्तिसंतुलन झुका सकता था अतः मुजफ्फर ने मालवा के आंतरिक मामलों में

हस्तक्षेप का निश्चय किया। अगस्त–सितंबर 1512 में उसने विशाल सेना सहित चंपानेर से कूच किया और मालवा के मार्ग में गोधरा में कुछ दिन ठहरा।

मालवा के मामले में मुजफ्फर को व्यस्त देखकर कर ईदर के राव भारमल के पुत्र राव भीम (1509-15) ने साबरमती नदी के पूर्व का क्षेत्र लूटा। पाटन का राज्यपाल आइनुलमुल्क फौलादी जो सुल्तान से मिलने गोधरा जा रहा था, राव का दंड देने के लिए लौटा किंतु वह पराजित कर दिया गया और उसका भाई दोसौ व्यक्तियों सहित मार डाला गया। जब मुजफ्फर ने यह समाचार सुना तो उसने स्वयं राव के विरुद्ध कूच किया। शाही सेना का सामना कठिन देख कर राव 1513 में पहाड़ियों में चला गया। मुजफ्फर ने उसका राज्य उजाड़ा और ईदर की राजधानी के सामान्य विनाश का आदेश दे दिया तब राव भीम ने मुजफ्फर के कृपापात्र हिंदू मंत्री मलिक गोपी की मध्यस्थता का सहारा लिया और उसे बीस लाख टंके भारी खराज देने पर क्षमा कर दिया गया। मुजफ्फर ने यह स्वीकार किया और मालवा के विरुद्ध अपना अभियान जारी रखने के लिए गोधरा की ओर चल पड़ा।

इसी बीच पुर्तगाली राज्यपाल अफोन्सो डि अलबुकर्क (1509-15) ने क्रिश्चाओं डेगा के हाथ गुजरात से प्रस्तावित संधि की शर्तें मुजफ्फर शाह के पास भेजीं जो उसने सम्राट डाम मैनुएल से दिसंबर 1512 तक प्राप्त की थीं। अन्य बातों के साथ संधि में निम्नलिखित शर्तें भी थीं: 1. डीव में पुर्तगाल के राजा की प्रजा की संपत्ति और व्यक्तियों की सुरक्षा के लिए एक दुर्ग के निर्माण की अनुमति; 2. गुजराती व्यापारियों के लिए आदेश कि वे अपना माल गोवा के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान को न भेजें वहां उन्हें वह सब माल मिलेगा जिसे वह अपने देश आयात करना चाहते हों; 3. गुजराती शासक की ओर से यह आश्वासन कि वह अपने में राज्य में किसी तुर्की या फारसी व्यक्ति का स्वागत नहीं करेगा क्योंकि वे पुर्तगालियों के मुख्य शत्रु थे।

जब क्रिश्चाओं डेगा कैंबे पहुंचा तो उसने देखा कि मुजफ्फर मांडू के विरुद्ध अभियान पर गया है। अतः उसे उसके चंपानेर लौटने तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जहां उसने अपने पत्र उसे दिए। मुजफ्फर इससे सहमत हो गया कि वह रूमियों तथा तुर्कों को अपने राज्य में पुनः प्रवेश नहीं करने देगा किंतु उसने पुर्तगालियों की यह प्रार्थना ठुकरा दी कि उन्हें डीव में दुर्ग बनाने की आज्ञा दी जाए। अधिक वार्तालाप के बाद उसने गुजरात के तट पर कुछ अन्य दीप पुर्तगालियों को दुर्ग बनाने तथा बस्तियां बसाने के लिए देने का प्रस्ताव रखा। किंतु अपने देश की ओर से क्रिश्चाओं ने उन्हें स्वीकार नहीं किया क्योंकि उस अलबुकर्क की ओर से अनुमति नहीं थी। अतः वह गुजरात के सुल्तान के एक दूत सहित चंपानेर से गोवा गया।

क्रिश्चाओं तथा गुजराती दूत के गोवा पहुचंने के पूर्व ही अगस्त 1513 में अलबुकर्क स्वयं डीव पहुंचा। वह अदन पर अधिकार करने के अपने प्रयत्नों में असफल होने के पश्चात् अपनी राजधानी लौट रहा था। डीव के राज्यपाल मलिक अयाज ने उसका अत्यंत शिष्ट स्वागत किया और दोनों ने परस्पर वार्तालाप किया। अलबुबर्क डीव में छः मास तक ठहरा और जब उसके जलपोतों ने अपने पानी के भंडार भर लिए तो उसने गोवा के लिए प्रस्थान किया। वह विक्रय के लिए माल से भरा पुर्तगाली जहाज 'एक्सनोब्रेगज' छोड़ गया। उसकी सुरक्षा के लिए उसने फर्नाव मार्टिन्ज इवान्जेल्हो को प्रतिनिधि के रूप में तथा जान कोर्या को अपने लिपिक के रूप में छोड़ा तथा उन्हें यह गुप्त आदेश दिए कि वे उसे राजनीतिक मामलों की सूचना देते रहें।

दक्षिण की ओर जलयात्रा के समय अलबुकर्क चौल में रूका और वह गुजरात के दूत से मिला जो क्रिश्चाओं के साथ आया था। दूत ने गुजरातियों का एक व्यापारी दल मलक्का भेजने तथा गुजराती जलपोतों की उस समुद्र से जलयात्रा के लिए सुरक्षित मार्ग दिए जाने की अपने सम्राट की प्रार्थना उस तक पहुंचाई। उसने सुल्तान के एक जलपोत 'मेरी' के पुर्तगालियों द्वारा पकड़े जाने की भी शिकायत की क्योंकि पुर्तगाल से उसकी संधि थी और उसकी वापसी की मांग की। अलबुकर्क ने दूत को उत्तर दिया कि उसने कभी गुजरात के साथ युद्ध नहीं किया न उसके गांवों में आग लगाई और न उसके दुर्गों पर बमबारी की किंतु यदि गुजरात के सुल्तान के जलपोतों या प्रजा ने पुर्तगालियों के हाथों कोई हानि उठाई है तो यह अवश्य उनके शत्रु शासकों का पक्ष लेने के कारण होगा जिनसे पुर्तगाल का युद्ध चल रहा था। फिर भी उसने कहा कि उसने कथित जलपोत की कोचीन में मरम्मत के आदेश दिए हैं और उसे दूत द्वारा सुल्तान को लौटा दिया जाएगा। जैसे ही अलबुकर्क गोवा पहुंचा उसने पकड़ा गया जलपोत राजदूत को लौटा दिया जो उसमें बैठ कर कैंबे गया।

दूत के गुजरात लौटने के तुरंत पश्चात् चंपानेर में पुर्तगाली प्रतिनिधि अलबुकर्क के पास सूचना भेजी कि मलिक अयाज पुर्तगालियों का कटु विरोधी है और उसने मुजफ्फर से आग्रह किया है कि वह डीव से संबंधित पुर्तगाली सूचना स्वीकार न करे। फलस्वरूप अलबुकर्क ने बहुमूल्य उपहारों सहित डिओगो फर्नांडीस डि बेजा और जेम्स टिक्जोरा को राजपूत के साथ मुजफ्फर से इस विषय पर वार्तालाप करने के लिए गुजराती दरबार में भेजा। 15 मार्च 1514 को शिष्टमंडल सूरत पहुंचा जहां

और वहां कुछ समय ठहरने के पश्चात् चंपानेर की ओर चला जहां वे मलिक गोपी से मिले जिसने उन्हें बताया कि मलिक अयाज ने सुल्तान को सूचित किया है कि वह पुर्तगालियों को डीव में दुर्ग बनाने के लिए भूमि न दे क्योंकि 'इसका उद्देश्य अंततः उसका राज्य छीन लेने के लिए है।' इस सूचना से निराश होकर दूत अहमदाबाद की ओर आगे बढ़े जहां खुदावंद खां वजीर ने उनका भव्य स्वागत किया और उसी ने उन्हें सुल्तान के समक्ष प्रस्तुत किया। सुल्तान ने उन्हें सम्मानसूचक वस्त्र दिए। तदुपरांत हुई बातचीत में दूतों ने खुदावंद खां से कहा कि उनके आगमन का मुख्य उद्देश्य डीव में भूमि प्राप्त करना है जहां पुर्तगाल का शासक अपने व्यक्तियों तथा संपत्ति की सुरक्षा के लिए दुर्ग बनवा सके। वजीर ने यह प्रस्ताव सुल्तान के सामने रखा जो उन्हें भड़ौच, सूरत, माहिम, ड्यूमास या बकर में भूमि देने के लिए तैयार था किंतु डीव में नहीं जिसे पहले ही वह मलिक अयाज को दे चुका था। इस प्रकार शिष्टमण्डल अपने उद्देश्य में असफल हुआ और 15 सितंबर 1514 को उसने गुजरात से गोवा के लिए प्रस्थान किया।

अगले वर्ष ईदर के राव भीम की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र भारमल उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके चचेरे भाई रायमल ने सिंहासन पर दावा किया और अपने बहनोई मेवाड़ के राणा सांगा से सहायता की याचना की। राणा ने इस अवसर का लाभ उठाया और ईदर में अपनी सेना भेजकर रायमल को सिंहासन पर बिठाया। मेवाड़ के राणा द्वारा एक पड़ोसी राज्य के घरेलू मामले में हस्तक्षेप मुजफ्फर सहन नहीं कर सका। यह राज्य पीढ़ियों से सुल्तान के प्रति निष्ठावान था। दावेदार को निकालने के लिए मुजफ्फर ने चंपानेर के अन्तिम रावल के पुत्र निजाममुलमुल्क को भेजा जिसने सफलतापूर्वक बिहारीमल को पुनः सिंहासन पर बिठाया। तत्पश्चात् निजामुलमुल्क ने दावेदार का पहाड़ियों में पीछा किया किंतु पराजित हुआ साथ ही युद्ध में महान क्षति हुई। अपने आदेशों की अवहेलना करने के लिए मुजफ्फर ने अपने सेनापति की निंदा की और उसे राजधानी बुला लिया। तत्पश्चात् उसने नुसरतुलमुल्क को ईदर भेजा किंतु इससे पहले कि नुसरतुलमुल्क ईदर पहुंचता निजामुलमुल्क ने ईदर पर अधिकार बनाए रखने के लिए जहीरुलमुल्क को लगभग सौ सैनिकों सहित छोड़ा और चंपानेर को प्रस्थान किया। रायमल ने ईदर पर चढ़ाई कर दी और इस छोटे दुर्ग की रक्षक सेना बुरी तरह पराजित की। किंतु नुसरतुलमुल्क जो अहमद नगर में था तेजी से आया और 1517 में रायमल को पहाड़ियों में खदेड़ दिया।

मुजफ्फर ने अपना ध्यान मालवा की ओर मोड़ा जहां मेदिनी राय के बढ़ते हुए प्रभुत्व ने महमूद खल्जी को कठपुतली बना दिया था। अपने शक्तिशाली मंत्री का प्रभुत्व सहन न कर सकने के कारण मुजफ्फर से सहायता प्राप्त करने के लिए महमूद बच कर गुजरात भाग गया। मुजफ्फर ने वास्तव में सहायता की और महमूद को अपने साथ लेकर मंगलवार, 29 दिसंबर 1517 को वह मालवा की ओर चला। मेदिनी राय मांडू का प्रशासन राय पिथौरा को सौंप कर स्वयं बारह हजार घुड़सवार और हाथियों की विशाल सेना सहित धार चला गया। मुजफ्फर तथा महमूद विशाल सेना सहित शुक्रवार 1 जनवरी 1518 को धार पहुंचा और मेदिनी राय ने संयुक्त सेना का सामना कठिन देख धार छोड़ दिया और राणा सांगा से सहायता प्राप्त करने चित्तौड़ चला गया। धार पर सरलता से अधिकार हो गया और दोनों सुल्तानों ने मांडू की ओर प्रस्थान किया जहां वे 6 जनवरी 1518 को पहुंचे और दुर्ग घेर लिया।

राय पिथौरा को राणा सांगा से आने वाली कुमक का गुप्त ज्ञान था। उसने वार्तालाप का स्वांग रचा और युद्धविराम का प्रस्ताव रखा जिसे मुजफ्फर ने 8 जनवरी 1518 को स्वीकार कर लिया। किन्तु यह युद्धविराम 5 फरवरी 1518 को समाप्त हो गया जब मुजफ्फर ने सांगा के उज्जैन की ओर से आने का समाचार सुना। उसने खानदेश के आजम हुमायूं आदिल खां तृतीय को, जो उसका भतीजा और दामाद था, कवामुलमुल्क के साथ राणा सांगा और मेदिनी राय की प्रगति रोकने के लिए भेजा और उसने स्वयं दुर्ग के घेरे का संचालन किया। वास्तविक युद्ध 14 फरवरी 1518 को हुआ और दूसरे दिन प्रातःकाल तक मुजफ्फर ने मांडू में सीढ़ियों द्वारा प्रवेश किया। अपने बीच गुजराती सेनाएं देख राजपूतों ने जौहर संपन्न किया और जब तक दम में दम रहा लड़ते रहे।

इसी बीच मुजफ्फर के धार में मेदिनी राय के आगमन का समाचार सुना। मांडू महमूद के अधिकार में छोड़कर मुजफ्फर 16 फरवरी 1518 की धार की ओर चला और उसका विरोध कठिन देखर मेदिनी राय भाग गया। मुजफ्फर मांडू लौटा जहां उसने महमूद को पुनः सिंहासन पर बिठाया। तत्पश्चात् 26 फरवरी 1518 को महमूद ने अपने उपकारी के सम्मान में एक दावत का आयोजन किया। इस प्रकार मेवाड़ तथा गुजरात में पुनः शक्ति संतुलन स्थापित कर मुजफ्फर मांडू में आसफ खां की अधीनता में दस हजार घुड़सवारों की सेना छोड़कर चंपानेर लौटा।

चंपानेर लौटने के तुरंत पश्चात् मुजफ्फर ने तुर्की सुल्तान सलीम प्रथम (1512-20) द्वारा ममलूक मिस्र तथा हिजाज पर अधिकार करने तथा फारस के शाह इस्माईल सफावी पर विजय का महत्व समझा। उसने पुर्तगालियों के विरुद्ध एक नई दृढ़ संधि का प्रस्ताव रखा और साथ ही मिस्र तथा उससे परे व्यापार करने के लिए भारतीय सागर पर अधिक नियंत्रण तथा मक्का के

तीर्थयात्रियों के लिए अधिक सुरक्षा की संभावनाएं भी उत्पन्न कीं। इस प्रकार मुजफ्फर ने उस्मानिया से मैत्रीपूर्ण संबंधों के महत्व समझा। उसने सुल्तान सलीम प्रथम को ईराक तथा फारस पर उसकी विजय पर बधाई देते हुए पत्र लिखा। उसने उसके पत्र का अधिकांश स्वयं उसकी मालवा विजय से भरा था जिसे उसने मेदिनी राय और उसके राजपूत समर्थकों के अधिकार से मुक्त किया था और वहां पुनः महमूद खल्जी को स्थापित किया था।

मांडू के पतन के समाचार ने राणा सांगा तथा मेदिनी राय को चित्तौड़ लौटने पर विवश किया किंतु 1519 में राणा ने महमूद को बुरी तरह पराजित किया जो घायल होकर बंदी बना लिया गया। मुजफ्फर ने मालवा के लिए कुमक भेजी किंतु बहुत देर हो चुकी थी। महमूद के स्वस्थ हो जाने के पश्चात् राणा ने 1520 में उसे पुनः उसे सिंहासन पर स्थापित कर दिया। इसी वर्ष राजा आदिल खां तृतीय का बुरहानपुर में देहांत हो गया जिसने मालवा अभियान में अपने ससुर की बड़ी सेवा की थी। उसका बड़ा पुत्र मुजफ्फर का नाती मुहम्मद शाह उसका उत्तराधिकारी हुआ।

अपनी सफलता से प्रफुल्लित राणा सांगा ने अधिक शक्तिशाली मुजफ्फर से शक्ति आजमाने का निश्चय किया। वह गुजरात राज्य में ईदर तक घुस आया और उस पर अधिकार कर अहमद नगर की ओर बढ़ा जहां उसने 1520 में मुबारिजुलमुल्क को पराजित किया। राणा ने मुबारिज को अहमदाबाद लौटने पर विवश किया और तब चित्तौड़ लौटा। राणा को दंड देने के लिए मुजफ्फर ने मलिक अयाज को भेजा जिसने मंदसोर का दुर्ग घेर लिया। राणा ने संधि का प्रस्ताव रखा किंतु वह ठुकरा दिया गया। तत्पश्चात् शीघ्र ही अयाज और कवामुलमुल्क की परस्पर ईर्ष्या ने गुजरातियों को राणा के साथ संधि करने के लिए विवश कर दिया। इस घटना से मुजफ्फर आगबबूला हो गया और 1522 में उसने स्वयं राणा के विरुद्ध कूच की तैयारी की। किंतु इससे पूर्व कि वह अहमदाबाद से कूच करता राणा का पुत्र अपने पिता की ओर से उपहार लेकर पहुचा और अभियान विचार त्याग दिया गया।

1524 में दिल्ली के सुल्तान बहलोल लोदी के पुत्र आलम खां लोदी ने, जो महमूद बेगढ़ा के समय से गुजराती दरबार में शरणार्थी था, मुजफ्फर से कहा कि उसे दिल्ली से समाचार मिला है कि उसके भतीजे सुल्तान इब्राहीम लोदी के राज्य में व्यापक असंतोष है क्योंकि उसने प्रमुख अमीरों का वध करवा दिया था और अपने पिता का सिंहासन प्राप्त करने के लिए उसके (आलम खां) के लिए सुअवसर है। अतः मुजफ्फर ने उसे एक ध्वजा, नगाड़ा, चालीस हजार मुजफ्फरी (टंके) दिए और एक शक्तिशाली सेना सहित अपना पैतृक सिंहासन प्राप्त करने के लिए दिल्ली भेजा।

अगले वर्ष राजकुमार बहादुर खां अपने पिता मुजफ्फर से रूठ गया क्योंकि उसने उसे उसके बड़े भाई युवराज सिकंदर के बराबर का दरजा देने से इन्कार कर दिया था। उसने गुजरात छोड़ दिया था। डूंगरपुर, चित्तौड़ तथा मेवात होता हुआ वह पानीपत के युद्ध से कुछ समय पूर्व दिल्ली पहुंचा। इब्राहीम ने बहादुर का हार्दिक स्वागत किया और फलस्वरूप युवा किंतु अनुभवी राजकुमार ने लोदी का पक्ष लिया। इससे वह अफगान सेना में लोकप्रिय बन गया किंतु इब्राहीम उससे ईर्ष्या करने लगा। जब बहादुर को यह ज्ञात हुआ तो उसने अपनी गतिविधियां रोक दीं और बाबर के पास पत्र भेजकर उससे सहायता मांगी। बाबर ने उसको स्नेहपूर्ण और प्रोत्साहन भरा उत्तर भेजा एवं मुगलों की ओर मिल जाने के लिए आमंत्रित किया। फलस्वरूप पानीपत में लड़े गए वास्तविक युद्ध में बहादुर एक दर्शक मात्र रहा। अफगानों की पराजय के तुरंत पश्चात् नये जौनपुर के सामंतों के निमंत्रण पर वहां जाते हुए बहादुर दिल्ली के निकट बागपत में ठहरा हुआ था तो उसे गुजरात में अपने अनुयायियों से एक पत्र मिला जिसमें उसके पिता की मृत्यु का समाचार था।

दिवंगत सुल्तान इतना दयालु था कि उसे प्रायः मुजफ्फर हलीम अर्थात् दयालु नाम से जाना जाता है। वह इतना दयालु था कि अपराधी, उपद्रवी तथा विद्रोहियों के मन से दंड का भय दूर हो गया था और वे निडर होकर शाही मार्ग में लूटपाट तथा हिंसा करने लगे। जब बदमाशों ने राजधानी की दीवारों के निकट तक खून बहाया तब भी 'सुल्तान ने धीरता की आस्तीन से दंड का हाथ नहीं निकाला।' जब लोग जाकर उससे इन नृशंस हत्याओं की शिकायत करते तो वह शांतिपूर्वक उत्तर देता "तुम्हें अवश्य प्रार्थना करनी चाहिए और मैं भी ईश्वर से प्रार्थना करूंगा कि इस अत्याचार और अत्याचारी का अंत हो।"

विगत शासकों की परंपरानुसार मुजफ्फर की यह आदत थी कि वह अपने राज्य की घटनाएं ठीक–ठीक जानने के लिए वेष बदलकर रात में घूमता था। सुल्तान सदैव मर्यादा का ध्यान रखते हुए बात करता था और उसने कभी किसी का अपमान नहीं किया। वह कहा करता था 'यदि मुझे किसी एकांत स्थान पर छोड़ दिया जाए तो मुझे कोई हानि नहीं पहुंचाएगा क्योंकि मैंने कभी किसी को न तो कोई हानि पहुंचाई है और न पहुंचाऊंगा।' मुजफ्फर को अपनी प्रजा से बड़ा स्नेह था। जब गुजरात में भयंकर अकाल पड़ रहा था तो उसने अपने हाथ ऊपर उठाकर प्रार्थना की और कहा "हे ईश्वर, यदि मेरी किसी भूल के

जनता पीड़ित है तो मुझे इस संसार से उठा ले और उन्हें इस अकाल से मुक्ति दे।' इसके अतिरिक्त मुजफ्फर ने न्याय के प्रति अत्यंत सम्मान प्रदर्शित किया जब चंपानेर के काजी के बुलाने पर वह एक साधारण व्यक्ति के समान काजी के न्यायालय में उपस्थित हुआ और काजी बैठा रहा। मुकद्दमे का निर्णय सुल्तान के विरुद्ध हुआ। बादशाह ने काजी की निष्पक्षता और न्यायप्रियता की प्रशंसा की।

मुजफ्फर परोपकारी व्यक्ति था। उसकी दानशीलता गुजरात में अपनी प्रजा तक ही सीमित नहीं थी बल्कि मक्का और मदीना में सुपात्र व्यक्तियों तक पहुंची जहां कहते हैं कि उसने एक धर्मशाला बनवाई जिसमें मदरसा तथा हाथ धोने का हौज इत्यादि भी थे। इन संस्थाओं के रखरखाव के लिए उसने विशेष अनुदान स्थापित किया जिसकी आय प्रतिवर्ष इन स्थानों पर भेज दी जाती थी। इसके अतिरिक्त जो मक्का मदीना की तीर्थयात्रा करना चाहते थे उनसे जहाज का किराया नहीं लिया जाता था। जहाज में इन यात्रियों का व्यय भी राजकोष से किया जाता था। इन दोनों के अतिरिक्त सुल्तान ने स्वयं अपने हाथों से सुनहरी स्याही से लिखित कुरान की दो प्रतियां उपर्युक्त नगरों में भेजीं और इन उपहारों की व्यवस्था के लिए तथा जो व्यक्ति उनका पठन करते उन्हें गुजारे के लिए विशेष वार्षिक अनुदान दिया।

मुजफ्फर धार्मिक पवित्रता के साथ–साथ धार्मिक कृत्यों का कठिन पालन भी करता था। हमें सूचित किया गया है कि उसने कभी कोई मादक वस्तु नहीं चखी और वह मादक वस्तुओं का नाम तक नहीं लेता था। कहते हैं कि एक दिन उसका प्रिय अश्व बीमारी से जकड़ गया और जब अन्य सब उपचार असफल रहे तो शुद्ध शराब देने से वह स्वस्थ हो गया। 'मीरे आखूर' (अस्तबल का अधीक्षक) ने इस घटना की सूचना सम्राट को दी जिसने 'दुख की उंगली पश्चात्ताप के दांतों से काटी और उस घोड़े पर कभी सवारी नहीं की।' हमें बताया गया है कि जब मालवा का महमूद खल्जी मुजफ्फर को अपना महल दिखाने के लिए ले गया तो उन्होंने एक भवन में प्रवेश किया जिसमें एक चौकोर आंगन था जो रंगा था तथा जिसके चारों ओर कमरे थे। जैसे ही वे भवन के बीच पहुंचे सभी कमरों के द्वार खोल दिए गए और दो हजार सुंदर सजीली तथा हूरों और परियों के समान सुसज्जित तथा सुगंध लगाए हुए स्त्रियों ने रत्नों तथा सोने के आभूषणों से भरी हुई थालियां लिए प्रवेश किया। महमूद ने कहा: 'ये सब मेरी थीं किंतु अब आपकी दासियां हैं।' मुजफ्फर ने अपनी आंखें झुका लीं, अपने यजमान को धन्यवाद दिया और उनसे परदे के पीछे चले जाने की प्रार्थना की 'क्योंकि जो अवैध है उसे देखना अपराध है।'

इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि मुजफ्फर एक कट्टर विशुद्धिवादी था। एक राजपूत माता रानी हीराबाई का पुत्र होने के कारण उसकी रगों में यथेष्ट हिंदू रक्त वह रहा था। वह इतना प्रगतिशील था कि उसने तीन राजपूत राजकुमारियों, राणा महीपत की पुत्री राजबाई, गुहिल राजपूत कन्या लक्ष्मीबाई तथा बीबी रानी से विवाह किया। बीबी रानी एक अतीव सुंदरी युवती थी और सुल्तान पर उसका सबसे अधिक प्रभाव था। राजमहल तथा सेना का नियंत्रण उसी के हाथ में था। उसकी सेवा में सात हजार सरकारी कर्मचारी थे और राज्य के मामलों में वह प्रभावशाली परामर्शदात्री थी।

इसके अतिरिक्त मुजफ्फर संगीत का, जिसके मुस्लिम मुल्ला कट्टर विरोधी थे, बड़ा प्रेमी था। वह स्वयं एक कुशल गायक था। वह न केवल अनेक वाद्ययंत्र बजाने में कुशल था बल्कि संगीतशास्त्र के किसी भी विशेषज्ञ का मुकाबला कर सकता था। उसके दरबार में सुल्तान की मुख्य नर्तकी बाई झाऊ द्वारा सरस्वती (विद्या की देवी) का स्वांग रचने या अभिनय से संगीत, नृत्य तथा नाटक से उसके प्रेम का भलीभांति अनुमान लगाया जा सकता है। हंस अर्थात सरस्वती का वाहन तैयार करने में छः मास लगे। वह संपूर्ण सोने का बना था तथा उसमें बहुमूल्य रत्न जड़े थे। निश्चित दिन देवी की वेषभूषा में सजधज कर बाई झाऊ अपने संगीत तथा नृत्य से दर्शकों पर उल्लसित हंसी की वर्षा करती थी।

गायक होने के अतिरिक्त मुजफ्फर एक उत्तम खुशनवीस भी था। वह प्रतिदिन कुरान का एक पृष्ठ 'नस्ख' शैली में नकल करता था और जब प्रतिलिपि पूरी हो जाती थी तो वह उसे या तो मक्का या मदीना उन व्यक्तियों के प्रयोग के लिए भेज देता था जो उसका सार्वजनिक पाठ करते थे। सुल्तान ने कुरान कंठस्थ कर ली थी और धर्मशास्त्र में पारंगत था। उसने अरबी व्याकरण बहराक से और हदीस (पैगंबर की परंपराएं) भज्दुद्दीन मुहम्मद अल इजी से सीखा था जिन्हें उसने वजीर के पद पर उन्नत कर खुदावंद खां की उपाधि दी। उसने शिक्षा को भी बढ़ावा दिया जिसके फलस्वरूप, ईरान, तूरान, अरब तथा एशिया माइनर से अनेक विद्वानों ने उसके उदार शासनकाल में गुजरात आकर बसना लाभदायक समझा।

इस प्रकार मुजफ्फर एक दयालु, भद्र, धर्मनिष्ठ, दानी, कृपालु तथा मृदुल व्यक्ति था। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से निस्स्वार्थी तथा सौम्य था किंतु उसमें घातक दुर्बलताएं थीं। वह बड़ी कठिनाई से यथोचित दृढ़ता और फुर्ती से कार्य कर पाता था, उन स्थितियों में भी जब इसकी बड़ी आवश्यकता होती थी। यह कमी होते हुए भी मुजफ्फर एक परोपकारी, सहिष्णु तथा सभ्य शासक था।

सिकंदर : महमूद शाह द्वितीय

5 अप्रैल 1526 को मुजफ्फर का निधन हुआ तो युवराज सिकंदर खां दो शक्तिशाली अमीरों इमादुलमुल्क खुशकदम व खुदावंद खां अलइजी के समर्थन से सिंहासन पर बैठा। नया सुल्तान सभी विवरणों के अनुसार एक अत्यंत सुंदर व्यक्ति किंतु उसमें राजनीतिक दूरदर्शिता लेशमात्र न थी। हमें बताया गया है कि जब वह बाजार से होकर जाता था तो सभी स्त्री–पुरुष अपने मकानों और दुकानों से उसकी एक झलक देखने के लिए बाहर निकल आते थे। अपनी जवानी के जमघट और अपने राज्य की शान शौकत पर वह इतना उल्लसित था कि "उसके सभी दिन ईद के दिन के समान थ और सभी रा 'शबे बरात' के समान थीं। उसने विलास के वे सभी साधन एकत्रित किए थे जिनकी कल्पना सभव ह। अन्य स्त्रिय अतिरिक्त उसके नाजुक लहर नाम की एक रखैल थी जिस पर वह अत्यंत आसक्त था। एक सप्ताह से कम में ही उसने अप व्यक्तिगत कृपापात्रों को खुले हाथों उपहार तथा सम्मान प्रदान कर और विलास में डूब कर वृद्ध सामंतों को विरोधी बन लिया। फलस्वरूप 26 मई 1526 की रात इमादुलमुल्क खुशकदम ने उसकी हत्या कर दी और उसने मुजफ्फर के सबसे छ पुत्र नसीर खां को जो लगभग छः वर्ष का था, सुल्तान महमूद शाह द्वितीय का विरूद दे सिंहासनारूढ किया। तत्पश्चात् प्र बनाने वाले ने पड़ोसी राजाओं बरार के इमादुलमुल्क, चित्तौड़ के राणा सांगा तथा बाबर को भी अपने शासन का समर्थन कर के लिए पत्र लिखे।

बहादुर शाह

चूंकि इमाद की योजनाओं का अर्थ गुजरात की स्वतंत्रता का अंत था इसलिए ताज खां नरपली के नेतृत्व में कुछ वृद्ध सामत ने राजकुमार बहादुर को गुजरात का सिंहासन भेंट करते हुए खुर्रम खां को उसके पास भेजा। खुर्रम खां ने बहादुर से बागपत में भेंट की और उसे संदेश दिया। समय व्यर्थ गंवाए बिना बहादुर तेजी से अहमदाबाद पहुंचा और 6 जुलाई 1526 को गुजरा के सिंहासन पर बैठा। तत्पश्चात् उसने चंपानेर की ओर प्रस्थान किया और इमादुलमुल्क खुशकदम तथा अन्य हत्यारो क मृत्युदंड दिया। बालक सुल्तान महमूद द्वितीय की भी हत्या कर दी गई। इस प्रकार चांद खां के अतिरिक्त, जिसने पहल ह मालवा में शरण ले ली थी, बहादुर का कोई प्रतिद्वंद्वी शेष नहीं रहा। अपने राज्य में दृढ़ता से स्थापित हो जाने के पश्चात् बहादुर अभियानों तथा विजयों के महत्वाकांक्षी पूर्ण कार्यक्रम में व्यस्त हो गया।

गुजरात राज्य इस देश का एक शक्तिशाली, सुप्रशासित एवं समृद्ध राज्य बना रहा और इतना सबल बना रहा कि अप राजक्षेत्र और बंदरगाहों पर पुर्तगालियों को कोई गंभीर अतिक्रमण नहीं करने दिया गया किन्तु बहादुरशाह के नेतृत्व म मालव व राजस्थान पर हावी होने के प्रयासों के कारण मुगलों के साथ इसका टकराव हुआ जो इसके लिए घातक साबित हु

क्षेत्रीय राज्यों की चरित्रगत विशेषताएं

आमतौर पर यह धारण बनी हुई कि सल्तनत काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो वैरभाव था, वह 13वीं स 15वं शताब्दी के दौरान और बढ़ा और उनके आपसी झगड़ों तथा संघर्षों में वृद्धि हुई पर **श्वाजबर्ग** ने इस बात का खडन करते हु सही कहा है कि इस काल में हिन्दू और मुसलमान शासकों के बीच संघर्ष की अपेक्षा मुसलमान और मुसलमान राजाओं तथ हिन्दू और हिन्दू राजाओं के बीच प्रायः अधिक गहरे संघर्ष हुए। उदाहरण के लिए, मालवा और जौनपुर के मुसलमान शासक गुर्जरात के परम्परागत दुश्मन थे। वस्तुतः राजनीतिक संधियों में धर्म की अपेक्षा समय और परिस्थिति की अधिक भूमिक रही 1450-51 ई. में महमूद शाह गुजराती के खिलाफ मालवा के महमूद खल्जी प्रथम ने चंपानेर के राजा गंगा दास की सहायत की थी।

13वीं से 15वीं शताब्दी की राजनीतिक व्यवस्था का एक खास गुण यह था कि इस काल की राजनीतिक व्यवस्था का फैलाव **उर्ध्व** था, न कि **क्षैतिज**। अर्थात् इन क्षेत्रीय राज्यों का भू–क्षेत्र सल्तनत के मुकाबले काफी कम था, पर यहां राजनीत व्यवस्था ग्रामीण इलाकों तक गहराई से जमी हुई थी। क्षेत्रीय शासकों के अधीनस्थ भू–क्षेत्र के अधिकांश हिस्सा म पर पकड़ कमजोर थी, जहां उनका लगभग पूर्ण नियंत्रण होता था, वहां भी उन्हें प्रायः कठिनाईयों का सामना करना पड़ नियंत्रण के आधार पर उनके अधिकार क्षेत्र को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:

1. जिस क्षेत्र से भू–राजस्व सीध राजस्व पदाधिकारियों द्वारा वसूल किया जाता था, वहा राज्य का प्रत्यक्ष और सबसे ज्यादा होता था।

2. जिन इलाकों का राजस्व स्थानीय सरदार वसूल करने थे, वहां भी राज्य का नियंत्रण पर्याप्त होता था।
3. जिन क्षेत्रों से केवल नजराना आता था, वहां राज्य का नियंत्रण सबसे कम था। इस व्यवस्था का सीधा प्रभाव क्षेत्रीय शासकों और सांमतों, करदाता सरदार या राजा और स्थानीय कुलीन वर्ग (तथाकथित जमींदार, मुकद्दम आदि) के बीच के संबंधों पर पड़ा।

क्षेत्रीय राज्यों को आमतौर पर सल्तनत के उत्तराधिकारी राज्य के रूप में देखा जाता है। इसके पक्ष में एक तर्क दिया जाता है कि क्षेत्रीय राज्यों के संस्थापक किसी न किसी रूप में सल्तनत के अधीन कर्मचारी रह चुके थे; चाहे उन्होंने गवर्नर के रूप में सल्तनत की सेवा की हो या किसी अन्य पद पर कार्य किया है। उदाहरणतया: गुजरात, मालवा व जौनपुर के संस्थापक क्रमशः जफर खां, दिलावर खां और मलिक सरवर तुगलक सल्तनत में गवर्नर के रूप में कार्य चुके थे।

उत्तराधिकारी का प्रश्न

इस्लाम में उत्तराधिकारी संबंधी कोई निश्चित नियम नहीं था। परिणामस्वरूप, इसके लिए चुनाव, मनोनयन और वंशानुगत राज्यारोहण तीनों प्रक्रियाएं साथ–साथ चलती रहीं। वस्तुतः जिसके पास शक्ति होती थी, वह गद्दी का हकदार बन जाता था।

सल्तनत के समान क्षेत्रीय हिन्दू या मुस्लिम राज्यों में भी उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था। अतः षड्यंत्र व गुप्त संधियों का बड़ा जोर रहता था और इसमें कभी–कभी महिलाएं भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती थीं। **मालवा** में ज्येष्ठाधिकार की अपेक्षा मनोनयन का सिद्धान्त प्रभावी हुआ। **जौनपुर** में शक्ति का बोलबाला रहा। 1458 ई. में हुसैन शाह शर्की ने अपने बड़े भाई मोहम्मद शाह शर्की को मार कर गद्दी हासिल कर ली। इसी प्रकार गुजरात में अपने राज्यारोहण के पूर्व अहमद शाह को अपने चाचा सुल्तान फिरोज खां की चुनौती का सामना करना पड़ा था।

राजा सर्वोच्च शक्ति था और वह सभी मामलों में अंतिम निर्णायक था। पर इस्लाम में सुल्तान की सत्ता को कोई वैधता प्राप्त नहीं थी और खलीफा मुसलमानों का राजनीतिक प्रधान होता था। दिल्ली के सुल्तान अपनी सत्ता को वैध बनाने के लिए खलीफा के नाम का **खुत्बा** पड़ा करते थे और सिक्कों पर उसका नाम खुदवाया करते थे। क्षेत्रीय राज्यों के लिए अपने आपको वैध करार–करना जरूरी था। यह केवल जनता पर हक जमाने के लिए नहीं था बल्कि प्रतिद्वंद्वियों को शांत करने के लिए भी यह जरूरी था। कोई भी राज्यारोहण बिना संघर्ष या युद्ध के सम्पन्न नहीं होता था, अतः विजयी उत्तराधिकारी को अपनी वैधता साबित करनी होती थी। यहां अत्यधिक दूरी के कारण क्षेत्रीय राज्यों के लिए खलीफा से मंजूरी मंगाना मुश्किल व अव्यावहारिक होता था, वहां यह कार्य उलेमा व सूफी सम्पन्न किया करते थे। कट्टर मुसलमानों को अपने पक्ष में करने के लिए मालवा, गुजरात व जौनपुर के शासकों ने हमेशा–उलेमा व सूफियों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की व इसके बदले में उन्हें अच्छे पद और राजस्व मुक्त भू अनुदान (मदद–ए–माश) प्रदान किए गए। मालवा शासक होशंग शाह ने उलेमा और अन्य विद्वानों को मालवा में बसाने के हर प्रयत्न को प्रोत्साहित किया। होशंग शाह के मन में काजी बुरहानुद्दीन के प्रति अपार श्रद्धा थी और वह उसका शिष्य (मुरीद) भी बन गया। महमूद खल्जी ने मिस्र के अब्बासीद खलीफा से खिल्लत प्राप्त की। इससे मालवा के शासक की प्रतिष्ठा बढ़ी। गुजराती शासक महमूद बेगढ़ा बुरहानुद्दीन के मुरीद सूफी सैयद उश्मान का बड़ा सम्मान किया करता था। 1459 ई. में उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद महमूद बेगढ़ा ने अहमदाबाद में उसकी याद में एका मस्जिद और गुम्बद बनवाया। बुरहानुद्दीन के पुत्र शाहआलम को भी गुजरात के शासकों कुतबुद्दीन और महमूद बेगढ़ा से सम्मान व संरक्षण प्राप्त हुआ।

प्रशासनिक ढांचा

अधिकांश क्षेत्रीय राज्यों का उदय दिल्ली सल्तनत के पतन के परिणामस्वरूप हुआ और इन क्षेत्रीय राज्यों ने दिल्ली सल्तनत के प्रशासनिक प्रारूप की नकल की। मालवा गुजरात व जौनपुर में केन्द्रीय प्रशासन में शासक के बाद वजीर सर्वोच्च अधिकारी होता था। उसके बाद **आरिज-ए-मुमालिक, शेख-उल-इस्लाम** और **काजी** का स्थान आता था। इसके अतिरिक्त **हाजिब, दबीर** (पत्र–व्यवहार विभाग), **अमीर-ए-दर** (त्योंहारों का अधिकारी) **अमीर-ए-आखुर** (राजकीय घुड़शाला का सरदार) आदि अधिकारी थे। राजकीय परिवार की देखभाल के लिए एक अलग प्रशासनिक तंत्र था।

राज्यों को कई प्रान्तों में विभाजित किया जाता था। प्रान्तीय गवर्नर सैन्य व वित्तीय अधिकारों से युक्त होता था।

प्रान्त **परगना** में विभक्त होते थे और गांव प्रशासन की सबसे छोटी इकाई होता था। केन्द्र की तरह प्रांत में भी काजी न्याय का कार्य संभालते थे। **मुहतसिब** नैतिकता के लिए जिम्मेदार थे, कोतवाल का काम शहर में कानून–व्यवस्था की देखभाल करना था। शिकादर समूचे प्रांत की देखभाल करता था। गांवों में एक मुखिया (**मुकद्दम**) और लेखाकार (**पटवारी**) होते थे।

शासक एक स्थायी सेना रखते थे पर इसके अतिरिक्त वे अपनी सैन्य शक्ति के लिए काफी तद तक प्रांतीय गवर्नरों व सरदारों पर

आश्रित रहते थे। सेना मे पैदल व घुड़सवार मुख्य लड़ाकू दल होते थे। इसके अलावा हाथी भी सेना में मुख्य भूमिका निभाते थे। मालवा व जौनपुर के शासक नियमित रूप से हाथी प्राप्त करने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहे। गुजरात में नौसेना सेना का एक महत्वपूर्ण अंग थी।

राजस्व प्रशासन

राज्य की आय का मुख्य स्त्रोत भू–राजस्व था। मालवा, गुजरात व जौनपुर में भू–राजस्व को **खराज** के नाम से जाना जाता था। इन क्षेत्रीय राज्यों में राज्य कर का प्रतिशत क्या था, इसके बारे में निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। किसी आकस्मिक घटना की स्थिति में कर में छूट दी जाती थी।

भूमिधर कुलीन वर्ग

13वीं से 15वीं शताब्दी की क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था में **सामंतों** की अहम भूमिका रही है। इस **सामंत** वर्ग में हिन्दू मुसलमान दोनों शामिल थे। वे **खान-ए-आजम**, **खान-ए-मुअज्जम**, आदि जैसी पदवियों से अपने को विभूषित करते थे। इन सामंतों को उनके वेतन के बदले **इक्ता** (वेतन के बदले राजस्व का एक हिस्सा) दिया जाता था; इसके बदले में वे उस इलाके की कानून व्यवस्था संभालते थे, राजस्व वसूल करते थे और समय–समय पर शासक को सैनिक भी उपलब्ध करवाते थे। सैद्धान्तिक तौर पर यह पद वंशानुगत नहीं होता था और यह पद राजा अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी सरदार को दे सकता था पर धीरे–धीरे यह पद वंशानुगत होता गया।

सल्तनत काल की तरह ही क्षेत्रीय राज्यों में भी राजस्व वसूली और कानून व व्यवस्था बनाए रखने में भूमिधर कुलीन वर्ग सक्रिय था। भौगोलिक व राजनीतिक आधार पर उन्हें दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है :

1. सीमांत क्षेत्र में रहने वाला भूमिधर कुलीन वर्ग। इस कोटि में सरदार और राजा आते हैं : तथाकथित विचौलिए जमींदार।
2. मुख्य भू–क्षेत्र में रहने वाला भूमिधर वर्ग : तथाकथित प्राथमिक जमींदार।

पहली कोटि में हठी तत्वों का बोलबाला था। वे कभी किसी एक राजा का पक्ष लेते थे; तो कभी किसी दूसरे राजा का। अपनी निष्ठा बदलते रहते थे।

मुख्य भू–क्षेत्र में रहने वाले भूमिधर कुलीन वर्ग पर दबाव अपेक्षाकृत अधिक रहता था और उनकी गतिविधियों पर कड़ी निगरानी भी रखी जाती थी। क्षेत्रीय राज्यों की चरित्रगत विशेषता यह है कि यहां के अधिकांश शासक अप्रवासी थे इनका कोई स्थानीय आधार नहीं था। उनका मुख्य उद्देश्य एक ऐसे निष्ठावान कुलीन वर्ग का निर्माण करना था जिसकी सहायता से पुराने कुलीन वर्ग की शक्ति को संतुलित किया जा सके। क्षेत्रीय शक्तियों का यही मुख्य उद्देश्य होता था और इसी में उनकी सफलता नीहित होती थी। मुसलमानों के आक्रमण और राजपूत रजवाड़ों के आपसी युद्ध के कारण राजपूत बड़ी संख्या में मालवा व गुजरात की ओर स्थानांतरित हो गए। तेरहवीं शताब्दी में हम पाते हैं कि इस क्षेत्र के अधिकतर शासक राजपूत थे। अतः इस प्रक्रिया में मालवा व गुजरात के राजाओं को कड़े विरोध का सामना करना पडा।

अर्थव्यवस्था

क्षेत्रीय राज्यों की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि था। मालवा, गुजरात व जौनपुर में गेहूं मुख्य फसल थी। मालवा की भूमि काफी उर्वर थी, जिसमें अच्छे किस्म का धान, गेहूं, चना, मटर, दाल, कपास, अच्छे किस्म के पान के पत्ते, आम आदि उगाए जाते थे। ये खाद्य–सामग्रियां दिल्ली सल्तनत को भेजी जाती थी।

गुजरात की अर्थव्यवस्था में व्यापार की महत्वपूर्ण भूमिका थी। गुजरात में अच्छे-समुद्र तट थे और वहां से लाल समुद्र व फारस की खाड़ी के रास्ते अरब व फारस के देशों से व्यापार होता था। **खंभात**, **पाटन**, **सोमनाथ**, और **भडौच** सर्वाधिक महत्वपूर्ण बंदरगाह थे। समकालीन लेखन में गुजरात तट पर 84 बंदरगाहों का उल्लेख हुआ है। **बारबोसा** ने भी गुजरात के 12 महत्वपूर्ण बंदरगाहों का उल्लेख किया है। गुजरात की व्यापारिक गतिविधियों में हिन्दू व मुसलमान दोनो शामिल थे। गुजरात की अर्थव्यवस्था का मुख्य स्रोत व्यापार से आने वाला राजस्व था।

इस प्रकार यद्यपि कुछ हद तक क्षेत्रीय राज्य सल्तनत के उत्तराधिकारी राज्यों का प्रतिनिधित्व करते थे पर यह सर्वथा सत्य नहीं है। प्रशासनिक ढांचे में इन राज्यों ने सल्तनत के प्रशासनिक ढांचे को भी अपनाया और अपनी जरूरत व सहूलियत के मुताबिक उसमें पविर्तन भी किया। स्थानीय विभिन्नताओं और स्थानीय संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

अध्याय-11

दक्खन और दक्षिण भारत—एक सर्वेक्षण (Deccan and South—A Survey)

बारहवीं शताब्दी के अन्त में चालुक्य साम्राज्य व तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चोल साम्राज्य विखंडित हो गया। इन दोनों साम्राज्यों के स्थान पर अब दक्षिण में चार प्रमुख स्वतंत्र राज्य अस्तित्व में आए:

1. देवगिरी के यादव
2. वारंगल के काकतीय
3. द्वार समुद्र के होयसल
4. मदुरा के पांडय

इनमें से पांडय और होयसल राज्य इस क्षेत्र के दक्षिण में स्थित थे और काकतीय और यादव राज्य उत्तरी क्षेत्र में स्थिति थे। यह राज्य लगभग सौ वर्ष तक अस्तित्व में बने रहे। अलाउद्दीन खलजी के दक्षिण अभियान से लेकर मुहम्मद तुगलक के दक्षिण अभियान के बीच इन चार राज्यों में से तीन राज्य दिल्ली सल्तनत के अंग बन गए। केवल होयसल ही विजयनगर की स्थापना तक अपनी अर्थस्वतन्त्रता बनाए रख सका। किन्तु विजयनगर की स्थापना के साथ होयसल साम्राज्य भी विजयनगर साम्राज्य का अंग हो गया।

देवगिरी के यादव

लगभग नौवीं शताब्दी में हमें यादव वंश के इतिहास के विषय में जानकारी उपलब्ध है। दक्षिण भारत के उत्तरी भाग में देवगिरी के यादवों का राज्य था। लगभग 300 वर्षों तक यह वंश राष्ट्र कूट ओर चालुक्य राज्यों के सामन्त के रूप में शासन करता रहा। बारहवीं शताब्दी के अंत में जब राजनीतिक अस्थिरता का काल प्रारम्भ हुआ तो स्वतन्त्र यादव साम्राज्य के संस्थापक भिल्लम ने चालुक्यों के विरुद्ध आक्रामक गतिविधियां प्रारम्भ करके अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और इस नए राज्य की राजधानी देवगिरी की नींव डाली। 1196 ई. में भिल्लम की मृत्यु के बाद क्रमशः जैतुगि ओर सिंधड़, भिल्लम के उत्तराधिकारी हुए। इन दोनों ने होयसल और काकतीय राज्यों के विरुद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष किया। सिंधड़ के शासनकाल में (1210-12146) यादव की सीमाओं में दक्षिणी गुजरात, पश्चिमी मध्य प्रदेश और, महाराष्ट्र के कुछ भाग, कर्नाटक, आधुनिक हैदराबाद के पश्चिमी भाग और मैसूर के उत्तरी क्षेत्र सम्मिलित थे। सिंधड़ ने उत्तर में मालवा के परम्पराओं व गुजरात के चालुक्यों के विरुद्ध भी युद्ध किया। परन्तु मालवा के युद्ध के दौरान 1233-34 ई. में उसे सल्तनत की सेनाओं से पराजित होना पड़ा। सिंधड़ के शासनकाल में यादव साम्राज्य अपने उत्कर्ष का पराकाष्ठा पर पहुंच गया। इन राजाओं ने साहित्य, संगीत व विज्ञान को पर्याप्त संरक्षण दिया।

सिंधड़ की मृत्यु के बाद यादव साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया, जिसका प्रमुख कारण उत्तराधिकार का युद्ध था। सिंधड़ की मृत्यु के बाद क्रमशः कृष्ण (1247-1261 ई.), महादेव (1261-1271 ई.) और रामचन्द्र (1271-1311 ई.) शासक हुए। इन तीनों के शासनकाल में यादवों का काकतीय और होयसल राज्यों के साथ संघर्ष चलता रहा। इसी बीच 1295 ई. में अलाउद्दीन खलजी के हाथों रामचंद्र की पराजय और उसके साथ अपमानजनक संधि के परिणामस्वरूप यादव वंश का पतन प्रारम्भ हो गया। देवगिरी पर क्रमशः खल्जियों के तीन आक्रमण हुए और अंतिम यादव शासक शंकरदेव के शासनकाल में देवगिरी को सल्तनत में शामिल कर लिया गया।

वारंगल के काकतीय

दक्षिण भारत क पूर्वी भाग में काकतीयों में अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की। ये चालुक्यों के सामंत शासक थे। चालुक्य साम्राज्य के पतन का लाभ उठाकर चोल II और रूद्र प्रथम ने काकतीय साम्राज्य की स्थापना की थी। रूद्र प्रथम ने वारंगल का विस्तार करके उसे काकतीय साम्राज्य की राजधानी बनाया। रूद्र के उत्तराधिकारी महादेव और गणपति थे। इन दोनों ने 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चोल साम्राज्य के विनाश के परिणामस्वरूप चोल प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए होयसलों और पाण्डयों

से संघर्ष किया और गोदावरी के पश्चिमी तट पर (सम्पूर्ण आंध्र पर) अधिकार कर लिया। गणपति ने विदेश व्यापार को प्रोत्साहन दिया और विदेश व्यापार में बाधक तट–करों को समाप्त कर दिया। उसके शासनकाल में मोत्तुपल्ली आंध्र का प्रमुख बंदरगाह हो गया, जहां विभिन्न देशों के जहाज व्यापार के लिए आते थे।

चूंकि गणपति के कोई पुत्र नहीं था, अतः उसकी पुत्री रूद्राम्बा उसकी उत्तराधिकारिणी हुई। **मार्कोपोलो** ने इस शासिका की प्रशासनिक क्षमता की बहुत प्रशसा की है। रूद्राम्बा ने प्रतापरूद्रदेव को गोद लिया। 1190 ई. में वही उसका उत्तराधिकारी हुआ। प्रतापरूद्र को खिलजी और तुगलक के पुत्र उलुग खां ने प्रतापरूद्रदेव को पराजित करके बुंदी बना लिया। प्रतापरूद्रदेव ने अपने बंदीकरण के दौरान आत्महत्या कर ली और इस प्रकार काकतीय राज्य भी सल्तनत का अंग हो गया परन्तु समृद्धि, प्रशासन और विदेशी व्यापार की दृष्टि से काकतीय राज्य इन सबमें सफल राज्य कहा जा सकता है।

द्वारसमुद्र के होयसल

चोल–चालुक्य साम्राज्य के पतन के बाद उपरोक्त चारों राज्यों में द्वारसमुद्र के होयसलों ने सबसे अधिक समय शासन तक किया। उनका शासनकाल कला, साहित्य और संस्कृति दृष्टि से महत्वपूर्ण था। होयसल प्रारम्भ में कल्याणी के चालुक्यों के अधीनस्थ शासक थे। माना जाता है कि इस वंश का संस्थापक **सल** नामक व्यक्ति था। उसी के नाम पर इसे होयसल वंश कहा गया। विष्णुवर्धन (1116-1152 ई.) इस वंश का एक प्रमुख शासक था जिसने कल्याणी के चालुक्यों के विरुद्ध सबसे पहले विद्रोह किया। उसने चोलों और चालुक्यों दोनों के विरुद्ध संघर्ष किया परनतु चालुक्यों के विरुद्ध वह पूर्ण स्वतंत्र सत्ता की स्थापना नहीं कर पाया। यद्यपि उसके शासनकाल के साम्राज्य पूर्णतः स्वतंत्र तो नहीं हो पाया तथापि उसे होयसल साम्राज्य का वास्तविक निर्माता होने का श्रेय दिया जाता है। होयसल वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक बल्लाल तृतीय या वीर बल्लाल था जिसके शासनकाल में होयसल वंश का चारों ओर विस्तार हुआ और उसने दक्षिण नाद चक्रवर्ती की उपाधि धारण की। बल्लाल द्वितीय ने न केवल कल्याणी के चालुक्यों को पूर्णतया पराजित करके स्वतंत्र होयसल साम्राज्य की स्थापना की, वरन् उसने देवगिरी के यादवों व चोलों के विरुद्ध भी संघर्ष किया। चोलों के विरुद्ध संघर्ष का लाभ उठाकर देवगिरी के यादवों ने तुगभद्रा के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया। 1220 ई. में बल्लाल की मृत्यु के बाद क्रमशः नरसिंह द्वितीय व बल्लाल तृतीय होयसल वंश के शासक हुए। नरसिंह के शासनकाल में पड़ोसी राज्यों के साथ संघर्ष की वही श्रृंखला चलती रही किन्तु नरसिंह होयसल राज्य का अक्षुण्ण बनाए रखने में सफल रहा। नरसिंह एक महान शासक होने के साथ–साथ विद्या प्रेमी था और उसने संस्कृत एवं कन्नड साहित्य दोनों को पर्याप्त संरक्षण दिया। उसने साहित्यकारों और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करते हुए कला को भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। होयसल वंश का अंतिम महान शासक बल्लाल तृतीय था जिसे आजीवन मुस्लिम आक्रमणों के विरुद्ध लड़ना पड़ा। साम्राज्य रक्षा के प्रयास में उसने युद्ध व कूटनीति दोनों का सहारा लिया और होयसल साम्राज्य को स्वतंत्र बनाए रखा। 1343 ई. त्रिचनापल्ली के युद्ध में बल्लाल चतुर्थ की मृत्यु के साथ होयसल वंश का इतिहास समाप्त हो गया और होयसल राज्य विजयनगर साम्राज्य में विलीन कर लिया गया।

मदुरा के पांड्य

चोल साम्राज्य के विनाश के बाद पाण्डय साम्राज्य की स्थापना हुई। इस पाण्डय साम्राज्य को द्वितीय या परवर्ती पाण्डय साम्राज्य कहा जाता है। चोलों ने मूलतः पांडयों को ही नष्ट करके चोल साम्राज्य की स्थापना की और अंततः पांडय चोल–संघर्ष के फलस्वरूप ही चोल साम्राज्य नष्ट हो गया। चोलों के विरुद्ध स्वतंत्र पांडय साम्राज्य की स्थापना करने वाला नरेश मारवर्मन सुंदर पाण्डय (1216-1238) था। इसने चोलों को अनेक स्थानों पर पराजित किया और चोलों को पराजित करके उसने अपना अभिषेक किया। चोल नरेश राजराज तृतीय और कुलोत्तुंग तृतीय दोनों सुंदर पांडय के दमन का विफल प्रयास करते रहे। कुलोत्तुंग तृतीय ने पांडयों के दमन के लिए होयसलों से भी सहायता ली परन्तु सुंदर पांडय ने इस सारे प्रयासों को विफल कर दिया। सुंदर पांडय ने चोलों के अतिरिक्त काकतीयों को भी युद्ध में पराजित किया।

सुंदर पांडय का उत्तराधिकारी उसका पुत्र जटावर्मन सुंदर पांडय प्रथम था। उसने चोलों को अंतिम रूप से पराजित किया। अब चोल साम्राज्य की स्थिति पांडयों के अधीनस्थ हो गई। 1254-1256 ई. के मध्य उसने श्रीलंका पर आक्रमण किया और उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया। जटावर्मन सुंदर पांडय के शासनकाल में भूतपूर्व चोल साम्राज्य अब पांडय साम्राज्य का अंग हो गया। जटावर्मन सुंदर पांडय की मृत्यु के बाद पांडयों का परवर्ती इतिहास बड़ा विवादग्रस्त है। **मार्कोपोलो** के कहने इस काल में 'पंच पांडय बंधु' शासन कर रहे थे जबकि बस्साफ का कहना है कि 'तीन पांडय बंधु' शासन कर रहे थे। इस काल में पांडय बंधुओं ने संयुक्त रूप से शासन करना प्रारम्भ किया। पांडय वंश का अंतिम महान शासक कुलशेखर [illegible]

ई.) था। इसके शासनकाल में ही प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो ने पांडय राज्य की यात्रा की और उसने पांडय साम्राज्य की समृद्धि, विदेश–व्यापार एवं सम्राट की न्याय व्यवस्था की बहुत प्रशंसा की है। इस प्रकार मुस्लिम यात्री **वस्साफ** ने भी पांडय साम्राज्य के विदेशी व्यापार को बहुत प्रगतिशील समृद्ध बताया।

कुलशेखर के अभिलेखों में केरल, श्रीलंका, चोल और होयसल विजयों का उल्लेख है। कुलशेखर की मृत्यु के बाद पांडय साम्राज्य में सुंदर पांडय और वीर पांडय नामक दो सौतेले भाईयों के मध्य गृहयुद्ध प्रारम्भ हो गया। इस गृहयुद्ध का लाभ मलिक काफूर ने उठाया और पांडय साम्राज्य को खूब लूटा। अंत में उलुख खां ने अपनी दक्षिण विजयों के दौरान पांडय साम्राज्य को दिल्ली सल्तनत में शामिल कर लिया और जलालुद्दीन अहसान को मदुरा का प्रांतपति नियुक्त किया।

तेरहवीं शताब्दी में राजतंत्र

चोल–चालुक्य साम्राज्य के पतन एवं विजयनगर व बहमनी साम्राज्य की स्थापना के मध्य 150 वर्षों के राजनीतिक इतिहास पर यदि हम नजर डाले तो स्पष्ट हो जाता है कि उस काल के राज्य सदैव आपस में संघर्ष करते रहे ओर उन डेढ़ सौ वर्षों का राजनीतिक इतिहास पारंपरिक संघर्षों की कहानी है। परन्तु राजतंत्र, अर्थव्यवस्था और समाज की दृष्टि से उस काल की स्थिति चोल राज्य जैसी ही थी।

राजतंत्र के क्षेत्र में उन चारों राज्यों ने चोलों व चालुक्यों की परम्परा का अनुसरण किया। राज्य के कानून, धर्म और स्मृतियों के अनुरूप बनाए जाते थे जिनका उद्देश्य आर्थिक समृद्धि, और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। यद्यपि उन चारों राज्यों को लगातार सैनिक युद्धों में रत रहना पड़ा, फिर भी इनमें से कोई भी न तो निरकुंश था और न सैनिक तंत्र वाला ही। राजा की निरकुंशता के ऊपर पंच–प्रधान या मंत्रिमंडल का बहुत अधिक नियंत्रण रहता था और यह मंत्रिमण्डल राजा की निरकुंशता पर बहुत अधिक अकुंश था। परन्तु ये मंत्रिपद अधिकांश राज्यों में आनुवंशिक होते थे। राजपद पुरुषप्रधान था। राजा का बेटा या राजपरिवार का निकटतम पुरुष उत्तराधिकारी होता था। केवल रूद्राम्बा ही उस काल में महिला शासिका बनी। उसे भी पुरुषत्तव का प्रदर्शन करने के लिए पुरुषों के वस्त्र धारण करने पड़ते थे। उच्च पदों पर नियुक्ति के लिए जाति या सम्प्रदाय का कोई भेदभाव नहीं किया जाता था। ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक कोई वैमनस्य नहीं था। यह तथ्य सामाजिक एकता और राज्य शासन से सर्वांगीण सहयोग का प्रतीक है। राज्य प्रांतों में विभाजित थे। इन प्रांतों के सूबेदार मुख्यतः राजपरिवार के लोग होते थे। प्रांत नाडुओं में विभाजित थे और ग्रामों के समूह को स्थल कहा जाता था।

चोल–चालुक्य काल की ग्राम प्रशासन की स्वायत्तता की रक्षा इस काल में भी की गई। ग्रामसभाएं ग्राम प्रशासन का महत्वपूर्ण अंग थीं। वे भूमि संबंधी विवाद और छोटे–मोटे न्याय के लिए काम किया करती थी। इस प्रकार यहां राजतंत्र के मामले में पिछली शताब्दियों की परम्पराओं का पालन किया गया।

अर्थव्यवस्था और समाज

अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में प्रगति के जो चिन्ह हम चोल युग में पाते हैं उन्हीं का इस युग में उत्तरोत्तर विकास होता गया। अभिलेखों में विभिन्न कारीगरों व व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। व्यापार एवं उद्योग की प्रगति का सुंदर वर्णन प्राप्त होता है। कृषि को बहुत प्रोत्साहन दिया जाता था व खेती योग्य नवीन भूमि के विस्तार के लिए विशेष सुविधाएं दी जाती थीं। उस काल में सिंचाई के साधनों का भी विस्तार किया गया। दक्षिण भारत के बंदरगाह जहाजों से भरे रहते थे **वस्साफ** व **मार्कोपोलो** दोनों ने इस काल के व्यापार का बहुत अच्छे ढंग से वर्णन किया है। वस्त्र, आभूषण, लौह, पीतल आदि उस काल के प्रसिद्ध उद्योग थे। आंतरिक व विदेश–व्यापार दोनों की स्थिति समृद्ध थी।

सामाजिक क्षेत्र में पारंपरिक जाति–व्यवस्था को मान्यता दी जाती थी। दो जातियों के आपसी मिश्रण को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। फिर भी जाति के नियमों का कठोरतापूर्वक पालन नहीं किया जाता था। ऐसी स्थिति में समाज में सामाजिक वैमनस्य को उत्पन्न होने का अवसर नहीं दिया। इस काल के सामाजिक जीवन की एक मुख्य विशेषता यह थी कि नीची जाति के सामाजिक स्थिति का उत्थान हुआ और व्यापारी वर्ग शिल्पकार, स्वर्णकार आदि जैसे व्यवसायों के लोगों की स्थिति महत्वपूर्ण हो गई।

राजपरिवार के अतिरिक्त समाज के अन्य लोगों में एक विवाद की प्रथा प्रचलित थी। महिलाएं साहित्य व काल के क्षेत्र में पर्याप्त रूचि लेती थीं। इस प्रकार समकालीन दक्षिण भारत में हम सामाजिक एकता के दर्शन पाते हैं। साम्प्रदायिक एकता के पक्ष में भी इस काल में हम यही विशेषता पाते हैं इसका प्रमाण यह है कि इस काल में शैव, वैष्णव व जैन सम्प्रदाय आदि का पर्याप्त विकास हुआ। इस प्रकार डेढ़ शताब्दी में राजनीतिक विघटन भले ही रहे हो, किन्तु अर्थव्यवस्था, समाज व राजतंत्र पर उसका कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा।

अलाउद्दीन खल्जी के दक्षिण और धुर दक्षिण के अभियान

बगलाना पर विजय : देवगिरी पर आक्रमण

इसामी के अनुसार अलप खां को सबसे पहले संभवतः 1297 में उसकी विजय के पश्चात् मुल्तान का राज्यपाल नियुक्त किय गया। वह यह भी कहता है कि मलिक कराबेग को, जिसका व्यक्तिगत नाम अहमद झीतम था, अन्हिलवाड़ा के रायकर्ण को 'दूसरी बार' मार भागने के लिए भेजा गया—संभवतः इसलिए कि राय कर्ण ने 1299 में उलुग खां और नुसरत खां के वापस चले जाने क पश्चात् पुनः अन्हिल्वाड़ा पर अधिकार कर लिया था। जब कराबेग अन्हिलवाड़ा से चार 'फर्संग' की दूरी पर था तो उसने रात भ कूच किया और प्रातः काल नगर पर आक्रमण किया। कर्ण एक बार फिर बगलाना वापस चला गया। तत्पश्चात् कराबेग दिल्ली बुला लिया गया और गुजरात के राज्यपाल का पद अलप खां को दिया गया। कम से कम प्रशासक वर्ग में अलप खा क शालनकाल लोकप्रिय था। **इसामी** लिखता है कि 'यदि कोई सरदार अधीनता का व्यवहार करता था तो अलप खां उस पर आश से अधिक कृपा, प्रदर्शित करता था। यदि कोई सरदार उसकी अपेक्षा करता था तो अलप खां तुरंत उसके प्रदेश पर आक्रमण करता था। मंगोलों ने थार रेगिस्तान के मार्ग से गुजरात की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया किंतु उलप खां ने उन्हे गाजी मलिक की सहायता से पराजित कर दिया जो सुल्तान के आदेशानुसार आया था। संभवतः वहां बसने के विचार से मंगोल इस अभियान म अपने साथ अपनी स्त्रियां और बच्चे लाए थे। किंतु भारतीय सेना ने आक्रमणकारियों का मार्ग रोक दिया और उन्हें भयंकर पराजय का मुख देखना पड़ा। भारतीय बंदी मुक्त कर दिए गए और 'अठारह हजार मंगोल अश्वारोही और तीन हजार घुड़सवार महिला बंदी बना कर दिल्ली भेज दी गईं।'

1306-07 के लिए अलाउद्दीन ने दो दक्षिणी अभियानों का नियोजन किया और अलप खां को आदेश दिया गया कि यह रायकर्ण क बगलाना की पहाड़ियों से मार भागए। राय ने दो मास तक अपने प्रदेश की रक्षा की। तत्पश्चात् अलप खां ने अपने अधिकारियो की एक सभा की और उन्होंने विजय प्राप्त करने या मर मिटने का निश्चय किया। अलप खां ने देवगिरी से एक दिन के मार्ग तक उसका पीछा किया और फिर राय लुप्त हो गया। बाद में पता चला कि उसने वारंगल में शरण लेने का प्रयास किया।

दूसरा अभियान देवगिरी के राय रामचंद्र देव के विरुद्ध था जिसने तीन—चार वर्षों से अपना खराज नहीं भेजा था। इस अभियान का तर्कसंगत कारण हम तब तक नहीं समझ सकते जब तक हम यह न मान लें कि इसामी के इस कथन में थाडी सत्यता जरूर है कि रामदेव ने अलाउद्दीन के पास एक गुप्त दूत यह सूचित करने के लिए भेजा था कि वह उस विषय में 'बिल्कुल लाचार' 'क्योंकि उसका पुत्र भिल्लम और प्रदेश के प्रमुख व्यक्ति सुल्तान के प्रति निष्ठावान नहीं रहे हैं।' स्वयं रामदेव के रवैये म कोइ परिवर्तन नहीं हुआ था। 'जब समय मेरे शरीर की राख हवा में बिखेर चुका होगा उस समय भी मेरा मन उन सौगधों का ख्याल रखेगा जो मैंने खाई हैं। सुझाव वह था कि दिल्ली से एक सेना भेजी जाए।

अलाउद्दीन अपने साथ एक अधिकारी—विशेष रूप से एक दास अधिकारी—रखने के लिए इच्छुक था जो राजतंत्र से उत्पन्न होन वाले अकेलेपन में उसका साथ नहीं छोड़ेगा। इसके लिए उसने मलिक शाहीन को चुना था किंतु जब शाहीन चित्तौड़ से भाग गय तो अलाउद्दीन ने उसका स्थान मलिक काफूर को दिया। वह आवश्यक था कि अलाउद्दीन का कृपापात्र अधिकारी एक ऐसा व्यक्ति हो जिसकी क्षमता और निपुणता को चुनौती न दी जा सके। काफूर ने कुबक के विरुद्ध अभियान में बड़ा सराहनीय कार्य किय था। अब अलाउद्दीन ने निश्चय किया कि 30,000 सैनिकों की सेना जो देवगिरी अभियान के लिए चुनी गई थी उसकी कमान क अंतर्गत रखी जाए। फरिश्ता के अनुसार सुल्तान ने काफूर को अन्य अधिकारियों से उच्च स्तर पर रखने के लिए निश्चित य उठाए। शाही छत्र और चौकी उसके साथ भेजे गए। अधिकारियों को यह आदेश दिए गए कि वे प्रतिदिन उसका अभिवादन करत रहे और उससे अपने लिए आदेश प्राप्त करते रहें। सुरक्षा मंत्री, सिराजुद्दीन ख्वाजा हाजी को जो एक पश्चिमी और निपुण व्यक्ति था किंतु जो आदेश प्राप्त करने का अभ्यस्त हो गया था, सेना का तात्कालिक अधिकारी नियुक्त किया गया। आइनुलमुल्क मुल्तानी और अलप खां को आदेश भेजे गए कि वे काफूर को समस्त संभव सहायता देकर उसे शिकायत का अवसर न दे।

'**खजाएनुलफतूह**' से हमें यह सूचना मिलती है कि सुल्तान ने यह आज्ञा दी थी की राय और उसके परिवार के किसी व्यक्ति क हानि न पहुंचाई जाए और वास्तव में इन आदेशों का पालन किया गया। काफूर ने अपने सैनिक तिलपट में एकत्रित किए ज सामान्यतः प्रथम मंजिल होती थी। तत्पश्चात् धार और घाटी सागौन के मार्ग से देवगिरी के लिए प्रस्थान किया। **खुसरो** के अनुसार देवगिरी की सेना ने साधारण विरोध किया और फिर दो भागों में विभाजित हो गई। रामदेव ने आत्मसमर्पण कर दिया किंतु उसक पुत्र कुछ सेना सहित भाग गया। भागे हुए व्यक्तियों की साजसज्जा सरकार और विजय सैनिकों ने बांट ली। किंतु **फरिश्ता** क कथन है : 'जब काफूर ने दक्षिण में प्रवेश किया तो उसने जनता को अपनी कृपालु सुरक्षा में ले लिया और एक चींटी को भी हानि

नहीं पहुंचने दी।' वह आगे लिखता है कि रामदेव ने युद्ध करना व्यर्थ समझा। उसने अपने पुत्र सिंहन को देवगिरी में छोड़ा और स्वयं काफूर से मिलने आया। काफूर उसे दिल्ली ले गया और मार्ग में उसने 'काफूर का हृदय पूरी तरह मोह लिया।' जब रामदेव ने दरबार में प्रवेश किया तो अलाउद्दीन ने उसके सर मोतियों और बहुमूल्य रत्नों की वर्षा करवाई और उसे दिल्ली में अपने अतिथि की भांति छः मास तक रखा। फरिश्ता कहता है : 'रामदेव को ऐसा सम्मान दिया गया कि दरबार के लोग उसमें और सुल्तान में कोई भेद न कर सकें।' वह यह भी लिखता है कि यह सब नीतिवश नहीं किया गया। 'अलाउद्दीन को यह विश्वास हो गया था कि उसे देवगिरी के खजाने से राज्य प्राप्ति हुई थी।' अंत में रामदेव को एक लाख सोने के टंके प्रदान किए गए और उसे 'सफेद छत्र' देकर देवगिरी वापस जाने की अनुमति दी गई। गुजरात का नौसारी बिजला उसे उपहार में दिया गया। संभवतः इसी यात्रा में अपनी उसने पुत्री झत्यपाली का विवाह अलाउद्दीन से किया।

देवलरानी—इस प्रसिद्ध काव्य की रचना करते समय **खुसरो** ने ऐतिहासिक तथ्यों की कोई अवहेलना नहीं की है किंतु बाद के लेखकों द्वारा की गई भूलों के लिए वह उत्तरदायी नहीं है। गुजरात के प्रथम आक्रमण के समय अलाउद्दीन के अधिकारियों ने राय कर्ण के रनिवास की कुछ स्त्रियों पर अधिकार कर लिया था। उन बंदियों में राय की एक पत्नी रानी कमला देवी थी। उस महिला की चिंता उस समय समाप्त हो गई जब उसे यह ज्ञात हुआ कि उसे शाही रनिवास में रखा जाएगा। अपनी परिवर्तित स्थिति से संतुष्ट होकर उसने अपने सौंदर्य और सेवा से सुल्तान का हृदय जीत लिया। 1306-07 में एक समय सुल्तान को प्रसन्न मुद्रा में देख कर उसने एक निवदेन किया। राय कर्ण से उसके दो पुत्रियां थीं। प्रथम का देहांत हो चुका था किंतु दूसरी जो दिल्ली के लिए प्रस्थान करते समय छः मास की थी, जीवित थी। क्या सुल्तान की कृपा से उनकी पुत्री देवलरानी उसे प्राप्त हो सकेगी? अलाउद्दीन ने तुरंत राय कर्ण के पास आदेश भेजा कि वह उन सात या आठ वर्षीय लड़की को तुरंत भेज दे।

अमीर खुसरो ने इस कथन पर विश्वास करना कठिन है कि राय कर्ण इस आदेश से बड़ा प्रसन्न हुआ किंतु वह उसका पालन करने के लिए उद्यत था क्योंकि उससे दिल्ली से मैत्रीपूर्ण संबंध और उसके संकुचित राज्य की सुरक्षा प्राप्त होगी। किंतु इस से पूर्व कि देवलरानी प्रस्थान करती अलाउद्दीन की नीति बदल गई। उसने आदेश दिए कि बगलाना को साम्राज्य में मिला लिया जाए और देवलरानी बलपूर्वक छीन ली जाए। रामदेव का बड़ा पुत्र सिंहन देवलरानी से विवाह करना चाहता था किंतु चूंकि वघेले जातीय स्तर में स्वयं को यादवों से उच्च समझते से इसलिए कर्ण यह वैवाहिक संबंध स्थापित करने में संकोच कर रहा था। किंतु जब कर्ण ने भागकर महाराष्ट्र में शरण ली थी तो सिंहन ने इस विवाह का पुनः आग्रह किया ओर अपने छोटे भाई भिल्लम का कुछ सैनिकों सहित वह लड़की लाने के लिए भेजा। उस समय अलप खां कर्ण का पीछा कर रहा था और इसलिए वह अपनी पुत्री देने से इन्कार न कर सका। किंतु देवगिरी से केवल एक फर्संग की दूरी पर भिल्लम का दिलावर पंचमी के नेतृत्व में अलप खां की सेना से सामना हुआ और फलस्वरूप जो संघर्ष हुआ उसमें देवलरानी को घोड़ा का बाण के आघात से घायल हो गया और वह आगे न जा सकी। दिलावर ने उसे घोड़े की रास पकड़ ली और उसे अलप खां के पास लाया, 'जिसने उसे अपनी संतान की भांति रखा' और फिर उसे दिल्ली भेज दिया। स्पष्ट है कि यह सब मलिक काफूर के आक्रमण के पूर्व हुआ। अलप खां गुजरात वापस चला गया। देवगिरी विषयक उसे कोई आदेश नहीं दिए गए थे।

वारंगल अभियान

मलिक काफूर के धुर दक्षिण के अभियानों के विषय में हमारा सबसे विश्वसनीय आधार अमीर खुसरो की '**खजाएनुलफतूह**' है। यद्यपि यह कृति एक साहित्यिक मणिस्वरूप अवशेष रही किन्तु इसके ऐतिहासिक महत्व पर प्रकाश **सर सैय्यद अहमद खां** और **सर हेनरी ईलियट** ने डाला। अधिकांश मध्यकालीन इतिहासकारों को इसका कोई ज्ञान नहीं था और वे बरनी की नकल कर संतुष्ट हो गए। **बरनी** ने घटनाओं को बहुत समय अपना इतिहास लिखा। उसे दक्षिण के भूगोल का बड़ा भ्रमात्मक ज्ञान था। दो विषयों में उसकी स्मृति ने उसे धोखा दिया और उसकी भूलें उन सभी इतिहासकारों ने दोहराई हैं जो उस पर निर्भर थे। वारंगल जाते समय मलिक काफूर देवगिरी नहीं गया। इसकी आवश्यकता ही नहीं थी। दूसरे जब मलिक काफूर मावर जाते समय देवगिरी गया उस समय रामदेव की मृत्यु नहीं हुई थी। वह जीवित था और उसने काफूर तथा उसकी सेना का भव्य स्वागत किया।

बरनी के दो ऐसे कथन हैं जिन पर सावधानी से विचार करना है। इस समय मलिक काफूर ने अपनी ख्याति स्थापित कर ली थी और अलाउद्दीन ने उसे सतर्कतापूर्ण आदेश देकर उस सेना का नेतृत्व सौंपा था जिसे वारंगल की ओर कूच करना था। संक्षेप में आदेश इस प्रकार हैं :

"तुम एक सुदूर प्रदेश में जा रहे हो। वहां बहुत समय तक न रहना। वारंगल पर विजय प्राप्त करने के लिए तुम अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर राय रूद्रदेव को पराजित करना। किंतु यदि राय अपना कोष, हाथी और घोड़े समर्पित कर दे और भविष्य में एक निश्चित

खराज देने का वचन दे तो यह व्यवस्था स्वीकार कर लेना और अपनी ख्याति के लिए यह आग्रह न करना कि राय [illegible] स्वयं उपस्थित हो या तुम उसे दिल्ली लाओ। मलिकों और अमीरों से सद्व्यवहार करना और विशिष्ट सेनानियों के सम्मान का उचित ध्यान रखना। ख्वाजा हाजी तथा बड़े–बड़े मलिकों से परामर्श लिए बिना किसी मुहिम पर न जाना। सैनिकों के प्रति नम्र रखना। कोई अनावश्यक कठोरता या अत्याचार न करना। ऐसी कोई भूल न करना जिसके परिणामस्वरूप कोई परेशानी खड़ी हो जाए। सेना में छोटी भूलों और गबन की ओर ध्यान न देना। अधिकारियों की बुराई–भलाई से सदैव सचेत रहना। अमीरों को यह आदेश दो कि वे कोई सभा न करें या एक दूसरे के विचार में न जावें। इसके अतिरिक्त अमीरों से व्यवहार करते समय न तो इतने उदार बन जाना कि वे धृष्ट और अवज्ञाकारी बन जावें और न इतने कठोर होना कि वे तुम्हारे शत्रु बन जाए और तुम से घृणा करने लगें। सोने–चांदी के अतिरिक्त लूट के माल का पांचवां भाग वसूल करने में कठोरता न करना। यदि कोई अमीर थोड़े से धन या घोड़े, जिन्हें उसने अपने अधिकार में कर लिया हो, अपने पास रखना चाहें तो उन्हें उसी के पास छोड़ देना। यदि कोई मलिक या अमीर अपने या अपने सैनिकों के लिए उधार मांगे तों उससे रसीद ले लेना और उसे धन दे देना। यदि कोई घोड़ा चाहे वह किसी अधिकारी का हो या सैनिक का किसी चोर द्वारा चुरा लिया जाए या युद्ध में मारा जाए किसी अन्य कारणवश नष्ट हो जाए तो उसे शाही अस्तबल से अच्छा घोड़ा प्रदान करना किंतु ख्वाजा हाजी से कहना कि ऐसे नष्ट हुए घोड़े का हिसाब करने अपने कार्यालय में रखे क्योंकि सरकारी कार्य के लिए इसकी आवश्यकता है।"

बरनी हमें यह आभास भी देता है कि अलाउद्दीन ने सरकारी सूचनाओं के तीव्र गति से आवागमन के लिए क्या व्यवस्था की। जब अलाउद्दीन किसी अभियान पर सेना भेजता था तो उसका यह दस्तूर था कि वह तिलपट से जो पहली मंजिल थी, डाक चौकियां (थाने) उस स्थान तक स्थापित करता था जहां तक डाक चौकियां स्थापित की जा सकती थीं या जहां सेना कार्यरत होती थी। प्रत्येक मंजिल पर द्रुतगामी घोड़ों की व्यवस्था की जाती थी और संपूर्ण मार्ग में दौड़ने वाले पदाति (धावा) आधे 'करोह' पर गश्त किया करते थे (जो अगले व्यक्ति तक डाक पहुंचाते थे) मार्ग में प्रत्येक नगर में या उन स्थानों पर जहां घोड़ों की व्यवस्था होती थी समाचार लेखक भी नियुक्त किए जाते थे। इस प्रकार प्रतिदिन, या प्रत्येक दूसरे तीसरे दिन सेना की कार्रवाई की सूचना सुल्तान को मिलती रहती थी और सेना को सुल्तान की कुशलता का समाचार भेजा जाता था। इस व्यवस्था के फलस्वरूप राजधानी या सेना में कोई झूठी अफवाह नहीं फैल पाती थी।

31 अक्टूबर 1309 ई. को सेना ने लाल छत्र और लाल मंच सहित प्रस्थान किया। खुसरो ने सेना के मार्ग का कुछ आभास दिया है किंतु उसका सही अर्थ लगाना कठिन है। उसके द्वारा उल्लिखित कुछ नगर अब नहीं हैं। इसके अतिरिक्त अनेक कारणों ने मार्ग निर्धारण किया जिसका अब हम कोई अनुमान नहीं लगा सकते जैसे रसद की उपलब्धि, स्थानीय जनता और उनके सरदारों का रवैया और सड़कों की स्थिति। सबसे उत्तम यह होगा कि खुसरो का अनुसरण किया जाए और जो अनिश्चित प्रश्न हैं उन्हें भविष्य में अनुसंधान के लिए छोड़ दिया जाए।

नौ दिन उपरांत सेना मसूदपुर पहुंची जो सुल्तान मसूदर के नाम से बसाया गया था। 13 नवंबर 1309 को सेना ने पुनः प्रस्थान किया। अब मार्ग बड़ा ऊबड़–खाबड़ था। बरसाती पानी से मार्ग में दरारें पड़ गई थीं और मार्ग में कठोर पत्थर और कांटेदार झाड़ियां थीं। छः दिन के कूच में सेना ने घाटों द्वारा जून (यमुना), चंबल, कुंवारी (कुंवरी), बनास, और भोजी नामक पांच नदियां पार कीं और सुल्तानपुर पहुंची जिसे ईरजपुर भी कहते हैं। यहां चार दिन का विश्राम किया गया। 25 नवंबर 1309 को सेना ने पुनः एक पथरीले मार्ग पर प्रस्थान किया। ग्यारह दिन की यात्रा के उपरान्त 5 दिसंबर 1309 को सेना खंदार पहुंची। यहा चौदह दिन का विश्राम किया गया ताकि सेना का निरीक्षण किया जा सके। 'सेना के सरदार, मलिक और विशिष्ट व्यक्ति लाल छत्र के समक्ष उपस्थित हुआ करते थे।' जब सेना ने पुनः कूच किया तो उसे ऊंचे–नीचे स्थलों और छोटी बड़ी नदियां पार करते हुए यात्रा करनी पड़ी। नर्वदा सबसे बड़ी नदी थी जिसे उसे पार करना पड़ा और जो 'नूह के समय की जल प्रलय के समान दिखाई देती थी'। नर्वदा नदी पार करने के आठ दिन बाद वे नीलकंठ पहुंचे और चूंकि नीलकंठ देवगिरी राज्य की सीमा पर था इस लिए यह भी आदेश दिए गए कि वहां के मकानों, खेतों और किसानों को कोई हानि न पहुंचाई जाए। आगे के मार्ग के विषय में जांच–पड़ताल करने के लिए यहां फिर दो दिन का विश्राम हुआ। 30 दिसबंर 1309 को कूच के नगाड़े फिर बजाए गए। वे तेलगाना के मार्ग पर थे।

'खुसरो हमें गड़गड़ाते हुए बदलों तथा सैनिकों और जानवरों के पहाड़ियों से फिसलने का आभास देता है और सेना की शक्ति तोलने के लिए बादल उमड़ आए और अपने 'कच्चे मोती' बरसाने लगे। अंत में पहाड़िया पार करने के पश्चात् सेना बीजापुर की सीमा पर पहुंची। वहां बिहार और बैरागी नाम दो नदियों के बीच स्थित दोआब था और यहां उन्हें हीरे की खानों के चिह्न भी मिले। उसी दिन मलिक काफूर ने कुछ चुने हुए सैनिको सहित आगे कूच किया और सरवर दुर्ग पहुंचा जो तिलगाना [illegible]

जाता है। घोड़ों को विश्राम दिए बिना दुर्ग की घेराबंदी के आदेश दिए गए। रक्षक सेना ने बाण चलाना आरंभ कर दिया। और दुर्ग के भीतर से रावतों ने चीख चीख कर 'मार! मार!' की आवाज लगाई। खुसरो के विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्ग के भीतर रावत अकस्मात बेखबरी से जागे। उनमें से कुछ ने जौहर की अग्नि जलाई और अपने स्त्री–बच्चों सहित उसमें कूद पड़े। अवरोध करने वाले सैनिक दुर्ग में घुस गए और उन लोगों को वध करने लगे जो आग से बच गए थे। शेष सरदार लड़ते हुए मर मिटने के लिए उद्यत हो गए किंतु ख्वाजा हाजी ने बीचबचाव किया। दुर्ग के सरदार का एक भाई आननीर जो विलुप्त हो गया था, एक खेत में छिपा पाया गया। उस लाया गया और दुर्ग उसके अधिकार में रखा गया। दुर्ग के शरणार्थियों ने भाग कर वारंगल में शरण ली।

तेलंगाना के रावतों के लिए उचित मार्ग यह था कि यदि उन्हें जनता का समर्थन प्राप्त था तो उन्हें समस्त प्रदेश में छापामार युद्ध आरंभ कर देना था। यदि सार्वजनिक समर्थन भी प्राप्त नहीं था तो उन्हें शीघ्रगामी सैनिक टुकड़ियों द्वारा पृथक–पृथक प्रदेशों में विरोध का संगठन करना चाहिए था। दोनों ही योजनाएं सफल हो जातीं क्योंकि आक्रमणकारी सेना के पास सीमित समय था और समस्त तेलंगाना का दमन करते करते नष्ट हो जाती। किंतु रावतों ने दुर्बुद्धि से वारंगल में रूद्रदेव के पास भाग कर काफूर का कार्य सरल कर दिया। एक ही दुर्ग पर विजय प्राप्त कर उसे वह सब कुछ मिल गया जिसकी उसे आवश्यकता थी।

14 जनवरी 1310 ई. को सेना ने सरवार से कूच किया और कुनारवल को पहुंची। जब शिविर लगाया जा रहा था उसी समय काफूर ने एक हजार चुने हुए घुड़सवारों को दुभाषियों की तलाश के लिए वारंगल के उपनगरों की ओर भेजा। उनमें से दो अधिकारियों ओर 40 घुड़सवारों ने अनाम कोंडा पहाड़ी पर चढ़ाई की जहां वारंगल के मकान और बाग–बगीचे साफ दिखाई पड़ते थे। उनकी तीन हिन्दू घुड़सवारों से मुठभेड़ हुई जिन्हें उन्होंने चार परदार तीर से मार डाला और उनके शवों को अपने कमांडर के पास भेज दिया। तपती धूप में मलिक काफूर ने खुद ही दुर्ग का मुआयना किया। 'इस दिन ख्वाजा हाजी ने भी मजबूत सुरक्षात्मक मोर्चेबंदी पर गौर किया।'

वारंगल के दुर्ग में दो परकोटे थे जिसके चारो ओर खाई थी। प्रताप रूद्रदेव दुर्ग के भीतर हिस्से में रहता था जिसकी दीवाल पत्थर की थी। रावतों ने बाहरी दुर्ग पर अपना मोर्चा संभाला था, यह ज्यादा फैला हुआ था और इसकी सुरक्षा के लिए एक मिटटी की दीवाल थी। 'लेकिन यह दीवाल इतनी सख्त थी कि इस्ताप का कोई हथियार इसे बेध नहीं सकता था और 'मंजनीक' के पत्थर इससे टकराकर इस तरह वापस लौटते थे जैसे कोई बच्चा किसी नारियल को फेंक रहा हो।' रक्षक सेना की पताकाएं हवा में लहरा रही थीं और रावत लोग ईंट से मार करने के लिए 'मंजनीकों' और 'इरादों' को तैयार करने में लगे थे।

अगले दिन मलिक काफूर का खेमा अनाम कोंड़ा पहाड़ी पर गड़ गया और दुर्ग के फाटक पर शाही मंडप तैयार कर दिया गया। आने वाली रात में नसीरुलमुल्क सिराजुद्दौला ख्वाजा हाजी ने स्वयं अपने हाथ में रोशनी लेकर सेना के दस्तों को मोर्चेबंदी के बारे में हिदायतें दी ताकि दुर्ग को पूरी तरह घेर लिया जाए।

'प्रत्येक तूमान (10,000 सैनिक) को, 1,200 गज भूमि दी गई। लकड़ी की एक दृढ़ दीवार (कटधरा) तंबुओं के चारों ओर बनाई गई ताकि खुले मैदान की ओर से कोई आक्रमण न किया जा सके। उस प्रदेश के एक सरदार मानिकदेव ने चांदनी रात में एक हजार सैनिकों सहित रात में आक्रमण किया किंतु वह बुरी तरह असफल हुआ। कुछ बंदियों ने बताया कि वारंगल से छः फर्संग की दूरी पर पहाड़ियों में स्थित धमधम नामक नगर में तीन हाथी रखे गए हैं। मलिक कराबेग को उन पर अधिकार करने के लिए भेजा गया किन्तु यद्यपि उन्हें एक अन्य स्थान पर ले जाया गया था, फिर भी वह उन्हें पकड़कर ले आया।

दुर्ग की ऊंचाई के बराबर 'सावतों' और 'गर्गचों' का निर्माण किया गया और उनके समाने की खाई भर दी गई। दुर्ग की दीवार जो चौड़ाई में लगभग सौ हाथ थी पत्थरों के प्रहार, से एक ओर इस प्रकार तोड़ दी गई कि वह अब हिन्दुओं की बगल से नीची हो गई थी जबकि दूसरी ओर उसमें 'मंजनीक' के पत्थरों से अनेक द्वार बन गए। योजना यह थी कि खाई के बीच दुर्ग की कमर तक एक इतनी चौड़ी 'पाशेब' बनाई जाए ताकि सौ सैनिक एक साथ कंधे से कुंधा मिला कर उस पर चल सकें। 'किंतु इसमें बड़ा समय नष्ट होता। इसलिए मलिक काफूर द्वारा आमंत्रित मलिकों की एक विचार गोष्ठी ने तुरंत आक्रमण का निश्चय किया। मलिक काफूर ने प्रत्येक दल (खेल) को आज्ञा दी कि वह अपनी लंबी सीढ़ियां और अन्य उपकरण 13 फरवरी रात में तैयार करें ओर दूसरे दिन प्रातः काल आक्रमण करने के लिए तत्पर रहें। जब 14 फरवरी को सूर्य एक भाले के बराबर ऊंचाई तक पहुंच गया तो जंगी नगाड़ों ने आक्रमण का आदेश दिया। कुछ सैनिकों ने दुर्ग की दीवार पर चढ़ने का और अन्य ने अपने फावड़ों से उसकी नींव खोदने का प्रयत्न किया और मंजनीकों ने दोनों ओर से पत्थर फेंकना आरंभ किया। खुसरो का यह कथन कि, आधी दुर्ग की दीवार अर्थात बुर्ज धूल की भांति आकाश में उड़ गया जबकि शेष आधा भाग साधारण मिट्टी की भांति गिर पड़ा. 'अतिशयोक्ति है क्योंकि वह उसी के कथनों के विपरीत है कि संध्या समय तक अवरोध करने वाले बुर्ज के एक मार्ग पर ही अधिकार करे सके।'

15 और 16 फरवरी को कठिन संघर्ष के पश्चात् आक्रमणकारियों को बाहरी दुर्ग पर विजय प्राप्त करने में सफलता मिली और उसके बुर्जों पर अपने झंडे गाड़े। अब उसके सामने दूसरी खाई थी। उसके बाद पत्थर का दुर्ग जिसकी दीवारें इतनी ऊंची थीं कि उन पर चींटी भी नहीं चढ़ सकती थी। उसके पत्थर ऐसे कलात्मक ढंग से एक दूसरे से जोड़े गए थे कि कुदाल की नोक भी उन्हें कोई हानि नहीं पहुंचा सकती थी और उसका निर्माण ऐसे सुंदर ढंग से किया गया था कि कोई मंजनीक उस हानि पहुंचाने का साहस न कर सकती थी।' आक्रमणकर्ता यह सोच ही रहे थे कि नौकाओं के बिना खाई कैसे पार करें कि उसी समय समाप्त हो गया क्योंकि राय रूद्रदेव ने जो अपनी पैतृक संपत्ति की रक्षा भारतीय सांप की भांति कर रहा था, आत्मसमर्पण का निश्चय किया।

अमीर खुसरो ने दोनों पक्षों के लिए जिन संवादों की रचना की है उनका ऐतिहासिक महत्व नहीं है। राय ने आत्मसमर्पण करते हुए अपनी एक सोने की मूर्ति भेजी जिसकी गर्दन में जंजीर पड़ी थी। वह अपनी संपत्ति समर्पित करने और वार्षिक खराज देने के लिए तैयार था। वह 20,000 भारतीय तथा विदेशी घोड़े, सौ युवा और शक्तिशाली हाथी दे सकता था। 'वे माबर के मस्त हाथी नहीं, बंगाल के शाकाहारी हाथियों की भांति नहीं थे।' उसके पास समस्त भारतवर्ष की पहाड़ियां मढ़ने के लिए सोना था और भारत की भांति के बहुमूल्य रत्नों का प्रचुर भंडार था। जब राय के वसीठ (दूत) लाल छत्र के सामने अपना सुर झुका चुके तो उन्होंने मलिक काफूर को इस शर्त पर कि युद्ध रोक दिया जाए सुल्तान के आदेश का स्मरण कर और खिज्र खां के सर की सौगंध खाकर (कि वे अपना वचन पुरा करेंगे) उसका संशय दूर किया। काफूर ने अपनी तलवार म्यान में रख लीं और अपना दहिना हाथ बढ़ाया और अपनी कृपा का आश्वासन देते हेतु दूतों की पीठ हाथ से थपथपाई।

रात्रि में राय के अधिकारियों ने उसका कोष एकत्रित किया और दूसरे दिन प्रातः काफूर के पास लाए 'जो सुल्तान द्वारा दिए गए एक ऊंचे आसन पर बैठा था जबकि अन्य अधिकारियों ने परंपरानुसार अपने स्थान ग्रहण किए ओर विशेष तथा साधारण लाल तारागणों की भांति एकत्रित हुए।' उसके यह प्रश्न पूछने पर कि क्या राय ने अपने समस्त रत्न भेज दिए हैं उसके दूतों ने उत्तर दिया : 'इस कोष में एक जौहर' (बहुमूल्य रत्न) है जो विश्व में अद्वितीय है यद्यपि बुद्धिमान दार्शनिकों के मतानुसार ऐसा 'जौहर' (पदार्थ) संभव ही नहीं है।' यह काम एक दिन में समाप्त नहीं हुआ होगा क्योंकि खुसरो हमें आगे बताता है

जब प्रत्येक वस्तु, जिसे राय ने अपने पैतृक और मातृक पूर्वजों से पाई थी, वार्तालाप में निपुण दूतों द्वारा भेज दी तो सपूर्ण संपदा इतनी थी कि बुद्धिमान व्यक्ति भी उसका अनुमान नहीं लाग सकते फिर भी सुरक्षा मंत्री (अर्जे ममालिक) रत्नों के सामने खड़ा हुआ और श्रेणी के अनुसार उन्हें विभाजित किया। प्रत्येक रत्न को उसके उचित स्थान पर लिखवाया।

उपहास करते हुए **खुसरो** हमें बताता है कि भविष्य में खराज 'हिंदी के एक के आगे दस शून्य और प्रत्येक शून्य एक कोष की ओर संकेत करता हुआ सुल्तान के प्रतिनिधियों को दिया जाना था। अल्लाह उसे 'कयामत' के दिन तक सुरक्षित रखे।'

सेना के निरीक्षण ('अर्जे') की व्यवस्था गई। उसने 20 मार्च 1310 को वापसी की यात्रा आरंभ की और 9 जून 1310 को दिल्ली पहुंची। 23 जून 1310 को सुल्तान का काला मंच बदायूं द्वार के निकट लगाया गया और एक हजार ऊंटों पर लदे हुए कोष का निरीक्षण किया गया। यह व्यवस्था की गई कि साधारण जनता भी कोष देख सके।

द्वारसमुद्र और माबर के अभियान

जैसा कि **खुसरो** लिखता है कि इस समय तक मंगोलों को गजनी मार भगाया जा चुका था। और उनकी अग्रिम सेना भी सिंध नदी पर पार करने का साहस न रखती थी। अलाउद्दीन का साम्राज्य समुद्र से समुद्र तक फैला हुआ था। इसलिए मलिक काफूर के नेतृत्व में उसने धुर दक्षिण के लिए एक और अभियान भेजने का निश्चय किया। अन्य विषयों के अतिरिक्त उसमें यह आशा की जाती थी कि वह 500 से अधिक हाथी अधिकृत करेगा। दिल्ली से माबर आने–जाने की यात्रा में एक वर्ष लगा।

17 नवंबर 1310 को शाही छत्र दिल्ली से चला। पहले उसे यमुना नदी के किनारे टंकल के मैदान में लाया गया जहा सुरक्षा मंत्री ख्वाजा हाजी ने चौदह दिन तक सेना का निरीक्षण किया। 2 दिसंबर 1310 को प्रातःकाल कूच के नगाड़े बजाए गए ओर इक्कीस लंबी मंजिलों के उपरांत सेना कटीहुन पहुंची। कटीहुन के आगे सत्रह दिनों में सेना में ऊंची पहाड़ियां, गहरी घटियां और नदियां जिनमें सबसे बड़ी नदी नर्वदा थी, पारन की और खरगांव पहुंची। यहां सेना का निरीक्षण करने के लिए बीस दिन विश्राम किया गयां। सभी उपस्थित और अनुपस्थित व्यक्तियों की गणना की गई। तेलंगाना के राय द्वारा खराज में भेजे गए तहफ्फ यहां सेना से आकर मिले। 29 जनवरी 1311 को सेना ने खरगांव के कूच किया और ताप्ती तथा अन्य नदियां पार करते हुए 3 फरवरी 1311 को देवगिरी पहुंची। सेना का स्वागत करने के लिए रामदेव ने हर संभव व्यवस्था की थी।

'उसने नगर को स्वर्ग के समान सजाने और सेना के लिए आवश्यक सभी वस्तुएं बाजार में लाए जाने की आज्ञा दी थी....। प्रत्येक बाजार विभिन्न रूप से लगाया गया था। मुद्रा–परिवर्तक (सर्राफ) सोने–चांदी के 'टंको' से भरे थेले लिए बैठे थे। कपड़ा बेचने वाले (बजाज) 'बाहरे हिंद' से 'बावर्दे खुरासान' तक के प्रत्येक वस्त्र बेच रहे थे...। फल ढेरों में लगे थे...। कोई व्यक्ति उचित मूल्य के वस्तुएं खरीद सकता था। तुर्कों ने हिन्दुओं को आतंकित नहीं किया और हिंदुओं की मनोभावना तुर्कों के विरुद्ध नहीं थी। सेना एक हजार और दस हजार के दलों में संगठित होने तथा अपनी रसद पूर्ति के लिए देवगिरी में तीन या चार दिन से अधिक न ठहर सकी। रामदेव ने अपने सीमोंत सेनाध्यक्ष परशुराम दलबई को यह आदेश दिए थे कि वह शाही सेना को सहायता करे।

7 फरवरी 1311 ई. को देवगिरी से प्रस्थान कर सेना पांच दिन में तीन नदियां–सीनी, गोदावरी और बिनहूर पार करती हुई बंदरी (पंडापुर) पहुंची जो परशुराम के क्षेत्र में था। परशुराम ने मलिक काफूर को ठीक सूचना प्राप्त करने में सहायता की और उससे निम्नलिखित तथ्य ज्ञात हुए: माबर के दोनों रायों में मतैक्य था। किंतु बाद में सुंदर पांड्या ने, जो छोटा भाई था, 'राजनीतिक कारणवश अपने पिता की हत्या से अपनी हथेली रंग ली' और बड़ा भाई वीर पांड्या अपने दोनों नगर आरक्षित छोड़ कर कई हजार हिदुंओं सहित पितृहंता की खाल खीचने के लिए चल पड़ा। यह समाचार सुन कर कि दोनों नगरों की रक्षा उनके 'महाराय' द्वारा नहीं हो रही है, द्वार समुद्र का राय बल्लाल देव दोनों नगरों के महाजन लूटने के उद्देश्य से आगे बढ़ा। किंतु उसी समय उसे शाही सेना का समाचार प्राप्त हुआ और वह अपनी राजधानी लौट आया।

खुसरो कहता है कि, 'ऐसे विषयों में जिम्मेदारी वरिष्ठ मलिकों की होती है।' उन्होंने यह निश्चय किया कि यह आवश्क है कि इसके पूर्व कि वे अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करें बल्लाल देव पर आक्रमण करना आवश्यक है। अस्तु 10,000 सैनिक चुने गए उन्होंने काफूर के नेतृत्व में द्वार समुद्र के लिए कूच किया। बारह दिन की यात्रा के पश्चात् वह वहां पहुंचे और 26 फरवरी 1311 को उसे घेर लिया।' तुम एक दुर्ग देखोगे जो चारो ओर पानी से घिरा है उसे बीर (बुआ) कहते हैं। कुएं (बीर) में पानी होता है किंतु यहां एक पानी के भीतर कुआं (बीर) है। दूसरे दिन प्रा:काल काफूर दुर्ग के चारों ओर घूमा और प्रमुख मलिकों सहित मुख्य द्वार के सामने मोर्चे पर डट गया।

जुमेरात को रात की नमाज के पश्चात् राय ने गेसूमल नामक एक अधिकारी को अवरोधक सेना के विषय में सूचना लाने के लिए भेजा। गेसू ने आकर बताया : 'दूसरे दिन प्रा:काल आक्रमण होगा और दुर्ग नमाज पढ़ने के आसन की भांति समतल कर दिया जाएगा।' **खुसरो** ने दुर्ग के भीतर होने वाली वार्तालाप का अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है किन्तु उन्हें जानने के लिए उसके पास कोई साधन नहीं थे। शुक्रवार को प्रात:काल देव नायक अन्य दूतों सहित शाही छत्र के समक्ष आया और रामदेव तथा रूद्रदेव द्वारा स्वीकृत शर्तों के आधार पर बल्लालदेव की सुरक्षा की संस्तुति की। 'शांति के बदले वह अपना समस्त कोष, घोड़े और हाथी समर्पित क[illegible]देगा। इस स्थान पर खुसरो अपनी पुस्तक की विषय सामग्री के प्रतिकूल मलिक काफूर को एक धर्म प्रचारक और लूटेरे की भांति बाते करता हुआ दिखाता है। राय के दूतों को बताया गया कि, 'बल्लालदेव तथा अन्य रायों के विषय में मेरे लिए सुल्तान के यह आदेश हैं। प्रथम, मुझे उन्हें 'इस्लामी धार्मिक शपथ' के दो नकारात्मक विकल्प देना है कि, 'अल्लाह के 'अतिरिक्त' और कोई देवता नहीं है।' यदि वे इसे नहीं स्वीकार करते तो मुझे 'जजिया' ('जिम्मा') का जुआ गर्दनों पर रखना हैं यदि वे यह भी स्वीकार नहीं करते तो में उनकी गर्दन पर कोई बोझ नहीं रखूंगा बल्कि उनकी गर्दनें उनके सर के बोझ से भी मुक्त कर दूंगा। काफूर को यह अधिकार न था कि वह लूट और खराज का विकल्प इस्लाम स्वीकार कराना बनावे और कुछ भी हो यह काफूर नहीं खुसरो है जो बोल रहा है।

कोई गलतफहमीं पैदा न हो इसलिए राय के दूतों ने प्रार्थना की कि दो शाही प्रतिनिधि उनके साथ भेज दिए जाएं। यह सुझाव तर्कसंगत समझा गया और काफूर ने दो हिंदू परमार 'हाजिब' (दूत) उनके साथ भेजने की आज्ञा दी। बल्लालदेव ने उनसे कहा कि वह अपने पवित्र जनेऊ के अतिरिक्त अपने पास कुंछ नहीं रखेगा। 'जो हिन्दू धर्म के साथ और हिंदू धर्म जिसके साथ बंधा है।' उसने भविष्य में वार्षिक खराज देने का भी निश्चय किया। जब काफूर को इसकी सूचना दी गई तो 'उसने अपनी भृकुटी के क्रोध के बल दूर किए और अपना धनुष यथास्थान रख दिया।' इससे पहले कि द्वार समुद्र विरोध की तैयारी करे काफूर उस पर आक्रमण करनें सफल हो गया था और कोई उल्लेखनीय रक्तपात भी नहीं हुआ।

उसी दिन सुबह बालकदेव नायक, मैनदेव और जीतमल राय के अनेकों दूतों सहित दुर्ग के बाहर आए, शाही छत्र के समक्ष अभिवादन किया और छत्तीस हाथी भेट किए। मंगलवार की सुबह राय ने अपने घोड़े भेजे। रविवार को सुबह सूर्योदय के उपरांत राय स्वयं दुर्ग से बाहर आया और शाही छत्र के समक्ष अभिवादन करने के पश्चात् उसे वापस जाने की अनुमति दी गई ताकि वह अपना कोष भेज सके। राय का कोष एकत्रित करने में सारी रात बीत गई और उसे शाही खजाने में रखा गया। 'इस राजधानी में जिसके चार नगर (दिल्ली से) चार मास की यात्रा पर स्थित हैं बारह दिन का विश्राम आवश्यक था ताकि मुख्य सेना उसके

आकार मिल सके। द्वार समुद्र के हाथी दिल्ली भेज दिए गए।' बाद में कुछ लेखकों का कहना कि बल्लालदेव ने माबर [illegible] लिए दिल्ली की सेना की सहायता की और फिर वह दिल्ली आया। यह दोनों ही कथन निराधार हैं। **खुसरो** इस विषय पर मौ है और उसका मौन महत्वपूर्ण है। बल्लालदेव के अधिकारी माबर में उपयोगी गाइड हो सकते थे किंतु वे उपलब्ध नहीं थे

10 मार्च 1311 को सैनिकों ने माबर के लिए कूच किया। उन्हें कठिन मार्ग पार करना था और प्रत्येक रात्रि वे ऊंट की पीठ पर ऊबड़–खाबड़ भूमि पर सोते थे। 'पांच दिन के कूच के पश्चात् जब माबर की सीमा आई तो उन्हें एक ऊंचा पहाड दिखाई दिया जो उस प्रदेश की रक्षा कर रहा था किंतु उसके दोनों ओर एक एक दर्रा था जिसमें एक तर्मली और दूसरा ताबर कहलाता था उन्होंने बाण की गति की भांति दर्रे पार किए और फिर नदी (कावेरी) के रेतीले तट पर अपने शिविर लगाए। तत्पश्चात वे मदुरा नामक एक दुर्ग के निकट पहुंचे जिस पर नगाड़ों की गड़गड़हाट से उन्होंने विजय प्राप्त कर ली। (मार्च) मास के एक बहुस्पतिवार के दिन सेना कावेरी नदी के तट से वीर पांड्या की खोज में बीर ढोल (वीर चोला) की ओर चली। दोनों भाइयों की बीच गृहयुद्ध छिड़ा होने के कारण विरोध संभव नहीं था। दोनों ही भागने के विषय में सोच सकते थे। **खुसरो** का वर्णन कुछ लेखकों के इस कथन को बिल्कुल रद्द कर देता है कि दोनों भाइयों में से एक ने दिल्ली सेना से कुमक की याचना की। जैसा कि हम देखेंगे काफूर ने दोनों ही भाइयों पर आक्रमण किया।

जब शाही सेना वीर चोला के निकट पहुंची तो वीर पांड्या ने अरब सागर के एक टापू में भागना चाहा किंतु कुछ कारणवश ऐसा संभव न हो सका। अस्तु जिस समय शाही सेना वीर चोला के निकटवर्ती प्रदेश में थी तो वीर पांड्या और उसके रायों ने भागने का निश्चय किया। संध्याकाल के पश्चात् वह काबम नगर भाग गया और वहां से कुछ सैनिक और धन लेकर वह कंदूर (कन्नानूर) नगर चला गया। चूंकि वह यहां भी सुरक्षित न रह सका इसलिए वह चीतों और हाथियों के जंगल में चला गया।

वीर चोला में सेना की भेंट कुछ मुसलमानों से हुई जो राय की सेवा में थे। चूंकि राय भाग गया था इसलिए उन्हें आत्मसमर्पण करना पड़ा। इस्लाम धर्म त्यागने के अभियोग में उन्हें मार डालना चाहिए था किंतु उन्हें क्षमा कर किए जाने का निश्चय किया गया।

बाढ़ की भांति जब शाही सेना ने वीर चोला में प्रवेश किया तो उसने देखा कि 'वीर, (कुवां) भाग गया है और 'ढोल' (नगाड़ा) खाली है। मुख्य सेना वीर चोला में ही रुकी रही किंतु यद्यपि अंतर्देश बाढ़ से जलमग्न हो रहा था यहां तक कि कुएं और सड़क में भेद करना संभव नहीं था फिर भी सैनिक दल वीर पांड्या की खोज के लिए भेजा गया जिन्होंने एक गांव देखा जहां हिंदुओं ने अपने शिविर इस प्रकार लगा रखे थे जैसे पानी की सतह पर बुलबुले होते हैं किन्तु सेना के निकट आते ही वे लुप्त हो गए। [illegible] के समय यह समाचार प्राप्त हुआ कि राय कंदूर (कन्नार) में है और सेना वर्षा में उस ओर रवाना हुई। किंतु राय वहां नहीं हिन्दू अपना खोया हुआ 'सर' खोज रहे थे और इस खोज में उन्होंने अपने 'सर' गंवा दिए। कुछ रायों ने हताश होकर [illegible] होगा। 'जब बादल हटे तो बहुमूल्य मोतियों और रत्नों से लदे एक सौ आठ हाथी पाए गए और उन्हें शाही कोषागार अधिकारियों को सौंप दिया गया।' यह शंका हुई कि वीर पांड्या जलकोट (जलदुर्ग) चला गया होगा 'जो उसके पूर्वजों का [illegible] नगर था।' वे शीघ्रता से उस स्थान की ओर चले किंतु जलकोट से आने वाले व्यक्तियों ने कहा कि राय वहां नहीं है। उसने अपने कुछ अनुचरों सहित जंगल में शरण ली थी और इस प्रकार अपने जीवन की रक्षा की। वरी पांड्या का पता लगाना आवश्यक था क्योंकि वही ऐसी संधि कर सकता था जो प्रदेश पर बाध्य हो किंतु मलिकों की परिषद ने निश्चय किया कि वह एक निराशाजनक कार्य है और वह कन्नानूर (कंदूर) लौट आए।

दूसरे दिन यह समाचार मिला कि बरमतपुरी में एक सोने का मंदिर है और यह कि राय के हाथी उसके पास इस प्रकार मंडरा रहे हैं जैसे सूर्य के पास बादल। सेना ने उस स्थान की ओर कूच किया ओर अर्धरात्रि के समय वहां पहुंची। दूसरे दिन सुबह उन्होंने दो सौ पचास हाथी पकड़े। तदुपरांत काफूर स्वर्ण मंदिर की ओर मुड़ा जिसकी भीतरी छतों और दीवारों में माणिक्य और हीरे बड़े थे। विध्वंस और लूट पूर्णरूपेण की गई। जहां पहले रत्न चमकते थे वहां तलवार चमकी। जहां गुलाबजल और कस्तूरी से कीचड़ उत्पन्न होता था वहां अब धूल और रक्त का कीचड़ हो गया और उस भूमि से जो निरंतर कस्तूरी से महकती रहती थी रक्त की दुर्गंध आने लगी। सोने की मूर्तियां जिन्हें 'लिंगे–महादेव' कहते थे टुकड़े टुकड़े कर डाले और नारायण की मूर्ति भग्न गिर पड़ी। गड़े हुए धन का पता लगाने का पूरा प्रयत्न किया गया। तत्पश्चात् वह सैनिक दल वीर चोला में स्थित मुख्य सेना की ओर चला और वहा 3 अप्रैल 1311 को पहुंची। वीर चोला का मंदिर नींव तक खोद डाला गया।

दस दिन पश्चात् लाल छत्र गतिशील हुआ। 7 अप्रैल 1311 को वह कानम नगर पहुंची और वहां से पांच दिन पश्चात् वह मदुरा जो वीर पांड्या के भाई सुंदर पांड्या की राजधानी थी पहुंची। राय अपनी रानियों सहित भाग गया था और जगनार के मंदिर में द

या तीन हथी छोड़ गया था। काफूर इतना क्रोधित था कि उसने इस मंदिर में आग लगा दी। यह कथा कि मलिक काफूर ने 'सतबन्द रामसर' में एक मस्जिद निर्मित की और हिंदू रायों में इतनी सहिष्णुता थी कि उन्होंने उस नहीं तोड़ा, बाद की एक मनगढ़ंत कहानी है। यह फरिश्ता में मिलती है। यदि काफूर ने मस्जिद बनाई होती तो **अमीर खुसरो** ने अवश्य उसका उल्लेख किया होता। यदि फरिश्ता के समय में रामेश्वरम, में कोई मस्जिद थी तो वह बाद के समय की बनी हुई रही होगी।

सेना का कार्य समाप्त हो चुका था। **खुसरो** के अनुसार उसने 512 हाथी, 5,000 घोड़े और 500 मन बहुमूल्य रत्न अधिकृत किए थे। 25 अप्रैल 1311 को सेना ने लौटने के लिए कूच किया। 19 अक्टूबर 1311 के दिन अलाउद्दीन ने काफूर और सेना के अधिकारियों का स्वागत करने के लिए एक आम दरबार किया। प्रमुख मलिक और टीका लगाने वाले राय पंक्तियों में खड़े हुए और 'बिस्मिल्लाह' (अल्लाह के नाम से) की ध्वनि सैनिकों के मुख से निकल पड़ी। **खुसरो** कहता है कि 'सेनापति ने ऐसी सेवा की थी जिसका शब्दों में वर्णन असंभव है। धर्मयुद्ध की परंपरा पुनर्जीवित करने के लिए उसके साथ अमीरों और विशिष्ट व्यक्तियों ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी।' यदि हम 'धर्मयुद्ध' की 'लूट' से बराबरी करें तो संभवतः फरिश्ता का यह कथन सत्य है कि अलाउद्दीन को प्राप्त हुई संपत्ति महमूद गजनवी की प्राप्ति से कही अधिक थी। माबर को छोड़ कर जहां रायों को नहीं पाया जा सकता था, अन्य कही भी मंदिरों को नहीं लूटा गया। हमलावरों ताकतों को किसी भी अवस्था में क्षमा नहीं किया जा सकता। फिर भी धुर दक्षिण के दोनों अभियानों की सामरिक नीति हमें स्तब्ध कर देती है। अलाउद्दीन को मनोवंछित दोनों पदार्थ मिल गए–उसकी सर्वसत्ता की स्वीकृति और कम से कम प्राणों को हानि से अधिकतम संपत्ति जबकि उसकी विलयन विरोधी विवेकी और दूरदर्शी नीति के मध्ययुग में काफूर को दक्षिण और धुर दक्षिण में अत्यंत सफल अभियान ले जाने योग्य बनाया।

देवगिरी में मलिक काफूर

दिल्ली से वापिस होने के कुछ समय पश्चात् रामदेव की मृत्यु हो गई और उसके पुत्र भिल्लम ने दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। काफूर को जिसे संभवतः मलिक नायब (रीजेण्ट या वैयाक्तिक प्रतिनिधि) की उपाधि दे दी गई थी, *माबर अभियान के कुछ समय पश्चात् विद्रोह का दमन करने और प्रदेश पर स्थायी अधिकार करने के लिए भेजा गया। मलिक काफूर के आने की खबर* सुनकर भिल्लम भाग गया और काफूर ने बिना युद्ध किए देवगिरी पर अधिकार कर लिया। इसामी काफूर के शासनकाल की बहुत *प्रशंसा करता है। काफूर की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि मराठा सरदारों को किस प्रकार अपने अनुकूल बनाए और इस कार्य* में वह सफल हुआ।

कुतुबुद्दीन मुबारक का देवगिरी विजय

अलाउद्दीन की यह नीति थी कि दक्षिण के किसी क्षेत्र का दिल्ली साम्राज्य में विलय न करे क्योंकि सुदूर स्थिति दिल्ली से ऐसे प्रदेश का उचित प्रशासन संभव नहीं था। भिल्लम के विद्रोह के फलस्वरूप उसके पास काफूर को स्थाई अधिकारी बना कर भेजने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था और काफूर ने उन समस्त सरदारों को, जिन्होंने समर्पण कर दिया था, पत्र लिख कर उन्हें उनके प्रदेशों में पुनर्स्थापित कर दिया था। जब सुल्तान ने अचानक काफूर को दिल्ली बुलाया तो उसने आइनुलमुल्क को कार्याधिकार सौंप दिया और तत्पश्चात् आइनुलमुल्क को काफूर ने दिल्ली की समस्त सेना सहित वापस होने की आज्ञा दी थी। उचित तो यह होता कि राज्य किसी यदुवंशी राजकुमार को सौंप दिया जाता जिसे वहां की जनता स्वीकार कर सकती और जो सुल्तान और दिल्ली के प्रति स्वाभिभक्त होता। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसा कोई राजकुमार उपलब्ध नहीं था। मुबारक ने रामदेव के जामाता हरपिालदेव के देवगिरी में कुछ प्रदेश दिए थे जिन पर वह दिल्ली के अमीर के अधीनस्थ रहे बिना शासन कर सकता था। इसके अतिरिक्त राघव नामक व्यक्ति ने जिसे खुसरो रामदेव का नायब और वजीर कहता है, 'केंद्रीय सत्ता की कुछ मान–मर्यादा देवगिरी में बनाए रखने का प्रयत्न किया। ऐसा प्रतीत होता है कि राघव दिल्ली के प्रति कुछ सीमा तक निष्ठावान था क्योंकि वह सिंहासन के समक्ष आज्ञाकारी बन कर खड़ा रह चुका था।'

राज्यारोहण के तुरंत पश्चात् मुबारक देवगिरी की और कूच करना चाहता था किंतु दरबारी अमीरों का यह विचार था कि ऐसी मुहिम खतरे से खाली न होगी। पहले उन्हें उसकी सत्ता दृढ़ बनाने के लिए समय चाहिए। शासनकाल के द्वितीय वर्ष (अप्रैल 1317 के आरंभ में) मुबारक ने इस अभियान के लिए कूच किया। जब सेना तिलपट के निकट एकत्रित हुई उस समय उसका शिविर तीन 'फर्संग' (दस से बारह मील) तक फैला था। कूच के समय कोई विशेष घटना नहीं हुई। देवगिरी में सेना का कोई विरोध नहीं हुआ और मराठा सरदारों ने कूच के बीच या देवगिरी पहुंचने पर सुल्तान के प्रति अधीनता प्रकट की। राधौ और हरिपाल देव प्रमुखतः अनुपस्थित थे। वे भाग गए थे और खुसरो खां को मलिक कुतलुग **'अमीरे शिकार'** सहित उनका पीछा करने के लिए भेजा गया। **अमीर खुसरो** के भौगोलिक विवरण स्पष्ट नहीं हैं। राधौ दस हजार अश्वारोहियों सहित पहाड़ियों में भाग गया। राधौ का और

आगे पीछा करना असंभव था और इसलिए प्रयास तयाग दिया गया। जब सेना वापस हो रही थी तो यह समाचार प्राप्त हुआ हरपिालदेव उन्हीं पहाड़ियों में छिपा हुआ है। खुसरो खां ने उसे बंदी बनाने का कार्य मलिक इख्यिारूद्दीन को सौंपा छुटपुट युद्धों के पश्चात् राय हरिपाल घायल हो गया और उसे बंदी बना लिया गया। उसकी गर्दन में रस्सी बांध कर समक्ष लगाया गया और गुबारक ने उसके वध के आदेश दे दिए।

वारंगल की दूसरी घेराबंदी

ऐसा प्रतीत होता है कि वारंगल के प्रताप रूद्रदेव ने कई वर्षों से अपना खराज नहीं भेजा था। जब खुसरो राघव का पीछा क के पश्चात् लौटा तो सुलतान ने अपने सर्वोत्तम अधिकारियों सहित उसे वारंगल भेजा।। अलाउद्दीन का प्रसिद्ध सुरक्षा मंत्री ख्वा हाजी पुनः इस अभियान का सर्वेसर्वा नियुक्त किया गया। उसके बाद सेना में दूसरा महत्व मलिक कुतलुग अमीरे शिकार प्राप्त था। वारंगल की दूसरी घेराबंदी भी पहले की भांति थी। खुसरो खां ने अनाम कोण्डा पहाडियों से वारंगल का सर्वेक्ष किया। द्वार के निकट एक साधारण युद्ध के पश्चात् दुर्ग की रक्षक सेना दुर्ग के भीतर भाग गई। अवरोधक सेना ने दुर्ग के द्वार आग लगाने का प्रयत्न किया किंतु संभवतः वह सफल नहीं हुई क्यों कि उनका दूसरा प्रयास यह था कि उन्होंने दुर्ग के चारो अपने शिविर लगाए। दिवान मेहता के दो रात्रि आक्रमणों को अवध के राज्यपाल और चंदेरी के राज्यपाल ने विफल कर दि अवरोधक सेना के सैनिक दुर्ग की बाहरी दीवार के बुर्ज पर चढ़ने में सफल हो गए और प्रताप रूद्र का एक मंत्री अनिल मेहता यु में बंदी बना कर खुसरो खां के समक्ष लाया गया जिसने उसे प्राण दान दे दिया। भयंकर संघर्ष के पश्चात् अवरोधक सेना ने मि के समस्त दुर्ग पर अधिकार कर लिया और वह दो अधिकारियों मलिक अंबर तथा शिहाब अरब की देखरेख में एक सौ पाच ग की एक 'पाशेब' बनाने का विचार कर रहे थे कि राय ने संधि की शर्तें निश्चित करने के लिए अपने दूत भेजे।

राय ने एक सौ से अधिक हाथी, एक हजार घोड़े तथा वह खजाना भेजा जो वह अब दे सकता था। खुसरो ने बदरकोट कैला वसूधन, एलोर और कोबार नामक पांच जिलों पर अधिकार की मांग की तथा भविष्य में खराज में 60 सोने की ईंटें वार्षिक खरा लेने पर राजी हो गया। राय ने वचनबद्ध होने के लिए एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर कर दिए और तीन दिन तक सूर्योदय क सम अपने दुर्ग के बुर्ज से शाही छत्र के अभिवादन के लिए उपस्थित हुआ। छत्र, बेंत और पताका जो सुल्तान अलाउद्दीन ने राय क दिए थे आत्मसमर्पण प्रदर्शित करने के लिए बाहर लाए गए और फिर उन्हें नए सुल्तान की ओर से भेंट स्वरूप वापस कर दि गया। सुल्तान एक मास से एलोरा के निकट विश्राम कर रहा था और खुसरो खां वहां आकर उस से मिल गया। ऐसा प्रतीत हो है कि सेना वारंगल के हाथियों सहित सुल्तान से नर्वदा नदी के निकट मिली।

जब सुल्तान ने दक्षिण के लिए प्रस्थान किया था उस समय उचित था कि वह कोई अनुभावी आलाई अधिकारी अपनी अनुपस्थि में रीजेंट नियुक्त कर जाता किंतु ऐसा करने के बजाए उसने इस पद के लिए एक दास लड़का चुना जो अलाउद्दीन के समय यार याल्दा कहलाता था किंतु जिसका वास्तविक नाम शाहीन था। सुल्तान ने उसे वफा मलिक की उपाधि दी और समस्त खजान असावधानी से उस अनुभवहीन और अविश्वासी के हाथ में सौंप कर दिल्ली से चला गया। दिल्ली लौटने पर सुल्तान ने सर्वप्र गुजरात के 'राज्यपाल जफर खां का वध कर दिया और उनके कुछ दिन पश्चात् उसने वफा मलिक के वध का आदेश द दिय वह किसी प्रकार सुल्तान के विरुद्ध षड्यंत्र में सम्मिलित था किंतु वास्तविक तथ्यों की सूचना नहीं है।

सुल्तान को उसकी संकटमय स्थिति का आभास कराने के बजाए असदुद्दीन के षड्यंत्र का उस पर उल्टा प्रभाव पडा। उसन असावधान रक्तपिपासु बना दिया। दिल्ली वापस होने पर उसने अपने पिता के अमीरों तथा स्वयं नियुक्त अधिकारियो आज्ञाकारी पाया। उसने गुजरात और देवगिरी दो प्रांतों की विजय का यश प्राप्त किया था और समस्त साम्राज्य में थी शांति ओर स्थिरता थी।

इसके फलस्वरूप उसके मन से साम्राज्य के पतन का भय और विद्रोह तथा विक्षोभ का खतरा मिट गया। युवावस्था का मद शक्ति संपत्ति, हाथी, घोड़े, महत्वाकांक्षा, सफलता, विजय, स्थिरता, सुरक्षा और नए तथा पुराने अमीरों के आज्ञापालन आदि क फ उसकी असावधानी, आतंक और बर्बरता बढ़ गई। उसके चारित्रिक सद्गुण लुप्त हो गए। वह बडा क्रोधी, वार्तालाप म प्रतिकारी और अत्याचारी हो गया। वह निर्दोष रक्त बहाने लगा,और अपने निकटवर्तियों से वार्तालाप में अशिष्ट और अ गया। विशेषरूप से देवगिरी के वापस होने के पश्चात् महल के भीतर या बाहर के किसी व्यक्ति का यह साहस न रा राज्यकीय विषयों पर निर्भीकता ने उस से बात करता।

राजमहल का शिष्टाचार समाप्त हो गया। सुल्तान ने नमाज पढ़ना त्याग दिया और रमजान मास में वह सार्वजनिक भोजन करने लगा। तौबा नामक एक गुजराती भाण्ड को सुल्तान ने इतनी स्वतंत्रता दे रखी थी कि वह मलिकों की स्त्रियों और माताओं को गाली देता था। वह उनके वस्त्र गंदे कर देता था या कभी–कभी सुल्तान भी खुली सभा में स्त्रियों की भांति वस्त्र आभूषण पहन कर आ जाता था। हमें यह देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ऐसी परिस्थिति में सुल्तसान अलाउद्दीन का कोई वरिष्ठ अधिकारी सुल्तान के इतने निकट नहीं था कि वह उसे परामर्श देने का साहस कर सकता। वे महल में धैर्य से अपना अपमान सहन करते थे और उसे उसके भाग्य पर छोड़ दिया था।

मलिक यकलखी का विद्रोह : माबर में खुसरो खां

देवगिरी से प्रस्थान के पूर्व सुल्तान के अलाउद्दीन के एक हिंदू दास अधिकारी 'मलिक यकलखी' को, जो कई वर्षों से 'बरीदे ममालिक' (केंद्रीय गुप्तचर अधिकारी) था, उस प्रांत का राज्यपाल नियुक्त किया था। यकलखी ने विद्रोह कर दिया और 'शम्सुद्दीन' का खिताब धारण कर अपने नाम के सिक्के चलाए। देवगिरी के बाहर उसने एक लकड़ी का दुर्ग (कठगढ़) बनवाया किंतु युद्ध की तैयारी करने के बजाए वह मद्यपान और संगीत में व्यस्त रहने लगा। यह समाचार पाकर मुबारक दो दिन तक 'अजगर सांप की भांति कुंडली मार कर बैठा रहा।' तीसरे दिन उसने खुसरो खां को आदेश दिए कि वह देवगिरी में हुए विद्रोह का दमन करे और फिर माबर की ओर बढ़े। पांच सर्वोच्च अधिकारियों यागदा का पुत्र तलबगा, शादी सतीला, कुतलग 'अमीरे शिकार', ताजुलमुल्क और ख्वाजा हाजी, सुरक्षा मंत्री को उसके साथ जाने के आदेश दिए गए। खुसरो को देवगिरी में कोई कठिनाई नहीं हुई। जब यह घाटी सगौना पहुंचा तो देवगिरी के तीन सर्वोच्च अधिकारी तलबागा नागौरी, नासीरूद्दीन और शम्स मलिक ने उसे पत्र लिखे कि 'यद्यपि वे एक मूर्ख के बंदी हैं किंतु वे सुल्तान के प्रति निष्ठावान हैं और यथासमय उससे मिल जाएंगे।'. अंत में इमरान नामक एक व्यक्ति ने देवगिरी से दो 'फर्सग' दूर अपनी सेनाएं एकत्रित की और यकलखी को बंदी बना कर शाही सेना को सौंप दिया। जब यकलखी दिल्ली पहुंचा तो सुल्तान ने उसके नाक कान काट डालने के आदेश दिए और उसके समस्त प्रमुख समर्थकों का वध कर दिया गया। फिर भी बाद में यकलखी सामाना का राज्यपाल नियुक्त किया गया। मलिक आइनुलमुल्क मुल्तानी देवगिरी का राज्यपाल नियुक्त किया गया। देवगिरी की (राजस्व और लेखा) का पद आला दबीर के एक पुत्र ताजुलमुल्क को प्रदान किया गया और मुजीरूद्दीन अबू राजा उपराज्यपाल नियुक्त किया गया। लोगों को यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि मुबारक ने ऐसी उत्तम नियुक्तियां कीं। इन अनुभवी अधिकारियों ने प्रांत को शीघ्र ही सुव्यवस्थित कर दिया।

खुसरो खां को माबर में कोई सफलता नहीं मिली। बरनी के अनुसार माबर के दोनों राय खुसरो खां के लिए कुछ हाथी छोड़ कर अपनी राजधानी से भाग गए। 'तारीखे मुबारकशाही' के अनुसार खुसरो ने मुतली पर अधिकार कर लिया जहां उसे छब्बीस हाथी और [illegible] दिरहम तौल का एक हीरा प्राप्त हुआ। इसामी का कथन है कि जब खुसरो ने पाटन पर जिसका अमीर खुसरो ने भी उल्लेख किया है, आक्रमण किया तो सिराज तकी नामक एक धनी मुसलमान व्यापारी के अतिरिक्त सब लोग वहां से भाग गए। खुसरो ने तकी की संपत्ति पर अधिकार कर लिया और उसकी पुत्री से विवाह करने का निश्चय किया। अभागे व्यापारी ने अपनी पुत्री की मानहानि न देखने की दृष्टि से आत्महत्या कर ली। सभी आधार इस विषय पर सहमत हैं कि शाही सेना की गतिविधि मानसून के कारण ठप्प हो गई। एक ओर खुसरो खां और दूसरी और उन अधिकारियों के बीच जो सेना के वास्तविक सेनानी थे, तनाव से सेना और अधिक बेकार हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी टापू में भाग कर या किसी दुर्ग पर अधिकार कर खुसरो किसी न किसी प्रकार मुबारक के चंगुल से छुटकारा पाना चाहता था।

तुगलकों के आक्रमण

खिलजियों के पतन के पश्चात् दिल्ली में तुगलक वंश की स्थापना हुई। तुगलक सुल्तानों ने दक्षिण भारत के हिंदू राजवंशों की अवशिष्ट सम्पत्ति को अपहृत करने एवं उनकी शक्ति को नष्ट करने का निश्चय किया। दिल्ली में सत्ता–परिवर्तन का लाभ उठाकर कुछ हिन्दू राजाओं ने विद्रोह कर दिये और वार्षिक कर देने बन्द कर दिये थे।

तुगलकों ने दक्षिण भारत की विजय योजना में सर्वप्रथम वारंगल को लक्ष्य बनाया। काकतीय शासक प्रतापरूद्र ने स्वतंत्रता घोषित कर, कर देना बन्द कर दिया था और अपनी शक्ति में काफी वृद्धि कर ली थी। अतएव गियासुद्दीन तुगलक ने अपने पुत्र जूनाखां अपरनाम उलगुखां को 1321 ई. में वारंगल पर आक्रमण करने के लिए भेजा। उलुगखां देवगिरी होता हुआ वारंगल पहुंचा पहुंचा और उसने उसके दुर्भेद्य दुर्ग की घेराबन्दी कर दी। वारंगल के दुर्ग में 70 बुर्ज थे जिनमें से प्रत्येक की सुरक्षा का उत्तरादायित्व एक नायक को दिया गया था। प्रतापरूद्र की सेना ने आक्रान्ताओं का डटकर मुकाबला किया और उनकी हिम्मत पस्त कर दी।

इसामी के अनुसार उलुगखां ने प्रतापरूद्र की सेना को घेरा लिया था, परन्तु छः माह की घेराबन्दी के बाद भी उसे कोई सफलता नही मिल सकी। इससे गियासुद्दीन का धैर्य टूटने लगा और उसने उलुगखां को पत्र लिखकर मुसलमान सेना की सफलता में विलम्ब के लिए अपना असन्तोष व्यक्त किया। काकतीय सेना बड़ी बहादुरी से दुर्ग की रक्षा करती रही, किन्तु जब रसद का अभाव हो गया, तो उसका मनोबल गिरने लगा। तुगलक सेना ने वारंगल के दुर्ग को खाद्य—सामग्री पहुंचाने वाले समस्त साधनों एवं संचार—व्यवस्था को अवरुद्ध कर दिया था। इस गंभीर संकट में पड़ जाने पर रूद्रदेव ने विवश होकर संधि वार्ता प्रारम्भ की। उसने इस शर्त पर अपना कोष, हाथी तथा वार्षिक कर आदि देने का प्रस्ताव रखा कि तुगलक सेना उसके राज्य से वापस चली जाय, किन्तु उलगुखां को काकतीय राज्य पर अधिकार करने का आदेश दिया गया था। अतः उसने रूद्रदेव की शर्त को अस्वीकार कर दिया। इससे उत्तेजित होकर काकतीय सेना ने आक्रान्तओं की संचार—व्यवस्था को काट दिया जिसके परिणामस्वरूप उन्हें दिल्ली में समाचार मिलने बन्द हो गये। उलुगखां की सेना में अव्यवस्था फैल गई अनेक सैन्य—अधिकारियों आदि ने उसका साथ छोड़ दिया। इस गड़बड़ी के कारण के विषय में सभी साक्ष्य एकमत नहीं हैं।

इसामी ने लिखा है कि उलुगखां ने उबैद नामक एक ज्योतिषी की गणना के आधार पर वारंगल को एक निर्धारित तिथि तथा शीत लेने की भविष्यवाणी कर दी थी। साथ ही यह भी घोषणा की यदि उस ज्योतिषी की गणना गलत सिद्ध हुई तो उसे प्राणदंड दिया जायेगा। उक्त ज्योतिषी द्वारा बतलाई गई तिथि तक उलुगखां असफल रहा। इसलिए अपने जीवन की सुरक्षा के लिए उबैद ने सुल्तान गियासुद्दीन की मौत की झूठी अफवाह उड़ा दी। चूंकि दिल्ली से संपर्क टूट चुका था और, अतएव वारंगल में इस खबर की पुष्टि नहीं की जा सकी और तुगलक सेना में अव्यवस्था व्याप्त हो गई।

इब्नबतूता के अनुसार उलुगखां अपने पिता गियासुद्दीन के विरुद्ध विद्रोह करना चाहता था और उसी ने सुल्तान की मौत की झूठी खबर उड़ाने के लिए उबैद से कहा था। उलुगखां का अनुमान था कि ऐसा करने से उसे सेना का समर्थन प्राप्त हो जायगा। परन्तु इस खबर का विपरीत प्रभाव हुआ और सेना ने उलुगखां का ही साथ छोड़ दिया। इसका लाभ उठाकर प्रतापरूद्र ने तुगलक सेना को भारी क्षति पहुंचाई।

बरनी ने लिखा है कि उबैद ने सुल्तान की मृत्यु की अफवाह फैलाने के साथ—साथ यह भी प्रचार किया था कि दिल्ली के राजसिंहासन पर एक राजकुमार (उलुगखां के भाई) ने अधिकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त उसने सैनिकों का यह कहकर भी भड़काया था कि उलुगखां उन्हें मरवा देना चाहता है। **ईश्वरी प्रसाद** तथा **एम. हुसैन** ने **बरनी** का विवरण सही माना है। परन्तु **वुलजलेहेग** ने **इब्नबतूता** का। आगे के घटनाक्रम को देखते हुए **इब्नबतूता** का कथन सही प्रतीत होता है। तथ्य कुछ भी हो, प्रतापरूद्र ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया और आक्रान्ताओं को भारी क्षति पहुंचाई। उलुगखां के कुछ उच्च सैन्य अधिकारियों ने काकतीय शासके से सन्धि कर ली और प्रतापरूद्र ने गंगा एवं सोमनाथ की शपथ लेकर कहा कि वह तुगलक सेना के वापसी के दौरान उस पर आक्रमण नहीं करेगी। उलुगखां अपनी असन्तुष्ट एवं विद्रोही सेना के साथ देवगिरी पहुंचा जहां उसका भाई महमूदखां गवर्नर था। महमूद ने उसे सूचित किया कि सुल्तान गियासुद्दीन जीवित है। यह सूचना मिलने पर षड्यन्त्रकारी सैन्य—अधिकारियों आदि को बंदी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया और वहां उन्हें मृत्यु दंड दिया गया।

अपनी सेना के प्रति गियासुद्दीन का विश्वास समाप्त हो गया था। इसलिए दूसरी सेना भर्ती की गई और 1323 ई. में उसे उलुगखां के ही नेतृत्व में वारंगल पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिए भेजा गया। इस अभियान में तुगलक सेना ने बहुत सतर्कता से काम लिया और यायायात के मार्गों की सुरक्षा की कड़ी व्यवस्था की। बीदर पर अधिकार करने के उपरान्त उलुगखां ने वारंगल के लिए प्रस्थान किया और वहां पहुंच कर बड़ी शीघ्रता एवं सुदृढ़ता से दुर्ग को पूर्ण रूप से घेर लिया। प्रतापरूद्र अपने सम्बन्धियों, परिवार के सदस्यों, राजकोष तथा हाथियों सहित दुर्ग के अन्दर था और इस अप्रत्याशित आक्रमण का सामना करने के लिए वह तैयार नहीं था। तथापि उसने धैर्य से काम लिया और किले के घेरे को अधिक से अधिक समय तक चलाकर आक्रांता सेना को थकाने के पीछे खदेड़ देने का निश्चय किया। यह घेरेबन्दी पांच महीने तक चलती रही। इसके उपरान्त काकतीय सेना बीमारी तथा रसद के अभाव आदि पीड़ित हो गई। अतः विवश होकर रूद्रप्रताप को आत्मसमर्पण के लिए उलुगखां के पास अपने दूत भेजने पड़े। उन दूतों ने प्रतापरूद्र की सुरक्षा एवं दुर्ग का घेरा उठाने का प्रस्ताव रखा। परन्तु तुगलक सेना ने किले को अधिकृत कर लिया और काकतीय राजधानी को भारी क्षति पहुंचाई। प्रतापरूद्र अपने सम्बन्धियों तथा कोष के साथ बन्दी बनाकर कद्रखां के संरक्षण में दिल्ली भेज दिया गया। किन्तु गियासुद्दीन के समक्ष इस अपमानपूर्ण स्थिति में उपस्थित किए जाने से पहले ही उसने आत्महत्या कर ली।

तथ्य कुछ भी रहा हो, इस विजय के उपरान्त काकतीय राज्य दिल्ली सल्तनत में शामिल कर लिया गया और इसे कई जिलों में विभाजित कर उन्हें तुर्क अमीरों तथा अधिकारियों के अधीन कर दिया गया। बरनी के अनुसार वारंगल का नाम सुल्तानपुर

सुल्तानपुर कर दिया गया। उलुगखां संपूर्ण काकतीय राज्य का गवर्नर बना। उसने प्रतापरूद्र के मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियों को पदच्युत नहीं किया और उनके साथ उदारतापूर्ण व्यवहार किया। तथापि काकतीय राज्य में मुस्लिम सत्ता सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकी।

उलुगखां संभवतः वारंगल से ही पाण्डय राज्य की ओर बढ़ा होगा। **स्थानीय इतिवृत्तों** के अनुसार मदुरा (माबर) पर तुगलकों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। इसक पुष्टिकरण **बरनी** ने भी किया हैं उसने 1327 ई.० में मदुरा की गणना दिल्ली सल्तनत के प्रान्तों में की हैं। परन्तु इस तिथि से पूर्व उलुग खां द्वारा माबर के विरुद्ध किए गए अभियान तथा इसकी विजय आदि का विवरण मुस्लिम इतिहासकारों ने नहीं दिया है।

दक्षिण में तुगलकों का पतन और विजयनगर तथा बहमनी राज्यों का उदय

दिल्ली सल्तनत के साथ ही साथ विजयनगर और बहमनी राज्यों का उत्थान हुआ जिन्होंने 200 से अधिक वर्षों तक विंध्य पर्वत के दक्षिण में स्थिति भारतीय भू–भाग पर अपना प्रभुत्व कायम रखा। यद्यपि ये दोनों राज्य एक–दूसरे से निरंतर लड़ते रहे, किन्तु उन्होंने अपने–अपने नियंत्रणाधीन प्रदेशों में कानून और व्यवस्था बनाए रखा और कुल मिलाकर स्थायी शासन प्रदान किया जिसके कारण व्यापार और वाणिज्य में वृद्धि हुई। कई शासकों ने कृषि के विकास पर अपना ध्यान केंद्रित किया एवं शानदार भवनों से युक्त नगरों और राजधानियों की स्थापना की। उनमें से कई शासक कला और संस्कृति के महान संरक्षक भी थे।

इस प्रकार, 14वीं सदी के मध्य से उत्तर भारत के विपरीत दक्षिण भारत में दो बड़े–बड़े प्रादेशिक राज्यों का उदय हुआ और उन्होंने दीर्घ काल तक प्रभावी रूप से अपना अस्तित्व कायम रखा। पंद्रहवीं सदी के अंत में बहमनी राज्य के विखंडन और बाद में सन् 1565 ई. में तालीकोटा के युद्ध में पराजय के बाद विजयनगर साम्राज्य के विघटन के कारण एक नई स्थिति उत्पन्न हुई। इसी समय में एक यूरोपीय शक्ति यानी पुर्तगालियों ने एशियाई मंच पर कदम रखा और अपनी नौसैनिक शक्ति के बल पर समुद्रों में तथा उनके सीमावर्ती क्षेत्रों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने तथा समुद्री व्यापार पर कब्जा करने का प्रयास किया।

विजयनगर साम्राज्य-का बहमनी राज्य के साथ संघर्ष

विजयनगर राज्य के उद्‌भव के संबंध में विद्वानों के बीच मतैक्य नहीं है। यद्यपि उक्त राज्य की स्थापना में 1336 ई. में हरिहर और उसके भाई बुक्का की भूमिका को प्रायः स्वीकार किया जाता है, किंतु उस परिवार की पृष्ठभूमि अभी भी अस्पष्ट बनी हुई है। परंपरा के अनुसार, उनका पांच भाइयों का परिवार था एवं वे वारंगल के काकतीयों के सामंत रह चुके थे। बाद में वे आधुनिक कर्नाटक में स्थित कम्पिली के राजा की सेवा में नियुक्त हो गए और धीरे–धीरे उन्नति करते हुए मंत्री बन गए। जब एक मुस्लिम विद्रोही को कम्पिली के शासक ने अपने यहां शरण दी तो मुहम्मद बिन तुगलक ने उक्त राज्य कौ रौंद दिया और अपनी सल्तनत में मिला लिया। कहा जाता है कि उस अवसर पर वे दोनों भाई पकड़ लिये गये एवं कैदियों के रूप में दिल्ली भेज दिए गए जहां उनसे इस्लाम कबूल कराया गया। शीघ्र ही कम्पिली में तुर्क शासन के विरुद्ध विद्रोह भड़क उठा और उन दोनों भाइयों को उस विद्रोह का दमन करने के लिए दिल्ली से वहां भेजा गया, किन्तु कम्पिली पहुंचने पर उन्होंने अपने नए धर्म का परित्याग कर दिया और विद्रोह को दबाने के बजाय उसमें शामिल हो गए। अनेक आधुनिक विद्वान इस पारंपरिक विवरण को मानने से इंकार करते हैं। उनके अनुसार, उन भाइयों के वारंगल की सेवा में रहने एवं बाद में पकड़े जाने और इस्लाम में धर्मांतरित किए जाने का कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। उनके अनुसार, हरिहर और बुक्का कर्नाटक के 75 नायकों में से थे जिन्होंने तुर्क शासन के विरुद्ध विद्रोह किया था एवं वे एक कट्टर शैव परिवार के थे। वे इस बात से इंकार करते हैं कि हरिहर और बुक्का का पहले कभी आंध्र से कोई संपर्क था। जो भी विवाद हो, हमारे ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि अपने प्रशासन तंत्र के निर्माण में विजयनगर शासकों ने न केवल चोल शासन की तमिल परंपराओं का, अपितु काकतीय और होयसलों की क्रमशः तेलुग और कन्नड़ परंपराओं का भी प्रयोग किया। इस प्रकार, वे मात्र प्रांतीय नेता ही नहीं थे, अपितु समस्त दक्षिण भारत का प्रतिनिधित्व करते थे।

तुगलक शासन के पतन के बाद दक्षिण भारत में एक जटिल स्थिति उत्पन्न हो गई थी। मैसूर के होयसलों जैसे कुछ प्राचीन राज्यों का अस्तित्व ह्रास की स्थिति में था, जबकि अनेक नए छोटे–छोटे राज्यों का उदय हो रहा था। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मदुरै के सुल्तान, वारंगल के वलेमा शासक एवं तेलंगाना के रेड्डी थे। बाद में विजयनगर राज्य के उत्तर में बहमनी राजय का अस्तित्व कायम हुआ। ये राज्य एक–दूसरे के विरुद्ध अनवरत लड़ते रहते थे। और आवश्यकता के अनुसार मैत्री भी कर लेते थे। इस प्रकार, मदुरै के सुल्तान के विरुद्ध संघर्ष में होयसल शासक बल्लाल तृतीय सन् 1342 ई. मे पराजित हुआ और मारा गया। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए हरिहर एवं उसके भाइयों नेएक विस्तारवादी अभियान शुरू किया और शीघ्र ही समूचा होयसल राज्य

विजयनगर के अधीन हो गया। इसके बाद मदुरै सल्तनत के विरुद्ध एक लंबा संघर्ष आरंभ हुआ। सन 137[illegible] ई. में मदुरै सल्तनत का अस्तित्व ही मिट गया। अब विजयनगर शासन दक्षिण में रामेश्वरम तक विस्तारित हो गया और उसमें केरल के कई भाग भी शामिल हो गए जो कभी मदुरै सल्तनत के अधीन थे। पूरब दिशा में हरिहर ने तुंगभद्रा नदी के तट पर विजयनगर नामक एक नई राजधानी स्थापित की थी। मान्यता के अनुसार, उसने संत विद्यारण्य के परामर्श पर ऐसा किया था। किन्तु एक अन्य परंपरा के अनुसार, इस नगर का बुक्का ने स्थापित किया था जो करीब 1356 ई. में अपने बड़े भाई हरिहर की मृत्यु के बाद राजा बना था और जिसने 1377 ई. तक शासन किया था।

विजयनगर का उत्तर में बहमनी सुल्तानों की बढ़ती हुई ताकत का मुकाबला करना पड़ा। बहमनी सुल्तानों को समय-समय पर वारंगल के वलेमा शासकों एवं तेलंगाना के रायों का समर्थन प्राप्त हुआ। वारंगल और तेलंगाना विजयनगर की बढती हुई ताकत से भयभीत थे एवं बहमनी को एक प्रकार के संतुलनकारी शक्ति या कारक के रूप में देखते थे।

बहमनी राज्य की स्थापना सन् 1347 ई. में अलाउद्दीन हसन नामक एक अफगान अमीर ने की थी जिसके परिवार ने अलाउद्दीन खिलजी की सेवा में रहते हुए उन्नति की थी। सत्रहवीं सदी के एक लेखक फरिश्ता द्वारा उल्लेखित एक लोकप्रिय अनुश्रुति के अनुसार, हसन ने गंगू नामक एक ब्राह्मण की सेवा करते हुए ख्याति और उन्नति प्राप्त की और इसलिए उसे हसन गंगू कहा जाता था। हम कह नहीं सकते कि यह अनुश्रुति कहां तक सही है। कुछ दूसरे इतिहासकारों के अनुसार सुल्तान बनने के बाद अलाउद्दीन हसन ने अपने परिवार की प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से इस्फंदर एवं बहमन जैसे ईरानी नायकों ने अपने परिवार का सबंध जोड़ने का प्रयास किया एवं अपने नाम के साथ 'बहमन शाह' भी लगा दिया। इसी उपाधि के कारण उसके द्वारा स्थापित राज्य को बहमनी राज्य कहा जाने लगा।

विजयनगर शासकों और बहमनी सुल्तानों के हित तीन पृथक और भिन्न क्षेत्रों में टकराते थे: तुंगभद्रा दोआब में, कृष्णा-गोदावरी डेल्टा में एवं मराठवाड़ा प्रदेश में। तुंगभद्रा दोआब कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदियों बीच का क्षेत्र था। अपने धन और आर्थिक संसाधन के कारण यह पहले पचिमी चालुक्यों और चोलों के बीच तथा बाद में यादवों और होयसलों के बीच विवाद की जड़ था। कृष्णा-गोदावरी घाटी बहुत उपजाऊ थी और वहां असंख्य बंदरगाह थे जिनके माध्यम से इस क्षेत्र का विदेश व्यापार संचालित होता था उस घाटी पर प्रभुत्व कायम करने के लिए होने वाले संघर्ष को अक्सर तुंगभद्रा दोआब हेतु संघर्ष के साथ जोड़ दिया जाता है किन्तु वास्तविक रूप से उस क्षेत्र के शासक गण अपने को बचाने के लिए कभी बहमनी राज्य के साथ हो जाते थे कभी विजयनगर के पक्ष में चले जाते थे। मराठा देश में मुख्य झगड़ा कोंकण और उसके मार्ग में आने वाले क्षेत्रों पर नियंत्रण को होता था। कोंकण एक पतली भू-पट्टी में स्थित था जो पश्चिमी घाटों और समुद्र के बीच पड़ती थी। इस प्रकार, इसका प्रमुख बंदरगाह गोवा दक्षिणी राज्यों के लिए काफी महत्त्व का था।

विजयनगर और बहमनी राज्यों के बीच सैनिक टकराव एक दीर्घकालिक संघर्ष था और यह वस्तुतः इन दोनों राज्यों के लगभग समूचे अस्तित्व काल के दौरान चलता रहा। इसके कई प्रभाव हुए: इसने दोनों राज्यों के सैन्य पहलू पर जोर दिया; साथ ही इन के बीच होने वाले टकराव को अक्सर धार्मिक रंग भी दे दिया जाता था। हालांकि इन दोनों के पक्ष में लड़ने के लिए राज्य धर्म का सहारा लेने की अपेक्षा अन्य कारणों या उद्देश्यों से ही उनका साथ देते थे। यद्यपि विजयनगर के शासक हिंदू हितों के रक्षक होने का दावा करते थे, किंतु तीर-धनुष से लैस मुस्लिम घुडसवारों की एक टुकड़ी अपने पास रखने में उन्हें कोई हिचक नहीं हुई जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं, उनका आरंभिक संघर्ष होयसल शासकों के विरुद्ध हुआ था जो हिन्दू ही थे। बाद में उड़ीसा के गजपति शासकों ने विजयनगर राज्य पर आक्रमण किया और उसके कुछ भागों पर कब्जा कर लिया जिसके परिणामस्वरूप उनके विरुद्ध विजयनगर-बहमनी गठबंधन हुआ। वारंगल के शासकों ने भी दीर्घ काल तक विजयनगर के विरुद्ध बहमनी सुल्तानों का साथ दिया।

किंतु धार्मिक आयाम की पूर्ण अपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसने विजयनगर के शासकों और बहमनी सुल्तानों के बीच के संघर्ष को अधिक कटु बना दिया जिसके कारण संघर्ष वाले क्षेत्रों और निकटवर्ती भूभागों में व्यापक स्तर पर विध्वंस हुआ और जान-माल की काफी क्षति हुई। दोनों पक्ष शहरों और गांवों को लूट लेते थे तथा जला देते थे; पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को कैद कर उन्हें दास बनाकर बेच देते थे और अक्सर धर्म के नाम पर अन्य बर्बरताएं करते थे।

तुंगभद्र दोआब हेतु संघर्ष सन् 1365 ई. में ही आरंभ हो गया था जब बहमनी सेना ने रायचूर पर आक्रमण कर कब्जा कर लिया किन्तु अगल ही वर्ष हरिहर ने उसे पुनः जीत लिया था। दोनों पक्षों के बीच बार-बार युद्ध होता ही रहा। इस प्रकार, सन 1[illegible] ई. में बुक्का ने सर्वप्रथम क्षेत्रों को पुनः जीतने के लिए वारंगल के शासक के साथ मिलकर युद्ध आरंभ कर किया जिसमें पहले

कभी बहमनी सुल्तान ने नियंत्रण स्थापित कर लिया था। कहा जाता है कि जब बुक्का प्रथम ने विवदास्पद तुंगभद्रा दोआब में स्थित मुदकल के किले पर कब्जा कर लिया तब उसने उस किले के अन्दर स्थित सारे सैनिकों का संहार कर दिया और केवल एक सैनिक को जीवित छोड़ दिया। जब बहमनी सुल्तान को यह समाचार प्राप्त हुआ तो उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठी और अपने प्रतिशोधात्मक प्रयाण के समय उसने संकल्प लिया कि वह प्रतिशोध के रूप में एक लाख हिंदुओं की हत्या करने के बाद ही अपनी तलवार को म्यान में डालेगा। वर्षा ऋतु और विजयनगर सेना के प्रतिरोध के बावजूद उसने तुंगभद्रा नदी को पार कर ही लिया। इस प्रकार पहली बार किसी बहमनी सुल्तान ने स्वयं विजयनगर के राजक्षेत्र में प्रवेश किया था। इस युद्ध के परिणाम के संबंध में भिन्न–भिन्न बातें कही गई हैं। **फारसी स्रोतों** के अनुसार, विजयनगर शासक पराजित हुआ और उसने जंगलों में भागकर अपनी जान बचाई। युद्ध में दोनों पक्षों द्वारा तोपों के प्रयोग के बारे में हमें पहली बार सुनने को मिलता है। पर बहमनी सुल्तान को कोई निर्णायक विजय नहीं मिली और यह युद्ध कई महीनों तक घिसटता रहा जिसके दौरान बड़े पैमाने पर पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का संहार होता रहा। अंत में, दोनों पक्षों के बीच एक प्रकार की संधि हुई जिसने पुरानी स्थिति पुनः बहाल कर दी यानी दोआब में दोनों पक्षों के अपने–अपने हिस्से कायम रहे। अस्पष्ट रूप से भी वादा किया गया कि यदि भविष्य में युद्ध हों तो कोई भी पक्ष असहाय, निहत्थे निवासियों का संहार नहीं करेगा। किंतु भविष्य में जो युद्ध हुए उनमें इस वादे को कम ही ध्यान रखा गया।

दक्षिण में मदुरै सल्तनत का सफाया हो जाने के कारण हरिहर द्वितीय (1377-1404) ई. के नेतृत्व में विजयनगर उत्तर–पूर्व और पश्चिम में सफलपतापूर्वक एक आक्रामक नीति अपनाने में समर्थ हुआ। जैसा कि हम देख चुके हैं, उत्तर–पूर्व क्षेत्र में बहुत सारे राज्य थे। इस क्षेत्र में बहमनी सुलतानों के अलावा उड़ीसा के शासकों की भी दिलचस्पी थी। यद्यपि वारंगल के शासक ने दिल्ली के विरुद्ध संघर्ष में हसन गंगू की सहायता की थी, किंतु हसन गंगू के उत्तराधिकारी ने वारंगल पर आक्रमण किया था एवं कौलस के गढ़ तथा गोलकुंड़ा के पहाड़ी किले पर कब्जा कर लिया था। विजयनगर दक्षिण में इतना अधिक व्यस्त था कि वह हस्तक्षेप नहीं कर सका। बहमनी सुल्तान ने गोलकुंड़ा को अपने राज्य की सीमा निर्धारित की और वादा किया कि न तो वह और न ही उसका कोई उत्तराधिकारी वारंगल के राजक्षेत्र का भविष्य में कोई अतिक्रमण करेगा। इस समझौते को स्थायित्व और सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए वारंगल के शासक ने बहमनी सुल्तान को कीमती रत्नों से जड़ित एक राजसिंहासन भेंट किया। कहा जाता है कि इसे वस्तुतः मुहम्मद बिन तुगलक को भेंट करने के लिए तैयार किया गया था। बहमनी राज्य और वारंगल का यह गठबंधन 50 वर्षों से अधिक समय तक कायम रहा और तुंगभद्रा दोआब को रौंदने अथवा उक्त क्षेत्र में बहमनी आक्रमण को रोकने में विजयनगर की असमर्थता का प्रमुख कारण रहा।

मध्यकालीन लेखकों ने विजयनगर और बहमनी राज्यों के बीच हुए युद्धों का काफी विस्तार से वर्णन किया है। किन्तु वे हमारे लिए ऐतिहासिक महत्त्व के नहीं हैं क्योंकि दोनों पक्षों की स्थिति कमोवेश ज्यों–की–त्यों बनी रही। हां, युद्ध का परिणाम कभी एक पक्ष में रहता था तो कभी दूसरे पक्ष में और बहमनी–वारंगल गठबंधन के बावजूद हरिहर द्वितीय अपनी स्थिति को बरकरार रखने में सफल रहा। उसकी सबसे बड़ी सफलता पश्चिमी में बहमनी राज्य से बेलगाम एवं गोवा छीनने में रही। उसने श्रीलंका के उत्तर में भी अपनी सेना भेजी।

हरिहर द्वितीय की मृत्यु के बाद कुछ समय तक अनिश्चित स्थिति बनी रही। उसके बाद देवराय प्रथम (1404-1422 ई.) विजयनगर के राजसिंहासन पर बैठा। उसके शासन काल के आरंभ में तुंगभद्रा दोआब के लिये पुनः लड़ाई शुरू हो गई। बहमनी सुल्तान फिरोज शाह के हाथों वह पराजित हुआ और उसे युद्ध–हर्जाने के रूप में दस लाख हूण, मोती और हाथी देने पड़े। वह बहमनी सुल्तान के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर देने के लिए भी सहमत हो गया और सभी भावी झगड़ों को समाप्त करने के उद्देश्य से उसने सुल्तान को दहेज के रूप में दोआब में स्थित बंकापुर भी दे दिया। यह विवाह पूरे हर्षोल्लास और शान–शौकत के साथ संपन्न हुआ। जब फिरोज शाह बहमनी विवाह हेतु विजयनगर के निकट पहुंचा तो देव राय पूरे ठाट–बाट के साथ नगर से बाहर निकलकर उससे मिलने गया। नगर–द्वार से महल तक जाने वाले 10 किलोमीटर लंबे मार्ग को जरबफ्त, मखमल, साटिन एवं अन्य *प्रकार के कीमती वस्त्रों से आच्छादित कर दिया गया था। नगर के चौक के केंद्र से दोनों शासक एक साथ घोड़े की पीठ पर* सवार होकर चले। देव राय के सग–सुंबंधियों ने इस शोभा–यात्रा में भाग लिया और दोनों शासकों के आगे–आगे पैदल चलते रहे। तीन दिनों तक विवाहोत्सव चलता रहा।

दक्षिण भारत में इस प्रकार का यह पहला राजनीतिक विवाह नहीं था। इसके पूर्व गोंडवाना में खेरला के शासक ने शांति बहाल करने के उद्देश्य से फिरोज शाह बहमनी के साथ अपनी पुत्री का विवाह किया था। कहा जाता है कि यह राजकुमारी फिरोज की सर्वाधिक चहेती बेगम थी। किंतु इन विवाहों के बावजूद शांति स्थापित नहीं हो पाई। कृष्णा–गोदावरी घाटी के प्रश्न पर

विजयनगर, बहमनी राज्य और उड़ीसा के बीच संघर्ष पुनः आरंभ हो गया। रेड्डी राज्य में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न होने देवराय ने रेड्डी राज्य को बांटकर अपने–अपने राज्य में मिला लेने के लिए वारंगल के साथ समझौता कर लिया। वारंगल द्वारा बहमनी राज्य का साथ छोड़े जाने पर दक्कन में शक्ति–संतुलन बदल गया। फलतः देवराय ने फिरोज शाह बहमनी को बहुत बुरी तरह पराजित किया एवं कृष्णा नदी मुहाने तक के समस्त भूभाग को अपने राज्य में मिला लिया।

देव राय प्रथम ने शांति काल की कलाओं की उपेक्षा नहीं की। उसने तुंगभद्रा नदी पर एक बांध बनाया ताकि वह नगर म पानी की कमी को दूर करने के लिए एक नहर ला सके। इस नहर के कारण निकटवर्ती क्षेत्रों की सिंचाई भी होने लगी क्योंकि हमें बताया गया है कि इस नहर ने उसके राजस्व में साढ़े तीन लाख पारदवों की वृद्धि कर दी। उसने सिंचाई प्रयोजनों म हरिद्रा नदी पर भी एक बांध बनवाया।

अनिश्चितता के कुछ काल के बाद देव राय द्वितीय (1425-1446 ई.) विजयनगर का शासक बना। उसे इस राजवंश का महानतम शासक माना जाता है। अपनी सेना को मजबूत करने के लिए उसने और अधिक संख्या में मुसलमानों को शामिल किया। फरिश्ता के अनुसार, देव राय द्वितीय ने महसूस किया कि बहमनी सेना की श्रेष्ठता का मुख्य कारण उसके बेहतर घोड़ों एव भारी तादाद में उत्तम तीरंदाजों की मौजूदगी है। अतः उसने 2000 मुसलमानों को भर्ती किया, उन्हें जागीरें दीं एवं अपने सभी हिन्दू सैनिकों और अधिकारियों को उनसे तीरंदाजी की कला सीखने का आदेश दिया। विजयनगर सेना में मुसलमानों की भर्ती कोई नई बात नहीं थी क्योंकि कहा जाता है कि देव राय प्रथम की सेना में 10,000 मुसलमान थे। फरिश्ता ने लिखा है कि देव राय द्वितीय ने 80,000 घुड़सवारों और 20,000 पैदल सैनिकों के अतिरिक्त तीरंदाजी में महारत रखने वाले 60,000 हिंदू सैनिकों को एकत्र किया था। ये संख्याएं अतिरंजित हो सकती हैं। किंतु घुड़सवारों की भारी तादाद के कारण राज्य के संसाधनों पर जोर पडा होगा क्योंकि अधिकांश उत्तम घोड़े आयातित होते थे और अश्व व्यापार पर अधिकार रखने वाले अरब लोग उनकी भारी कीमतें वसूल करते थे।

अपनी नई सेना के साथ देव राय द्वितीय ने सन् 1443 ई. में तुंगभद्रा नदी को पार किया और मुदकल, बंकापुर आदि को पुनः जीतने का प्रयास किया जो कृष्णा नदी के दक्षिण में थे एवं पहले बहमनी सुल्तानों के नियंत्रण में चल गए थे। तीन घमासान युद्ध लड़े गए किंतु अंत में दोनों पक्षों की सीमाओं के संबंध में यथास्थिति को स्वीकार करना पड़ा।

सोलहवीं सदी के एक पुर्तगाली लेखक नुनीज ने कहा है कि क्वीलोन, श्रीलंका, पुलिकट, पेगू, तेनासरिम (बर्मा में) एव मलाया के शासकगण देव राय द्वितीय को कर देते थे। इस बात में संदेह है कि विजयनगर के शासक समुद्र में इतने शक्तिशाली थे कि वे पेगू और तेनासरिम से नियमित कर ले सकने में समर्थ होते। शायद नुनीज के कथन का अभिप्राय यह था कि इन देशों के शासकों का विजयनगर के साथ संपर्क था और इसकी सद्भावना प्राप्त करने के लिए वे उपहार भेजते थे। किंतु श्रीलका पर कई बार आक्रमण किया गया जो बिना एक मजबूत नौसेना के संभव नहीं था।

अनेक सुयोग्य शासकों के नेतृत्व में विजयनगर 15वीं सदी के पूर्वार्ध में दक्षिण भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली और सुसम्पन्न राज्य बन चुका था। इस काल के दौरान विजयनगर पहुंचने वाले अनेक यात्रियों ने उस नगर और राज्य का सजीव वर्णन किया है। **इतालवी** यात्री **निकोलो कौंटी** ने सन् 1420 ई. में विजयनगर की यात्रा की थी। उसने विजयनगर के बारे मे लिखा है कि "नगर की परिधि 60 मील है, इसकी दीवारें पहाड़ों जितनी ऊंची हैं और अपने आधार पर घाटी को समाये हुए हैं... अनुमान किया जाता है इस नगर में नब्बे हजार लोग अस्त्र–शस्त्र धारण करने के योग्य हैं। उनका राजा भारत के अन्य राजाओं से अधिक शक्तिशाली है।" **फरिश्ता** का भी कहना है: "बहमनी राजघराने के सुल्तान केवल पराक्रम के पर बल अपनी श्रेष्ठता रखते थे, क्योंकि शक्ति, धन और राजक्षेत्रीय विस्तार में बिजनगर (विजयनगर) के राय उनसे बहुत आगे है।"

अब्दुर्रज्जाक जिन्होंने भारत के अंदर और बाहर काफी भ्रमण किया था एवं देव राय द्वितीय के दरबार में एक राजदूत के रूप में कहना है : "इस परवर्ती राय के राज्य में 300 बंदरगाह हैं, जिनमें से प्रत्येक कालिकट के बराबर है एवं मुख्य भूमि पर इसका राजक्षेत्र इतना विशाल है कि तीन महीने की यात्रा द्वारा ही उसकी परिधि पूरी हो सकती है।" सभी यात्री इस बात पर एकमत हैं कि विजयनगर राज्य में घनी आबादी थी एवं असंख्य शहर और गांव थे। **अब्दुर्रज्जाक** कहता है "राज्य का अधिकांश भाग कृषि के अंतर्गत एवं बहुत उपजाऊ है। सैनिकों की संख्या ग्यारह लाख है।"

अब्दुर्रज्जाक विजयनगर को विश्व में कही भी देखे या सुने गए सर्वाधिक भव्य एवं उत्कृष्ट नगरों में से एक मानता था। उसके वर्णन का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है: "यह इस नीति से निर्मित है कि सात नगर–दुर्ग और उतनी ही दीवारें एक–दूसरे को घेरे हैं। सातवें दुर्ग, जो अन्य दुर्गों के केंद्र में स्थित है, का क्षेत्र–विस्तार हिरात नगर के बाजार–कंद से दस गुना बड़ा है।" महल के पास होते हुए चार बाजार थे "जो अत्यधिक लंबे और चौड़े थे।" भारतीय प्रचलन के अनुसार, एक जाति अथवा व्यवसाय के लोग

के एक मोहल्ले में रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानों के रहने के लिए अलग मोहल्ला बनाया गया था। बाजारों के साथ–साथ राजा के महल में "तराशे हुए चिकने और चमकीले पत्थरों से निर्मित असंख्या बहती धाराएं और नहरें दिखाई पड़ती हैं।" एक अन्य परवर्ती यात्री ने कहा है कि उक्त नगर रोम से भी बड़ा था जो उस समय पश्चिम के सबसे बड़े शहरों में से एक था।

विजयनगर के शासक बहुत धनी होने के लिए विख्यात थे। अब्दुर्रज्जाक ने इस परंपरा का जिक्र किया है कि "राजा के महल में कोठारियों के बराबर ऐसे अनेक पात्र हैं जिनमें बहुमूल्य धातुएं एक ठोस पिंड के रूप में भरी हैं। शासक द्वारा धन का संचयन एक प्राचीन परंपरा था। किन्तु इस प्रकार से संचित धन संचलन में नहीं आ पाता था और कभी–कभी उसके कारण बाह्य आक्रमण भी हो जाता था।"

विजयनगर राज्य की प्रकृति के संबंध में विद्वानों के बीच बहुत अधिक वाद–विवाद होता रहा है। नीलकंठ शास्त्री ने इसे युद्ध–राज्य के निकटतम माना है। उन्होंने अपना यह मत एक विजयनगर शासक द्वारा प्रस्तुत इस मत के आधार पर बनाया है कि राज्य की आय को चार भागों में विभक्त किया जाना चाहिए–एक भाग विभिन्न कार्यों के लिए, दो भाग युद्ध के लिए एवं शेष भाग आपातकाल के लिए। वे 'अमरम' व्यवस्था पर भी जोर देते हैं जिसके जरिए इसको अधिग्राही यानी नायक, जिसे एक भू–भाग दिया जाता था, को बदले में एक निश्चित संख्या में सैनिक, घोड़े व हाथी सम्राट की सेवा हेतु रखना पड़ता था एवं उसके प्रति निष्ठावान रहने की शपथ लेनी पड़ती थी।

विजयनगर केवल इस अर्थ में एक युद्ध–राज्य था कि सभी मध्यकालीन राज्यों को युद्ध के लिए सदैव तैयार रहना पड़ता था। अपने मुस्लिम विरोधियों के साथ मुकाबले में विजयनगर के शासकों को जो सफलता मिली उसका मुख्य आधार यह था कि उन्होंने न केवल अपने मुस्लिम विरोधियों की उस युद्ध शैली को अपनाया जिसमें घुड़सवारों की प्रमुख भूमिका होती थी, अपितु, जैसा कि हमने देखा है, अपनी सेना में भारी संख्या में घुड़सवार मुस्लिम तीरंदाजों को भी भर्ती किया। विजयनगर के शासक एक विशाल स्थाई सेना भी रखते थे जिसे नकद वेतन दिया जाता था। इस प्रकार, पारंपरिक स्वरूपों को जारी रखते हुए विजयनगर के शासकों ने उनमें कुछ नई विशिष्टताएं प्रदान करने का भी प्रयास किया।

इस संबंध में भी भिन्न–भिन्न मत दिए गए हैं कि विजयनगर राज्य अर्ध–स्वायत्त सैनिक एवं भूभागीय नेताओं यानी नायकों को एक ढीला–ढाला संघ था अथवा दिल्ली सल्तनत की ही भांति एक केन्द्रीयकृत राज्य था। इस संदर्भ में यह तथ्य स्मरण रखना चाहिये कि 'अमरम' को तुर्कों की इक्ता व्यवस्था के समतुल्य नहीं समझा जा सकता है। नायकगण अपने सम्राट के भूतपूर्व दास या अधीनस्थ नहीं थे जिसकी सेवा में उन्होंने उन्नति की हो और न ही शासक अपनी इच्छा से उन्हें स्थानांतरित करने एवं यहां तक कि हटाने की शक्ति रखता था। नायकगण अपने आप ही वंशानुगत भूभागीय स्वामी थे यद्यपि वे शासक के प्रति निष्ठा और सेवा भाव रखने का वादा करते थे जिसके अनुदान द्वारा उनकी स्थिति को वैधता प्राप्त होती थी किन्तु वे अपना प्रशासन चलाते थे और अपनी आय का एक भाग शासक को देते थे। कहा गया है कि विजयनगर राज्य में 200 नायक थे। शासनगण उन पर नियंत्रण रखने का प्रयास करते थे किंतु उन्हें हटा नहीं सकते थे। साथ ही, दक्षिण और पश्चिम के कुछ दूरवर्ती क्षेत्रों के स्थानीय शासकों को, जिन्होंने विजयनगर का अधिपत्य स्वीकार कर लिया था, शासन करते रहने दिया गया। इस प्रकार, विजयनगर शासकों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रशासित क्षेत्र निश्चय ही साम्राज्य के आकार से काफी छोटा रहा होगा। इस कारण से एक 'प्रतिनिधि' अथवा प्रधान के नेतृत्व में सामान्य मंत्रिपरिषद् के अलावा एक सचिवालय था जिसमें भारी संख्या में लिपिकों (कायस्थों) को नियुक्त किया हुआ था। अब्दुर्रज्जाक के अनुसार, राजमहल के निकट दीवान–खाना था "जो अत्यधिक विशाल है और 'चिहल–सुतून अथवा चालीस स्तंभों वाले मंडप जैसा दिखाई पड़ता है जहां अभिलेख रखे जाते हैं एवं लिपिकगण बैठे होते हैं।" किन्तु प्रशासन विधि अथवा प्रत्यक्ष प्रशासन के अधीन क्षेत्र के आकार के बारे में हम कोई जानकारी नहीं है।

विजयनगर राज्य को "हिन्दू रूढ़िवादिता और परंपरानिष्ठता का गढ़" कहा गया है। इस प्रकार, कहा जाता है कि शासकगण मंदिरों और मठों का निर्माण और मरम्मत करने में काफी समय और ध्यान देते थे तथा 'वेदों और वैदिक पक्ष के रक्षक' की उपाधि धारण करने में गर्व महसूस करते थे। वे ब्राह्मणों की बहुत अधिक सहायता करते थे जिन्हें न केवल राजस्व–मुक्त भूमि दी जाती थी, अपितु सेनाओं और किलों के सेनानायकों के रूप में भी नियुक्त किया जाता था। किन्तु ब्राह्मणों को दी जाने वाली सैनिक एवं राजनीतिक महत्ता धार्मिक भावनाओं से नहीं बल्कि उन्हें शक्तिशाली कन्नड़ नायकों के विरुद्ध एक शक्तिशाली कारक के रूप में प्रयुक्त करने की इच्छा से अभिप्रेरित थी। धर्म के मामलों में विजयनगर के शासकों की मानसिकता संकुचित नहीं थी। यद्यपि वे मूलतः शैव थे, किन्तु अन्य हिन्दू सम्प्रदायों के विरुद्ध भेदभाव नहीं करते थे। उन्होंने जैन धर्म को भी संरक्षण दिया। जो ईसाई धर्म–प्रचारक दक्षिण भारत में बस गए थे उन्हें धर्म–प्रचार का कार्य करने एवं हिन्दुओं को धर्मांतरित करने की स्वतंत्रता थी। सेना

में नियुक्त मुस्लिम सैनिकों को नमाज अदा करने की स्वतंत्रता मिली हुई थी और आम तौर पर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध कायम थे। घोर धार्मिक असहिष्णुता का एकमात्र उदाहरण सन् 1469 ई. में परिलक्षित हो सकता है जब विजयनगर शासक मल्लिकार्जुन राय ने इस बात से आग—बबूला होकर कि भूतकाल के मुस्लिम व्यापारियों ने बहमनी शासकों को घोड़े बेच दिए थे, नगर के सभी मुसलमानों का संहार करने का आदेश दिया। कहा जाता है कि इस आदेश का पालन करते हुए 10,000 मुसलमानों का संहार कर दिया गया एवं शेष मुसलमान भागकर गोवा चले गए। इस मूर्खतापूर्ण कृत्य और अपराध के लिए बहमनी शासक ने प्रतिशोधात्मक कदम उठाया और बेलगाम एवं उसके आसपास के क्षेत्र को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया।

बहमनी राज्य—इसका विकास और विघटन

हम बहमनी राज्य के उदय तथा देव राय द्वितीय की मृत्यु (1446 ई.) तक विजयनगर साम्राज्य के साथ इसके टकराव की चर्चा कर चुके हैं। इस काल के दौरान बहमनी राज्य का सबसे उल्लेखनीय व्यक्ति फिरोज शाह बहमनी (1397-1422 ई.) था। वह धर्म—शास्त्र यानी, कुरान, शरीयत आदि पर लिखे भाष्यों का गहन ज्ञान था। वह तर्कशास्त्र एवं वनस्पतिशास्त्र जैसे प्राकृतिक विज्ञानों व ज्यामिति आदि में विशेष रुचि रखता था। वह एक उत्तम खुशनवीस (सुलेखक) एवं कवि था और अक्सर तत्काल ही छंदों की रचना कर देता था। फरिश्ता के अनुसार, वह न केवल, फारसी, अरबी और तुर्की, अपितु तेलुगु, कन्नड़ और मराठी का भी गहन ज्ञान रखता था। उसके हरम में विभिन्न देशों और क्षेत्रों की उसकी बहुत सारी पत्नियां थीं जिनमें उसकी अनेक हिन्दू पत्नियां भी शामिल थीं। बताया जाता है कि वह अपनी हरेक पत्नी के साथ उसी की भाषा में बातचीत करता था।

फिरोज शाह बहमनी दक्कन को भारत का सांस्कृतिक केंद्र बनाने के लिए कृतसंकल्प था। दिल्ली सल्तनत के पतन के कारण यह कार्य और भी सुगम हो गया क्योंकि कई ज्ञानी लोग दिल्ली से दक्कन चले आए। सुल्तान ने ईरान और ईराक से आए विद्वानों को भी प्रोत्साहित किया। वह प्रायः अपना समय मध्य रात्रि तक संतों, कवियों, इतिहासवाचकों तथा अपने सर्वाधिक ज्ञानी और बाग्विदग्ध दरबारियों की संगति में व्यतीत करता था। उसने ईसाई नवविधान और पूर्वविधान पढ़े थे तथा वह सभी धर्मों के मतों का आदर करता था, हालांकि **फरिश्ता** उसे एक रूढ़िवादी मुसलमान मानता था; उसकी एकमात्र दुर्बलता यह थी कि वह शराब पीने और संगीत सुनने का बेहद शौकीन था।

फिरोज शाह बहमनी द्वारा उठाया गया सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य प्रशासन में बड़े पैमाने पर हिन्दुओं को शामिल करना था। कहा जाता है कि उसके काल से दक्कनी ब्राह्मण प्रशासन में हावी हो गए। दक्कनी हिन्दुओं ने '**आफाकी**' अथवा '**गरीब**' कहे जानेवाले विदेशियों की बाढ़ के विरुद्ध संतुलन भी प्रदान किया। पश्चिम एशिया से आए बहुत से विदेशी ईरानी थे जिनके प्रभाव से बहमनी राज्य में फारसी संस्कृति और शिया मत का विकास हुआ। बहमनी सुल्तान धार्मिक मामलों में सहिष्णु थे, और यद्यपि अधिकांश बहमनी सुल्तान सुन्नी थे, किन्तु उन्होंने शिया मतावलाम्बियों को परेशान नहीं किया। बहमनी शासन के आरंभिक चरण में हिन्दुओं पर जजिया भी नहीं लगाया गया था। बाद के काल में भी हमें जजिया का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। यदि बाद में जजिया वसूली होती भी होगी तो भू—राजस्व (खराज) के भाग के रूप में ही। फिरोज शाह बहमनी ने खगोलशास्त्र के अध्ययन को बढ़ावा दिया एवं दौलताबाद के निकट एक जंतर—मंतर बनाया। उसने अपने राज्य के प्रमुख बंदरगाहों—चौल एवं दाभोल—पर काफी ध्यान दिया। इन बंदरगाहों पर फारस की खाड़ी और लाल सागर के व्यापारी पोत लाते थे और विश्व के सभी भागों की विलासितापूर्ण वस्तुओं की बौछार करते थे।

फिरोज शाह बहमनी ने खेरला के गोंड राजा नरसिंह राय को पराजित कर बरार की जो बहमनी विस्तार की शुरूआत की। उसने उसे 40 हाथी, 5 मन सोना एवं 50 मन चांदी का उपहार भेंट किया। राय की एक पुत्री का फिरोज के साथ विवाह हुआ। नरसिंह राय को खेरला वापस कर दिया गया, उसे बहमनी राज्य का एक अमीर बनाया गया एवं एक कशीदाकारी की पेटी समेत शाही पोशाकें प्रदान की गईं।

देव राय प्रथम की एक पुत्री के साथ फिरोज शाह बहमनी के विवाह एवं विजयनगर के विरुद्ध बाद में हुए उस युद्ध का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। किंतु कृष्णा गोदावरी घाटी एवं प्रभुत्व हेतु संघर्ष जारी रहा। सन् 1419 ई. में बहमनी राज्य को करारा झटका लगा जब फिरोज शाह बहमनी को देवराय प्रथम ने बुरी तरह पराजित किया। इस पराजय ने फिरोज की स्थिति को काफी कमजोर कर दिया। वह अपने भाई अहमद शाह प्रथम के पक्ष में राजगद्दी का परित्याग करने के लिए मजबूर हुआ। वैरात (गुलबर्गा) के संत गेसु दराज के साथ अपने संपर्क और साहचर्य के कारण अहमद शाह को हिन्दू लोग भी संत मानते थे और उसका उर्स (मृत्यु दिवस) हाल तक हिन्दुओं और मुसलमानों द्वारा संयुक्त रूप से मनाया जाता रहा है। अहमद शाह ने दक्षिण भारत में पूर्वी समुद्र

पर प्रभुत्व हेतु संघर्ष जारी रखा। वह यह नहीं भूल सका कि पिछले जिन दो युद्धों में बहमनी सुल्तान की पराजय हुई थी उनमें वारंगल के शासक ने विजयनगर का साथ दिया था। प्रतिशोध में उसने वारंगल पर आक्रमण किया एवं युद्ध में वहां के शासक को पराजित किया एवं मार डाला, तथा वारंगल का अधिकांश भू–भाग अपनी सल्तनत में मिला लिया। अपने नये विजित प्रदेशों पर शासन और नियंत्रण सुदृढ़ करने के उद्देश्य से उसने अपनी राजधानी गुलबर्ग से बीदर में स्थानांतरित कर दी। इसके बाद उसने अपनी दृष्टि मालवा, गोंडवाना एवं कोंकण की ओर केंद्रित की।

महमूद गांवां का युग (1463-1482 ई.)

15वीं सदी के उत्तरार्ध में बहमनी राज्य दक्षिण में धीरे–धीरे प्रमुख शक्ति बन गया। इसके पूर्व अहमद शाह ने वारंगल को जीता था जिसने इंगित किया कि शक्ति–संतुलन बहमानियों के पक्ष में झुकता जा रहा है। देव राय द्वितीय की मृत्यु के बाद विजयनगर में कुछ समय तक अनिश्चितता की स्थिति बनी रही जिसने उड़ीसा के गजपति शासकों को उस क्षेत्र में अपनी शक्ति और प्रभाव का विस्तार करने का अवसर प्रदान किया। बहमानियों ने इस अवसर पर लाभ उठाते हुए दक्षिण में अपनी स्थिति मजबूत की, उत्तर में बरार और खानदेश की ओर अपने शासन का विस्तार किया एवं पश्चिम के कोंकण की ओर भी अपना प्रभाव बढ़ाया। इसके कारण मालावा और गुजरात के शासकों के साथ बहमनी राज्य के टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई।

इस काल के दौरान **आफाकियों** (नवागंतुकों) एवं **दक्कनियों** (पूर्वागंतुकों) के बीच चल रहे संघर्ष के कारण बहमनी राज्य के आंतरिक मामलों में अस्त–व्यस्तता की स्थिति उत्पन्न हो गई और यह तब तक बनी रही जब तक कि महमूद गांवा को शक्ति और प्रमुखता न हासिल हो गई। महमूद गांवां जन्म से ईरानी था। सन् 1456 ई. में पहली बार उस पर लोगों का ध्यान गया जब कि उसे सत्ताधारी सुल्तान के विरुद्ध खड़े हुए राजगद्दी के एक दावेदार से निपटने के लिए भेजी जाने वाली सेना का नेतृत्व सौंपा गया। महमूद गांवां का सुल्तान से परिचय कराया गया एवं धीरे–धीरे उका प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि सन् 1461 ई. में जब सुल्तान की मृत्यु हुई और एक नाबालिग को सुल्तान बनाया गया तो महमूद गांवां को राजकीय क्रिया–कलापों की देखरेख करने के लिए गठित एक प्रतिशासक परिषद का एक सदस्य नियुक्त किया गया। मालवा के शासक द्वारा किए गए गई आक्रमणों के बाद प्रतिशासक और परिषद को भंग कर दिया गया और 1463 ई. में एक नए शाहजादे को राजगद्दी पर बैठाया गया जिसने महमूद गांवां को ख्वाजा–ए–जहां एवं मलिक–उत–तुज्जार की उपाधियां देकर वकील–ए–सुल्तान (प्रधानमंत्री) नियुक्त किया। यद्यपि महमूद गांवां कभी भी व्यापारी (ताजिर) नहीं रहा था, किंतु यह उपाधि पूर्ववर्ती सुल्तानों ने अपने प्रमुख अमीरों को प्रदान की थी।

महमूद गांवां 20 वर्षों तक राजकीय क्रियाकलापों पर हावी रहा। इस काल के दौरान उसने बहमानी सल्तनत की सीमाओं को पूरब और पश्चिम में बढ़ाने का प्रयास किया। पूरब में उड़ीसा के गजपति शासक के साथ उसका टकराव हुआ। गजपति शासक को कोरोमंडल तट के हटाने के लिए महमूद गांवां ने विजयनगर के साथ संधि कर ली। उसने उड़ीसा के क्षेत्रों पर कब्जा कर के पर अपने राजक्षेत्र का और अधिक विस्तार किया।

परन्तु, महमूद गांवां का प्रमुख सैनिक योगदान दाभोल और गोवा समेत पश्चिमी तटीय क्षेत्रों को रौंदना था। इन बंदरगाहों के हाथ से निकल जाने के कारण विजयनगर को भारी नुकसान हुआ। गोवा और दाभोल पर कब्जा होन से ईरान, ईराक आदि के साथ होने वाले समुद्री व्यापार में वृद्धि हुई। आंतरिक व्यापार एवं उत्पादन में भी उन्नति हुई।

महमूद गांवां ने राज्य की उत्तरी सीमाओं को भी स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास किया। अहमद शाह प्रथम के समय के से ही खिलजी शासकों द्वारा शासित मालवा राज्य गोंडवाना, बुरार एवं कोंकण पर प्रभुत्व हेतु संघर्ष कर रहा था। इस संघर्ष में बहमनी सुल्तानों ने गुजरात के शासकों की सहायता मांगी और पाई थी। काफी समय तक संघर्ष के बाद समझौता हुआ कि गोंडवाना का खेरला मालवा को मिलेगा जबकि बहमनी सुल्तान को बरार मिलेगा। किंतु मालवा के शासक बरार पर कब्जा करने की ताक में हमेशा रहते थे। महमूद गांवां और बरार को लेकर मालवा के महमूद खिलजी के विरुद्ध कई घामसान युद्ध लड़ने पड़े। गुजरात के शासक की सक्रिय सहायता मिलने के कारण महमूद गांवां का पलड़ा भारी रहा।

इस प्रकार, देखा जा सकता है कि दक्षिण में संघर्ष का स्वरूप इस प्रकार का था जिसमें धार्मिक आधारों पर विभाजन नहीं होने दिया गया। राजनीतिक एवं रणनीतिक स्वार्थ तथा व्यापार और वाणिज्य पर नियंत्रण संघर्ष के अधिक महत्त्वपूर्ण कारण रहे। इसके अतिरिक्ति उत्तर भारत के विभिन्न राज्यों के बीच होने वाले संघर्ष एवं दक्षिण भारत में होने वाले संघर्ष एक–दूसरे से पूरी असंबद्ध नहीं थे। पश्चिम में मालवा और गुजरात दक्कन के मामलों में शामिल हुए और पूरब में उड़ीसा का बंगाल के साथ युद्ध चलने के साथ–साथ उसकी गिद्ध दृष्टि कोरोमेंडल तट पर भी लगी हुई थी।

पूरब और पश्चिम की ओर बहमनी राज्य के विस्तार के कारण विजयनगर के साथ उसका संघर्ष पुनः आरंभ हो गया। किंतु इस समय तक विजयनगर बहमनी राज्य के मुकाबले का नहीं रह गया था। महमूद गांवां ने न केवल तुंगभद्रा दोआब को बहमनी राज्य में मिला लिया, बल्कि विजयनगर के राजक्षेत्र में आक्रमण करते हुए काफी भीतर तक (दक्षिण में कांची तक) पहुंच गया।

महमूद गांवां ने कई आंतरिक सुधार किए। इनमें से कुछ तो अमीरों की शक्ति को सीमित करने के लिये थे। इस प्रकार राज्य प्रांतों (तरफों) को विभाजित कर अब चार के बजाय आठ प्रांत बना दिए गए। प्रत्येक किले के हाकिम की नियुक्त सीधे सुल्तान द्वारा की जाती थी। प्रत्येक अमीर के वेतन और दायित्व निश्चित कर दिए गए। पांच सौ घोड़े रखने वाले अमीर को प्रति वर्ष 1,00,000 हूण का वेतन मिलता था। वेतन का भुगतान नगद में अथवा जागीर देकर किया जा सकता था। जिन्हें जागीर के बदले वेतन दिया जाता था, उन्हें भू–राजस्व की वसूली हेतु व्यय भी दिया जाता था। प्रत्येक प्रांत में सुल्तान के व्यय हेतु एक भू–खंड (खालिसा) आरक्षित कर दिया जाता था। जमीन को मापने तथा प्रत्येक किसान द्वारा राज्य की दी जाने वाली रकम तय करने के प्रयास किए गए।

महमूद गांवां कला का एक महान संरक्षण था। उसने राजधानी बीदर में एक भव्य मदरसा अथवा महाविद्यालय बनवाया। यह उत्कृष्ट भवन रंगीन खपड़ों से सजा हुआ था और तीन मंजिलों का था, एवं इसमें एक हजार शिक्षकों और विद्यार्थियों के रहने का प्रबंध था जिन्हें मुफ्त भोजन और वस्त्र भी दिए जाते थे। महमूद गांवां के आग्रह पर ईरान और ईराक के उस समय सर्वाधिक विख्यात विद्वानों में से कुछ लोग इस मदरसे से सम्बद्ध हुए।

बहमनी राज्य के सामने सर्वाधिक कठिन समस्याओं में एक समस्या अमीरों के बीच चलनेवाली अनबन थी। अमीरगण पुराने एवं नवागंतुकों अथवा दक्कनियों एवं आफाकियों जैसे दो खेमों में विभाजित थे। नवागंतुक होने के कारण महमूद गांवां का दक्कनियों का विश्वास जीतने में काफी कठिनाई हुई। उसने मेल–मिलाप की व्यापक नीति अपनाई, किन्तु दलगत झगड़ों पर अंकुश नहीं लगाया जा सका। उसके विरोधियों को युवा सुल्तान के कान भरने में सफलता मिल गई और सुल्तान ने सन् 1481 ई. में महमूद गांवां को मृत्यु दंड दे दिया, जब महमूद गांवां की आयु 70 वर्ष से अधिक थी। अब दलगत झगड़ों ने और अधिक जोर पकड़ लिया। विभिन्न स्थानों पर हाकिम स्वतंत्र हो गए। शीघ्र ही बहमनी सल्तनत पांच राज्यों–गोलकुंडा, बीजापुर, अहमदनगर बरार एवं बीदर–में विभाजित हो गयी। इनमें से अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा ने 17वीं सदी में मुगल साम्राज्य में उनके विलय के समय तक दक्कनी राजनीति में प्रमुख भूमिका निभाई।

बहमनी राज्य के उत्तर और दक्षिण के बीच सांस्कृतिक सेतु का कार्य किया। उसने ईरान और रूम (टर्की) समेत पश्चिम एशिया के कुछ प्रमुख देशों के साथ निकट संबंध भी स्थापित किए। इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप जो संस्कृति विकसित हुई वह भारत की संस्कृति से कई लक्षणों में भिन्न थी। इन सांस्कृतिक परंपराओं को परवर्ती राज्यों ने जारी रखा तथा इन परंपराओं ने बाद में मुगल संस्कृति को भी प्रभावित किया।

विजयनगर साम्राज्य का उत्कर्ष एवं विघटन

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, देव राय द्वितीय की मृत्यु के बाद विजयनगर साम्राज्य में अनिश्चितता की स्थिति पैदा हो गई। राजसिंहासन के विभिन्न दावेदारों के बीच गृह युद्ध छिड़ गए। कई सामंतों ने इस प्रक्रिया में अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम कर ली। विजयनगर के राय की सत्ता पश्चिमी आंध्र क्षेत्र के कुछ भागों में कर्नाटक तक सिमट कर रह गई। कुछ समय बाद राय को सुलव ने राजगद्दी हथिया ली। इस प्रकार, विजयनगर के आरंभ से चले आ रहे राजवंश को अंत हो गया। सलुव ने अराजकता के कानून और व्यवस्था को पुनः कायम किया एवं नए राजवंश की स्थापना की। इस राजवंश का भी शीघ्र ही अंत हो गया और एक तीसरे राजवंश यानी तुलुव राजवंश की स्थापना हुई जिसका महानतम शासक कृष्ण देव राय (1509-30 ई.) था। इतिहासकार उसे विजयनगर के सभी शासकों से महान मानते हैं। कृष्ण देव राय के सम्मुख न केवल राज्य में कानून एवं व्यवस्था स्थापित करने का कार्य था, अपितु उसे विजयनगर के पुराने प्रतिद्वंद्वियों–बहमनी सल्तनत के उत्तराधिकारी राज्यों एवं उड़ीसा राज्य–से भी हिसाब चुकता करना था जिन्होंने विजयनगर के कई प्रदेशों को हड़प लिया था। साथ ही उसे पुर्तगालियों से भी निपटना था जिनकी शक्ति में धीरे–धीरे वृद्धि हो रही थी। वे आर्थिक एवं राजनीतिक लाभ उठाने के उद्देश्य से समुद्र पर नियंत्रण का प्रयोग तटीय क्षेत्रों में विजयनगर के छोटे–छोटे अधीनस्थ राज्यों पर धौंस जमाने में कर रहे थे। यहां तक कि वे विजयनगर के राय को उसकी तटस्थता के बदले में बीजापुर से गोवा को छीनने में उसकी सहायता एवं घोड़ों की आपूर्ति का एकाधिकार देने का प्रस्ताव भी रखा था।

सात वर्षों तक कृष्ण देव राय ने अनेक युद्ध किए जिनमें पहले तो उन्होंने उड़ीसा के शासक को कृष्णा नदी तक के सारे क्षेत्र विजयनगर को लौटाने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार स्वयं को सुदृढ़ कर कृष्ण देव राय ने तुंगभद्रा दोआब पर नियंत्रण हेतु पुराने संघर्ष को पुनः आरंभ किया। इसके कारण उनके विरुद्ध विजयनगर के प्रमुख दो विरोधियों–बीजापुर और उड़ीसा–के बीच गठबंधन हो गया। कृष्णदेव राय ने भावी युद्ध के लिए भारी तैयारी की। उन्होंने रायचूर और मुदकल को रौंद कर युद्ध का आरंभ किया। 1520 ई. में होने वाले युद्ध में बीजापुर का सुल्तान पूरी तरह पराजित हुआ (1520 ई.)। उसे कृष्णा नदी के उस पार खदेड़ दिया गया और वह किसी तरह अपनी जान बचाकर भाग खड़ा हुआ। विजयनगर की सेना पश्चिम में बेलगाम भी पहुंची, कई दिनों तक बीजापुर को लूटा गया एवं उस पर कब्जा कर लिया गया और गुलबर्ग को उजाड़ दिया गया। अंत में जाकर एक संधि हुई और युद्ध बंद किया गया।

इस प्रकार, कृष्ण देव राय के नेतृत्व में विजयनगर दक्षिण का सबसे शक्तिशाली सैनिक शक्ति बन गया। किंतु पुराने झगड़ों को पुनः आरंभ करने की आतुरता में दक्षिणी शक्तियों ने पुर्तगालियों के उदय के कारण अपने ऊपर और अपने वाणिज्य के ऊपर मंडराने वाले खतरे की काफी हद तक उपेक्षा कर दी। चोलों और कुछ आरंभिक विजयनगर शासकों के विपरीत कृष्ण देव राय ने संभवतः नौसेना के विकास पर अधिक ध्यान नहीं दिया। इस काल के दौरान विजयनगर की स्थितियों का वर्णन अनेक विद्वानों ने किया है। कृष्ण देव राय के दरबार में कई वर्ष बिताने वाले इतालवी यात्री **पायस** ने उनके व्यक्तित्व का जीवंत वर्णन किया है : "वह एक महान शासक और बहुत न्यायप्रिय व्यक्ति है, किन्तु उन्हें हठात क्रोध आ जाता है।" वह अपनी प्रजा का ध्यान रखते थे और लोगों के कल्याण के प्रति उनकी उत्कंठा जगजाहिर थी।

कृष्ण देव राय एक महान भवन निर्माता भी था। उसने विजयनगर के निकट एक नया शहर भी बनाया ओर एक विशाल तालाब भी खुदवाया जो सिंचाई के प्रयोजनों से भी प्रयुक्त होता था। वह तेलुगु और संस्कृत का एक प्रतिभाशाली विद्वान था। उसकी कई रचनाओं के से आज केवल राज्य–व्यवस्था पर तेलुगु में लिखी पुस्तक एवं सस्कृत में लिखे नाटक की उपलब्ध हैं। उसके शासन काल ने तेलुगु साहित्य में एक नए युग का सूत्रपात किया जब संस्कृत रचनाओं के अनुकरण के स्थान पर स्वतंत्र लेखन आरंभ हो गए। उसने तेलुगु, कन्नड़ और तमिल कवियों को समान रूप से प्रोत्साहन और संरक्षण दिया। **बारबोसा**, **पायस** एवं **नुनीज** जैसे विदेशी यात्रियों ने कृष्ण देव राय के कुशल प्रशासन का बखान किया है एवं उसके शासन में साम्राज्य की खुशहाली और समृद्धि की पुष्टि की है। कृष्ण देव राय की महानतम उपलब्धि उनके साम्राज्य में व्याप्त व्यापक सहिष्णुता में निहित थी। **बारबोसा** ने कहा है : "राजा इतनी स्वतंत्रता देता है कि प्रत्येक व्यक्ति कहीं भी आ और जा सकता है। वह बिना किसी परेशानी के एवं बिना इस पूछताछ के कि वह ईसाई है या यहूदी, मूर है या विधर्मी, अपने मत और धर्म के अनुसार रह सकता है।" **बारबोसा** ने कृष्ण देव राय के साम्राज्य में व्याप्त न्याय और साम्य के लिए भी उनकी भरपूर सराहना की है।

कृष्ण देव राय की मृत्यु के बाद उनके रिश्तेदारों क बीच उत्तराधिकार को लेकर संघर्ष छिड़ गया क्योंकि उनके सभी पुत्र नाबालिग थे। अंततः सन् 1543 ई. में सदाशिव राय को राजसिंहासन प्राप्त हुआ जिसने 1567 ई. तक शासन किया। किंतु वास्तविक शक्ति एक त्रिशासक समूह के हाथों में सन्निहित थी जिसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति राम राजा था जिसने विभिन्न मुस्लिम राज्यों को एक–दूसरे के विरुद्ध भिड़ाया। उसने पुर्तगालियों के साथ एक वाणिज्यिक संधि की जिसके जरिए बीजापुर के सुल्तान को घोड़ों की आपूर्ति बंद हो गई। कई युद्धों में बीजापुर के सुल्तान को पुरी तरह पराजित किया एवं गोलकुंडा और अहमदनगर को भी करारी हार दी। ऐसा प्रतीत होता है कि राम राजा का उद्देश्य उपरोक्त तीनों शक्तियों के बीच विजयनगर के अनुकूल शक्ति संतुलन बनाए रखने से अधिक बड़ा नहीं था। अंत में उन्होंने आपस में मिलकर सन् 1565 ई. में तालीकोटा के निकट बन्नीहट्टी में विजयनगर को पराजित कर कुचल दिया। इसे तालीकोटा को युद्ध अथवा राक्षस–टांगड़ी का युद्ध कहा जाता है। राम राजा को घेर कर कैद कर लिया गया और तत्काल मार डाला गया। कहा जाता है कि इस युद्ध के दौरान 1,00,000 हिन्दू मारे गए। विजयनगर को पूरी तरह लूट लिया गया और उजाड़ दिया गया।

बन्नीहट्टी के युद्ध को आम तौर पर विजयनगर के महान युग के अंत का द्योतक माना जाता है। यद्यपि इस राज्य का अस्तित्व लगभग अलग सौ वर्षों तक कायम रहा, किन्तु इसका राजक्षेत्र निरन्तर कम होता चला गया और अब दक्षिण भारत के राजनीतिक अखाड़े में राय का कोई विशेष महत्व नहीं रह गया।

बहमनी राज्य का केन्द्रीय एवं प्रांतीय प्रशासन

बहमनी शासकों ने दिल्ली सुल्तानों की प्रशासनिक व्यवस्था का अनुकरण किया। शासन की बागडोर राजा के हाथों में थी और उसकी सहायता के लिए वकील, वजीर, बख्शी और काजी थ। इनके अलावा **दबीर** (सचिव), **मुफ्ती** (कानून की व्याख्या करने

वाला), **कोतवाल** और **मुहतसिब** (जन–आचरण पर अकुश रखने वाले) होते थे। **मुनहियानों** (जासूसों) का न केवल राज्य के भाग में नियुक्त किया जाता था, बल्कि इस बात के प्रमाण हैं कि मौहम्मद के शासनकाल में उन्हें दिल्ली में भी नियुक्त किया गया था। मुहम्मद I के शासनकाल में बहमनी राज्य को चार **तरफों** या प्रांतों में बांटा गया, ये थे–**दौलतावाद, बरार, बीदर** और **गुलबर्गा** इन प्रान्तों में शासन का प्रमुख **तरफदार** कहलाता था। गुलबर्गा के महत्व को देखते हुए केवल बहुत ही विश्वासपात्र अमीरों की नियुक्ति वहां की जाती थी जिन्हें **मीर नायब** (वायसराय) कहा जाता था–ये अन्य प्रान्तों के राज्यपालों (**तरफदारों**) से भिन्न थे। कालान्तर में, राज्य की सीमाओं के विस्तार के साथ, महमूद गांवां ने साम्राज्य को **आठ प्रांतों** में विभाजित किया। साम्राज्य के कुछ क्षेत्रों को सुल्तान द्वारा सीधे अपने नियंत्रण में (**खासा-ए-सुल्तानी**) से लिया गया।

सैन्य संगठन

सेना का सेनापति **अमीर-उल-उमरा** होता था। सेना में मुख्यतः सिपाही और घुड़सवार होते थे। हाथियों का प्रयोग भी प्रचलित था। शासक–गण बड़ी संख्या में अंगरक्षकों को रखते थे, जो **खासाखेल** कहलाते थे। ऐसा बताया जाता है कि मौहम्मद I के पास 4000 अंगरक्षक थे। इसके अतिरिक्त, **सिलहदार** होते थे जो राजा के व्यक्तिगत शस्त्रागार के प्रभारी का कार्य करते थे। आवश्यकता पड़ने पर **बरबरदानों** को सेना की लामबंदी के लिए कहा जाता था। बहमनी सेना की प्रमुख विशेषता बारूद के प्रयोग था जो सेना के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ।

इटली के यात्री, **निकोलो कोंती** जिसने 15वीं शताब्दी में भारत की यात्रा की थी, लिखा है कि उनकी सेना भाला, तलवारों विभिन्न हथियारों, ढालों, धनुषों और बाणों का प्रयोग करती थी। वह आगे कहता है कि वे "प्राक्षेपिक और गोलाबारी की मशीनों और साथ ही घेराबंदी के हथियारों का प्रयोग करते थे।" 1500-17 के दौरान भारत–यात्रा करने आये **दुआर्ते बारबोसा** ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किए हैं कि वे गदाओं, फरसों, धनुषों और बाणों का प्रयोग करते थे। वह आगे लिखता है : "वे (मुस्लिम) ऊंची काठी पर बने आसनों पर सवार.....काठी से बंधे हुए लड़ते हैं.....हिंदू....अधिकतर पैदल लड़ते थे, जबकि कुछ घोड़ों की पीठ पर...."। महमूद गावां ने सैन्य प्रशासन को कारगार बनाया। पूर्व में **तरफदारों** को किलों के किलेदार नियुक्त करने का पूर्ण अधिकार था। गांवां ने एक किले को एक तरफदार के न्यायाधिकार के अंतर्गत रखकर, बाकी अन्य सभी एक ही प्रांत के किलों को केन्द्रीय नियंत्रण में ले लिया। भ्रष्टाचार पर अंकुश हेतु, उसने एक नियम बनाया कि प्रत्येक अधिकारी को उसके द्वारा संचालित प्रत्येक 500 सिपाहियों के हिसाब से एक निश्चित रकम दी जाए। जब इस अधिकारी को नकद वेतन की जगह एक क्षेत्र से राजस्व वसूलने का अधिकार दिया जाता था तो उसे राजस्व वसूलने में होने वाला खर्चा नगद धन के रूप में अलग से दिया जाता था। यदि वह नियत संख्या में सिपाहियों को रखने में असफल होता था तो उसे उसी अनुपात में रकम राजकोष में वापस करनी होती थी।

अर्थव्यवस्था

महमूद गांवां ने भूमि की नियमित नाप के और गांवों व कस्बों की सीमाओं के निर्धारण के आदेश दिये। इस प्रकार, इस क्षेत्र में वह राजा टोडरमल का पूर्वगामी माना जा सकता है। इन उपायों से राजकोष को बहुत लाभ हुआ। प्रथम, साम्राज्य की आय निश्चित और अग्रिम रूप से ज्ञात हो गयी, द्वितीय, इसने अमीरों के भ्रष्टाचार को भी कुछ सीमा तक कम कर दिया, जिससे राज्य की आय में वृद्धि हुई।

बहमनी राज्य में, वाणिज्य और व्यापार उन्नत अवस्था में था। एक रूसी यात्री **निकितीन**, जो 1469-74 के दौरान दक्खन में रहा, बीदर में वाणिज्यक गतिविधियों के बारे में पर्याप्त सूचना देता है। उसकें अनुसार प्रधानतः घोड़ों, वस्त्रों, रेशम और मिर्च का व्यापार होता था। उसका आगे कहना है कि एक बाजार में बड़ी संख्या में लोग एकत्रित होते थे वहां व्यापार दस दिनों तक जारी रहता था। वह बहमनी राज्य के सामुद्रिक–बंदरगाह मुस्तफाबाद–दभोल का एक वाणिज्य–केन्द्र के रूप में जिक्र करता है। दभोल केवल भारतीय बल्कि अफ्रीकी बंदरगाहों से भली–भांति जुड़ा हुआ था। घोड़ों को अरब, खुरासान और तुर्किस्तान से आयात किया जाता था। वाणिज्य और व्यापार मुख्यतया हिंदू व्यापारियों के हाथ में था। कस्तूरी और फर (लोम) का आयात चीन से होता था।

सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति

बहमनी साम्राज्य की सामाजिक–संरचना का स्वरूप सार्वभौमिक था जिसमें मुस्लिम, हिंदू, इरानी, ट्रांसऑक्सियन ईरानी, अबीसीनियन (हब्सी) सम्मिलित थे। 16वीं शताब्दी के प्रारंभ में पुर्तगालियों का आगमन हुआ। अगर हम इसके भाषाई पक्ष को देखें तो यह विषम चरित्र अधिक स्पष्ट होता है। फारसी मराठी दक्खनी उर्दू (प्रारंभिक उर्दू) कन्नड और तेलुगु दक्षिण के विभिन्न भागों में व्यापक रूप से बोली जाती थीं।

मोटे तौर पर समाज में दो वर्ग थे। **निकितीन** के अनुसार एक तरफ निर्धन और दूसरी तरफ अमीर थे जो "अतिसमृद्ध" थे। उसका कहना है कि "अमीरों को चांदी के तख्तों पर बिठा कर लाया जाता था, जिनके आगे सोने के आभूषणों से लदे 20 घोड़े होते थे और 300 घुड़सवार तथा 500 पैदल–सिपाही, 10 मशालची साथ–साथ चलते थे।" **निकितीन** बहमनी वजीर महमूद गांवां के वैभव का भी सजीव वर्णन करता है। वह लिखता है कि प्रतयेक दिन उसके साथ 500 व्यक्ति भोजन ग्रहण करते थे। उसके घर की सुरक्षा के लिए ही, प्रतिदिन 100 सशस्त्र व्यक्ति निगरानी करते थे। इसके विपरीत आम जनता निर्धन थी। यद्यपि **निकितीन** केवल दो वर्गों का वर्णन करता है, एक और वर्ग–व्यापारी वर्ग (तथाकथित मध्यम वर्ग)–भी उस काल में मौजूद था।

सूफी–संतों का बहमनी शासकों द्वारा बहुत सम्मान किया जाता था। प्रारंभ में वे लोग दक्खन में खलजियों और तुगलकों के धार्मिक सहायकों के बतौर आए। प्रारंभिक बहमनी राज्य को अपनी सत्ता के लिए जनता द्वारा वैधता प्राप्त करने हेतु सूफियों के सहयोग की जरूरत पड़ी। बहमनी राज्य में आए सूफियों में से प्रमुखता चिश्ती, कादिरी और शत्तारी सूफी सम्प्रदाय थे। बीदर कादिरी सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण केन्द्रों में एक था। शेख सिराजउद्दीन प्रथम सूफी था जिसे राजा की कृपा दृष्टि प्राप्त हुई। चिश्ती संतों को सर्वाधिक आदर प्राप्त था। दिल्ली के प्रसिद्ध **चिश्ती संत सैयद मौहम्मद गेसू दराज** 1402-03 में **गुलबर्गा** आकर बसे। सुल्तान फिरोज ने उनकी खानकाह की देखभाल और व्यय के लिए बड़ी संख्या में गांव अनुदान में दिये। लेकिन उसके शासनकाल के अंतिम भाग में दोनों के मध्य मनमुटाव पैदा हुआ क्योंकि गेसू दराज ने सुल्तान के भाई अहमद का, उसके उत्तराधिकार के लिए पक्ष लिया। इसके कारण अंत में गेसू दराज के गुलबर्गा से निष्कासित किया गया।

अफाकियों द्वारा भारी संख्या में बहमनी राज्य में आने से शियाओं को भी फजलल्लाह के प्रभाव में विशेष स्थान प्राप्त हुआ। अहमद I द्वारा 30,000 चांदी के टंकों को कर्बला (ईराक) के सैय्यदों में वितरण के लिये भेजना, उसके शिया मत के प्रति झुकाव को प्रदर्शित करता है। अहमद III का सबसे प्रभावशाली वजीर भी एक शिया था।

हिंदू परंपराओं और संस्कृति का भी बहमनी दरबार में प्रभाव था। सुल्तान फिरोज (1397-1422) द्वारा विजयनगर के शाही परिवार की एक लड़की के साथ विवाह करने से हिंदू–मुस्लिम सांस्कृतिक सौहाद्रता का बढ़ावा मिला। एक किंबदंती के अनुसार फिरोज एक बार एक हिंदू फकीर के भेष में विजयनगर भी गया था। उर्स जैसे महत्वपूर्ण समारोहों में भी हिंदू प्रभाव देखा जा सकता था। उर्स समारोहों में, समरोह को विशिष्ट हिंदू रीति–शंख फुंकना, पुष्प–भेंट, इत्यादि–द्वारा सम्पन्न करता था। रोचक बात यह थी कि जंगम (मुखिया) मुस्लिम चोगा तथा मुस्लिम दरवेश द्वारा पहनी जाने वाली रस्मी टोपी पहनता था।

विजयनगर का प्रशासन

[illegible] रचना को [illegible] हिंदी [illegible] पुस्तक में कृष्ण देव राय ने [illegible] राजा के लिए यह सलाह थी कि बड़ी सावधानी के साथ एवं अपनी शक्ति के [illegible] आप जो कुछ भी देख या सुन सकते हैं उसकी उपेक्षा किए बिना भलों की रक्षा करने और दुष्टों को दंडित करने का कार्य करना चाहिए।" उसने राजा को लोगों पर मामूली कर लगाने का भी सुझाव दिया। साम्राज्य एक शताब्दी तक जीवित रहा, तथापि उसकी वैभव व शक्ति नष्ट हो गई।

केन्द्रीय व्यवस्था

विजयनगर साम्राज्य में राजा प्रशासन का प्रमुख था तथा सर्वोच्च सत्ता का स्वामी था। इस काल में प्राचीन भारत की भांति राज्य की सप्तांग विचारधारा पर जोर दिया जाता था। विजयनगर के राजय की प्रसिद्ध शासक **कृष्ण देव राय** ने अपनी रचना **अमुक्तमाल्यदा** में यह स्पष्ट किया है कि राज्य के सात अंगों में राजा की स्थिति सबसे महत्वपूर्ण होती है तथा उसमें अपने आदेश लागू करने की क्षमता होनी चाहिए उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह प्रजा के हित का ध्यान रखे। राजा के अभिषेक समरोह व उस पर ली गई शपथ से जैसा कि **टी. वी. महालिंगम** का मानना है कि वैदिक युगीन राजा की अवधारणा से समानता भी प्रदर्शित होती है। राजा को चुनने में राज्य के मंत्रियों और नायकों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती थीं, जैसे वीर नरसिम्हा की मृत्यु पर कृष्णराया को राजा बनाने की सालुवा तिम्ना नामक मुख्य प्रधानमंत्री तथा सदाशिव महाराया को राजा बनाने के रामराज नामक मंत्री प्रमुख ने भूमिका निभाई।

राजा के प्रमुख कार्य थे:

1. प्रजा को कष्टों से मुक्त रखना,
2. प्रान्तीय शासकों के शोषण की संभावना समाप्त करना,
3. जाति–धर्म का अनुपालन करना और करवाना,
4. कृषि व व्यापारिक समृद्धि को प्रोत्साहन देना,
5. राज्य के सारे युद्ध व शांति सम्बन्धी आदेशों की घोषणा करना,
6. दान की व्यवस्था करना,
7. नियुक्तियां करना तथा प्रजा के मध्य सद्भावन उत्पन्न करना,
8. विदेशी व्यापारियों को सुरक्षा प्रदान करना,
9. उद्योग–धंधों को प्रोत्साहन देना,
10. दंड धारण करना व न्याय प्रदान करना।

विजयनगर संबंधी उल्लेखों में यह स्पष्ट विवरण मिलते हैं कि राजा राज्य की सुरक्षा के साथ–साथ प्रजा के सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक कल्याण के प्रति भी सजग थे। परन्तु विजयनगर के शासक विधि–निर्माता नहीं थे। वे वेदों, स्मृतियों, धर्मशास्त्रों व परम्पराओं से प्राप्त नियमों एवं विधियों के आधार पर धर्म का संरक्षण व प्रजा की रक्षा करते थे। शासक यद्यपि दैवी शक्ति को अपनी सत्ता का आधार मानते थे, पर यह सत्ता असीमित नहीं थी। उस पर धर्म, परम्परा, मंत्रिपरिषद् व जनमत का अंकुश था। **वी स्मिथ** विजयनगर शासक को एक सर्वाधिकारवादी निरकुंश शासक मानते थे जिस पर किसी प्रकार का कोई अंकुश नहीं था परन्तु इस समय के शिलालेखों व रचनाओं में राजा के कल्याणकारी कार्यों में राजा के कल्याणकारी कार्यों व प्रजा के प्रति सद्व्यवहार रखने का बहुत बार उल्लेख हुआ है, जिससे यह साफ प्रतीत होता है कि यह शासक केवल योद्धा शासक अथवा सर्वशक्तिशाली राजा ही नहीं थे बल्कि प्रजा का कल्याण उनके लिए एक धार्मिक दायित्व था। धर्म व परम्परा की सीमा में बंधे हुए थे व राजकीय परिषद् उन पर अंकुश का काम करती थी।

इस काल में उत्तराधिकार संबंधी संघर्ष की संभावना बहुत कम थी क्योकि राजा के ठीक बाद युवराज का पद होता था। सामान्यतः राजा का ज्येष्ठ पुत्र होता था। पुत्र न होने पर राजपरिवार के किसी योग्य पुरुष को युवराज घोषित किया जाता था। युवराज की नियुक्ति के बाद उसका अभिषेक किया जाता था। युवराज से शासन की सैद्धान्तिक जानकारी ली जाती थी। इस काल में दो बधुओं के एक साथ सम्राट होने के वर्णन मिलते हैं, जैसे हरिहर व बुक्का बंधुओं ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की और सहवर्ती शासक के रूप में शासन किया। वृद्धावस्था प्राप्त होने पर राजा स्वयं ही राजगद्दी का त्याग करना उचित समझते थे।

विजयनगर नरेश अपने अभिलेखों में बार–बार धर्म के अनुरूप अर्थात् न्याय व समता के सिद्धान्तों के अनुसार शासन करने का उल्लेख करते हैं। साम्राज्य की सामाजिक एकता शांति बनाए रखने में वे हमेशा प्रयत्नशील रहे। उनका व्यक्तिगत धर्म कुछ भी रहा हो, लेकिन उन्होंने धर्म के मामले में हमेशा एक विशुद्ध निरपेक्ष निति का अनुसरण किया। यहां तक कि उन्होंने अपने धर्मावलंबियों के मुकाबले विधर्मियों व अल्पमत के लोगों को संरक्षण प्रदान किया। वे अपने राज्य की आर्थिक प्रगति के प्रति भी बहुत सचेत थे। कृषि–उत्पादन की वृद्धि और व्यापार की समृद्धि उनके शासन का एक प्रमुख लक्ष्य था। वे न्याय व दंड को शांति व सुरक्षा के लिए परम आवश्यक मानते थे। सम्राट स्वयं न्याय का सर्वोच्च न्यायालय था। दण्ड के मामले में क्रूर दण्डों को उचित नहीं समझा जाता था। इस प्रकार वे एक निरकुंश शासक न होकर स्वयं को जनता के प्रति उत्तदायी समझते थे। **आमुक्तमाल्यदा** में बहुत स्पष्ट शबदों में कहा गया है अपनी प्रजा की सुरक्षा व कल्याण को हमेशा अपने सामने रखो। राजा का कल्याण तभी होगा जब देश प्रगतिशील व समृद्धिशील होगा।'

मंत्रिपरिषद्

मंत्रिपरिषद् राजा की सत्ता को नियंत्रित करने में भी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती थी। राजा राज्य की नीतियों के निर्धारण में इसी परिषद् की सलाह लेता था। यही परिषद् राजा का अभिषेक करती और देश का प्रशासन चलाती थी। विजयनगर के राज्य के समय के अभिलेखों तथा ऐतिहासिक वर्णनों में मंत्रिपरिषद् के साथ एक अन्य परिषद् का भी उल्लेख मिलता है जिस

साम्राज्यिक परिषद् कहा जा सकता है क्योंकि **आर सीवेल** के अनुसार इसमें साम्राज्य के प्रादेशिक शासक, नायक, राजकुमार, व्यापारिक निगमों के प्रतिनिधि आदि शामिल होते थे। इस प्रकार यह परिषद् काफी बड़ी होती थी। इस परिषद् के बाद केन्द्र में मंत्रिपरिषद होती थी, जिसका प्रमुख अधिकारी प्रधानी या महाप्रधानी होता था। इसकी स्थिति प्रधानमंत्री की भांति होती थी। मंत्रिपरिषद् में राजा के कुछ निकटतम सम्बन्धी भी शामिल होते थे। **न्यूनिज** के वृत्तांत में यह उल्लेख मिलता है कि देव राया II के बीस मंत्रियों में उसका भतीजा भी था। मंत्रिपरिषद् के अध्यक्ष को **समानायक** कहा जाता था। **प्रधानी भी** इसकी अध्यक्षता करता था। यह मंत्रिपरिषद् विजयनगर साम्राज्य के संचालन में सबसे महत्वपूर्ण संस्था थी। अन्य सदस्य विभिन्न विभागों के अध्यक्ष अथवा महत्वपूर्ण अधिकारी होते थे जैसे **महशिराः, उपप्रधानी, दंडनायक, सर्वसैन्याधिकारी, सांमताधिकारी, रायाभंडारी, अमात्य, तिलक** इत्यादि। **दंडनायक** पद बोधक नहीं था वरन विभिन्न अधिकारियों की विशेष श्रेणी को दंडनायक कहा जाता था।

केन्द्रीय सचिवालय

विजयनगर जैसे विशाल साम्राज्य पर केवल राजा और उसकी मंत्रिपरिषद् ही अकेले शासन नहीं कर सकते थे, अतः केंद्र में एक सचिवालय की स्थापना की गई थी। इस सचिवालय में विभागों का बंटवारा किया गया था और इसमें '**रायसम्**' या सचिव, '**कर्णिकम्**' अर्थात् एकाउटेंट जैसे अधिकारी होते थे। विशेष विभागों से संबंधित अधिशाही मुद्रा को रखने वाला अधिकारी 'मुद्राकर्त्ता' कहलाता था। इस प्रकार के अनेक अधिकारियों के द्वारा विजयनगर के केन्द्रीय सचिवालय का गठन किया गया था।

प्रांतीय प्रशासन

विजयनगर जैसे विशाल साम्राज्य पर प्रशासन के लिए उसे अनेक प्रांतों में विभाजित किया गया था। ये प्रांत राज्य या मंडल कहलाते थे। विजयनगर साम्राज्य में इन प्रांतों की संख्या लगातार परिवर्तित होती रही चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक प्रांतों का क्रमशः विस्तार होता रहा। कृष्ण देव राय के शासनकाल में **प्रांतों** की संख्या सबसे अधिक थी। प्रांतों को **मंडलों** में विभाजित किया गया था। कुछ इतिहासकारों का विचार है कि '**मंडल**' राज्य या प्रांत से बड़ी इकाई थी। जिले '**कोट्टम**' या '**वलनाडु**' कहलाते थे। कोट्टम को **नाडुओं** में विभाजित किया गया, इन्हें आज परगना या ताल्लुक कहा जाता है। इन नाडुओं को '**मेलग्रामों**' में विभाजित किया गया। प्रत्येक 'मेलाग्राम' में पचास गांव होते थे और प्रशासन की सबसे छोटी इकाई '**ऊर**' या ग्राम थे। इस काल में कुछ ग्रामों के समूह को '**स्थल**' और 'सीमा' भी कहा गया। प्रांतों का विभाजन करने में सैनिक दृष्टिकोण का ध्यान रखा जाता था अर्थात् सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली किले से युक्त प्रदेश को प्रांत के रूप में संगठित किया जाता था।

सामान्यतः प्रांतों पर राजपरिवार के व्यक्तियों को ही गवर्नर के रूप में नियुक्त किया जाता था। कुछ प्रांतों पर कुशल और अनुभवी दंडनायकों को भी गवर्नर के रूप में नियुक्त कर दिया जाता था। इन गवर्नरों को प्रांत में काफी स्वायत्तता प्राप्त थी। इन गवर्नरों क्रा कार्यकाल निर्धारित नहीं होता था और यदि वे कुशल और योग्य होते थे तो काफी लम्बे समय तक शासन कर सकते थे। गवर्नर सिक्कों को प्रसारित कर सकता था, नए कर लगा सकता था, पुराने करों को माफ कर सकता था और भूमिदान आदि दे सकता था। केन्द्रीय सरकार प्रान्त के प्रशासनिक मामलें में सामान्यतः हस्तक्षेप नहीं करती थी पर यदि प्रांतीय गवर्नर एवं उसके अधिकारी जनता का शोषण और दमन करते थे तो केंद्रीय सरकार प्रांतीय मामलों में हस्तक्षेप करने के प्रति विमुख नहीं रहती थी। प्रांत में कानून एवं व्यवस्था बनाए रखना प्रांतीय गवर्नरों का सबसे प्रमुख उत्तरदायित्व था। गवर्नरों को प्रांतीय राजस्व का एक निर्धारित अंश केन्द्र के पास भेजना होता था। ये प्रांतीय गवर्नर अपने सचिव या एजेंट को केंद्र में रखते थे। शक्तिशाली राजाओं के शासनकाल में ये प्रांतीय गवर्नर निष्ठावान बने रहते थे, परंतु केंद्रीय शासन के कमजोर होते ही वे अपनी शक्ति और प्रभाव का विस्तार करने लगते थे।

नायंकार व्यवस्था

विजयनगरकालीन राजतंत्र और प्रांतीय व्यवस्था में प्रसंग में नायंकार व्यवस्था का उल्लेख आवश्यक है। चोल युग और विजयनगर युग के राजतंत्र के बीच सबसे बड़ा अंतर यही नायंकार व्यवस्था है। इस व्यवस्था की उत्पत्ति, इसके वास्तविक स्वरूप और व्याख्या के संबंध में इतिहासकारों में बड़ा विवाद है। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि विजयनगरकालीन सेनानायकों को नायक कहा जाता था। कुछ अन्य इतिहासकारों का विचार है कि ये नायक वस्तुतः भू–सामंत थे जिन्हें राजा वेतन के बदले अथवा उनकी अधीनस्थ सेना के रख–रखाव के लिए उन्हें विशेष भू–खंड दे देता था, जो '**अमरम**' कहलाते थे। 'अमरम' भूमि का उपभोग करने के कारण इन्हें '**अमर-नायक**' भी कहा जाता था। सोलहवीं शताब्दी के मध्य में इन नायकों की संख्या लगभग दो सौ थी और इन नायकों को सबसे अधिक तमिलनाडु में नियुक्त किया गया था। तमिल प्रदेश की अधिकांश भूमि को 'अमरम' के रूप में नायकों को वितरित कर दिया गया। इस 'अमरम' के रूप में नायकों को वितरित कर दिया गया। इस 'अमरम' भूमि का नायक पूरी तरह से स्वयं उपभोग नहीं कर सकते थे। 'अमरम' भूमि का उपभोग करने के संबंध में उनके दो प्रमुख दायित्व थे। प्रथमतः इससे प्राप्त

आय के एक अंश को उन्हें केन्द्रीय खजाने में जमा कराना पड़ता था। द्वितीयतः उन्हें इसी भूमि की आय से राजा की सहायता के लिए एक सेना रखनी पड़ती थी। प्रत्येक नायक के अंतर्गत रहने वाली सेना का निर्धारण राजा स्वयं करता था। सामान्यतः नायक की सेना की संख्या और केंद्र को भेजे जाने वाले राजस्व का अंश, 'अमरम' भूमि के आकार पर निर्भर करता था। इसके अलावा नायकों को अपनी 'अमरम' भूमि में शांति और सुरक्षा बनाए रखने और अपराधों को रोकने का दायित्व भी स्वयं वहन करना पड़ता था। उनके अधिकार क्षेत्र में यदि कहीं चोरी या लूट की घटना हो जाती तो उसकी क्षतिपूर्ति भी उन्हें करनी पड़ती थी। यदि 'नायक' अपने इन दायित्वों का निर्वाह नहीं कर पाते थे तो उनको प्रदान किए गए भू–खंडों को जब्त किया जा सकता था। कभी–कभी नायकों को शारीरिक रूप से भी दंडित किया जाता था परंतु उन्हें मृत्युदंड देने का हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता।

यद्यपि हमने 'नायंकार व्यवस्था' का प्रांतीय शासन व्यवस्था के संदर्भ में उल्लेख किया है परंतु नायक की स्थिति, प्रांतीय गवर्नर की तुलना में निम्न दृष्टियों से भिन्न होती थी :

1. प्रांतीय गवर्नर प्रांत में राजा का प्रतिनिधि होता था और वह राजा के नाम से शासन करता था, जबकि नायक केवल एक सैनिक–सामंत होता था और उसे केवल अपने सैनिक एवं वित्तीय दायित्वों की पूर्ति के लिए कुछ जिले या प्रदेश प्रदान कर दिए जाते थे।
2. गवर्नर की तुलना में नायक को अपने प्रदेश में कहीं अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। राजा सामान्यतः नायंकार प्रदेशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता था और किसी विशेष परिस्थितियों अथवा शासन के मामले में पूर्णतया अक्षम होने पर ही नायक को हटाया जा सकता था।
3. नायकों को एक 'अमरम' प्रदेश से दूसरे 'अमरम' प्रदेश में स्थानांतरित करने के प्रमाण हमें नहीं मिलते हैं जबकि गवर्नर को प्रशासकीय आवश्यकता के अनुरूप स्थानांतरित या पदच्युत भी किया जा सकता था।
4. गवर्नर की तुलना में नायक के उत्तरादायित्व भी कहीं अधिक थे। जंगलों को साफ कराना, कृषि योग्य भूमि का विस्तार करना, कृषि एवं आम समृद्धि की रक्षा करना आदि उसके कुछ प्रमुख दायित्व थे।
5. गवर्नरों को प्रायः 'दंडनायक' कहा जाता था और अधिकांशतः वे ब्राह्मण हुआ करते थे। परंतु ब्राह्मण नायक होने के दृष्टांत हमें बहुत थोड़े मिलते हैं।
6. प्रांतीय गवर्नरों द्वारा अपने पदों को आनुवंशिक बना लेने का हमें कोई दृष्टांत नहीं मिलता, परंतु नायकों के पद धीरे–धीरे आनुवंशिक हो गए थे।

नायकों को अपन पद की आवश्यकताओं को दृष्टिगत करते हुए केंद्र में दो प्रकार के संपर्क अधिकारी (राजधानी में) रखन पड़त थ इनमें से एक अधिकारी साम्राज्य की राजधानी (अर्थात् विजयनगर) में स्थित नायक की सेना का सेनापति होता था और दूस विजयनगर में नियुक्त उसका प्रशासनिक एजेंट होता था जिसे 'स्थानपति' कहा जाता था। यदि हम विजयनगरकालीन नायक व्यवस्था को समग्र रूप में देखें, तो यह हमें यूरोप के मध्य कालीन सामंतवाद की याद दिलाता है। यद्यपि नायंकार व्यवस्था क यूरोपीय सामंतवाद के साथ तुलना नहीं की जा सकती, परंतु इस व्यवस्था में सामंतवादी लक्षण बहुत अधिक थे।

नायंकार व्यवस्था के गुण और दोषों का विवेचन यहां आवश्यक नहीं है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों, आवश्यकताओं और गुणा कारण इस व्यवस्था को स्थापित किया गया था, अतः मूल रूप से यह व्यवस्था निश्चित रूप से उपयोगी रही होगी। धीरे–धीरे इ व्यवस्था में दोष पैदा होने लगे। वित्तीय साधनों और सैनिक शक्ति से युक्त ये नायक विजयनगर के परवर्ती युग मे अपनी स्वतंत्र की घोषणा और अपने प्रदेशों का विस्तार करने के लिए आपस में युद्ध करने लगे। कमजोर शासकों के शासन काल मे नायका उच्छृंखलता और अधिक बढ़ जाती थी। परिणामस्वरूप 'नायंकार व्यवस्था' विजयनगर साम्राज्य के विनाश का कारण बनी। इ कारण विजयनगर साम्राज्य के परवर्ती दिनों में नायकों की उच्छृंखलता को रोकने के लिए 'महामंडलेश्वर' या विशेष कमिश्नर नियुक्ति की गई और इन्हें सारे दक्षिण भारत में नियुक्त किया गया। यह कार्य कृष्णदेवराय की मृत्यु के बाद अच्युत देव राय शासन काल में उस समय किया गया, जब कृष्णदेव राय की मृत्यु का लाभ उठाकर प्रांतीय नायक स्वतंत्रता की कोशिश करने लग

स्थानीय शासन

संपूर्ण दक्षिण भारत के इतिहास में अनेक राजवंशों के उत्थान और पतन के दौरान एक राजनीतिक संस्था ऐसी है दुष्प्रभावित नहीं हुई वह था स्थानीय शासन। चोल–चालुक्य युग की शासन व्यवस्था के **'सभा'** और **'नाडु'** विजयनगर के प्रचलित रही। इस काल में किसी–किसी प्रदेश में 'सभा' को **'महासभा'** अन्यत्र **'ऊर'** और **'महाजन'** भी कहा जाता था। गांव के अनेक वार्डों या मुहल्लों में बांटा जाता था। इस 'सभा' के विचार–विमर्श में गांव या क्षेत्र विशेष के प्रमुख लोग हिस्सा थे। विजयनगरकालीन अभिलेखों में इन स्थानीय स्वशासन संबंधी संस्थाओं का खूब उल्लेख है।

इन ग्रामीण सभाओं को नई भूमि या अन्य प्रकार की संपत्ति को उपलब्ध करने और गांव की सार्वजनिक भूमि को बेचने का अधिकार था। ये सभाएं ग्रामीणों की ओर से सामूहिक निर्णय भी ले सकती थीं और गांव की प्रतिनिधि होने के नाते गांव की जमीन को दान में भी दे सकती थीं। इस प्रकार इन ग्राम सभाओं की स्थिति परिवार के मुखिया की भांति होती थी। ये ग्राम सभाएं राजकीय करों को भी एकत्रित करती थीं और इस संबंध में अपने पास भू–आलेखों को भी तैयार रखती थी। यदि कोई भू–स्वामी लंबे समय तक लगान अदा नहीं कर पाता था तो ग्राम सभाएं उसकी भूमि को भी जब्त कर सकती थीं। किसी प्राकृतिक विपत्ति के आने पर ग्राम सभाएं राजा से लगान या कर विशेष की माफी के लिए भी निवेदन करती थीं। इस कारण शासन की राजस्व नीति के क्रियान्वयन में इन सभाओं की एक बहुमुखी भूमिका रहती थी।

इन सभाओं के न्यायिक अधिकार भी थे। वे कुछ प्रकार के दीवानी मुकदमों का फैसला करती थीं और फौजदारी के छोटे–मोटे मामलों में अपराधी को दंड दे सकती थीं। कभी–कभी के ग्राम सभाएं सार्वजनिक दानों और ट्रस्टों की भी व्यवस्था करती थीं। ऐसी स्थिति में दानदाता व्यक्ति किसी विशेष धार्मिक कार्य का पुण्य के लिए उक्त गांव की भूमि को दान में दे देता था जिसकी आय से ग्राम सभा उक्त दान के उद्देश्य की पूर्ति करती रहती थी।

'नाडु' गांव की एक बड़ी राजनीतिक इकाई था। इसकी सभा को भी 'नाडु' कहा जाता था और इसके सदस्यों को 'नात्तवर' कहा जाता था। इसे अधिकार ग्राम सभा की ही भांति होते थे परंतु इसका अधिकार क्षेत्र काफी बड़ा होता था। ये स्थानीय संस्थाएं शासकीय नियंत्रण के बाहर नहीं होती थीं। यदि वे नियमानुसार ग्राम की व्यवस्था नहीं कर पातीं अथवा ग्राम के विभिन्न वर्गों के हितों का संरक्षण नहीं प्रदान कर पातीं तो उन्हें दंडित किया जा सकता था।

विजयनगर युग में इन स्थानीय सुस्थाओं का बड़ी तेजी से पतन हुआ और ये ग्राम सभाएं, जो चोल युग में बहुत शक्तिशाली स्थानीय संस्थाएं थीं, चोल साम्राज्य के पतन के बाद क्रमशः पतनोन्मुख होती गईं। विजयनगर काल में इनकी जीवंतता लगभग बिल्कुल समाप्त हो गई। किन्हीं विशेष कारणों एवं परिस्थितियोंवश इन स्थानीय संस्थाओं का पतन हुआ जिनका विवेचन करना बहुत लंबा प्रकरण है। यहां केवल मात्र यह कह देना समीचीन होगा कि विजयनगर सम्राटों ने '**आयगार व्यवस्था**' द्वारा स्थानीय प्रदेशों के शासन की व्यवस्था प्रचलित की। इस 'आयगार व्यवस्था' ने स्थानीय स्वायत्तता और इन ग्रामीण गणतंत्रों के मुक्त जीवन गला घोंट दिया।

आयगार व्यवस्था

नायंकार व्यवस्था की भांति आयगार व्यवस्था भी विजयनगर–कालीन शासन व्यवस्था की एक बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। इस व्यवस्था के अनुसार एक स्वतंत्र इकाई के रूप में प्रत्येक ग्राम को संगठित किया जाता था और इस ग्रामीण शासकीय इकाई पर शासन [illegible] नियुक्त किया जाता था। इन बारह शासकीय [illegible] के समूह को आयगार' कहा जाता [illegible] और [illegible] भी रखते थे। [illegible] के लगान और करमुक्त भूमि भी प्रदान की जाती थी। [illegible] के [illegible] दुस्सह उत्तरदायित्व होते थे। अपने अधिकार क्षेत्र में शांति और सुरक्षा बनाए रखना उनका सर्वप्रमुख उत्तरदायित्व था। इन ग्रामीण अधिकारियों की बिना जानकारी के न तो संपत्ति को स्थानांतरित किया जा सकता था और न ही दान दिया जा सकता था। भूमि की बिक्री केवल इन्हीं अधिकारियों की जानकारी से हो सकती थी। कर्णिक या एकाउंटेंट नामक आयगार भूमि की खरीद या बिक्री की लिखा–पढ़ी तत्संबंधी दस्तावेजों को तैयार करता था।

राजस्व प्रशासन

विजयनगर–कालीन राजस्व व्यवस्था एक बहुत व्यापक विषय है और इस संबंध में समकालीन अभिलेखों में असीमित जानकारी भरी पड़ी है। इसके अतिरिक्त विदेशी यात्रियों के विवरणों से भी हमें इस संबंध में काफी जानकारी प्राप्त होती है। विजयनगर–काल में राज्य की आय के अनेक स्त्रोत थे, जैसे लगान, संपत्ति कर, व्यापारिक कर, व्यावसायिक कर, उद्योगों पर कर, सामाजिक और सामुदायिक कर और अर्थदंड से प्राप्त आय आदि। मध्यकालीन भारत के अन्य भागों की भांति विजयनगर साम्राज्य में भी आय का सबसे बड़ा स्त्रोत लगान था।

भू-राजस्व व्यवस्था

विजयनगर काल में भू–राजस्व एवं भूधृति व्यवस्था बहुत व्यापक थी और भूमि को अनेक श्रेणियों में विभाजित किया गया था। भूमि मुख्यतः सिंचाईयुक्त या सूखी जमीन के रूप में वर्गीकृत की जाती थी। इस वर्गीकरण के बाद यह देखा जाता था कि इस भूमि का कोई अंश ब्राह्मणों या मंदिरों को तो दान में नहीं दिया गया है। इसके बाद विशेष में उगाई जाने वाली फसलों के आधार पर भी उनका वर्गीकरण किया जाता था। भूमि के वर्गीकरण के बाद गांव में जुड़े चरागाहों आदि की जांच की जाती थी और

चरागाह पर चरवाही कर लगता था। लगान का निर्धारण भूमि की उत्पादकता और उसकी स्थिति के अनुसार किया जाता था, परन्तु भूमि में होने वाली पैदावार और उसकी किस्म भू–राजस्व के निर्धारण का सबसे बड़ा आधार थी। विजयनगर काल में पूरे साम्राज्य में न तो भूमि के पैमाइश की समान व्यवस्था थी और न लगान की दरें ही समान थीं, जैसे ब्राह्मणों के स्वामित्व वाली भूमि से उपज का बीसवां भाग और मंदिरों की भूमि से उपज का तीसवां भाग लगान के रूप में लिया जाता था। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की भू–धृतियों के लिए लगान की दरें भिन्न–भिन्न होती थीं।

अन्य विविध कर : लगान के अतिरिक्त मकान, पशुओं, संपत्ति कर, औद्योगिक कर जैसे अनेक करों को राज्य द्वारा वसूल किया जाता था। समकालीन अर्थव्यवस्था से संबंधित ऐसा कोई वर्ग नहीं था जिसे व्यावसायिक कर न देने होते हों। इससे गड़रिये, लुहार, धोबी और नाई तक मुक्त नहीं थे। परंतु सोलहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में नाइयों को व्यावसायिक कर से मुक्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त विभिन्न समुदायों से भी कर वसूल किए जाते थे, जैसे मनोरंजन करने वालों और व्यापारिक निगमों एवं श्रेणियों आदि से। सामाजिक और सामुदायिक करों में 'विवाह कर' बहुत रोचक है। यह कर वैवाहिक समरोह के आयोजन के आकार और विवाह में खर्च किए जाने वाले धन पर निर्भर करता था। यह कर वर और कन्या दोनों पक्षों से वसूल किया जाता था पर यदि कोई व्यक्ति विधवा से विवाह करता था तो उससे और उसकी वधू दोनों से कर नहीं लिए जाते थे। विजयनगर नरेशों ने विधवा विवाह को विवाह–कर से मुक्त करके इस प्रकर के विवाहों को न केवल सामाजिक मान्यता प्रदान करने का प्रयास किया वरन विधवाओं की दयनीय स्थिति में भी सुधार लाने की चेष्टा की। विजयनगरकालीन राजस्व व्यवस्था की प्रायः आलोचना की जाती है कि इन विविध करों के द्वारा प्रजा पर करों का दुस्सह बोझ डाल दिया गया। परन्तु इस संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य है कि विजयनगर युग में साम्राज्य के सारे वर्गों की आर्थिक समृद्धि में आशातीत वृद्धि हुई। अतः राज्य द्वारा इस समृद्धि का कुछ अंश लेना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त इस काल में करों की संख्या चाहे भले ही अधिक रही हो लेकिन करों की दरें अधिक नहीं थीं। साथ ही विजयनगर नरेश आपात स्थिति में करों को माफ करने में भी बड़े उदार थे और प्रजा कसी आर्थिक समृद्धि तक सम्मुख सबसे बड़ा उद्देश्य रहता था।

यदि हम विजयनगरकालीन राज्यतंत्र और शासन व्यवस्था का अवलोकन करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि विजयनगर नरेशों के सम्मुख अपनी प्रजा का कल्याण और उनकी समृद्धि का विकास उनके शासन का मूल–मंत्र था। उन्होंने अपनी प्रजा के हितों का बलिदान करके राज्य के उद्देश्यों और हितों की पूर्ति नहीं की। उनके द्वारा प्रचलित कुछ प्रशासकीय संस्थाएं जैसे राजस्व व्यवस्था एवं आयागार व्यवस्था विजयनगर साम्राज्य के विनाश के बहुत बाद तक–ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल तक–स्थापित रहीं। कंपनी के अधिकारियों ने इस व्यवस्था को उपयोगी और लाभप्रद समझकर कुछ संशोधनों के बाद क्रियान्वित किया। इन समकालीन प्रशासकीय संस्थाओं के महत्त्व का मूल्यांकन किया जा सकता है।

अर्थव्यवस्था

भूमि एवं आय संबंधी अधिकार

चावल मुख्य पैदावार थी। कोरोमण्डल से लेकर पूलिकट तक काले और श्वेत दोनों किस्म के चावल उगाए जाते थे। अलावा, दालों और चनों जैसे खाद्यान्न उगाए जाते थे। अन्य महत्वपूर्ण उत्पादों में गर्म मसाले (विशेषतः काली मिर्च), नारियल एवं सुपारियां थीं। भू–राजस्व राज्यों की आय का मुख्य साधन था। राजस्व निर्धारण की दर साम्राज्य के विभिन्न भागों में और एक ही स्थान पर भूमि की उर्वरता और उसकी क्षेत्रीय अवस्थिति के आधार पर भिन्न–भिन्न थी। सामान्य तौर पर आय का 1/6 भाग थी परंतु कुछ मामलों में यह अधिक, 1/4 भाग तक थी। ब्राह्मणों और मंदिरों पर यह क्रमशः 1/20 भाग और 1/30 भाग थी। इसका भुगतान नकद और वस्तुओं दोनों के रूप में किया जाता था। हमें भूमि–काश्तकारी के तीन मुख्य वर्गों का संदर्भ मिलता है– **आमरा**, **भंडारावाडा** और **मान्या**। ये गांवों की आय के विभाजन को प्रदर्शित करते हैं। **भंडारावाडा** राजा के अधीनस्थ गांव थे यह वर्ग सबसे छोटा था। इसकी आय के एक भाग का उपयोग विजयनगर के दुर्गों के हितार्थ होता था। मान्या (कर–मुक्त) गांवों की आय का उपयोग ब्राह्मणों, मंदिरों और मठों की देख–भाल हेतु होता था। सबसे बड़ा वर्ग **आमरा** गांवों का था, जिन्हें विजयनगर शासकों द्वारा **अमरनायकों** को प्रदत्त किया जाता था। आमरा गांवों की भूमि पर **अमरनायकों** का मालिकाना हक नहीं होता था परंतु इससे होने वाली आय पर उनका विशेषाधिकार था। **आमरा काश्तकारी (पट्टेदारी)** इस अर्थ में मुख्यतया अवशिष्ट सम्पत्ति थी कि इसमें से ब्राह्मणों और दुर्गों के लिए कटौती करने के पश्चात् इसका वितरण होता था। सभी गांवों का तीन–चौथाई हिस्सा इस वर्ग में आता था। अधिकांश इतिहासकार **अमरमकनी** शब्द का अर्थ जागीर अथवा "भूसम्पत्ति" बताते हैं, लेकिन इसका शाब्दिक अर्थ 1/16 वां हिस्सा है। इससे संकेत मिलता है कि अमरनायक गांव की आय के एक सीमित भाग पर ही दावा कर सकते थे। इस काल में मान्या अधिकारों में भी परिवर्तन हुए। राज्य द्वारा भूमि की पट्टेदारी व्यक्तिगत रूप से, (**एकाभोगम**) ब्राह्मणों और ब्राह्मणों के समूहों, साथ ही मठों जिसमें। गैर–ब्राह्मण शैव सिद्धान्ता और वैष्णव गुरू भी सम्मिलित थ, को दी जाती थी

परंतु राज्य द्वारा दिये जाने वाले अनुदानों में तुलनात्मक रूप से **देवदान** अनुदान (मंदिर को दिए जाने वाले अनुदान) में बहुत वृद्धि हुई।

भूमि कर के अतिरिक्त कई व्यावसायिक कर प्रचलित थे। ये दुकानदारों, खेतों में काम करने वाले कर्मचारियों, चरवाहों, धोबियों, कुम्हारों, संगीतकारों और जूते बनाने वालों पर लगाए जाते थे। संपत्ति कर का भी प्रावधान था। चराई और मकानों पर भी कर आरोपित किए गए। गाववासियों को गांव के अधिकारियों के भरण–पोषण हेतु भी भुगतान करना पड़ता था। इसके अलावा, **स्थल दायम**, **मार्गदायम** और **मनुला दायम** तीन मुख्य परिवहन शुल्क थे।

भूमि अधिकार की एक अन्य श्रेणी के अंतर्गत सिंचाई में पूंजी निवेश द्वारा आय प्राप्त की जाती थी। इसे तमिल क्षेत्र में **दसावन्दा** और आंध्र तथा कर्नाटक में **काट्टु-कोडगे** के नाम से जाना जाता था। सिंचाई संबंधित इस प्रकार की कृषि गतिविधियां अर्द्ध–शुष्क भागों में होती थी जहां जलराशिकीय तथा स्थलाकृतिक लक्षण विकासात्मक कार्यों के लिए उपयुक्त होते थे। दसावन्दा और काट्टु–कोडगे इस तरह के विकास कार्य जैसे किसी तालाब या नहर का निर्माण करने वाले व्यक्ति द्वारा अर्जित अधिक उत्पादकता के भाग थे। आय पर यह अधिकार व्यक्तिगत और हस्तांतरण योग्य होता था। इस बढ़ी हुई उत्पादकता का एक भाग उस गांव के किसानों को जाता था, जहां विकास संबंधी कार्य किया जाता था।

मंदेरों की आर्थिक भूमिका

विजयनगर के काल में मंदिर महत्वपूर्ण भूस्वामी बने। सैकड़ों गांवों का अनुदान उन देवी–देवताओं को किया गया, जिनकी पूजा विशाल मंदिरों में होती थी। मंदिन–अधिकारी **देवदान** गांवों की व्यवस्था अनुदान के सही उपयोग के लिए करते थे। **देवदान** गांवों की आय से धार्मिक कर्मचारियों का पोषण होता था। इसका उपयोग आनुष्ठानिक कृत्यों हेतु खाद्य चढ़ावा या अन्य सामग्रियों (अधिकतर सुगंधित वस्तुओं और वस्त्रों) की खरीद हेतु किया जाता था। राज्य द्वारा मंदिरों को आनुष्ठानिक प्रयोजनों हेतु नकद धर्मदान भी दिए जाते थे।

मंदिरों द्वारा सिंचाई–संबंधी कार्य भी किया जाता था। देवदान भूमि प्राप्त बड़े मंदिरों में एक सिंचाई विभाग होता था, जिसका कार्य मंदिरों को प्राप्त मुद्रा–अनुदानों का समुचित उपयोग करना था। मंदिरों को नकद अनुदान देने वालों को परिवर्द्धित उत्पादन क्षमता से प्राप्त खाद्य भेंट (प्रसादम्) का एक भा प्राप्त होता था।

वास्तव में, मंदिर दक्षिण भारत की आर्थिक गतिविधियों के मुख्य केन्द्र थे। वे केवल विशाल भूस्वामी ही नहीं थे, बल्कि बैंकिंग गतिविधियों में भी संलग्न थे। उन्होंने कई लोगों को रोजगार दिया। महालिंगम एक अभिलेख का उल्लेख करते हैं जिसमें एक मंदिर में 370 सेवकों के होने के वर्णन है। आनुष्ठानिक सेवाओं के लिए मंदिर स्थानीय साज–सामान खरीदते थे। आर्थिक प्रयोजनों के लिए वे व्यक्तियों और ग्राम्य सभाओं को ऋण प्रदान करते थे। ये ऋण भूमि के बदले में दिए जाते थे, जिसकी आय मंदिरों को प्राप्त होती थी। तिरुपति मंदिर को राज्य से प्राप्त नकद धर्मदानों का पुनः सिंचाई कार्यों में उपयोग होता था। इसके फलस्वरूप प्राप्त आय का प्रयोग धार्मिक कार्यों के लिए किया जाता था। श्रीरंगम मंदिर में नकद अनुदानों का प्रयोग त्रिचनापल्ली के व्यवसाय संघों को व्यावसायिक ऋण प्रदान करने में किया जाता था। मंदिरों के अपने व्यापार संघ होते थे, जो अपनी निधि का उपयोग विभिन्न उद्देश्यों के लिए करते थे। इस प्रकार, मंदिर लगभग एक स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था के रूप में कार्य करते थे जिसमें व्यक्ति और संस्थाएं आर्थिक संबंधों द्वारा बंधे हुए थे।

विदेशी व्यापार

विदेशी व्यापार संबंधी जानकारी हमें कृष्णदेव राय के **अमुक्तामाल्यदा**, **डोमेन्गो पाएस** और **नूनिज** द्वारा प्राप्त होती है। उनमें अश्व–व्यापार का रोचक वर्णन मिलता है। भारतीयों की भूमिका विदेशी व्यापार में न्यूनतम थी। **बारबोसा** के अनुसार, भारतीय समुद्री व्यापार पर मुस्लिम सौदागारों का पूर्ण नियंत्रण था। शासकों द्वारा उनके साथ अच्छा बर्ताव किया जाता था। उसके अनुसार लाल सागर से लौटने पर सम्राट उन्हें स्थानीय लेन–देन में सहायता हेतु एक नायर अंगरक्षक, चेट्टी लेखाकार ओर एक दलाल प्रदान करता था। उनकी प्रतिष्ठा इतनी थी कि कायल में, मुक्ता मात्स्यकी (मोती ढूंढने संबंधी कार्य) पर सम्राट के एकाधिकार को भी एक मुस्लिम सौदागार को दे दिया गया। अश्व–व्यापार पर अरबों और बाद में पुर्तगालियों का नियंत्रण था। घोड़ों को अरब, सीरिया और तुर्की के पश्चिमी सामुद्रिक बंदरगाहों पर लाया जाता था। गोवा द्वारा विजयनगर और साथ ही दक्खनी सल्तनतों को घोड़ों की आपूर्ति की जाती थी। सैन्य दृष्टि से दक्षिणी राज्यों के लिए घोड़ोंकी बहुत महत्ता थी क्योंकि भारत में अच्छी नस्ल के घोड़े प्रजनित नहीं होते थे। इसके अलावा, विजयनगर के उत्तरी–दक्खनी मुस्लिम राज्यों के साथ संघर्ष ने मध्य एशिया से आयातित घोड़ों की उत्तरी भारत द्वारा आपूर्ति पर अंकुश लगा दिया था। घोडो के अलावा, हाथी–दांत, मोती, मसाले, मूल्यवान पत्थर नारियल, ताड–गुड़, नमक इत्यादि भी आयातित किए जाते थे। मोती फारस की खाड़ी और लंका तथा मूल्यवान पत्थर पेगु से मंगाएं जाते थे। मक्का से मखमल और चीन से साटन, रेशमी, जरीदार एवं बूटेदार कपड़ा आयात किया जाता था। सफेद चावल, गन्ना (ताड़–गुड़ से भिन्न) लोहे का मुख्यतया निर्यात किया जाता था। विजयनगर से हीरों का आयात होता था।

नूनिज वर्णन करता है कि इसकी हीरों की खानें विश्व में सबसे बड़ी थीं। मुख्य खानें कृष्णा नदी के तट पर कुरनूल तथा [illegible] में थी। इसके फलस्वरूप, विजयनगर और मलाबार मे हीरा, नीलम और माणिक जैसे बहुमूल्य पत्थरों को काटने और पालिश करने के बडे उद्योगों का विकास हुआ।

आंतरिक व्यापार और नगरीय जीवन

समकालीन विदेशी वृतांत प्रदर्शित करते हैं कि विजयनगर शासकों के काल में स्थानीय लंबी दूरी के व्यापार म वृद्धि हुइ। नगरों के मध्य यात्रियों के लिए रास्ते और उनसे संबंधित सुविधाएं श्रेष्ठ थीं। कम दूरी तक खाद्यान्नों के परिवहन हेतु गाडियो का प्रयोग किया जाता था। नदी तटीय नौपरिवहन विशेषतः पश्चिमी तट पर अप्रवाही जल--व्यवस्था की भी संदर्भ मिलता है। लंबी दूरी के परिवहन हेतु भारवाही पशुओं का इस्तेमाल होता था। कुछ स्थानों में लंबे मार्गों के परिवहन में सुरक्षा हेतु सशस्त्र रक्षकों का उपयोग किया जाता था। प्रभावशाली स्थानीय व्यक्तियों ने व्यापार की महत्ता समझते हुए नगर--आधारित व्यापार और पार के व्यापार को नियमित और नियतकालिक मेलों में प्रोत्साहन दिया। उत्सव के समय मंदिरों की ओर जाने वाले मुख्य मार्गों पर नियमित और नियतकालिक मेलों का आयोजन होता था। इन मेलों का आयोजन समीप के कस्बों के व्यापार--संघो द्वारा किया जाता था और इनकी देखभाल व्यापार--संघ के अध्यक्ष द्वारा की जाती थी जिसे **पट्टनस्वामी** कहते थे। स्थानीय प्रभावशाली लोगों, जैसे **गौडा** या **नाडु** के मुखिया के आदेशों पर नगरीय व्यापार को बढ़ावा देने हेतु मेलों आयोजन होता था। 14वीं से 16वीं शताब्दियों के मध्य के साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाण 80 प्रमुख व्यापारिक केंद्रों के अस्तित्व को प्रकट करते हैं। कुछ नगर धार्मिक होते थे तो अन्य व्यापारिक और प्रशासनिक केन्द्र होते थे। इन नगरों में कई बाजार होते थे, जिनमें व्यापारियों द्वारा व्यवसाय किया जाता था। वे नगरों को किराया अदा करते थे। विशेष वस्तुओं के बाजार भी पृथक होते थे। कृषि संबंधी और गैर--कृषि संबंधी उत्पादों के बाजार बायें और दायें हाथ के जाति संबंधों के अनुरूप अलग--अलग होते थे। तीर्थयात्रियों के लिए पवित्र आहार का व्यवसाय और आनुष्ठानिक कार्यों और पदों के अधिकार की खरीद मंदिर--संबंधित नगरीय--व्यापार के महत्वपूर्ण अंग थे।

आंध्र के व्यापारियों और शिल्पकारों के संगठनों ने किसी विशेष नगर से घनिष्ठ संबंध बनाए, जैसे तेलुगु तेलियों और व्यापारियों ने बेरवाड़ा (कृष्णा जिले में) शहर से संबंध स्थापित किए। इन नगरों की आय, परिवहन शुल्क दुकानों और घरों के किराए से होती थी। मंदिर--दस्तावेज व्यापारियों ओर शिल्पकारों की संपन्नता और प्रतिष्ठा का वर्णन करते हैं। विजयनगर राज्य में एक अनूठी नगरीय--विशेषता थी, जो युग के किसी अन्य दक्षिण भारत के राज्य में नहीं थी। राजधानी शहर अपने परिवेश में बाजारों महलों, मंदिरों, मस्जिदों इत्यादि को अंगीभूत किए हुए था। तथापि यह नगरीय--विशिष्टता 16वीं शताब्दी के मध्य तक पूर्ण रूप से नष्ट हो गई।

सामाजिक व्यवस्था

विजयनगर साम्राज्य के दक्षिण भारतीय वृहत्तर भाग में सामाजिक संरचना भारतीय समाज की आम संरचना से भिन्न थी। सामाजिक संरचना की यह विलक्षणता तीन तरह से थी:

1. दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों की धर्म--निरपेक्ष भूमिका,
2. निचले सामाजिक समूहों में दोहरा विभाजन, और
3. समाज का क्षेत्रीय खंडीकरण।

ब्राह्मण जिन स्थानों पर रहते थे, वहां भूमि का उनका नियंत्रण था, एवं उनकी प्रतिष्ठा और शक्ति भी भूमि पर आश्रित लगान के नियंत्रण से थी। पुजारी वर्ग की हैसियत से पवित्र कार्यों के कारण भी उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त थी। असंख्य वैदिक मंदिरों के आविर्भाव से, जिन्हें गांवों (देवदान) का धर्मदान प्राप्त था, ब्राह्मणों को मंदिर--अधिकारियों के रूप में इतनी शक्ति प्राप्त हुई कि उनका स्थानीय जातियों और धार्मिक संस्थाओं पर धर्म--विध्यात्मक नियंत्रण हो गया। इन धार्मिक केन्द्रों के व्यवस्थापकों की हैसियत से ब्राह्मणों को बहुत अधिक धर्म--निरपेक्ष अधिकार प्राप्त थे।

क्षेत्रीय खंडीकरण का तात्पर्य यह है कि तमिल प्रदेश में सामाजिक समुदायों का, प्राकृतिक उप--क्षेत्र और उससे संबंधित व्यावसायिक ढांचे के आधार पर, विभाजन था। दक्षिण भारत के सामाजिक समुदायों का अपने स्थान से दूर स्थित समुदायों से संबंध था। वे भाई--बहिन ओर मामा--भांजी विवाह को वरीयता देते थे।

सामाजिक संरचना की एक और विशिष्टता निचली जातियों का दोहरा विभाजन था, जो बाए और दाए हाथ परिकल्पना रखता था (दाएं हाथ विभाजन के अनुरूप वैष्णव और बाएं हाथ की जातियां शैव होती थीं)। अधिकतर दाए हाथ की जातियां उत्पादन तथा कृषि उत्पादों मे स्थानीय व्यापार मे संलग्न थीं। बाएं हाथ की जातियां गैर--कृषि उत्पादों मे व्यापार तथा शिल्प उत्पादन में संलग्न थीं।

विजयनगर युग में किसान सामाजिक व्यवस्था का आधार था, जिस पर समाज के सभी अन्य वर्ग निर्भर थे। तमिल काव्य शैली, **सत्काम** मुख्य कृषक वर्ग को विशुद्ध **सत-शुद्र** मानती थी। उन्होंने अपने लिए आनुष्ठानिक पवित्रता और आदरणीय धर्म–निरपेक्ष दर्जा प्राप्त किया।

मंदिर किसी विशेष देवता की पूजा करने वाले वर्गों के सामाजिक अंतरण की रूपरेखा या निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। दक्षिण भारतीय राजशाही में वंश–परंपरा की एक प्रमुख विशेषता वंश–देवता की सामूहिक भक्ति थी। किसानों के देवताओं के तीर्थों (जैसे **अम्मान**) के गैर–ब्राह्मण पुजारी ब्राह्मण प्रभुत्व के विशाल शिव और विष्णु तीर्थ–स्थानों की व्यवस्था में भी भाग लेते थे। विशाल तीर्थ–स्थलों पर स्थित संप्रदायी संगठन के अधिष्ठानों (मठों) में ब्राह्मण, गैर–ब्राह्मण परंपरा दोनों के व्यक्ति होते थे। इस प्रकार, इस युग के सामाजिक संगठन के ब्राह्मण, बाएं हाथ और दाएं हाथ की जातियां (जिनमें आदर योग्य कृषि–जातियां **वेल्लाल** और बुनकरों जैसी कमजोर जातियां आती थीं) सम्मिलित थीं।

विशेषताएं व स्वरूप

विजयनगर राज्य के समाज अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यहां के राजा किसी वर्ग विशेष के हितों की रक्षा करने के स्थान पर समस्त वर्षों के हितों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। विजयनगर के सामाजिक व राजनीतिक जीवन में ब्राह्मणों की स्थिति बहुत ऊंची थी। उन्हें किसी भी अपराध के लिए मृत्युदंड नहीं दिया जा सकता था। ब्राह्मण विजयनगर की सेना एवं शासन–व्यवस्था में अनके ऊंचे पदों पर आसीन थे। मध्यवर्गों मे **चेट्टी** नामक एक बहुत समूह थां। अधिकांश व्यापार इनके हाथ में केन्द्रीभूत था। ये अच्छे लिपिक एवं लेखाकार्यों में दक्ष होते थे। छोटे सामाजिक समूहों में लोहार, स्वर्णकार, पीतल का काम करने वाले, बढ़ई, मूर्तिकार और जुलाहे आदि प्रमुख समुदाय थे। जुलाहे मंदिरों की परिसीमा में भी रहते थे और मंदिर के प्रशासन एवं स्थानीय करों के आरोपण में उनका बहुत बड़ा हाथ था, जबकि डोंबर (जो बाजीगरी का काम भी करते थे) जोगी और मछुआरों आदि की सामाजिक स्थिति हेय थी। आर्थिक दृष्टि से उपयोगी एवं भू–स्वामित्व वाले वर्गों की स्थिति सम्मानजनक थी।

विजयनगर में दास–प्रथा भी प्रचलित थी। दासों का क्रय–विक्रय होता था। जो व्यक्ति ऋण–दाता को ऋण नहीं दे पाता था या दिवालिया हो जाता था, उसे प्रायः ऋण–दाता का दास होना पड़ता था।

इस युग में स्त्रियों को भोग की वस्तु समझा जाता था। समकालीन स्त्रोतों में केवल शाही परिवार की स्त्रियों का ही विवरण प्राप्त होता है। राजपरिवार एवं सामंतों के अतिरिक्त अन्य वर्गों में एक पत्नीत्व की प्रथा थीं। मंदिरों मे देव पूजा के लिए रहने वाली स्त्रियों को देवदासी कहा जाता था। इन्हें आजीविका के लिए या तो भूमि दे दीं जाती थी अथवा नियमित वेतन दिया जाता था। बाल विवाह प्रचलित था। इसके कारण दहेज की कुरीति बहुत अधिक बढ गई थी। महालिंगम ने इन समस्याओं को सामाजिक [illegible] है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण सम्प्रदाय ने विचारकर दहेज को अवैधानिक घोषित करने का [illegible]

[illegible] एवं शस्त्रकारों जैसे छोटे समुदायों के विवादों में भी हस्तक्षेप था। कुछ सामाजिक अपराधियों या जाति के नियमों को तोड़ने वालों को ब्राह्मण सहित जाति–बहिष्कृत होने का भागीदार होना पड़ता था। यदि कोई व्यक्ति किसी सामाजिक अपराध को दोषी होता था तो उसकी सम्पत्ति या भूमि राज्य के निर्देश पर छीन ली जाती थी। इसी प्रकार मंदिरों की भूमि पर बलात् अधिकार करने, गुरू, पत्नी या ब्राह्मण की हत्या करने, पुण्य की भावना से प्रेरित निर्माण कार्यों को नष्ट करने आदि–आदि अपराधों के लिए दंड प्रस्तावित किए जाते थे। विजयनगर शासक सामाजिक एकता बनाए रखने का हर संभव प्रयास करते थे।

ब्राह्मणों की राज्य में भूमिका

विजयनगर साम्राज्य का एक विशिष्ट लक्षण ब्राह्मणों का राजनैतिक एवं धर्मनिरपेक्ष कार्यकर्ताओं न कि धार्मिक मुखियाओं के रूप में महत्व था। उस युग में दुर्गों का बहुत महत्व था और उनका नियंत्रण ब्राह्मणों विशेषतः तेलुगु मूल के द्वारा किया जाता था। ये तेलुगु **नियोगी** नामक उपजाति से संबंधति थे। ये धार्मिक कृत्यों को लेकर पुरातनपंथी नहीं थे। ब्राह्मण प्रभावशाली ढंग से राजा के लिए प्रजा की दृष्टि में वैधता स्थापित करने का कार्य करते थे। दूरस्थ तमिल भू–भाग पर प्रभावी नियंत्रण हेतु विजयनगर के शासकों में तलिक क्षेत्र के वैष्णव सम्प्रदायी मुखियाओं का सहयोग लिया। तमिल क्षेत्र में अजनबी होने से विजयनगर के शासकों के लिए अपनी शक्ति को वैधता प्रदान करने हेतु मूलभूत तमिल धार्मिक संगठनों जैसे मंदिरों के साथ संबंध स्थापित करना आवश्यक हो गया। इस प्रकार इस काल में

1. राजत्व को बनाए रखने के लिए मंदिर आधारभूत थे।
2. सम्प्रदायी मुखिया राजाओं और मंदिरों के मध्य एक कड़ी का कार्य करते थे।
3. यद्यपि मंदिरों की सामान्य देख–रेख स्थानीय संप्रदायी वर्गों द्वारा की जाती थी, मंदिरों संबंधी विवादों को सुलझाने का कार्य

राजा के हाथों में था।

4. ऐसे विवादों में राजा का हस्तक्षेप वैधानिक न होकर, प्रशासनिक होता था।

स्वरूप–विजयनगर साम्राज्य के स्वरूप के विषय में विभिन्न इतिहासकारों में वाद–विवाद है। एक तरफ इस **खंडीय राज्य** के रूप में प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया तो दूसरी तरफ इसकी व्याख्या **सामंती ढांचे** की पृष्ठभूमि में करने की कोशिश की गई। एक तरफ इसे **कल्याणकारी राज्य** के रूप मे प्रस्तुत करने की घोषणा की कोशिश की गई तो दूसरी तरफ इसका वर्णन **सर्वाधिकारवादी राज्य** के रूप में किया गया। इसके सही स्वरूप को समझने के लिए विभिन्न इतिहासकारों के मतों का विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है:–

बर्टन स्टीन का मानना है कि दक्षिण भारतीय राज्य निर्माण की प्रक्रिया की निरन्तरता को रखते हुए विजयनगर के शासकों ने भी अपने साम्राज्य में शक्ति व धर्म का संतुलन बनाए रखा यद्यपि विजयनगर पर लिखे लिए यात्रियों के वर्णन में यह दिखाने का यत्न किया गया कि विजयनगर साम्राज्य एक संगठित व कुशल सैन्य सामंतवाद पर आधारित था। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः विजयनगर के शासकों की धार्मिक नीति भी अपने पूर्वगामी शासकों जैसी थी। उन्होंने अनेक मंदिरों को धर्म शोध प्रदान की, मठों की स्थापना की, पुरोहितों को भेंट दी तथा उनका नैतिक समर्थन मुस्लिम शासकों के विरुद्ध संघर्ष में तथा हिन्दू विद्रोहियों के दमन हेतु प्राप्त किया। मंदिरों को दिया गया दान यद्यपि साम्राज्य की सैन्य शक्ति में वृद्धि तो नहीं कर पाता था परन्तु उस क्षेत्र के जनसमुदाय और ब्राह्मणों की शासकों के प्रति निष्ठा में बढ़ोतरी अवश्य करता था। धार्मिक सम्मान व निष्ठा के उपयोग की यह नीति साम्राज्यिक व्यवस्था को बल प्रदान करती थी। प्रायः शासक अपने गृह–प्रदेश के तेलुगु ब्राह्मणों को 'दुर्ग दंडनायक' के रूप में साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में नियुक्त करते थे। ब्राह्मणों के अधीन दुर्ग प्रायः साम्राज्य के आधार स्तम्भ बन जाते थे और एक प्रकार से विजयनगर साम्राज्य की उस नीति का प्रतीक थे जिसके अन्तर्गत शासक मुस्लिम चुनौती का सामना करने के लिए एक तो साम्राज्य के सैन्यीकरण पर बल दे रहे, वहीं दूसरी ओर ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में शासक के लिए धार्मिक वैधता की प्राप्ति के लिए प्रयास कर रहे थे। **बर्टन स्टीन** कृष्ण देव राय द्वारा अपनाई गई नीतियों को इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं एक तरफ उसने प्रांतों में नियुक्त स्वतंत्र प्रशासकों को नियंत्रित कर दक्षिण में विशाल व केन्द्रीकृत शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की तथा दूसरी ओर अपने शिलालेखों में यह घोषणा कर दी कि युद्धों में प्राप्त सम्पत्ति के उसने राज्य के अन्तर्गत आने वाले मंदिरों को दान कर दिया है ताकि वहां भव्य द्वारों का निर्माण हो सके।

प्रतीकात्मक राजत्व–विजयनगर का राजत्व एक प्रकार से प्रतीकात्मक माना जाता है क्योंकि विजयनगर के शासक अपने राज्य के प्रमुख केन्द्र से परे भू–भागों पर अपने अधिपतियों द्वारा नियंत्रण करते थे। इस प्रतीकातमकता का नियंत्रण धर्म के माध्यम से होता था, जो लोगों द्वारा स्वामिभक्ति निश्चित करता था। उदाहरणस्वरूप प्रतीकात्मक राजत्व का महानवमी का पर्व अच्छा उदाहरण मिलता है। यह एक वार्षिक राजकीय समारोह था, जो 15 सितम्बर व 15 अक्टूबर के मध्य मनाया जाता था। दसवें दिन दशहरा के उत्सव में इसकी समाप्ति होती थी। प्रादेशिक क्षेत्रों के महत्वपूर्ण व्यक्ति जैसे सेनानायक इत्यादि भाग लेते थे। इस उत्सव द्वारा साम्राज्य के प्रादेशिक भागों पर विजयनगर के शासकों की सम्प्रभुता की मान्यता का प्रदर्शन होता था। यद्यपि ब्राह्मण इस उत्सव में भाग लेते थे, पर उनकी भूमिका प्रमुख नहीं होती थी। उत्सव के आनुष्ठानिक कार्यों का सम्पादन स्वयं राजा द्वारा किया जाता था।

खंडीय राज्य (Segmentary State)–**बर्टन स्टीन** विजयनगर राज्य को एक खंडीय राज्य के रूप में प्रदर्शित करते हैं। उनके अनुसार विजयनगर राज्य में सम्पूर्ण राजनीतिक सम्प्रभुता केन्द्र के साथ रही परन्तु परीधीय क्षेत्रों में प्रतीकात्मक नियंत्रण नायकों व ब्राह्मण सेनानायकों के हाथों में रहा। अर्थात् खण्डात्मक राज्य का तात्पर्य उस राज्य से है जिसके अन्तर्गत आनुष्ठानिक आधिपत्य तथा राजनीतिक संप्रभुता के क्षेत्र एक ही सिक्के के दो पहलू नहीं होते हैं। विधिवत आधिपत्य सामान्यतः अपरिवर्तित उनका क्षेत्र परिवर्तनीय होता है लेकिन राजनीतिक संप्रभुता केन्द्रीय क्षेत्र तक सीमित होती है। खण्डात्मक राज्य मे विभिन्न स्तरों पर सहायक शक्ति के बहुत से केन्द्र विद्यमान होते है और वह राज्य शक्ति से अलग पदानुक्रम रूप में संगठित होता है। शासक वंश ने प्राथमिक केन्द्र से सहायक केन्द्रों को वैचारिक रूप से एकीकृत किया है। राज्य के खण्डों में वास्तविक राजनीतिक नियंत्रण स्थानीय सम्पन्न वर्ग द्वारा किया जाता है। यह भी माना जाता है कि ब्राह्मणों एवं प्रभुत्वशाली किसानों के मध्य सहयोग विद्यमान था। खण्डात्मक राज्य के प्रतिपादन की कुछ सीमाएं है। यह शक्ति के भिन्न–भिन्न केन्द्रों को मुख्य क्षेत्र से अलग समझती है पर उनको राज्य शक्ति के अंगों के रूप में नहीं देखती। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि दक्षिण भारतीय किसानों के क्षेत्र की विषमताओं को भली–भांति नहीं समझा गया है।

सैनिक राज्य–**एन. के. शास्त्री** जो विजयनगर राज्य को बुनियादी तौर पर एक हिन्दू राज्य के रूप में देखते हैं जो दक्षिण की सल्तनत और उसके उत्तराधिकारी राज्यों के मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू संस्कृति के रक्षक के रूप में एक वैचारिक भूमिका का

निर्वहन करता था; इससे विजयनगर राज्य के सैन्यवादी स्वरूप का सिद्धान्त जन्म लेता है। पुर्तगाली यात्री **डोमिंगो पेस**, **कुलके** व **रोधरमंड** इत्यादि उसे सैन्य सामंतवाद व **नीलकंठ शास्त्री** उसे सैनिक राज्य के रूप मे वर्णित करते है। जिसका शासन ऐसे योद्धा नायकों के हाथ में था जिनका पूर्ण प्रयास अपनी सैन्य शक्ति को निरन्तर बढाने की दिशा में थी परन्तु **बर्टन स्टीन** ने विजयनगर राज्य के संयोजक शासन प्रणाली (in corporative regime) जिसने सम्पूर्ण दक्षिण के अनेक योद्धाओं की सैन्य क्षमता और निष्ठा जीतने का प्रयास किया तथा परजीवी शासन प्रणाली (Parasitic regime), जिसने अपने जनसमुदाय की उत्पादकता और वाणिज्य में से अपना हिस्सा तो प्राप्त किया परन्तु दोनों में कोई योगदान नहीं किया, के रूप में श्रेणीबद्ध करने का प्रयास किया है।

सामंतीय मंडल–डोंमिगो पेस ने 1522 ई. में विजयनगर की यात्रा के पश्चात् यह वर्णन किया कि राजा की सेवा में निरन्तर दस लाख सैनिक टुकड़ियां रहती थीं। ये सब राजा से वेतन पाते थे और साम्राज्य के किसी भी प्रान्त में आवश्यकता पड़ने पर भेजे जाने के लिए तैयार रहते थे। इन सैन्य टुकड़ियों के रख–रखाव के लिए राजस्व कहां से आता था, इसका उत्तर देते हुए **पेस** बताते हैं कि उन सैन्य टुकडियों परन जो नायक राजा ने रखे थे, वे वस्तुतः उसके राज्य के सामंत थे। वे सब शासक थे तथा राज्य के शहरों, नगरों और गांवों के स्वामी थे। ये सेना आदेश मिलते ही किसी भी प्रांत में जाने व लड़ने के लिए सदैव तैयार रहती थी। इसके साथ ही राजा की अपनी सवैतनिक सैन्य टुकड़ियों भी होती थीं जिन्हें राजा वेतन देता था, परन्तु **वेंकट राम्नैया** के अनुसार विजयनगर साम्राज्य की सैन्य शक्ति का प्रमुख कारण राजा का व्यक्तिगत शौर्य व सैनिकों के प्रति प्रेम–प्रदर्शन भी था। पेस के वर्णन में वर्णित सैन्य सामंतवाद अथवा अमरनाथ की व्यवस्था में सैन्य नायकों के पास राजस्व वसूली के अधिकार थे और उन्हीं के अनुरूप सैन्य टुकड़ियां रखना उनके लिए अनिवार्य था। **बर्टन स्टीन** व **टी. वी. महालिंगम** इस व्यवस्था को सामंतवादी मानने की संभावना से स्पष्ट इंकार करते है क्योंकि सामंतवाद के अनिवार्य तत्व जैसे सम्मान प्रदर्शन और अधीनता भारतीय संदर्भ में विद्यमान नहीं थी। **बर्टन स्टीन** के अनुसार विजयनगर साम्राज्य की शक्ति उसके शासकों की उस योग्यता में नीहित थी जिससे वे स्थानीय विशिष्ट जनो को साम्राज्यवादी अधिकारियों में परिवर्तित कर सके। इसके विपरीत विजयनगर राज्य के स्वरूप की समंती ढांचे के अनुसार व्याख्या करने वालों का मानना है कि ब्राह्मणों को नवीन भूमि अनुदान प्रदान करने की नीति, सामंती विभाजन का प्रमुख कारण थी। बार–बार इन भूमि अनुदानों को दिए जाने के कारण ब्राह्मणों की स्थिति सुदृढ़ बनी। इसके परिणामस्वरूप, उन्हें अपने व्यवस्थाओं में बहुत अधिक स्वायत्तता मिली, प्रशासनिक शक्तियां और राजस्व–स्त्रोतों को नियंत्रित करने के अधिकार मिल गए।

इसी प्रकार सैन्य दृष्टि से तमिल क्षेत्र में विस्तार ने अमरनायकों (योद्धाओं) और अन्य उच्च अधिकारियों के नियंत्रण में सामंतीय भू–भागों का निर्माण किया। अमरनायक वंशानुगत भूस्वामी होते थे। वे राजा को नजराना देते थे और सैन्य सेवा का कार्य करते थे। इन भूमिधरों ने बदले में अपने अधीनस्थ लोगों को भूमि अनुदान देना प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप **उपसामंतीकरण** का मार्ग प्रशस्त हुआ। साम्राज्य की विशालता और परिवहन तथा संचार के पर्याप्त साधनों की कमी के रहते साम्राज्य के संचालन हेतु शासकों द्वारा इन सांमती वर्गों को अधिकार प्रदान करना एक आवश्यकता बन गई।

सर्वाधिकारवादी शासन–एक अन्य पुर्तगाली लेखक **न्यूनिज** ने 1535 ई. में लिखते हुए विजयनगर साम्राज्य के शासन, प्रशासन और संस्थाओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करते हुए बताया कि विजयनगर साम्राज्य का शासन पूर्णतः सर्वाधिकारवादी था और राजा की शक्ति निरकुंश थी। साम्राज्य लगभग 200 प्रांतों अथवा जिलों में विभाजित था जिनमें से प्रत्येक एक गवर्नर के अधीन था। गवर्नर अपने प्रांत में पूर्णतः शक्तिशाली था परन्तु स्वयं पूरी तरह राजा की दया पर निर्भर था। प्रत्येक गवर्नर को एक निश्चित संख्या में सशस्त्र सैनिकों की राजा को आपूर्ति करनी पड़ती थी। इस प्रकार एक विशाल सेना तैयार हो जाती थी, परिणामतः राजा और श्रेष्ठ जन वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे जबकि साधारण जनों का जीवन अत्यन्त कष्टमय था।

इस प्रकार विजयनगर की राजशाही बाहरी भागों में प्रतीकात्मक थी, जिसमें शासक अपने अधिपतियों के द्वारा नियंत्रण रखते थे। ब्राह्मण धार्मिक मुखियाओं से अधिक राजनीतिक और धर्म–निरपेक्ष कर्मचारी थे। एक विस्तृत साम्राज्य, संगठित सेना व प्रशासन–तंत्र, विकसित न्याय–व्यवस्था तथा ग्रामीण स्वायत्तता दक्षिण भारतीय राज्य निर्माण की प्रक्रिया के प्रमुख लक्षण कहे जा सकते हैं।